

जैनपरम्परा
और
यापनीयसंघ
द्वितीय खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा की गयी है।

वैदिक ग्रन्थ महाभारत के उत्तंकोपाख्यान के अनुसार दिगम्बरजैनपरम्परा द्वपरयुग में (आज से लगभग ९ लाख वर्ष पूर्व) विद्यमान थी। विष्णुपुराण की स्वायंभुवमनु-कथा उक्त परम्परा का अस्तित्व प्रथम स्वायंभुव-मन्वन्तर में (आज से लगभग ढाई करोड़ वर्ष पहले) बतलाती है। बौद्ध पिटकसाहित्य में की गई निर्ग्रन्थों की चर्चाएँ प्रमाण देती हैं कि बुद्ध के समय (ईसा पूर्व छठी शती) में दिगम्बरजैनमत प्रचलित था। हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त नग्न जिनप्रतिमा आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व दिगम्बरजैनसंघ के अस्तित्व की सूचना देती है। लोहानीपुर (पटना, बिहार) में प्राप्त वैसी ही नग्न जिनप्रतिमा ३०० ई० पू० में दिगम्बरजैनसंघ का अस्तित्व सिद्ध करती है। अशोक के एक स्तम्भलेख में उल्लिखित 'निर्ग्रन्थ' शब्द भी ईसापूर्व तृतीय शती में उक्त परम्परा की मौजूदगी सूचित करता है।

श्वेताम्बरसंघ का जन्म अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद (ईसापूर्व ४६५ में) निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से हुआ था। अर्धफालकसंघ ईसापूर्व चतुर्थ शती में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप अस्तित्व में आया था। आगे चलकर वह श्वेताम्बर और दिगम्बर संघों में विलीन हो गया। यापनीयसंघ की उत्पत्ति ईसा की ५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्वेताम्बरसंघ से हुई थी, और वह ईसा की १५वीं शती में विलुप्त हो गया।

ईसा की पाँचवीं शती तक दिगम्बरजैनसंघ निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ के नाम से और श्वेताम्बरसंघ श्वेतपट-श्रमणसंघ के नाम से प्रसिद्ध था।

आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे और ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध तक विद्यमान रहे।

कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, तिलोपपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में सवस्त्र-मुक्ति, स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि श्वेताम्बरीय एवं यापनीय मान्यताओं का निषेध है। अतः ये सभी दिगम्बरजैनपरम्परा के ग्रन्थ हैं।

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

द्वितीय खण्ड

कुन्दकुन्द का समय

षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड की कर्तृपरम्परा

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

ISBN 81 - 902788 - 0 - 0 (Set)

ISBN 81 - 902788 - 2 - 7 (Volume II)

सर्वोदय जैन विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क 1

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

द्वितीय खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी

आगरा — 282002, उ०प्र०

दूरभाष : 0562 - 2852278

लिप्यङ्कन : समता प्रेस, भोपाल

मुद्रक : दीप प्रिण्टर्स

70ए, रामा रोड, इंडस्ट्रियल एरिया, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-110015

दूरभाष : 09871196002

प्रथम संस्करण : वी० नि० सं० 2535, ई० 2009

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 500 रुपये

सर्वाधिकार : प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

JAINA PARAMPARĀ AURA YĀPANĪYA SAṄGHA

Vol. II

By Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

Published by

Sarvodaya Jaina Vidyāpīṭha

1 / 205, Professors' Colony

AGRA — 282002, U.P.

First Edition : 1000

Price : Rs. 500

© : Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

समर्पण

ईसोत्तर २०वीं-२१वीं शती के अद्भुत, अद्वितीय,
अतिलोकप्रिय दिगम्बरजैन मुनि परमपूज्य
आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज को,
जिनकी

प्रगाढ़ आगमश्रद्धा, तलस्पर्शी आगमज्ञान एवं
आगमनिष्ठचर्या ने इस पंचमकाल में मुनिपद को
प्रामाणिकता और श्रद्धास्पदता प्रदान की है,
जिनके

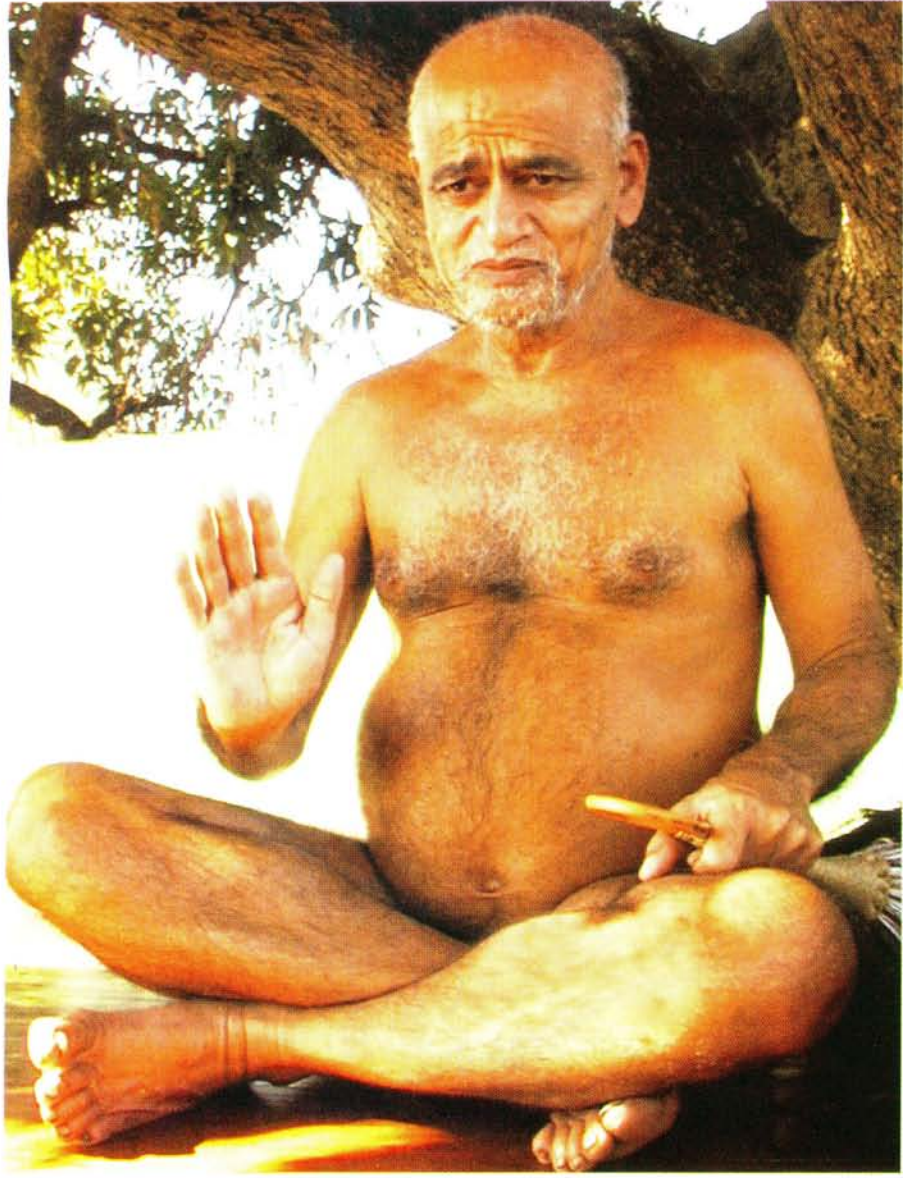
अलौकिक आकर्षण के वशीभूत हो अनगिनत
युवा-युवतियाँ भोगपथ का परित्याग कर
योगपथ के पथिक बन गये और निरन्तर बन रहे हैं,
जिनकी

वात्सल्यमयी दृष्टि, अर्त्तिहारिणी मुस्कान एवं
हित-मित-प्रिय वचन दर्शनार्थियों को
आनन्द के सागर में डुबा देते हैं,
जिनके

वात्सल्यप्रसाद का पात्र में भी बना हूँ तथा जिन्होंने
अनेक शुभ उत्तरदायित्व आशीर्वाद में प्रदान कर
मेरे जीवन के अन्तिम चरण को धर्मध्यान-केन्द्रित
बना दिया।

नमोऽस्तु।

गुरुचरणानुरागी
रतनचन्द्र जैन



परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

अन्तस्तत्त्व

- तीनों खण्डों की विषयवस्तु का परिचय
- संकेताक्षर-विवरण

पृष्ठाङ्क
पच्चीस
इकतालीस

द्वितीय खण्ड

कुन्दकुन्द का समय षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड की कर्तृपरम्परा

अष्टम अध्याय

कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा मनगढ़न्त

प्रथम प्रकरण—भट्टारक होने की कल्पना का हेतु	३
द्वितीय प्रकरण—कुन्दकुन्द को भट्टारक सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु	५
१. भट्टारकपरम्परा के विकास के तीन रूपों की कल्पना	५
□ नन्दिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली	७
२. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली का मूल अँगरेजीपाठ	१२
२.१. प्रो. हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की तालिकाबद्ध पट्टावली	१४
२.२. स्तम्भों (कालमों) में प्रयुक्त संकेताक्षरों का अभिप्राय	१८
२.३. आ. हस्तीमल जी-उद्धृत पट्टावली में इण्डि. ऐण्टि.- पट्टावली से कुछ भिन्नता	१८
३. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियाँ	२२
□ नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली	२५
□ वीरनिर्वाण के पश्चात् आचार्यों का पट्टकाल	२५

४. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द का समय	२९
तृतीय प्रकरण—कुन्दकुन्द को भट्टारक असिद्ध करनेवाले पट्टावलीगत तथ्य	३०
१. कुन्दकुन्द 'नन्दी' आदि संघों की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती	३०
२. नन्दिसंघीय पट्टावली केवल भट्टारक-परम्परा की पट्टावली नहीं	४०
३. मूलसंघीय मुनिवर्ग का ही 'नन्दी' आदि संघों में विभाजन	४१
४. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली	४३
५. कुन्दकुन्द भट्टारकप्रथा के बीजारोपण से पूर्ववर्ती	४५
६. कुन्दकुन्द को ५वीं शती ई० में मानने पर सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या	४६
७. माघनन्दी आदि का पट्टधर होना अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं	५०
चतुर्थ प्रकरण—भट्टारकसम्प्रदाय का असाधारण लिंग और प्रवृत्तियाँ	५२
१. 'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों का सूचक	५२
२. दिगम्बरपरम्परा में नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी मिथ्या धर्मगुरुओं की परम्परा ही भट्टारक-परम्परा	५४
३. पासत्थादि मुनियों के वस्त्रधारण से १२वीं शती ई० में भट्टारकपरम्परा का उदय	५५
३.१. पासत्थ (पार्श्वस्थ)	५५
३.२. कुशील (कुशील)	५६
३.३. संसत्त (संसक्त)	५८
३.४. ओसण्ण (अवसन्न)	५८
३.५. जहाळ्ळंद (यथाछन्द या मृगचरित्र)	५९
३.६. सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द के प्रचलन की कथा	६०
३.७. 'भट्टारक' शब्द का अर्थापकर्ष ईसा की १२वीं सदी में	६३
४. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी-धर्मगुरु भट्टारकों के असाधारणधर्म	७३
४.१. भट्टारक-दीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन	७४
४.२. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण	७४
४.३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण	७६

४.४. दक्षिणा-चढ़ावा-भेंट-शुल्क आदि से अर्थोपार्जन	७७
४.५. राजोचित वैभव एवं प्रभुत्व तथा ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली	७८
४.६. 'जैनाचार्य-परम्परा-महिमा' ग्रन्थ से समर्थन	८२
□ विकट परिस्थितियों में भट्टारकपरम्परा का प्रादुर्भाव	८२
□ भट्टारकपरम्परा के प्रथम आचार्य का पट्टाभिषेक	९१
□ भट्टारकपीठों की सर्वप्रथम स्थापना	९२
□ श्रवणबेलगोलतीर्थ तथा वहाँ मुख्यपीठ की स्थापना	९२
□ आचार्य माघनन्दी का समय	९९
४.७. उपर्युक्त कथा की समीक्षा	१०१
५. मन्दिरमठवासी-मुनिपरम्परा भट्टारक-परम्परा नहीं	१०१
५.१. आचार्य हस्तीमल जी के मत का निरसन	१०२
५.२. 'भट्टारक' संज्ञा का प्रयोग आकस्मिक	१०४
५.३. आरंभ में भट्टारक दिगम्बराचार्यों के शिष्य	१०५
६. कुन्दकुन्द अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारकसम्प्रदाय से पूर्ववर्ती	१०९
पञ्चम प्रकरण—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यापनीय नहीं, दिगम्बर थे	१११
षष्ठ प्रकरण—भट्टारक-पदस्थापनविधि आगमोक्त नहीं	११५
१. भट्टारक-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ	११६
२. आचार्य-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ	१२१
३. उपाध्याय-पददान-विधि का मूलपाठ	१२१
सप्तम प्रकरण—भट्टारकपरम्परा के प्रति विद्रोह : तेरापन्थ का उदय	१२४
१. जिनशासन का मिथ्यात्वीकरण	१२४
२. विद्रोह एवं तेरापन्थ का उदय	१३३
२.१. पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का मत	१३३
२.२. पं० नाथूराम जी प्रेमी का मत	१३४
३. बुन्देलखण्ड में भट्टारकशासन की अन्तिम सदी १८वीं ई०	१३६
४. तेरापन्थ के उदय की प्रतिक्रिया	१३७
५. भट्टारकों के स्वरूप में कालकृत परिवर्तन	१४७

६. जिनशासन में मिलावट को रोकना आवश्यक	१४८
विस्तृत सन्दर्भ	१५२
१. नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली	१५२
२. प्रो. हार्नेले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावली का शेष अंश	१५७
३. प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली	१६८
४. श्रवणबेलगोल-महानवमी मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण नन्दिसंघ की पट्टावली	१७५

नवम अध्याय

गुरुनाम तथा कुन्दकुन्दनाम-अनुल्लेख के कारण

१. गुरुनाम-अनुल्लेख का कारण	१८१
२. कुन्दकुन्दनाम-अनुल्लेख का कारण	१८३
२.१. आचार्य हस्तीमल जी के मत का निरसन	१८३
२.२. प्रो० एम० ए० ढाकी के मत का निरसन	१८६
२.३. प्रेमी जी के मत का निरसन	१८६
२.४. नाम-अनुल्लेख का कारण : नाम से अनभिज्ञता	१८७

दशम अध्याय

आचार्य कुन्दकुन्द का समय

प्रथम प्रकरण—ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में होने के प्रमाण	१९५
१. इण्डि० ऐण्टि०-पट्टावली के अनुसार ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती	१९५
२. प्र० श० ई० की भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द की गाथाएँ	१९७
२.१. भगवती-आराधना का रचनाकाल	१९७
२.२. भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण	२०१
२.३. कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भगवती-आराधना की गाथाएँ नहीं	२०४
३. प्र० श० ई० के मूलाचार में कुन्दकुन्द की गाथाएँ	२०७
३.१. मूलाचार का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई०	२०७
३.२. प्र०-द्वि० श० ई० के तत्त्वार्थसूत्र में मूलाचार का अनुकरण	२०८
३.३. मूलाचार में तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण नहीं	२१२

३.४.	द्वि० श० ई० की तिलोयपण्णत्ती में मूलाचार का उल्लेख	२१५
३.५.	मूलाचार में श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ नहीं	२१६
३.६.	मूलाचार में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण	२१७
३.७.	मूलाचार में कुन्दकुन्द की शैली का अनुकरण	२२०
४.	द्वि० श० ई० के तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्द के वाक्यांश	२२९
४.१.	तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल	२२९
४.२.	कुन्दकुन्द के वाक्यांशों की संस्कृत-छाया	२३०
४.३.	कुन्दकुन्द के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण नहीं	२३१
४.४.	उमास्वाति कुन्दकुन्दान्वय के आचार्य	२३९
५.	द्वि० श० ई० की तिलोयपण्णत्ती में कुन्दकुन्द की गाथाएँ	२४०
५.१.	तिलोयपण्णत्ती का रचनाकाल	२४०
५.२.	तिलोयपण्णत्ती में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण	२४७
५.३.	तिलोयपण्णत्ती की गाथाएँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में नहीं	२६०
६.	५वीं श० ई० की सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की गाथाएँ उद्धृत	२६१
६.१.	सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल	२६१
६.२.	सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण	२६४
६.३.	समाधितन्त्र-इष्टोपदेश में कुन्दकुन्द की गाथाओं का संस्कृतीकरण	२६६
६.४.	कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में पूज्यपाद के ग्रन्थों की सामग्री नहीं	२६७
७.	६वीं श० ई० के परमात्मप्रकाश में कुन्दकुन्द का अनुकरण	२६८
७.१.	निश्चय-व्यवहारनयों से आत्मादि का प्ररूपण	२६८
७.२.	निश्चयनय से आत्मा के वर्णरागादि-रहितत्व का प्रतिपादन	२६८
७.३.	निश्चयनय से आत्मा के कर्म-अकर्तृत्व का प्रतिपादन	२६९
७.४.	निश्चयनय से सुख-दुःख के कर्मकृत होने का प्रतिपादन	२६९
७.५.	शुभ, अशुभ, शुद्ध भाव का प्ररूपण	२७०
७.६.	आत्मा के बहिरात्मादि-भेदत्रय का निरूपण	२७०
७.७.	कुन्दकुन्द की गाथाओं का अपभ्रंशीकरण	२७१
८.	७वीं श० ई० के वरांगचरित में कुन्दकुन्द की गाथाओं का संस्कृतीकरण	२७३
९.	८वीं श० ई० की विजयोदयाटीका में कुन्दकुन्द की गाथाएँ	२७५

९.१. विजयोदया का रचनाकाल	२७५
९.२. विजयोदया में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण	२७६
१०. ८वीं श० ई० की धवला, जयधवला में कुन्दकुन्द की गाथाएँ	२७८
१०.१. धवला का रचनाकाल ७८० ई०	२७८
१०.२. धवला में प्रमाणस्वरूप कुन्दकुन्द की गाथाएँ एवं ग्रन्थनाम	२७८
११. मर्करा-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख	२८३
□ पूर्णतः कृत्रिम होने के मत का निरसन	२८३
१२. ४७० ई० के पूर्व निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ के शास्त्रों का अस्तित्व	२८९
१३. विरोधीमतों का निरसन	२९०

द्वितीय प्रकरण—मुनि कल्याणविजय के मत का निरसन २९१

१. कदम्बवंशी शिवमृगेश के लिए पंचास्तिकाय की रचना	२९१
□ निरसन : जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे	२९१
□ 'शिवकुमारमहाराज' नामक मुनि का उल्लेख	२९६
२. नियमसार में वि० सं० ५१२ में रचित 'लोकविभाग' का उल्लेख	२९९
□ निरसन: 'लोकविभागों में' यह पद लोकानुयोग-विषयक प्रकरणसमूह का वाचक, स्वतन्त्रग्रन्थ का नाम नहीं	२९९
३. समयसार में तृ० श० ई० के विष्णुकर्तृत्ववाद का उल्लेख	३०१
□ निरसन : विष्णुकर्तृत्ववाद ऋग्वेदकालीन	३०२
४. षट्प्राभृतों में परवर्ती चैत्यादि एवं शिथिलाचार का वर्णन	३०४
□ निरसन : चैत्यगृह-प्रतिमादि ईसापूर्वकालीन, शिथिलाचार अनादि	३०४
५. मर्करा-ताम्रपत्र में विक्रम की ७वीं सदी के बाद प्रचलित 'भटार' शब्द का प्रयोग	३०६
□ निरसन: आदरसूचक 'भटार' शब्द का प्रचलन प्राचीन	३०६
६. कोई भी पट्टावली वीर नि० सं० के अनुसार रचित नहीं	३०७
□ निरसन : 'तिलोयपण्णत्ती' आदि में वीरनिर्वाणानुसार ही कालगणना	३०८

तृतीय प्रकरण—आचार्य हस्तीमल जी के दो मतों का निरसन ३१०

१. प्रथम मत : कुन्दकुन्द-काल ५वीं शती ई०	३१०
--	-----

□ निरसन : केवल इण्डि० ऐन्टि०-पट्टावली प्रामाणिक, तदनुसार कुन्दकुन्दकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती	३१२
□ आचार्य हस्तीमल जी का 'मूले कुठाराघातः'	३१४
२. द्वितीय (संशोधित) मत : कुन्दकुन्दकाल ८वीं शती ई०	३१६
□ 'भूले-बिसरे ऐतिहासिक तथ्य' : गजसिंह राठौड़	३१७
□ निरसन : कुन्दकुन्दकाल के सुनिश्चित संवत् का उल्लेख केवल इण्डि० ऐण्टि० में	३२५
चतुर्थ प्रकरण—मालवणिया जी के दार्शनिक विकासवाद का निरसन	३२९
१. मालवणिया जी की तीन अवधारणाएँ	३२९
२. कुन्दकुन्दसाहित्य में जैनेतर दर्शनों का अनुकरण नहीं	३३३
२.१. कुन्दकुन्द द्वैताद्वैत के रूप में द्वैतवाद के ही प्रतिपादक	३३३
□ मालवणिया जी का मत	३३३
□ निरसन	३३४
२.२. शाश्वत, उच्छेद, शून्य, विज्ञान आदि वस्तुधर्मों की संज्ञाएँ	३४१
□ मालवणिया जी का मत	३४१
□ निरसन	३४३
२.३. विष्णुकर्तृत्व और आत्मकर्तृत्व दोनों अपसिद्धान्त	३४६
□ मालवणिया जी का मत	३४६
□ निरसन	३४७
२.४. शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग जिनोपदिष्ट	३४८
□ मालवणिया जी का मत	३४८
□ निरसन	३४८
२.५. कर्तृत्व-अकर्तृत्व का निरूपण जिनागमाश्रित	३४८
□ मालवणिया जी का मत	३४८
□ निरसन	३४९
२.६. सांख्य और जैन मतों के पारस्परिक वैपरीत्य का प्रदर्शन	३५१
□ मालवणिया जी का मत	३५१
□ निरसन	३५१
३. विषयवैविध्य एवं व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार अर्वाचीनता के लक्षण नहीं	३५३

□ मालवणिया जी-प्ररूपित विषयप्रतिपादनगत विशेषताएँ	३५३
३.१. प्रमेयनिरूपणगत विशेषताएँ	३५३
३.२. प्रमाण-निरूपणगत विशेषताएँ	३५६
३.३. नय-निरूपणगत विशेषताएँ	३५८
□ निरसन	३५९
क— विषयवैविध्यादि अर्वाचीनता के लक्षण नहीं : इसके हेतु	३५९
ख— विकासवादी-मान्य लक्षणानुसार तत्त्वार्थसूत्र में विकास भी है, विस्तार भी	३६४
४. समस्त दार्शनिक तत्त्वों का अधिगम गुरुपरम्परा से	३६८
पञ्चम प्रकरण—डॉ० सागरमल जी के गुणस्थान-विकासवाद एवं सप्तभंगी-विकासवाद	३६९
१. गुणस्थान-विकासवाद	३६९
२. गुणस्थान-विकासवाद का निरसन : तत्त्वार्थसूत्र में सम्पूर्ण गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रकाशन	३७१
२.१. गुणश्रेणिनिर्जरास्थान गुणस्थान ही हैं	३७१
२.१.१. अनन्तवियोजक का अर्थ	३७३
२.१.२. अनन्तवियोजक-असंयतसम्यग्दृष्टि संयत से अधिक निर्जरायोग्य कैसे?	३७८
२.१.३ गुणश्रेणिनिर्जरा का काल	३७९
२.२. गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञतावश स्वकल्पित असंगत व्याख्याएँ एवं निष्कर्ष	३८१
२.३. गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थानक्रम में आध्यात्मिक-विकासक्रम घटित नहीं होता	३८५
□ आध्यात्मिक विकास के कल्पित क्रम का निरसन	३८६
२.४. 'सम्यग्दृष्टि' आदि में गुणस्थान का लक्षण विद्यमान	३८९
२.५. सम्यग्दृष्टित्व आदि संवरादि के भी हेतु	३९२
२.६. उपशमक-क्षपक श्रेणियों का उल्लेख	३९२
२.७. समवायांग का प्रमाण	३९४

२.८. जीवतत्त्वप्रदीपिका का प्रमाण	३९४
२.९. चतुर्दश गुणस्थानों में ध्यानादि के स्वामित्व का कथन	३९५
२.१०. चौदह का एक साथ निर्देश अनावश्यक था	३९८
२.११. प्रतिपादनशैली से गुणस्थानसिद्धान्त के पूर्वभाव की पुष्टि	४०१
२.११.१. गुणस्थान-विवरण के बिना गुणस्थानाश्रित निरूपण	४०१
२.११.२. अन्तदीपकन्याय से अनुक्त गुणस्थानों का द्योतन	४०३
२.१२. तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित	४०५
२.१३. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-केन्द्रित निरूपण सर्वमान्य	४०७
२.१४. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-अवधारणा के सुदृढ़ प्रमाण	४०८
२.१५. तत्त्वार्थसूत्र की कर्मव्यवस्था से गुणस्थानव्यवस्था स्वतः सिद्ध	४०९
३. विकासवादविरोधी अनेक हेतु	४११
३.१. श्वेताम्बरागमों में गुणश्रेणिनिर्जरा का उल्लेख नहीं	४११
३.२. तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत षट्खण्डागम	४१२
३.३. भद्रबाहु-द्वितीय ही निर्युक्तियों के कर्ता	४१४
□ विरोधी तर्कों का निरसन	४१५
३.४. मोक्षमार्ग चतुर्दश गुणस्थानों का अविनाभावी	४१८
३.५. विकास का अर्थ : ऋषभादि में सम्यक्त्वादि की अनुत्पत्ति मानना	४१९
४. गुणस्थानसिद्धान्त का कपोलकल्पित विकासक्रम	४२०
५. डॉक्टर सा० के मत में किञ्चित् परिवर्तन	४२६
□ परिवर्तित मत का निरसन	४२९
□ पण्डित हीरालाल जी शास्त्री की भ्रान्ति	४३६
□ उपसंहार	४३९
६. सप्तभंगीविकासवाद	४४२
□ निरसन	४४२
६.१. भगवतीसूत्र में सातों भंगों की चर्चा	४४२
६.२. सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ महावीर के ही युग में	४४३
६.३. बादरायण व्यास द्वारा सप्तभंगी की आलोचना	४४६

६.४. 'स्यात्' निपात का प्रयोग बौद्धसाहित्य में भी ४५१

षष्ठ प्रकरण—प्रो. ढाकी के मत का निरसन ४५२

१. ८ वीं शती ई० से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं ४५३

□ निरसन : 'मूलाचार' आदि में कुन्दकुन्द की गाथाएँ ४५३

२. कुन्दकुन्दान्वय-लेखयुक्त मर्करा-ताम्रपत्र जाली ४५५

□ निरसन : पूर्णतः कृत्रिम नहीं, कुन्दकुन्दान्वय-उल्लेख प्राचीन ४५५

३. ८ वीं शती ई० के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना ४५५

□ निरसन : जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे ४५६

४. ८ वीं शती ई० के कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव कुन्दकुन्द के गुरु ४५८

□ निरसन : दानपत्र में न सिद्धान्तदेव का नाम है, न
कुन्दकुन्द का ४५९

५. लिङ्गप्राभृतोक्त शिथिलाचार छठी शती ई० से परवर्ती ४६४

□ निरसन : उक्त शिथिलाचार अनादि से ४६४

६. छठी शती ई०-रचित षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द की टीका ४६५

□ निरसन: षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथमशती के पूर्वार्ध की रचना ४६५

७. कुन्दकुन्द द्वारा छठी शती ई० के 'मूलाचार' का अनुकरण ४६६

□ निरसन : 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द की गाथाएँ ४६६

८. कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में छठी शती ई० के श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाएँ ४६६

□ निरसन : कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी ४६७

९. कुन्दकुन्द द्वारा निश्चयनय का गहन-विस्तृत प्रयोग ४६७

□ निरसन : श्वेताम्बरमत में निश्चयनय के गहन-विस्तृत प्रयोग
का अनवसर ४६८

१०. आत्मनिरूपण में ८ वीं शती ई० के गौडपाद का अनुसरण ४७२

□ निरसन : कुन्दकुन्द द्वारा श्रुतकेवली के उपदेश का अनुसरण ४७३

११. 'स्वसमय', 'परसमय' शब्दों का नवीनार्थ में प्रयोग ४७७

□ निरसन : आत्मा के अर्थ में भी 'समय' शब्द का प्रयोग
परम्परागत ४७७

१२. कुन्दकुन्द-प्रतिपादित 'शुद्धोपयोग' ८ वीं शती ई० से पूर्व अज्ञात ४७९

□ निरसन : पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी शुद्धोपयोग का उल्लेख ४७९

१३. कुन्दकुन्द साहित्य में स्याद्वाद-सप्तभंगी, तत्त्वार्थसूत्र में नहीं	४८२
□ निरसन : कुन्दकुन्दसाहित्य 'तत्त्वार्थ' के सूत्रों की रचना का आधार	४८२
१४. बहिरात्मादि भेद पूज्यपाद (७वीं शती ई०) से गृहीत	४८३
□ निरसन : श्रुतकेवली के उपदेश से गृहीत	४८३
सप्तम प्रकरण—डॉ० चन्द्र के अपभ्रंश-प्रयोग-हेतुवाद का निरसन	४८५
अष्टम प्रकरण—प्रो० हीरालाल जी जैन के मत का निरसन	४८९
१. प्रो० हीरालाल जी का मत	४८९
१.१. पहला लेख : 'शिवभूति और शिवार्य'—	
लेखक : प्रो० हीरालाल जी जैन	४९०
१.२. दूसरा लेख : 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय'—	
लेखक : प्रो० हीरालाल जी जैन	४९७
२. निरसन	५०९
२.१. कल्पसूत्र के शिवभूति और बोटिक शिवभूति में एकत्व असंभव	५०९
२.२. शिवार्य आपवादिक सवस्त्रलिंग के विरोधी	५११
२.३. दिगम्बर-परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से पाँच हजार वर्ष प्राचीन	५११
२.४. भद्रबाहु-द्वितीय शिवभूति के शिष्य नहीं	५११
२.५. कुन्दकुन्द भी भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य नहीं	५१२
२.६. शिवार्य कुन्दकुन्द से परवर्ती	५१५
२.७. अनहोनी को होनी बनाने का अद्भुत कौशल	५१५
२.८. जैन इतिहास का मनगढ़न्त अध्याय	५१६
२.९. प्रथम लेख : 'शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार'—	
लेखक : पं० परमानंद जी जैन शास्त्री, सरसावा	५१७
२.१०. द्वितीय लेख : 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?'—	
लेखक : न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी जैन कोठिया	५२१
२.१०.१. 'स्वामी' उपाधि का प्रयोग पात्रकेसरी आदि के लिए भी	५२२
२.१०.२. निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र में सैद्धान्तिक मतभेद	५२४

२.१०.२.१.	क्रमवाद और युगपद्वाद	५२४
२.१०.२.२.	तीर्थकरों की सवस्त्र प्रव्रज्या और निर्वस्त्र प्रव्रज्या	५२८
२.१०.२.३.	आभूषणों से जिनेन्द्रपूजा का विधान एवं निषेध	५३१
२.१०.२.४.	मुनि को कम्बलदान का विधान एवं निषेध	५३१
२.१०.२.५.	केवली के द्वारा तीर्थकर को प्रणाम का विधान एवं निषेध	५३२
२.१०.२.६.	पार्श्वनाथ पर उपसर्ग अमान्य एवं मान्य	५३२

२.१०.३.कालभेद	५३४
---------------	-----

नवम प्रकरण—अन्य विरुद्ध मतों का निरसन	५३७
---------------------------------------	-----

१. ब्र० भूरावल जी का मत	५३७
□ निरसन	५३८
२. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का मत	५४०
□ निरसन	५४०
□ उपसंहार	५४०

एकादश अध्याय

षट्खण्डागम

प्रथम प्रकरण—यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में प्रस्तुत हेतु	५४३
---	-----

□ यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक की अनिश्चयात्मक मनोदशा	५४४
--	-----

द्वितीय प्रकरण— षट्खण्डागम का रचनाकाल : ई० पू० प्रथम शती का पूर्वार्ध	५५०
--	-----

१. षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व	५५१
२. विक्रम की पाँचवीं शती के मत का निरसन	५५५
३. षट्खण्डागम के तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन होने के प्रमाण—	५५६

३.१. तीर्थकर-प्रकृति-बन्ध के सोलह कारण षट्खण्डागम से	५५७
३.२. गुणश्रेणीनिर्जरा के दस स्थान षट्खण्डागम से	५५७
३.३. तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों की रचना का आधार षट्खण्डागम	५५८
३.४. षट्खण्डागम के भावानुयोगद्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण	५६०
३.५. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान षट्खण्डागम से	५६१
३.६. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में नयविकास	५६१
३.७. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादनशैली का विकास	५६१
४. षट्खण्डागम की रचना यापनीयसंघोत्पत्ति से बहुत पहले	५६२
तृतीय प्रकरण—यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता	५६३
१. दिगम्बरपट्टावली में नाम न होना दिगम्बर न होने का हेतु नहीं	५६३
२. दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन का नाम उपलब्ध भी है	५६४
३. नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीयपट्टावली नहीं	५६५
४. नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली सर्वथा अप्रामाणिक नहीं	५६६
५. धरसेन का एक अस्तित्वहीन संघ का आचार्य होना असंभव	५६७
६. जोणिपाहुड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ	५६८
७. 'पण्णसवण' उपाधि का एक अस्तित्वहीन संघ से सम्बन्ध असंभव	५६९
८. शाब्दिक उलटफेर युक्ति-प्रमाणविरुद्ध	५७०
९. महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उत्तराधिकारी दिगम्बर और श्वेताम्बर	५७३
१०. समानगाथाएँ एकान्त-अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ की सम्पत्ति	५७४
११. दिगम्बरग्रन्थों की गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों में	५७५
१२. संयतगुणस्थान की प्राप्ति भावस्त्री को	५७८
चतुर्थ प्रकरण—षट्खण्डागम के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण : यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि	५८०
१. सत्प्ररूपणा का ९३वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक	५८१
२. षट्खण्डागम में गुणस्थानाश्रित बन्धमोक्षव्यवस्था	५८३

३. गुणस्थानसिद्धान्त सर्वज्ञोपदिष्ट, विकसित नहीं ५८६
४. गुणस्थान-सिद्धान्त यापनीय-सिद्धान्तों के विरुद्ध— ५८८
- ४.१. मिथ्यादृष्टि (परलिंगी) की मुक्ति के विरुद्ध ५८९
- ४.१.१. जिनलिंग पूज्य, जिनलिंगाभास अपूज्य ५९८
- ४.१.२. चतुर्जैनाभास-गृहीत नग्नवेश भी जिनलिंगाभास ६०१
- ४.१.३. पार्श्वस्थादि भ्रष्ट जैनमुनियों का नाग्न्यलिंग कुलिंग ६०१
- ४.१.४. जिनलिंगाभास केवलज्ञानसाधक नहीं ६०२
- ४.२. गृहस्थमुक्ति के विरुद्ध ६०४
- ४.३. स्त्री के तीर्थकर होने के विरुद्ध ६०५
- ४.४. लौकिक क्रियाएँ करते हुए केवलज्ञान-प्राप्ति के विरुद्ध ६१४
- ४.४.१. मरुदेवी ६१४
- ४.४.२. चन्दना-मृगावती ६१६
- ४.४.३. बुहारी लगाने वाली वृद्धा ६१८
- ४.४.४. गुरु को कन्धे पर बैठाकर ले जानेवाला शिष्य ६१८
- ४.४.५. ढंढण ऋषि ६१८
- ४.४.६. नट इलापुत्र ६१९
- ४.४.७. कूर्मापुत्र ६२०
- ४.५. सयोगकेवलि-गुणस्थान में मुक्ति के विरुद्ध ६२२
- ४.६. शुभोपयोग के द्वारा केवलज्ञानप्राप्ति के विरुद्ध ६२३
- ४.७. सावद्योग-परिणत जीव को केवलज्ञानप्राप्ति के विरुद्ध ६२३
५. षट्खण्डागम में तीर्थकर प्रकृतिबन्ध के सोलह कारण ६२४
६. षट्खण्डागम में स्थविर (सवस्त्र) साधु अमान्य ६२६
७. षट्खण्डागम में सोलह कल्प (स्वर्ग) मान्य ६२६
८. षट्खण्डागम में नव अनुदिश मान्य ६२८
९. षट्खण्डागम का भाववेदत्रय यापनीयों को अमान्य ६२९
१०. षट्खण्डागम में यापनीय-अमान्य वेदवैषम्य की स्वीकृति ६३२
- १०.१. पुरुषादि-शरीररचना का हेतु पुरुषादि-अंगोपांग-नामकर्म ६३५
- १०.२. श्वेताम्बरग्रन्थों में भी वेदवैषम्य मान्य ६३७
- १०.३. श्वेताम्बरग्रन्थों में एक ही भव में उभयवेद-परिवर्तन भी मान्य ६४०

- १०.४. दिगम्बरग्रन्थों में वेदवैषम्याश्रित भावस्त्री-द्रव्यपुरुषवाचक
'मणुसिणी' या 'मानुषी' संज्ञा ६४१
- १०.५. षट्खण्डागम में मणुसिणी को तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का
कथन ६४९
- १०.६. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री के तीर्थकर होने का निषेध ६४९
- १०.७. षट्खण्डागम में नपुंसकवेदी मनुष्य को तीर्थकरप्रकृति के
बन्ध का कथन ६५१
- १०.८. तीनों परम्पराओं में द्रव्यनपुंसक की मुक्ति का निषेध ६५२
- १०.९. श्वेताम्बर-साहित्य में दशविध जन्मजात, षड्विध कृत्रिम
नपुंसक ६५३
- १०.१०. षट्खण्डागम में स्त्रीवेदी मनुष्य को उत्कृष्ट देव-नारकायु
के बन्ध का कथन ६५५
- १०.११. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री को उत्कृष्ट नारकायु के
बन्ध का निषेध ६५६
- १०.१२. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री को उत्कृष्ट देवायु के
बन्ध का निषेध ६५७

पंचम प्रकरण—यापनीयों की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियों का निरसन ६६१

१. यापनीय-आचार्य शाकटायन की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियाँ ६६१
२. शाकटायन की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियों का निरसन ६६७

**षष्ठ प्रकरण—'मणुसिणी' शब्द केवल द्रव्यस्त्रीवाचक : इस
मत का निरसन ६७१**

१. धवलाकार द्वारा 'मणुसिणी' शब्द का स्पष्टीकरण ६७३
२. न्यायसिद्धान्तशास्त्री पं० पन्नालाल जी सोनी का मत ६७६
३. पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य का मत ६७८
४. भावनपुंसकत्व की स्वीकृति से भावस्त्रीत्व की पुष्टि ६८१
५. द्रव्यनपुंसक की मुक्ति तीनों परम्पराओं में अमान्य ६८३

सप्तम प्रकरण—'संजद' पद छोड़ा नहीं, जोड़ा गया है ६८५

१. 'संजद' पद होने के पक्ष में व्याकरणाचार्य जी का तर्क ६८७
२. 'संजद' पद होने के पक्ष में कोठिया जी का तर्क ६८९

□ कोठिया जी का लेख : 'संजद पद के सम्बन्ध में अकलङ्कदेव का महत्त्वपूर्ण अभिमत'	६८९
□ कोठिया जी के मत में किञ्चित् संशोधन आवश्यक	६९३
३. 'संजद' पद होने के पक्ष में सोनी जी का तर्क	६९४
अष्टम प्रकरण—कर्मसिद्धान्त-व्यवस्था से वेदवैषम्य की सिद्धि	६९६
१. प्रो० हीरालाल जी का वेदवैषम्य विरोधीमत	६९६
२. प्रोफेसर सा० के वेदवैषम्य-विरोधी मत का निरसन	६९८
□ उपसंहार : षट्खण्डागम के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण सूत्ररूप में	७०४
नवम प्रकरण—डॉ० सागरमल जी के मत में परिवर्तन	७०६
□ षट्खण्डागम दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ	७०६
□ साध्वी दर्शनकलाश्री जी के मतानुसार षट्खण्डागम दिगम्बरग्रन्थ	७०७

द्वादश अध्याय

कसायपाहुड

प्रथम प्रकरण—यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में प्रस्तुत हेतु	७१३
१. पहला मत और उसके पोषक हेतु	७१३
२. दूसरा मत और उसके पोषक हेतु	७१४
३. दूसरे मत से पहले मत का निरसन	७१५
४. दूसरा मत कसायपाहुड के सम्प्रदाय का अनिर्णायक	७१६
५. निरन्तर बदलते हुए पूर्वापरविरोधी मत	७१६
द्वितीय प्रकरण—दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण	७२२
१. अन्तरंग प्रमाण—यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि	७२२
१.१. वेदत्रय एवं वेदवैषम्य का प्रतिपादन	७२२
१.२. गुणस्थानसिद्धान्त की उपलब्धि	७२३
१.३. शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध	७२५
२. बहिरंग प्रमाण—	७२५
२.१. कसायपाहुड ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में रचित	७२६

२.२. अन्य बहिरंग तथ्य

७२८

तृतीय प्रकरण—प्रतिपक्षी हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

७३०

१. श्वेताम्बर-यापनीय स्थविरावलियों में गुणधर का नाम नहीं ७३०
२. श्वेताम्बर-यापनीय साहित्य में गुणधर का नाम अनुपलब्ध ७३१
३. 'गुणधर' के स्थान में 'गणधर' की कल्पना अप्रामाणिक ७३३
४. श्वेताम्बर आर्यमंगु-नागहस्ती का कसायपाहुड से सम्बन्ध असंभव ७३५
५. यतिवृषभ का नाम यापनीय-आचार्यों की नामावाली में नहीं ७४१
६. यतिवृषभ यापनीयमत-विरोधी 'तिलोयपण्णती' के कर्ता ७४२
७. दिगम्बरमुनियों के भी नाम में 'यति' शब्द ७४३
८. अर्धमागधी प्रति के अभाव में शौरसेनीकरण असंभव ७४३
९. श्वेताम्बरपरम्परा में अर्धमागधी-कसायपाहुड का अभाव ७४४
१०. सित्तरीचूर्णि-निर्दिष्ट कसायपाहुड गुणधरकृत ७४७
११. कसायपाहुड पर श्वेताम्बरीय टीका नहीं ७५२
१२. स्त्रीमुक्ति-समर्थन का मत असत्य ७५३
१३. आचार्य-मतभेद परम्पराभेद का प्रमाण नहीं ७५६
१४. 'वाचक' पद का सम्बन्ध किसी परम्परा से नहीं ७५७
१५. मोहनीय के ५२ नाम एकान्त-अचेलमार्गी-मूलसंघ की विरासत ७५८
१६. अपना पूर्वमत स्वयं के द्वारा ही मिथ्या घोषित ७६०

चतुर्थ प्रकरण—कसायपाहुड श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं

७६१

- लेख—'कषायप्राभृत दिगम्बर आचार्यों की ही कृति है'—
लेखक : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ७६१
- शब्दविशेष-सूची ७८९
- प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची ८१७



श्रद्धेय बाबा सा० स्व० श्री रतनलाल जी पाटनी (मेसर्स आर० के० मार्बल ग्रुप, मदनगंज-किशनगढ़)

दिगम्बर जैन समाज के नररत्न, बालब्रह्मचर्य के साथ शताधिकवर्षजीवी, देशव्रती बाबासाहब श्री रतनलाल जी पाटनी एवं उनके परिवारजनों ने धार्मिक एवं सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में उत्कृष्ट कीर्तिमान स्थापित किए हैं। ये तीर्थक्षेत्रों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार, यात्रीनिवास, पाठशाला, अस्पताल आदि के निर्माण तथा साहित्यप्रकाशन में पर्याप्त आर्थिक सहयोग प्रदान करने में सदैव अग्रणी रहे हैं। इस अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का पुण्यार्जन भी इन्हीं के यशस्वी परिवार के उदारमना श्री अशोककुमार जी पाटनी ने किया है। एतदर्थ उन्हें अनेक साधुवाद।

प्रकाशक

तीनों खण्डों की विषयवस्तु का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ पृथक्-पृथक् ग्रथित तीन खण्डों में विभक्त है। अतः तीनों खण्डों की विषयवस्तु से एक साथ परिचित होने के लिए उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

प्रथम खण्ड की विषयवस्तु

प्रथम खण्ड में क्रमशः प्रकाशकीय वक्तव्य, ग्रन्थकथा (ग्रन्थ-लेखन का प्रसंग, प्रेरणा, अनुकूलताओं का अतिशय, सहयोगियों का सौहार्द, गुरुओं का आशीर्वाद, प्रोत्साहन, उनके द्वारा पाण्डुलिपि का श्रवण एवं परिमार्जन, तथा आवश्यक ग्रन्थों की व्यवस्था इत्यादि का विवरण), ग्रन्थसार (ग्रन्थ के सभी अध्यायों का सार) और संकेताक्षर-विवरण तथा प्रथम अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—

प्रथम अध्याय—इस अध्याय में श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों के उन कपोल-कल्पित मतों एवं कथाओं का वर्णन किया गया है, जिन्हें उन्होंने यह सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है कि दिगम्बरजैनमत तीर्थकरोपदिष्ट एवं प्राचीन नहीं है, अपितु उसे वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में गृहकलह के कारण श्वेताम्बर स्थविरकल्पी साधु बन जानेवाले बोटिक शिवभूति नाम के एक साधारण पुरुष ने चलाया था। कुछ आधुनिक श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का कथन है कि दिगम्बरजैनमत का प्रवर्तन विक्रम की छठी शती में दक्षिण भारत में हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने किया था। आधुनिक श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी ने कथा गढ़ी है कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले यापनीयसंघ में दीक्षित हुए थे, पश्चात् उससे अलग हो गये और उन्होंने दिगम्बरमत की स्थापना की। श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने यह कल्पना की है कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले भट्टारकसम्प्रदाय में भट्टारकपद पर दीक्षित हुए थे, कुछ समय बाद उस सम्प्रदाय की प्रवृत्तियों से असन्तुष्ट होकर उन्होंने आगमोक्त दिगम्बरजैनमत को पुनरुज्जीवित किया। वर्तमान श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी द्वारा यह कहानी रची गयी है कि 'भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म का उपदेश नहीं दिया था, अपितु अचेल-सचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया था। अतः उनका अनुयायी

श्रमणसंघ उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के नाम से जाना जाता था। ईसा की पाँचवीं शती में इस संघ से केवल सचेलधर्म के समर्थक श्वेताम्बरसंघ का और सचेल-अचेल दोनों धर्मों के समर्थक यापनीयसंघ का जन्म हुआ।' ये तीनों संघ सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलिभुक्ति को मानते थे। महावीर का गर्भपरिवर्तन भी इन तीनों को मान्य था। डॉ० सागरमल जी ने अपनी कहानी में यह भी गढ़ा है कि कुन्दकुन्द का श्रमणसंघ दक्षिणभारतीय-निर्ग्रन्थसंघ कहलाता था और उनका जन्म ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं, अपितु ईसोत्तर पाँचवीं (विक्रम की छठी) शताब्दी में हुआ था।

दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यह उद्भावना की है कि भगवती-आराधना, उसकी विजयोदयाटीका, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि यापनीयपरम्परा के ग्रन्थ हैं। दिगम्बर जैन विदुषी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ और दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीय-परम्परा में रचित बतलाया है। इससे प्रेरणा पाकर श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने उक्त ग्रन्थों के साथ षट्खण्डागम, कसायपाहुड, तिलोयपण्णत्ती, वरांगचरित आदि सोलह दिगम्बर-ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ घोषित कर दिया और तत्त्वार्थसूत्र तथा सम्मत्तिसूत्र को स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है। उन्होंने अनेक कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा इसकी पुष्टि करने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय अध्याय—उपर्युक्त मिथ्या मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये कपोलकल्पित हेतुओं में से अनेक की कपोलकल्पितता का उद्घाटन द्वितीय अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि—

१. वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति ने दिगम्बरमत की स्थापना नहीं की थी, अपितु श्वेताम्बरमत छोड़कर परम्परागत दिगम्बरमत का वरण किया था। शिवभूति की मान्यता थी कि श्रुत में अचेलत्व का ही उपदेश है और जिनेन्द्र-गृहीत होने से अचेललिंग ही प्रामाणिक है। यह शिवभूति के वचनानुसार दिगम्बर-मत के परम्परागत होने का प्रमाण है।

२. आचार्य कुन्दकुन्द को आधुनिक श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी (४७०-४९० ई०) के कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा का समकालीन एवं दिगम्बरमत का संस्थापक माना है। किन्तु इसी राजा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख में श्वेतपट-महाश्रमणसंघ के साथ उसके प्रतिपक्षी दिगम्बरजैनसंघ का निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के नाम से उल्लेख हुआ है, जिससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैनमत

पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्व से चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त पाँचवीं शती ई० (४५० ई०) के पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में दिगम्बरजैनमत का प्रतिपादन किया है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर जैनमत इसके बहुत पहले से प्रचलित था। अतः यह मान्यता मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बरमत की स्थापना की थी।

३. उपर्युक्त देवगिरि-ताम्रपत्रलेख से सिद्ध है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए लोकप्रसिद्ध था। और ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अशोक के सातवें स्तम्भलेख में निर्ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि दिगम्बरजैनसंघ ईसापूर्व तृतीय शताब्दी में विद्यमान था। ईसापूर्व छठी शताब्दी के बुद्धवचनों के संग्रहरूप प्राचीन पिटकसाहित्य में तथा ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक के बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों को निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित किया गया है। इन प्रमाणों से भी श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता कपोलकल्पित सिद्ध हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बरजैनमत का प्रवर्तन किया था।

४. श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति के पूर्व निर्ग्रन्थसंघ के सभी साधु अचेल (नग्न) होते थे, अतः निर्ग्रन्थ शब्द जैनसाधु का पर्यायवाची बन गया था। इसलिए जब निर्ग्रन्थ-संघ के कुछ साधुओं ने वस्त्रपात्र धारण कर श्वेताम्बरसंघ बना लिया, तब भी उन्होंने जैनसाधु के रूप में अपनी पहचान कराने हेतु अपने लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग प्रचलित रखा। किन्तु यह प्रयोग उनके शास्त्रों तक ही सीमित रहा। इस नाम से वे अपने संघ को प्रसिद्ध नहीं कर सके, क्योंकि यह पहले से ही अचेल (दिगम्बर) जैनश्रमणसंघ के लिए प्रसिद्ध था और यह (निर्ग्रन्थ) शब्द श्वेताम्बरों की साम्प्रदायिक विशिष्टता के विज्ञापन में भी बाधक था। इसलिए उन्होंने अपने संघ को श्वेतपटसंघ नाम से प्रसिद्ध किया। ईसापूर्व प्रथम शती के बौद्धग्रन्थ अपदान में श्वेताम्बरों को सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र) नाम से अभिहित किया गया है और पाँचवीं शताब्दी ई० के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख में उनके संघ का उल्लेख श्वेतपटमहाश्रमणसंघ शब्द से हुआ है। इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बरसंघ आरंभ से ही 'श्वेतपट' नाम से प्रसिद्ध रहा है। और 'निर्ग्रन्थ' शब्द उनके शास्त्रों में भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) श्वेताम्बरसंघ से प्राचीन है।

५. यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख पाँचवीं शती ई० (सन् ४७०-४९० ई०) के कदम्बवंशीय राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-ताम्रपत्रलेख में उपलब्ध होता है। इससे

पूर्व किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में उसका उल्लेख नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति उक्त ताम्रपत्रलेख के काल से अधिक से अधिक पचास वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। डॉ० सागरमल जी ने भी यही माना है। दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक था। इसका सप्रमाण प्रतिपादन कुन्दकुन्द का समय नामक दशम अध्याय में किया गया है। अतः जिस यापनीयसंघ का उदय कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल से पाँच सौ वर्ष बाद हुआ, उसमें उनका दीक्षित होना सर्वथा असंभव है।

६. इसी प्रकार भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ था। इसकी सप्रमाण सिद्धि अष्टम अध्याय में की गयी है। अतः इससे ११०० वर्ष पूर्व हुए कुन्दकुन्द का भट्टारकसम्प्रदाय में भी दीक्षित होना असंभव है।

७. ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए यापनीयसंघ से पूर्व भारत में ऐसा कोई भी जैनसम्प्रदाय नहीं था जो अचेल और सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति मानता हो। पाँचवीं शताब्दी ई० तथा उससे पूर्व के किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। इसका सप्रमाण प्रतिपादन द्वितीय अध्याय में किया गया है। अतः डॉ० सागरमल जी की यह मान्यता अप्रमाणिक सिद्ध हो जाती है कि उत्तरभारतीय-सचेल-निर्ग्रन्थसम्प्रदाय से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का जन्म हुआ था और तत्त्वार्थसूत्र एवं सन्मत्तिसूत्र की रचना इसी सम्प्रदाय में हुई थी।

तृतीय अध्याय—इस अध्याय में वे प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य में दिग्म्बरमत को मान्यता दी गयी है। आचारांग और स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। परिषहजय एवं तप के लिए पूर्ण निर्वस्त्रता की अनुशंसा की गयी है। द्रव्य-परिग्रह को भी परिग्रह स्वीकार किया गया है। सभी तीर्थकरों के दिग्म्बरमुद्रा से ही मुक्त होने का कथन है। आदि और अन्तिम तीर्थकरों द्वारा अचेलकर्म का ही उपदेश दिये जाने का वर्णन है। और आचारांग में 'अचेल' का अर्थ 'अल्पचेल' नहीं किया गया है, सर्वथा अचेल ही किया गया है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिग्म्बरमत आचारांग और स्थानांग के रचनाकाल से भी प्राचीन है।

चतुर्थ अध्याय—वैदिकसाहित्य, संस्कृतसाहित्य और बौद्धसाहित्य में भी दिग्म्बर-जैन मुनियों की चर्चा की गई है। इसके प्रमाण चतुर्थ अध्याय में दिये गये हैं। ईसापूर्व १५वीं शती के ऋग्वेद में वातरशन (वायुरूपी वस्त्र धारण करनेवाले) मुनियों का

उल्लेख है। ईसापूर्व ८०० के महर्षि यास्करचित निघण्टु में दिगम्बर एवं वातवसन (वायुरूपी वस्त्रधारी) मुनियों की चर्चा की गयी है। ५०० ई० पू० से १०० ई० पू० तक रचित महाभारत में नग्नक्षपणक शब्द से दिगम्बरजैन साधुओं का कथन हुआ है। ३०० ई० के पञ्चतन्त्र (अपरीक्षितकारक) में नग्नक, क्षपणक और दिगम्बर शब्दों से तथा धर्मवृद्धि के आशीर्वाद के उल्लेख से दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन किया गया है। मत्स्यपुराण (३०० ई०), विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) वायुपुराण (५०० ई०) तथा वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में दिगम्बर-जैन मुनियों के लिए नग्न, निर्ग्रन्थ, दिग्वासस् और क्षपणक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

बौद्ध पिटकसाहित्य में ईसापूर्व छठी शती के बुद्धवचनों का संकलन है, जो ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध हो चुका था। उसके अन्तर्गत सुत्तपिटक के अंगुत्तर-निकाय में निर्ग्रन्थों को अहिरिका (अह्लीक=निर्लज्ज) कहा गया है, जिससे उनका नग्न रहना सूचित होता है। अंगुत्तरनिकाय में ही इन्हें अचेल शब्द से भी अभिहित किया गया है। प्रथम शती ई० के बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में निर्ग्रन्थों को नग्न विचरण करनेवाला कहा गया है। धम्मपद-अट्ठकथा (४-५वीं शती ई०) की विसाखावत्थु कथा में भी निर्ग्रन्थों को नग्नवेशधारी ही बतलाया गया है तथा आर्यशूर (चौथी शती ई०) ने संस्कृत में रचित जातकमाला में निर्ग्रन्थों को वस्त्रधारण करने के कष्ट से मुक्त कहा है।

इन जैनैतर साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैनमत ऋग्वेद के रचनाकाल (ई० पू० १५००) से भी प्राचीन है। अतः उसे वीर निर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति के द्वारा अथवा विक्रम की छठी शती में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रवर्तित बतलाया जाना एक बहुत बड़ा झूठ है।

पञ्चम अध्याय—इस अध्याय में पुरातत्व के प्रमाणों के आधार पर दिगम्बर-जैनमत की प्राचीनता सिद्ध की गई है। हड़प्पा की खुदाई में ई० पू० २४०० वर्ष पुरानी एक मस्तकविहीन नग्न जिनप्रतिमा प्राप्त हुई है। ठीक वैसी ही एक मौर्यकालीन (ई० पू० तृतीय शताब्दी की) नग्न जिनप्रतिमा लोहानीपुर (पटना, बिहार) में उपलब्ध हुई है। ये प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ इस बात का सबूत हैं कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व ३०० वर्ष से पुरानी तो है ही, ईसापूर्व २४०० वर्ष से भी प्राचीन है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण कभी नहीं हुआ, क्योंकि श्वेताम्बर नग्नत्व को अश्लील एवं लोकमर्यादा के विरुद्ध मानते हैं, इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि तीर्थकरों का नग्न शरीर दिव्य शुभप्रभामंडल से आच्छादित हो जाता है, फलस्वरूप वे नग्न दिखाई नहीं देते।

षष्ठ अध्याय—दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास इस अध्याय का विषय है। प्रायः सभी दिगम्बरजैनों की यह धारणा है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद ईसापूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप हुआ था। किन्तु यह धारणा संशोधनीय है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद नहीं हुआ था, अपितु दिगम्बर-अर्धफालक-भेद हुआ था। दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२=४६५ ई० पू०) के पश्चात् ही हो गया था। इसका प्रमाण यह है कि उनके निर्वाण के पश्चात् ही दोनों सम्प्रदायों की गुरुशिष्य-परम्परा अलग-अलग हो गयी थी। निर्ग्रन्थसंघ से पहली बार तो श्वेताम्बर-संघ की उत्पत्ति शीतादिपरीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ साधुओं के अचेलत्व को छोड़कर वस्त्रपात्र-कम्बल आदि ग्रहण कर लेने से हुई थी, किन्तु दूसरी बार उससे (निर्ग्रन्थसंघ से) अर्धफालकसंघ का जन्म द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आहारप्राप्ति में उत्पन्न कठिनाइयों के फलस्वरूप हुआ था। अर्धफालक साधु नग्न रहते थे, किन्तु वार्ये हाथ पर सामने की ओर आधा वस्त्र लटकाकर गुह्यांग छिपाते थे। इस कारण वे अर्धफालक नाम से प्रसिद्ध हुए।

सप्तम अध्याय—प्रस्तुत अध्याय में यापनीयसंघ की उत्पत्ति के स्रोत एवं काल का अनुसन्धान किया गया है। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) का प्राचीनतम उल्लेख बौद्धों के पिटकसाहित्य (अंगुत्तरनिकाय) एवं अशोक के सप्तम स्तम्भलेख में मिलता है। तथा श्वेतपटसंघ की चर्चा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ अपदान में उपलब्ध होती है। किन्तु यापनीयसंघ का उल्लेख सर्वप्रथम कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-ताम्रपत्रलेख (४७०-४९० ई०) में हुआ है। इससे पूर्व किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में यापनीयसंघ का नाम नहीं मिलता। इससे निर्णीत होता है कि यापनीयसंघ का उदय उक्त उल्लेख से लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था। डॉ० सागरमल जी ने भी यही माना है। इस संघ का उल्लेख करनेवाले प्रायः सभी शिलालेख एवं इस संघ के बनवाये हुए मंदिर दक्षिण भारत में ही प्राप्त हुए हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दक्षिण भारत में हुई थी। इस संघ के साधु प्रायः दिगम्बर-साधुओं के समान नग्न रहते थे, मयूरपिच्छी रखते थे और पाणितलभोजी होते थे, तथापि शीतादिपरीषह सहने में असमर्थ अथवा नग्न रहने में लज्जा का अनुभव करनेवाले या जिनका पुरुषचिह्न विकृत होता था, उन साधुओं के लिए इस संघ में श्वेताम्बरों के समान वस्त्रपात्रादि रखने की अनुमति दी गयी थी। इस प्रकार दिगम्बरों के समान नग्नत्व को छोड़कर इसकी सभी मान्यताएँ श्वेताम्बरीय मान्यताओं के समान थीं। अर्थात् यापनीय भी श्वेताम्बरों के समान सवस्त्रमुक्ति,

स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलभुक्ति एवं महावीर के गर्भपरिवर्तन की बात मानते थे। वे श्वेताम्बर-आगमों को भी मानते थे। इस अत्यन्त समानता से सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ से हुई थी।

इस अध्याय में उन विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है, जो यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण हैं, जिनके सद्भाव या अभाव से यह निर्णय होता है कि अमुक ग्रन्थ यापनीयग्रन्थ है या नहीं।

सप्तम अध्याय के अन्त में क्रमशः शब्दविशेष-सूची एवं प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची विन्यस्त की गयी हैं।

द्वितीय खण्ड की विषयवस्तु

इस खण्ड में आठवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक कुल पाँच अध्याय निबद्ध किये गये हैं।

अष्टम अध्याय—आचार्य कुन्दकुन्द ने किसी भी ग्रन्थ में अपने दीक्षागुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि कुन्दकुन्द शुरू में बोटिक शिवभूति द्वारा प्रवर्तित यापनीयसंघ में उसकी परम्परा के किसी शिष्य द्वारा दीक्षित हुए थे। किन्तु आगे चलकर उन्हें अपने गुरु का शिथिलाचार तथा यापनीयमत की अयुक्तिसंगत मान्यताएँ पसन्द नहीं आयीं, इसलिए वे उनके विरुद्ध हो गये। अन्ततः उन्होंने अपने गुरु का साथ छोड़ दिया और पृथक् दिगम्बरसंघ स्थापित कर लिया। इसीलिए उन्होंने अपने गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया।

श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी का कथन है कि कुन्दकुन्द प्रारम्भ में मन्दिर मठों में नियतवास करनेवाले और राजाओं से भूमिदान आदि ग्रहण करनेवाले भट्टारक-सम्प्रदाय के भट्टारक थे। किन्तु, जब उन्हें धर्म के तीर्थकरप्रणीत वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब उनके मन में अपने भट्टारक गुरु के प्रति अश्रद्धा हो गयी और वे उनसे अलग हो गये। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का स्मरण नहीं किया। आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल वीर नि० सं० १००० अर्थात् ४७३ ई० के लगभग माना है और उस समय जो दिगम्बरजैन मुनि मन्दिर-मठ में नियतवास करते थे और राजाओं से ग्राम-भूमि आदि का दान ग्रहण कर गृहस्थों जैसा जीवन व्यतीत करते थे, उनके सम्प्रदाय को भी भट्टारकसम्प्रदाय घोषित किया है।

प्रस्तुत अध्याय में इन दोनों मतों को निम्नलिखित प्रमाणों के आधार पर कपोलकल्पित सिद्ध किया गया है—

१. विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित बोटिकमतोत्पत्ति कथा से सिद्ध है कि बोटिक शिवभूति यापनीयसंघ का प्रवर्तक नहीं था, अपितु उसने श्वेताम्बरमत छोड़कर परम्परागत दिगम्बरमत का वरण किया था, अतः उसकी परम्परा में दीक्षित कोई भी व्यक्ति यापनीय नहीं हो सकता था। शिवभूति के दिगम्बर होने पर भी कुन्दकुन्द उसके शिष्य या प्रशिष्य नहीं हो सकते थे, क्योंकि कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध) में हुए थे। (देखिये, अध्याय १०) और बोटिक शिवभूति ने ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण (वीर निर्वाण सं० ६०९=ई० सन् ८२) में दिगम्बरमत स्वीकार किया था।

२. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने का उल्लेख न तो कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने किसी ग्रन्थ में किया है, न किसी अन्य ग्रन्थ या शिलालेख में मिलता है।

३. आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और यापनीयसंघ की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई थी। (देखिये, अध्याय ७)। इससे भी कुन्दकुन्द का यापनीयसंघ में दीक्षित होना असंभव था।

४. इसी प्रकार भगवान् महावीर द्वारा अनुपदिष्ट सवस्त्र-साधुलिंग को धारण-करनेवाले भट्टारक सम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ था, अतः ग्यारह सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य कुन्दकुन्द का भट्टारकसम्प्रदाय में भी दीक्षित होना नामुमकिन है।

५. १२वीं शताब्दी के पूर्व जिन दिगम्बरजैन साधुओं ने मन्दिरों और मठों में नियतवास आरंभ कर दिया था और भूमि-ग्रामादि का दान ग्रहण करने लगे थे, उनका सम्प्रदाय पासत्थादि-मुनिसम्प्रदाय कहलाता था, भट्टारक-सम्प्रदाय नहीं। पासत्थादि-मुनिसम्प्रदाय और भट्टारकसम्प्रदाय में मौलिक भेद यह था कि पहले ने मुनि अवस्था में रहते हुए गृहस्थकर्म अपना लिया था और दूसरे ने गृहस्थावस्था में रहते हुए मुनिकर्म (धर्मगुरु का पद) हथिया लिया था। इस प्रकारक कुन्दकुन्द के समय में पासत्थादि-मुनियों के सम्प्रदाय का अस्तित्व था, भट्टारकसम्प्रदाय का नहीं। अतः कुन्दकुन्द का भट्टारकसम्प्रदाय में भी दीक्षित होना असंभव था।

यह सुनिश्चित करने के लिए कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शती में ही हुआ था, उसके पूर्व नहीं, प्रस्तुत अध्याय में भट्टारकों के असाधारणधर्मों

का विस्तार से वर्णन किया गया है और उन धर्मों का विकास १२वीं शती में ही हुआ था, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

इसी प्रकार इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला गया है कि मन्दिर-मठों में नियतवास करनेवाले और राजाओं से ग्राम-भूमि आदि का दान लेकर गृहस्थों जैसा जीवन व्यतीत करनेवाले दिगम्बर जैन मुनियों के लिए 'भट्टारक' संज्ञा का प्रयोग किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता उन्हें सर्वत्र पासत्थ (पार्श्वस्थ), कुशील (कुशील), संसत्त (संसक्त) और ओसण्ण (अवसन्न), इन विशेषणों से युक्त 'मुनि' शब्द से ही अभिहित किया गया है।

निष्कर्ष यह कि आचार्य कुन्दकुन्द, न तो कभी यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, न भट्टारकसम्प्रदाय में, अतः मुनि कल्याणविजय जी और आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के द्वारा अपने दीक्षागुरु के नाम का उल्लेख न किये जाने के जो कारण बतलाये हैं, वे सर्वथा मिथ्या हैं।

श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी ने सुप्रसिद्ध दिगम्बरग्रन्थ गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को भी यापनीयसम्प्रदाय का आचार्य बतलाया है। इसका भी सप्रमाण खण्डन प्रस्तुत अध्याय का एक प्रासंगिक विषय है।

नवम अध्याय—प्रस्तुत अध्याय में इस प्रश्न का समाधान किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने दीक्षागुरु के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? वह समाधान यह है कि प्राचीनकाल में प्रायः ग्रन्थकारों के द्वारा अपने ग्रन्थों में स्वयं के तथा स्वगुरु के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं थी। षट्खण्डागम के कर्ता, पुष्यदन्त और भूतबलि, कसायपाहुड के कर्ता गुणधर, तत्त्वार्थसूत्रकार गृध्रपिच्छ, आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपादस्वामी आदि दिगम्बराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में स्वनाम एवं स्वगुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, पतञ्जलि ने योगदर्शन में और वाल्मीकि ने रामायण में अपने गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया।

दशम अध्याय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। डॉ० के० बी० पाठक, मुनि कल्याणविजय जी, पं० दलसुख मालणिया, डॉ० आर० के० चन्द्र एवं डॉ० सागरमल जी ने कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल विक्रम की छठी शती (५वीं शती ई० का उत्तरार्ध) माना है। प्रो० एम० ए० ढाकी ने तो कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में ढकेलने का प्रयत्न किया है। श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी ने उन्हें पहले ई० सन् ४७३ में उत्पन्न बतलाया, बाद में उनका उत्पत्तिकाल ई०

सन् ७१३ मान लिया। प्रो० हीरालाल जी जैन ने कुन्दकुन्द का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी बतलाया है, जब कि ब्र० भूरामल जी (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी) ने उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु का तथा पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भद्रबाहु-द्वितीय का साक्षात् शिष्य मानकर उनका समकालीन माना है। ये सभी मत असमीचीन हैं।

ई० सन् १८८५ में राजपूताना की यात्रा के समय श्री सेसिल बेण्डल (Mr. Cecil Bendall) को जयपुर के पण्डित श्री चिमनलाल जी ने मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, नन्दी-आम्नाय और बलात्कारगण की दो पट्टावलियाँ प्रदान की थीं। श्री बेण्डल ने वे प्रो० (डॉ०) ए० एफ० रूडाल्फ हॉर्नले (Rudolf Hoernle) को सौंप दीं। प्रो० हॉर्नले ने उन पट्टावलियों का समस्त विवरण अँगरेजी में एक तालिका में निबद्ध किया और उसे तत्कालीन शोधपत्रिका 'The Indian Antiquary, Vol. XX, october 1891' में प्रकाशित कराया। इस (इण्डियन ऐण्टिक्वेटी में प्रकाशित) तालिकाबद्ध पट्टावली में बतलाया गया है कि कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की आयु में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे तथा ५१ वर्ष, १० मास एवं १० दिन तक आचार्यपद पर आसीन रहे। उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन था।

आचार्य कुन्दकुन्द के इस समय की पुष्टि साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से होती है। दशम अध्याय में इन्हीं प्रमाणों को प्रस्तुत कर आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक) निर्धारित किया गया है और उपर्युक्त विद्वानों द्वारा प्रस्तुत समस्त विरोधी मतों को उनके आधारभूत हेत्वाभासों का युक्ति-प्रमाणपूर्वक विस्तार से निरसन करते हुए निरस्त किया गया है।

श्वेताम्बर विद्वान् पं० दलसुख मालवणिया ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में वर्णित जैनदर्शन के स्वरूप को तत्त्वार्थसूत्र (उनके अनुसार तीसरी-चौथी शताब्दी ई०) में वर्णित जैनदर्शन के स्वरूप की अपेक्षा विकसित मानकर कुन्दकुन्द को उमास्वाति से परवर्ती (पाँचवीं शती ई०) सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार डॉ० सागरमल जी ने गुणस्थानसिद्धान्त और नय-प्रमाण-सप्तभंगी को जिनोपदिष्ट न मानकर छद्मस्थ आचार्यों द्वारा विकसित बतलाया है और कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र में ये दोनों सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होते, जब कि कुन्दकुन्दसाहित्य में उपलब्ध होते हैं, अतः कुन्दकुन्द उमास्वाति से उत्तरवर्ती (५वीं शती ई० के) हैं। दशम अध्याय में इन तीनों विकासवादों

को अखण्ड्य प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया गया है, जिससे कुन्दकुन्द के अस्तित्व को ईसा की पाँचवीं शताब्दी में सिद्ध करने का प्रयत्न धराशायी हो जाता है और उनके ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होने का तथ्य अक्षुण्ण रहता है।

एकादश अध्याय—षट्खण्डागम को केवल श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने यापनीयग्रन्थ माना है। उनका प्रमुख तर्क यह है कि उसके प्रथम खण्ड 'सत्प्ररूपणा' (पुस्तक १) के ९३वें सूत्र में मणुसिणी (मनुष्यस्त्री) में संयत-गणुस्थान बतलाये गये हैं। 'मणुसिणी' शब्द का अर्थ केवल द्रव्यस्त्री है, उसे जो भावस्त्री का भी वाचक माना गया है, वह गलत है। इससे सिद्ध है यह ग्रन्थ स्त्रीमुक्तिसमर्थक यापनीयसम्प्रदाय का है। इसे स्त्रीमुक्ति-समर्थक श्वेताम्बरसम्प्रदाय का इसलिए नहीं माना जा सकता कि यह शौरसेनी प्राकृत में है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय के सभी प्राकृतग्रन्थ अर्धमागधी में रचे गये हैं।

एकादश अध्याय में इस तर्क का निरसन करने के लिए अनेक युक्तिप्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि जो द्रव्य (शरीर) से स्त्री है, उसे तो षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' कहा ही गया है, किन्तु जो द्रव्य से स्त्री नहीं हैं, अपितु पुरुष है, तथापि स्त्रीवेदनोकषाय के उदय से स्त्रीत्वभाव से युक्त है, उसे भी 'मणुसिणी' शब्द से अभिहित किया गया है। यह भी दर्शाया गया है कि ऐसे मनुष्यों के लिए सर्वार्थसिद्धि (१/७/२६/पृ.१७), तत्त्वार्थराजवार्तिक (९/७/११/पृ.६०५) आदि अन्य दिगम्बरजैन ग्रन्थों में भी 'मानुषी' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा इस प्रकार के मनुष्य, लोक में भी मिलते हैं। षट्खण्डागम के उपर्युक्त सूत्र में ऐसे ही स्त्रीत्वभाव से युक्त पुरुषशरीरधारी मनुष्यों को 'मणुसिणी' शब्द से अभिहित करते हुए उनमें संयतगुणस्थानों का कथन किया गया है। अतः षट्खण्डागम स्त्रीमुक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है।

किसी मनुष्य का स्त्रीवेदनोकषाय-नामक कर्म के उदय से भाव से स्त्री होना और पुरुषांगोपांग-नामकर्म के उदय से द्रव्य (शरीर) से पुरुष होना वेदवैषम्य कहलाता है। कर्मभूमि के किसी-किसी गर्भज संज्ञी-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच एवं मनुष्य में ऐसा वेदवैषम्य होता है, यह दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस वेदवैषम्य के कारण लोक में दो प्रकार के पुरुष मिल सकते हैं—एक वह, जो मन (भाव) और शरीर (द्रव्य) दोनों से पुरुष हो और दूसरा वह, जो मन से स्त्री हो, लेकिन शरीर से पुरुष। इन दोनों ही प्रकार के पुरुषों का मोक्षसंभव है। किन्तु जो मनुष्य, भाव से पुरुष हो, परन्तु द्रव्य से स्त्री, उसका मोक्ष संभव नहीं है।

इस वेदवैषम्य को यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन (९वीं शताब्दी ई०) और बीसवीं शती ई० के दिगम्बरजैन विद्वान् प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन ने अमान्य किया है। इन दोनों विद्वानों की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियों का सप्रमाण-सयुक्तिक निरसन भी प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

इस अध्याय में षट्खण्डागम में उपलब्ध उन सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं और इस बात के अखण्ड्य प्रमाण हैं कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। यहाँ यह भी सिद्ध किया गया है कि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुई थी और यापनीयसम्प्रदाय का जन्म ईसोत्तर पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था। इस कारण भी षट्खण्डागम का यापनीयग्रन्थ होना असंभव है।

डॉ० सागरमल जी ने षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए और भी जो तर्क उपस्थित किये हैं, उन सबका निरसन इस अध्याय में किया गया है।

द्वादश अध्याय—डॉ० सागरमल जी ने 'कसायपाहुड' को भी यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ बतलाया है और इसके समर्थन में यह तर्क रखा है कि उसमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक के अपगतवेदी होकर चतुर्दश गुणस्थान तक पहुँचने की बात कही गयी है, जो उसके स्त्रीमुक्ति-समर्थक होने का प्रमाण है। चूँकि वह अर्धगामधी प्राकृत में न होकर शौरसैनी प्राकृत में है, इसलिए श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है, अपितु यापनीयपरम्परा का है।

उक्त मत का निरसन करने के लिए इस अध्याय में यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया है कि कसायपाहुड में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, इन तीन भाववेदों (नोकषायों) का पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं गुणस्थानसिद्धान्त स्वीकार किया गया है। ये दोनों बातें यापनीयों को अमान्य हैं। अपगतवेदत्व भी वेदत्रय के अस्तित्व की मान्यता और गुणस्थान- सिद्धान्त पर आश्रित होने से यापनीयमत के विरुद्ध है, अतः कसायपाहुड यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा विन्यस्त हेतुओं का सप्रमाण निरसन सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने अपने एक लेख में किया है। यह लेख भी प्रस्तुत अध्याय में ज्यों का उद्धृत किया गया है।

तृतीय खण्ड की विषयवस्तु

इस खण्ड में तेरहवें अध्याय से लेकर पच्चीसवें अध्याय तक कुल तेरह अध्याय हैं।

त्रयोदश अध्याय—प्रस्तुत अध्याय में इस भ्रान्ति का निवारण किया गया है कि भगवती-आराधना यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ घोषित किया था। फिर तो श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी, दिगम्बर विद्वान् प्रो० हीरालाल जी जैन, दिगम्बर विदुषी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया, श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन आदि ने भी इसे यापनीयसम्पदाय का ग्रन्थ मान लिया। इसके समर्थन में इन सब विद्वानों ने उन्हीं हेतुओं का अनुसरण किया है, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रस्तुत किये हैं।

प्रेमी जी ने जो प्रमुख तर्क दिया है, वह यह है कि भगवती-आराधना में मुनि के लिए सवस्त्र अपवादलिंग का विधान है। किन्तु यह उनकी महाभ्रान्ति है। भगवती-आराधना में मुनि के लिए सवस्त्र अपवादलिंग का विधान नहीं है, अपितु मुनि के नाग्न्यलिंग को उत्सर्गलिंग और श्रावक के सवस्त्रलिंग को अपवादलिंग शब्द से अभिहित किया गया है। इसकी पुष्टि भगवती-आराधना के कर्त्ता शिवार्य तथा टीकाकार अपराजित सूरि के अनेक वचनों से की गयी है। इन दोनों आचार्यों ने मुनि के लिए आचेलक्य को अनिवार्य बतलाया है, अपवादलिंग का कोई विकल्प नहीं रखा, जिससे सिद्ध है कि भगवती-आराधना दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यापनीयपरम्परा का नहीं।

प्रेमी जी ने दूसरा तर्क देते हुए कहा कि 'भगवती-आराधना की कई गाथाएँ दिगम्बरजैनमत के विरुद्ध हैं और अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों से ग्रहण की गयी हैं। यह यापनीयग्रन्थ में ही संभव है।' यह तर्क भी भ्रान्ति से परिपूर्ण है। जिन गाथाओं को दिगम्बरजैनमत के विरुद्ध बतलाया गया है, वे दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल हैं तथा जो गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों से गृहीत बतलायी गयी हैं, वे दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद से पूर्व की मूल-अचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा से आयी हैं। अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ नहीं है। इन तथ्यों की सिद्धि अनेक युक्ति-प्रमाणों से प्रस्तुत अध्याय में की गयी है। भगवती-आराधना को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रेमी जी द्वारा प्रस्तुत सभी तर्कों का निरसन यहाँ किया गया है। डॉ० सागरमल जी ने भी दो नये हेतु जोड़े हैं, उनकी अप्रामाणिकता भी उद्धाटित की गयी है।

भगवती-आराधना में सापवाद वस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति केवलिभुक्ति आदि का निषेध किया गया है, जो यापनीयमत के सिद्धान्त हैं। इसमें यापनीयों को अमान्य गुणस्थानसिद्धान्त, वेदत्रय एवं वेदवैषम्य को मान्य किया गया है। इन लक्षणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि भगवती-आराधना दिग्म्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यापनीयपरम्परा का नहीं। इन सबके उदाहरण इस अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत किये गये हैं।

चतुर्दश अध्याय—जिन विद्वानों ने भगवती-आराधना को यापनीयग्रन्थ माना है, उन्होंने ही उसके टीकाकार अपराजितसूरि को भी यापनीय आचार्य कहा है। इसका प्रमुख कारण यह बतलाया है कि अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों से वे उद्धरण दिये हैं, जिनमें यह कहा गया है कि साधु विशेष परिस्थितियों में अपवादरूप से वस्त्र धारण कर सकता है। इस प्रकार उन्होंने श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर विशेष परिस्थिति में साधु के अपवादरूप से वस्त्रधारण को उचित ठहराया है। श्वेताम्बर-आगमों के विधान को श्वेताम्बर के अतिरिक्त वही व्यक्ति मान्यता दे सकता है, जो यापनीय हो, अतः सिद्ध है कि अपराजितसूरि यापनीय हैं।

उपर्युक्त विद्वानों की यह मान्यता भी महान् भ्रान्ति का परिणाम है। प्रस्तुत अध्याय में इसका निराकरण किया गया है। निराकरण हेतु सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि अपराजित सूरि ने श्वेताम्बर-आगमों से उद्धरण देकर साधु के लिए विशेष परिस्थिति में वस्त्रधारण का औचित्य नहीं ठहराया है, अपितु श्वेताम्बर शंकाकार ('अथैवं मन्यसे पूर्वांगमेषु---' वि.टी./भ.आ./गा.४२३/पृ.३२३, ३२४) का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि श्वेताम्बर-आगमों में भी मोक्ष के लिए अचेलत्व को आवश्यक बतलाया गया है और भिक्षुओं को वस्त्रग्रहण की अनुमति विशेष परिस्थितियों में ही दी गयी है। वे विशेष परिस्थितियाँ तीन हैं— १. नग्न रहने में लज्जा की अनुभूति होना, २. पुरुषचिह्न का अशोभनीय होना और ३. परीषहसहन में असमर्थ होना। किन्तु विशेष परिस्थिति में जो उपकरण ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण की विधि तथा ग्रहण किये गये उपकरण के त्याग का कथन भी आगम में आवश्यक कहा गया है। अतः जब आगम के आधार पर विशेष परिस्थिति में साधु के लिए वस्त्रग्रहण का विधान बताया जाता है, तब उसके त्याग का विधान भी अवश्य बताया जाना चाहिए। (वि.टी./भ.आ./गा.४२३/पृ.३२५)। अपराजितसूरि ने 'अचेलता' के विरोधी श्वेताम्बरग्रन्थ-वचन को स्पष्ट शब्दों अप्रामाणिक ठहराया है। श्वेताम्बरपक्ष को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं कि यदि आप यह मानते हैं कि सूत्र (आगम) में पात्र की प्रतिष्ठापना कही गयी है, अतः संयम के लिए पात्रग्रहण आगमोक्त सिद्ध होता है,

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अचेलता का अर्थ है परिग्रहत्याग, और पात्र परिग्रह है, अतः उसका भी त्याग आगमसिद्ध ही है—“पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यतीति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः, पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति।” (वि.टी./भ.आ./गा. ४२३/पृ.३२५)।

इस प्रकार अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर दिगम्बरमत की ही पुष्टि की है, श्वेताम्बरमत की नहीं। उन्होंने जोर देकर कहा है कि मुक्ति का अभिलाषी मुनि वस्त्र ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वस्त्र मुक्ति का उपाय नहीं है तथा केवल वस्त्र का त्याग करने और शेष परिग्रह रखने से जीव संयत (मुनि) नहीं होता—“मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्।” (वि.टी./भ.आ./गा. ८४)। “नैव संयतो भवतीति वस्त्रभात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः।” (वि.टी./भ.आ./गा. १११८)। इन वचनों से स्पष्ट है कि अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं, अस्वीकार किया है। अतः यह कहना कि अपराजितसूरि श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते हैं, एक हिमालयाकार भ्रान्ति है।

अपराजितसूरि ने विजयोदयाटीका में सवस्त्रमुक्ति-निषेध के अतिरिक्त स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलिभुक्ति का भी निषेध किया है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है। प्रस्तुत अध्याय में इन सबके प्रमाण प्रस्तुत कर सिद्ध किया गया है कि अपराजित-सूरि पक्के दिगम्बर थे, उन्हें जो यापनीय मान लिया है, वह बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

पञ्चदश अध्याय—इस अध्याय में उन हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता प्रकट की गयी है, जो यापनीयपक्षधर विद्वानों ने मूलाचार को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ उन प्रमाणों का साक्षात्कार कराया गया है, जिनसे सिद्ध होता है कि मूलाचार शतप्रतिशत दिगम्बरग्रन्थ है।

षोडश अध्याय—इस अध्याय में तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर, यापनीय एवं कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उपस्थित किये गये हेतुओं का निरसन कर उसे दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने-वाले प्रमाण और युक्तियाँ विन्यस्त की गयी हैं।

सप्तदश अध्याय—इस अध्याय में उपर्युक्त न्याय से तिलोयपण्णत्ती के कर्ता यतिवृषभ को दिगम्बराचार्य सिद्ध किया गया है।

अष्टादश अध्याय—इस अध्याय में सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन को श्वेताम्बर, यापनीय एवं उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का आचार्य सिद्ध करनेवाले हेतुओं

को असत्य या हेत्वाभास सिद्धकर वे प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बराचार्य हैं, अतः सन्मत्तिसूत्र दिगम्बरग्रन्थ है। इसमें रत्नकरण्डश्रावकार को स्वामी समन्तभद्र की कृति न मानने के पक्ष में रखे गये तर्कों का भी निरसन किया गया है और यह भी स्थापित किया गया है कि सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन पूज्यपाद स्वामी से पूर्ववर्ती नहीं, अपितु उत्तरवर्ती हैं।

इसी प्रकार यापनीयग्रन्थ होने के पक्ष में रखे गये हेतुओं का निरसन कर दिगम्बर-ग्रन्थसाधक प्रमाणों के प्रस्तुतीकरण द्वारा एकोनविंश अध्याय में रविषेणकृत पद्मपुराण (पद्मचरित) को, विंश अध्याय में जटासिंहनन्दिकृत वराङ्गचरित को, एकविंश अध्याय में पुन्नाटसंघीय जिनसेनरचित हरिवंशपुराण को, द्वाविंश अध्याय में स्वयम्भू-निर्मित पउमचरिउ को, त्रयोविंश अध्याय में हरिषेण-प्रणीत बृहत्कथाकोश को, चतुर्विंश अध्याय में छेदपिण्ड, छेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी को और पंचविंश अध्याय में बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध किया गया है।

इस खण्ड के अन्त में भी शब्दविशेष-सूची एवं प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची निबद्ध की गयी हैं।

संकेताक्षर-विवरण

अ.--- / प्र.---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक ।
अ.---/ प्र.---/ शी. ---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक / शीर्षक क्रमांक ।
अनु.	अनुच्छेद (पैराग्राफ) ।
अभि. रा. को. /---/---	अभिधान राजेन्द्र कोष/ भाग क्रमांक/ पृष्ठ क्रमांक ।
आ. ख्या.	आत्मख्याति व्याख्या ।
आचारांग / ---/ ---/---/---	श्रुतस्कन्ध क्रमांक/ अध्ययन क्रमांक/ उद्देशक क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।
आव. चू. / उपो. निर्यु. / आव. सू. / पू. भा.	आवश्यकचूर्ण / उपोद्घातनिर्युक्ति / आवश्यकसूत्र / पूर्वभाग ।
आव. निर्युक्ति	आवश्यकनिर्युक्ति
आ. वृ. / मूला.	आचारवृत्ति / मूलाचार ।
आदि पु. / ---/---	आदिपुराण / पर्व क्रमांक / श्लोक क्रमांक ।
आतुरप्रत्या.	आतुरप्रत्याख्यान ।
आ. मी.	आप्तमीमांसा ।
आव. सू. /---/---	आवश्यकसूत्र / आवश्यक क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।
इ. न. श्रुता.	इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार ।
इण्डि. ऐण्टि.	दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी ।
इष्टो.	इष्टोपदेश ।
ईशाद्यष्टो.	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् ।
उत्त. सू. /---/---	उत्तराध्ययनसूत्र / अध्ययन क्रमांक / गाथा क्रमांक ।
ऋग्वेद /---/---/---	मंडल क्रमांक / सूक्त क्रमांक / ऋचा-क्रमांक ।

क. पा.

कसायपाहुड ।

कै. च. शास्त्री

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ।

क्र.

क्रमांक ।

गुण. सिद्धा. : एक वि.

गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण ।

गो. क.

गोम्मटसार - कर्मकाण्ड ।

गो. जी.

गोम्मटसार - जीवकाण्ड ।

चा. पा.

चारित्तपाहुड ।

छान्दोग्योपनिषद् / --- / --- / ---

अध्याय क्र. / खण्ड क्र. / वाक्य क्र. ।

ज. ध. / क. पा. / भा. ---

जयधवलाटीका / कसायपाहुड / भाग क्रमांक ।

ज. ध. / क. पा. / भा. --- / गा. --- /
अनु. --- / पृ. ---जयधवला / कसायपाहुड / भाग क्रमांक / गाथा क्र. /
अनुच्छेद क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक ।

जाबालो.

जाबालोपनिषद् ।

जी. त. प्र. / गो. क.

जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ।

जी. त. प्र. / गो. जी.

जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-जीवकाण्ड ।

जै. आ. सा. म. मी.

जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा ।

जै. ध. मौ. इ.

जैनधर्म का मौलिक इतिहास ।

जै. ध. या. स.

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ।

जै. शि. सं. / मा. च.

जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन
ग्रन्थमाला समिति, मुंबई ।

जै. शि. सं. / भा. ज्ञा.

जैन-शिलालेख-संग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ ।

जै. स. या. सं. प्र.

“जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और
प्रकाश” (लेख) ।

जै. सं. सं. सं. शोलापुर

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर ।

जै. सा. इ.

जैन साहित्य और इतिहास ।

जै. सा. इ. — प्रेमी

जैन साहित्य और इतिहास — पं. नाथूराम प्रेमी ।

जै. सा. इ. (कै. च. शास्त्री)	जैनसाहित्य का इतिहास (सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री)।
जै. सा. इ. / पू. पी.	जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका।
जै. सा. इ. वि. प्र. / खं.१	जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश / प्रथमखंड।
जै. सि. को. / ---/---	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश / भाग क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
जै. सा. बृ. इ. / ---	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास / भाग क्रमांक।
जै. सि. भा. / भा. ---/ कि. ---	जैन सिद्धान्त भास्कर / भाग क्रमांक / किरण क्रमांक।
डॉ. सा. म. जै. अधि. ग्र.	डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ।
त. नि. प्रा.	तत्त्वनिर्णयप्रासाद।
त. दी.	तत्त्वदीपिकावृत्ति।
तत्त्वा. भाष्य.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।
त. भाष्यवृत्ति	तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति।
त. र. दी. / षड्. समु. / ---/---	तर्करहस्यदीपिका (गुणरत्नकृत टीका) / षड्दर्शन-समुच्चय / अधिकार-क्रमांक / पृष्ठक्रमांक।
त. रा. वा. / ---/--- /---	तत्त्वार्थराजवार्तिक / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक / वार्तिक क्रमांक
त. सू. ---/---	तत्त्वार्थसूत्र / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
तत्त्वार्थ	तत्त्वार्थसूत्र।
त. सू. / वि. स.	तत्त्वार्थसूत्र / विवेचनसहित।
त. सू. जै. स.	तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।
ता. वृ.	तात्पर्यवृत्ति।
ति. प. / ---/---	तिलोपपण्णत्ती / महाधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक।
ती. म. आ. प. /---	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा / खण्ड क्रमांक।

दं. पा.	दंसणपाहुड ।
द्र. सं.	द्रव्यसंग्रह ।
द्वि. सं.	द्वितीय संस्करण ।
दश. वै. सू.	दशवैकालिकसूत्र ।
दि.	दिगम्बर ।
धम्मपद-अट्टकथा / भा.---/---/---	धम्मपद-अट्टकथा / भाग क्र. / वग क्र. / कथा क्र.
धवला / घ. खं. / पु.---	धवलाटीका / षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक ।
नि. सा.	नियमसार ।
न्यायदीपिका / ---/---	प्रकाश क्रमांक / अनुच्छेद क्रमांक ।
न्या. वा. वृ.	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति ।
प. च. / ---/---/---/---	पउमचरिउ / भाग क्र. / सन्धि क्र. / दोहासमूह क्र. / दोहा क्रमांक ।
प. पु. / ---/---	पद्मपुराण (पद्मचरित) / भाग क्र. / पर्व क्र. / श्लोक क्र. ।
पद्ममहापुराण / ---/---/---/---	भाग क्रमांक / खण्ड क्रमांक (भूमिखण्ड) / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक ।
प. प्र. / ---/---	परमात्मप्रकाश / महाधिकार क्रमांक / दोहा क्रमांक ।
परमा. प्र.	परमात्मप्रकाश ।
पं. का.	पञ्चास्तिकाय ।
पं. र. च. जै. मुख्तार : व्यक्ति. कृति.	पण्डित रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
परि. पर्व	परिशिष्टपर्व ।
पा. टि.	पादटिप्पणी ।
पुरा. जै. वा. सू.	पुरातन-जैन-वाक्य-सूची ।
पु.	पुस्तक ।
पृ.	पृष्ठक्रमांक ।
प्र. सं.	प्रथम संस्करण ।

प्रव. परी. /---/---/---	प्रवचनपरीक्षा / भाग क्रमांक (पूर्व या उत्तर) / विश्राम क्रमांक / गाथा क्रमांक ।
प्र. सा. /---/---	प्रवचनसार / अधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक ।
प्रस्ता.	प्रस्तावना ।
प्रा. सा. इ.	प्राकृत साहित्य का इतिहास ।
बा. अ.	बारस अणुवेक्खा ।
बा. अणु.	बारस अणुवेक्खा ।
बृ. क. को.	बृहत्कथाकोश ।
बृहत्कल्पसूत्र /---/---	उद्देशक्रमांक / सूत्रक्रमांक ।
बृ. कल्प. / लघुभाष्यवृत्ति /---/---	बृहत्कल्पसूत्र / लघुभाष्यवृत्ति / उद्देशक्रमांक / गाथा- क्रमांक ।
बृहदारण्यकोपनिषद् /---/---/---	अध्याय क्रमांक / ब्राह्मण क्रमांक / वाक्य क्रमांक ।
बो. पा.	बोधपाहुड ।
ब्रह्मसूत्र /---/---/---	अध्याय क्रमांक / पाद क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।
भ. आ.	भगवती-आराधना ।
भट्टा. सम्प्र.	भट्टारकसम्प्रदाय ।
भ. बा. च. /---/---	भद्रबाहुचरित / परिच्छेद क्रमांक / श्लोक क्रमांक ।
भ. बा. क.	भद्रबाहुकथानक ।
भा.	भाग ।
भा. ज्ञा.	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली / वाराणसी ।
भा. पु. /---/---/---	भागवतपुराण / स्कन्ध क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक या गद्यखण्ड क्रमांक ।
भा. पा.	भावपाहुड ।
भा. इ. ए. दृ.	भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन) ।

[छियालीस]

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

भा. सं. जै. ध. यो. दा.

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।

महापुराण /---/---

सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

महाभारत /---/---/---

पर्व क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

मा. च.

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।

मूला.

मूलाचार।

मूला. / पू.

मूलाचार / पूर्वार्ध।

मूला. / उत्त.

मूलाचार / उत्तरार्ध।

मो. पा.

मोक्खपाहुड।

या. औ. उ. सा.

यापनीय और उनका साहित्य।

यु. अनु.

युक्त्यनुशासन।

यो. सा.

योगसार

र. क. श्रा.

रत्नकरण्डश्रावकाचार।

लिं. पा.

लिंगपाहुड।

वरांगचरित /---/---

वरांगचरित / सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

वायुपुराण /---/---

वायुपुराण / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

वि. टी. / भ. आ.

विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना।

विशे. भा.

विशेषावश्यकभाष्य।

विष्णुपुराण /---/---/---

विष्णुपुराण / अंश क्र. / अध्याय क्र. / श्लोक क्र.।

व्या. प्र. /---/---/---

व्याख्याप्रज्ञप्ति / शतक क्रमांक / उद्देशक क्रमांक / प्रश्नोत्तर क्रमांक

शो. प्र.

शोलापुर प्रकाशन।

श्र. भ. म.

श्रमण भगवान् महावीर।

श्वे.

श्वेताम्बर।

ष. ख. /---/---,---,---

षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक / खण्ड क्रमांक, भाग क्रमांक, सूत्र क्रमांक।

षट्. परि.

षट्खण्डागम-परिशीलन ।

स. सा. /----

समयसार / गाथा क्रमांक ।

समवायांग /---/---

समवाय क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।

स. तन्त्र

समाधितन्त्र (समाधिशतक) ।

सं. सा. इ. - ब. दे. उ.

संस्कृत साहित्य का इतिहास — बलदेव उपाध्याय ।

स. सि. /---/---/---

सर्वार्थसिद्धि/अध्याय क्रमांक/सूत्र क्रमांक/ अनुच्छेद क्रमांक ।

सा. ध.

सागारधर्मामृत ।

सुत्त. पा.

सुत्तपाहुड ।

सूत्रकृतांग /---/---/---

श्रुतस्कन्ध क्रमांक/अध्ययन क्रमांक/उद्देशक क्रमांक ।

स्त्रीनिर्वाण प्र.

स्त्रीनिर्वाणप्रकरण ।

स्था. सू./---/---/---

स्थानांगसूत्र/स्थान क्रमांक/उद्देशक्रमांक/सूत्र क्रमांक ।

स्था. सू./---/---

स्थानांगसूत्र/स्थान क्रमांक/सूत्र क्रमांक ।

स्व. स्तो.

स्वयम्भूस्तोत्र ।

स्वा. स. भ.

स्वामी समन्तभद्र ।

ह. पु. (हरि. पु.)/---/---

हरिवंशपुराण / सर्गक्रमांक / श्लोकक्रमांक ।

हारि. वृत्ति

हारिभद्रीय वृत्ति ।

हेम. वृत्ति / विशेष. भा.

मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यक-
भाष्य ।

Asp. of Jaino.

Aspects of Jainology.

F. N.

Foot Note.

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय

कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा

मनगढ़न्त

प्रथम प्रकरण

भट्टारक होने की कल्पना का हेतु

कुन्दकुन्द ने स्वयं को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्परा-शिष्य तो कहा है, किन्तु अपने साक्षाद्गुरु का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया। मुनि कल्याणविजय जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि कुन्दकुन्द आरम्भ में यापनीयसंघ के साधु थे। उसमें विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग चैत्यवास की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी। यापनीयसाधु राजा आदि से भूमि-दान वगैरह लेने लगे थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं, बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिंग के नाम से वस्त्रपात्र की छूट थी, उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाने वाले श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों को भी इन उद्धारकों ने अप्रामाणिक ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण करना शुरू किया। किन्तु उनके इस क्रियोद्धार में यापनीयसंघ के अधिकतर साधु सम्मिलित नहीं हुए। उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए, इसलिए कुन्दकुन्द ने उन्हें शिथिलाचारी मानकर अपने ग्रंथों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया।^१ मुनि जी के शब्द नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

“कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपनी गुरु-परम्परा का ही नहीं, अपने गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझकर अपने गुरु-प्रगुरुओं का नाम-निर्देश नहीं किया होगा।” (श्र.भ.म./पा.टि./पृ. ३२७)।

१. देखिये, अध्याय २/प्रकरण २/शीर्षक ३।

किन्तु, द्वितीय अध्याय के द्वितीय प्रकरण (शीर्षक ७, ८, ९ एवं १०) में सिद्ध किया जा चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द के यापनीयसंघ में दीक्षित होने की कथा कपोलकल्पित है, अतः यह कहानी स्वतः मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है कि उनके यापनीयगुरु शिथिलाचारी थे, इसलिए कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया।

श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के द्वारा अपने गुरु के नाम का उल्लेख न किये जाने का जो कारण बतलाया है, वह मुनि कल्याणविजय जी द्वारा बतलाये गये कारण से मिलता-जुलता है, तो भी उसमें बहुत फर्क है। आचार्य हस्तीमल जी ने यापनीय-आचार्य को कुन्दकुन्द का गुरु न बतलाकर दिगम्बरसम्प्रदाय में ही आविर्भूत भट्टारक-परम्परा के आचार्य जिनचन्द्र को उनका गुरु बतलाया है और कहा है कि जब कुन्दकुन्द को धर्म के तीर्थंकरप्रणीत वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब अपने गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा समाप्त हो गई और वे भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनका स्मरण नहीं किया। और यही कारण है कि भट्टारकपरम्परा के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द की कहीं कोई चर्चा नहीं की। (देखिये, आगे द्वितीय प्रकरण)।



द्वितीय प्रकरण

कुन्दकुन्द को भट्टारक सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु

१

भट्टारकपरम्परा के विकास के तीन रूपों की कल्पना

आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के विकास के तीन रूप बतलाये हैं। वे लिखते हैं कि वीर नि० सं० ६०९ के लगभग हुए संघभेद के थोड़े समय पश्चात् ही श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय, तीनों संघों के कुछ श्रमणों ने चैत्यों में रहना प्रारंभ कर दिया था।^१ कुछ समय बाद ये भूमिदान और द्रव्यदान लेने लगे, तब भट्टारक-परम्परा शुरू हो गई। भट्टारकपरम्परा का यह प्रथम स्वरूप था। इसका अस्तित्व वीर नि० सं० ६४० से ८८० तक रहा। वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टारकों के पीठ स्थापित होने लगे और उन्होंने राजाओं को प्रभावित कर राज्याश्रय प्राप्त करना भी शुरू कर दिया। मंत्र-तंत्र, ज्योतिष और औषधि आदि के प्रयोग से जनमानस को भी अपने अधीन किया जाने लगा। यह भट्टारकपरम्परा का द्वितीय स्वरूप था, जो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा।^२ बारहवीं शती ई० में दिगम्बरसम्प्रदाय के भट्टारक न केवल वस्त्र धारण करने लगे, अपितु प्रचुर परिग्रह एवं मठों के स्वामी बनकर राजसी ठाठबाट से जीवन व्यतीत करने लगे, साथ ही श्रावकों के धार्मिक शासक भी बन गये। यह भट्टारकपरम्परा का तीसरा और अन्तिम रूप था।^३

आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के इन तीन रूपों में से आचार्य कुन्दकुन्द को दूसरे रूप के अन्तर्गत पाँचवा पट्टाधीश माना है। इस रूप पर प्रकाश डालते हुए वे 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' (भाग ३) में लिखते हैं—

“वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भट्टारकों ने अपने संघों को सुगठित करना प्रारम्भ किया। लोकसम्पर्क बढ़ाने के परिणामस्वरूप उनके संगठन सुदृढ़ होने लगे। मन्दिरों में नियत निवास कर भट्टारकों ने किशोरों को जैनसिद्धान्तों का शिक्षण देना प्रारम्भ किया। औषधि, मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग से जन-मानस पर अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया। भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु जन-मानस का झुकाव भट्टारकों की ओर होने लगा। अपने पाण्डित्य एवं चमत्कारपूर्ण कार्यों के बल पर कतिपय भट्टारकों ने राजाओं को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने राजसभाओं

२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास / भा. ३ / पृ. १२६-१२७।

३. वही / पृ. १३४ एवं १४३।

में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किये। कतिपय भट्टारकों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। राजाओं द्वारा सम्मानित होने तथा राजगुरु बनने के परिणाम-स्वरूप भट्टारकों का सर्व-साधारण पर भी उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ने लगा। जन-सहयोग प्राप्त होने पर भट्टारकों ने बड़े-बड़े जिनमंदिरों के निर्माण, उच्च सैद्धान्तिक शिक्षा के शिक्षणकेन्द्रों के उद्घाटन, संचालन आदि अनेक उल्लेखनीय कार्य अपने हाथों में लिए। उन प्रशिक्षणकेन्द्रों से उच्च-शिक्षा-प्राप्त विद्वान् स्नातकों ने धर्म, समाज और साहित्य के क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। अनुमानतः वीरनिर्वाण सं० १०१० के आसपास इक्ष्वाकु (सूर्यवंशी) कदम्बवंश के राजा शिवमृगेश वर्मा द्वारा अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म के आचरण में सदा तत्पर श्वेताम्बर-महाश्रमण-संघ के उपभोग हेतु, निर्गन्थ-महाश्रमण-संघ के उपभोग के लिए तथा अर्हत्-शाला-परम-पुष्कल-स्थान-निवासी भगवान् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवता के लिए दिये गये कालबंग नामक गाँव के दान से यह स्पष्टरूप से प्रकट होता है कि जिन श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय संघों के आचार्यों, श्रमणों ने भूमिदान, ग्रामदान लेना प्रारम्भ कर दिया था, वे वस्तुतः भट्टारकपरम्परा के सूत्रधार थे। विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करनेवाले पंचमहाव्रतधारी, पूर्णरूपेण अपरिग्रही, श्रमणों के लिए इस प्रकार भूमिदान ग्रहण करना पूर्णतः शास्त्रविरुद्ध है। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर और दिगम्बर महाश्रमण संघ ने कदम्बनरेश शिवमृगेश वर्मा द्वारा श्रमणों अथवा श्रमणसंघ के उपभोग के लिए दिये गये दान को स्वीकार किया, इससे यही फलित होता है कि इस अभिलेख में यद्यपि भट्टारक शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि भट्टारकों के अनुरूप उनके ग्रामदानादि ग्रहण करने के आचरण से यही सिद्ध होता है कि वे श्वेताम्बर, दिगम्बर अथवा यापनीय अथवा कूर्चक-संघ वस्तुतः भट्टारकसंघ ही थे। उन संघों ने वीरनिर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक अपने संघ के नाम से पूर्व 'भट्टारक' विशेषण भले ही नहीं लगाया हो, पर उनके आचार-विचार और कार्यकलाप भट्टारक-आचार-विचार-वृत्ति की ओर उन्मुख हो चुके थे।" (जै. ध. मौ. इ. / भा.३ / पृ.१३४-१३५)।

आचार्य हस्तीमल जी आगे लिखते हैं—“भट्टारकों की जो पट्टावलियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनके कालक्रम पर शोधपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वीरनिर्वाण की सातवीं शताब्दी में ही भट्टारकपरम्परा उस प्रथम स्वरूप में उदित हो चुकी थी, जिस प्रथम स्वरूप पर ऊपर विस्तार के साथ प्रकाश डाल दिया गया है। अधिक गहराई में न जाकर केवल 'इंडियन एण्टीक्यूरी' के आधार पर इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गयी भट्टारकपरम्परा के प्रमुख संघ 'नन्दिसंघ' की पट्टावलि के आचार्यों की नामावलि के शोधपूर्ण सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन-पर्यालोचन पर भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि संघ-भेद (वीर नि० सं० ६०९) के तीन चार दशक पश्चात् ही भट्टारक-परम्परा का एक धर्मसंघ के रूप में बीजारोपण हो चुका था। (जै. ध. मौ. इ. / भा.३ / पृ. १३६)।

“भट्टारकपरम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्षकाल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचने के लिए “नन्दिसंघ-पट्टावलि के आचार्यों की नामावलि” बड़ी सहायक सिद्ध होगी, इसी दृष्टि से उसे आदि से अन्त तक यथावत्-रूपेण यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

नन्दिसंघ की पट्टावलि के आचार्यों की नामावली

(इण्डियन ऐण्टीक्वेरी के आधार पर)^४

१. भद्रबाहु द्वितीय (४)	२. गुप्तिगुप्त (२६)
३. माघनन्दी (३६)	४. जिनचन्द्र (४०)
५. कुन्दकुन्दाचार्य (४९)	६. उमास्वामी (१०१)
७. लोहाचार्य (१४२)	८. यशःकीर्ति (१५३)
९. यशोनन्दी (२११)	१०. देवनन्दी (२५८)
११. जयनन्दी (३०८)	१२. गुणनन्दी (३५८)
१३. वज्रनन्दी (३६४)	१४. कुमारनन्दी (३८६)
१५. लोकचन्द्र (४२७)	१६. प्रभाचन्द्र (४५३)
१७. नेमचन्द्र (४७८)	१८. भानुनन्दी (४८७)
१९. सिंहनन्दी (५०८)	२०. श्रीवसुनन्दी (५२५)
२१. वीरनन्दी (५३१)	२२. रत्ननन्दी (५६१)
२३. माणिक्यनन्दी (५८५)	२४. मेषचन्द्र (६०१)
२५. शांतिकीर्ति (६२७)	२६. मेरुकीर्ति (६४२)
उपर्युक्त छब्बीस आचार्य दक्षिणदेशस्थ भदिलपुर के पट्टाधीश हुए।	
२७. महाकीर्ति (६८६)	२८. विष्णुनन्दी (७०४)
२९. श्रीभूषण (७२६)	३०. शीलचन्द्र (७३५)

४. The Indian Antiquary, Vol. XX, October 1891, pp. 351-355. आचार्य हस्तीमल जी ने यह पट्टावली डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य-कृत 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' खण्ड ४ (पृष्ठ ४४१-४४३) से उद्धृत की है।

३१. श्रीनन्दी	(७४९)	३२. देशभूषण	(७६५)
३३. अनन्तकीर्ति	(७६५)	३४. धर्मनन्दी	(७८५)
३५. विद्यानन्दी	(८०८)	३६. रामचन्द्र	(८४०)
३७. रामकीर्ति	(८५७)	३८. अभयचन्द्र	(८७८)
३९. नरचन्द्र	(८९७)	४०. नागचन्द्र	(९१६)
४१. नयनन्दी	(९३९)	४२. हरिनन्दी	(९४८)
४३. महीचन्द्र	(९७४)	४४. माघचन्द्र	(९९०)

उपर्युल्लिखित महाकीर्ति से माघचन्द्र तक अद्वारह आचार्य उज्जयिनी के पट्टाधीश हुए।

४५. लक्ष्मीचन्द्र	(१०२३)	४६. गुणनन्दी	(१०३७)
४७. गुणचन्द्र	(१०४८)	४८. लोकचन्द्र	(१०६६)

ये चार आचार्य चन्देरी (बुन्देलखण्ड) के पट्टाधीश हुए।

४९. श्रुतकीर्ति	(१०७९)	५०. भावचन्द्र	(११६४)
५१. महाचन्द्र	(१११५)		

ये तीन आचार्य भेलसा (भूपाल) सी० पी० के पट्टाधीश हुए।

५२. माघचन्द्र	(११४०)
---------------	--------

ये आचार्य कुण्डलपुर (दमोह) के पट्टाधीश हुए।

५३. ब्रह्मनन्दी	(११४४)	५४. शिवनन्दी	(११४८)
५५. विश्वचन्द्र	(११५५)	५६. हृदिनन्दी	(११५६)
५७. भावनन्दी	(११६०)	५८. सूरकीर्ति	(११६७)
५९. विद्याचन्द्र	(११७०)	६०. सूरचन्द्र	(११७६)
६१. माघनन्दी	(११८४)	६२. ज्ञाननन्दी	(११८८)
६३. गंगकीर्ति	(११९९)	६४. सिंहकीर्ति	(१२०६)

ये बारह आचार्य वारां के पट्टाधीश हुए।

६५. हेमकीर्ति (१२०९)	६६. चारुनन्दी (१२१६)
६७. नेमिनन्दी (१२२३)	६८. नाभिकीर्ति (१२३०)
६९. नरेन्द्रकीर्ति (१२३२)	७०. श्रीचन्द्र (१२४१)
७१. पद्म (१२४८)	७२. वर्द्धमानकीर्ति (१२५३)
७३. अकलंकचन्द्र (१२५६)	७४. ललितकीर्ति (१२५७)
७५. केशवचन्द्र (१२६१)	७६. चारुकीर्ति (१२६२)
७७. अभयकीर्ति (१२६४)	७८. वसन्तकीर्ति (१२६४)

इण्डियन एण्टीक्वेरी की जो पट्टावली मिली है, उसमें उपर्युक्त चौदह आचार्यों का पट्ट ग्वालियर में होना लिखा है, किन्तु वसुनन्दी-श्रावकाचार में इनका चित्तौड़ में होना लिखा है। परन्तु चित्तौड़ के भट्टारकों की अलग भी पट्टावली है, उसमें ये नाम नहीं पाये जाते। संभव है कि ये आचार्य ग्वालियर में ही हुए हों। इनको ग्वालियर की पट्टावली से मिलाने पर निर्णय किया जा सकता है।

७९. प्रख्यातकीर्ति (१२६६)	८०. शुभकीर्ति (१२६८)
८१. धर्मचन्द्र (१२७१)	८२. रत्नकीर्ति (१२९६)
८३. प्रभाचन्द्र (१३१०)	

ये पाँच आचार्य अजमेर में हुए।

८४. पद्मनन्दी (१३८५)	८५. शुभचन्द्र (१४५०)
८६. जिनचन्द्र (१५०७)	

ये तीन आचार्य दिल्ली में पट्टाधीश हुए।

इनके पश्चात् पट्ट दो भागों में विभक्त हो गया। एक गद्दी नागौर में स्थापित हुई और दूसरी चित्तौड़ में। चित्तौड़-पट्ट के आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

८७. प्रभाचन्द्र (१५७१)	८८. धर्मचन्द्र (१५८१)
८९. ललितकीर्ति (१६०३)	९०. चन्द्रकीर्ति (१६२२)
९१. देवेन्द्रकीर्ति (१६६२)	९२. नरेन्द्रकीर्ति (१६९१)
९३. सुरेन्द्रकीर्ति (१७२२)	९४. जगत्कीर्ति (१७३३)

९५.	देवेन्द्रकीर्ति	(१७७०)	९६.	महेन्द्रकीर्ति	(१७९२)
९७.	क्षेमेन्द्रकीर्ति	(१८१५)	९८.	सुरेन्द्रकीर्ति	(१८२२)
९९.	सुखेन्द्रकीर्ति	(१८५९)	१००.	नयनकीर्ति	(१८७९)
१०१.	देवेन्द्रकीर्ति	(१८८३)	१०२.	महेन्द्रकीर्ति	(१९३८)

नागौर के भट्टारकों की नामावली

१.	रत्नकीर्ति	(१५८१)	२.	भुवनकीर्ति	(१५८६)
३.	धर्मकीर्ति	(१५९०)	४.	विशालकीर्ति	(१६०१)
५.	लक्ष्मीचन्द्र		६.	सहस्रकीर्ति	
७.	नेमिचन्द्र		८.	यशकीर्ति	
९.	भुवनकीर्ति		१०.	श्रीभूषण	
११.	धर्मचन्द्र		१२.	देवेन्द्रकीर्ति	
१३.	अमरेन्द्रकीर्ति		१४.	रत्नकीर्ति	
१५.	ज्ञानभूषण		१६.	चन्द्रकीर्ति	
१७.	पद्मनन्दी		१८.	सकलभूषण	
१९.	सहस्रकीर्ति		२०.	अनन्तकीर्ति	
२१.	हर्षकीर्ति		२२.	विद्याभूषण	

२३. हेमकीर्ति—ये आचार्य १९१० माघ शुक्ला द्वितीया सोमवार को पट्ट पर बैठे। इनके पश्चात्

२४.	क्षेमेन्द्रकीर्ति	२५.	मुनीन्द्रकीर्ति
२६.	कनककीर्ति		

“नन्दिसंघ की यह पट्टावलि वस्तुतः भट्टारकपरम्परा की मूल पट्टावली है। इस पट्टावली की क्रमसंख्या ३ पर उल्लिखित आचार्य माघनन्दी नन्दिसंघ के मूलपुरुष अथवा आचार्य थे। और उनके नन्दी-अन्त नाम के आधार पर इस संघ का नाम नन्दिसंघ प्रचलित हुआ। इस पट्टावली के सभी आचार्यों के लिये इसमें सात बार पट्टाधीश विशेषण और दो बार भट्टारक विशेषण का प्रयोग किया गया है। भट्टारकपरम्परा के बलात्कारगण की पट्टावली में भी इस परम्परा के भट्टारकों के पूर्णतः वे ही नाम

दिये हैं, जो इसमें हैं।^५ अनेक शिलालेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस पट्टावली में जिन आचार्यों के नाम दिये हुए हैं, वे भट्टारक थे। क्रम सं० ८४ पर उल्लिखित पद्मनन्दी का पट्टाभिषेक उनके गुरु प्रभाचन्द्र ने किया।^६ इन्हीं भट्टारक पद्मनन्दी के तीन शिष्यों से तीन भट्टारक परम्पराएँ और उनसे अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ प्रचलित हुईं।^७ (जै. ध. मौ. इ. / भा. ३ / पृ. १३६ - १३९)।

“इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि नन्दीसंघ की यह पट्टावली वस्तुतः भट्टारकपरम्परा की ही पट्टावली है और इस पट्टावली के तीसरे आचार्य माघनन्दी ही उस प्रथम स्वरूपवाली भट्टारकपरम्परा के प्रवर्तक थे, जिस पर ऊपर विशदरूपेण प्रकाश डाला गया है। (वही/पृ.१४०)।

“इस पट्टावली के अतिरिक्त एक और भी बहुत बड़ा प्रबल प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करनेवाला है कि उपरिवर्णित प्रथम स्वरूप की भट्टारकपरम्परा के जनक आदि-भट्टारक वस्तुतः भद्रबाहु द्वितीय के प्रशिष्य एवं आचार्य गुप्तिगुप्त के शिष्य माघनन्दी थे। वह प्रबल प्रमाण यह है कि इस पट्टावली में भट्टारकपरम्परा का पाँचवाँ पट्टाधीश आचार्य कुन्दकुन्द को बताया गया है, जो निर्विवादरूपेण दिगम्बरपरम्परा के पुनरुद्धारक, महान् क्रान्तिकारी, पुनः-संस्थापक माने गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दादागुरु द्वारा संस्थापित भट्टारकपरम्परा की नव्य-नूतन मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह किया। वे माघनन्दी के शिष्य जिनचन्द्र के पास भट्टारकपरम्परा में ही दीक्षित हुए। मेधावी मुनि कुन्दकुन्द ने अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् दिगम्बरपरम्परा द्वारा सम्मत आगमों के निदिध्यासन-चिंतन-मनन से जब जिनेन्द्र-प्रभु द्वारा प्ररूपित जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप और तीर्थकरों द्वारा आचरित श्रमणधर्म को पहचाना, तो उन्हें अपने प्रगुरु माघनन्दी द्वारा संस्थापित धर्म और श्रमणाचार-विषयक मान्यताएँ धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप के अनुरूप प्रतीत नहीं हुईं। उन्होंने संभवतः अपने प्रगुरु, गुरु और भट्टारकसंघ द्वारा सम्मत उन कतिपय अभिनव मान्यताओं के समूलोन्मूलन और पुरातन मान्यताओं की पुनःसंस्थापना का संकल्प किया। इस प्रकार की अवस्था में गुरु-शिष्य के बीच, भट्टारकसंघ और क्रान्तिकारी मुनिपुंगव कुन्दकुन्द के बीच क्रमशः विचारभेद, मनोमालिन्य, संघर्ष और अलगाव (पृथक्त्व) का होना स्वाभाविक ही था। प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्वयं ही अपने गुरु से पृथक् हुए अथवा संघ द्वारा पृथक् किये गये। कुछ भी हो, वे पृथक् हुए और जैसा कि उत्तरकालवर्ती सभी

५. प्रो. जोहरापुरकर : भट्टारकसम्प्रदाय / जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर / पृष्ठ ९३।

६. वही / पृष्ठ ९१।

७. प्रो.जोहरापुरकर : भट्टारकसम्प्रदाय / पृ. ९५ / पृष्ठ ९५।

क्रियोद्धारकों—धर्मक्रान्ति के सूत्रधारों ने किया, ठीक उसी प्रकार मुनिपुंगव कुन्दकुन्द ने भी अपने गुरु और संघ की मान्यताओं के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद फूँका। उस धर्मक्रान्ति में, उस क्रियोद्धार में कुन्दकुन्द को पर्याप्त सफलता मिली। भूली-बिसरी प्राचीन मान्यताओं की उन्होंने अपेक्षाकृत कड़ी कट्टरता के साथ पुनः संस्थापना की। स्वयं द्वारा की गई धर्मक्रान्ति की परिपुष्टि के लिये उन्होंने अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचनाएँ कीं, जो आज भी दिगम्बरपरम्परा में आगम-तुल्य मान्य हैं। (वही / पृ. १४०)।

“अपने गुरु से, अपने प्रगुरु द्वारा संस्थापित भट्टारकसंप्रदाय से पृथक् हो जाने के कारण ही आचार्य कुन्दकुन्द ने कहीं अपने गुरु का नामोल्लेख तक नहीं किया है। वर्तमान में दिगम्बरपरम्परा की मान्यातानुसार आचार्य कुन्दकुन्द की जितनी कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से किसी एक में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नामोल्लेख तक नहीं किया है।” (जै. ध. मौ. इ. / भा. ३ / पृ. १४० - १४१)।

“जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने किसी भी ग्रंथ में अपने गुरु का, साक्षात् गुरु का अथवा विद्यागुरु का नामोल्लेख नहीं किया, उसी प्रकार भट्टारकपरम्परा के आचार्य वीरसेन (धवलाकार, वि० सं० ८१६, ८३०), जिनसेन (जयधवलाकार, वि० सं० ८३७), गुणभद्र, लोकसेन (उत्तरपुराणकार, वि० सं० ९५५) ने, हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन (विक्रम की नौवीं शताब्दी) ने तथा तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ (वि० सं० ५३५) ने अपने ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द भट्टारकपरम्परा से पृथक् हुए थे अथवा पृथक् किये गये थे।” (वही / पृ. १४१)।

आचार्य हस्तीमल जी का यह निष्कर्ष युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। यह उद्धृत पट्टावली में निर्दिष्ट तथ्यों से ही सिद्ध होता है। इसका प्ररूपण आगे किया जायेगा। पहले प्रमाण के लिए उपर्युक्त ‘दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’ में प्रकाशित पट्टावली के मूल अँगरेजी पाठ का अवलोकन और उसके स्रोत की जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी है।

२

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली का मूल अँगरेजी पाठ

‘दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’ एक शोधपत्रिका है। प्रो० ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले पी-एच० डी० ने श्री सेसिल बेण्डल द्वारा राजपूताना से लायी गयीं मूलसंघ के कुन्द-कुन्दान्वय, सरस्वतीगच्छ, नन्दिसंघ, बलात्कारगण की दो पट्टावलियों (‘A’ और ‘B’) के आधार पर पट्टाधरों के नामादि की जो क्रमबद्ध तालिका अँगरेजी में तैयार की

थी, वह इस शोधपत्रिका के Volume XX (October 1891) में 'Tables of the Kundakunda line, or the Sarasvatī Gachchha, called the Nandi Āmnāya, or Balātkār Gaṇa, of the Mūla Saṅgha. (From MSS. A and B.)' शीर्षक से पृष्ठ 351-355 पर प्रकाशित है। उसका क्रमांक १ से २६ तक का अंश प्रकृत में उपयोगी होने के कारण अगले पृष्ठों पर उद्धृत किया जा रहा है। शेष अंश इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। पट्टावली के अन्तिम स्तम्भ में प्रो० हार्नले के द्वारा की गयी टिप्पणियाँ हैं।

२.१. प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की तालिकाबद्ध पट्टावली

क्र.1 से 26 तक

(The Indian Antiquary, Vol. XX, pp. 351-352)

TABLES OF THE KUNDAKUNDA LINE, OR THE SARASVATĪ GACHCHHA, CALLED THE NANDI
ĀMNĀYA, OR BALĀTKĀRA GAṆA, OF THE MŪLA SANGHA. (FROM MSS. A AND B.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days	Total			REMARKS
		Sainvat	Christian	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days	
01.	Bhadrabāhu II	4	53	24	-	-	30	-	-	22	10	27	3	76	11	-	He was a Brāhman by caste.
02.	Guptigupta	26	31	22	-	-	34	-	-	9	6	25	5	65	7	-	A Pawār by caste.
03.	Māghanandin I	36	21	20	-	-	44	-	-	4	4	26	4	68	5	-	A Sāh by caste.
04.	Jinachandra I	40	17	24	9	-	32	3	-	8	9	6	3	65	9	9	

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days			Total			REMARKS
		Samvat	Christian	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	
05.	Kundakunda	49 P. V. 8	B.C. 8	11	-	-	33	-	-	51	10	10	5	95	10	15	He had 4 other names (āhva); viz. Padmanandin, Vakragrīva, Gṛdhrapichchha, Elāchārya.		
06.	Umāsvāmin	101 K. S. 8	A.D. 44	19	-	-	25	-	-	40	8	1	5	84	8	6	The Kāshīhā Saingha arose in his time. (P. 5, Umāsvāti.)		
07.	Lohāchārya II	142 A. S. 14	85	21	-	-	38	-	-	10	10	20	6	69	10	26			
08.	Yasāhīrti	153 J. S. 10	96	12	-	-	21	-	-	58	(8)	(21)	(5)	91	(9)	(15)	A Jāyālāl by caste.		
09.	Yasōnandin	211 Ph. V. 11	154	16	-	-	17	-	-	46	4	9	4	79	4	13			
10.	Dēvanandin I	258 As. S. 8	201	11	5	-	15	7	-	49	10	28	4	76	11	2	A Paurwāl by caste.		
11.	Pūjyapāda	308 J. S. 10	251	15	-	-	11	7	-	44	11	22	7	71	6	29			

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days	Total			REMARKS
		Sainvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days	
12.	Gunanandin I	353 J. S. 9	296	14	-	-	13	5	-	11	3	1	4	38	8	5	
13.	Vajranandin	364 Bh. S. 14	307	19	-	-	16	3	-	22	5	1	4	57	8	5	
14.	Kumaranandin	386 Ph. V. 4	329	16	-	-	10	2	-	40	2	20	9	66	4	29	
15.	Lokachandra I	427 J. V. 3	370	18	-	-	16	-	-	26	3	16	10	60	3	26	(P. 9, Lökēndu.)
16.	Prabhāchandra I	453 Bh. S. 14	396	9	-	-	24	-	-	25	5	15	11	58	5	26	(The MS. adds "prabhāva I.")
17.	Nēmichandra I	478 Ph. S. 10	421	10	-	-	22	-	-	8	9	1	9	40	9	10	
18.	Bhānunandin	487 P. V. 5	430	9	-	-	15	-	-	22	...	24	12	46	1	6	

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Sarvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
19.	Harinandin	(508) M. S. 11	451	9	-	15	-	16	7	15	14	40	7	29	(Both MSS. give sam 508. P. 10 has Simhanandin.)
20.	Vasunandin	525 A. S. 10	468	10	-	30	-	6	2	22	9	46	3	1	
21.	Vīranandin	531 P. S. 11	474	9	-	13	-	30	-	14	10	52	-	24	(MS. B gives Pōsa S. 12.)
22.	Ratnakīrti	561 M. S. 5	504	8	-	12	-	23	4	7	11	43	4	18	(P. 10, Ratnanandin.)
23.	Mānikyanandin	585 As. V. 8	528	10	-	19	-	16	5	10	15	45	5	25	(P. 11, Mānikyanandin.)
24.	Mēghachandra	601 P. V. 3	544	24	3	6	7	25	5	20	12	56	(6)	(2)	(P. 11, Mēghēndu.)
25.	Śāntikīrti I	627 As. V. 5	570	7	-	10	-	15	-	25	20	32	1	15	
26.	Mērukīrti	642 Ś. S. 5	585	8	-	11	-	44	3	16	13	63	3	29	These 26 pontificates took place in Bhaddalpur in Mālwa (MS. B gives Ś. vadi 5.)

२.२. स्तम्भों (कालमों) में प्रयुक्त संकेताक्षरों का अभिप्राय

इस तालिका के तीसरे स्तम्भ (Sarnvat) में जो संकेताक्षर प्रयुक्त किये गये हैं, उनका अभिप्राय इस प्रकार है—Sarnvat = विक्रमसंवत्, Ch.= चैत्र, S.= सुदि, V.= वदि, Ph.= फागुन, (फाल्गुन), Ā or A.= आसोज या असा (अश्वयुज या आश्विन), P.= पोस, (पोषध) अर्थात् पौष, K.= काती (कार्तिक), J.= जेष्ठ (ज्येष्ठ), As.= असाढ़ (आषाढ़), Bh.= भादवा (भाद्रपद), M.= माह (माघ), Ś.= श्रावण, Mr.= मार्गसिर (मार्गशीर्ष), V.= वैसाख (वैशाख)। इसी प्रकार क्रमांक ६ (उमास्वामी) के अन्तिम स्तम्भ (Remarks) में कोष्ठक के भीतर जो (P. 5 Umāsvāti) लिखा हुआ है, वहाँ P.= अक्षर प्रोफेसर पीटर्सन की सूची का सूचक है। (The Indian Antiquary, Vol. XX, p. 344)।

२.३. आ. हस्तीमल जी-उद्धृत पट्टावली में इण्डि. ऐण्टि. -पट्टावली से कुछ भिन्नता

प्रो० हार्नले ने A और B पट्टावलियों के आधार पर पट्टाधरों की जो अँगरेजी में तालिका तैयार कर 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX, pp.351-355) में प्रकाशित की थी, उसे डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने अनुवादित कर अपने ग्रन्थ 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' (खण्ड ४/पृ. ४४१-४४३) में उद्धृत किया है। आचार्य हस्तीमल जी ने उसे यथावत् अपने ग्रन्थ 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' (भाग ३/पृ.१३६-१३९) में ग्रहण कर लिया है। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने उक्त तालिका का पूर्णतः अनुवाद नहीं किया और कुछ अंश अन्य स्रोतों से ग्रहण कर उसमें जोड़ दिये हैं, जिससे वह इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली से कुछ भिन्न हो गयी है। वही भिन्नता आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत पट्टावली में दृष्टिगोचर होती है। यथा—

१. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में Serial Number से लेकर Remarks तक ९ मूल स्तम्भ हैं। इनमें से डॉ. नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने Serial Number, Names एवं Sarnvat के अतिरिक्त शेष समस्त स्तम्भों का अनुवाद छोड़ दिया है। Dates of accession नामक तीसरे स्तम्भ से केवल विक्रमसंवत् के वर्ष का उल्लेख किया है, संवत् शब्द का नहीं, तथा Christian (B.C./A.D.) सन् का भी उल्लेख छोड़ दिया है। फलस्वरूप यही न्यूनताएँ आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत पट्टावली में मिलती हैं।

२. डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने क्र. ११ पर 'पूज्यपाद' के स्थान में 'जयनन्दी' नाम का उल्लेख किया है, जो The Indian Antiquary (Vol. XXI) में पृष्ठ ७४ पर मुद्रित C पट्टावली में मिलता है। इसी प्रकार क्र. १९ पर 'हरिनन्दी' की जगह 'सिंहनन्दी' नाम रखा है, जिसे प्रो० हार्नले ने Remarks के कॉलम में पीटर्सन

की सूची में उल्लिखित बतलाया है। शास्त्री जी ने क्र. १७ पर 'नेमिचन्द्र' के स्थान पर 'नेमचन्द्र', क्र. ४२ पर हरिचन्द्र की जगह हरिनन्दी, क्र. ७१ पर पद्मकीर्ति के स्थान पर पद्म, तथा क्र. ८० पर शान्तिकीर्ति के बदले शुभकीर्ति लिखा है। शास्त्री जी का अनुकरण करने के कारण आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत पट्टावली में भी ये भिन्नताएँ उपलब्ध होती हैं।

३. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. २६ के अन्तिम स्तम्भ में 'मालवा में स्थित भदलपुर' (Bhaddalpur in Mālwa) लिखा हुआ है। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने उसके स्थान में 'दक्षिणदेशस्थ भट्टिलपुर' तथा आचार्य हस्तीमल जी ने 'दक्षिण-देशस्थ भदिलपुर' लिखा है। 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, Vol. XXI (मार्च १८९२/पृ.६९) में उद्धृत C पट्टावली में भी भदलपुर को भदलपुरी कहते हुए दक्षिणदेशस्थ बतलाया गया है। यथा— 'ता के पीछे भद्रबाहु सौं लेर मेरुकीर्ति ताँई पट्ट छव्वीस पर्यन्त दक्षिणदेश विषैँ भदलपुरी में भए॥ २६॥'

४. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. २७ (महाकीर्ति) से लेकर क्र. ५१ तक २५ पट्टधरों को 'उजैन' (उज्जयिनी) का पट्टधर बतलाया गया है, जब कि डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने और उनके अनुसार आचार्य हस्तीमल जी ने क्र. २७ से क्र.४४ (माघचन्द्र-प्रथम) तक अठारह को उज्जयिनी का, क्र. ४५ (लक्ष्मीचन्द्र) से क्र. ४८ (लोकचन्द्र-द्वितीय) तक चार को चन्देरी (बुन्देलखण्ड) का और क्र. ४९ (श्रुतकीर्ति) से क्र. ५१ (महीचन्द्र-द्वितीय, पीटर्सन के अनुसार महाचन्द्र) तक तीन को भेलसा (भूपाल, सी.पी.) का (जो वर्तमान में 'विदिशा' नाम से प्रसिद्ध है) पट्टधर दर्शाया है।

यह C पट्टावली के निम्नलिखित वर्णन पर आधारित है— "बहुरि महाकीर्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छव्वीस पट्ट मालवा विषैँ। ता मैँ अठारह १८ उज्जैनी मैँ भये। चन्देरी के विषैँ ४ च्यार भए। भेल मैँ ३ तीन भए। कुण्डलपुर एक भए १॥ यह सर्व छव्वीस २६ भए।" (दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, Vol. XXI, पृ. ६९)। यहाँ 'महीचन्द्रान्त' के स्थान में 'माघचन्द्रान्त' होना चाहिए था, क्योंकि प्रो. हार्नले द्वारा निर्मित तालिका C में माघचन्द्र II ही क्र. ५२ पर दर्शाये गये हैं। (वही/पृ.७६)। अर्थात् उनको मिलाकर ही छव्वीस पट्टधर मालवा में होते हैं, यद्यपि चन्देरी और कुण्डलपुर बुन्देलखण्ड में आते हैं।

५. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. ५२ के माघचन्द्र-द्वितीय को वारा का पट्टधर कहा गया है, किन्तु डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री एवं आचार्य हस्तीमल जी ने C पट्टावली के आधार पर उनको कुण्डलपुर (दमोह) का पट्टधर लिखा है।

६. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. ५३ (वृषभनन्दी, पीटर्सन के अनुसार ब्रह्मनन्दी) से क्र. ६३ (गंगकीर्ति) तक ग्यारह को वारा का पट्टधर दर्शाया गया है, जब कि डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री और आचार्य हस्तीमल जी ने क्रमांक ६४ के सिंहकीर्ति को भी वारा के पट्टधरों में शामिल किया है, जो इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में ग्वालियर के पट्टधर कहे गये हैं, तथा इन दोनों ने वृषभनन्दी के स्थान में ब्रह्मनन्दी का उल्लेख किया है। यह कथन भी C पट्टावली का अनुसरण करता है। उसमें कहा गया है—“बहुरि ता के पीछें वृषभनन्दि आदि सिंहकीर्ति अन्त ताँई पट्ट वारह १२ वाराँ विषे” भए ॥ १२ ॥” (दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, Vol. XXI, पृ. ६९)।

७. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. ६५ (हेमकीर्ति) से क्र. ७७ (अभयकीर्ति) तक तेरह आचार्य भी ग्वालियर के पट्टधर वर्णित किये गये हैं, किन्तु डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री एवं आचार्य हस्तीमल जी ने इनमें क्र. ७८ के वसन्तकीर्ति को भी सम्मिलित किया है, जब कि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में ये अजमेर के पट्टधर बतलाये गये हैं।

८. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. ७९ (प्रकातकीर्ति = प्रख्यातकीर्ति, देखिए Remarks) से क्र. ८३ (प्रभाचन्द्र-द्वितीय) तक पाँच अजमेर के पट्टधर कहे गये हैं। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री एवं आचार्य हस्तीमल जी ने भी इन्हें अजमेर का पट्टधर बतलाया है।

९. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में क्र. ८४ (पद्मनन्दी) से क्र. ८७ (जिनचन्द्र-द्वितीय) तक चार दिल्ली के पट्टधर उल्लिखित हैं। इनमें प्रभाचन्द्र-तृतीय को क्र. ८६ पर तथा जिनचन्द्र-द्वितीय को क्र. ८७ पर दर्शाया गया है। किन्तु B पट्टावली तथा पीटर्सन की सूची में जिनचन्द्र (वि० सं० १५०७) को पहले तथा प्रभाचन्द्र (वि० सं० १५७१) को तदनन्तर रखा गया है। (S.No. 86, Remarks)।

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार जिनचन्द्र-द्वितीय (क्र. ८७) चित्तौड़ के पट्टधर थे और उनके समय (वि० सं० १५७२) में यह पट्ट चित्तौड़पट्ट और नागौरपट्ट, इन दो भागों में विभाजित हो गया। किन्तु, जिनचन्द्र-द्वितीय की मृत्यु के बाद ही वि० सं० १५१८ में दोनों स्थानों में स्वतन्त्र पट्टाधर नियुक्त किये गये। (S.No. 87, Remarks, F.N.64)।

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री एवं आचार्य हस्तीमल जी ने इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में दर्शाये क्रम के विपरीत पाण्डुलिपि B (S. No. 86, Remarks) का अनुसरण करते हुए जिनचन्द्र (द्वितीय) को क्र. ८६ पर और प्रभाचन्द्र (तृतीय) को क्र. ८७ पर रखा है, तथा तदनुसार जिनचन्द्र को दिल्ली का और प्रभाचन्द्र को चित्तौड़ का

पट्टधर बतलाया है। इस प्रकार जहाँ इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में धर्मचन्द्र-द्वितीय (क्र.८८) से लेकर महेन्द्रकीर्ति-द्वितीय (क्र.१०२) तक चित्तौड़ में पन्द्रह पट्टधर दर्शाये गये हैं, वहाँ डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री एवं आचार्य हस्तीमल जी ने प्रभाचन्द्र (क्र.८७) से लेकर महेन्द्रकीर्ति (क्र.१०२) तक सोलह बतलाये हैं।

१०. इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में नागौर में रत्नकीर्ति-तृतीय (क्र.८८) से विशालकीर्ति (क्र.९१) तक चार पट्टधर, तत्पश्चात् भुवनभूषण (क्र.१०५) से भुवनकीर्ति-द्वितीय (क्र.१०८) तक पुनः चार पट्टधर वर्णित हैं। और क्र. ९१ के Remarks में उल्लेख किया गया है कि पाण्डुलिपि A क्र.९१ के बाद से क्र.१०५ के पूर्व तक पुनः नष्ट हो गई है। प्रो० हार्नले ने The Indian Antiquary (Vol. XX) के पृ. ३४१ पर भी लिखा है—

“MS. A, unfortunately, is defective in two places. The pontificates, Nos. 66-78 and Nos. 92-104 (both inclusive), are missing. The first lacuna (Nos. 66-78) is, in the following table, filled up from MS. B³, but the second lacuna (Nos. 92-104) could not be supplied from that source, as the two manuscripts begin to diverge with Nos. 88.”

(Foot Note 3) “As MS. B only gives the dates of accession, I have filled in the particulars, relating to the length of the different periods of the lives, from another paṭṭāvalī in my possession which I hope to publish hereafter.” (Ibid., p. 341).

अनुवाद—“दुर्भाग्य से पाण्डुलिपि A दो स्थानों पर त्रुटिपूर्ण है। क्र. ६६-७८ और क्र. ९२-१०४ तक पट्टधरों के नाम अविद्यमान हैं। इनमें से पहले रिक्तस्थान (क्र.६६-७८) तो पाण्डुलिपि B से भर दिये गये हैं, किन्तु दूसरे रिक्त स्थान (क्र. ९२-१०४) उक्त स्रोत से नहीं भरे जा सके, क्योंकि दोनों पाण्डुलिपियों में क्रमांक ८८ से भिन्न-भिन्न स्थानों के पट्टधरों की नामावलियाँ शुरू हो जाती हैं (अर्थात् पाण्डुलिपि A में क्र. ८८ से केवल नागौर के पट्टधरों के नाम हैं और पाण्डुलिपि B में केवल चित्तौड़ के)।”

अनुवाद (Foot Note 3)—“चूँकि पाण्डुलिपि B में केवल पट्टारोहण की तिथियों का वर्णन है, इसलिए मैंने जीवन की विभिन्न कालावधियों की दीर्घता से सम्बन्धित तथ्य एक अन्य पट्टावली से उपलब्ध किये हैं, जो मेरे पास है। उसे मैं इसके बाद प्रकाशित करने की सोच रहा हूँ।”

निष्कर्ष यह है कि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में नागौरपट्ट के केवल आठ पट्टधर ही वर्णित हैं, जब कि डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री और उनका अनुसरण करनेवाले

आचार्य हस्तीमल जी ने नागौरपट्ट में छब्बीस पट्टधरों का उल्लेख किया है। उनमें से प्रथम चार ही इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में मिलते हैं। उक्त अतिरिक्त नाम 'दि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी' Vol. XXI की C, D एवं E पट्टावलियों में भी नहीं हैं। प्रो० विद्याधर जोहरापुराकर ने जैनमन्दिरों में प्राप्त पट्टावलियों, जिनप्रतिमालेखों, अणुव्रतरत्नप्रदीप, वसुनन्दिश्रावकाचार, पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं तथा रविव्रतकथा आदि के वर्णनों से बलात्कारगण-नागौर-शाखा के पट्टधरों की कालक्रमानुसार नामावली तैयार की है, जिसमें रत्नकीर्ति से लेकर कनककीर्ति पर्यन्त २६ पट्टधरों एवं तत्कालीन पट्टधर श्री देवेन्द्रकीर्ति के नाम हैं। जोहरापुरकर जी ने इनका विवरण सन् १९५८ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ भट्टारकसम्प्रदाय (पृ. ११४-१२५) में दिया है। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने इस ग्रन्थ से ही उक्त शेष २२ पट्टधरों के नाम ग्रहण किये हैं। अतः वे आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत पट्टावली में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए ये नाम भी प्रामाणिक हैं। इनमें से २३वें पट्टधर हेमकीर्ति विक्रम सं० १९१० (ई० सन् १८५३) में नागौरपट्ट पर आरूढ़ हुए थे। इनके बाद आरूढ़ होनेवाले तीन पट्टधरों में से अन्तिम कनककीर्ति के पट्टकाल की समाप्ति वि० सं० १९५० (ई० सन् १८९३) में घटित होती है। इण्डि०-ऐण्टि०-पट्टावली में अन्तिम पट्टधर चित्तौड़पट्ट के महेन्द्रकीर्ति-द्वितीय बतलाये गये हैं। उनका पट्टारोहणकाल वि० सं० १८८१ (ई० सन् १८२४) वर्णित है।

३

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियाँ

ई० सन् १८८५ में राजपूताना की यात्रा के समय श्री सेसिल बेण्डल (Mr. Cecil Bendall) को जयपुर के पण्डित श्री चिमनलाल जी ने सरस्वतीगच्छ की दो पट्टावलियाँ प्रदान की थीं। श्री बेण्डल ने वे प्रो०(डॉ०) ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले (Rudolf Hoernle) को सौंप दीं। हार्नले ने उन पट्टावलियों को क्रमशः 'ए' और 'बी' अक्षरों से चिह्नित किया। 'ए' पट्टावली में पट्टावली के साथ प्रस्तावना भी दी गयी है। प्रस्तावना में भगवान् महावीर से लेकर द्वितीय भद्रबाहु और उनके चार शिष्यों तक का विवरण है, जिनमें प्रथम हैं नन्दिसंघ के संस्थापक माघनन्दी। विवरण प्राकृत गाथाओं में है, जो किसी पुराने स्रोत से उद्धृत की गई हैं और राजपूतानी बोली में उनका खुलासा किया गया है। प्रस्तावना के अनन्तर नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ की पट्टावली अर्थात् उत्तराधिकारी गुरुओं की नामावली वर्णित है। यह द्वितीय भद्रबाहु से आरंभ होती है और १०८ वें पट्टाधीश भुवनकीर्ति पर समाप्त होती है, जो संवत् १८४० (ई० सन् १७८३) में पट्टारूढ़ हुए थे तथा उस समय भी आरूढ़ थे, जब यह पट्टावली

८. Prof. Hoernle : The Indian Antiquary, Vol. XX, p.341.

रची गयी थी। 'ए' पट्टावली दो जगह दोषपूर्ण है। उसमें क्रमांक ६६ से ७८ तक तथा ९२ से १०४ तक के पट्टधरों के नाम विद्यमान नहीं हैं। प्रथम रिक्ति (क्र. ६६-७८) हार्नले द्वारा तैयार की गई सूची (तालिका) में 'बी' पट्टावली से भरी गयी है, किन्तु दूसरी रिक्ति को इस पट्टावली से भरना संभव नहीं हुआ, क्योंकि ये दोनों पट्टावलियाँ क्रमांक ८८ से भिन्न-भिन्न गुरुपरम्पराओं में विभाजित हो जाती हैं।^१

'बी' पट्टावली में केवल पट्टावली है, प्रस्तावना नहीं। किन्तु यह परिपूर्ण है। यह भी संवत् ४ (ईसापूर्व ५३) में पट्टारूढ़ हुए द्वितीय भद्रबाहु से शुरू होती है^{१०} और क्र. १०२ के पट्टधर महेन्द्रकीर्ति पर समाप्त होती है, जो संवत् १९३८ (ई० सन् १८८१) में पट्टारूढ़ हुए थे और उस समय जयपुर में निवास कर रहे थे, जब श्री बेण्डल ने उस नगर की यात्रा की थी।^{११}

उक्त दो पट्टावलियाँ एक ही अन्वय की दो शाखाओं से सम्बद्ध हैं। वे शाखाएँ उस अन्वय के ८७ वें पट्टधर के पश्चात् उद्भूत हुई थीं। 'ए' पट्टावली की एक टिप्पणी के अनुसार यह विभाजन संवत् १५७२ (ई० सन् १५१५) में हुआ था। विभाजित होकर एक शाखा नागौर चली गई थी, दूसरी चित्तौड़ में ही रही आयी। चित्तौड़ ८७ वें पट्टधर का पट्टस्थान था। वे दोनों शाखाओं के मूल पट्टधर थे। 'ए' पट्टावली के अनुसार ८७ वें पट्टधर जिनचन्द्र थे, जिन्हें प्रभाचन्द्र का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। किन्तु 'बी' पट्टावली के अनुसार ८७ वें पट्टधर प्रभाचन्द्र थे, उनके ही समय में अन्वय विभाजित हुआ था। जिनचन्द्र उनके शिष्य थे। ८७ वें पट्टधर के बाद दोनों शाखाओं के अलग-अलग पट्टधर हो गये। इसलिए दोनों की पृथक्-पृथक् पट्टावलियाँ प्राप्त होती हैं। 'ए' पट्टावली नागौर शाखा की प्रतीत होती है और 'बी' पट्टावली चित्तौड़ शाखा की।^{११}

दोनों पट्टावलियों में तिथियों का पूर्ण विवरण दिया गया है। 'बी' पट्टावली में प्रत्येक पट्टधर के पट्टारूढ़ होने की तिथि वर्णित है। 'ए' पट्टावली और भी विस्तृत है। इसमें न केवल पट्टारूढ़ होने की तिथि दी गई है, अपितु प्रत्येक के गृहवर्ष या गृहस्थवर्ष (घर में रहने का काल), दीक्षावर्ष (मुनिपद पर रहने का काल), पट्टवर्ष

१. Two Pattavalis of the Sarasvati Gachchha of the Digambara Jains, The Indian Antiquary, Vol. XX, october 1891, p.341.

१०. It also commences with Bhadrabāhu II in Sarivāt 4 (B.C. 53). The Indian Antiquary, October 1891, Vol. XX, p.341.

११. The Indian Antiquary, october 1891, Vol. XX, p.342.

या पट्टस्थवर्ष (पट्ट पर रहने का काल) तथा सर्ववर्ष या सर्वायुवर्ष (सम्पूर्ण जीवनकाल) का भी वर्णन है।^{१२}

‘ए’ पट्टावली की प्रस्तावना में नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली के सभी श्लोकों एवं गाथाओं को उद्धृत करते हुए उनका राजपूतानी बोली में स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात् यही उसकी प्रस्तावना है। इस प्रस्तावना का मूलपाठ प्रो० हार्नले ने अपने आलेख में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है, जिसे उन्होंने ‘दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’ के वाल्यूम XX में निबद्ध अक्टूबर, 1891 के अंक (पृष्ठ 344 - 347) में प्रकाशित कराया था। किन्तु उन्होंने प्रस्तावना के बाद सरस्वती-गच्छ की ‘ए’ और ‘बी’ पट्टावलियों के मूल पाठ न देकर उनका सारांश एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे उनका सरलतया अध्ययन एवं जिज्ञास्य तथ्य का अवलोकन आसानी से किया जा सके। प्रो० हार्नले ने पट्टावलियों के मूलपाठ का नमूना दिखाने के लिए निम्नलिखित पहली प्रविष्टि उद्धृत की है—

“१. संवत् ४ चैत्र सुदि १४ भद्रबाहु जी, गृहस्थवर्ष २४, दीक्षावर्ष ३०, पट्टस्थवर्ष २२, मास १०, दिन २७, विरहदिन ३, सर्वायुवर्ष ७६, मास ११, जाति ब्राह्मण।”^{१३}

भावाथ—संवत् ४ में, चैत्र सुदि १४ के दिन, भद्रबाहु जी पट्टारूढ़ हुए। २४ वर्ष तक वे घर में रहे, ३० वर्ष तक सामान्य साधु, तथा २२ वर्ष, १० माह और २७ दिन तक पट्टधर रहे। विरह दिन (पट्ट को त्यागने और मृत्यु होने के बीच के दिन) ३ थे। उनके जीवन का सम्पूर्ण काल ७६ वर्ष और ११ माह था। वे ब्राह्मण जाति के थे।

प्रो० हार्नले ने विरहदिन के विषय में लिखा है—“As to the exact meaning of the term virah (see the quotation above), I am uncertain. I have taken it to mean the time which intervened between the death of one pontiff and the enthronisation of his successor, this time varies from a few days to upwards of one month. It occurs in the first 24 entries; from the 25th entry onwards the synonymous term antara is used.” (The Indian Antiquary, vol. XX, p.344).

अनुवाद—“विरह शब्द (देखिए, उपर्युक्त उद्धरण) के वास्तविक अर्थ के विषय में मुझे संशय है। मैंने इसे वर्तमान पट्टधर की मृत्यु और उत्तराधिकारी के पट्टासीन होने के बीच के समय का वाचक माना है। यह समय कुछ दिनों से लेकर

१२. वही / पृ. 343.

१३. वही / पृ. 344.

एक मास तक बतलाया गया है। विरह शब्द प्रथम २४ प्रविष्टियों में उपलब्ध होता है, पच्चीसवीं प्रविष्टि से इसके समानार्थी अन्तर शब्द का प्रयोग हुआ है।”

प्रो० हार्नले द्वारा ग्रहण किया गया यह अर्थ समीचीन नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण में तीन विरहदिनों को मिलाकर ही सर्वायुवर्ष (सम्पूर्ण आयु के वर्ष) ७६ मास और ११ दिन बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विरह के तीन दिन भी आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) की सम्पूर्ण आयु में शामिल थे। प्रो० हार्नले ने स्वयं उनके सम्पूर्ण जीवनकाल को बतलाते हुए लिखा है—‘The total period of his life was 76 years and 11 months. (The Indian Antiquary , Vol. XX , p. 344). इससे सिद्ध है कि उक्त पट्टावली में पट्टधर के पट्ट को त्यागने और उसकी मृत्यु होने के बीच के समय को विरह कहा गया है।

विशेष—प्रविष्टि के आदि में लिखित १ संख्या प्रविष्टि के क्रमांक की सूचक है। तालिका के अंतिम खाने (कॉलम) में कोष्ठस्थ टिप्पणियाँ प्रो० हार्नले की हैं, शेष समस्त टिप्पणियाँ पट्टावली के पाठ का अनुवाद हैं। ‘ए’ पट्टावली के कर्ता ने नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ के आदि-पुरुष द्वितीय-भद्रबाहु की गुरु-शिष्य-परम्परा दर्शाने के लिए प्रस्तावना के रूप में नन्दिसंघ की कही जानेवाली प्राकृत पट्टावली उद्धृत की है। उसका तालिका के रूप में हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली

वीरनिर्वाण के पश्चात् आचार्यों का पट्टकाल

१. केवली	गौतम-१२, सुधर्म-१२, जम्बूस्वामी-३८ = ६२ वर्ष
२. श्रुतकेवली	विष्णु-१४, नन्दिमित्र-१६, अपराजित-२२, गोवर्धन-१९, भद्रबाहु-२९ = १०० वर्ष
३. दशपूर्वधर	विशाख-१०, प्रोष्ठिल-१९, क्षत्रिय-१७, जयसेन-२१, नागसेन-१८, सिद्धार्थ-१७, धृतिषेण-१८, विजय-१३, बुद्धिलिंग-२०, देव-१४, धर्मसेन-१६ = १८३ वर्ष
४. एकादशांगधर	नक्षत्र-१८, जयपाल-२०, पाण्डव-३९, ध्रुवसेन-१४, कंस-३२ = १२३ वर्ष
५. दश,नव,अष्ट-अंगधर	सुभद्र-६, यशोभद्र-१८, भद्रबाहु-२३, लोहाचार्य-५० = ९७ वर्ष

६. एकांगधर अर्हद्वली-२८, माघनन्दी-२१, धरसेन-१९,
 पुष्पदन्त-३०, भूतबलि-२० = ११८ वर्ष
 महायोग ६८३ वर्ष^{१४}

आचार्यों के समक्ष दी गयी संख्या वर्षसूचक है। वह सूचित करती है कि उक्त आचार्य उतने वर्ष तक आचार्यपद पर आसीन रहे।

इस प्राकृत पट्टावली के अनुसार द्वितीय भद्रबाहु वीरनिर्वाण से (६२+१००+१८३+१२३+६ (सुभद्र)+१८ (यशोभद्र)=४९२ वर्ष व्यतीत होने पर अर्थात् ४९३ वें वर्ष में पट्ट (आचार्यपद) पर आसीन हुए थे।

‘ए’ पट्टावली के कर्ता ने सरस्वतीगच्छ (नन्दिसंघ) की पट्टावली का प्रारंभ द्वितीय भद्रबाहु से किया है। किन्तु उनका पट्टारोहण-वर्ष वीर नि० सं० ४९३ के स्थान में ४९२ रखा है। यह उनके निम्नलिखित कथन से ज्ञात होता है—

“तत्र प्रथमं वीरात् वर्ष ४९२ सुभद्राचार्यात् वर्ष २४ विक्रमजन्मान्त वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४ भद्रबाहु जातः ॥ गाथा ॥

सत्तरि चदुसदजुत्तो तिण काला विक्कमो हवइ जम्मो।

अठ वरस वाललीला सोडस वासेहि भम्मिए देस ॥ १८ ॥

पणरस वासे जज्जं कुणंति मिच्छोवदेससंजुत्तो।

चालीस वरस जिणवरथम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥ १९ ॥^{१५}

अनुवाद—वीर निर्वाण से ४९२ वें वर्ष में, सुभद्राचार्य के पश्चात् २४ वें वर्ष में, विक्रम के जन्म के पश्चात् २२ वें वर्ष में तथा विक्रम के राज्यारोहण के अनन्तर ४थे वर्ष में द्वितीय भद्रबाहु पट्टारूढ़ हुए थे। इस आशय की गाथाएँ भी हैं—

“वीर निर्वाण से ४७० वर्ष व्यतीत होने पर विक्रम का जन्म हुआ था। आठ वर्ष तक बालक्रीडाएँ कीं। सोलह वर्ष तक देशभ्रमण किया। पन्द्रह वर्ष तक यज्ञ करते हुए मिथ्योपदेश का अनुसरण किया। पश्चात् चालीस वर्ष तक जिनधर्म का पालन कर स्वर्ग प्राप्त किया।”

उक्त कथन के अनुसार हर प्रकार से वीरनिर्वाण के पश्चात् ४९२ वें वर्ष में ही द्वितीय भद्रबाहु का पट्टारूढ़ होना सिद्ध है। यथा—

१४. मूलपाठ इसी अध्याय के अन्त में ‘विस्तृत सन्दर्भ’ में देखिए।

१५. The Indian Antiquary, october, 1891, vol. XX, p.347.

१. वीर निर्वाण से ४७० वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य का जन्म हुआ। उनके जन्म के २२ वें वर्ष में द्वितीय भद्रबाहु पट्टारूढ़ हुए। इस प्रकार पट्टारोहण वर्ष ४७०+२२=४९२।

२. जन्म के बाद १८ वर्ष पूर्ण कर लेने पर वीर नि० सं० (४७०+१८) ४८८ में विक्रमादित्य का राज्यारोहण हुआ। राज्यारोहण के चौथे वर्ष में भद्रबाहु (द्वितीय) पट्ट पर विराजे। इस प्रकार पट्टारोहण वर्ष ४८८+४=४९२।

इसके अतिरिक्त 'ए' पट्टावली के कर्ता ने लोहाचार्य को भद्रबाहु (द्वितीय) के बाद न रखकर छठे पट्टधर उमास्वामी के पश्चात् रखा है। तथा धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली को नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ में परिगणित नहीं किया है। कर्ता ने नन्दिसंघ की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है—

“सुभद्राचार्य स्युं वर्ष २ विक्रम जन्म अर राज्य विक्रम की स्युं वर्ष ४ भद्रबाहु जी पाटि बैठा ॥ भद्रबाहु शिष्य गुप्तिगुप्त। तस्य नामत्रयं। गुप्तिगुप्त १ अर्हद्वलि २ विशाखा-चार्य ३ ॥ तस्य चत्वारि शिष्य। नन्दिवृक्षमूलेन वर्षायोगो धृतः सह^{१६} माघनन्दी तेन नन्दिसङ्घः स्थापितः। १ ॥ जिनसेनाममृतणतले वर्षायोगो धृतः सह^{१६} वृषभः तेन वृषभसङ्घः स्थापितः। २ ॥ येन सिंहगुहायां वर्षायोगः स्थापितः सह^{१६} सिंहसङ्घं स्थापितवान्। ३ ॥ यो देवदत्ता-वेश्यागृहे वर्षायोगं स्थापितवान् सह^{१६} देवसङ्घं चकार ॥४ ॥”^{१७}

अनुवाद—आचार्य सुभद्र के पट्टासीन होने के पश्चात् दूसरे वर्ष में विक्रमादित्य ने जन्म लिया। और विक्रम के राज्याभिषेक के चौथे वर्ष में भद्रबाहु (द्वितीय) पट्टारूढ़ हुए। भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त थे। उनके तीन नाम थे—१. गुप्तिगुप्त, २. अर्हद्वलि, ३. विशाखाचार्य। उनके शिष्यों की संख्या चार थी—१. माघनन्दी, जिन्होंने नन्दिवृक्ष के नीचे वर्षायोग धारण किया था और नन्दिसंघ की स्थापना की थी, २. वृषभ, जिन्होंने 'जिनसेन' नामक वृक्ष के तले वर्षायोग धारण किया था और वृषभसंघ स्थापित किया था, ३. सिंह, जिन्होंने सिंह की गुफा में वर्षायोग किया था और सिंहसंघ की स्थापना की थी, ४. देव (द्वितीय), जिन्होंने देवदत्ता नाम की वेश्या के घर में वर्षायोग स्थापित किया था और देवसंघ बनाया था।

प्र० हार्नले ने 'ए' और 'बी' पट्टावलियों के मूलपाठ का नमूना दिखाने के लिए जिस पहली प्रविष्टि को अपने आलेख में उद्धृत किया है, वह पूर्व में प्रदर्शित की जा चुकी है। उसमें उल्लिखित 'संवत् ४ चैत्र सुदि १४' (द्वितीय भद्रबाहु

१६. 'सः' के स्थान में 'सह' का प्रयोग, जो अशुद्ध है।

१७. The Indian Antiquary, october 1891, vol. XX, p.346.

संवत् ४ की चैत्रशुक्ला चतुर्दशी को पट्ट पर आरूढ़ हुए थे) इन शब्दों से स्पष्ट है कि उक्त पट्टावलियों में विक्रम के राज्यारोहण वर्ष से ही विक्रम संवत् का आरंभ माना गया है। यदि विक्रम के जन्मवर्ष से उसका आरम्भ माना जाता, तो भद्रबाहु (द्वितीय) का संवत् २२ में पट्टारूढ़ होना बतलाया जाता। किन्तु ऐसा नहीं किया गया। इससे उक्त तथ्य में विवाद के लिए अवकाश नहीं रहता। पट्टावलीकारों ने प्रत्येक पट्टधर का विक्रम संवत् के अनुसार जो पट्टारोहणवर्ष दर्शाया है, प्रो० हार्नले ने स्वनिर्मित तालिका में तत्संगत ईसवी सन् भी प्रदर्शित किया है। (देखिए, तालिका इसी प्रकरण के शीर्षक २.१ तथा इसी अध्याय के अंत में 'विस्तृत सन्दर्भ' के अन्तर्गत)।

इन पट्टावलीकारों को संस्कृत में निबद्ध नन्दिसंघीय पट्टावलियाँ पहले से उपलब्ध थीं। उनका ज्यों का त्यों अनुकरण करते हुए उन्होंने नये पट्टधरों के भी नाम स्वकृत पट्टावलियों में जोड़े हैं। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख किया है कि कौन पट्टधर किस स्थान का पट्टाधीश था। वस्तुतः स्थानविशेष के पट्टाधीश होने की प्रथा भट्टारकपीठों की स्थापना के साथ भट्टारकवर्ग में शुरू हुई थी। किन्तु इन नवीन पट्टावलीकारों ने दिगम्बराचार्यों के साथ भी स्थानविशेष के पट्टाधीश होने की कल्पना जोड़ दी और उन्हें भी स्वकल्पनानुसार विभिन्न स्थानों का पट्टाधीश घोषित कर दिया। उपर्युक्त दो पट्टावलियों के अलावा सन् १८९२ में जयपुर के पण्डित हरिदास शास्त्री से नन्दिसंघ की तीन और पट्टावलियाँ प्रो० हार्नले को प्राप्त हुई थीं। जिन्हें उन्होंने 'सी', 'डी' और 'ई' अक्षरों से चिह्नित किया है।^{१८} इनमें भी किंचित् भिन्नताओं के साथ उसी गुरुपरम्परा एवं स्थान-कालादि का उसी पद्धति से वर्णन है, जो 'ए' और 'बी' पट्टावलियों में है। इनकी प्रविष्टियों के दो उदाहरण 'सी' पट्टावली से नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

“ऐसैँ पूर्वोक्त प्रकार भद्रबाहु भए। ता कैँ पीछैँ और आचार्य अनुक्रम तैँ भए है, सो किञ्चित् मात्र भद्रबाहु तैँ लेकर याँ का वर्णन अनुक्रम तैँ लिखिये है ॥ विक्रम राजा कुँ राज्यपदस्थ के दिन तैँ संवत् केवल ४ के चैत्र शुक्ल १४ चतुर्दशी दिने श्रीभद्रबाहु आचार्य भये। ता की जाति ब्राह्मण। गृहस्थ वर्ष २४ चौबीस। दीक्षावर्ष ३० तीस। पट्टवर्ष २२ बाईस के उपरि मास १० दश दिन २७ सत्ताईस वहुरि विरहदिन ३। तिन का सर्वायुवर्ष छिहत्तर ७६। पुनर्मास ११ ग्यारह ॥”^{१९}

१८. Prof. A. F. Rudolf Hoernle : Three Further Pattavalis of The Digambaras, The Indian Antiquary, Vol. XXI, March 1892, p.57.

१९. The Indian Antiquary, Vol. XXI, March, 1892, p. 68.

“बहुरि ता के पीछैँ संवत् केवल छहवीस २६ का फाल्गुन शुक्ल १४ चतुर्दशी दिन मैं गुप्तगुप्ति नाम आचार्य जाति परवार भये। ता का गृहस्थ वर्ष २२ वाईस का। वहुरि दीक्षावर्ष १४ चौदह। पट्टस्थवर्ष ९ नौ, मास ६ छह; दिन २५ पच्चीस, विरह दिन ५ पाँच। या की सर्वायुवर्ष पैसठि ६५ मास ७ सात ६५।७ का जाननाँ ॥”^{१९}

इस पट्टावली में पट्टधरों के स्थानविशेष से सम्बद्ध होने का भी उल्लेख किया गया है। यथा—

“ता कै पीछैँ भद्रबाहु सौँ लेर मेरुकीर्ति ताँई पट्ट छवीस पर्यन्त दक्षिणदेश विषैँ भदलपुरी में भए ॥ २६ ॥ वहुरि महाकीर्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छवीस पट्ट मालवा विषैँ। ता मैं अठारह १८ उज्जैनी मैं भये। चन्देरी के विषैँ ४ च्यार भए। भेल मैं ३ तीन भए। कुण्डलपुर एक भए १ ॥ यह सर्व छवीस २६ भए ॥ वहुरि ता कै पीछैँ वृषभनन्दि आदि सिंहकीर्ति अन्त ताँई पट्ट वारह १२ वाराँ विषैँ भए ॥ १२ ॥ वहुरि ता कै पीछैँ कनककीर्ति आदि वसन्तकीर्त्यन्त पट्ट दश १० चीतोड के विषैँ भए ॥ १० ॥ वहुरि सूरचन्द्र १, माघचन्द्र १, ज्ञानकीर्ति १, नरेन्द्रकीर्ति १, ये च्यार पट्ट वर्षै भये ॥ ४ ॥ वहुरि प्रोष्ठलकीर्ति आदि प्रभाचन्द्रान्त पट्ट ६ छह अजमेर भये। ६। वहुरि पद्मनन्दी आदि शुभचन्द्रान्त पट्ट २ दोय गुजरातदेश विषैँ वाग्वर देश मैं भये ॥ वहुरि सकलकीर्ति आदि वाग्वर देश मैं भये। ऐसैँ श्रीमूलसङ्घ नन्द्याम्नाय सारस्वतीगच्छ बलात्कारगण की पट्टावली अनुक्रम तैँ जाननाँ ऐसैँ ॥”^{२०}

प्रो० हार्नले द्वारा A और B पट्टावलियों के आधार पर निर्मित तालिका ही ‘इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की पट्टावली’ के नाम से जानी जाती है।

४

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द का समय

पूर्वोद्धृत इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था, ११ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की थी और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की अवस्था में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। वे ५१ वर्ष १० मास एवं १० दिन तक आचार्यपद पर आसीन रहे, उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिंधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष १० मास और १५ दिन था।

२०. Ibid., p. 69.



तृतीय प्रकरण

कुन्दकुन्द को भट्टारक असिद्ध करनेवाले पट्टावलीगत तथ्य

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, आचार्य हस्तीमल जी ने पूर्वोद्धृत तालिकाबद्ध पट्टावली के आधार पर जो यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द भट्टारकपरम्परा के थे, वह युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। पट्टावली में निर्दिष्ट तथ्य ही इसके साक्षी हैं। उनका प्ररूपण नीचे किया जा रहा है।

१

कुन्दकुन्द 'नन्दी' आदि संघों की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती

१. आचार्य हस्तीमल जी ने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की पट्टावली में सभी आचार्यों के लिए सात बार 'पट्टाधीश' विशेषण और दो बार 'भट्टारक' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध है कि वह भट्टारक-परम्परा की मूल पट्टावली है।

प्रतीत होता है कि आचार्य जी ने 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रो. हार्नले द्वारा प्रकाशित पट्टावलियों के मूल पाठ का अवलोकन नहीं किया। उनमें कहीं भी 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग नहीं है। उनमें तो 'पट्ट', 'पट्टस्थ' और 'आचार्य' शब्दों का प्रयोग है। जैसे "बहुरि ता के पीछै पिच्यासीमाँ पट्ट, संवत् १४५० चौदह सौ पच्चास का माघ शुक्ल पञ्चमी ५ नैं शुभचन्द्र भया।"^{२१}

अनुवाद—“और उनके पश्चात् पचासीवें (८५ वें) पट्ट संवत् १४५० की माघ शुक्ल पञ्चमी को शुभचन्द्र हुए।”

“बहुरि महाकीर्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छब्बीस पट्ट मालवा विषै *।”^{२१}

अनुवाद—और महाकीर्ति से लेकर महीचन्द्र तक छब्बीस पट्ट मालवा में हुए हैं।

“विक्रम राजा कूँ राज्यपदस्थ के दिन तैँ संवत् केवल ४ के चैत्र शुक्ल चतुर्दशी दिने श्रीभद्रबाहु आचार्य भये।”^{२२}

२१. The Indian Antiquary, vol. XXI , p.69.

२२. Ibid., p. 68.

अनुवाद—“विक्रमराज के राज्यपद पर आरूढ़ होने के दिन से संवत् ४ की चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को श्री भद्रबाहु आचार्य हुए।”

यहाँ पट्ट शब्द प्रमुख या प्रधान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कोश में भी पट्टमहिषी, पट्टराज्ञी, पट्टशिष्य आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनका अर्थ है प्रमुख या प्रधान रानी,^{२३} प्रमुख शिष्य आदि। उपर्युक्त वाक्यों में भी ‘पट्ट’ का अर्थ प्रधान मुनि या प्रसंगानुसार किसी पीठ या संस्था का प्रमुख है। मुनियों के प्रसंग में ‘पट्ट’ शब्द ‘आचार्य’ का पर्यायवाची है, जैसा कि उपर्युक्त ‘श्रीभद्रबाहु आचार्य भये’ शब्दों से स्पष्ट है। ‘पट्टावली’ शब्द भी ‘पट्टानां प्रमुखात् प्रधानानाम् आचार्याणां वा आवलिः पड्क्तिः’ इस विग्रह के अनुसार आचार्यों अथवा भट्टारक-सम्प्रदाय के प्रसंग में भट्टारकपीठ पर आसीन पुरुषों की परम्परा का वाचक है। पट्टावली के पर्यायवाची के रूप में ‘गुर्वावली’ शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

“१ संवत् ४ चैत्र सुदि १४ भद्रबाहु जी गृहस्थवर्ष २४ दीक्षावर्ष ३० पट्टस्थवर्ष २२, मास १०, दिन २७ ---।” (The Indian Antiquary, Vol. XX, p.344)। इस वाक्य में ‘आचार्य’ के लिए पट्टस्थ (पट्ट = प्रधान पद पर स्थित) शब्द का प्रयोग किया गया है। (पट्टस्थवर्ष = पट्ट पर स्थित व्यक्ति, उसके द्वारा व्यतीत किये गये वर्ष)। अन्यत्र भी ‘पट्ट’ शब्द आचार्यपद एवं भट्टारकपद के लिए प्रयुक्त हुआ है। (देखिये, इसी अध्याय की पादटिप्पणी क्र. ६८, ६९, ७०)। पट्टस्थ और पट्टधर शब्द एकार्थक हैं।

प्रो० हार्नले ने ‘पट्ट’ एवं ‘पट्टस्थ’ शब्दों का अँगरेजी अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ धर्मगुरु होता है, पट्टाधीश नहीं। किन्तु, ‘तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा’ के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने प्रो० हार्नले द्वारा तालिकारूप में प्रस्तुत अँगरेजी पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में ‘पट्टाधीश’ शब्द का प्रयोग कर दिया है। इसे आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली का मूलपाठ मान लिया है, जो उनका भ्रम है। यदि उन्होंने मूलपाठ देखा होता, तो यह भ्रम न होता।

पट्टावलियों के मूलपाठ में किसी आचार्य को भट्टारक शब्द से भी अभिहित नहीं किया गया है। केवल एक स्थान पर यह कहा गया है कि विक्रम सं० १३७५ में गुजरात में भट्टारक प्रभाचन्द्र का एक आचार्य (सेवक) था। एक श्रावक ने प्रभाचन्द्र को प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने के लिए बुलाया था, किन्तु वह नहीं आ सके। तब श्रावक ने उस आचार्य (सेवक) को सूरिमन्त्र देकर ‘भट्टारक’ की उपाधि प्रदान कर दी और उससे प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी। तब से गुजरात में पट्ट

२३. The principal wife of a king. (M. Monier Williams Sans.-Eng. Dictionary.)

की स्थापना हुई। वह आचार्य (सेवक) से भट्टारक हो गया। उसे पद्मनन्दी नाम दिया गया।^{२४}

इस प्रकार उक्त पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का। अतः इन हेत्वाभासों के आधार पर आचार्य हस्तीमल जी का 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली को भट्टारक-पट्टावली मानना मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

२. उक्त पट्टावली को नन्दिसंघ की पट्टावली भी नहीं कहा गया है। प्रो० हार्नले के अनुसार उसमें 'सरस्वती गच्छ की पट्टावली' शीर्षक दिया गया है^{२५} और 'सरस्वतीगच्छ' नाम का प्रचलन 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित 'डी' पट्टावली के अनुसार उपर्युक्त भट्टारक पद्मनन्दी के ही समय में हुआ था। उन्होंने ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर सरस्वती की पाषाणप्रतिमा बनाई थी और उसे मंत्र के बल पर बोलने के लिए बाध्य कर दिया था। (उससे यह कहलवा दिया था कि दिगम्बरमत ही प्राचीन है, श्वेताम्बरमत नहीं)^{२६} तब से सारस्वतगच्छ या सरस्वतीगच्छ का प्रचलन हुआ। इसके समर्थन में प्रो. हार्नले ने पीटर्सन को उपलब्ध पट्टावली से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है^{२७}—

२४. "संवत् १३७५ दिन सँ एक भट्टार्क प्रभाचन्द्र जी के आचार्य छो। सो गुजरात मे श्री भट्टार्क जी तो न छा अरु वै आचार्य ही छ। सो महाजन एक प्रतिष्ठा को उद्यम कीयो। सो वै तो न आय पहुँच्या। जदि आचार्य ने सूरिमन्त्र दिवाय अर भट्टार्क पदवी गुजरात की दीन्ही, प्रतिष्ठा करिवा पाछैँ। तठा सँ गुजरात मे पट्ट थारो ॥ आचार्य सँ भट्टार्क हुवो। नाम पद्मनन्द जी दीयो ॥"

Pattāvalī D, The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.

यहाँ 'आचार्य' शब्द सेवक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखिए पादटिप्पणी २६।

२५. Two Pattāvalis of the sarasvati Gachchha of the Digambara Jains. (The Indian Antiquary, vol. XX, p.341). Three Further Pattāvalis of the Digambaras. (The Indian Antiquary, vol. XXI, p.57.)

२६. "प्रभाचन्द्र जी कै आचार्य गुजरात में छो। सो वटै एकै श्रावक प्रतिष्ठा नैँ प्रभाचन्द्र जी नैँ बलायौँ। सो वै नाया। तदि आचार्य नैँ सुरमन्त्र (read सूरि) दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई। तदि भट्टारक पद्मनन्दि जी हुवा। त्यों पाषाण की सरस्वती मुटै बुलाई ॥"

Pattāvali D, The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.

विशेष—यहाँ आचार्य का अर्थ मुनिसंघ का आचार्य नहीं है, अपितु भट्टारक के परिकर (सेवक समूह) से सम्बद्ध कोई ब्रह्मचारी या पण्डित है। इसीलिए 'डी' पट्टावली के मूलपाठ में 'भट्टारक प्रभाचन्द्र का एक आचार्य था' ऐसा कहा गया है। प्रो. हार्नले ने भी यही अर्थ किया है, यथा—"In Samvat 1375 there was a certain Āchārya belonging to (the suite of) the Bhaṭṭāraka Prabhāchandra." The Indian Antiquary, Vol. XXI, 78. शब्दकोश में suite का अर्थ परिकर या परिजन दिया गया है।

२७. The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः
 पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
 उज्जयन्तगिरौ गच्छः स्वच्छः सारस्वतोऽभवत्
 अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥^{२८}

अनुवाद—“जिन पद्मनन्दी गुरु ने ऊर्जयन्त पर्वत पर पाषाणनिर्मित सरस्वती को बोलने के लिए बाध्य कर दिया, वे बलात्कारगण के अग्रणी (प्रधान) बन गये। तब से स्वच्छ सारस्वतगच्छ का प्रचलन हुआ। इसलिए उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।”

उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर प्रो० जोहरापुरकर ने भी लिखा है कि चौदहवीं सदी से ही बलात्कारगण या बलगारगण के साथ सरस्वतीगच्छ और उसके पर्याय-वाची भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नाम जुड़े हैं।^{२९} प्रोफेसर सा० के अनुसार बलात्कारगण का भी सबसे प्राचीन उल्लेख विक्रमसंवत् १०७० में आचार्य श्रीचन्द्र ने ‘पुराणसार’ में किया है।^{३०} किन्तु ई० सन् १०४८ के एक शिलालेख में बलगारगण का उल्लेख मिलता है, जो बलात्कारगण का पूर्वरूप है^{३०} और श्री चन्द्रप्रभ छोटा मन्दिर सिरोज (म.प्र.) में विक्रम संवत् १००७ (९५० ई०) के प्रतिमालेख में मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण, इन तीन का उल्लेख है। यथा—

“वि० संवत् १००७ मासोत्तममासे फाल्गुणमासे शुक्लपक्षे तिथौ चतुर्थ्या बुधवासरे श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण ठाकुरसीदास प्रतिष्ठितं।”

यह लेख सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने श्री कमलकुमार जैन के जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख ग्रन्थ की प्रस्तावना में पृष्ठ २० पर उद्धृत किया है।

श्रीदिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर (म.प्र.) में एक यन्त्र पर संवत् १२१९ का निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है, जिसमें मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, और कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय एक साथ उल्लिखित हैं—

“संवत् १२१९ जेष्ठ सुदी १० सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये खंडेलवालवंसे विलालागोत्रे सिंघई मल्लजी प्रतिष्ठित वृन्दावती कवने दयागमस्योपदेशणाम्।” (कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख / पृ.६८)

२८. यह वस्तुतः प्रथम शुभचन्द्रकृत गुर्वावली का ६३वाँ श्लोक है। देखिए, इसी अध्याय के अन्त में ‘विस्तृत सन्दर्भ’।

२९. भट्टारकसम्प्रदाय / पृष्ठ ४४।

३०. “बलगारगणद मेघनन्दिभट्टारक।” जैन-शिलालेख-संग्रह / मा.च. / भाग २ / ले.क्र.१८१।

छतरपुर (म.प्र.) के ही उपर्युक्त बड़ा मन्दिर में संवत् १२७२ (ईसवी सन् १२१५) के तीन प्रतिमालेखों में मूलसंघ और सरस्वतीगच्छ के नाम हैं तथा संवत् १३१० (ई० सन् १२५३) के एक यंत्रलेख में मूलसंघ, नन्दी-आम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय का उल्लेख है। (देखिये, आगे प्रकरण ४/ शीर्षक ३.७)।

इन प्रतिमालेखों का प्रमाण देते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं—“भट्टारकसम्प्रदाय पृ. ४४ में प्र० वी० पी० जोहरापुरकर ने यह संकेत किया है कि ‘चौदहवीं सदी से मूलसंघ के साथ सरस्वतीगच्छ और उसके पर्यायवाची भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नाम जुड़े हैं’ वह उक्त प्रतिमालेख को दृष्टिपथ में लेने से ठीक प्रतीत नहीं होता है।” (जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख : कमल कुमार जैन/ प्रस्तावना / पृ.२० / पा.टि.१)।

निष्कर्ष यह कि सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण ईसा की १०वीं शताब्दी में अस्तित्व में आये, जिससे फलित होता है कि कुन्दकुन्द बलगारगण या बलात्कारगण के प्रचलन से भी बहुत पूर्ववर्ती हैं। अतः बलात्कारगण की पट्टावली में उनका नाम होने पर भी वे इस गण के आचार्य या भट्टारक नहीं थे।

३. नन्दिसंघ का उदय भी कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल से बहुत बाद में हुआ है। यद्यपि इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में आचार्य माघनन्दी से पूर्ववर्ती आचार्य अर्हद्वली को ‘नन्दी’ आदि चतुर्विध संघों का जन्मदाता कहा है, तथापि श्रवणबेलगोल के शक सं० १३५५ (१४३३ ई०) के निम्नलिखित शिलालेख में कहा गया है कि भट्ट अकलंकदेव (६८० ई०) के दिवंगत हो जाने के बाद उनके अन्वय में उद्भूत मुनियों में देशभेद के कारण यह चार प्रकार का संघभेद हुआ था, किन्तु धर्माचरण में कोई विरोध नहीं था—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः॥ १८॥
तस्मिन् गते स्वर्गभुवं महर्षी दिवः पतीन्तुमिव प्रकृष्टान्।
तदन्वयोद्भूतमुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि सङ्घभेदाः॥ १९॥
स योगिसङ्घश्चतुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धवृत्तान्।
बभावयं श्रीभगवाञ्जिनेन्द्रश्चतुर्मुखानीव मिथस्समानि॥ २०॥

देव-नन्दि-सिंह-सेन-सङ्घभेदवर्तिनां

देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनाम्।

वृत्ततस्समस्ततोऽविरुद्ध-धर्म-सेविनां

मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दिसङ्घ इत्यभूत् ॥ २१ ॥^{३१}

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं—“अकलंक से पहले के साहित्य में इन चार प्रकार के संघों का कोई उल्लेख भी अभी तक देखने में नहीं आया है, जिससे इस कथन के सत्य होने की बहुत कुछ संभावना पायी जाती है।”^{३२}

न केवल साहित्य में, अपितु भट्ट अकलंकदेव के अस्तित्वकाल से पूर्व के शिलालेखों में भी इन संघों का उल्लेख अनुपलब्ध है। यद्यपि द्रमिळगण या द्रविळसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख १०६० ई० के आसपास के सोमवार-शिलालेख में^{३३} तथा यापनीय-नन्दिसंघ की सर्वप्रथम चर्चा ७७६ ई० के देवरहल्लि-अभिलेख^{३४} में तथा उसके बाद ८१२ ई० के कड़ब-अभिलेख में मिलती है,^{३५} किन्तु मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वय में नन्दिगण का सबसे पुराना उल्लेख १११५ ई० (शक सं० १०३७) के श्रवणबेलगोल के स्तम्भलेख पर उपलब्ध होता है। यथा—

श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गाः श्रीगौतममाद्याः प्रभविष्णावस्ते।

तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ॥ ३ ॥

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र-सञ्जात-सुचारणर्द्धिः ॥ ४ ॥

श्रीमूलसङ्घ कृत-पुस्तकगच्छ-देशी-

योद्यद्गणाधिपसुताविक्रकचक्रवर्ती

सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणि मेघचन्द्र-

स्त्रैविद्यदेव इति सद्भिबुधाः स्तुवन्ति ॥ २९ ॥^{३६}

३१. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले.क्र.१०८ (२५८)।

३२. 'स्वामी समन्तभद्र' / पृ. १८०-१८१।

३३. "गुणसेनपण्डितर्द्धविळगणम् वरनन्दिसंघमन्वयमरुङ्ग (लम्)।" जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.२ / ले.क्र.१९२।

३४. क — "श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दितनन्दिसङ्घान्वये एरेगित्तरनाम्नि गणे पुलिकल्-गच्छे --- चन्द्रनन्दीनाम गुरुरासीत्।" जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र/भा.२ / ले.क्र.१२१।

ख—यापनीय-नन्दिसंघ कई गणों में विभक्त था। उनमें कनकोपल-सम्भूत-वृक्षमूलगण (जै.शि.सं/मा.च/ भा.२/ लेख क्र. १०६), श्रीमूलमूलगण तथा पुन्नागवृक्षमूलगण प्रमुख थे। (गुलाबचन्द्र चौधरी : प्रस्तावना / पृ.२७ / जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.३)।

३५. "श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्ष-मूलगणे" जैन-शिलालेख-संग्रह / भाग २ / ले.क्र.१२४।

३६. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.१ / ले.क्र. ४७ (१२७)।

इसके बाद 'नन्दिगण' का उल्लेख ई० सन् ११२३ से लेकर ११७७ ई० तक जैन शिलालेख संग्रह (मा. च.) भाग १ के लेख क्र. ४३ (११७), ५० (१४०), ४० (६४), ४२ (६६) में मिलता है। किन्तु नन्दिसंघ शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख १२वीं शताब्दी के एक लेख में हुआ है। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—“बूढ़ी चँदेरी (गुना) स्थित १२वीं शताब्दी का एक ऐसा लेख भी हमारे संग्रह में है, जिसमें मात्र कुन्दकुन्दान्वय-नन्दिसंघ का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। लेख का वह अंश इस प्रकार है”—

“श्री कुन्दकुन्दान्वयनन्दिसंघे जातो मुनिः श्री शुभकीर्तिसूरिः।”

(जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख / प्रस्तावना / पृ.२०)

तत्पश्चात् 'नन्दिसंघ' शब्द मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय के साथ विजयनगर के १३८६ ई० के दीपस्तम्भ लेख पर आया है। यथा—

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।

तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥ ३ ॥

आचार्यकुण्डकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।

एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥ ४ ॥

केचित्तदन्वये चारुभुनयः खनयो गिराम्।

जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः ॥ ५ ॥^{३७}

इसके बाद १३९८ ई० (शक सं० १३२०) के एक श्रवणबेलगोल-स्तम्भलेख पर पाया जाता है। यथा—

अर्हद्वलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घं।

कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतरालपीकरणाय चक्रे ॥२६ ॥

सिताम्बरादौ विपरीतरूपे खिले विसङ्घे वितनोतु भेदं।

तत्सेननन्दि-त्रिदिवेश-सिंह-सङ्घेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ॥ २७ ॥

सङ्घेषु तत्र गणगच्छ-वलि-त्रयेण

लोकस्य चक्षुषि भिदाजुषि नन्दिसङ्घे।

देशीगणे धृतगुणोऽन्वितपुस्तकाच्छ-

गच्छेऽङ्गलेश्वरवलिर्जायति प्रभूता ॥ २८ ॥^{३८}

३७. वही / भाग ३ / ले. क्र. ५८५।

३८. वही / भाग १ / ले. क्र. १०५ (२५४)।

श्रवणबेलगोल के ही १४३३ ई० (शक सं० १३५५) के शिलालेख में भी उक्त उल्लेख मिलता है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
 बभौ यदन्तर्माणिखन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥ १० ॥
 अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
 सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥ ११ ॥

नन्दिसङ्घे सदेशीयगणे गच्छे च पुस्तके।
 इंगुलेशबलिर्जीयान्मङ्गलीकृत-भूतलः ॥ २२ ॥^{३९}

शिलालेखों के अध्येता डॉ. गुलाबचन्द्र जी चौधरी लिखते हैं कि “लेख नं० ५९६ (१०५, १४ वीं शताब्दी) और ६२५ (१०८, १५ वीं शताब्दी) में नन्दिगण को नन्दिसंघ कहा गया है और उसे मूलसंघ के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन दोनों लेखों में सेन, नन्दि, देव और सिंह संघों का एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है। --- ये दोनों लेख एक सुंदर काव्य कहे जा सकते हैं।”^{४०}

इस प्रकार मूलसंघ के साधुवर्ग-विशेष का नन्दिगण या नन्दिसंघ नामकरण १२वीं शताब्दी ई० की घटना है उससे पूर्व की नहीं।

सन् ४६६ ई० (शक सं० ३८८) के मर्करा ताम्रपत्रों में कोण्डकुन्दान्वय के साथ केवल देशीयगण का सम्बन्ध दर्शाया गया है—

“देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य।”^{४१}

गण-गच्छादि से रहित केवल ‘कोण्डकुन्दान्वय’ का निर्देश ७९७ ई० (शक सं० ७१९) तथा ८०२ ई० (शक वर्ष ७२४) के ‘मण्णे’ के अभिलेखों में मिलता है। यथा—

“आसीद (त्) तोरणाचार्य्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।”^{४२}

“कोण्डकुन्दान्वयोदारो गणोऽभूत् भुवनस्तुतः।”^{४३}

३९. वही / भाग १/ ले. क्र. १०८ (२५८)।

४०. वही / भाग३ / प्रस्तावना / पृ. ५८।

४१. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / ले. क्र. ९५, पृ. ६३।

४२. वही / भा. २ / ले. क्र. १२२ / पृ. १२२।

४३. वही / भा. २ / ले. क्र. १२३ / पृ. १२९।

कोण्डकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का सम्बन्ध ८६० ई० के कोनूर-शिलालेख में बतलाया गया है—

“श्री-मूलसङ्घ - देशीयगण - पुस्तकगच्छतः ।

जातस्त्रैकाल्ययोगीशः क्षीराब्धेरिव कौस्तुभः ॥ ३५ ॥ ---

श्रीकोन्दकुन्दान्वयाम्बरद्युमणि विद्वज्जनशिरोमणि --- श्रीवीरनन्दिसैद्धान्तिक-
चक्रवर्तिगळु ।^{१४४}

निम्नलिखित अभिलेखों में भी उपर्युक्त अन्वय, संघ, गण और गच्छ का वर्णन है—

“श्रीमूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय-इड्डुलेश्वरदबळिय- --- ।”
(१०४४ ई०)^{४५}

“श्रीमूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वयद श्रीमत्तु नागचन्द्र-
चान्द्रायण-देवरशिष्य- --- ।” (१०७८ ई०/ हट्टण / ले.क्र.२१८) ।

जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च./द्वितीय भाग) के लेख क्र.२२३ (१०८० ई०), २३२ (१०९३ ई०), २६९ (१११८ ई०), २७५ (११२० ई०), २८४ (११२३ ई०), २९३ (११३० ई०), २९४ (११३० ई०), ३०० एवं ३०१ (११३३ ई०) में भी कुन्द-कुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण तथा पुस्तकगच्छ का ही सम्बन्ध दिखाया गया है। १२८० ई० के चिकमगलूर एवं १३५५ ई० के मलेयूर अभिलेखों-सहित^{४६} जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च.)भाग ३ के भी ४२ अभिलेखों में कुन्दकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है। नौवीं शताब्दी ई० से लेकर बारहवीं शताब्दी ई० तक के शिलालेखों में कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के साथ क्राणूरगण, तिन्निणीकगच्छ एवं मेषपाषाणगच्छ का भी कथन है। यथा—

“श्रीकुण्डकुन्दान्वय-मूलसंघे क्राणूरगणे गच्छ-सु-तिन्निणीके ।” (१०७५ ई०)^{४७}

“श्रीमूलसंघ-विद्यदमृतामळरुचि-रुचिर-कोण्डकुन्दान्वय-लक्ष्मी-महितं जिन-
धर्मल-लामं क्राणूरगणं जनानन्दकरम् ।” (१११७ ई.)^{४८}

४४. वही / भा.२ / ले. क्र. १२७ / पृ.१४५, १४८ ।

४५. वही / भा.२ / ले. क्र. १८० / पृ.२२० ।

४६. वही / भाग / ३ / ले. क्र. ५२६, ५६१ ।

४७. वही / भा.२ / ले. क्र. २०९ / पृ.२६९ ।

४८. वही / भा.२ / ले. क्र. २६७ / पृ.३९३ ।

“श्रीमूलसंघद कोण्डकुन्दान्वयद क्राणूर-गण मेषपाषाण-गच्छद श्रीमत्प्रभा-
चन्द्रसिद्धान्तदेवरवर शिष्यरु।” (११२१ ई०)^{४९}

११० ई० के एक शिलालेख में कुन्दकुन्दान्वय के साथ द्रविणसंघ का भी उल्लेख है—

“द्रविळसंघद --- अद श्रीकोण्डकुन्दान्वयद त्रिकाल-मौनि-भट्टारकशिष्यरु
---।” (लगभग ११० ई०)^{५०}

कुन्दकुन्दान्वय में वक्रगच्छ का भी अस्तित्व था। ११०० ई० के शिलालेख में कहा गया है—“श्रीमूलसङ्घद देशीयगणद वक्रगच्छद कोण्डकुन्दान्वयद परियलिय वडुदेवर बलिय।”^{५१}

ईसा की १२वीं शताब्दी में हुए आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार की प्रशस्ति में स्वयं को कुन्दकुन्दान्वय के गुरुओं का शिष्य बतलाया है—‘आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुन्दकुन्दसंताणे ---।’ यहाँ कुन्दकुन्दान्वय के साथ किसी संघ, गण या गच्छ का उल्लेख नहीं है।

इन शिलालेखीय और साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध है कि १०वीं शताब्दी ई० के पूर्व तक मूलसंघ में नन्दिसंघ, बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ, इनमें से किसी का भी अस्तित्व नहीं था। अतः इण्डियन-ऐन्टिक्वेरी-वाली पट्टावली में १०वीं शताब्दी ई० के पूर्व तक जितने आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं, वे नन्दिसंघ के नहीं थे। अतः नन्दिसंघ की पट्टावली यदि भट्टारक-परम्परा की पट्टावली मानी जाय, तो उपर्युक्त आचार्य भट्टारक-परम्परा के सिद्ध नहीं होते।

वस्तुतः ऐसा हुआ है कि जैसे पंचस्तूपान्वय का मुनिसंघ ईसा की ९वीं शताब्दी में ‘सेनसंघ’ नाम से जाना जाने लगा,^{५२} वैसे ही १२वीं शताब्दी ई० से कुन्दकुन्दान्वय का मुनिसंघ ‘नन्दिगण’ या ‘नन्दिसंघ’ के नाम से अभिहित होने लगा। कुन्दकुन्दान्वय में सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण का विकास तो १०वीं शती ई० में ही हो गया था, क्राणूर आदि गण तथा वक्र, तन्निणीक, मेषपाषाण आदि गच्छ बाद में विकसित हुए। बारहवीं शताब्दी ई० से इस नन्दिसंघ में भट्टारकपरम्परा आरम्भ हो गयी। और तब भट्टारक भी अपने को कुन्दकुन्दान्वय, मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ

४९. वही / भा.२ / ले. क्र. २७७ / पृ. ४१६।

५०. वही / भा.२ / ले. क्र. १६६ / पृ. २०७।

५१. वही / भा.१ / ले. क्र. ५५ (६९) / पृ. १२२।

५२. सेनसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख उत्तरपुराण की प्रशस्ति में पाया जाता है। (प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारकसम्प्रदाय / पृ. २६)।

आदि से सम्बद्ध घोषित करने लगे। इस प्रकार नन्दी आदि संघों का मुनियों और भट्टारकों, दोनों से सम्बन्ध था।

आचार्य अर्हद्वली के द्वारा मूलसंघ को नन्दी आदि संघों में विभाजित किये जाने की कथा काल्पनिक प्रतीत होती है, क्योंकि श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में ही इसके विषय में परस्परविरोधी उल्लेख मिलते हैं। १३९८ ई० के शिलालेख में^{५३} कहा गया है कि मूलसंघ का चतुर्विध संघों में विभाजन अर्हद्वली ने किया था, जब कि १४३३ ई० का शिलालेख^{५४} कहता है कि अकलंकदेव के दिवंगत होने के पश्चात् उनके अन्वय के मुनि अपने आप चार संघों में विभाजित हो गये।

वस्तुतः 'नन्दी' आदि संघ स्वयं विकसित हुए थे, क्योंकि पंचस्तूपान्वय, पुन्नाट, कुन्दकुन्दान्वयी-द्रविण आदि ऐसे संघों का अस्तित्व भी था, जो आचार्य अर्हद्वली द्वारा निर्मित नहीं बतलाये गये हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्णीत हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द नन्दिसंघ, बलात्कारगण तथा सरस्वतीगच्छ के विकसित होने के बहुत पहले उत्पन्न हुए थे, अतः वे नन्दिसंघ के आचार्य नहीं थे। इसलिए यदि नन्दिसंघ को भट्टारकसंघ माना जाये, तो कुन्दकुन्द भट्टारक सिद्ध नहीं होते।

२

नन्दिसंघीय पट्टावली केवल भट्टारक-परम्परा की पट्टावली नहीं

यद्यपि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-वाली नन्दिसंघीय पट्टावली में १०वीं शताब्दी ई० के पहले जिन आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, वे नन्दिसंघ, बलात्कारगण या सरस्वतीगच्छ के नहीं थे, तथापि उससे उत्तरवर्ती सभी आचार्य या पट्टधर भट्टारकसम्प्रदाय के थे, ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि १० वीं शताब्दी ई० से भी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण में जिनलिंगधारी मुनि होते आये हैं। भट्टारक-परम्परा तो १२वीं शताब्दी ई० से आरंभ हुई थी। उसके साथ भी मुनिपरम्परा विरलरूप में चलती रही।^{५५} किन्तु भट्टारक-परम्परा का वर्चस्व स्थापित हो जाने से १२वीं शताब्दी ई० से नन्दिसंघीय पट्टावली में भट्टारकसम्प्रदाय के ही उत्तराधिकारियों के नाम रखे गये हैं, क्योंकि जिन

५३. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र. १०५ (२५४) / श्लोक २६।

५४. वहीं / भा. १ / ले. क्र. १०८ (२५८) / श्लोक १८-२१।

५५. जैसा कि पं० आशाधर जी ने कहा है—'खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्' अर्थात् खेद है कि सच्चे उपदेशक मुनि आज कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं (पं० नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास / द्वि. सं. / पृ. ४८८ से उद्धृत)।

पाँच पट्टावलियों के आधार पर इण्डियन-एण्टिक्वेरी-वाली पट्टावली तैयार की गई है, उनके रचयिता भट्टारक ही थे। प्रश्न उठता है कि १२वीं शताब्दी ई० से पूर्व के जो आचार्य नन्दिसंघ के थे ही नहीं, उनके नाम प्रस्तुत पट्टावली में क्यों रखे गये? इसका उत्तर यह है कि वे उसी कुन्दकुन्दान्वय में हुए थे, जिसमें उत्तरवर्ती मुनि और भट्टारक हुए थे। इस साम्य के कारण उन्हें भी प्रस्तुत पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में शामिल किया गया है। इसलिए उनके भी नाम प्रस्तुत पट्टावली में मिलते हैं। इस प्रकार इण्डियन-एण्टिक्वेरी-वाली नन्दिसंघ की पट्टावली में केवल भट्टारकों के नाम नहीं हैं, अपितु मुनियों के भी हैं।

३

मूलसंघीय मुनिवर्ग का ही 'नन्दी' आदि संघों में विभाजन

वस्तुतः नन्दी, सेन, देव, सिंह आदि संघ मूलतः मुनियों के ही संघ थे, इसका साहित्यिक प्रमाण यह है कि १०वीं शताब्दी ई० के आचार्य इन्द्रनन्दी ने, जब भट्टारक-परम्परा का उदय ही नहीं हुआ था, तब अपने 'श्रुतावतार' ग्रन्थ में लिखा है कि मूलसंघ के आचार्य अर्हद्वलि ने दिगम्बरमुनियों के मूलसंघ को नन्दी, सेन आदि संघों में विभाजित किया था।

'श्रुतावतार' में वे कहते हैं कि आचार्य अर्हद्वलि जब सौ योजन के भीतर रहनेवाले मुनियों को बुलाकर पाँच वर्षों की समाप्ति पर होनेवाला प्रतिक्रमण करा रहे थे, तब उन्होंने मुनिसमूह से पूछा— 'क्या सब मुनि आ गये हैं?'^{५६} तब मुनियों ने उत्तर दिया, 'हाँ, भगवन्! हम लोग अपने-अपने सम्पूर्ण संघ के साथ आ गये हैं।' यह सुनकर आचार्य अर्हद्वलि ने सोचा कि अब इस कलिकाल में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में संघ आदि के पक्षपात को लेकर ही जैनधर्म चलेगा।^{५७} इसलिए उन्होंने जो मुनि गुफा से आये थे, उनको नन्दिसंघ और वीरसंघ में विभाजित किया।^{५८} जो अशोक वृक्षों के उद्यान से आये थे, वे अपराजितसंघ और देवसंघ में विभक्त किये गये।^{५९} पंचस्तूप-

५६. अथ सोऽन्यदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम्।

मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतयः ॥ ८८ ॥ श्रुतावतार।

५७. तेऽप्युचुर्भगवन्वयमात्मात्मीयेन सकलसङ्घेन।

सममागतास्ततस्तद्वचः समाकर्ण्य सोऽपि गणी ॥ ८९ ॥

काले कलावमुष्मिन्नितः प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम्।

गणपक्षपातभेदैः स्थास्यति नोदासभावेन ॥ ९० ॥ श्रुतावतार।

५८. इति सञ्चिन्त्य गुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु।

कांश्चिन्नन्द्याभिधानान् कांश्चिद्वीराह्वयानकरोत् ॥ ९१ ॥ श्रुतावतार।

५९. प्रथितादशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु।

कांश्चिदपराजिताख्यान्कांश्चिद् देवाह्वयानकरोत् ॥ ९३ ॥ श्रुतावतार।

निवास से आये मुनियों के भी दो संघ बनाये गये : सेनसंघ और भद्रसंघ तथा शाल्मली-महावृक्ष के मूल एवं खण्डकेसरवृक्ष के मूल से आये हुए मुनिसमूहों को भी क्रमशः गुणधर, गुप्ति, सिंह और चन्द्र, इन चार संघों में बाँटा।^{६०} इस प्रकार आचार्य अर्हद्वलि 'नन्दी' आदि विभिन्न मुनिसंघों के प्रवर्तक थे—“एवं तस्यार्हद्वलेर्मुनिजनसङ्घ-प्रवर्तकस्य--।”^{६१}

श्रवणबेलगोल के पूर्वोद्धृत १३९८ ई० के स्तम्भलेख में भी कहा गया है कि अर्हद्वलि ने कुन्दकुन्दान्वय के मूलसंघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह संघों में विभक्त किया था। वहीं के एक अन्य पूर्वोद्धृत १४३३ ई० के शिलालेख में वर्णित है कि भट्ट अकलंकदेव के दिवंगत हो जाने के बाद उनके अन्वय के मुनियों में यह चतुर्विध संघभेद हुआ था।

ये साहित्यिक और शिलालेखीय उल्लेख इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि 'नन्दी' आदि संघ मूलतः मुनियों के ही संघ थे। आगे चलकर जब ईसा की १२वीं शताब्दी में इन संघों के कतिपय मन्दिर-मठवासी दिगम्बरमुनि 'दिगम्बरमुनियों' के समान पिच्छीकमण्डलु रखते हुए, अजिनोक्त (जिनेन्द्र द्वारा अनुपदिष्ट) सवस्त्र साधुलिंग धारण कर दिगम्बरजैन गृहस्थों के धर्मगुरु की भूमिका निभाने लगे, तब इन संघों में भट्टारक-परम्परा भी चल पड़ी। इस कारण इन संघों की पट्टावलियों में मुनियों और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी भट्टारकों, दोनों के नाम मिलते हैं।

ये पट्टावलियाँ उपर्युक्त भट्टारकों द्वारा ही रचित हैं, क्योंकि इनमें अन्तिम नाम भट्टारक का ही है, तथापि पट्टावलीकारों ने द्वितीय भद्रबाहु, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, लोहाचार्य आदि को मुनिपुङ्गव, पूर्वपदांशवेदी, मुनिचक्रवर्ती, महामुनि, जातरूपधर, सत्संयम से चारणऋद्धि प्राप्त करनेवाले आदि विशेषणों से विभूषित किया है।^{६२} इससे सिद्ध है कि स्वयं भट्टारकपरम्परा इन आचार्यों को परम दिगम्बरमुनि मानती थी। अतः पट्टावलीकार भट्टारकों ने इनका अपने पूर्वज जिनलिंगधारी महामुनियों के रूप में ही पट्टावलियों में सादर उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि नन्दिसंघ की पट्टावलियों में केवल भट्टारकों के नाम नहीं हैं, अपितु मुनियों के भी हैं।

६०. श्रुतावतार / कारिका ९३-९४।

६१. वही / कारिका १०१।

६२. क—इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ के अन्तर्गत 'प्रथम शुभचन्द्रकृत गुर्वावली' देखिए।

ख—“श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।” जैन-शिलालेख-संग्रह/ माणिकचन्द्र / भाग १/ ले. क्र.४०।

यदि उन्हें केवल भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावलियाँ माना जाय, तो उनमें तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य उमास्वाति का भी नाम है, वे भी भट्टारक सिद्ध होंगे। किन्तु यह आचार्य हस्तीमल जी को स्वीकार्य नहीं होगा, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में उम्भस्वाति मुनिपद के सम्मान से विभूषित वाचकपदधारी साधु माने गये हैं। उन्हें वे मुनिपद के सम्मान से रहित, गृहस्थों का कर्मकाण्ड करानेवाला, दक्षिणाग्राही, जीविकोपार्जक, मठवासी, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारक कैसे मान सकते हैं? तथा 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX, p p. 344-347) में जो प्राकृत-पट्टावली दी गई है, वह भी नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ की पट्टावली है। उसमें गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी, इन केवलियों और श्रुतकेवली भद्रबाहु के भी नाम हैं। वे भी उपर्युक्त प्रकार के अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगी भट्टारक सिद्ध होंगे। यह भी आचार्य हस्तीमल जी को मान्य नहीं होगा, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा भी उन्हें केवली और श्रुतकेवली ही मानती है। केवली और श्रुतकेवली को तो उपर्युक्त प्रकार का भट्टारक मानने की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि नन्दिसंघ की पट्टावलियाँ केवल भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावलियाँ नहीं हैं, उनमें जिनलिंगी मुनि भी सम्मिलित हैं। अतः 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में अँगरेजी में छपी तालिकाबद्ध नन्दिसंघीय पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम होने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि वे भट्टारकपरम्परा के पट्टाधीश थे। वे जिनलिंगधारी आगमानुकूल चर्या करनेवाले दिगम्बराचार्य थे।

यदि नन्दिसंघ की पट्टावलियों को भट्टारकपरम्परा की पट्टावलियाँ मानकर यह कहा जाय कि उमास्वामी तो श्वेताम्बर थे, उन्हें बलात् नन्दिसंघ की पट्टावलियों में शामिल कर लिया गया है, तो यह भी कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द भट्टारक नहीं थे, उन्हें बलात् भट्टारकपरम्परा की पट्टावलियों में दर्शा दिया गया है। इस प्रकार उक्त तर्क से यही सिद्ध होगा कि कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय के नहीं थे।

४

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आरंभ में कुन्दकुन्दान्वय शब्द ही प्रचलित था और नन्दिसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, वक्रगच्छ, बलगारगण (बलात्कारगण), सरस्वतीगच्छ, क्राणूरगण, तिन्त्रिणीकगण, मेषपाषाणगण, द्रविणगण (द्रमिळगण) आदि का विकास कुन्द-कुन्द के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ, तब ये कुन्दकुन्दान्वय के साथ कैसे जुड़े? इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट है कि इनका विकास कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था, इसलिए उसके साथ इनका जुड़ना स्वाभाविक था। कुन्दकुन्दान्वय में ही इनके विकसित होने के उल्लेख भी मिलते हैं। चिदरवल्लि (कर्नाटक) के निम्नलिखित

कन्नड़ शिलालेख (समय अंकित नहीं है) से सूचित होता है कि देशिक-(देशीय)-गण कोण्डकुन्दान्वय से उत्पन्न हुआ था—“अय महित-कोण्डकुन्दान्वय-सम्भवदेशि-काख्य-गणदोल् गुणिगळ् ।” (जै. शि. सं. / मा. च. / भा. ३ / ले. क्र. ८३४)।

श्रवणबेलगोल के पूर्वोद्धृत १३९८ ई० के स्तम्भलेख (१०५(२५४)) में भी कहा गया है कि आचार्य अर्हद्वलि ने कुन्दकुन्दान्वय नामक मूलसंघ को नन्दी आदि चार संघों में विभाजित किया था—‘अर्हद्वलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घं ।’

किन्तु इसमें मूलसंघीय कुन्दकुन्दान्वय को अर्हद्वलि द्वारा विभाजित किये जाने का कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अर्हद्वलि को सभी पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। तथापि उक्त कथन से यह तथ्य अवश्य प्रकाशित होता है कि नन्दिसंघ का विकास कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था। निम्नलिखित शिलालेख में कथन है कि कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति मुनीश्वर आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे—

श्री पद्मानन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।

द्वितीयमासीदधिधानमुद्यच्चरित्रसज्जात-सुचारणाद्धिः ॥ ४ ॥

अभूदुमास्वाति - मुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृन्द्धपिच्छः ।

तदन्वये तत्ससदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥ ५ ॥^{६३}

श्रवणबेलगोल के शक सं० १०८५ (११६३ ई०) में उत्कीर्ण स्तम्भाभिलेख में श्रुतकेवली भद्रबाहु के अन्वय में चन्द्रगुप्त को, चन्द्रगुप्त के अन्वय में कुन्दकुन्द को और कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति, बलाकपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, अकलंकदेव आदि अनेक आचार्यों को उत्पन्न बतलाया गया है।^{६४}

‘जैन-शिलालेख-संग्रह’ (मा. च.) के प्रथम-भागान्तर्गत लेख क्र. ५४, ५५, १०५ एवं १०८ और तृतीयभाग के विजयनगर-लेख क्र. ५८५ में भी कुन्दकुन्दान्वय के अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं।

४६६ ई० के मर्करा-ताम्रपत्राभिलेख में कुन्दकुन्दान्वय-प्रसूत, गुणचन्द्र-भटार आदि छह आचार्यों का वर्णन है।

६३. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र. ४७ (१२७) / शक सं. १०३७ (१०१५ ई.)।

६४. वही / भा. १ / लेख क्र. ४० (६४)। मूलपाठ इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ में देखिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त 'नन्दी' आदि संघ-गण-गच्छों का विकास मूलसंघीय कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था, अतः 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रो० हार्नले द्वारा प्रकाशित नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ की पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है।

उपर्युक्त प्रतिपादन का सार इस प्रकार है।

१. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का, इसलिए आचार्य हस्तीमल जी ने इन शब्दों का प्रयोग मानकर 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी'-वाली पट्टावली को जो भट्टारकपरम्परा की मूल पट्टावली मान लिया है, वह उनका महान् भ्रम है।

२. कुन्दकुन्दान्वय में नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ का विकास कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) से ग्यारह सौ वर्षों बाद हुआ था, अतः वे नन्दिसंघ के नहीं थे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारकपट्टावली मान लेने पर भी वे भट्टारक सिद्ध नहीं होते।

३. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है। उसमें दिगम्बराचार्यों के भी नाम हैं और मुनिश्रावकेतरलिंगी 'भट्टारकों' के भी। इसलिए भी उसे केवल नन्दिसंघ के भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली मान लेना महाभ्रान्ति है।

आगे 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली में निर्दिष्ट उन तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ, जिनसे पट्टावली स्वयं ही आचार्य हस्तीमल जी के उपर्युक्त मत को मिथ्या सिद्ध करती है।

५

कुन्दकुन्द भट्टारकप्रथा के बीजारोपण से पूर्ववर्ती

आचार्य जी ने कहा है कि भद्रबाहु-द्वितीय से आरंभ होनेवाली नन्दिसंघ की पूर्वोद्धृत पट्टावली 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' के आधार पर इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गई है और भट्टारकपरम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्ष काल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचने के लिए उसके आचार्यों की नामावली बड़ी सहायक सिद्ध होगी। (देखिए, द्वितीय प्रकरण का शीर्षक १)। अर्थात् आचार्य जी की दृष्टि में नन्दिसंघ की पूर्वोद्धृत पट्टावली प्रामाणिक है। यद्यपि आचार्य जी के कथन में इतना संशोधन आवश्यक है कि नन्दिसंघ की पूर्वोक्त पट्टावली 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' के आधार पर इतिहास के विद्वानों

द्वारा तैयार नहीं की गई है, अपितु प्रो० हार्नले को राजस्थान से जो नन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ की पट्टावलियाँ प्राप्त हुई थीं, उनके समन्वित रूप को एक तालिका में निबद्ध कर अपनी टिप्पणियों के साथ, उन्होंने 'दि इण्डियन एण्टीक्वेरी' नामक शोधपत्रिका (रिसर्च जर्नल) में प्रकाशित कराया था। आचार्य हस्तीमल जी द्वारा पूर्वोद्धृत नन्दिसंघ की पट्टावली उसी का हिन्दी रूप है। आचार्य हस्तीमल जी ने उसे भट्टारकपरम्परा के उद्भव-विकास-उत्कर्षकाल आदि के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचाने में सहायक मानकर उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है। यही प्रामाणिक पट्टावली बतला रही है कि आचार्य कुन्दकुन्द भट्टारकप्रथा के बीजवपन से पूर्व अर्थात् विक्रम संवत् ४९ (ईसापूर्व ८वें वर्ष) में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। और आचार्य हस्तीमल जी की कल्पना के अनुसार भट्टारकप्रथा के प्रथम स्वरूप का आरंभ वीर नि० सं० ६४०, तदनुसार ई० सन् ११३ के लगभग हुआ था। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द भट्टारक-परम्परा के बीजारोपण से पूर्व ही आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। अतः आचार्य जी ने उन्हें जो भट्टारकसम्प्रदाय का पट्टाधीश मान लिया है, वह उक्त पट्टावली में निर्दिष्ट इस तथ्य से ही मिथ्या सिद्ध हो रहा है।

६

कुन्दकुन्द को ५वीं शती ई० में मानने पर सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या

किन्तु विडम्बना यह है कि आचार्य हस्तीमल जी उक्त पट्टावली को एक ओर जहाँ भट्टारक-परम्परा के विकासकाल के विषय में युक्तिसंगत निर्णय पर पहुँचानेवाली मानते हैं, वहीं दूसरी ओर उसमें बतलाये गये कुन्दकुन्द के पट्टकाल को युक्तिसंगत नहीं मानते।^{६५} उनकी मान्यतानुसार कुन्दकुन्द का काल वीर नि० सं० १००० अर्थात् विक्रम संवत् ५३० (४७३ ई०) के लगभग है।^{६६} ऐसा मानने पर वह 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' में बतलाये गये पट्टारोहणकाल वि० सं० ४९ से ४८१ वर्ष आगे चला जाता है। इस स्थिति में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, क्योंकि पट्टवली में दर्शायी गयी पट्टपरम्परा एक-दूसरे पट्टधर से जुड़ी हुई है और प्रत्येक पट्टधर का पट्टकाल भी निश्चित है, जिससे पूर्वापर पट्टधरों के बीच का कालान्तराल सुनिश्चित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है—

६५. जैनधर्म का मौलिक इतिहास / भाग३ / पृ.१४२।

६६. विस्तृत विवरण दशम अध्याय के तृतीय प्रकरण में द्रष्टव्य है।

पट्टधर	इण्डि०एण्टि० पट्टावली में पट्टारोहणवर्ष (विक्रमसंवत्)	कालान्तराल (पूर्वपट्टधर का पट्टारोहणवर्ष एवं पट्टस्थवर्ष)	आ० हस्तीमल जी के मतानुसार बढ़े हुए वर्ष	आ० हस्तीमल जी के अनुसार पट्टा- रोहण वर्ष (विक्रम संवत्)	कालान्तराल (पूर्व पट्टधर का पट्टारोहणवर्ष एवं पट्टस्थवर्ष)
१	२	३	४	५	६
१. भद्रबाहु (द्वितीय)	४		४८१	४८५	
२. गुप्तिगुप्त	२६	(४+२२)	४८१	५०७	(४८५+२२)
३. माघनन्दी (प्रथम)	३६	(२६+१०)	४८१	५१७	(५०७+१०)
४. जिनचन्द्र (प्रथम)	४०	(३६+४)	४८१	५२१	(५१७+४)
५. कुन्दकुन्द	४९	(४०+९)	४८१	५३०	(५२१+९)
६. उमास्वामी	१०१	(४९+५२)	४८१	५८२	(५३०+५२)
७. लोहाचार्य (द्वितीय)	१४२	(१०१+४१)	४८१	६२३	(५८२+४१)

(शेष पट्टधरों के नाम आदि इसी अध्याय के 'विशेष सन्दर्भ' में उद्धृत इण्डियन-
ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में द्रष्टव्य हैं।)

उपर्युक्त तालिका में तीसरे और छठे कालम में कोष्ठक के भीतर धनचिह्न के पूर्व की संख्या पूर्वोल्लिखित (अपने से ऊपर दर्शाये गये) पट्टधर के पट्टारोहणवर्ष को तथा बाद की संख्या उसके पट्टस्थवर्षों को सूचित करती है। पूर्वोल्लिखित पट्टधर का पट्टकाल (पट्टस्थवर्ष) उसके तथा उत्तरोल्लिखित पट्टधर के बीच का निश्चित कालान्तराल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ने पर उनके आगे-पीछे के सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, तभी प्रत्येक पट्टधर का पट्टकाल अर्थात् पूर्वापर पट्टधरों के बीच का कालान्तराल यथावत् रहता है। किन्तु ४८१ वर्ष आगे बढ़े हुए काल में उन पट्टधरों का अस्तित्व ही नहीं था। उदाहरणार्थ, वि० सं० ४८५ में भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्व

नहीं था, वे उसके ४८१ वर्ष पूर्व वि० सं० ४ में पट्टधर हो चुके थे। वि० सं० ५०७ में गुप्तिगुप्त विद्यमान नहीं थे, वे उसके ४८१ वर्ष पूर्व वि० सं० २६ में पट्टारूढ़ हो चुके थे। माघनन्दी प्रथम वि० सं० ५१७ के ४८१ वर्ष पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये थे। आचार्य जिनचन्द्र प्रथम वि० सं० ५२१ में जीवित नहीं थे। तथा दि इण्डियन-ऐपिटववेरी-पट्टावली में क्रमांक ९ से २६ तक के जिन यशोनन्दी आदि १८ पट्टधरों को भदलपुर का पट्टधर बतलाया गया है, उनका पट्टकाल विक्रमसंवत् ६४२ को पार कर जाता है, जब भदलपुर के पट्ट का अस्तित्व ही नहीं रह गया था। भदलपुर के पट्ट पर वि० सं० ६४२ के बाद कोई आसीन नहीं हुआ। २६वें आचार्य मेरुकीर्ति वि० सं० ६४२ में भदलपुर के पट्ट पर बैठनेवाले अन्तिम आचार्य थे। उनके बाद भदलपुर का पट्ट पट्टावली के अनुसार समाप्त हो गया।

उपर्युक्त १८ आचार्य अन्य स्थानों के पट्टधर हों, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि २६वें पट्टधर मेरुकीर्ति (विक्रम संवत् ६४२-६८६) के पश्चात् भदलपुर की पट्टपरम्परा समाप्त हो गई। उनके शिष्य महाकीर्ति विक्रम सं० ६८६ में उज्जयिनी के पट्ट पर बैठे। उनसे उज्जयिनी की पट्टपरम्परा प्रारंभ हुई। उनके बाद विष्णुनन्दी आदि अन्य १७ आचार्य उज्जयिनी के पट्टधर हुए, जिनमें अन्तिम माघचन्द्र का पट्टकाल वि० सं० ९९० से १०२३ था। उनके बाद उज्जयिनी की पट्टपरम्परा का भी अन्त हो गया और उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र वि० सं० १०२३ में चन्देरी के पट्ट पर आसीन हुए। इस पट्ट के अन्तिम आचार्य लोकचन्द्र वि० सं० १०६६ से १०७९ तक पट्टधर रहे और उनके बाद उनके शिष्य श्रुतकीर्ति वि० सं० १०७९ में विदिशा के पट्टधर हुए। विदिशा के अन्तिम पट्टधर महाचन्द्र के शिष्य माघचन्द्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) के पट्ट पर बैठे। उनके शिष्य ब्रह्मनन्दी बारों के पट्टधर हुए। बारों के अन्तिम पट्टधर सिंहकीर्ति थे, जिनके शिष्य हेमकीर्ति को ग्वालियर का पट्ट प्राप्त हुआ। ग्वालियर के अन्तिम पट्टधर वसन्तकीर्ति (वि० सं० १२६४) हुए।^{६७} उनके शिष्य प्रख्यातकीर्ति या विशालकीर्ति अजमेर के पट्टधर बने। प्रभाचन्द्र इस पट्ट के अन्तिम अधिकारी थे। उनके शिष्य पद्मनन्दी को दिल्ली का पट्ट प्राप्त हुआ, जिस पर क्रमशः शुभचन्द्र और जिनचन्द्र आसीन हुए।^{६८}

६७. भट्टारक सम्प्रदाय / पृ. ९३।

६८. "श्रीबलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीमहि (नन्दि) संघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीवसन्त-कीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीविशालकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीदमनकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीधर्मचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्री रत्नकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीपद्मनन्दिदेवाः तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवाः ॥" भट्टारकसम्प्रदाय / निषीदिकालेख / लेखांक २४४।

इनके पश्चात् पट्ट दो भागों में विभक्त हो गया। एक गद्दी नागौर में स्थापित हुई और दूसरी चित्तौड़ में। जिनचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र वि० सं० १५७१ में चित्तौड़ के पट्टधर हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य धर्मचन्द्र को यह पट्ट प्राप्त हुआ^{६९} उनके बाद अन्य १४ पट्टधर इस पट्ट पर आसीन हुए। जिनचन्द्र के अन्य शिष्य रत्नकीर्ति वि० सं० १५८१ में नागौर के प्रथम पट्टधर बने^{७०} तदनन्तर भुवनकीर्ति आदि अन्य २५ भट्टारकों ने यह पद प्राप्त किया।

नागौर के पट्टधरों में २३ वें हेमकीर्ति वि० सं० १९१० में पट्टपर आसीन हुए थे। उनके बाद क्षेमेन्द्रकीर्ति, मुनीन्द्रकीर्ति और कनककीर्ति ये तीन और उस पद पर आरूढ़ हुए। इन चारों का पट्टकाल यदि दस-दस वर्ष माना जाये तो पूर्वोद्धृत 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली के अन्तिम पट्टधर का काल वि० सं० १९५० में पूर्ण होता है।

इससे स्पष्ट है कि यशोनन्दी आदि १८ आचार्य किसी अन्य स्थान के पट्टधर नहीं थे, भदलपुर के ही थे, किन्तु उनका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने से उस काल में पहुँच जाता है, जब भदलपुर के पट्ट का अस्तित्व ही बाकी नहीं था। इसके अतिरिक्त आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में चित्तौड़पट्ट और नागौरपट्ट के ३९ पट्टधरों का पट्टारोहणकाल वि० सं० १५८६ (ई० सन् १५२९) से लेकर वि० सं० १९४० (ई० सन् १८८३) तक निर्दिष्ट है। (देखिये, अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। इन सबका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने पर इनका अभी (ई० सन् २००८ में) जन्म लेना ही घटित नहीं होता। इससे सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या हो जाता है, क्योंकि वे उस काल में दूँढ़े नहीं मिलते।

आचार्य हस्तीमल जी द्वारा पूर्वोद्धृत 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली के हिन्दी अनुवाद में जिन मुनियों और भट्टारकों के नाम वर्णित हैं, उनमें से ८५ पट्टधरों (शुभचन्द्र, वि० सं० १४५० तक) का उल्लेख नन्दिसंघ की प्रथम-शुभचन्द्रकृत गुर्वावली^{७१} तथा

६९. "श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये भ० श्रीजिनचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तच्छिश्यमण्डलाचार्य-श्रीधर्मचन्द्रदेवाः ---।" नागकुमारचरित / भट्टारकसम्प्रदाय / लेखांक २६७।

७०. क—"इस (नागौर) शाखा का आरंभ भ० (भट्टारक) रत्नकीर्ति से होता है। आप भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे ---। आपका पट्टाभिषेक संवत् १५८१ की श्रावण शु० ५ को हुआ ---।" भट्टारकसम्प्रदाय / पृष्ठ १२१।

ख—"श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिदेव तत्पट्टे भ० श्रीशुभचन्द्रदेव तत्पट्टे भ० श्रीजिनचन्द्रदेव मुनि-मण्डलाचार्य-श्रीरत्नकीर्तिदेव ---।" (अणुव्रतरत्नप्रदीप / भट्टारकसम्प्रदाय / लेखांक २७९)।

७१. मूलपाठ इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

एक अज्ञातकर्तृक विरुदावली^{७२} में भी है। शेष नाम प्रो० जोहरापुरकर द्वारा अपने ग्रन्थ 'भट्टारकसम्प्रदाय' में उद्धृत पट्टावलियों में उपलब्ध होते हैं। इसलिए उनमें से किसी भी नाम की वास्तविकता का निषेध नहीं किया जा सकता। अतः आचार्य हस्तीमल जी की उपर्युक्त मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। युक्तियुक्त न होने से प्रामाणिक नहीं है। पट्टावली में कुन्दकुन्द को वि० सं० ४९ अर्थात् ईसा- पूर्व ८ में पट्टारूढ़ बतलाया गया है। इसी काल में उनको पट्टारूढ़ मानने पर पट्टावली में वर्णित १२८ मुनियों और भट्टारकों का वि० सं० १९५० (ई० सन् १८९३) तक अपने-अपने निर्दिष्टकाल पर्यन्त पट्टारूढ़ होना उपपन्न होता है। अतः कुन्दकुन्द का इसी समय में पट्टारूढ़ होना युक्तियुक्त है, अत एव वह प्रामाणिक ठहरता है। अन्य साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाणों से भी यही काल निश्चित होता है, उन प्रमाणों का वर्णन दशम अध्याय में किया जायेगा। इस प्रकार जिस समय कुन्दकुन्द आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे, उस समय भट्टारकपरम्परा का बीजारोपण ही नहीं हुआ था, तब वे भट्टारकसम्प्रदाय के पट्टाधर कैसे हो सकते हैं? यह नितान्त असंभव है। अतः आचार्य हस्तीमल जी ने जो यह उद्घावना की है कि कुन्दकुन्द भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, वह सर्वथा अयुक्तियुक्त है, अतएव अप्रामाणिक है।

७

माघनन्दी आदि का पट्टाधर होना अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं

'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली जिन पट्टावलियों पर आधारित है, उनके अतिरिक्त नन्दिसंघ की अन्य किसी भी पट्टावली में यह उल्लेख नहीं है कि भद्रबाहु-द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि भद्रपुर या अन्य किसी स्थान के पट्टाधर थे। प्रमाण के लिए प्रथम-शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली एवं अज्ञातकर्तृक विरुदावली द्रष्टव्य हैं।^{७३} श्रुतसागरसूरि (१५ वीं शताब्दी ई०) स्वयं भट्टारक थे। उन्होंने कुछ भट्टारकों को तो देशविशेष का पट्टाधर बतलाया है,^{७४}

७२. नन्दिसंघ की अज्ञातकर्तृक विरुदावली व्यास (सूरत) के शास्त्रभण्डार में हस्तलिखित रूप में मिली थी, जिसे 'जैनमित्र' के १९ जून १९२४ ई० के अंक में प्रकाशित किया गया था। इसका मूलपाठ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री-कृत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' (खण्ड ४ पृ. ४३०-४४१) में अवलोकनीय है।

७३. देखिए, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' / खण्ड ४ / पृ. ३९३-३९९ एवं ४३०-४४१ एवं ४३०-४४१ तथा प्रस्तुत अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ।

७४. "गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दि-प्रार्थनया-।" श्रुतसागरसूरिकृत व्याख्या / यशस्तिलकचम्पू / तृतीय आश्वास / अन्तिम अनुच्छेद / पृ० ६२१।

किन्तु कुन्दकुन्द को किसी भी देश (स्थान) का पट्टधर नहीं कहा, उन्हें उनके गुरु जिनचन्द्रसूरि के पट्ट को अलंकृत करनेवाला ही कहा है।^{७५} इससे स्पष्ट होता है कि भद्रबाहु-द्वितीय आदि दिगम्बराचार्यों के साथ 'भदलपुर का पट्टधर' विशेषण जोड़ने का कार्य उन भट्टारक-पट्टावलीकारों का है, जिनकी पट्टावलियों पर 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' की पट्टावली आधारित है। नन्दिसंघ के भट्टारकों ने भट्टारक होने पर भी अपनी प्राचीनता और पूज्यकुलोत्पन्नता दर्शाने के लिए दिगम्बराचार्य भद्रबाहु-द्वितीय आदि को अपना पूर्वपुरुष बतलाया है। 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' में छपी पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों के कर्ता-महोदय भी भट्टारक थे। उन्होंने कुछ आगे बढ़कर अपने मठाधीशत्व को आगमसम्मत सिद्ध करने के लिए द्वितीय भद्रबाहु आदि पूर्वपुरुषों के साथ भी 'भदलपुर का पट्टधर' विशेषण जोड़ दिया है। किन्तु अन्य किसी भी पट्टावली, शिलालेख या प्राचीन ग्रन्थ में उक्त दिगम्बराचार्यों के भदलपुर या अन्य स्थान का पट्टधर होने का उल्लेख नहीं है। अतः 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' की पट्टावली का वह उल्लेख अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं होता। आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के लिए 'भदलपुर-पट्टधर' शब्द के भट्टारकीय मनगढन्त प्रयोग के आधार पर उन्हें भट्टारक घोषित कर दिया है। उन्हें यथार्थतः भट्टारक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द स्थानविशेष के पट्टधर होने की गृहस्थतुल्य प्रवृत्ति से कोसों दूर, आगमोक्त मुनिचर्या का अक्षरशः पालन करनेवाले दिगम्बराचार्य थे।

७५. इति श्रीपद्मनन्दि-कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रगीवाचार्यैलाचार्य-गृद्धपिच्छाचार्य-नामपञ्चक-विराजितेन सीमन्धरस्वामिज्ञानसम्बोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे --- ।" श्रुतसागरटीका / अन्तिम अनुच्छेद / दंसणपाहुड / गा.३६ / पृ० ५०।



चतुर्थ प्रकरण

भट्टारकसम्प्रदाय का असाधारण लिंग और प्रवृत्तियाँ

सम्प्रदायविशेष (विशिष्ट वेश और कर्मवाले धर्मगुरु-समुदाय) के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इस शब्द का मूल अर्थ 'पूजनीय' एवं 'विद्वान्' है। अतः जिस भी व्यक्ति के साथ 'भट्टारक' विशेषण जुड़ा हुआ हो, उसे भट्टारकसम्प्रदाय का व्यक्ति मान लेने की भूल न कर ली जाय। यह ध्यान रखना होगा कि सम्प्रदायविशेष के अर्थ में 'भट्टारक' संज्ञा शास्त्रोक्त नहीं है। किसी भी शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि 'इस' प्रकार के वेश और प्रवृत्तियोंवाले पुरुष को भट्टारक-सम्प्रदाय का व्यक्ति मानना चाहिए। विशेष प्रकार के लिंग (वेश) और प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए यह संज्ञा अपने-आप रूढ़ हुई है। तब यह सुनिश्चित करना होगा कि 'पूजनीय' और 'विद्वान्' अर्थ से भिन्न अर्थ में कैसे लिंग और प्रवृत्तियोंवाले पुरुषसमूह के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रसिद्ध हुई है? यह सुनिश्चित होने पर कि अमुक लिंग और अमुक प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए भट्टारक नाम रूढ़ हुआ है, केवल उन्हें ही भट्टारकसम्प्रदाय का कहा जा सकता है, अन्यो को नहीं, भले ही उनकी कुछ प्रवृत्तियाँ भट्टारकसम्प्रदाय के पुरुषों की प्रवृत्तियों से मिलती हों। यदि उन्हें भी हम एक-दो प्रवृत्तियों की समानता के कारण भट्टारकसम्प्रदाय का मानने लगे, तो हम सम्प्रदाय-विशेष के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द के प्रचलन का इतिहास सुनिश्चित नहीं कर पायेंगे। आगे यही सुनिश्चित किया जा रहा है कि सम्प्रदायविशेष के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द कैसे लिंग और कैसी प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए किस काल में रूढ़ हुआ है।

१

'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों का सूचक

संस्कृतसाहित्य में 'भट्टार' और 'भट्टारक' शब्दों का प्रयोग सम्मानसूचक उपाधि के रूप में हुआ है, जिससे श्रद्धास्पदता या पूज्यता द्योतित होती है। यथा—

'भट्टारहरिश्चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।' ७६

अर्थात् माननीय हरिश्चन्द्र का गद्यकाव्य नृप के समान आचरण करता है।

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के गुप्तवंशी नरेश कुमारगुप्त के सिक्कों पर उन्हें परमभट्टारक उपाधि से विभूषित किया गया है। ७७

७६. बाणभट्ट : 'हर्षचरित' / उच्छ्वास १/ श्लोक १२।

७७. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : कसायपाहुड / प्रस्तावना / भा.१ / पृ.५६।

४३३ ई० (गुप्तकाल वर्ष ११३) के मथुरा-शिलालेख में भी कुमारगुप्त के नाम के पूर्व परमभट्टारक उपाधि जोड़ी गई है। यथा—“परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य ---।” (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.९२)।

८६० ई० के कोनूर-शिलालेख में महाराज अमोघवर्ष के साथ परमभट्टारक उपाधि का प्रयोग है—“परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीपृथ्वीवल्लभ-श्रीमदमोघवर्ष --- श्रीवल्लभनेन्द्रदेवः।” (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.१२७)।

दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय में ये दोनों उपाधियाँ तीन अर्थों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं—१. आदर या पूज्यता, २. विद्वत्तादि गुण तथा ३. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी, दिगम्बरजैन नवोदित धर्मगुरु।

पूज्यता या आदरसूचक अर्थ में भट्टारक शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—

“भट्टान् पण्डितान् आरयति प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारकः।” (जिन-सहस्रनामटीका ३/३२)।

अर्थात् जो मुनि भट्टों (पण्डितों) को स्याद्वाद के द्वारा वस्तुतत्त्व की परीक्षा के लिए प्रेरित करते हैं, वे भट्टारक कहलाते हैं।

पूज्यतासूचक उपाधि के रूप में ‘भट्टारक’ शब्द का प्रयोग वीरसेन स्वामी ने भगवान् महावीर, गणधर इन्द्रभूति, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी, आचार्य गुणधर आदि के लिए किया है, यथा, महावीरभट्टारकेण (महावीर-भट्टारकेन), इन्द्रभूतिभट्टारकेण (इन्द्रभूतिभट्टारकेः), सुहम्मभट्टारकेण (सुधर्मभट्टारकेः), जंबूसामिभट्टारकेण (जम्बूस्वामि-भट्टारकेः)।^{७८} गुणहरभट्टारकेण (गुणधरभट्टारकेण)।^{७९} शक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) के मर्करा-ताम्रपत्र में दिगम्बर मुनियों के लिए भट्टारक शब्द का प्रयोग हुआ है जो पूज्यता-सूचक है।^{८०}

आचार्य इन्द्रनन्दी ने ‘नीतिसार’ के निम्नलिखित श्लोक में ‘भट्टारक’ शब्द को विद्वत्तादि-गुणसूचक-उपाधि का वाचक बतलाया है—

सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्धकः।

महातपः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥ १८ ॥

७८. जयधवला / कसायपाहुड / भाग १ / गाथा १ / अनुच्छेद ६४ / पृष्ठ ७५-७७।

७९. वही / अनुच्छेद १ / पृष्ठ ४।

८०. देखिए, दशम अध्याय / प्रथम प्रकरण / शीर्षक ११।

अनुवाद—“सभी शास्त्रों और कलाओं के ज्ञाता, नाना गच्छों के अभिवर्धक, प्रभावशाली, महातपस्वी को भट्टारक कहते हैं।

वस्तुतः भट्ट, भट्टार और भट्टारक ये लौकिक उपाधियाँ हैं, जो जैन-जैनेतर सभी भारतीय सम्प्रदायों में आदर-पूज्यता एवं विद्वत्ता-पाण्डित्य आदि गुणों को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त की गई हैं। विद्वत्तादि-गुणों के सूचनार्थ ये उपाधियाँ राजाओं या विद्वत्परिषदों के द्वारा प्रदान की जाती थीं। भट्ट नारायण, भट्ट लोल्लट, भट्ट अकलंक, भट्टार हरिश्चन्द्र, भट्टारक वीरसेन स्वामी ऐसी ही (विद्वत्तादिगुणसूचक) उपाधियाँ हैं। महावीरभट्टारयेण (महावीर-भट्टारकेन) और परमभट्टारक-महाराजाधिराज अमोघवर्ष, इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि ‘भट्टारक’ या ‘परमभट्टारक’ उपाधि पूज्यता-सूचनार्थ जैन-जैनेतर सभी सम्प्रदायों में प्रयुक्त हुई है।

किन्तु, १२वीं शताब्दी ई० से ‘भट्टारक’ शब्द दिगम्बरजैनपरम्परा में ऐसे नवोदित धर्मगुरुओं के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिनका लिंग (वेश) दिगम्बरजैन मुनियों जैसा न होकर लौकिक साधुओं जैसा था। वे जैनेतर साधुओं के समान लुंगी-चादर धारण करते थे और दिगम्बरजैन साधुओं के समान पिच्छी-कमण्डलु रखते थे इसलिए उनका लिंग (वेश) साधुओं के समान था, किन्तु वह दिगम्बरजैन साधु का लिंग नहीं था, इसलिए जिनोक्त नहीं था, अपितु अजिनोक्त (जिनेन्द्र द्वारा अनुपदिष्ट) साधुलिंग था। चूँकि वे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी थे और श्रावकवर्ग प्रायः शास्त्रों से अनभिज्ञ था, इसलिए इस अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग को धारण करते हुए भी वे लोक के अन्य (जैनेतर) साधुओं जैसे दिखाई देने के कारण श्रावकों के द्वारा गुरु मान लिये गये, इस तरह वे उनके धर्मगुरु बन गये। वे महन्त-पुरोहितों के समान आचरण करते थे, गृहस्थों की कर्मकाण्डीय क्रियाएँ सम्पन्न कराते थे, बदले में गृहस्थों से दान-दक्षिणा और चढ़ावा लेते थे तथा मठों में नियतवास करते हुए वहाँ के मन्दिर-तीर्थादि का प्रबन्ध एवं सम्पत्ति की देखभाल करते थे, दान में प्राप्त भूमि में कृषि कराते थे। यह लिंग एवं कर्म उन्हें एक अनागमोक्त-स्वयंभू-जैन-संगठन के द्वारा स्थानविशेष के पट्ट पर अधिकारी के रूप में विधिपूर्वक अभिषिक्त करके सौंपा जाता था।

२

दिगम्बरपरम्परा में नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी

मिथ्या धर्मगुरुओं की परम्परा ही भट्टारकपरम्परा

दिगम्बरपरम्परा में उपर्युक्त नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी मिथ्या धर्मगुरुओं की परम्परा भट्टारक-परम्परा या भट्टारकसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिन पुरुषों

के लिए पूज्यता एवं विद्वत्ता-सूचक भट्टारक-उपाधि का प्रयोग किया जाता है, उनका कोई सम्प्रदाय नहीं होता, क्योंकि पूज्यता एवं विद्वत्ता किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्ति में हो सकती है। सम्प्रदाय या परम्परा उन्हीं लोगों की बनती है, जिनका समान लिंग (वेश), समान मत, समान कर्म एवं समान आचरणपद्धति होती है। पूज्यता और विद्वत्ता भिन्न लिंग, भिन्न मत, भिन्न कर्म एवं भिन्न आचरणपद्धतिवाले व्यक्ति में भी होती है। अतः पूज्यता एवं विद्वत्ता-सूचक भट्टारक-उपाधिधारी व्यक्तियों का सम्प्रदाय या परम्परा नहीं होती। इसलिए भट्टारक-परम्परा शब्द से उनके समुदाय का संकेत नहीं होता। अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी, दिगम्बरजैन, नवोदित मिथ्या धर्मगुरुओं में ही उपर्युक्त लिंगादि-गत समानताएँ होती हैं। अतः भट्टारकपरम्परा या भट्टारकसम्प्रदाय शब्द से उनका ही समुदाय संकेतित होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी उनकी ही परम्परा को भट्टारक-परम्परा या भट्टारक-सम्प्रदाय नाम से अभिहित किया जा रहा है तथा यहाँ 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग भी प्रायः इसी सम्प्रदाय के व्यक्ति का सूचक है।

३

पासत्थादि मुनियों के वस्त्रधारण से १२वीं शती ई० में

भट्टारकपरम्परा का उदय

भावपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार, इन प्राचीन ग्रन्थों में भ्रष्टचरित्रवाले पाँच प्रकार के जिनलिंगी मुनियों का उल्लेख है : पासत्थ (पार्श्वस्थ), कुसील (कुशील), संसत्त (संसक्त), ओसण्ण (अवसन्न) और जहाछंद या मिगचरित्त (यथाछन्द या मृगचरित्र)।^१ इनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

३.१. पासत्थ (पार्श्वस्थ)

“पन्थानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किन्तु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेना-संयतः, न च निरतिचारसंयमः सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृ-संस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति सूचि-कर्तारि-नखच्छेद-सन्दंशनपट्टिका-क्षुर-कर्णशोधनाजिनग्राही, सीवन-प्रक्षालनावधूनन-रञ्जनादि-बहुपरिकर्म-व्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादि-कमनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं

८१. भावपाहुड/गा.१४, मूलाचार/गा.५९५, भगवती-आराधना/गा.'किं पुण जे ओसण्णा' १९४३।

बहुतरं करोति। उपकरणबकुशो देहबकुशः दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। पादप्रक्षालनं प्रक्षणं वा यत्कारणमन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थः। अयमत्र संक्षेपः—अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः।^{४२}

अनुवाद—“जैसे कोई मार्ग को देखते हुए भी उस मार्ग से न जाकर उसके समीपवर्ती अन्य मार्ग से जाता है, उसे मार्गपार्श्वस्थ कहते हैं, इसी प्रकार जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, अपितु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता है, वह न तो एकान्त से असंयमी होता है, न निरतिचारसंयमी, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्ड का स्वरूप पहले (‘आचेलक्कुद्देसिय’ गा. ४२३ की टीका में) कहा गया है, उस भोजन को जो नित्य करता है, भोजन करने के पहले और पश्चात् दाता की स्तुति करता है अथवा उत्पादन और एषणादोष से दूषित भोजन करता है, नित्य एक ही वसतिका में रहता है, एक ही संस्तर पर सोता है, एक ही क्षेत्र में रहता है, गृहस्थों के घर के भीतर बैठता है, गृहस्थों के उपकरणों का उपयोग करता है, बिना प्रतिलेखना के वस्तु को ग्रहण करता है या दुष्टतापूर्वक प्रतिलेखना करता है, सुई, कैंची, नखछेदनी, छुरा, कान का मैल निकालने की सीक, चर्म आदि पास में रखता है और सीने, धोने, रँगने आदि के कामों में लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि अकारण ग्रहण कर जो पास में रखता है, वह पार्श्वस्थ है। जो रात में यथेष्ट सोता है, संस्तर को इच्छानुसार लम्बा-चौड़ा करता है, वह उपकरणबकुश है। जो दिन में सोता है, वह देहबकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और शरीर का उबटन करता है, जो गणोपजीवी और तृणपञ्चकसेवी है, वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह कि जो सुखशील होने के कारण अयोग्य का सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ (पासस्थ) है।”

३.२. कुशील (कुशील)

“कुत्सितशीलः कुशीलः। यद्येवमवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति। नैवं लोकप्रकट-कुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः। स च कुशीलोऽनेकप्रकारः कश्चित्कौतुक कुशीलः औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिककौतुकमादर्शयति यः स कौतुककुशीलः। कश्चिद् भूतिकर्मकुशीलः। भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः। --- कश्चित्प्रसेनिका-कुशीलः। अङ्गुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी, स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति। कश्चिन्न-प्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असंयत-चिकित्सां करोति

८२. विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. ‘गच्छंहि केइ पुरिसा’ १९४४।

सोऽप्रसेनिकाकुशीलः। कश्चिन्निमित्त-कुशीलः, अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः। आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाशय यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशीलः। केनचिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सां करोति स वा आजीवकुशीलः। विद्यायोगादिभिः परद्रव्यापहरणदम्भ-प्रदर्शनपरः कव्वकुशीलः। इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति। वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां फलानां च सम्भवमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स सम्मूर्च्छनाकुशीलः। त्रसजानां कीटादीनां वृक्षादीनां पुष्पफलादीनां गर्भस्य परिशातनमाभिचारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः। --- आदि-शब्दगृहीताः कुशीला उच्यन्ते-क्षेत्रं हिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति, हरित-कन्दफलभोजिनः, कृतकारितानुमतपिण्डोपधि-वसतिसेवापराः स्त्रीकथारतयः मैथुनसेवा-परायणा विवेकास्रवादि अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः। धृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषश्च कुशीलः।^{१८३}

अनुवाद—“जिसका शील कुत्सित है, वह मुनि कुशील कहलाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है, तो ‘अवसन्न’ आदि भी कुशील कहलायेंगे। उत्तर—नहीं, यहाँ कुशील उसे कहा गया है, जिसका कुत्सितशील लोक में प्रकट हो जाता है, यह भेद यहाँ ध्यान में रखना चाहिए। वह कुशील अनेक प्रकार का होता है। कोई कौतुककुशील होता है। जो सौभाग्य के कारणभूत राजद्वार में औषधिविलेपन की विद्या के प्रयोग द्वारा कौतुक (चमत्कार) दिखलाता है, वह कौतुककुशील है। कोई मुनि भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ ‘भूति’ शब्द उपलक्षण है। उससे यह अर्थ अभिप्रेत है कि जो मुनि भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल अथवा जल आदि को अभिमंत्रित कर किसी की रक्षा या वशीकरण करता है, उसे भूतिकर्मकुशील कहते हैं। जो मुनि अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, प्रदीपप्रसेनिका शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओं के द्वारा लोगों का मनोरंजन करता है, वह प्रसेनिकाकुशील है। जो मुनि, विद्या, मंत्र अथवा औषध के प्रयोग द्वारा असंयमी जनों की चिकित्सा करता है, वह अप्रसेनिकाकुशील कहलाता है। जो अष्टांग-निमित्तों को जानकर लोगों को इष्ट-अनिष्ट बतलाता है, उसका नाम निमित्तकुशील है।

“जो अपनी जाति अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है, वह आजीवकुशील है। जो किसी के द्वारा सताये जाने पर दूसरे की शरण में जाता है अथवा अनाथशाला में जाकर अपनी चिकित्सा कराता है, वह भी आजीवकुशील होता है। जो विद्याप्रयोग आदि के द्वारा दूसरों का द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शन में तत्पर रहता है, वह कव्वकुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदि से लोगों को विस्मित करता

है, वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करके बतलाता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है, वह सम्पूर्णकुशील नाम से जाना जाता है। जो त्रसजाति के कीड़ों-वृक्षों, पुष्प-फल आदि का तथा गर्भ का विनाश करता है, जादू-टोना करता है तथा शाप देता है, वह प्रपातनकुशील कहलाता है।

“अब गाथा में आये ‘आदि’ शब्द से गृहीत कुशीलों का वर्णन करते हैं। जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रह को स्वीकार करते हैं, हरे कन्द-फल खाते हैं, कृत-कारित-अनुमोदना से भोजन, उपधि और वसतिका का सेवन करते हैं, स्त्रीकथा में लीन रहते हैं, मैथुनसेवन करते हैं, आस्रव के अधिकरणों में लगे रहते हैं, वे सब कुशील हैं। जो धृष्ट, प्रमत्त और विकृतवेश होता है, वह भी कुशील है।”

३.३. संसक्त (संसक्त)

“संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः, अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही संसक्तः। पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये सङ्क्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च संसक्तः।” (वि.टी./ भ.आ./ गा.१९४४)

अनुवाद—“अब संसक्त का स्वरूप कहा जा रहा है। चारित्रप्रेमियों में चारित्रप्रेमी हो जाना तथा चारित्र-अप्रेमियों में चारित्र-अप्रेमी बन जाना, इस तरह नट के समान अनेकरूप धारण करनेवाला मुनि संसक्त कहलाता है। जो पंचेन्द्रियविषयों में आसक्त होता है, ऋद्धिगारव सातगारव और रसगारव में लीन होता है, स्त्रियों में राग रखता है और गृहस्थों से प्रेम करता है, वह संसक्त है।”

३.४. ओसण्ण (अवसन्न)

“यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः। भावावसन्नः अशुद्धचारित्रः सीदति उपकरणे, वसतिसंस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचार-शुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे च अनुद्यतः, आवश्यकेष्वलसः, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति, न भावत एवम्भूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्नः।” (वि.टी./ भ.आ./ गा.१९४४)।

अनुवाद—“जैसे कोई पुरुष कीचड़ में फँस जाता है या मार्ग में थक जाता है, तो उसे अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूप से अवसन्न होता है, वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध होता है, वह भाव-अवसन्न कहलाता है। वह उपकरण, वसतिका, संस्तरशोधन, स्वाध्याय, विहारभूमिशोधन, गोचरीशुद्धि और ईर्यासमिति में, स्वाध्यायकाल का ध्यान रखने में, स्वाध्याय की समाप्ति तथा गोचरी में यत्नशील नहीं रहता। वह षडावश्यकों में भी आलस्य करता है। अथवा दूसरों की अपेक्षा इन क्रियाओं को

करता तो अधिक है, किन्तु वचन और काय से करता है, भाव से नहीं। इस प्रकार चारित्र का पालन करते हुए खेदखिन्न होता है, इसलिए उसे अवसन्न कहते हैं।”

३.५. जहाछन्द (यथाछन्द या मृगचरित्र)

“यथाछन्दो निरूप्यते। उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति। तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः क्षुरकर्तारिकादिभिः केशापनयनप्रशंसनम् आत्मविराधानान्यथा भवतीति। भूमिशय्यातृणपुञ्जे वसतामवस्थितानामाबाधेति। उद्देशिकादिके जनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीविकायविराधनेति। गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सम्प्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणमेवमादिनिरूपणपराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते।” (वि.टी./ भ.आ./ गा.१९४४)।

अनुवाद—“अब यथाछन्द के स्वरूप का निरूपण करते हैं। जो उपदेश आगम में नहीं दिया गया है, उसे अपनी इच्छा से कल्पित करके निरूपित करनेवाला मुनि यथाछन्द कहलाता है। जैसे यह निरूपण करना कि वर्षा में जलधारण अर्थात् वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है। छुरे, कैंची आदि से केश काटने की प्रशंसा करना और कहना कि केशलुञ्च करने से आत्मा की विराधना होती है। पृथ्वी पर सोने से तृणों में रहनेवाले जन्तुओं को बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि भिक्षा के लिये पूरे ग्राम में भ्रमण करने से जीविकाय की महती विराधना होती है। घर के पात्रों में भोजन करने में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना और हाथ में भोजन करनेवाले को परिशातनदोष का भागी बतलाना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाला कोई नहीं है, ऐसी बात करना। इस तरह की बातें करनेवाले मुनि स्वच्छन्द कहलाते हैं। (इन्हीं का नाम यथाछन्द या मृगचरित्र है)।”

आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में कहा है कि इन पासत्थ आदि पाँच प्रकार के मुनियों का अस्तित्व अनादिकाल से पाया जाता है—

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणोयवाराओ।

भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभाव-बीएहिं ॥ १४ ॥

अनुवाद—“हे मुनि! तूने अनादिकाल से अनेक बार पार्श्वस्थ आदि भावनाओं का चिन्तन कर कुभावनारूप बीजों के द्वारा दुःख प्राप्त किया है।

कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में ऐसे मुनियों को लौकिक मुनि की भी संज्ञा दी है—

णिगग्गो पव्वइदो वडुदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि ॥ २/६९ ॥

अनुवाद—“निर्ग्रन्थदीक्षा लेकर भी यदि मुनि ऐहिक (लौकिक) कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो संयम-तप युक्त होते हुए भी उसे लौकिक (मुनि) कहा गया है।”

ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, वैद्यक आदि लौकिक जीवन के उपाय ऐहिककर्म कहलाते हैं—

“ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनानाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिष-मन्त्रवादि-वैदिकादिभिरैहिक-जीवनोपायकर्मभिः।” (ता.वृ/प्र.सा.३/६९)।

इस प्रकार के पासत्थ-कुसीलादि या लौकिक मुनि कुन्दकुन्द के समय में भी थे, यह लिंगपाहुड की निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होता है—

जो जोडदि विच्चाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण॥ ९॥

अनुवाद—“जो जिनलिंग धारण कर दूसरों के विवाहसम्बन्ध जोड़ता है तथा कृषि एवं वाणिज्य करके जीवघात करता है, वह पापी नरक में जाता है।”

इस प्रकार मन्दिरों और मठों में नियतवास करनेवाले तथा कृषि-वाणिज्य, मंत्रतंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले दिगम्बरमुनियों की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी। उनके भ्रष्टचरित्र के कारण आगम में उन्हें पार्श्वस्थ, कुशील, लौकिकमुनि आदि नामों से वर्णित किया गया है।

३.६. सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में ‘भट्टारक’ शब्द के प्रचलन की कथा

ईसा की बारहवीं सदी में उक्त पासत्थादि भ्रष्ट मुनियों में से अधिकांश ने जिनलिंग का परित्याग कर नियमितरूप से वस्त्र धारण करना शुरू कर दिया, गद्दों पर सोने लगे और कम्बल ओढ़ने लगे। इसके दो कारण थे। पहला काम को न जीत पाने के कारण कदाचित् उत्पन्न हुयी शारीरिक विकृति को छिपाना और शीतादि-परीषहों की पीड़ा से बचना। शीतादि की पीड़ा से बचने के लिए तृणमय-प्रावरण का प्रयोग तो मन्दिर मठवासी पासत्थादि मुनियों एवं मुनिपद के अयोग्य अन्य मुनियों के द्वारा पहले ही किया जाने लगा था। इसकी सूचना परमात्मप्रकाश के व्याख्याकार श्री ब्रह्मदेव (११वीं शती ई०) के निम्नलिखित कथन से मिलती है—

“विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपः पर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपान-संयम-शौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति।” (प.प्र./अधिकार २/दोहा ८९)।

अनुवाद—विशिष्ट संहननादिशक्ति के अभाव में यद्यपि तप के साधनभूत शरीर

की स्थिति के लिए मुनि अन्न, पान, संयम, शौच और ज्ञान के उपकरण (पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र) तथा तृणमय प्रावरण (तिनकों से बना हुआ चादर) आदि ग्रहण करता है, तथापि उनमें ममत्व नहीं करता।”

ईसा की १२वीं शताब्दी में इन देहसुख-लोलुप पासत्थादि भ्रष्ट मुनियों ने निःसंकोच होकर वस्त्र पहनना-ओढ़ना शुरू कर दिया।

ऐसा करने का दूसरा कारण यह था कि देश के मुस्लिमशासित राज्यों में दिगम्बर जैन मुनियों पर मुसलमानों के द्वारा उपसर्ग किया जाता था। इस कारण से भी मन्दिर-मठवासी मुनियों ने पहले बाहर निकलते समय शरीर को चटाई, टाट आदि लपेटकर ढँगना आरंभ किया, पश्चात् ईसा की १२वीं सदी में वे जिनलिंग का सर्वथा परित्याग कर नियमितरूप से वस्त्र पहनने लगे। (देखिये, आगे 'दंसणपाहुड' की २४वीं गाथा की श्रुतसागरटीका)।

मन्दिर-मठवासी पासत्थादि मुनियों के इस वेशपरिवर्तन में भी एक विशेषता थी। उन्होंने जिनलिंग का परित्याग तो कर दिया, किन्तु पिच्छी-कमण्डलु का त्याग नहीं किया, पिच्छी-कमण्डलु रखते हुए लुंगी-चादर धारण करने लगे। उनका यह लिंग दिगम्बरमुनि, एलक, क्षुल्लक और सामान्य श्रावकों से भिन्न था। इस लिंग में वे जैनेतर साधुओं जैसे दिखते थे। इसलिए यह एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग था। किन्तु जिनागम के अनुसार यह गृहस्थलिंग ही था। इस सर्वांगवस्त्रमय गृहस्थलिंग को धारण करके भी वे मठ-मन्दिरों में पूर्ववत् निवास करते हुये, वे ही गृहस्थकर्म करते रहे, जो पासत्थादि मुनि-अवस्था में करते थे। यह परिवर्तन कथंचित् अच्छा था और कथंचित् बुरा। इसमें अच्छी बात यह हुई कि वे उन पापों से बच गये, जो जिनलिंग में रहते हुए गृहस्थकर्म करने से हो रहे थे और जिनलिंग भी कलंकित होने से बच गया। आदिपुराण (१७/२१२) में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार स्वामिभक्त राजाओं ने भी मुनिदीक्षा ग्रहण की थी, किन्तु वे उसके योग्य नहीं थे, इसलिए परीषहों से घबराकर स्वयं ही वृक्षों के फल तोड़कर खाने लगे और तालाबों का जल पीने लगे। तब वनदेवियों ने उनकी निन्दा करते हुए कहा—“अरे मूर्खों! यह जिनलिंग अरहन्तों और चक्रवर्तियों के द्वारा अवलम्बनीय होने से अत्यन्त पूज्य है। इसमें रहते हुए तुम इसके विरुद्ध आचरण कर इसे निन्दा का पात्र मत बनाओ।” तब उन मुनियों ने जिनलिंग का परित्याग कर दिया और अन्य साधुओं का वेश धारण कर अपनी क्षुधा-तृषा शान्त करने लगे। (आदिपुराण/१८/५१-५७) इस प्रकार वे उन घोर पापों से बच गये, जो जिनलिंग में रहते हुए उसके विरुद्ध आचरण करने से संभव थे। यद्यपि उनका दूसरा मार्ग भी मिथ्यात्वमय होने से पापास्रव

का हेतु था, पर उतना अधिक नहीं, जितना पहलेवाला था, क्योंकि आचार्य ने कहा है—

अन्यलिङ्गकृतं पापं जिनलिङ्गेन मुच्यते।

जिनलिङ्गकृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

अनुवाद—“अन्य लिङ्ग में रहकर किया गया पाप जिनलिङ्ग धारण करने से छूट जाता है, किन्तु जिनलिङ्ग में रहकर किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है, अर्थात् किसी भी अन्य लिङ्ग से नहीं छूटता।” (मो.पा./गा.७८/श्रुतसागरटीका में उद्धृत)।

यही अच्छी घटना उन पासत्थादि-मुनियों के साथ घटित हुई थी, जिन्होंने योग्यता के अभाव में जिनलिंग का परित्याग कर गृहस्थलिंग धारण कर लिया था। किन्तु इस अच्छे कार्य के साथ जो बुरा कार्य उन्होंने किया, वह यह था कि गृहस्थावस्था स्वीकार करके भी पिच्छी-कमण्डलु का परित्याग नहीं किया और ऐसे वस्त्र धारण किये जिससे वे जैनेतर साधु जैसे लगते थे। और इस साधु-सदृश छवि के द्वारा उन्होंने धर्मगुरु का पद हथिया लिया। इस प्रकार दिगम्बरपरम्परा में उन्होंने साधु का एक आगमविरुद्ध नया प्रकार प्रक्षिप्त कर दिया और उसे साधुपद के रूप में श्रावकों से मान्यता दिलाने के लिए अपने लिए स्वामी, जगद्गुरु, कर्मयोगी, पण्डिताचार्य जैसी उपाधियों का प्रयोग प्रचलित किया।

जिनलिंग धारण करने की सामर्थ्य न होने पर उसे धारण न करना उचित है और धारण करने के बाद पता चले कि उसका पालन करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है, तो उसे छोड़ देना उचित है, किन्तु यह याद रखना चाहिए कि मोक्ष जिनलिंग से ही संभव है, अतः उसकी योग्यता विकसित करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा उसका पालन संभव बनाने के लिए योग्य देश की खोज और अनुकूल समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। साथ ही परिस्थितियों को अपनी लक्ष्यसिद्धि के अनुकूल बनाने का पौरुष करते रहना चाहिए। किन्तु यह उचित नहीं है कि जिनलिंग का परित्याग कर एक नये सवस्त्र लिंग को साधुलिंगवत् मान्यता दिलाकर अपने को दिगम्बर-जैन धर्मगुरु के पद पर बैठा दिया जाय और भोले श्रावकों को देवी-देवताओं एवं निरर्थक कर्मकाण्ड के मायाजाल में फँसाकर वास्तविक धर्म से वंचित किया जाय और उनकी श्रद्धा तथा धन का शोषण किया जाय। यह मायाचार है और यह भी पाप का कारण है। पासत्थादि मुनियों के द्वारा जिनलिंग का परित्याग जहाँ एक अच्छा कार्य था, वहीं एक जिनोपदेशविरुद्ध मिथ्या सवस्त्र साधुलिंग का जैनपरम्परा में प्रक्षेप बुरा कार्य था। फिर भी इस लिंग से किया गया पाप वैसा वज्रलेपात्मक नहीं होता, जैसा जिनलिंग से किया गया पाप होता है।

जिन पासत्थादि मुनियों ने जिनलिंग का परित्यागकर अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण किया था, वे अब जिनलिंग के अभाव में मुनि तो कहला नहीं सकते थे, एलक-क्षुल्लक के लिंगों से रहित होने के कारण इन नामों से भी उन्हें सम्बोधित किया जाना संभव नहीं था, इसलिए उन्होंने अपने नवोदित भ्रष्ट सम्प्रदाय को भट्टारक-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने सम्बोधन के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रचलित कर दी। यह शब्द परम्परा से उन्हें सुलभ भी था। 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग दिगम्बर मुनियों के लिए आदरसूचनार्थ प्रयुक्त होता आ रहा था। पासत्थादि दिगम्बर मुनियों के अजिनोक्त सवस्त्र साधुलिंग धारण कर लेने के बाद भी भोले श्रावक उन्हें आदरसूचनार्थ 'भट्टारक जी' कहकर पुकारते रहे। फलस्वरूप यह शब्द उनके सम्बोधन के लिए रूढ़ हो गया। इस प्रकार जो शब्द पहले श्रद्धास्पदता और पूज्यता का अभिव्यंजक था, वह अब मुनिपद से पतित, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगधारी, गृहस्थदशापन्न, नवोदित, अवास्तविक धर्मगुरु का वाचक बन गया।

३.७. 'भट्टारक' शब्द का अर्थापकर्ष ईसा की १२वीं सदी में

भट्टारक शब्द के अर्थापकर्ष (पूज्यतार्थ से हीनतार्थ द्योतक बन जाने) की यह तकदीर ईसा की १२वीं सदी में लिखी गयी। अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु के अर्थ में भट्टारक शब्द का प्राचीनतम उल्लेख बुन्देलखण्ड के दिगम्बर जैन तीर्थ अहार (म.प्र.) में वि० संवत् १२१३ के श्री सुमतिनाथ-प्रतिमा-लेख में मिलता है, जो इस प्रकार है—

“संवत् १२१३ भट्टारक स्त्री माणिक्यदेव गुण्यदेवी प्रणमति नित्यम्।”

अनुवाद—“विक्रमसंवत् १२१३ (ई० सन् ११५६) में भट्टारक श्री (स्त्री) माणिक्यदेव और गुण्यदेव (प्रतिमा-प्रतिष्ठा कराकर) नित्य प्रणाम करते हैं।”

'प्रणमति' के स्थान में 'प्रणमतः' होना चाहिए था। किन्तु प्रायः सभी प्रतिमालेख टूटी-फूटी संस्कृत में लिखे गये हैं।

यह लेख डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन' के 'भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थपरिचय मध्यप्रदेश : १३वीं शती तक' ग्रन्थ (लेख क्र. १४६/पृ.१६७) से उद्धृत है।

इसके बाद अहार (म.प्र.) के ही वि० संवत् १२१६ के श्री शान्तिनाथ-प्रतिमालेख में 'भट्टारक' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

“सम्बत् १२१६ माघ सुदि १३ सु (शु) क्र दिने श्रीमत कुटकान्वये पंडित श्री मंगलदेव तस्य सिस्य भट्टारक पद्मदेव---वस। तस्य---।”

अनुवाद—“संवत् १२१६ माघ सुदी त्रयोदशी शुक्रवार के दिन श्रीमत्कुटकान्वय में प्रसूत पंडित श्री मंगलदेव, उनके शिष्य भट्टारक पद्मदेव, उनके शिष्य---ने (प्रतिष्ठा करायी)।”

(डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन सुमन के उपर्युक्त ग्रन्थ से उद्धृत/लेख क्र० १६०/पृष्ठ १७८)।

दिगम्बरजैन बड़ा मन्दिर, छतरपुर (म.प्र.) में संवत् १२७२ के श्री ऋषभनाथ-प्रतिमालेख में भट्टारक श्री धर्मचन्द्र जी के निर्देशन में छतरपुरवासी सहनिका वीसलचन्द्र और भारीनाथ के द्वारा उक्त प्रतिमा के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है—

‘सं० १२७२ वर्षे माघसुदी ५ श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छ भट्टारक श्री धर्मचन्द्र जी सहनिका वीसलचन्द्र भारीनाथ सातासारग उरणथता श्री राजराव हमीरदेव।’ (कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख/क्र.४/पृ.२६)।

इसी मन्दिर में इन्हीं भट्टारक जी के प्रतिष्ठाविधि-निर्देशन में संवत् १२७२ में भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापित किये जाने के प्रतिमालेख उपलब्ध हैं।^{८४}

छतरपुर (म.प्र.) के इसी दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर में उपलब्ध संवत् १३१० के एक यंत्रलेख में भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति का इस प्रकार उल्लेख है—

‘संवत् १३१० माह सुदी ५ गुरौ मूलकलंकणेरनन्दाग्नाये बलात्कारगणे सरस्वती-गच्छे कुन्दकुन्दाचार्याग्नाये भट्टारक स्त्री नरेन्द्रकीर्ति तदाग्नाये खण्डेलवालान्ये (न्यये) सादगोत्रे संसक पाटणी गोत्रे संपतदास प्रतिष्ठाप्यां (यां) अजमेर गोत्रे श्रावक स्त्री नित्यं प्रणम(मं)ति।’

अनुवाद—“संवत् १३१० माघ सुदी पंचमी गुरुवार को मूलसंघ के अकलंक (निष्कलंक) नन्दी आग्नाय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दान्वय में भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति, उनके आग्नाय में खंडेलवाल-अन्वय और सादगोत्र के संसक, पाटनीगोत्र के संपतदास तथा अजमेरागोत्र के श्रावक श्री --- (प्रतिष्ठा कराकर) नित्य प्रणाम करते हैं।”

(डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन ‘सुमन’ के उपर्युक्त ग्रन्थ से उद्धृत। लेख क्र० २६७/पृ. २६९। यह यंत्रलेख श्री कमलकुमार जैन के ‘जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख’ ग्रन्थ में पृष्ठ ६८ पर संकलित है।)

८४. कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख/क्र.५ एवं ६/पृ. २६।

इन प्रतिमालेखों से सिद्ध होता है कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शती में हुआ था। अर्थात् इसी सदी में पासत्थादि दिगम्बरजैन साधु नग्नत्व त्यागकर जैनेतर साधु जैसे वस्त्र धारण करने लगे थे और इसी सवस्त्र वेश में जैनों के धर्मगुरु बन कर उन्होंने अपने को भट्टारक नाम से प्रसिद्ध किया था।

पं० नाथूराम जी प्रेमी का भी यही मत है कि जब से चैत्यवासी या मन्दिरवासी दिगम्बरमुनि वस्त्र (अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग) धारण करने लगे, तभी से भट्टारकप्रथा प्रारंभ हुई। और उक्त लिंग धारण करने की प्रथा भट्टारक श्रुतसागर सूरि के कथनानुसार विक्रम सं० १२६४ में चैत्यवासी मुनि वसन्तकीर्ति ने चलायी थी। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रेमी जी लिखते हैं—

“दिगम्बर चैत्यवासियों के अन्तिम विकसित रूप भट्टारकों में यह परम्परा अब तक रही है कि वे और समय तो वस्त्र पहिने रहते हैं, परन्तु आहार के समय उतारकर अलग रख देते हैं। यह इस बात का सबूत है कि पहले वे बिल्कुल नग्न रहते थे और निरन्तर वस्त्रधारण करने की प्रवृत्ति उनमें पीछे शुरू हुई।

“विक्रम की सोलहवीं सदी में श्रुतसागर ने लिखा है कि कलिकाल में म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियों को नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डप दुर्ग (मांडू) में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने उपदेश दिया कि मुनियों को चर्या आदि के समय चटाई, टाट आदि से शरीर को ढँक लेना चाहिए और फिर चर्या के बाद चटाई आदि को छोड़ देना चाहिए। यह अपवादवेष है।

“कोऽपवादवेषः? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति। तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वाभिना चर्यादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः” (श्रुतसागरटीका / दंसणपाहुड / गा.२४)।

“मूलसंघ की गुर्वावली में चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारकों के जो नाम दिये हैं, उनमें वसन्तकीर्ति का नाम आता है, जो वि० संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं। उस समय उस तरफ मुसलमानों का आतंक भी बढ़ रहा था। शायद इन्हीं को श्रुतसागर ने इस अपवादवेष का प्रवर्तक बतलाया है। अर्थात् विक्रम की तेरहवीं सदी के अन्त में दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय लज्जानिवारण के लिए चटाई आदि का उपयोग करने लगे थे।

“वि० सं० १२९४ में (श्वेताम्बरमुनि) महेन्द्रसूरि ने शतपदी नामक संस्कृत ग्रन्थ की रचना की है, जो प्राकृत शतपदी का अनुवाद है। प्राकृत ‘शतपदी’ सं० १२६३

में बनी थी और उसके कर्ता धर्मघोष थे। उसमें दिगम्बरमत-विचार नाम का एक अध्याय है, जिसमें स्त्रीमुक्ति, प्रतिमाश्रृंगार, मुनियों का पाणिपात्रभोजन और वस्त्रग्रहण आदि विषयों को लेकर दिगम्बरसम्प्रदाय की आलोचना की गई है।” (जै.सा.इ.—प्रेमी / द्वि.सं. / पृ. ४८९-९०)।

उक्त दिगम्बरमत-विचार में दिगम्बर साधुओं को लक्ष्य करके जो बातें कही गयी हैं, उनसे इस बात का पता लगता है कि विक्रम की तेरहवीं सदी में दिगम्बर मुनियों का चरित्र कैसा था। उसकी कुछ बातें पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जैनहितैषी में अर्थसहित प्रकाशित की थीं। उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

“१. यदि च दिग्वासस्तत्कथं सादरिकापरियोगपट्टकान् गृह्णन्ति यदि तु पञ्चमकाल-त्वात् लज्जापरिषहासहिष्णुतया च आवरणमपि गृह्णन्ति ततः कथं न परिदधति। नहि प्रावरणमुत्कलं परिधानं च निषिद्धमित्यस्ति क्वापि। अन्यच्च प्रावरणमपि प्रासुकेनैव वस्त्रेण यथालब्धेन किमिति न क्रियते, किमिति रजकादिहस्तेन हृदसरःप्रभृतिषु सशैवालद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-जीवाकुलेन क्षालनमनेकसत्त्व-संघातविघातकेनाशोधितेन्धनप्रज्वालितेन वह्निना रज्जनादिकं विधाप्यते।

अनुवाद—“यदि तुम दिगम्बर हो तो चटाई तथा योगपट्ट (लज्जानिवारक आवरण) क्यों रखते हो? यदि कहो कि पंचमकाल होने के कारण तथा लज्जापरीषह का सहन नहीं हो सकने के कारण रखते हैं, तो फिर उसे निरंतर ही क्यों नहीं पहिनते हो? क्योंकि ऐसा तो कहीं कहा ही नहीं है कि आवरण वा योगपट्ट रखना, परंतु पहिरना नहीं। और वह आवरण जैसा मिल जाय वैसा प्रासुक वस्त्र लेकर क्यों नहीं बनाते हो? धोबी आदि के हाथ से जीवमय नदियों, तालाबों में क्यों धुलाते हो, तथा बिना शोधे ईंधन से जलाई हुई आग के द्वारा उसको रँगाते क्यों हो?

“२. स्वभावसिद्धं सुलभं अल्पमूल्यं च श्वेतकल्पं विना शीतकाले अनन्यसम-महासावद्यां सर्वत आधारसत्त्वज्वलनाधारामङ्गारशकटीं भजन्ते। शुषिरं सबीजं च संस्तर-णाद्यर्थं पलालमाश्रयन्ति। तैलाभ्यङ्गं च निषिद्धं कारयन्ति। जिनभवनगूढमण्डपादिष्वप्याशात-नामगणयन्तः शीतभयाच्छेरते। ग्लानत्वे च गृहस्थसम्बन्धीन्यप्रत्युपेक्षतानि प्रमाणाधिकानि यतिजनायोग्यानि पटीद्विपटीबोरकरल्लिकादीनि प्रावृण्वन्ति।

अनुवाद—“बिना कपड़े के (तुममें से बहुत से साधु) शीतकाल में महान् पाप की करनेवाली अग्नि की अँगीठी का सहारा लेते हैं, बीजयुक्त और बिना बीज के पयाल के बिछौने का आसरा लेते हैं, तैल की मालिश, जो साधुओं के लिये वर्जित है, कराते हैं, अविनय होने का कुछ भी विचार नहीं रखके जिनमंदिर के गूढमण्डप (गर्भालय) में सोते हैं। इसके सिवाय गृहस्थों के बर्ते हुए, साधुओं के

अयोग्य तथा बिना शोधे हुए धोती, दुपट्टा, बोरक आदि बहुत से वस्त्र भी ओढ़ लेते हैं।

“३. तीर्थङ्करानुकारमिच्छतां मठे निवसनमाधाकर्मकादिभोगं तृणपटीपरिधानं पिच्छिकाकमण्डलुधारणं छद्मस्थानां धर्मदेशनां शिष्यशिक्षादीक्षादिकं सर्वमविधेयं स्यादिति।

अनुवाद—“यदि तुम कहो कि, हम तीर्थकर के अनुयायी हैं, वे वस्त्र नहीं रखते थे, इसलिये हम भी नहीं रखते हैं, तो फिर मठों में रहना, आधाकर्म सेवन (?) तृण की लँगोटी लगाना, मोरपिच्छ तथा कमंडलु रखना, छद्मस्थ होकर धर्म का उपदेश देना, और शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा देना आदि कार्य तुम्हें नहीं करना चाहिये।

“४. यदि च भवतां जिनकल्पानुकारः सर्वथा परिग्रहपरित्यागो वा तत्किमिति अप्रत्युपेक्षणीयम्? शैवालाविलं नलिकामात्रद्वारमहोरात्रमपि जलसन्निधिदोषेण रात्रिभोजनस्य परिग्रहव्रतस्य च दूषणकारिपित्तलताम्रलोहमयशृंखलाषट् वा (?) कमण्डलुः दुःप्रत्युपेक्षितापिच्छिकावस्त्रोपानहश्च परिगृह्यन्ते कथं वा? पुस्तक-पुस्तिका-कपरिका-स्थपनिका-पुस्तकपटयोगपट्टकासनपट्ट-तृणपटी-खदिरवटिका-नालिकेरानानाविधौषधसन्निधयो ध्रियन्ते? अथैतावान् परिग्रहः पञ्चमकालत्वाद् ध्रियते तर्हि संयमोपष्टम्भकेन लज्जाशीतत्राणादिहेतुना वर्षासु अप्कायादि-यतनकारिणा धर्मोपकरणेन वस्त्रादिनापि किमपराद्धम्? कथं च जिनकल्पानुकारिणमात्मानं मन्यमाना अपि स्त्रीभिश्चरणप्रक्षालनादिकमार्यिकाभिः सहैकत्रवासः चैत्यनिवासः आर्यिकाभिर्भक्तसंस्कारः सुखासनादिपरिभोगः ज्योतिर्निमित्तचिकित्सामन्त्रवाद-धातुर्वादार्षकाण्डक्षुद्रविद्यादिप्रयोजनः सचित्तपुष्पपत्रैः पादाभ्यर्चनं सचित्तजलघृष्टचन्दनेन पादानुलेपनं कुङ्कुमादिना चरणाङ्गरागः कनकरजतादिभिश्चरणपूजनं सचित्तजलेन चरणप्रक्षालनं दुग्धघृत-चिक्कसाभिश्चरणस्नानं सदसि व्याख्यानं शिष्यदीक्षणं बहुसाधुमध्ये निवसनं सदैवैकत्रावस्थान-मित्यादीनि कुर्वन्ति?

अनुवाद—“यदि आप जिनकल्पी मुनियों का अनुकरण करनेवाले हैं, तो सर्वथा परिग्रह का त्याग क्यों नहीं करते हैं? पीतल, ताँबे, लोहे की साँकलवाले कमंडलु को, जो शैवाल अर्थात् काई से गन्दा रहता है, एक टोंटीवाला होता है, रात-दिन पानीयुक्त रहने से रात्रिभोजनव्रत में अतीचार लगाता है और परिग्रहत्यागव्रत को दूषित करता है, क्यों रखते हो? पिच्छिका क्यों लेते हो? कपड़े के जूते क्यों पहिनते हो? ग्रन्थ, पोथी, कपरिका (?), स्थपनिका (ठौणा), पुस्तकपट्ट (वेष्टन), योगपट्ट (लज्जानिवारक आवरण), चटाई, तृणकी लँगोटी, और खदिरबटी, नारियल आदि नानाप्रकार की औषधियाँ क्यों पास में रखते हो? यदि यह सब परिग्रह पंचमकाल के कारण रखते हो, तो संयम के सहायक, लज्जा तथा शीत से बचानेवाले, और वर्षा में जलकाय के जीवों की रक्षा करनेवाले वस्त्रादि धर्मोपकरणों ने तुम्हारा क्या अपराध किया है? अर्थात् कपड़ा

क्यों नहीं रखते हो? और जब तुम अपने को जिनकल्पी मुनियों का अनुकरण करनेवाले मानते हो, तब स्त्रियों से चरण-प्रक्षालन कराना, अर्जिकाओं के साथ एक स्थान में रहना, मंदिरों में रहना, अर्जिकाओं से भोजन बनवाना, पालकी आदि पर चढ़ना, ज्योतिष, निमित्त, चिकित्सा, मंत्रवाद, धातुवाद, अर्धकांड (?) आदि क्षुद्र विद्याओं का प्रयोग करना, सच्चित्त फूलपत्र, सच्चित्त जल से घिसा हुआ चंदन, केसर, सोना, चाँदी, घी, दूध आदि पदार्थों से पैर पुजवाना, सभाओं में व्याख्यान देना, शिष्यों को दीक्षा देना, बहुत से साधुओं में रहना, सदैव एक ही स्थान में रहना आदि अनुचित कार्य क्यों करते हो?

“शतपदी के उपर्युक्त अवतरणों से इस बात का पता लगता है कि विक्रम संवत् १२९४ में, जब कि शतपदी रची गई है, बल्कि उससे भी १०-५० वर्ष पहिले दिगम्बरसम्प्रदाय के साधु जो कि पीछे से अधिकारप्राप्त भट्टारकों के रूप में परिणत हो गये थे, प्रायः भट्टारकों सरीखा ही आचरण करते थे। वे निरंतर वस्त्र तो नहीं पहिनते थे, तथापि लज्जानिवारण करने के लिये एक रंगीन आवरण रखते थे, घास की लँगोटी भी लगाते थे, शीत से बचने के लिए कोई तैल लगवाते थे, वा पयाल आदि का आसरा लेते थे, मन्दिरों में रहते थे, अर्जिकाएँ भी वहीं रहती थीं, कभी-कभी अर्जिकाओं से भोजन बनवा लेते थे, चटाई रखते थे, ज्योतिष, मंत्र, निमित्तज्ञानादि के भी प्रयोग करने लगे थे, पालकियों पर चढ़ते थे, और दवाइयाँ रखते थे। इस तरह मुनिपद के अयोग्य बहुत से काम करने लगे थे।

“हमारे बहुत से पाठक कहेंगे कि एक भिन्नसम्प्रदायी लेखक की लिखी हुई ये बातें कैसे प्रमाण मान ली जावें? क्या आश्चर्य है, जो उसने दिगम्बरसम्प्रदाय की निंदा करने के अभिप्राय से ही ये बातें लिखी हों। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि ग्रन्थकर्ता का मुख्य उद्देश्य उक्त बातें लिखकर दिगम्बरसम्प्रदाय की निंदा करने का नहीं है। उसने सिर्फ इस बात को बतलाने का प्रयत्न किया है कि तुम्हारी जो वर्तमान वृत्ति है, वह तुम्हारे ही शास्त्रों के अनुकूल नहीं है, और इसकी अपेक्षा तो श्वेताम्बरवृत्ति ही अच्छी है। यह हो सकता है कि उसने इन बातों के लिखने में थोड़ा बहुत अत्युक्ति से काम लिया होगा, परन्तु यह संभव नहीं है कि, जो बातें उस समय नहीं थीं, उनका उसने झूठा उल्लेख कर दिया हो। उसकी दी हुई युक्तियाँ ठीक नहीं हों, उनका खंडन हो सकता हो, वे उसने पक्षपात के वश ही लिखी हों, यह सब कुछ हो सकता है, परन्तु यह नहीं हो सकता है कि सर्वथा वस्त्ररहित दिगम्बर साधुओं को वह यह कह दे कि तुम योगपट्ट वा वस्त्र रखते हो।

“वि० सं० १२९४ के लगभग की उक्त बातों से हमारा यह विचार भी पुष्ट होता है कि मुनिमार्ग में शिथिलता बराबर क्रम-क्रम से बढ़ती हुई चली आई है।

पन्द्रहवीं सदी में जब भट्टारकों की स्थापना हुई थी, तब वे वस्त्र धारण करने लगे थे, बल्कि ऐसा कहना चाहिये कि मुख्यतया वस्त्रों को धारण करके ही भट्टारक हुए थे। परन्तु शतपदी के लेख से ऐसा मालूम पड़ता है कि तेरहवीं शताब्दी के साधु लज्जानिवारण के लिये कभी-कभी योगपट्ट से कटिभाग को आच्छादित कर लेते थे, पर हर समय वस्त्र नहीं पहिनते थे। तेरहवीं शताब्दी में चटाई, योगपट्ट, पुस्तकपट्ट, औषधियाँ आदि थोड़ा सा परिग्रह रखते थे, परन्तु पन्द्रहवीं और उसके पीछे की शताब्दियों में सैकड़ों परिग्रह रखने लगे थे। पहिले बहुत से साधुओं के संघ में रहते थे, पीछे जुदी-जुदी गद्दी स्थापित करके अकेले ही रहने लगे थे। इस तरह चारित्र की शिथिलता के क्रम का पता 'शतपदी' के समय की और भट्टारकों के समय की हालत का मिलान करने से अच्छी तरह से लगता है।^{८५}

प्रेमी जी 'शतपदी' में वर्णित उपर्युक्त बातों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विक्रम सं० १२९४ के १०-५० वर्ष पहले से मठवासी मुनि यदा-कदा योगपट्ट और तृण-कौपीन धारण करने लगे थे और यह प्रवृत्ति विक्रम की १५ वीं शताब्दी में नियमित रूप से वस्त्र धारण करने में परिणत हो गई। यही भट्टारकसम्प्रदाय की स्थापना का प्रारंभ था। श्रुतसागर सूरि के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है। उन्होंने कहा है कि वि० सं० १२६४ में श्रीवसन्तकीर्ति ने मुनियों को यह उपदेश दिया था कि आहारादि के लिए जाते समय कटिभाग को चटाई आदि से ढँक लेना चाहिए और बाद में उसे अलग कर देना चाहिए। तात्पर्य यह कि उस समय मठवासी मुनि यदा-कदा ही कटिभाग को आवृत करते थे, सदा नहीं। नियमित रूप से वस्त्र-परिधान की प्रवृत्ति ने ही भट्टारकसम्प्रदाय को जन्म दिया। इसके समर्थन में प्रेमी जी ने एक अनुश्रुति या दन्तकथा भी प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—

“यद्यपि किसी प्रामाणिक ग्रन्थ से इस बात का पता नहीं लगता है कि भट्टारकों की उत्पत्ति कैसे और कब हुई है, परन्तु ऐसी एक दन्तकथा है और शायद भाषा के किसी ग्रन्थ में भी उसका उल्लेख है कि बादशाह फीरोजशाह के समय में (वि० संवत् १४०७ से १४४४) भट्टारक स्थापित हुए हैं। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि बादशाह के दरबार से एक बार ऐसी आज्ञा हुई थी कि दिगम्बर जैनियों को अपने गुरु लाना चाहिये और अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करनी चाहिये, नहीं तो उनके हक में अच्छा नहीं होगा। तदनुसार कुछ दिगम्बरी जैनी कुछ दिन की मुहलत लेकर खोज में निकले और दक्षिण प्रान्त से एक प्रभावशाली मुनि को

८५. 'जैनहितैषी' भाग ७ / अंक ९ / आषाढ़, वीर नि.सं. २४३७ (ई० सन् १९१०) / पृ. १३-

धर्मरक्षा की प्रार्थना करके ले गये। मुनि बड़े विद्वान् थे और मंत्रवादी भी थे, इसलिये उन्होंने अपनी विद्वत्ता से तथा करामात से बादशाह के हृदय में दिगम्बरसम्प्रदाय का महत्त्व स्थापित कर दिया। कहते हैं कि उस समय बादशाह की बेगमों ने उक्त प्रभावशाली मुनि के दर्शनों की इच्छा प्रगट की और उसकी पूर्ति के लिये बादशाह ने तथा दूसरे लोगों ने मुनिराज से कुछ समय के लिये कटिभाग को वस्त्राच्छादित करने की प्रार्थना की। बादशाह के दबाव से कहिये या समय के प्रभाव से कहिये, मुनि ने वस्त्र धारण कर लिया और बेगमों ने उनके दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझा। इसके पश्चात् मुनिराज तो वहाँ से विदा हो गये और वस्त्र त्यागकर तथा छेदोपस्थापना करके तपस्या करने लगे, परन्तु लोग इस उदाहरण को लेकर मुनियों में वस्त्र धरण करने की विधि प्रचलित करने की कोशिश करने लगे और समय ने उन्हें इस प्रयत्न में सफलता भी प्रदान की। धर्मपट्ट स्थापित होने लगे और उनमें मुनि लोग वस्त्रपरिधान करके गृहस्थों को धर्म का उपदेश देने लगे। ये ही लोग भट्टारकों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। पहला पट्ट देहली में स्थापित हुआ और फिर जयपुर, ग्वालियर, ईडर (महीकांठा), सोजित्रा (सूरत), नागौर, मलखेड (हैदराबाद), कोल्हापुर, कारंजा, मूडबिद्री आदि अनेक स्थानों में जुदे-जुदे संघों और गच्छों के पट्ट स्थापित हो गये, जिनमें से बहुत से अब भी मौजूद हैं।

“भट्टारकों की उत्पत्ति के विषय में ऊपर जिस कथा का सारांश दिया है, उसका इतना भाग तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक मान सकते हैं कि भट्टारकों का जो वर्तमान रूप है, उसकी फीरोजशाह के समय में प्रतिष्ठा हुई और वे जैनियों के अधिकार-प्राप्त गुरु कहलाने लगे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके पहिले वस्त्रधारी मुनि नहीं थे और निर्ग्रन्थमार्ग अक्षुण्ण भाव से चल रहा था।”^{८६}

यहाँ प्रेमी जी के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि “धर्मपट्ट स्थापित होने लगे और उनमें मुनि लोग वस्त्रपरिधान करके गृहस्थों को धर्मोपदेश देने लगे। ये ही लोग भट्टारकों के नाम से प्रसिद्ध हो गए।” इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि जिन मठवासी मुनियों ने अपना मुनिवेश छोड़ दिया और एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग धारण कर लिया तथा अन्य मुनियों से अलग होकर या उन्हें अलग कर रिक्त अथवा नये मन्दिर या मठ में स्वयं का एकाधिकार जमा लिया और उसे धर्मपीठ का नाम देकर, गृहस्थों के धर्मगुरु बनकर, धनोपार्जन करते हुए विलासितामय जीवन-यापन शुरू कर दिया, उन मुनिपद से भ्रष्ट पुरुषों ने अपने लिए अत्यन्त आदरसूचक भट्टारक उपाधि का प्रयोग किया और उनका ही सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय कहलाया।

यहाँ एक बात विचारणीय है। पं० आशाधर जी ने एक ओर जिनप्रतिमा और जिनगृह के साथ मठ (मुनियों के लिए वसतिका) तथा स्वाध्यायशाला (ग्रन्थालय) आदि के निर्माण की आवश्यकता बतलाई है, दूसरी ओर मठपति मुनियों को म्लेच्छवत् आचरण करनेवाला कहा है, इसका क्या रहस्य है? ^{८७} यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'मठ' शब्द का अर्थ है मुनियों की वसतिका। इसे पं० आशाधर जी ने श्रमणों की धर्मसाधना का आश्रमपद (निवास स्थान) भी कहा है। ^{८८} इसी दृष्टि से आचार्य जयसेन ने मठ-चैत्यालय आदि को व्यवहारनय से 'आश्रम' नाम दिया है। ^{८९} श्रमणों को कुछ विशेष स्थितियों में कुछ समय के लिए उपयुक्त स्थान पर स्थायी वास करने की आवश्यकता होती है, जैसे चातुर्मास काल में, संघ के किसी मुनि की सल्लेखना के समय, किसी विशिष्ट ग्रन्थ के लेखन या अध्ययन के समय तथा किसी विप्लव या उपद्रव के समय। इन अवसरों पर मुनियों का मठ-चैत्यालयों में दीर्घवास दोषपूर्ण नहीं है। किन्तु प्राचीनकाल में कुछ मुनि उनमें नियमितरूप से वास करने लगे और उन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया, खेतीबाड़ी और उससे उत्पन्न अनाज का व्यापार करना शुरू कर दिया। इस तरह का भ्रष्ट आचरण करनेवाले मुनियों को पं० आशाधर जी ने म्लेच्छों की उपमा दी है।

८७. क— निर्माणं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत्।
हिसारम्भविवर्तिनां हि गृहीणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥ २/३५ ॥ सागारधर्मांमृत।

ख—“अन्ये पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मुनिमानिनोऽवशिनोऽजितेन्द्रियः सन्तस्तां तथाभूता-
माहर्ती मुद्रां बहिःशरीरे न मनसि श्रिताः प्रपन्ना आविशन्ति सङ्क्रामन्ति विचेष्टयन्तीत्यर्थः।
कम्? लोकं धर्मकामं जनम्। किंचत्? भूतवद् ग्रहैस्तुल्यम्। अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो
मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति। लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थः। कया? तच्छायया
आहर्तगतप्रतिरूपेण। तथा च पठन्ति—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥”

भव्यकुमुदचन्द्रिका-टीका/अनगारधर्मांमृत २/९६ (जै. सा. इ. -प्रेमी/द्वि. सं./पृ. ४८८ से उद्धृत)।

८८. प्रतिष्ठा-यात्रादि-व्यतिकर-शुभस्वैरचरण-

स्फुरद्धर्मोद्धर्ष-प्रसर-रस-पूरास्त-रजसः।

कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं

न यत्राहंद्गोहं दलितकलि-लीलाविलसितम् ॥ २/३७ ॥ सागारधर्मांमृत।

८९. “मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहारश्रमाद्विलक्षणं भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य।” ता.वृ./प्र.सा.१/५।

प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने माना है कि १३वीं शताब्दी ई० में मठवासी मुनियों के वस्त्र धारण प्रारम्भ कर देने पर भट्टारकपरम्परा अस्तित्व में आयी थी। और उन्होंने भट्टारक परम्परा के दो ही प्रमुख लक्षण बतलाये हैं : मठवास और वस्त्रधारण वे लिखते हैं—

“साधुसंघ की साधारण स्थिति से यह परम्परा पृथक् हुई, इसका पहला कारण वस्त्रधारण था। भट्टारकपरम्परा का दूसरा विशिष्ट आचरण मठ और मन्दिरों का निवास स्थान के रूप में निर्माण और उपयोग था। इसी के अनुषंग से भूमिदान को स्वीकार करने और खेती आदि की व्यवस्था भी भट्टारक देखने लगे थे। --- इन दो प्रथाओं के कारण भट्टारकों का स्वरूप साधुत्व से अधिक शासकत्व की ओर झुका और अन्त में यह प्रकटरूप से स्वीकार भी किया गया। वे अपने को राजगुरु कहलवाते थे और राजा के समान ही पालकी, छत्र, चामर, गादी आदि का उपयोग करते थे। वस्त्रों में भी राजा के योग्य जरी आदि से सुशोभित वस्त्र रूढ़ हुए थे। कमण्डलु और पिच्छी में सोने-चाँदी का उपयोग होने लगा था। यात्रा के समय राजा के समान ही सेवक-सेविकाओं और गाड़ी-घोड़ों का इन्तजाम रखा जाता था तथा अपने-अपने अधिकार क्षेत्र का रक्षण भी उसी आग्रह से किया जाता था। इसी कारण भट्टारकों का पट्टाभिषेक राज्याभिषेक की तरह बड़ी धूमधाम से होता था। इसके लिए पर्याप्त धन खर्च किया जाता था, जो भक्त श्रावकों में से कोई करता था। इस राजवैभव की आकांक्षा ही भट्टारकपीठों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण रही।” (भट्टारकसम्प्रदाय / प्रस्तावना / पृ.४-५)।

इस प्रकार मान्य जोहरापुरकर जी का भी यही मत है कि सवस्त्रलिंग और मठवास ये दो ही भट्टारकसम्प्रदाय के असाधारणधर्म हैं, जो भट्टारकों को मठवासी मुनियों से पृथक् करते हैं।

पण्डित हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री वि० सं० १८०५ में लिखे गये^{९०} एक ऐतिहासिक पत्र^{९१} के आधार पर भट्टारक सकलकीर्ति (वि० सं० १४४३-१४९९) का जीवन परिचय देते हुए लिखते हैं—“यतः ऐतिहासिक पत्र में २२ वर्ष नग्न रहने का स्पष्ट उल्लेख है और (‘भट्टारकसम्प्रदाय’ ग्रन्थ के) लेखांकों (३३१-३३४) के अनुसार सं० १४९७ तक प्रतिष्ठादि कराना भी सिद्ध होता है, उससे यही सिद्ध होता है कि सकलकीर्ति अपने जीवन के अन्तिमकाल में भट्टारकीय वेश के अनुसार वस्त्रधारी हो गये थे।” (वर्धमानचरित / प्रस्ता. / पृ. ६)।

९०. मिलापचन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली / द्वितीयभाग / पृ०१४०।

९१. “आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छविमती संस्थाह तथा तीवारे संयम लेई वर्ष ८ गुरापासे रहीने व्याकरण २ तथा ४ काव्य ५ तथा न्यायशास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्र गोम्मटसार

इन पंक्तियों में पण्डित जी ने भी मठवास के साथ वस्त्रधारण को ही भट्टारकप्रथा के प्रारम्भ का प्रमुख हेतु बतलाया है। किन्तु प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने भट्टारक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की १३वीं शती में (भट्टारकसम्प्रदाय/ प्रस्तावना/ पृ.४) और पं० नाथूराम जी प्रेमी ने १४वीं शती ई० में बतलायी है, वह समीचीन नहीं है। पूर्वोद्धृत जिनप्रतिमालेखों से सिद्ध होता है कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शताब्दी में हो गया था।

निष्कर्ष यह कि दिगम्बरजैन परम्परा में अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु के अर्थ में अर्थात् सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में भट्टारक शब्द का प्रयोग १२वीं शती ई० में उस समय प्रचलित हुआ, जब पासत्थादि दिगम्बरजैन मुनि अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर दिगम्बरजैन गृहस्थों के अनधिकृत धर्मगुरु बन गये थे। इस तरह भट्टारकसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुई थी।

४

अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी-धर्मगुरु भट्टारकों के असाधारणधर्म

यद्यपि ऊपर वस्त्रधारण और मठों में नियतवास इन दो धर्मों को धर्मगुरु भट्टारकों का असाधारणधर्म बतलाया गया है, तथापि मठादि में नियतवास भट्टारकों का असाधारणधर्म नहीं है, क्योंकि वह मठवासी मुनियों में भी था। आज भी अनेक मुनि तीर्थस्थानों या अन्य स्थानों में नियतवास करते हैं, पर वे भट्टारकपीठ के स्वामी न होने तथा भट्टारककर्म न करने से भट्टारक नहीं कहलाते। हाँ, मठ में नियतवास भट्टारकों का अनिवार्य धर्म अवश्य है। अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण करनेवाले भट्टारकों के अनेक असाधारण धर्म हैं, जो अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग सुनिश्चित करते हैं। उनका प्ररूपण नीचे किया जा रहा है।

तथा त्रिलोकसार तथा पुराणसर्वे तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि सर्वशास्त्र पूर्वदेशमाहे रहीने वर्ष ८ माहे भणीने श्री वाग्वर गुजरात माहे गाम खोडेषे पधार्या, वर्ष ३४ संस्था थई तीवारे सं० १४७१ ने वर्षे --- साहा श्रीयौचाने गृहे आहार लीधौ। तेहा थकी वाग्वरदेश तथा गुजरात माहे विहार कीधौ। वर्ष २२ पर्यन्त स्वामी नग्न हता जुमले वर्ष ५६ पर्यन्त आवर्या भोगवीने धर्मप्रभाववीने संवत् १४९९ गाम मेसाणे गुजरात जईने श्री सकलकीर्ति आचार्य हुआ (भुआ)--- पीछे श्री नोगामे संघे पदस्थापना करी।" जैन-सिद्धान्त भास्कर / भाग १३ / किरण २ / पृ० ११३ (वीरवर्धमानचरित / भट्टारक सकलकीर्ति / प्रस्तावना / पृ० ५)।

४.१. भट्टारक-दीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन

भट्टारक वही पुरुष कहलाता है, जिसकी स्थानविशेष, जातिविशेष, संघविशेष अथवा गण-गच्छ-विशेष के भट्टारकपीठ पर आसीन होने के लिए भट्टारक-दीक्षा होती है। दीक्षा का अधिकारी आरम्भ में तो कोई पासस्थ-कुसील मुनि होता था, किन्तु बाद में गृहस्थ को ही भट्टारक-पट्ट पर अभिषिक्त किया जाने लगा।

४.२. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण

भट्टारकपद पर दीक्षित होने के लिए गृहस्थ को पहले दिगम्बरमुनि का रूप धारण करना पड़ता है अर्थात् वह नग्न होता है, पिच्छी-कमण्डलु ग्रहण करता है और केशलोच करता है। इस रूप में दीक्षित होने के पश्चात् श्रावकों के आग्रह करने पर वह उनके द्वारा लाये गये वस्त्र धारण कर लेता है, किन्तु पिच्छीकमण्डलु का त्याग नहीं करता। इस कारण उसका वेश न दिगम्बरमुनि जैसा होता है, न एलक-क्षुल्लक एवं सामान्य श्रावक जैसा। वह एक नये प्रकार के जैनेतर साधु-सदृश दिखाई देता है। इस अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग को धारण करने के बाद वह विधिवत् भट्टारक बन जाता है। भट्टारकगण वस्त्रधारण करने के बाद भी कभी-कभी अल्पसमय के लिए नग्न हो जाते हैं, जैसे भोजन के समय तथा प्रत्येक चातुर्मास के प्रथम दिन। वे मुनि के समान ही करपात्र में भोजन करते हैं।^{१२}

भट्टारकदीक्षा के इस स्वरूप की पुष्टि वि० सं० १८८० में असाढ़ वदि १०वीं बृहस्पतिवार के दिन भट्टारक श्री सुखेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति के अभिषेक के निम्नलिखित विवरण से होती है, जो राजस्थानी भाषा में है—

“मिति असाढ़ वदि १० वीसपतवार नै पदस्थ हुवो। तेरा घड़ी दिन चढ्या नैणसुखजी पंडित छा ज्यांह नै सो नैणसुखजी छ्यौर कराय मंदिर पाटोधी का चोक नै जाय विराज्या केसर्या कपडा गहैण सुधा (सहित) पाछै द्वादशानुप्रेक्षा को चिंतवन कीयो। पाछै पंडिता आय समोध्या (सम्बोधित किया) यो धर्म आपको छै। पाछै सारा कपड्या नाष्या (उतार दिये) नग्न हुआ पाछै पाषाण की चौकी उपरि जाय विराज्या। पाषाण की चौकी उपरि मंडल माड्यो सुहागणी लुगाई। तिंह के उपरि विराज्या रह्या। नग्न (नग्न) बैठ्या बैठ्या श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति योगभक्ति पढवो कर्या। पाछै पांच पंच आया वकसी किरपाराम जी दि० (दीवान) संगही आर्तरामजी साह जैतरामजी दि० (दीवान) भीमचंद

१२. क—पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी / भाग ८ / अंक २ / मार्गशीर्ष, वीर नि० सं० २४३२ / पृष्ठ ५८।

ख—पं० दीपचन्द वर्णी : भट्टारकभीमांसा / पृ.५ / वीरजयन्ती २४५४।

जी का वेटा राव किरपाराम जी का वेटा पोता या पांच मिलि पंचामृत कलशाभिषेक करयो। पाछै सर्वोषधि कलशाभिषेक कीयो पाछै नगन ही ठाकुरजी को दरसण कीयो। आंजली जैतराम जी साह भरी। पाछै आसिका दीनी पंचानै लुगाया नै। पाछै नगन ही सभा में सांघासण (सिंहासन) उपरि आय विराज्या। पाछै धर्मोपदेश दीयो। पाछै सगला (सब) पंच मिलि अरज करो सो अबार (यह) समय नगन (नगन) को नहीं तिसौ कपडा लीजे। पाछै बकसीजी पछेवडी दीनी। पाछै जैतराम जी साहजी सालू धोवती दीनी। आप पहैरी (पहनी)। पाछै आपको नांव (नाम) नरेन्द्रकीर्तिजी स्थापन हुवो। पाछै आप मून (मौन) धारी। पाछै आमैरि का वजार (बाजार) का पंच दुसालो ऊढायो। पाछै सांगानेर का वाजार का पंच मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै दरबार को दुसालो दरोगा विसनजी लेरि आया सो ऊढायो। पाछै आमैरि का पंचा को दुसालो ऊढ्यौ पाछै कोटा का पंचा को दुसालो आयो सो ऊढ्यो। पाछै दि० (दीवान) संघही मनालाल जी दुसालो ऊढायो, धोवती दीनी। पाछै संघही हुकुमचंद जी दुसालो ऊढायो। पाछा सांगानेर का पंचा दुसालो ऊढायो। पाछै चाटसू का पंचा मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै भागचन्दजी रयन फरद १ ऊढाई। पाछै कोसीकलां का पंचा मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै सलेमाबाद का महंत को दुसालो आयो। पाछै दि० जैचंद जी का पोता को सालू १ आया। भट्टारक जी का पदस्थ का बैठवा का महूर्त काढ्यो जदि (जब) सारा गावां ने कागद गया पंचा का नांव (नाम) का सवाई जैपुर (जयपुर) का पंच लिष्या (लिख्या) आपका नांवां का।^{१९३}

यह ध्यान देने योग्य है कि मुनिदीक्षा या आचार्यदीक्षा किसी स्थानविशेष या जातिविशेष के धर्मपीठ (धार्मिक गतिविधियों के संचालन का नियत केन्द्र, वस्तुतः धर्माधिकारी की नियत निवासभूमि) पर बैठालने के लिए नहीं दी जाती है, किन्तु भट्टारकदीक्षा स्थानविशेष के, बल्कि प्रायः स्थानविशेष की जातिविशेष के भट्टारकपीठ पर नियुक्त करने के लिए दी जाती थी। इसके लिए पहले भट्टारकपीठ (पट्ट या गद्दियाँ) स्थापित किये जाते थे, फिर उन पर बैठालने के लिए किसी पासत्थ-कुसील मुनि अथवा गृहस्थ युवा या बालक को भट्टारक दीक्षा दी जाती थी। इसीलिए वे अमुक पीठ के भट्टारक या अमुक जाति के भट्टारक नाम से प्रसिद्ध होते थे, जैसे ईडर के भट्टारक, नागौर के भट्टारक, शेतवालों के भट्टारक, नरसिंहपुरों के भट्टारक, इत्यादि।

१३. जयपुर के मन्दिर-पाटौदी के संग्रह की एक महत्त्वपूर्ण बही से “दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी का संक्षिप्त इतिहास एवं कार्यविवरण” इस ग्रन्थ में उद्धृत। लेखक—डॉ० गोपीचन्द्र वर्मा, बाँसवाड़ा/प्रकाशक—रामा प्रकाशन २६३६, रास्ता खजानेवालान, जयपुर। (मूलपाठ में पूर्णविराम एवं कोष्ठक में शब्दों के हिन्दी रूप प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने दिये हैं)।

हूमड़-इतिहास (भाग २) में उल्लेख है कि “जैन समाज में इस वक्त जो जातियाँ हैं, इनकी स्थापना दसवीं सदी के करीब हुई थी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।--- यद्यपि भट्टारक जातिभेद से ऊपर होते थे, फिर भी विरुदावलियों में उनकी जाति का अनेक बार उल्लेख हुआ है।--- इसी प्रकार यद्यपि भट्टारकों के शिष्यवर्ग में सम्मिलित होने के लिए किसी विशिष्ट जाति का होना आवश्यक नहीं था, तथापि बहुतायत से एक भट्टारकपीठ के साथ किसी एक ही विशिष्ट जाति का सम्बन्ध रहता था। बलात्कारगण की सूरत शाखा से हूमड़ जाति, अटेर शाखा से लमेचू जाति, जेरहट शाखा से --- जाति तथा दिल्ली, जयपुर शाखा से खण्डेलवाल जाति का विशेष सम्बन्ध पाया जाता है।”^{१४}

जैनहितैषी मासिक पत्र (भाग ११/अंक १०-११/श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४४१/पृष्ठ ६५८) में ‘विविध प्रसङ्ग’ के लेखक ने लिखा है कि “लातुर (निजाम)’ में शेतवाल जाति के भट्टारकों की एक गद्दी है। वह अभी तक खाली थी।--- अब उक्त गद्दी पर एक बालक बिठा दिया गया है।”

भट्टारकचर्चा नामक लघु पुस्तिका (दि० १८.१०.४१) के लेखक-प्रकाशक, जो दि० जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर, मेवाड़ के मन्त्री थे, पृष्ठ ४ पर लिखते हैं—“हम नरसिंहपुराजाति-बन्धुओं के साथ भी भट्टारक जशकीर्ति जी का सम्बन्ध है। आप नरसिंहपुराओं के भट्टारक कहलाते हैं।”

अभिप्राय यह कि भट्टारकपीठ पर बैठालने के लिए ही भट्टारकदीक्षा होती थी और भट्टारकपद पर दीक्षित पुरुष ही भट्टारक कहलाता था। इसलिए जिस मठवासी मुनि की भट्टारकपद पर दीक्षा नहीं होती थी, वह ‘भट्टारक’ शब्द से अभिहित नहीं होता था।

४.३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण

भट्टारकपीठ पर अभिषिक्त पुरुष को गृहस्थों के धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकार प्रदान कर दिये जाते हैं। यह भट्टारकों के साथ जुड़ी हुयी ‘स्वामी’, ‘जगद्गुरु’ ‘पण्डिताचार्य’, ‘कर्मयोगी’ आदि उपाधियों से सूचित होता है। धर्मगुरु बन जाने से वह गृहस्थों को धर्म के विषय में निर्देश देता है, विभिन्न प्रकार के व्रतों, अनुष्ठानों, पूजाओं और प्रायश्चित्तों को करने का आदेश देता है, धर्म का ज्ञान कराता है। पण्डिता-चार्य के अधिकार प्राप्त हो जाने से गृहस्थों की धार्मिक क्रियाएँ केवल उसी के द्वारा

१४. ‘हूमड़ जैन समाज का सांस्कृतिक इतिहास’/भाग २/पृष्ठ २१८/सम्पादिका-श्रीमती कौशल्या पंतग्या।

सम्पन्न करायी जा सकती हैं। पूर्वकालीन भट्टारक गृहस्थों के षोडश संस्कार, गृहशुद्धि, गृहप्रवेश, सिद्धचक्रादि-पूजन, शान्तिविधान, हवन, पंचकल्याणक, वेदीप्रतिष्ठा आदि सम्पूर्ण कर्मकाण्ड सम्पन्न कराते थे। धार्मिक और सामाजिक नियमों, रीतिरिवाजों तथा अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने पर गृहस्थों को अर्थदण्ड, सामाजिक भोज, जातिबहिष्कार आदि की सजाएँ देते थे। गृहस्थों के पारस्परिक विवादों को निपटाते थे। मंत्र-तंत्र द्वारा भक्तों का अनिष्टनिवारण, ज्योतिष द्वारा मुहूर्तशोधन, श्रावकों के भविष्य की घोषणाएँ, तथा आयुर्वेद के प्रयोग द्वारा लोगों का रोगनिवारण आदि कार्य भी करते थे। भट्टारकपीठ की सम्पत्ति का प्रबन्ध, खेती-बाड़ी आदि की देखभाल तथा धार्मिक उत्सवों का अनुष्ठान भी उनके कर्तव्यों में शामिल था। इस तरह गृहस्थों के धर्मगुरु एवं पुरोहित (पण्डिताचार्य) या धर्माधिकारी के रूप में कार्य करना ही भट्टारकों की अधिकृत भूमिका थी।

४.४. दक्षिणा-चढ़ावा-भेंट-शुल्क आदि से अर्थोपार्जन

गृहस्थों के उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन से भट्टारकों को उनसे यथाभिलषित दक्षिणा प्राप्त होती थी। उनके दर्शनार्थ मठ में जाने पर उन्हें यथेष्ट चढ़ावा मिलता था तथा जब वे श्रावकों के घर भावना (भोजन) के लिए जाते थे तब उन्हें उपकृत करने के उपलक्ष्य में उनसे अच्छी खासी भेंट भी उपलब्ध करते थे। प्रत्येक घर से नियमित वार्षिक कर भी भट्टारकों को दिया जाता था।^{१५} एक वर्तमान (सन् १९१० ई० के) भट्टारक के आयस्त्रोतों का विवरण देते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

“महाराज के कमण्डलु-पूजन का कर एक रुपया है। भोजन की दक्षिणा कम से कम साढ़े तीन रुपया है। दक्षिणा न देने से अथवा ऐसा ही और कोई अपराध करने से श्रावक को जाति से बहिष्कृत होना पड़ता है। वह जाति में शामिल तब हो सकता है, जब आदेशित दण्ड देवे। --- महाराज को गृहस्थों के संस्कारकर्मों में भी द्रव्यप्राप्ति होती है, जैसे बालक के कान फूँकने की फीस सवा रुपया ली जाती है। --- यदि किसी को अपने यहाँ जल्से में जागरण कराना होता है, अर्थात् हिजड़े आदि नचाना होते हैं, तो उसके लिए महाराज को तीन रुपया दण्डस्वरूप पहिले भेंट देकर आज्ञा लेनी पड़ती है। महाराज छोटे-छोटे मुकद्दमें भी कुछ फीस लेकर ले लेते हैं और उनमें कोशिश करके किसी एक पक्ष की जीत करा देते हैं।”^{१६}

इन स्त्रोतों के अतिरिक्त श्रीमानों और राजाओं से दान में प्राप्त भूमि आदि तथा खेती-बाड़ी से भी आय होती थी।

१५. पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी/भाग ७ / अंक ९/ पृष्ठ २३/ आषाढ़, वीर नि० सं० २४३७ (ई० सन् १९१०)।

१६. वही / भाग ७ / अंक १०-११ / पृष्ठ १-२ / श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४३७ (ई०सन् १९१०)।

४.५. राजोचित वैभव एवं प्रभुत्व तथा ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली

यद्यपि भट्टारकपीठ पर अभिषिक्त होना ही चल-अचल परिग्रह का स्वामी बनना है, पर प्रारंभ के भट्टारकों के पास उतना वैभव नहीं था, जितना बाद के भट्टारकों के पास हो गया। फलस्वरूप प्रारंभिक भट्टारकों की जीवनशैली में सादगी रही होगी। किन्तु उनके वैभव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और उनकी जीवनशैली भी छोटे-मोटे राजाओं के समान विलासितापूर्ण हो गई। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के भट्टारकों के वैभव और जीवनशैली पर प्रकाश डालते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

“यद्यपि वे अपने को निर्ग्रन्थमार्ग के उपासक बतलाते हैं, परन्तु उनका वैभव एक छोटे-मोटे राजा से कम नहीं होता है। उनकी सवारी के लिए पालकी होती है, बैठने के लिए ऊँची गद्दी वा सिंहासन होता है, दौरे में अर्दली की चपरास लगाये हुए कई सिपाही होते हैं, तर माल खिलानेवाला रसोइया होता है, लाखों की दौलत होती है, गरज यह कि ऐहिक भोगों की सहायक जितनी सामग्री चाहिए, वह सब होती है। यदि नहीं होता है, तो कहने-सुनने को एक स्त्रीरत्न नहीं होता है। न जाने इतनी कसर क्यों रख छोड़ी गई है।”^{९७}

इसी समय (सन् १९१० ई०) के एक दक्षिणदेशीय भट्टारक की जीवनपद्धति का विवरण प्रेमी जी ने इन शब्दों में दिया है—“महाराज का वेषविन्यास समयानुसार कई प्रकार का होता है। जब आप घोड़े की सवारी करते हैं, तब जाकेट, पायजामा आदि पहिनते हैं, सिर पर एक जरी का कीमती फैंटा बाँधते हैं और हाथ में एक चाबुक रखते हैं। धर्मसम्बन्धी कार्यों के समय बहुमूल्य भगवाँ वस्त्र पहिनते हैं। कभी-कभी जरी की धोती पहिनते हैं। बढ़िया शाल ओढ़ते हैं। हाथ में सोने की ‘पहुँची’ और मुद्रिका पहिनते हैं। खड़ाऊँ लकड़ी की, सोने की, अथवा चाँदी की पहिनते हैं। कमण्डलु चाँदी का और मयूरपिच्छी सोने की रखते हैं। चाँदी के वर्तनों में भोजन करते हैं। इतर, तेल-फुलेल का व्यवहार भी करते हैं। रसोई के लिए एक स्त्री रहती है। इस तरह महाराज के पास सारा महाराजोचित परिग्रह रहता है।”^{९८}

गुजरात की ईडरपीठ पर आसीन स्वसमकालीन भट्टारक विजयकीर्ति की सुकीर्ति का वर्णन करते हुए ‘प्रेमी’ जी कहते हैं—“हितैषी’ के पाठक, ब्रह्मचारी मोतीलाल के शुभनाम को भूले न होंगे। आजकल आपके बड़े ठाठबाट हैं। आपके सुखसौभाग्य

९७. वही / भाग ७ / अंक ९ / पृष्ठ २३ / आषाढ़, वीर नि० सं० २४३७।

९८. वही / भाग ७ / अंक १०-११ / पृष्ठ २ / श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४३७।

का सूर्य इस समय मध्याह्न पर पहुँचा हुआ है। अब आप मोतीलाल नहीं, किन्तु श्री १०८ भट्टारक विजयकीर्ति जी महाराज कहलाते हैं। आपके साथ इस समय गाड़ी, घोड़ा, पालकी आदि सारे राजोचित साजबाज हैं। शास्त्री, चपरासी, हवलदार, रसोइया, नाई, धोबी, खिदमतगार आदि २०-२५ नौकर-चाकर हैं। जरी और मखमल के वस्त्रों का उपयोग करके आप अपने पूर्वनिर्ग्रन्थों की दरिद्रता के दोष को दूर कर रहे हैं। आपका प्रतिदिन का खर्च पच्चीस-तीस रुपया रोज है। इस समय आप बाकरोल नामक ग्राम में आनन्द कर रहे हैं और शायद चातुर्मास भर वहीं रहेंगे। ग्राम में जैन भाइयों के सिर्फ ३० घर हैं, जिनकी आर्थिक अवस्था बहुत मामूली है, पर मामूली होने से ही क्या हो सकता है? श्रावक होने का फल तो उन्हें कुछ न कुछ मिलना ही चाहिए। गवर्नमेंट जिस तरह आवश्यकता पड़ने पर किसी स्थान में प्युनीटिव पुलिस बिठा देती है और उसका खर्च वहाँ के रहनेवालों से बसूल करती है, उसी तरह हमारा धर्म भी जिस स्थान के श्रावकों के लिए आवश्यक समझता है, उस स्थान पर इस पाखण्ड-पुलिस को भेज देती है, जो श्रावकों की अक्ल को बहुत जल्द ठिकाने लगा देती है।

“जिस समय ब्रह्मचारी मोतीलाल जी ईडर की गद्दी पर बैठने के लिए उम्मीदवार हो रहे थे, उस समय आपने पूज्य पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल को एक प्रतिज्ञापत्र लिख कर दिया था। गुरुजी (पं० पन्नालाल जी) ने अब उक्त प्रतिज्ञापत्र सार्वजनिक पत्रों में प्रकाशित करवा दिया है। उसमें लिखा है कि “मैं भट्टारक होने पर ईडर तथा सागवाड़ा आदि के प्राचीन शास्त्रभण्डारों का जीर्णोद्धार कराऊँगा, उनके प्रचार के लिए अर्थव्यय करूँगा, अपने उपासक श्रावकों के प्रत्येक ग्राम में पुस्तकालय खोलूँगा, पाठशालाएँ स्थापित करूँगा, उपदेशकों, समाचारपत्रों और ग्रन्थमालाओं के द्वारा धर्म का प्रचार करूँगा। यदि मैं ऐसा न करूँ और कोई धर्मविरुद्ध या नीतिविरुद्ध कार्य करूँ, तथा तीन बार चेतावनी देने पर भी न मानूँ, तो आप लोग और रायदेश के पंच मुझे जो सजा देंगे, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।” हमारा विश्वास है कि मोतीलाल जी इसी प्रतिज्ञापत्र की कृपा से ही आज अपनी पाँचों अँगुली घी में तर कर रहे हैं। यदि गुरुजी को वे प्रतिज्ञापत्र के द्वारा धर्मप्रचार का विश्वास न दिलाते और गुरुजी सिफारिश न करते, तो यह चार दिना की चाँदनी उन्हें लभ्य न होती, परन्तु ऐसे अच्छे मौके को मोतीलाल जी जैसे पुरुषरत्न कैसे चूक सकते थे? और गुरुजी जैसे दुनिया की चालबाजियों से सर्वथा अज्ञान और मनुष्यप्रकृति को न पहचाननेवाले भोले धर्मप्रचारभिलाषी भी क्या बार-बार मिलते हैं? आपने गुरुजी को बना लिया और लिख दिया प्रतिज्ञापत्र। अब गुरुजी और रायदेश के पंच उक्त प्रतिज्ञापत्र को शहद लगा चाँटा करें और भट्टारक जी महाराज अपनी चालबाजी पर खुश होते हुए हलुआ-पूड़ियों

पर हाथ साफ किया करें।" (जैनहितैषी / भाग ११ / अंक १०-११ / श्रावण-भाद्र / वीर नि० सं० २४४१ / पृ. ६५६-६५८)।

'प्रेमी' जी ने आगे लिखा है—“इस समय भट्टारकों के चातुर्मास हो रहे हैं। शायद ही ऐसा कोई भट्टारक हो, जिसका खर्च २०-२५ रुपये रोज से कम हो। ये सब रुपये निरीह भोले श्रावकों से वसूल किये जाते हैं। एक-दो स्थानों से हमें जो समाचार मिले हैं, उनसे बड़ा ही दुःख होता है और भट्टारकों पर बड़ी ही घृणा उत्पन्न होती है। इन लोगों ने अब बड़ा ही करालरूप धारण किया है। ये श्रावकों के द्वारों पर धरणा देकर बैठते हैं, लंघनें करते हैं, कमंडलु फोड़ते हैं और जब इससे भी काम नहीं चलता है, तब अपने गरीब सिपहियों से श्रावकों को पकड़वाते और पिटवाते तक हैं। गरज यह कि जब तक रुपया नहीं पा लेते, तब तक श्रावकों का पिण्ड नहीं छोड़ते हैं। भाइयो! यह क्या है? जैनधर्म की इससे अधिक दुर्दशा और क्या हो सकती है?” ग्रामीण अज्ञानी श्रावकों में यद्यपि इस विपत्ति से बचने की शक्ति नहीं है, परन्तु हमारे समाज के शिक्षित चाहें तो इस मर्ज का तात्कालिक उपाय हो सकता है। प्रयत्न करने से, आन्दोलन करने से, सब लोगों की सम्मति से ये लोग अनधिकारी ठहराये जा सकते हैं और गवर्नमेन्ट के द्वारा इस तरह के अत्याचार करने से रोके जा सकते हैं। हम आशा करते हैं कि हमारे गुजराती भाई इस विषय में आगे बढ़ने का साहस दिखलायेंगे।” (जैनहितैषी / भाग ११ / अंक १०-११ / श्रावण-भाद्र / वीर नि० सं० २४४१ / पृ. ६६१)।

'दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर (मेवाड़)' के मन्त्री ने (अपना नाम नहीं दिया) भट्टारक चर्चा (तारीख १८-१०-४१) नाम की लघु पुस्तिका का लेखन और प्रकाशन किया है। उसमें उन्होंने अपनी जाति के भट्टारक जशकीर्ति का चरित्र वर्णित करने वाली निम्न काव्यपंक्तियाँ प्रकाशित की हैं—

नाममात्र को साधू बनकर शाही ठाठ दिखाते हैं।
बैठ पालकी श्रावक के घर भोजन करने जाते हैं ॥
श्रावकजन से निज चरणों की पूजन भी करवाते हैं।
करें याचना पैसे की, कम हो तो शीश हिलाते हैं ॥
जो पैसे की कमी होय तो अन्तराय कर आते हैं।
फिर श्रावक की खैर नहीं, नीचा उन्हें दिखाते हैं ॥

कविवर गुणभद्र जी द्वारा रचित जैनभारती नामक पुस्तक के निम्न पद्य भी उक्त पुस्तिका में उद्धृत किये गये हैं—

एक दिन अकलङ्क से विद्वान् भट्टारक हुए,
निज शक्ति से जो लोक में प्रभुधर्म-संचालक हुए।

हा! आज भट्टारक यहाँ रखते परिग्रह भार को,
मृगराज की उपमा अलौकिक मिल रही मारजार को॥

हैं धर्मरक्षक नाम, पर ये धर्मभक्षक बन रहे,
संसार के आडम्बरों में ये यों अधिकतर सन रहे।
हैं वस्त्र इनके देख लो रंगीन रेशम के बनें,
पिच्छी-कमण्डलु भी अहो! इनके सदा मनमोहने॥

गद्दे तथा तकिये भरे रहते सुकोमल तूल से,
सादा नहीं आहार करते वे कभी भी भूल से।
बस पुष्टमिष्ट गरिष्ठ ही इनका सदा आहार है,
पड़ती भयंकर रात को इन पर मदन की मार है॥

मुनिधर्म का भी स्वाँग धरना प्रेम से आता इन्हें,
उल्लू बनाना श्रावकों को भी सदा भाता इन्हें।
निज मन्त्रतन्त्रों से डराना दूसरों को जानते,
हा! धर्म के ही नाम पर ये पाप कितना ठानते॥

कर प्रेरणा अत्यन्त ही पूजा करायेँगे कभी,
निःशङ्क तब निर्माल्य, अपना ही बनायेँगे सभी।
पूजा प्रतिष्ठा एक भी होती नहीं इनके बिना,
होती बड़े ही ठाठ से इनकी मनोहर भावना॥

दश पाँच नौकर तो गुरु रखते सदा ही संग में,
हा! हा! रँगें रहते अलौकिक ही निराले रंग में।
ये श्रावकों को दे सकेंगे हाथ! कारागार में,
प्रभु ने इन्हें क्या दे दिया है विश्व यह अधिकार में॥

इन काव्य-पंक्तियों में भट्टारकों की कुछ और प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ, वे जिस श्रावक के घर भोजन करने जाते थे उनसे स्वयं ही भेंट देने की याचना करते थे। श्रावकों को मन्त्र-तन्त्र का भय दिखलाकर अपने आदेश का पालन करवाते थे। उन्हें बड़ी-बड़ी पूजाएँ करवाने के लिए बाध्य करते थे तथा उनमें चढ़ाये गये द्रव्य तथा अन्य सामग्री को अपने साथ ले जाते थे। वे श्रावक को स्वयं पूजा आदि धार्मिक क्रियाएँ नहीं करने देते थे, उनके द्वारा ही करवानी पड़ती थीं।

भट्टारकपीठों की सीमाएँ भी विभाजित होती थीं। एक भट्टारकपीठ की सीमा में दूसरे भट्टारकपीठ की जजमानी नहीं चलती थी। भिन्न-भिन्न संघों के भट्टारक पीठों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष भी चलते थे। जिस नगर में एक से अधिक संघों की भट्टारकगदियाँ होती थीं, वहाँ तो निरन्तर कलह मची रहती थी और उनके अनुयायी श्रावकों में मार-पीट तक हो जाती थी।^{९९}

४.६. 'जैनाचार्य-परम्परा-महिमा' ग्रन्थ से समर्थन

भट्टारकों के इस राजोजित वैभव-प्रभुत्वमय, वस्त्राभूषणयुक्त, परिग्रही, धर्मशासक-स्वरूप का समर्थन 'जैनाचार्य-परम्परा-महिमा' नामक अप्रकाशित ३४९ श्लोकात्मक ग्रन्थ में वर्णित भट्टारकोत्पत्तिकथा से होता है, जो श्रवणबेलगोल के ३१ वें भट्टारक श्री चारुकीर्ति द्वारा रचा गया है और 'आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार शोध प्रतिष्ठान, लालभवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३' में उपलब्ध है। श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने इसका विवरण 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' (भाग ३) में पृष्ठ १५२ से १७७ तक दिया है। कुछ अंशों को छोड़कर उसे यहाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

“विकट परिस्थितियों में भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव—आचार्य माघनन्दी के समय में, कोल्लापुर के राजसिंहासन पर वीरशिरोमणि, राजाधिराज, महाराजा गण्डादित्य आसीन था। उसकी सुविशाल चतुरंगिरणी सेना का सेनापति निम्बदेव नामक सामन्त था। सेनापति निम्बदेव उच्च कोटि का रणनीति-विशारद यशस्वी योद्धा था।

“एक दिन महाराजा गण्डादित्य अपने वशवर्ती राजाओं, सामन्तों एवं प्रधानों के साथ राजसभा में बैठा हुआ था। धर्मचर्चा के प्रसंग में चक्रवर्ती भरत के वैभव, उनके द्वारा निर्मित करवाये गये चैत्यालयों, प्रतिष्ठाविधि आदि के विवरण सुनकर राजा गण्डादित्य अतीव प्रमुदित हुआ। अवसर के ज्ञाता सेनापति निम्बदेव ने अपने स्वामी को परम प्रसन्न मुद्रा में देखकर उनसे निवेदन किया—“राजराजेश्वर! बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके चरणों में मस्तक झुकाते हैं। आपका ऐश्वर्य एवं वैभव अनुपम है। इस कलिकाल में आप ही चक्रवर्ती हैं। अतः आप भी भरत चक्रवर्ती के समान चैत्यादि का निर्माण, प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्यों से जैनधर्म की अभिवृद्धि कीजिये।”

“अपने सेनापति का सुझाव गण्डादित्य को अत्यन्त रुचिकर लगा। उसने अपने पुरोहित एवं प्रधानों को तत्काल आदेश दिया कि चैत्यालयों का निर्माण करवाया जाय।

९९. पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी / भाग ७ / अंक ९ / पृष्ठ २४ / आषाढ़, वीर नि० सं० २४३७।

महाराजा गण्डादित्य के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर चैत्यों के योग्य सभी भौति श्रेष्ठ भूमि के चयन के साथ ही चैत्यों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। और इस प्रकार कुछ ही समय में कोल्लापुर नगर के विभिन्न भागों में, महाराज गण्डादित्य की आकांक्षा के अनुरूप कुल मिलाकर ७७० सुन्दर चैत्यों का निर्माण सम्पन्न हुआ। अपनी इच्छा के अनुरूप चैत्य निर्माणकार्य के सम्पन्न होने पर महाराजा गण्डादित्य अपने सेनापति आदि प्रधानों के साथ आचार्य माघनन्दी की सेवा में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन आदि के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने विनयपूर्वक आचार्य माघनन्दी से निवेदन किया—“काम-क्रोध-मद-मोह-अज्ञान-तिमिर-विनाशक-दिनमणे! पूज्य आचार्यदेव! आपके कृपाप्रसाद से ७७० चैत्यालयों का निर्माण हो चुका है। अब आप विचार कर जैसा उचित समझें, वही करें।”

“आचार्य माघनन्दी ने कहा—“राजन्! इन विषम परिस्थितियों में तुम्हारे इस पाषाण-संग्रह पर क्या विचार किया जाय। इस विपुल व्यय का आखिर फल क्या है?”^{१००}

“आचार्य माघनन्दी की बात सुनकर गण्डादित्य भयोद्रेक से क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। अपने आपको आश्चर्य कर उसने कहा—“आचार्यप्रवर! इससे बढ़कर अन्य और क्या शुभ काम है? मैं तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता। कृपा कर आप ही बताइये। क्योंकि गुरु का उपदेश ही गृहस्थों के लिये मार्गदर्शक, आदर्श और आचरणीय है।”

“गण्डादित्य के मुझाये हुए मन को उल्लास से आपूरित करते हुए मन्द मुस्कान के साथ आचार्य माघनन्दी ने कहा—“राजन्! आराधकों के अभाव में, भला आज तक कहीं आराध्य अस्तित्व में रहे हैं? जिनबिम्ब आराध्य हैं और उनकी आराधना के लिए भव्य आराधकों की आवश्यकता सदा रहती है। लोगों को बोध दिया जायगा, तभी तो वे प्रबुद्ध हो जिनदेव के आराधक बनेंगे। यह तो तुम जानते ही हो कि संसार में तीर्थंकर भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी भव्य स्वयंबुद्ध नहीं होता। लोगों को धर्म का बोध कराने के लिये साधुओं की, धर्मोपदेशकों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। भव्यजन-प्रतिबोधक साधुओं के अभाव में लोगों को बोध कैसे होगा और वे जिनाराधक साधक किस प्रकार बनेंगे? साधुओं के अभाव की आज की स्थिति

१००. इत्युक्ते नरपाले हि मुनीन्द्रोऽप्यब्रवीत् पुनः।

इदानीमवधार्य किं तव पाषाणसङ्ग्रहे ॥ ११८ ॥

किमस्ति फलमेतेन व्ययेनेति प्रचोदिते।

----- ॥ ११९ ॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

में बोधक साधुओं को तैयार करना ही जिनशासन की प्रभावना का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।^{१०१} इस कलिकाल में लोग राजाओं के अधीन होते हैं। आज साधुओं का अभाव होता जा रहा है। अतः “राजन्! आप आगमज्ञान को धारण करने योग्य सुपात्रों को चुन-चुन कर श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये उन्हें प्रेरणा कीजिये। और इस प्रकार साधु तैयार कर जिनशासन की प्रभावना का कार्य करिये।”

“महाराजा गण्डादित्य को अपने आचार्य का इस प्रकार का निर्देश रुचिकर लगा। उसने कुछ विचार कर कहा—“आचार्यदेव! सुपात्र कैसे होने चाहिये? सुयोग्य पात्रों के चयन के पश्चात् उन्हें शास्त्राध्ययन कराने एवं श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये किस प्रकार कृतसंकल्प बनाना चाहिये? इस कार्य के निष्पादन के लिये आप कृपा कर मुझे आद्योपान्त पूरी विधि स्पष्टतः समझाइये।”

“आचार्य माघनन्दी ने कहा—“राजन्! शास्त्रज्ञान को धारण करने के लिये योग्य सुपात्र वही है, जो स्वस्थ, निरालस्य, सुतीक्ष्णबुद्धि, उत्कृष्ट स्मरणशक्तियुक्त, सर्वकार्यकुशल, वाक्पटु और बाह्याभ्यन्तर दोनों ही दृष्टियों से विशुद्ध हो। इस प्रकार के सुपात्र को प्राप्त करने का जहाँ तक प्रश्न है, इसमें उत्कृष्ट नीतिनैपुण्य एवं सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम ऐसे सुपात्र को सम्मान तथा अनुदान से आकर्षित करने का प्रयास करना चाहिये। यदि सम्मान-अनुदान से भी वह सुपात्र प्राप्त न हो सके, तो उसे फिर किसी व्याज अर्थात् प्रपंचपूर्ण उपाय से येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर ही लेना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार व्याज के माध्यम से उसका प्राप्त करना भी उसके लिए, उसके उज्वल भविष्य के लिए हितकर ही सिद्ध होगा। इस प्रकार संयमसाधना एवं जिनशासन की प्रभावना कर भव्य भक्त देव, देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि पदों के सौख्योपभोग के अनन्तर अन्ततोगत्वा मोक्ष का अधिकारी भी हो सकता है।”^{१०२}

“आचार्य माघनन्दी से इस प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त कर गण्डादित्य बड़ा सन्तुष्ट हुआ और सेनापति निम्बदेव एवं प्रधानामात्यादि के साथ राजप्रासाद में लौट आया।

१०१. तस्माद् बोधक एवात्र मुख्यं मार्गव्यवस्थितौ।

बोधकेन विना किञ्चिन्न हि कार्यं जगत्त्रये ॥ १२५ ॥

कार्यमस्ति समालोच्यं तद्वच्चि समनन्तरम्।

प्रतिष्ठां कुरु कृत्वैतत् पूर्वं शास्त्रावलम्बनम् ॥ १२९ ॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०२. सन्मानमनुदानं वा व्याजान्तरमसाधिते।

ताभ्यां हि तदुपायं भूधवनाथाधिनायक ॥ १३३ ॥

सुरोरगनरेन्द्राणां लब्ध्वा परमवैभवम्।

मोक्षानुगमनं तस्य व्यवस्था नरनायक ॥ १३४ ॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

“कतिपय दिनों के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने एक दिन अपने नगर के श्रावकों को राज्यसभा में ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—“महानुभावो! आप सब जैनधर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखनेवाले सम्माननीय श्रावक हैं। आप लोग ही वस्तुतः भवभ्रमण से उद्धार करनेवाले धर्म के आधारस्तम्भ हैं। आपके बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि बिना आधार के भी भला कहीं, कभी कोई आधेय अस्तित्व में रहा है? इसी कारण आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके आधारभूत अवलम्बन बने हुए हैं। यह तो आप सभी भली-भाँति जानते ही हैं कि धर्म-प्रभावना, धर्म के अभ्युदय एवं अभ्युत्थान का प्रमुख अंग है और धर्म की प्रभावना शास्त्र के बिना कभी संभव नहीं। शास्त्र भी उसके ज्ञान को धारण करनेवाले सुपात्र के बिना सक्षम नहीं। ऐसी स्थिति में आपको मेरे साथ सहयोग कर शास्त्रों के ज्ञान को धारण करने में पूर्णतः समर्थ सुपात्र उपलब्ध कराने का अन्तर्गमन से प्रयास करना चाहिए। यह कार्य निश्चितरूप से स्वर्ग तथा अपवर्ग का सौख्य प्रदान करानेवाला है। सर्वप्रथम मैं स्वयं धर्मसंघ को इस कार्य हेतु अपना पुत्र धर्मसन्तति के रूप में समर्पित करता हुआ आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप लोग भी अपना एक-एक पुत्र धर्मसंघ को धर्मसन्तति के रूप में समर्पित कर धर्मसंघ की, धर्मसन्तति की अभिवृद्धि में सहायक बनें।”

“नृपति गण्डादित्य की इस घोषणा से हर्षोत्फुल्ल हो दण्डनायक ने तत्काल सबको सम्बोधित करते हुए कहा—“सबके अन्तर्गमन को आनन्दित कर देनेवाली हमारे नरेश्वर की घोषणा वस्तुतः हम सबके लिये परम कल्याणकारिणी एवं अनुकरणीय है। हमें इसे अपने स्वामी के आदेश के रूप में शिरोधार्य करना चाहिये। मैं भी सहर्ष अपना एक पुत्र संघ को समर्पित करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आप सब भी अपना एक-एक पुत्र संघ को समर्पित कर हमारे धर्मनिष्ठ नरेश्वर का अनुसरण करेंगे।”

“अपने महाराजाधिराज और दण्डनायक की बात सुनकर समस्त श्रावक-समूह शोकाकुल हो गया। मन्द-सम्भाषण-पूर्वक परस्पर विचार-विमर्श कर वे श्रावकजन अत्यन्त दैन्यपूर्ण स्वर में कहने लगे—“हे नरनाथ! प्रत्युत्तर देने में तो हम समर्थ नहीं हैं, आपसे केवल प्रार्थना ही करते हैं कि पुत्रों के अतिरिक्त अन्य जो भी आप चाहें, हम से ले लें। संसार के सारभूत पदार्थ-पुत्रों को दे देने के पश्चात् हमारे पास रहेगा ही क्या? इससे तो अच्छा है कि आप हमें ही श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान करवा दीजिये। आप ही हमारे भाग्यनिर्माता हैं।” इस प्रकार सामूहिक रूप से आलाप-संलाप-प्रलाप करते हुए वे सब साष्टांग प्रणाम करते हुए भूमि पर लुण्ठन करने लगे।

“यह देख कर महाराज गण्डादित्य ने तत्काल उन सब श्रावकों को केवल ताम्बूलमात्र प्रदान कर बिदा कर दिया। उन सब को बिदा करने के पश्चात् महाराज गण्डादित्य ने अपने सेनापति निम्बदेव के साथ मन्त्रणा की और वे दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्मान एवं अनुदान से तो अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होना असंभव प्रतीत हो रहा है, अतः अब किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया है। कतिपय दिनों तक समुचित उपाय के विषय में सोच-विचार करने के पश्चात् गण्डादित्य को एक उपाय ध्यान में आया। राज्य की एवं प्रजा की सुरक्षा के व्याज (बहाने) से उसने एक सुदृढ़ एवं विशाल गढ़ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करवाया। दिन भर जो निर्माण कार्य होता, उसे रात्रि की निस्तब्धता में नितान्त गुप्त रीति से गिरवा दिया जाता। यही क्रम कतिपय दिनों तक चलता रहा। विश्वस्त लोगों के माध्यम से जनसाधारण में सर्वत्र यह प्रचार करवा दिया गया कि राज्य एवं प्रजा की सुरक्षा के लिये यह गढ़ बनवाया जा रहा है। यह भूमि सर्वलक्षणसम्पन्न किंशोरों-युवकों का बलिदान माँगती है। बलिदान न देने के कारण दिन में किया हुआ निर्माणकार्य रात्रि में ढह जाता है।

“इस प्रकार का समुचित प्रचार हो जाने के पश्चात् राजा गण्डादित्य ने अपने दण्डनायक एवं राज्याधिकारियों को आदेश दिया कि प्रजा की सुरक्षा की दृष्टि से परमावश्यक इस गढ़ के निर्माण के लिये सुलक्षण-सम्पन्न बालकों की बहुत बड़ी संख्या में बलि देना अनिवार्य हो गया है। अतः उत्तमोत्तम सुलक्षणों से सम्पन्न बालकों को चुन-चुन कर राजप्रासाद में एकत्रित किया जाय।

“राजा का आदेश होते ही नागरिकों के घरों से सुलक्षणसम्पन्न बालकों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजभवन में एकत्रित किया जाने लगा। बलि हेतु अपने-अपने बालक के बलात् पकड़ लिये जाने के कारण उन बालकों के माता-पिता करुण क्रन्दन करने लगे। नगर में सर्वत्र हाहाकार, भय और आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया।

“पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार कुछ पुरुषों ने उन विशुद्ध एवं करुण क्रन्दन करते हुए मातृपितृवर्ग को आचार्य माघनन्दी के समक्ष अपनी करुण पुकार प्रस्तुत करने का परामर्श दिया। तदनुसार वे सब लोग एकत्रित हो आचार्य माघनन्दी की सेवा में उपस्थित हुए। अपने आचार्यदेव के चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम करते हुए उन्होंने करुण स्वर में उनके समक्ष निवेदन करना प्रारम्भ किया—“आचार्य भगवन्! आपकी छत्रच्छाया में रहते हुए भी हमें यह दुस्सह्य दारुण दुःख क्यों भोगना पड़ रहा है? अब हम इस घोर दुःख को सहन करने में असमर्थ हैं, अतः अब आप कृपा कर

हम सब को निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दीजिये। हमारे प्राणाधार पुत्रों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजप्रासाद में बन्द कर दिया गया है। आपने यदि हम पर दया नहीं की, तो आज ही हमारे प्राणप्यारे पुत्रों का बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जायेगा। हम सब आपकी शरण में हैं। केवल आप ही हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं। हम पर दया कीजिये दयासिन्धो!

“श्रावकों की सब बातें सुनने के पश्चात् आचार्य माघनन्दी ने कहा—“भव्यगण! आप सब बुद्धिशाली श्रावक हो और इस बात को भली-भाँति जानते हो, समझते हो कि राजा ही विपरीत अथवा पराङ्मुख हो जाय, तो उस दशा में किया ही क्या जा सकता है? इतना सब कुछ होते हुए भी आपकी यह विनती भी टाली नहीं जा सकती, इसके लिये कोई न कोई उपाय करना होगा।

“कुछ क्षण चिन्तन—मुद्रा में रह कर आचार्य माघनन्दी ने समागत जनसमूह को आश्चस्त करते हुए कहा—“आप लोग चिन्ता का परित्याग कर मैं जो उपाय बता रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कि तुम्हारे पुत्रों के प्राणों को भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचे और तुम्हारी कीर्ति भी संसार में चिरकाल तक स्थायी रहे। आप लोग तो राजा के समक्ष केवल इतना ही कह देना—“राजन्! हम इन बालकों के माता-पिता अपने इन आत्मजों को सदा-सर्वदा के लिये धर्मसन्तति के रूप में श्रमणधर्म की दीक्षा हेतु धर्मसंघ को समर्पित करते हैं।” बस, आप लोगों द्वारा यह कह दिये जाने के अनन्तर शेष कार्य में स्वयं कर लूँगा। इस घोर संकट से बचने का केवल यही एक उपाय मुझे सूझ रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय आपके ध्यान में हो, तो आप लोग बताओ।

“आचार्य माघनन्दी का कथन सबको आशाप्रद, रुचिकर एवं प्रीतिकर लगा। उन सब का शोक क्षण भर में ही तिरोहित हो गया। कृतज्ञतापूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—“भगवन्! समस्त कुल को पवित्र करने और संसार में कीर्ति का प्रसार करनेवाला आपका यह सभी भाँति हितकर वचन किसे प्रिय एवं ग्राह्य नहीं होगा? भगवन्! आपका यह सुखद, सुन्दर सुझाव हमें स्वीकार है, आप कृपा कर ऐसा ही करें।

“श्रावक-श्राविकावर्ग की स्वीकारोक्ति सुन कर आचार्य माघनन्दी को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने तत्काल महाराजा गण्डादित्य को बुलवाया और कुछ क्षण उसके साथ एकान्त में परामर्श करने के पश्चात् बालकों के मातृ-पितृवर्ग को बुलाकर उनके समक्ष ही राजा गण्डादित्य को सम्बोधित करते हुए कहा—“राजन्! ये धर्मपरायण श्रावक-श्राविका-गण आप जैसे धर्मपरायण राजा के राज्य में भी किस कारण शोकाकुल हो रहे हैं? आप तो दयालु एवं धर्मपरायण हैं। ये सभी लोग अपने-अपने पुत्रों को

श्रमणधर्म में दीक्षित करने के लिये हमें देना चाहते हैं। ऐसी दशा में वे सभी बालक इसी समय से भावोपचाररूप में मुनि ही माने जाने चाहिये। अब आप स्वयं ही सोचिये कि उपचारतः मुनि कहे जानेवाले बालकों की बलिवेदि पर बलि द्वारा हत्या कर आप अपने जैनत्व को किस प्रकार बचाये रख सकेंगे?

“गण्डादित्य ने अपने गुरु आचार्य माघनन्दी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—“आचार्यवर्य! आपका कथन तो ठीक है, किन्तु राज्य और प्रजा की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक निर्माणाधीन दुर्ग की क्या दशा होगी?

“आचार्य माघनन्दी ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—“राजन्! मैं मन्त्रशक्ति द्वारा उसका गिरना रोक दूँगा। मेरे ऊपर विश्वास कर आप उस दुर्ग की चिन्ता छोड़ दीजिये।” राजा गण्डादित्य ने कहा—“देव! मुझे आप पर अटूट आस्था है। आप इन बालकों को सहर्ष श्रमणधर्म में दीक्षित कर लीजिये।

राजा द्वारा सहमति प्रकट किये जाने पर तत्क्षण उन सब बालकों को वहाँ लाया गया। स्नान कराने के उपरान्त आचार्य माघनन्दी ने उन्हें पूर्वाभिमुख बैठा कर सब लोगों के समक्ष राजराजेश्वर गण्डादित्य से कहा—“सुनो राजन्! ये सभी बालक महापुरुषों द्वारा धारण की जाती रही श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। कहाँ तो वैराग्य के रँग में पूर्णतः रँग जाने के कारण प्रबुद्ध, धीर, वीर, गम्भीर पुरुषों द्वारा धारण किये गये पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक अति दुष्कर पंच महाव्रत और कहाँ ये निर्बल सुकुमार बालक? तथापि देश, काल और शक्ति के अनुसार इन्हें केवल भावनैर्ग्रन्थधर्म की दीक्षा दी जा रही है। ये सब अल्पवयस्क बालक हैं, इसीलिये इन्हें द्रव्य-दीक्षा नहीं दी जा रही है। सोना, चाँदी, लोह और बँत के वलयवाले चार प्रकार के पिच्छ माने गये हैं। लीलाप्रिय सहज बालस्वभाववश ये लोग स्वर्ण अथवा रजत-वलय के पिच्छों को इधर-उधर रख कर भूल सकते हैं, अतः इनके लिये बँत के वलय तथा बँत की ही डण्डी से युक्त पिच्छ उपयुक्त होंगे। आज तक यह व्यवस्था रही है कि श्रमण-दीक्षा के समय उस श्रमण का नाम वही रखा जाता था, जो कि गृहस्थजीवन में उसका नाम होता था। अब उस व्यवस्था को बदल कर श्रमणत्व अंगीकार कर लेने पर उसका पूर्व नाम न रख कर अन्य नाम रखा जायेगा।^{१०३}

१०३. तथापि दीयते देशकालशक्त्यनुसारतः। शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्तसम्मतम् ॥ १७७ ॥
एतेषां भावनैर्ग्रन्थमेव शक्ति-प्रचोदितम्। अतिबाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम् ॥ १७८ ॥
सौवर्णं राजतं लौहमयं वेन्नान्वितं च वा। मतं वलयपिच्छं हि यथायोग्यं न चान्यथा ॥ १७९ ॥
यस्मादिमे विस्मरन्ति लीलासंकल्पचोदिताः। वेत्रदण्डान्वितं पिच्छं तस्मात्तद्वलयान्वितम् ॥ १८० ॥

“इस प्रकार की व्यवस्था के अनन्तर आचार्य माघनन्दी ने उन सब बालकों को द्रव्य मुनिलिंग की दीक्षा न देकर केवल भाव-मुनित्व की ही दीक्षा दी और उच्च स्वर से उसी समय उनका नामपरावर्तन कर दिया। श्रमणधर्म की भाव-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन नवदीक्षित मुनियों ने क्रमशः नवीन नाम के उच्चारण के साथ गुरु के द्वारा सम्बोधित किये जाने पर अपने गुरु का वन्दन-नमन किया। आचार्य माघनन्दी ने अपने उन नवदीक्षित ७७० मुनियों को आशीर्वाद दे, उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया।

“तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी ने राजराजेश्वर गण्डादित्य को उन नवनिर्मित ७७० चैत्यालयों की प्रतिष्ठा करने की अनुज्ञा प्रदान की। गण्डादित्य ने स्थान-स्थान पर जाकर अति सुन्दर एवं विशाल तोरणों का निर्माण करवा नगर को सजवाया। सभी मन्दिरों के शिखरों पर इन्द्रध्वज तुल्य ध्वजाएँ लगवाईं। मन्दिरों के मुख्य द्वारों, दीवारों एवं कंगूरों पर रंगबिरंगी नितरां अतीव सुन्दर पताकाएँ लहराने लगीं। तदनन्तर महाराज गण्डादित्य ने पूर्ण ठाट-बाट के साथ उन सभी मन्दिरों की प्रतिष्ठाएँ करवाईं। निम्बदेव ने अभ्यर्थिजनों को यथेप्सित दान दे समस्त संघ एवं प्रजा को भी सभी भाँति सन्तुष्ट किया।

“उन नूतन मुनियों का अध्ययनक्रम निर्बाध गति से उत्तरोत्तर प्रगति करने लगा। आचार्य माघनन्दी के चरणों में बैठकर उन नये साधुओं ने गणित, छन्द, काव्य, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र, शब्दशास्त्र, कवित्व, नाट्यशास्त्र, गमक, वक्तृत्वकला आदि सभी विद्याओं एवं शास्त्रों का बड़ी ही निष्ठा के साथ अध्ययन किया। इस प्रकार वे सब के सब ७७० मुनि सभी विद्याओं के पारंगत प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उन ७७० विद्वान् मुनियों में से १८ मुनि सिद्धान्तशास्त्रों के पूर्ण पारंगत विशिष्ट विद्वान् बने। शेष सभी मुनि तर्कशास्त्र में ऐसे निपुण हो गये कि उनके द्वारा एक वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिवादी घबराने लग जाते थे।

“एक दिन आचार्य माघनन्दी ने महाराजा गण्डादित्य को बुलाकर कहा—“निश्चक्र चक्रवर्तिन्! आपकी सहायता एवं सहयोग से सकल शास्त्रों में निष्णात ये ७७० महाविद्वान् मुनि जिनशासन की सेवा के लिये समुद्यत एवं कृतसंकल्प हैं। जिस प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियों ने जिनशासन का उद्धार किया, वस्तुतः उसी प्रकार आपने भी जिनशासन

इयत्कालं मुनीनां हि पूर्वनामसमर्पणम्। न तथेतः परं नामान्तरमेव निरूप्यते ॥ १८१ ॥

इति नामपरावृत्तिं कृत्वा चोच्चमपि स्फुटम्। उत्थायैते हि मुनयो नमस्कुर्वन्तु शीघ्रतः ॥ १८२ ॥

इत्युक्त्वाहूय तान्सर्वान् नामकीर्तनपूर्वकम्। दत्त्वाशिषं हि कृतवान् शास्त्रारम्भमपि स्फुटम् ॥ १८३ ॥

जैनाचार्य-परम्परा-महिमा

का उद्धार किया है। आपके द्वारा निर्मित ये ७७० चैत्य आज वस्तुतः प्राकृत शाश्वत चैत्यों के समान धरातल पर सुशोभित हो रहे हैं। देखा जाय तो आपका जन्म सफल हो गया है, आप कृतकृत्य हो गये हैं। वैभव, धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों में आपके समान और कोई राजा दृष्टिगोचर नहीं होता।

“अब यह सुनिश्चित है कि भविष्य में इस कलिकाल में जिनशासन के प्रति निष्ठा रखनेवाले तथा सत्य-शौच-सदाचारपरायण राजा न होकर किरात, म्लेच्छ, यवन आदि हीन कुलों के दुष्ट राजा होंगे। भविष्य में श्रावक पूर्व काल की तरह धर्मनिष्ठ एवं सत्यवादी न होकर काल के कुप्रभाव से उन म्लेच्छ राजाओं के दुराचारानुकूल स्वेच्छाचारी, मूर्ख, गुरुनिन्दक, महाधूर्त और कुमार्गगामी होंगे। इस प्रकार के मूर्ख, स्वेच्छाचारी एवं कुमार्गगामी श्रावकों पर केवल आचार्य ही अनुग्रह-निग्रहात्मक अनुशासन रख सकेंगे, क्योंकि उस भावीकाल में सन्मार्गगामी राजाओं का अस्तित्व तक भी नहीं रहेगा।

“इस प्रकार की अवश्यम्भावी भविष्य की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए अब आचार्यों के पास सिंहासन, छत्र, चामरादि राजचिह्नों, भृत्यों और चाँदी, सोना आदि धन का होना परम आवश्यक है। किन्तु यह सब कुछ आपकी सहायता के बिना नहीं हो सकता। अतः आपको ही यह सब व्यवस्था करनी है।^{१०४}

“आचार्य माघनन्दि की यह बात सुनकर नृपति गण्डादित्य ने कहा—“स्वामिन्! दिगम्बरों को यह सब किस प्रकार शोभा देगा?

“आचार्य माघनन्दी ने कहा—“सुनो राजन्! प्राचीन काल में तीर्थकरों के भी छत्र, चामर, आकाश-गमन आदि बहिरंग अतिशय होते थे। इस सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रवाह को दृष्टिगत रखते हुए केवल मत-निर्वाह अर्थात् जैन-धर्म को एक जीवित धर्म रखने के अभिप्राय से ही यह सब कुछ करना परमावश्यक हो गया है।^{१०५}

१०४. पार्थिवज्ञानुगाः सर्वे श्रावका सत्यभाषिताः। जैनमार्गे चरन्त्यैवमुत्तरत्र न ते ततः॥ २०१॥
स्वेच्छाचारताः मूर्खा वक्राश्च गुरुनिन्दकाः। तदा कुमार्गवशगाः श्रावका कालदोषतः॥ २०२॥
इदानीं श्रावका सर्वे मनुकालमृगोपमाः। भाविनस्ते महाधूर्ताः ह्येतत्कालमृगोपमाः॥ २०३॥
निग्रहानुग्रहौ तेषामाचार्येणैव नान्यथा। यतः सन्मार्गगा नैव वर्तन्ते पार्थिवास्ततः॥ २०४॥
तदर्थं राजचिह्नैश्च भाव्यं भृत्यैर्धनैरपि। आचार्यस्य हि तत्सर्वं, त्वत्सहायेन नान्यथा॥ २०५॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०५. गुरुणोक्तं वचः श्रुत्वा नरेन्द्रः पुनरब्रवीत्। स्वामिन्! दिगम्बराणां तच्छ्रेभते कथमित्यपि॥ २०६॥
शृणु राजन् पुरा तीर्थकरादीनामपि स्थिताः। बहिरङ्गनभोयानचामरादिविभूतयः॥ २०७॥
किं स्याद्बहुप्रसङ्गेन कालशक्त्यनुसारतः। क्रियते मतनिर्वाहसिद्ध्यर्थं न तदिच्छया॥ २०८॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

“भट्टारकपरम्परा के प्रथम आचार्य का पट्टाभिषेक—गुरुवचनों को शिरोधार्य कर महाराज गण्डादित्य ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए निवेदन किया—“भगवन्! आपके निर्देशानुसार मैं सब प्रकार की समुचित व्यवस्था कर दूँगा।

“तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी के आदेशानुसार गण्डादित्य ने सकल-आगम-निष्णात प्रकाण्ड विद्वान् मुनि सिंहनन्दी को आचार्यपद पर अभिषिक्त करने की पूर्ण तैयारियाँ कीं। आचार्य माघनन्दी ने (भट्टारकपरम्परा के प्रथम आचार्य के रूप में) सिंहनन्दी को आचार्य-पद पर नियुक्त किया। महाराज गण्डादित्य ने सिंहनन्दी का आचार्यपद पर पट्टाभिषेक किया। महाराजा गण्डादित्य ने सिंहनन्दी का आचार्यपद पर अभिषेक करते समय उन्हें (आचार्य सिंहनन्दी को) एक अत्युत्तम शिविका (पालकी) रत्नजटित पिच्छ, चँवर और छत्र आदि राजचिह्न प्रदान किये। विविध वाद्ययंत्रों के घोष के साथ महाराज गण्डादित्य ने आचार्य सिंहनन्दी की नगर में शोभायात्रा निकाल कर उनकी महती प्रभावना की। तदनन्तर राजा ने आचार्य सिंहनन्दी को विधिवत् चतुर्विध धर्म-संघ के संचालन के सर्वोच्च सत्तासम्पन्न सार्वभौम अधिकार प्रदान किये। महाराजेश्वर गण्डादित्य ने विभिन्न प्रान्तों तथा देश-देशान्तरों के राजा-महाराजाओं, जैनसंघों एवं संघनायकों को घोषणापत्र अथवा अधिकारपत्र भेजे कि आचार्य सिंहनन्दी को मूलसंघ के सर्वोच्च अधिकारसम्पन्न आचार्यपद पर अभिषिक्त किया गया है।

“इस प्रकार सुदूरस्थ प्रदेशों में भी आचार्य सिंहनन्दी की प्रसिद्धि हो गई कि ये मूलसंघ के सर्वोच्च सर्वाधिकारसम्पन्न महान आचार्य हैं।^{१०६} इस प्रकार की व्यवस्था से आ० माघनन्दी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई।^{१०७}

१०६. इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा नत्वा गुरुकुलप्रभुम्। यन्निर्दिष्टं तदिच्छामीत्यब्रवीदति भक्तितः॥ २०९॥
तदाखिलादिशास्त्रज्ञं सिंहनन्दिमुनीश्वरम्। समाहूयाथ पट्टाभिषेकं कृत्वा ततः परम्॥ २१०॥
प्रदाय शिविकाच्छत्रचामरादिपरिच्छदान्। दत्त्वा रत्नमयं पिच्छं चामरे च तथाविधे॥ २११॥
कारयित्वा पुरे नानावाद्यैस्तस्य प्रभावनाम्। सर्वाधिकारपदवीं दत्त्वैवातिप्रभावतः॥ २१२॥
तथा देशान्तरस्थानां नरेन्द्राणां च लेखनम्। भिन्नसंघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा॥ २१३॥
श्री मूलसंघाचार्योऽयमिति सर्वप्रसिद्धिजम्। तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्॥ २१४॥

जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०७. श्लोक संख्या २१४ के उत्तरार्द्ध “तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्” से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दी ने अभिनव भट्टारक परम्परा को जन्म देते समय अपने शिष्य सिंहनन्दी को प्रथम भट्टारकाचार्य बनाया और वे स्वयं यथावत् नन्दिसंघ के ही सदस्य बने रहे। इससे सर्वत्र उनका नाम हो गया अर्थात् उनकी कीर्ति फैल गई। वे भट्टारकपरम्परा के जनक थे, पर उसके आचार्य नहीं बने। (सम्पादक)।

“**भट्टारकपीठों की सर्वप्रथम स्थापना**—तत्पश्चात् आर्य माघनन्दी ने धर्मसंघ (भट्टारक- सम्प्रदाय) की समुचित व्यवस्था के लिए २५ पीठों की स्थापना की। उन सभी पीठों पर आर्य माघनन्दी ने अपने सुयोग्य एवं शास्त्रज्ञ विद्वान् शिष्यों को पीठाधीशों के पद पर नियुक्त किया। उन पच्चीसों पीठाधीशों को छत्रचामरादि-चिह्नरहित चाँदी के सिंहासन और काष्ठ की पादुकाएँ प्रदान की गईं। उन पच्चीसों ही पीठाधीशों को सम्बोधित करते हुए आचार्य माघनन्दी ने कहा—“तुम सब लोग आचार्य सिंहनन्दी के सेवक हो।”^{१०८} तुम सब लोग अपने-अपने पीठों पर जाकर जिनशासन का प्रचार-प्रसार करो।” उन सब ने भी अपने आचार्यदेव की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने-अपने पीठ पर जाकर वे जिनशासन की सेवा में निरत हो गये।

“एक समय आचार्य सिंहनन्दी अपने विशाल शिष्यसमूह से परिवृत हो विविध वाद्ययन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों एवं जय-जयकार के गगनभेदी निर्घोषों के साथ दक्षिण मथुरा गये। वहाँ के महाप्रतापी एवं शौर्यशाली महाराजा राचमल्ल तथा उनके महामात्य चामुण्डराय ने आचार्यश्री की अगवानी करते हुए महामहोत्सव के साथ उनका दक्षिण मथुरा में नगरप्रवेश करवाया। राजाधिराज राचमल्ल ने आचार्यश्री को वहाँ एक चैत्यालय में ठहराया। महाराजा राचमल्ल प्रतिदिन आचार्य सिंहनन्दी के उपदेश सुनता और उनके प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखता था। आचार्य सिंहनन्दी दक्षिण मथुरा (मदुरा) में रहते हुए सद्धर्म का अनेक वर्षों तक प्रचार-प्रसार करते रहे। आचार्य सिंहनन्दी के ३०० शिष्यों में प्रमुख शिष्य देवेन्द्रकीर्ति प्रकाण्ड पण्डित और शास्त्रज्ञ थे। सिंहनन्दि के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति को आचार्यपद पर अधिष्ठित किया गया। आचार्य देवेन्द्रकीर्ति का गुरुभ्राता अजितसेन भी विद्वानों में अग्रणी और महान् प्रभावंक था। अजितसेन को पण्डिताचार्य के पद से विभूषित किया गया। राजा चामुण्ड-राय सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहता था।

“आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी माघनन्दी (द्वितीय)को आचार्य पद प्रदान किया गया। माघनन्दी (द्वितीय)के पश्चात् उनके पट्टशिष्य नेमिचन्द्र को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया। आचार्य नेमिचन्द्र ने राजा चामुण्ड को प्रतिबोध दिया।

“**श्रवणबेल्लोल तीर्थ तथा वहाँ मुख्य पीठ की स्थापना**—एक दिन शुभ मुहूर्त में महाराजा चामुण्डराय आचार्य श्री नेमिचन्द्र और उनके शिष्यवर्ग के साथ

१०८. राजतं पीठमेतेषां पादुके दारुकल्पिते। छत्रचामरशून्यं तद्राजचिह्नमितीडितम् ॥ २१६ ॥
 प्रोक्त्वा तद्वापयित्वाथ तानाहूय मुनीश्वरः। आचार्यसेवका यूयमिति तेषां समब्रवीत् ॥ २१७ ॥
 जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों की अभिलाषा लिये मदुरापत्तन से पोदनपुर की ओर प्रस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विशालवाहिनी और भृत्यगण भी थे। प्रयाण और स्थान-स्थान पर पड़ाव डालकर विश्राम करते हुए वे सब बेलगोल के पास पहुँचे। बेलगोल के पास गगनचुम्बी गिरिराज विन्ध्याचल को देख महाराज चामुण्ड ने वहाँ रात्रि-विश्राम के लिए पड़ाव डाला।

“रात्रि की अवसानवेला में राजा चामुण्ड के पूर्वार्जित पुण्यों के प्रताप से नख-शिख (आपात्शीर्ष) शृंगार की हुई सपुत्रा कुष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न में चामुण्डराय को दर्शन दे परम प्रसन्न मुद्रा में उससे कहा—“ओ महिप चामुण्डराय! तुम सदल-बल इतनी दूरी पर अवस्थित पोदनपुर तक कैसे पहुँच सकोगे, अर्थात् वहाँ क्यों जा रहे हो? रावण द्वारा अर्चित-पूजित गोम्मटेश की मूर्ति यहीं विन्ध्यगिरि के विशाल शिलाखण्डों से ढँकी हुई विद्यमान है। तुम्हारे द्वारा बाण के प्रयोग मात्र से गोम्मटेश तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हें दर्शन दे देंगे।” बस इतना ही कह कर देवी कुष्माण्डिनी अदृश्य हो गई।^{१०९}

“सूर्योदय होते ही महाराज चामुण्ड ने आचार्य नेमिचन्द्र को अपना आद्योपान्त स्वप्न सुनाया और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर देवी द्वारा निर्दिष्ट स्थान में बाण चलाया। बाण चलाते ही सब को दर्शन देते हुए गोम्मटेश प्रकट हो गये। तत्काल महाराज चामुण्ड ने गोम्मटेश जिन की पूजा की। आचार्य नेमिचन्द्र ने शास्त्रों से सार ग्रहण कर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार नामक तीन सारभूत उत्तम ग्रंथों की रचना की। वहीं बेलगोल पत्तन में राजा चामुण्डराय ने भी लोकभाषा में ‘त्रिषष्टि (श्लाघ्य) पुरुष पुराण’ नामक पुराण की रचना की।

“बेलगोल में गोम्मटेश के प्रकट होने, गोम्मटसार आदि सारत्रय उत्तम ग्रंथों के प्रणयन तथा ‘त्रिषष्टि पुरुष पुराण’ की रचना, इन तीनों कारणों से बेलगोल पत्तन में दक्षिणाचार्य प्रवर का महासिंहासन स्थापित कर वहाँ भट्टारकपरम्परा का प्रमुख पीठ स्थापित किया गया। श्रवण-बेलगोल के उस महासिंहासन पर विराजमान आचार्य नेमिचन्द्र सुशोभित होने लगे।^{११०}

१०९. अस्मिन् विन्ध्याचले स्थूलशिलाखण्डतिरोहितः।

स एव गोम्मटेशोऽस्ति रावणेन समर्चितः॥ २३५॥

बाणप्रयोगमात्रेण प्रसन्नस्तव जायते।

इति वाचं समुद्गौर्यं तिरोभूत्वा गता हि सा॥ २३६॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११०. दक्षिणाचार्यवर्यस्य तस्माद्द्वेलगुलपत्तनम्।

महासिंहासनस्थानं जातं सौख्याकरं यतः॥ २४२॥

तद्द्वेलगुलमहासिंहासनासीनो मुनीश्वरः।

नेमिचन्द्राख्यसिद्धान्तदेवो गुणनिधिर्बभौ॥ २४४॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

“महाराजा चामुण्ड अपने उन आचार्यदेव नेमिचन्द्र के पादप्रक्षालन एवं उनकी अर्चा-पूजा के लिये सदा समुद्यत रहता था। महाराज चामुण्ड ने १,९६,००० (एक लाख छ्यानवे हजार) मुद्राओं की प्रतिवर्ष आयवाला विशाल भूखण्ड गोमटेश को भेंट के रूप में सदा-सर्वदा के लिए समर्पित किया।^{१११} महाराज चामुण्ड ने श्रवणबेलगुल में नन्दीश्वर महापूजा आदि अनेक भव्य महोत्सव आयोजित किये। उन महोत्सवों के कारण श्रवणबेलगुल नगर सदा धर्मनगर का रूप धारण किये रहता था।

“इस प्रकार गोमटेश्वर तीर्थ की स्थापना, श्रवणबेलगुल में दक्षिणाचार्य के प्रधानपीठ की प्रतिष्ठापना और अनेक महोत्सवों के आयोजनों के पश्चात् चामुण्डराज अपने गुरु दक्षिणाचार्य श्रीनेमिचन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर शंखनादों एवं दुन्दुभि आदि नानाविध वाद्यों के निर्घोषों के साथ श्रवणबेलगुल से सदलबल प्रस्थित हो अपने राज्य की राजधानी दक्षिण मथुरा (मदुरा) पहुँचा और गोमटेश जिन के चरणयुगल का स्मरण करता हुआ न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाराज चामुण्ड की सेना में ८००० हाथी, १०,००,००० अश्वारोही और अगणित पदाति सुभट थे।^{११२}

“उधर सिद्धान्तदेव आचार्य नेमिचन्द्र श्रवणबेलगुल में रहते हुए तीर्थ का अभिवर्द्धन एवं धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। वे जिनेन्द्रमार्ग के सार्वभौम सर्वोच्च अधिकार एवं सत्ता सम्पन्न अधिनायक आचार्य थे।

“आचार्य श्रीनेमिचन्द्र के पश्चात् कलधौतनन्दी दक्षिणाचार्य के पद पर अधिष्ठित किये गये। आचार्य कलधौतनन्दी के पश्चात् हुए कतिपय दक्षिणाचार्यों के नाम जैनाचार्य परम्परा महिमा नामक लघु ग्रन्थ में निम्नलिखित क्रम से दिये गये हैं। ---

“जिस प्रकार रोहणगिरि से अनमोल रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार मुनिरत्नों की खान श्रवणबेलगुल के मुख्य पीठ से अनेक महान् आचार्यों का उदय हुआ। ये सभी आचार्य विपुल विद्यावैभव के धनी और शाप तथा अनुग्रह दोनों ही विद्याओं में सक्षम थे। यह श्रवणबेलगुल मुख्यपीठ के सिंहासन का ही चमत्कार था कि जो भी मुनि आचार्यपद पर अभिषिक्त हो इस सिंहासन पर बैठता, वही इस सिंहासन की शक्ति से स्वतः ही शापानुग्रह-समर्थ और अद्भुत विद्यावैभव-सम्पन्न हो जाता था।

१११. षण्णवत्यन्वितं भक्त्या सहस्रं लक्षपूर्वकम्।

राज्यं चामुण्डभूपालो गोमटेशस्य सन्ददौ ॥ २४६ ॥

नियुतं षण्णवत्युद्धसहस्रान्वितमादरात्।

राज्यं चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य सन्ददौ ॥ २४७ ॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११२. अष्टौ दन्तिसहस्राणि दशलक्षतुरङ्गमाः।

भटानां गणना नैव तद्भूपालबलाम्बुधौ ॥ २५१ ॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

“भट्टारक रामचन्द्र के पश्चात् श्रवणबेलगुल के सिंहासन पर भट्टारक-शिरोमणि देवकीर्ति हुए। तदान्तर भट्टारक देवचन्द्र हुए, जिनके द्वार पर छोटिंग नामक यक्ष सदा बैठा रहकर इनके द्वारपाल का कार्य करता था। बैताली सदा इनके चरणयुगल की सेवा करती थी और अनेकों व्यन्तर इनकी पालकी को उठाते थे। अनेक भूतगण उनका आदेश पालने के लिए सदा तत्पर रहते। देवचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य चारुकीर्ति आचार्यपद पर आसीन हुए। ये चारुकीर्ति भट्टारकों में सूर्य के समान थे। चारुकीर्ति वस्तुतः अद्भुत प्रतिभासम्पन्न थे, अतः इनकी कलिकाल-गणधर के नाम से चारों ओर ख्याति फैल गई थी। महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा करने के कारण आपकी यशोपताका सुदूर प्रान्तों तक फहराने लगी थी।

“एकदा महाराजाधिराज वल्लाल के राजप्रासाद में ज्वालामुखी के समान एक भीषण विवर (बिल) प्रकट हुआ। उस बिल में से अग्नि की भीषण ज्वालाएँ निकलने लगीं, बड़े-बड़े अंगारे निकल कर चारों ओर फैलने लगे। उस बिल में से इतना अधिक धुआँ निकलने लगा कि प्रासाद और गगन-मण्डल उस धुएँ से इस प्रकार छा गया, जैसे कि वर्षाकाल में घुमड़ती हुई घनघटाओं से आकाश आच्छादित हो गया हो। उस बिल से जो प्रलयंकर दृश्य उत्पन्न हुआ, वह इतना बीभत्स था कि उसे देखते ही लोग मूर्च्छित हो जाते थे। उस ज्वालामुखी की शान्ति के अनेक उपाय सोचे गये। मिथ्यादर्शनियों ने उसकी शान्ति का उपाय बताते हुए राजा से कहा कि इस बिल को महिष, बकरों आदि पशुओं के रक्त से भर दिया जाय। बिना पशुओं के रक्त के यह बिल बन्द होनेवाला नहीं है। राजाधिराज वल्लाल इस पापकृत्य के नाम मात्र से काँप उठा। उसने भट्टारक चारुकीर्ति की सेवा में उपस्थित हो संकट से रक्षा की प्रार्थना की। चारुकीर्ति भट्टारक ने कुष्माण्डिनी देवी का आह्वान कर कुष्माण्डों से उस बिल को भर दिया और उस पर सिंहासन जमा कर वे उस पर बैठ गये। तत्काल ज्वालामुखी बिल द्वारा उत्पन्न घोर संकट नष्ट हो गया। अंग आदि अनेक देशों के राजाओं ने साष्टांग प्रणाम कर चारुकीर्ति की स्तुति की और उन्हें ‘वल्लालराज सजीव रक्षक’ के विरुद्ध से विभूषित कर छहों दर्शनों की उपासक सम्पूर्ण प्रजा का स्थापनाचार्य घोषित किया।

“इन भट्टारक चारुकीर्ति के आचार्यकाल में जिनशासन की प्रतिष्ठा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। जन-जन के अन्तर्मन पर चारुकीर्ति के नाम की गहरी छाप अंकित हो गई। चारुकीर्ति के नाम के चमत्कार को दृष्टि में रखते हुए यह नियम बना दिया गया कि कालान्तर में श्रवणबेलगुल के सिंहासन पर अभिषिक्त होनेवाले सभी भट्टारकों का नाम चारुकीर्ति ही रखा जाय।” ११३ (जै.ध.मौ.इ./भा.३/पृ.१५२-१६६)।

११३. श्रवणबेलगुल में अद्यावधि यही नियम प्रचलित है। (सम्पादक)

इस कथा का वर्णन करनेवाले “जैनाचार्य-परम्परा-महिमा” नामक ग्रन्थ पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हस्तीमल जी लिखते हैं—

“जैनाचार्य परम्परा महिमा नामक लघु ग्रन्थ के रचनाकार भी चारुकीर्ति हैं और उन्होंने अपने आपको उन चारुकीर्ति का ३१वाँ पट्टधर बताया है, जिन्होंने कि महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा की थी

“जैनाचार्य परम्परा महिमा नामक ३४९ श्लोकों के हस्तलिखित लघु ग्रन्थ के आधार पर जो भट्टारकपरम्परा पर प्रकाश डाला गया है, उसमें वर्णित आचार्य माघनन्दी, गण्डरादित्य राज-राजेश्वर, राजा वल्लाल, महासामन्त निम्बदेव, आचार्य माघनन्दी का विशाल शिष्य-परिवार आदि-आदि प्रायः सभी पात्र वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले पुरातात्विक ठोस प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। महासामन्त निम्बदेव द्वारा निर्मित कोल्हापुर की ‘रूपनारायण वसदि’ में तथा कोल्हापुर संभाग के कागल नामक नगर के समीपस्थ होन्नूर के जैनमन्दिर में और कुण्डी-प्रदेशस्थ सांगली विभाग के तेरदाल-नगर के नेमिनाथ-मन्दिर में मिले शिलालेखों से इन सब की ऐतिहासिकता के साथ-साथ भट्टारक-परम्परा के प्रादुर्भाव एवं माघनन्दी, वल्लाल, गण्डरादित्य (गण्डादित्य), निम्बदेव आदि का समय भी ऐतिहासिक आधार पर सुनिश्चित होता है।” --- (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१६७)।

“कोल्हापुर के विभिन्न शिलालेखों में कोल्हापुर, कोलगिर और क्षुल्लकपुर ये ३ नाम उद्धृत मिलते हैं। कोल्हापुर का क्षुल्लकपुर नाम इस नगर में भट्टारकपरम्परा के प्रादुर्भाव की उस अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना को महत्त्व देते हुए ही रखा गया प्रतीत होता है, जिसका कि उल्लेख मेकेन्जी के संग्रह में उपलब्ध जैनाचार्य परम्परा महिमा नाम की हस्तलिखित पुस्तक में विद्यमान है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। भट्टारकपरम्परा के प्रादुर्भाव पर प्रकाश डालनेवाली उस ऐतिहासिक घटना का विवरण ऊपर प्रस्तुत कर दिया गया है कि आचार्य माघनन्दी, कोल्हापुर-नृपति गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव की अभिसन्धि से आचार्य माघनन्दी को ७७० (सात सौ सत्तर) कुलीन, कुशाग्रबुद्धि, स्वस्थ, सुन्दर एवं सशक्त किशोर, शिष्यों के रूप में मिले। सिद्धान्तों एवं सभी विद्याओं का शिक्षण देने से पूर्व ही आचार्य माघनन्दी ने अपने उन ७७० शिष्यों को भावनिर्ग्रन्थ दीक्षा देते समय कहा था—

गण्डादित्यनराधीश! शृणु सर्वेऽपि बालकाः।

इमे दीक्षां हि गृह्णन्ति महद्भिः पुरुषैर्धृताम्॥ १७५॥

क्व महाव्रतमेतद्भिः सुविरक्तिप्रबोधितैः।

महाधीरैर्धृतं क्वैते बालकाः बलवर्जिताः॥ १७६॥

तथापि दीयते देश-काल-शक्त्यनुसारतः।
शक्तिस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्तसम्मतम् ॥ १७७ ॥

एतेषां भावनैर्ग्रन्थमेव शक्तिप्रचोदितम्।
अति बाला इमे यस्मान् द्रव्यगमुदीरितम् ॥ १७८ ॥

सौवर्णं राजतं लौहमयं वेत्रान्वितं च वा।
मतं वलयपिच्छं हि यथायोग्यं न चान्यथा ॥ १७९ ॥

यस्मादिमे विस्मरन्ति लीलासङ्कल्पचोदिताः।
वेत्रदण्डान्वितं पिच्छं तस्मात्तद्वलयान्वितम् ॥ १८० ॥

जैनाचार्य-परम्परा-महिमा

“सोने, चाँदी और लोहे के वलय से वेष्टित वेत्रदण्डयुक्त पिच्छ हाथ में लिये और वस्त्र धारण किए हुए भाव-निर्ग्रन्थ-श्रमणधर्म में दीक्षित एक साथ ७७० मुनियों के विशाल जनसमूह को कोल्हापुर में देखकर हर्षविभोर उपस्थित जनसमूह ने अवश्यमेव कहा होगा—“अहो! आज तो यह कोल्हापुर वस्तुतः क्षुल्लकपुर बन गया है। शिलालेखों में क्षुल्लकपुर के नाम से कोल्हापुर के उल्लेख से भी जैनाचार्य-परम्परा-महिमा नामक पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।”--- (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७१-१७२)।

“भट्टारकपरम्परा के पीठाधीश आचार्यों के पास भव्य भवन, भृत्य, भूमि, चल-अचल सम्पत्ति, विपुल धनराशि, छत्र, चामर, सिंहासनादि राजचिह्नों एवं शिविका आदि रखने का भी प्रावधान आचार्य माघनन्दी ने रखा।^{११४} (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७२)।

“आचार्य माघनन्दी कितने प्रतापी, यशस्वी, लोकप्रिय एवं कुशल प्रभावक आचार्य थे, इस सम्बन्ध में यशस्वी अग्रगण्य पुरातत्त्वविद् विद्वान् स्व० श्री पी० बी० देसाई और 'जैनाचार्य परम्परा महिमा' के शताब्दियों पूर्व हुए रचनाकार भट्टारक चारुकीर्ति (३१वें) के उल्लेखों में कितना साम्य है, यह द्रष्टव्य एवं माननीय है। स्व० श्री देसाई ने अपनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति—'JAINISM IN SOUTH INDIA & SOME JAINA EPIGRAPHS' के पृष्ठ 121 पर लिखा है—

"Maghanandi of the Roopa Narayan temple of Kolhapur was an eminent personality in the history of Jaina church of this area, & he contributed immensely to the prosperity of the faith by his erudition & efficient administration of the ecclesiastical organisations under him & through the able band of his scholarly disciples, during his long regime of nearly three generations."

११४. देखिए, पादटिप्पणी क्र. १०६, १०७, १०८ (श्लोक २०५-२१३)।

और चारुकीर्ति (३१वें) ने अपनी रचना जैनाचार्य परम्परा महिमा में लिखा है—

श्री मूलसङ्घाचार्योऽयमिति सर्व-प्रसिद्धिजम् ।
 तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम् ॥ २१४ ॥
 धर्माचाराय कृतवान्यञ्चविंशति - पीठिकाः ।
 तत्तद्योग्यान्स्थापयित्वा शिष्यान्शास्त्रविशारदान् ॥ २१५ ॥
 राजतं पीठमेतेषां पादुके दारुकल्पिते ।
 छत्र-चामर-शून्यं तद्राजचिह्नमितीडितम् ॥ २१६ ॥
 प्रोक्त्वा तद्वापयित्वाथ तानाहूय मुनीश्वरः ।
 आचार्यसेवका यूयमिति तेषां समब्रवीत् ॥ २१७ ॥

“आचार्य माघनन्दी ने युवावय के अपने ७७० शिष्यों को सिद्धान्तों के साथ-साथ व्याकरण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि सभी प्रकार की विद्याओं का उच्चकोटि का प्रशिक्षण दे कर भारत के विभिन्न भागों में २५ भट्टारकपीठ (आचार्यपीठ) स्थापित कर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और भट्टारकपरम्परा के विस्तार के लिये देश के कोने-कोने में भेजा। माघनन्दी द्वारा बड़े पैमाने पर किये गये उस देशव्यापी सामूहिक अभियान के परिणामस्वरूप मध्ययुग में भट्टारकपरम्परा एक बहुजन-सम्मत सबल संगठन बन गई और देश के अति विशाल भू-भाग पर इसका उल्लेखनीय वर्चस्व छा गया।” (जै.ध.मौ.इ. / भा.३ / पृ.१७३-१७४)।

“इतिहास के विद्वानों, शोधार्थियों एवं इतिहास में अभिरुचि रखनेवालों के लिये यह तथ्य चिन्तनीय, मननीय, पर्यालोचनीय एवं आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है कि दिगम्बरपरम्परा के परम्परागत श्रमणाचार ही नहीं, अपितु श्रमणवेष का पूर्णतः परित्याग कर देने के उपरान्त भी भट्टारकपरम्परा के मूर्द्धन्य आचार्यों, मण्डलाचार्यों, पीठाधीशों एवं साधुओं ने अपनी परम्परा के नाम मूलसंघ, कौण्डकौण्डान्वय (कुन्दकुन्दान्वय), देशीगण और पुस्तकगच्छ आदि वही रखे, जो दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित थे।

“उदाहरण के लिये आचार्य माघनन्दी का नाम अथवा इनके द्वारा अभिनवरूप में संस्थापित भट्टारकपरम्परा के किसी भी आचार्य का नाम ले लिया जाय, इन सब ने अपनी परम्परा की पहिचान मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीगण और पुस्तकगच्छ के नाम से दी है। परन्तु क्या कोई भी इतिहास का विद्वान् इस परम्परा के प्राचीन आचार्यों और आचार्य माघनन्दी तथा उनके द्वारा स्थापित भट्टारकपरम्परा के आचार्यों को एक

ही परम्परा के आचार्य मानने को तैयार है? कभी नहीं। इस भट्टारकपरम्परा के आचार्यों ने और स्वयं आचार्य माघनन्दी ने मन्दिरों, वसदियों, मठों आदि का पौरोहित्य किया, साधुओं के आहार आदि की व्यवस्था के लिए, मन्दिरों, वसदियों के निर्माण, पुननिर्माण, जीर्णोद्धार अथवा पूजा-अर्चा आदि की व्यवस्था के लिये ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान आदि ग्रहण किये। इन आचार्यों द्वारा ग्रहण किये गये ग्रामदान, भूमिदान आदि दान का प्राचीन अभिलेखों से विस्तृत विवरण तैयार किया जाय, तो हजारों पृष्ठ की पुस्तक भी अपर्याप्त रहेगी। इस प्रकार दान ग्रहण करनेवाले, मठों, मन्दिरों एवं वसदियों में नियतनिवास करने और स्वर्ण-सिंहासन, छत्र-चामरादि का उपभोग करनेवाले भट्टारकपरम्परा के आचार्यों और गिरि-गुहाओं में साधनापूर्ण जीवन जीनेवाले निष्परिग्रही आचार्यों को एक ही परम्परा का मानना वस्तुतः उन निष्परिग्रही आचार्यों के साथ अन्याय होगा।” (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७४-१७५)।

आचार्य माघनन्दी का समय—“उपलब्ध शिलालेखों में सर्वप्रथम आचार्य माघनन्दी का नाम एक प्रख्यात एवं समर्थ मण्डलाचार्य के रूप में सांगली क्षेत्र के तेरदाल नगर के भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर में रट्टवंशीय मुख्य माण्डलिक गोंक द्वारा दिये गये भूमिदान के शिलालेख में अंकित है। इस मन्दिर के निर्माण के पश्चात् इसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर रट्टवंशीय राजा कार्तवीर्य द्वितीय और कोल्हापुर के लोकविश्रुत मण्डलाचार्य माघनन्दी को विशेषरूप से तेरदाल में आमन्त्रित किया गया था और वे दोनों ही उक्त शिलालेख के उल्लेखानुसार उस प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय तेरदाल में उपस्थित हुए थे। इस शिलालेख पर वर्ष विक्रम सं० ११८० तदनुसार ई० सन् ११२३-२४ अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य माघनन्दी की कीर्ति ईसा की १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही फैल चुकी थी। उस समय वे कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के अधिष्ठाता और कोल्हापुर राज्य के साथ-साथ उसके आस-पास के विशाल क्षेत्र के मण्डलाचार्य अर्थात् सत्तासम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। रूपनारायण वसदि का निर्माण कोल्हापुर के शिलाहार-वंशीय राजा गण्डरादित्य के महासामन्त निम्बदेव ने तेरदाल में गोंक द्वारा निर्मापित नेमिनाथ के मन्दिर से पर्याप्त समय पूर्व करवाया था। रूपनारायण वसदि के निर्माण के पश्चात् निम्बदेव ने कोल्हापुर के कवड़ेगोल्ला बाजार में भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख कोल्हापुर के शुक्रवारी दरवाजे के पास मिले एक शिलालेख में है। इस शिलालेख में इस मन्दिर की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिये व्यापारियों के अव्यावले ५०० नामक महासंघ ने अपने व्यापार की दैनन्दिन आय के अंश का दान वि० सं० ११९२ में सदा के लिये रूपनारायण वसदि के तत्कालीन अधिष्ठाता आचार्य श्रुतकीर्ति को दिया, जो कि मण्डलाचार्य माघनन्दी के शिष्य थे।

“उपर्युक्त दोनों शिलालेखों की तिथियों के सम्बन्ध में विचार करने पर विक्रम सं० ११८० तक आचार्य माघनन्दी की विद्यमानता और वि० सं० ११९२ से पूर्व उनका स्वर्गगमन अनुमानित किया जा सकता है।

“कोल्हापुर के शिलाहारवंशीय महाराजा गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव का समय भी कोल्हापुर एवं उनके आस-पास के तेरदाल से उपलब्ध हुए शिलालेखों से ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ई० सन् ११४३ के पहले तक का अनुमानित किया जा सकता है। क्योंकि तेरदाल के ई० सन् ११२३-२४ के शिलालेख में तेरदाल में नेमिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर माघनन्दी के साथ इन दोनों का उल्लेख है। कोल्हापुर के शुक्रवारी मुख्यद्वार के समीप से उपलब्ध हुए ई० सन् ११४३ के शिलालेख में दानदाता के रूप में गण्डरादित्य के स्थान पर उसके पुत्र महाराजा विजयादित्य का उल्लेख है। इससे गण्डरादित्य और निम्बदेव का समय ई० सन् ११२३ से ११४३ के बीच का तो पूर्णरूपेण सुनिश्चित ही है।

“इन सब पुरातात्विक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आनुमानिक-रूपेण यह सिद्धप्रायः हो जाता है कि आचार्य माघनन्दी, महाराजा गण्डरादित्य और महासामन्त निम्बदेव की अभिसन्धि के परिणामस्वरूप जिन ७७० किशोरों को सबस्त्र श्रमण के रूप में दीक्षित कर उन्हें उच्चकोटि का शिक्षण दे, उनमें से योग्यतम मुनियों को अनुक्रमशः मुख्य भट्टारकपीठ तथा विभिन्न प्रदेशों में नवसंस्थापित पच्चीस (२५) भट्टारकपीठों के भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित-अधिष्ठित किये जाने की यह आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच के किसी समय में घटित हुई।”--- (जै. ध. मौ. इ. / भा. ३ / पृ. १७५-१७६)।

“राजाओं के समान ही छत्र, चामर, सिंहासन, रथ, शिविका, दास-दासी, भूमि-भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति और विपुल वैभव के धनी भट्टारक अपने-अपने पीठ से विद्या के प्रसार के साथ धार्मिक शासक के रूप में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन भट्टारकपीठों द्वारा संचालित विद्यापीठों में शिक्षाप्राप्त स्नातकों ने धर्मप्रचार के क्षेत्र के समान ही साहित्यनिर्माण के क्षेत्र में भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। जैनधर्म के मूल स्वरूप में, श्रमणों के शास्त्रीय, मूल, विशुद्ध स्वरूप में विकृतियों के सूत्रपात्र के लिए उत्तरदायी होते हुए भी भट्टारकपरम्परा द्वारा किये गये इन सब कार्यों का लेखा-जोखा करने के पश्चात् यदि यह कहा जाय कि एक प्रकार के उस संक्रान्तिकाल में भट्टारकपरम्परा ने जैनधर्म को एक जीवित

धर्म के रूप में बनाये रखने में बड़ा ही श्लाघनीय कार्य किया, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। (जै.ध.मौ.इ. / भा.३ / पृ.१७७)।

४.७. उपर्युक्त कथा की समीक्षा

यद्यपि बलिदान-भय के छल-कपट से समर्पित कराये गये ७७० बालकों को अनागमोक्त, नवकल्पित, सवस्त्र, भावनिर्ग्रन्थ बनाने की यह कथा विश्‍सनीय नहीं है, यह जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा-सिद्धान्त के विरुद्ध है तथा प्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशम एवं वस्त्रादिपरिग्रहत्याग के अभाव में भावनैर्ग्रन्थ असम्भव है, तथापि इससे दो तथ्य सामने आते हैं, एक तो यह कि राजोचित वैभव और प्रभुत्व से सम्पन्न सर्वांगवस्त्रधारी धर्मशासकों या धर्मगुरुओं के रूप में ही भट्टारकसम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, दूसरा यह कि भट्टारकसम्प्रदाय की उत्पत्ति १२वीं शताब्दी ई० से पूर्व नहीं हुई।

संक्षेप में अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु भट्टारकों के असाधारणधर्म (लक्षण) इस प्रकार हैं—

१. दीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन।
२. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण।
३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण।
४. दक्षिणा, चढ़ावा, भेंट, शुल्क, कर आदि से अर्थोपार्जन।
५. राजोचित ऐश्वर्य एवं प्रभुत्वमय निरंकुश जीवनशैली।

मठ में नियतवास भट्टारकों का असाधारण धर्म नहीं है, क्योंकि पासत्थादि मुनि भी मठादि में नियतवास करते हैं। हाँ, यह उनका अनिवार्य धर्म अवश्य है।

५

मन्दिरमठवासी-मुनिपरम्परा भट्टारक-परम्परा नहीं

आचार्य हस्तीमल जी और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने^{११५} मन्दिरमठवासी दिगम्बर मुनियों के सम्प्रदाय को भी भट्टारकसम्प्रदाय का कहा है। यह समीचीन नहीं है। यद्यपि जो गृहस्थकर्म पासत्थादि-मुनि करते थे, वे भट्टारकों द्वारा भी किये जाते हैं, जैसे मठवास,

११५. क—मिलापचन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली / भाग १ / पृ० ४३०।

ख—'भट्टारकसम्प्रदाय' ग्रन्थ के कर्ता प्रो० जोहरापुरकर ने धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा उनके शिष्यों को भट्टारकसम्प्रदाय का बतलाया है।

भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मन्दिरमठ की सम्पत्ति का प्रबन्ध और उपभोग इत्यादि, तथापि वे सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति की सूचक 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं हैं, क्योंकि उनके कारण पासत्थादि-मुनियों के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रचलित नहीं हुई। उनके लिए 'भट्टारक' संज्ञा का प्रचलित न होना ही इस बात का अखण्ड्य प्रमाण है कि उनके गृहस्थकर्म 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं थे। यदि होते, तो जैसे ईसा की १२वीं शताब्दी में अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर धर्मगुरुपद हथियानेवाले तथा 'स्वामी', 'जगद्गुरु', 'कर्मयोगी', पण्डिताचार्य इत्यादि उपाधियों से अपनी महिमा बढ़ानेवाले भट्टारकों के लिए 'भट्टारक' संज्ञा अकस्मात् प्रचलित हो गयी, वैसे ही पासत्थादि-मुनियों के लिये भी प्रचलित हो जाती। इससे सिद्ध है कि पासत्थादि-मुनियों के गृहस्थकर्म 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं थे। आचार्य श्री हस्तीमल जी के मत का निरसन नीचे किया जा रहा है। उस के निरसन से दिग्म्बरजैन विद्वानों का वैसा ही मत स्वतः निरस्त हो जाता है।

५.१. आचार्य हस्तीमल जी के मत का निरसन

प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय प्रकरण (शी.१) में आचार्य श्रीहस्तीमल जी के विचार उद्धृत किये गये हैं। उन्होंने बतलाया है कि इतिहास में भट्टारकपरम्परा के तीन रूप उपलब्ध होते हैं। प्रथम रूप का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (ई० सन् ८२ में) ही हो गया था, जब मुनियों ने चैत्यवास शुरू कर दिया था और भूमिग्रामस्वर्णादि का दान ग्रहण करने लगे थे। वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी (तृतीय शताब्दी ई०) के अन्तिम चरण में भट्टारकपीठ स्थापित होने लगे, राज्याश्रय प्राप्त किया जाने लगा और मंत्र-तंत्र, ज्योतिष-औषधि आदि के प्रयोग से जनमानस को अपने अधीन किया जाने लगा। यह भट्टारकपरम्परा का द्वितीय रूप था। ईसा की १२वीं शताब्दी में उक्त मुनियों ने मुनिलिंग त्याग दिया और वस्त्रधारण कर मठों में रहते हुए उपर्युक्त सभी कार्य करते रहे तथा श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु भी बन गये। यह भट्टारकपरम्परा का तृतीय और वर्तमान रूप है।

आचार्य जी ने भट्टारकपरम्परा के विकास के जो ये तीन रूप बतलाये हैं, वे अप्रामाणिक हैं। कुछ मुनियों में चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मंत्र-तंत्र ज्योतिष-औषधि के प्रयोग द्वारा ख्यातिलाभ-जीविकोपार्जन आदि की प्रवृत्तियाँ सदा रही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्हें अनादिकालीन कहा है। (भावपाहुड/गा.१४)। इनका आश्रय लेनेवाले मुनियों को आगम में पासत्थ, कुसील आदि नामों से अभिहित किया गया है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३)। इसलिए जैनपरम्परा के मुनियों में इन प्रवृत्तियों का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद मानना प्रामाणिक नहीं है। अनादिकालीन होने से इन्हें विकसित नहीं माना जा सकता। और यदि विकसित भी

माना जाय, तो इन्हें भट्टारकपरम्परा के विकास का प्रथम या द्वितीय रूप नहीं कहा जा सकता, अपितु पासत्थादि-मुनिचरित्र का ही विकास कहा जा सकता है, क्योंकि पिच्छी-कमण्डलु के साथ नागन्यलिंग 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु है। उपर्युक्त प्रवृत्तियोंवाले मुनिलिंगधारियों का सम्प्रदाय भ्रष्टमुनिसम्प्रदाय तो कहला सकता है, किन्तु भट्टारकसम्प्रदाय नहीं, जिस प्रकार वह श्रावक-सम्प्रदाय नहीं कहला सकता।

एक बात ध्यान में रखने की है कि भट्टारकसम्प्रदाय में भ्रष्टमुनि-प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं, जब कि पासत्थादि मुनियों में होती हैं। भट्टारक वस्त्रधारी होने से गृहस्थों की श्रेणी में आते हैं। अतः मठ आदि में नियतवास, मन्दिर के प्रबन्ध के लिए भूमिग्रामादिदान का ग्रहण, उनका उपयोग और प्रबन्ध तथा मन्दिर-तीर्थ आदि की व्यवस्था, ये प्रवृत्तियाँ भट्टारकपद के विरुद्ध नहीं हैं, जब कि मुनिपद के विरुद्ध हैं। अतः इन गृहस्थ-प्रवृत्तियों को अपनाने के कारण मुनि तो आचारभ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु भट्टारक नहीं। इसलिए पासत्थादि-मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। जो भी दिगम्बरमुनि चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण जैसी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ अपनाता है, वह पासत्थादि-मुनि ही कहला सकता है, भट्टारक नहीं। भट्टारक पासत्थादि-मुनियों जैसा भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि जिनलिंगधारी न होने से उसकी गृहस्थप्रवृत्तियाँ मुनिधर्मविरुद्ध नहीं होतीं। आचार्यों ने कहा है कि अन्यलिंग में रहकर किया गया पाप तो जिनलिंग धारण करने से छूट जाता है, किन्तु जिनलिंग में रहकर किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३.६)।

यतः भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ पासत्थादिमुनि-प्रवृत्तियों के समान धोरपापात्मक नहीं होतीं, अतः यह कहना सर्वथा अयुक्तिसंगत है कि पासत्थादिमुनियों का सम्प्रदाय भी भट्टारकसम्प्रदाय था या उसका एक रूप था।

दिगम्बरजैन-परम्परा में सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में 'भट्टारक' नाम उन पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दिगम्बरमुनिलिंग धारण न करते हुए भी पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक नया अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर श्रावकों के धर्मगुरु बनने लगे थे। इसलिए पासत्थादिमुनि-चरित्र और भट्टारकचरित्र में महान् अन्तर है। पासत्थादिमुनि 'मुनि' होते हुए भी गृहस्थकर्म अपनाते हैं और भट्टारक गृहस्थ होते हुए भी (यद्यपि वे विवाहित नहीं होते) मुनिकर्म (धर्मगुरु का कर्म) करने लगते हैं। इसलिए मन्दिरमठ में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, उनका प्रबन्ध और उपयोग, मन्दिरमठ आदि का व्यवस्था, ये गृहस्थकर्म भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ नहीं हैं, अपितु गृहस्थ होते हुए भी और सिंहासन, पालकी, छत्र, चँवर आदि राजसी ठाठ-बाट का उपभोग करते हुए भी, पिच्छी-कमण्डलु-सहित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर

दिगम्बरपरम्परा में एक नये प्रकार के अदिगम्बर साधु जैसी अपनी छवि दर्शाना तथा श्रावकों के धर्मगुरुपद पर आसीन होना भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ हैं। मुनि-एलक-क्षुल्लक न होते हुए भी अर्थात् सवस्त्र गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भट्टारकों का पिच्छी-कमण्डलु रखना तथा धर्मगुरु के पद पर आसीन होना, ये दोनों प्रवृत्तियाँ आगम-विरुद्ध हैं। इस प्रकार पासत्थादिमुनि-चरित्र में गृहस्थकर्म का प्रवेश आगमविरुद्ध है और भट्टारक-चरित्र में मुनिकर्म का समारोपण आगमविरुद्ध है। फलस्वरूप दोनों चरित्र परस्पर विपरीत हैं। इससे सिद्ध है कि आचार्य श्री हस्तीमल जी ने वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद तथा वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिमचरण में कतिपय दिगम्बरमुनियों में दिखायी देनेवाली चैत्यवासादि जिन प्रवृत्तियों को भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ कहा है, वे भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, बल्कि पासत्थादिमुनि-प्रवृत्तियाँ थीं।

यद्यपि पासत्थादि-मुनियों ने ही ईसा की १२वीं शती में भट्टारकपरम्परा का आरम्भ किया था, तथापि वह तब हुआ था, जब उन्होंने मुनिलिंग त्यागकर पिच्छी-कमण्डलु के साथ एक ऐसा सवस्त्रलिंग धारण कर लिया था, जो मुनि, एलक, क्षुल्लक एवं सामान्य श्रावकों के लिंग से भिन्न था और जिससे वे दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक नये प्रकार के अदिगम्बर साधु जैसे दिखते थे तथा जिसकी सहायता से वे श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु, धर्माधिकारी अथवा धर्मशासक बनने में सफल हुए। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३)।

यदि भट्टारकों ने पासत्थादि साधुओं के केवल गृहस्थकर्म अपनाये होते और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण न किया होता तथा धर्मगुरुपद न हथियाया होता, तो उनके लिए 'भट्टारक' जैसा पूज्यता-द्योतक नाम प्रसिद्ध न हुआ होता। वे मात्र 'मठमन्दिर-प्रबन्धक' ही कहलाते। अतः अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग तथा धर्मगुरुपद, ये दो ही तत्त्व भट्टारकों के 'भट्टारक' नाम से प्रसिद्ध होने के हेतु हैं। पासत्थादि-मुनियों के धर्मगुरुपद के साथ अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग नहीं था, इसलिए वे 'भट्टारक' शब्द से प्रसिद्ध नहीं हुए, 'मुनि' शब्द से ही प्रसिद्ध रहे। आज भी सम्पेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्रों में मन्दिर-मठ बनाकर नियतवास करनेवाले तथा आहार-दान, मन्दिर-निर्माणादि के नाम से दान माँगनेवाले दिगम्बरमुनि पासत्थादि साधु ही हैं, किन्तु वे मुनि ही कहलाते हैं, भट्टारक नहीं।

५.२. 'भट्टारक' संज्ञा का प्रयोग आकस्मिक

'भट्टारक' शब्द मूलतः विद्वत्ता और पूज्यता का द्योतक है। 'भट्टारक' नाम से प्रसिद्ध अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी, गुरुपद के अपात्र गृहस्थों के लिए 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग अर्थानुरूप नहीं है, अपितु आकस्मिक है। दिगम्बरजैनपरम्परा में यह

शब्द पूज्यता-द्योतनार्थ तीर्थकरों, आचार्यों एवं मुनियों के लिए प्रयुक्त होता था। जब मठवासी पासत्य-कुसील मुनियों ने वस्त्र धारण कर जिनलिंग का परित्याग करते हुए भी अपने में मुनित्व का आभास देने के लिए पिच्छी-कमण्डलु का त्याग नहीं किया और मोक्षमार्ग को तिलाञ्जलि देकर मन्दिर-मठ-तीर्थादि के प्रबन्ध के अतिरिक्त गृहस्थों के धर्मगुरु का कर्म अपना लिया, तब अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग के कारण उनका अभिधान न तो 'मुनि' शब्द से हो सकता था, न 'एलक-क्षुल्लक' शब्दों से। अतः उन्होंने अपने अभिधान के लिए दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित पूज्यभाव-सूचक 'भट्टारक' शब्द चुन लिया। और श्रावक उन्हें इसी शब्द से सम्बोधित करने लगे। फलस्वरूप उनका समूह 'भट्टारकसम्प्रदाय' शब्द से प्रसिद्ध हो गया। जब तक मन्दिरमठवासी मुनियों ने मुनिलिंग का परित्याग नहीं किया था और धर्मगुरु तथा पण्डिताचार्य बनकर गृहस्थों की धार्मिक क्रियाओं का पौरोहित्य एवं उनकी सामाजिक प्रवृत्तियों पर दण्डात्मक शासन का कर्म नहीं अपनाया था, तब तक उनके समुदाय को भट्टारकसम्प्रदाय जैसे नये नाम की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उनका समुदाय मुनियों के ही नाम से जाना जाता था, और 'मुनि' शब्द अपने आप में पूज्यता-द्योतक था। अतः उनके सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय कहना इतिहास-सम्मत नहीं है। उनका सम्प्रदाय पासत्यादिमुनि-सम्प्रदाय के नाम से ही अभिहित होता था।

५.३. आरंभ में भट्टारक दिगम्बराचार्यों के शिष्य

ई० सन् ११४३ (शक सं० १०६५) के कोल्हापुर शिलालेख से ज्ञात होता है कि भट्टारक पहले मन्दिर-मठ में रहनेवाले दिगम्बर-जैनाचार्यों के शिष्य होते थे। उक्त शिलालेख में कहा गया है—

'--- श्रीमद्गण्डरादित्यदेवस्य प्रियतनयः --- श्रीमद्विजयादित्यदेवः --- शकवर्षेषु पञ्चषष्ट्युत्तरसहस्रप्रमितेष्वतीतेषु प्रवर्तमानदुन्दुभि-संवत्सर-माघ-मास-पौर्णमास्यांसोमवारे सोमग्रहणपर्वनिमित्तमाजिरगेखोल्लानुगत-हविन-हेरिलगे-ग्रामे --- श्रीमूलसङ्घ-देशीयगण-पुस्तकगच्छाधिपतेः क्षुल्लकपुर-श्रीरूपनारायण-जिनालयाचार्य-श्रीमन्माघनन्दिसिद्धान्तदेवस्य प्रियच्छत्रेण सकलगुणरत्नपात्रेण --- वासुदेवेन कारितायाः वसतेः श्रीपाश्र्वनाथदेवस्याष्टविधाचर्चनार्थं तच्चैत्यालय-खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धारार्थं तत्रत्ययतीनामाहारदानार्थं च तत्रैव ग्रामे कुण्डदण्डेन निवर्तन-चतुर्थभाग-प्रमितं क्षेत्रं द्वादशहस्त-सम्मितं च गुहनिवेशनं च तन्माघनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यानां माणिक्यनन्दि-पण्डितदेवानां पादौ प्रक्षाल्य धारापूर्वकं सर्वनमस्यं सर्व्वबाधा-परिहारमाचन्द्रावर्कतारं सशासनं दत्तवान्।' (जै.शि.सं/मा.च./भा.३/लेख क्र. ३२०/कोल्हापुर/पृ.५३-५४)।

अनुवाद—“श्रीमान् गण्डरादित्यदेव के प्रिय पुत्र---श्रीमान् विजयादित्यदेव ने शक सं० १०६५ में दुन्दुभिवर्ष की माघपूर्णिमा सोमवार के दिन चन्द्रग्रहण के अवसर

पर आजिरगेखोल्ल नामक जिले के हाविन-हेरिलगे गाँव में---श्रीमूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के अधिपति, कोल्हापुर के श्रीरूपनारायण-जिनालय के आचार्य श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तदेव के प्रिय छात्र (शिष्य) एवं सकलगुणरत्नों के पात्र---वासुदेव के द्वारा बनावाये गये मन्दिर के श्रीपार्श्वनाथदेव की अष्टविध पूजा के लिये, उस चैत्यालय के टूटे भाग के जीर्णोद्धार के लिए तथा वहाँ रहनेवाले मुनियों के लिए आहारदान हेतु, उसी ग्राम में कुण्डिदण्ड के माप से निवर्तन-चतुर्थ-भाग-प्रमित क्षेत्र तथा बारह हाथ लम्बा एक मकान उन माघनन्दि-सिद्धान्तदेव के शिष्य माणिक्यन्दि-पण्डितदेव को उनके पैर धोकर जलधारापूर्वक सबके द्वारा नमस्कारपूर्वक तथा कर आदि की समस्त बाधाएँ दूर करते हुए, जब तक सूर्य, चन्द्र तथा तारों का अस्तित्व है, तब तक के लिए राजाज्ञा द्वारा प्रदान किये।”

इस लेख में माणिक्यन्दी के साथ पण्डितदेव की उपाधि होने तथा उनके द्वारा उक्त दान स्वीकार किये जाने तथा उनके चरण धोये जाने से ज्ञात होता है कि वे रूपनारायण-जिनालय में नियतवास करनेवाले दिगम्बरजैनाचार्य श्री माघनन्दी के भट्टारकशिष्य थे।

निम्नलिखित शिलालेख से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

“श्रीमूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वयद श्री (य्) अभयचन्द्र-सिद्धान्तिक चक्रवर्तिगळ प्रियशिष्य-रागमाम्बुनिधिगळुं सकल-गुणाकळितरुपम् बालचन्द्रपण्डित-देवर प्रिय-गुड्डिएरु विनयनिधि मालियक्कं ---।” (जै. शि. सं. / मा. च. / भा.३ / लेख क्र. ४३९ / नितूर / कन्नड़ / लगभग १२०० ई०/ पृष्ठ २६६)।

अनुवाद—“श्रीमूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय के अभय-चन्द्र-सिद्धान्तिक-चक्रवर्ती के प्रिय शिष्य बालचन्द्र-पण्डितदेव की प्रिय गृहस्थशिष्या मालियक्के थी।”

इस अभिलेख में भी पण्डितदेव उपाधि से तथा ‘मालियक्के’ नामक गृहस्थमहिला के गुरु होने से बालचन्द्र का आचार्य अभयचन्द्र सिद्धान्तिक-चक्रवर्ती का भट्टारक-शिष्य होना सिद्ध होता है।

“स्वस्ति श्री मत्तु शुभकीर्ति-पण्डितदेवर गुड्डि ---” = स्वस्ति श्रीमान् शुभकीर्ति-पण्डितदेव की शिष्या---। (जै. शि. सं. / मा. च. / भा.३ / ले.क्र.४८९ / ई.सन् १२४३) तथा “चारुकीर्ति-पण्डित-देवम् तच्छिष्यरू” --- = चारुकीर्ति पण्डितदेव, उनके शिष्य---। (वही/ले.क्र.५२४/हलेबीड/ई० सन् १२७९)। इन लेखों में क्रमशः स्वस्ति शब्द-पूर्वक तथा चारुकीर्ति नाम के साथ पण्डितदेव की उपाधि का प्रयोग होने से भी सिद्ध होता है कि ये भट्टारकों के नाम हैं।

आगे चलकर पण्डितदेव के स्थान में पण्डिताचार्य शब्द का प्रयोग होने लगा।
यथा—

“श्री शकवर्ष १५९५ नेय परिधावि-संवत्सरद पुष्य शुद्ध १० यल्लि श्रीमत्तु मैसूर-देवराज-औडेयरु बेळुगोळद चारुकीर्ति-पण्डिताचार्यर दानशालेय जैनसंन्यासि-गळिगे नित्य-अन्न-दानवके सर्व्वमान्य-वागि धारादत्त-वागिकोट्टु मदणिग्रामवु मंगल महा श्री श्री श्री।” (जै.शि.सं. / मा.च. / भा.३ / ले.क्र.७१९ / १६७४ ई० / मदने / कन्नड़)।

अनुवाद—“(शकसंवत् की उक्त तिथि को) मैसूर के देवराज-औडेयर ने वेळुगोल (श्रवणबेलगोल) के चारुकीर्ति पण्डिताचार्य की दानशाला के जैन संन्यासियों (दिगम्बरजैन मुनियों) को आहारदान देने के लिए मदणि गाँव दान में दिया। महान् सौभाग्य।”

इन अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि शुरू-शुरू में भट्टारक दिगम्बर जैनाचार्यों से दीक्षित होकर और उनके शिष्य बनकर उनके साथ जिनालयों में रहते थे। अतः मन्दिर-मठों में रहनेवाले दिगम्बरमुनियों से वे भिन्न होते थे, अर्थात् मन्दिर-मठवासी मुनि नहीं, अपितु उनसे दीक्षा प्राप्त कर वस्त्र धारण कर लेनेवाले मुनि पण्डितदेव, पण्डिताचार्य या भट्टारक कहलाते थे।

उक्त अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उनके लेखनकाल में मन्दिर-मठवासी या विहार करते हुए वहाँ आनेवाले दिगम्बरमुनियों की आहार व्यवस्था के लिए दानशालाएँ खोली जाती थीं, जिनका खर्च चलाने के लिए राजा और श्रीमान् भूमि, ग्राम आदि का दान करते थे।

मन्दिरमठवासी मुनियों एवं भट्टारकों के स्वरूप में अनेक मौलिक भेद हैं, जिनके कारण उक्त मुनियों की परम्परा को भट्टारकपरम्परा कहना भट्टारकपरम्परा के स्वरूप के अनुकूल नहीं है। वे भेद इस प्रकार हैं—

१. मठवासी मुनि जिनोक्त नागन्यलिंगधारी होते थे, भट्टारक अजिनोक्त-सवस्त्र-साधु-लिंगधारी।

२. मठवासी मुनि, मुनिपद पर दीक्षित होते थे, भट्टारक, भट्टारकपीठ के अधिकारी-पद पर। मुनिदीक्षा या आचार्यदीक्षा स्थानविशेष या जातिविशेष के धर्माधिकारी की पीठ पर बैठालने के लिए नहीं दी जाती थी, किन्तु भट्टारकदीक्षा इसीलिए दी जाती थी।

३. मठवासी मुनियों की मुनिदीक्षा स्थायी होती थी, किन्तु भट्टारक पहले मुनिपद पर नग्न दीक्षित होते थे, पश्चात् श्रावकों के आग्रह पर वस्त्रधारण कर लेते थे।

४. मठवासी मुनि 'मुनि' होते थे, भट्टारक न मुनि होते थे, न श्रावक, क्योंकि वे मुनिदीक्षा लेकर उसे भंग कर देते थे और श्रावक की एक भी प्रतिमा ग्रहण नहीं करते थे, न ही उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य श्रावक का वेश धारण करते थे।

५. मठवासी मुनि गृहस्थों का पौरोहित्य नहीं करते थे, भट्टारकों का यही कर्म था। इसलिए मठाधीशों का नाम भट्टारक नहीं था, भट्टारकपीठाधीशों का नाम भट्टारक था।

६. मठवासी मुनि केवल दान लेते थे, गृहस्थों से दक्षिणा, चढ़ावा, वार्षिक कर और दण्डरूप में अर्थ नहीं लेते थे। भट्टारक यह सब लेते थे।

७. मठवासी मुनियों की जीवनशैली साधारण थी। भट्टारकों की जीवनशैली राजाओं के समान ऐश्वर्य से परिपूर्ण थी।

८. मठवासी मुनि साधुओं के संघ में रहते थे, भट्टारक अलग-अलग भट्टारकपीठों में अकेले ही रहते थे। एक पीठ और एक जाति का एक ही भट्टारक होता था।

९. मठवासी-दिगम्बराचार्य मुनियों का नेतृत्व करते थे, भट्टारकपीठाधीश गृहस्थों का।

१०. मठवासी मुनियों का मुनिपद एवं आचार्यपद आगमोक्त था, भट्टारकपद आगमोक्त नहीं है।

मठवासी या मठाधीश मुनियों तथा भट्टारकपीठाधीश भट्टारकों में ये दश मौलिक भिन्नताएँ थीं, और वर्तमान में भी हैं, क्योंकि वर्तमान में भी दोनों का अस्तित्व है। तीर्थस्थान आदि में नियतवास करनेवाले मुनियों के दर्शन आज भी होते हैं। पूर्व में भट्टारकों के पाँच असाधारण धर्म बतलाये गये हैं। उनका मठवासी मुनियों में अभाव था, इसलिए वे लिंग और कर्म की अपेक्षा भट्टारक नहीं थे। उनके साथ जुड़ी भट्टारक-उपाधि विद्वत्ता-सूचक या आदर-सूचक थी, यद्यपि वे इसके पात्र नहीं थे। वस्तुतः वे पासस्थ-आदि मुनि थे, अतः उनका सम्प्रदाय पासस्थ-आदि मुनियों का सम्प्रदाय था। मठवास, सम्पत्ति-प्रबन्ध, खेती-बाड़ी आदि कराना भट्टारकपीठ पर आसीन पुरुष के असाधारण धर्म नहीं हैं, क्योंकि ये मठवासी मुनियों में भी उपलब्ध होते थे, और जैन साहित्य एवं शिलालेखों में इन प्रवृत्तियों के कारण उनके लिए 'भट्टारक' उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया। अतः उनका सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय नहीं था।

६

कुन्दकुन्द अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारकसम्प्रदाय से पूर्ववर्ती

ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं—

१. कुन्दकुन्द ईसापूर्व ८वें वर्ष में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के जिन तीन रूपों की कल्पना की है, उनमें से किसी का भी उस समय अस्तित्व नहीं था। अतः कुन्दकुन्द का भट्टारकपरम्परा में दीक्षित होना असम्भव था।

२. नन्दी आदि संघ मूलतः मुनियों के संघ थे। आगे चलकर इन संघों के जो मुनि भट्टारक बने, वे भी अपना सम्बन्ध इन्हीं संघों से जोड़ते रहे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावलियों में मुनियों और भट्टारकों, दोनों के नाम वर्णित हैं। इन्हीं पट्टावलियों में भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त (अर्हद्वलि), माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति आदि के लिए महामुनि, मुनिचक्रवर्ती, सत्संयमी, जातरूपधर आदि विशेषणों के प्रयोग से स्पष्ट कर दिया गया है कि ये आचार्य २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाले मुनि थे, मुनि और श्रावक दोनों से भिन्न भट्टारक नहीं।

३. दिगम्बरजैन-साहित्य और शिलालेखों में 'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। १. पूज्य या आदरणीय के अर्थ में, २. विद्वान् के अर्थ में और ३. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अर्थ में। अन्तिम अर्थ में उसका प्रयोग १२ वीं शताब्दी ई० से आरम्भ हुआ था। अतः उसके पूर्व जिन आचार्यों के साथ उसका प्रयोग हुआ है, वह आदरसूचनार्थ या विद्वान् मुनि के अर्थ में हुआ है, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अर्थ में नहीं।

४. दिगम्बरजैन-साहित्य में चैत्यवासी या मठवासी मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नाम नहीं दिया गया है। उनके लिए 'पार्श्वस्थ (पासत्थ) मुनि' और 'कुशीलमुनि' संज्ञाएँ प्रयुक्त की गई हैं। इसलिए भट्टारकसम्प्रदाय बहुत प्राचीन नहीं है।

५. मठवासी मुनियों से भिन्नता सिद्ध करनेवाले मठवासी भट्टारकों के पाँच असाधारण धर्म हैं—१. भट्टारकपीठ पर आसीन होने के लिए भट्टारकपद की दीक्षा का सम्पन्न होना, २. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण, ३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण ४. दक्षिणा, चढ़ावा, भेंट, शुल्क, कर आदि से अर्थोपार्जन तथा ५. राजोचित ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली। मठवासी मुनियों में इनका अभाव होता था, अतः वे लिंग और कर्म की दृष्टि से भट्टारक नहीं थे।

इन तथ्यों से सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने के समय (ई० पू० ८ में) भट्टारकप्रथा का उदय नहीं हुआ था, उनके लगभग बारह सौ वर्ष बाद (१२ वीं शताब्दी ई० में) वह अस्तित्व में आयी थी। अतः न तो कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी भट्टारकसम्प्रदाय के संस्थापक थे, न ही कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र एवं कुन्दकुन्द स्वयं भट्टारकसम्प्रदाय में कभी दीक्षित हुए थे, न ही कुन्दकुन्द विद्रोह करके गुरु से अलग हुए थे, न ही उनके द्वारा गुरु के नाम-अनुल्लेख का यह कारण था। अतः आचार्य हस्तीमल जी ने जो इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

यदि आचार्य हस्तीमल जी की ओर से यह कहा जाय कि “ठीक है, हम मठवासी मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं मानते, पासत्थ-कुसील मुनियों का सम्प्रदाय मान लेते हैं, तब हमारी मान्यता है कि कुन्दकुन्द इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे।”

इसका उत्तर यह है कि पासत्थ-कुसील मुनियों की कोई पट्टावली उपलब्ध नहीं है, जिससे यह प्रमाणित हो कि कुन्दकुन्द उस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। तथा किसी भी जैन ग्रन्थ या शिलालेख में यह उल्लेख नहीं है कि कुन्दकुन्द पासत्थ-कुसील मुनि थे। इसके अतिरिक्त नन्दिसंघ की किसी भी पट्टावली से कुन्दकुन्द का चैत्यवासी या मठवासी होना प्रमाणित नहीं होता। ‘दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’ में छपी पट्टावली में कुन्दकुन्द आदि को जो भद्वलपुर का पट्टधर कहा गया है, उसकी अप्रामाणिकता पूर्व में सिद्ध की जा चुकी है। तथा इसी पट्टावली से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द अपने गुरु जिनचन्द्र के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इससे आचार्य हस्तीमल जी की यह कल्पना भी कपोलकल्पना सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द अपने गुरु से विद्रोह करके संघ से अलग हो गये थे। यदि वे संघ से अलग हो गये होते, तो अपने गुरु के पद पर कैसे प्रतिष्ठित होते? तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने मुनियों के नियतवास, कृषिवाणिज्यकर्म, असंयतों (देवी-देवताओं) की वन्दना, मंत्रतंत्रादिप्रयोग आदि की घोर निन्दा की है। इन क्रियाओं को आगमविरुद्ध बतलाते हुए नरकगति का कारण बतलाया है। इसके अतिरिक्त नन्दिसंघ की सभी पट्टावलियाँ बतलाती हैं कि कुन्दकुन्द न तो अपने गुरु से अलग हुए थे, न संघ से, अपितु अपने गुरु के उत्तराधिकारी बने थे। इन दो प्रमाणों से सिद्ध है कि कुन्दकुन्द आरंभ से ही आगमोक्त मुनिचर्या का नियमपूर्वक पालन करते आ रहे थे। ये प्रमाण इस कल्पना के लिये स्थान नहीं छोड़ते कि कुन्दकुन्द कभी पासत्थ-कुसील मुनियों के सम्प्रदाय में रहे होंगे। अतः आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द द्वारा अपने गुरु के नाम का उल्लेख न किये जाने का जो कारण बतलाया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

पंचम प्रकरण

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यापनीय नहीं, दिगम्बर थे

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने जैनाचार्य-परम्परा-महिमा नामक ग्रन्थ के अनुसार भट्टारकसम्प्रदायोत्पत्ति-कथा के प्रसंग में लिखा है—

“सबसे पहला आश्चर्यकारी तथ्य तो यह है कि भट्टारक-परम्परा का प्रमुख पीठ अथवा सिंहासनपीठ श्रवणबेलगोल भी सर्वप्रथम यापनीयपरम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा संस्थापित किया गया और संसारप्रसिद्ध बाहुबली गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा भी इन्हीं यापनीयपरम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र ने गंगराजवंश के महाप्रतापी राजा राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं महामन्त्री चामुण्डराय के द्वारा करवायी। आचार्य नेमिचन्द्र महामन्त्री चामुण्डराय के गुरु, गोम्मटसार के रचयिता और यापनीय-परम्परा के क्राणूरगण के मेषपाषाणगच्छ के आचार्य थे। अजित-तीर्थकर-पुराणतिलकम् के रचयिता महाकवि रत्न (ई०सन् ९९३) ने अपनी इस महान् कृति के बारहवें अध्याय के पद्य २१ में आचार्य नेमिचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा है—“श्रीनेमिचन्द्र मुनिगल क्राणूरगण-तिलकरवर शिष्यर सद्दिद्यानिलयण तानोदिसे कुसलनादन अणिगदेवम्।” --- क्राणूरगण यापनीयसंघ का ही गण था। इसके मेषपाषाण गच्छ और तिन्त्रिणीकगच्छ, ये दो गच्छ बड़े ही प्रसिद्ध गच्छ थे।--- दिगम्बरपरम्परा के शोधप्रिय विद्वान् श्री गुलाब-चन्द्र चौधरी ने (जै.शि.सं/ मा.च/ भा.३ की प्रस्तावना में पृ. ५९ पर) क्राणूरगण को यापनीयसंघ का गण सिद्ध किया है।” (जै.ध.मौ.इ/ भा.३ / पृ.१७९-१८०)।

आचार्य जी का यह कथन सर्वथा मिथ्या है। यह निम्नलिखित कारणों से सिद्ध है—

१. मैंने इसी अष्टम अध्याय के तृतीय प्रकरण में तथा ‘यापनीय संघ का इतिहास’ नामक सप्तम अध्याय के भी तृतीय प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया है कि क्राणूर या क्राणूर गण तथा उसके मेषपाषाण एवं तिन्त्रिणीक गच्छ मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) के ही गण एवं गच्छ थे, यापनीयसंघ के नहीं। यापनीयसंघ में कण्डूर गण था। यापनीयपक्षधर विद्वानों ने क्राणूर (काणूर) और कण्डूर को एक ही मान लिया है, यह उनका भारी भ्रम है।

२. डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने क्राणूरगण को यापनीयसंघ का गण सिद्ध किया है, यह कथन बिल्कुल असत्य है। उन्होंने तो उक्त प्रस्तावना के ३१ वें पृष्ठ पर यापनीयसंघ के कण्डूरगण के विषय में यह लिखा है कि “इस गण का ११वीं शताब्दी में क्या हुआ, सो तो मालूम नहीं, पर मूलसंघ के ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध

से मिलनेवाले लेखों (२०७, २०९ आदि) में क्राणूरगण के रूप में उल्लेख देख ऐसा लगता है कि यापनीय कण्डूरगण ही मूलसंघ द्वारा आत्मसात् कर लिया गया है।” इसके बाद वे पृष्ठ ५९ पर लिखते हैं—“क्राणूरगण के सम्बन्ध में यापनीयसंघ के विवेचन में (पृष्ठ ३१ पर) हम सम्भावना प्रकट कर आये हैं कि क्राणूरगण यापनीयों के कण्डूरगण के नाम का शब्दानुकरण है।” (जै.शि.सं. / मा.च. / भा.३)।

इससे स्पष्ट होता है कि डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी के मतानुसार यापनीयों में कण्डूरगण ही था, क्राणूरगण नहीं। उन्होंने केवल यह संभावना व्यक्त की है कि मूलसंघ ने ‘कण्डूर’ शब्द का अनुकरण कर अपने संघ में क्राणूरगण की स्थापना की थी। पर यह उनकी संभावनामात्र है। यह भी संभव है कि ‘कण्डूर’ और ‘क्राणूर’ नाम के अलग-अलग स्थान हों और उनके नाम से यापनीयसंघ में कण्डूरगण प्रचलित हुआ हो और मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) में क्राणूरगण।

३. श्रवणबेलगोल में यापनीयसंघ का कभी अस्तित्व ही नहीं रहा। वहाँ से तथा वहाँ के आस-पास से प्राप्त ५०० शिलालेखों में ‘यापनीयसंघ’ का नाम भी नहीं है। यापनीयसंघ के विषय में विशेष अनुसन्धान करनेवाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अपने शोधलेख ‘जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश’ में लिखा है कि “श्रवणबेलगोल में यापनीयसंघ से सम्बन्धित कुछ भी सामग्री का न मिलना इस बात का द्योतक है कि इस पीठ का विकास यापनीय साधुओं को छोड़कर अन्य साधुओं के सहयोग से हुआ है।” (‘अनेकान्त’/महावीरनिर्वाण विशेषांक/सन् १९७५/पृ० २५१)। यदि श्रवणबेलगोल के भट्टारकपीठ पर सर्वप्रथम आसीन होनेवाले आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यापनीयसंघ के होते, तो वहाँ के शिलालेखों में उनके साथ ‘यापनीयसंघ’ शब्द का प्रयोग हुए बिना न रहता।

४. आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में यापनीयमतविरुद्ध सिद्धान्त मिलते हैं। यथा—

क— तत्त्वार्थसूत्र (९/२७) में कहा गया है कि “उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्”। अर्थात् शुक्लध्यान के लिए वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन तीन उत्तम संहननों की आवश्यकता होती है। और आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार-कर्मकाण्ड में कहा है कि कर्मभूमि की स्त्रियों के अर्धनाराच, कीलित और सृपाटिका ये तीन हीन संहनन ही होते हैं, उत्तम संहनन नहीं होते—

अंतिम-तिग-संघडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिपहिलाणं।

आदिम-तिग-संघडणं णत्थित्ति जिणोहि णिहिट्ठं ॥ ३२ ॥

इसका फलितार्थ यह है कि स्त्रियों में चार प्रकार के शुक्लध्यान संभव नहीं हैं, जिससे इन ध्यानों के द्वारा होनेवाले कर्मों का क्षय भी उनमें असंभव है। इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है, जो यापनीयमत का प्रमुख सिद्धान्त है।

ख— आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार-कर्मकाण्ड में यह भी कहा है कि अर्धनाराचसंहननवाला जीव अधिक से अधिक आरण-अच्युत स्वर्ग तक ही जा सकता है, उससे ऊपर नहीं—

सेवद्वेण य गम्पइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति।

तत्तो दु जुगलजुगले खीलिय-णारायणद्धोत्ति ॥ २९ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि चूँकि कर्मभूमि की स्त्रियों में अर्धनाराचसंहनन ही उत्कृष्ट संहनन होता है अतः वे अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकती हैं, उससे ऊपर नहीं। इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि कर्मभूमि की स्त्रियों में केवल सोलहवें स्वर्ग तक का सुख प्राप्त करने योग्य तप करने की शक्ति होती है, मोक्षसुख प्राप्त करने योग्य तप करने की शक्ति नहीं। इस प्रकार भी आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने यापनीयों के प्रमुख सिद्धान्त 'स्त्रीमुक्ति' का निषेध किया है।

ग—कोई मनुष्य द्रव्य (शरीर) से पुरुष और भाव से स्त्री या नपुंसक हो सकता है। कोई मनुष्य द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष या नपुंसक हो सकता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का द्रव्य से नपुंसक और भाव से पुरुष या स्त्री होना संभव है। इसे वेदवैषम्य कहते हैं। यापनीयमत वेदवैषम्य को स्वीकार नहीं करता। (इसका विस्तार से विवेचन एकादश अध्याय में द्रष्टव्य है)। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'गोम्मटसार-जीवकाण्ड' में वेदवैषम्य के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। यथा—

पुरुसिच्छिसंबवेदोदयेण पुरुसित्थिसंबवो भावे।

णामोदयेण दब्बे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७१ ॥

घ—गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि नेमिचन्द्रकृत ग्रन्थों का सारा विषय-विवेचन गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित है, जबकि यापनीयसम्प्रदाय गुणस्थानसिद्धान्त को अमान्य करता है। (इसका भी विस्तृत निरूपण एकादश अध्याय में दर्शनीय है)।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचित ग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि वे यापनीय

नहीं, अपितु दिगम्बर थे। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि उनसे सम्बन्धित क्राणूरूगण एवं मेषपाषाणगच्छ भी दिगम्बरों के ही गण-गच्छ थे।

इन तथ्यों की उपेक्षा कर आचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपने ही मन से क्राणूरूगण को यापनीयों का गण मान लिया और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को यापनीय घोषित कर जिज्ञासुओं को भ्रमित करने की चेष्टा की है। यह जिज्ञासुओं के साथ और प्रमाणसिद्ध कथन करनेवाले इतिहासकार की प्रतिष्ठा के साथ घोर अन्याय है।



षष्ठ प्रकरण

भट्टारक-पदस्थापनविधि आगमोक्त नहीं

यतः जैनपरम्परा में भट्टारकपद आगमोक्त नहीं है, अतः भट्टारकदीक्षाविधि भी आगमोक्त नहीं है। तथापि वर्तमानकालीन कुछ मुनियों और आर्यिकाओं ने मुनि के भट्टारक बनने को आगमसम्मत सिद्ध करने की कोशिश की है। इतना ही नहीं भट्टारकपद को मुनिपद से भी उच्च बतलाया है। सन् २००२ ई० में विविध दीक्षा-संस्कार विधि नामक ७७ पृष्ठीय पुस्तिका प्रकाशित की गयी है, जिसमें मुनिदीक्षाविधि तथा आचार्यपद-स्थापना, उपाध्याय-पदस्थापना एवं भट्टारक-पदस्थापना की विधियों का वर्णन है। विधियाँ संस्कृत भाषा में हैं और पुस्तिका के प्राक्कथन में आर्यिका शीतलमति जी ने कहा है कि इन दीक्षाविधियों को दर्शानेवाला प्राचीन हस्तलिखित शास्त्र आचार्य श्री आदिसागर (अंकलीकर) जी के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री सन्मतिसागर जी को दि० जैन अतिशय क्षेत्र बेड़िया (गुजरात) के शास्त्रभण्डार से प्राप्त हुआ था। वे आगे लिखती हैं—“इसकी विशेषता यह है कि इसमें भट्टारक-पदस्थापना के संस्कार भी लिखे हुए हैं। पूर्व में यह पद काफी चर्चा का विषय रहा है। इसलिये इस शास्त्र को पाकर आत्मा को बहुत सम्बल मिला। फलस्वरूप भट्टारक-निर्ग्रन्थपरम्परा को पुनः स्थापित करने के अभि-प्राय से (सन् २००२ ई० में) मुनि श्री जयसागर जी में इस भट्टारकपद के संस्कार (आरोपित) किये गये।” (पृष्ठ १०)।

इसी पुस्तिका के ‘प्रकथन’ लेखक डॉ० महेन्द्र कुमार जी जैन ‘मनुज’ ने लिखा है—“भारत पर मुगलशासनकाल में जैन आस्था के केन्द्र जिनमन्दिरों-मूर्तियों को भग्न किया गया तथा जैन वाङ्मय से सम्बद्ध ग्रन्थों को नष्ट किया गया, लूटा गया, जलाया गया, ऐसी भयावह परिस्थितियों में हमारे भट्टारकों ने ही लगभग एक सहस्राब्दी तक जैनवाङ्मय की येन केन प्रकारेण रक्षा की। इस हेतु हम उनके इस उपकार के ऋणी हैं। पूज्य भट्टारकों द्वारा संस्थापित, संरक्षित शास्त्रभण्डार अब भी हैं, किन्तु जहाँ से भट्टारकों की गदियाँ समाप्त हो गई हैं, वहाँ के शास्त्रभण्डारों की स्थिति दयनीय है। शास्त्र, विशेषकर ताडपत्रीय, नष्ट हो रहे हैं। उनकी सूचियाँ तक नहीं बन सकी हैं और उन्हें अनुपयोगी की श्रेणी में उन पुस्तकालयों में स्थान मिला हुआ है। यदि उत्तर भारत के पूर्व भट्टारक-केन्द्रों पर पुनः भट्टारकीय गदियाँ स्थापित हों, तो जिनवाणी संरक्षण के लिए यह महनीय उपक्रम होगा।” (पृष्ठ E)।

उक्त महानुभाव के इस वक्तव्य से उनकी मुनिविरोधी विचारधारा का पता चलता है। वे चाहते हैं कि मोक्षसाधना के लिए लौकिक बन्धनों से छुटकारा पाने हेतु गृहत्याग

कर देने वाले दिगम्बरमुनियों को किसी एक मन्दिर या तीर्थक्षेत्र पर नियतवास के बन्धन में बाँधकर अर्थात् उन्हें अनगर से सागर बनाकर उनसे वहाँ की चल-अचल सम्पत्ति और शास्त्रभण्डार के संरक्षण का कार्य कराया जाय। अर्थात् उन्हें मुनि से मुनीम या चौकीदार बना दिया जाय। किन्तु इस कार्य के लिए एक मुनि का इतना अधःपतन कराने की क्या आवश्यकता है? पिच्छी-कमण्डलु और जिनमुद्रा की इतनी अवमानना करने की क्या जरूरत है? यह कार्य तो एक प्रबन्धकुशल, समर्पित गृहस्थ या सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी भी आसानी से कर सकता है।

आर्यिका शीतलमति जी ने मुनि जयसागर जी का भट्टारक-पट्टाभिषेक शास्त्रसम्मत माना है, क्योंकि कुछ पन्नों में, जिन्हें उन्होंने शास्त्र कहा है, उन्हें भट्टारक-पदस्थापना-विधि लिखी हुई मिली है। किन्तु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इस शास्त्र का कर्ता कौन है और यह कब लिखा गया है? उक्त लघुपुस्तिका में उस ९ पृष्ठीय (पृष्ठ ६९ से ७७) हस्तलिखित शास्त्र की छाया-प्रति निबद्ध की गयी है, किन्तु उसमें न तो शास्त्रकर्ता का नाम है, न ही रचनाकाल का उल्लेख। इसलिए वह सन्देह को जन्म देती है। यदि इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाय, तो भी उक्त हस्तलिखित शास्त्र में दी गयी भट्टारक-पदस्थापना-विधि आगमोक्त सिद्ध नहीं होती। इसका निर्णय उक्त विधि के मूलपाठ पर दृष्टि डालने से हो जाता है।

१

भट्टारक-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ

“लघ्वाचार्यपदं सकलसंघाभिरुचितम्। ऐदंयुगीनश्रुतज्ञं जिनधर्मोद्धरणधीरं रत्नत्रय-भूषितं भट्टारकपदयोग्यं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्विधसंघैः सह आलोच्य लग्नं गृहीत्वा सकलोपासक-मुख्यः सङ्घाधिपः सर्वत्रामन्त्रणपत्रौ प्रेषयेत्।

“ततो विचित्रशोभान्वितं मण्डपं वेदिकां सिंहासनं च कारयेत्। सर्वे उपासकाः चैत्यालये शान्तिकं गणधरवलयरत्नत्रयादिपूजां महोत्सवं च कुर्वन्ति। लग्नदिने शान्तिकं गणधरवलयाचनं च विधाय जलयात्रा-महोत्सवं कृत्वा कलशान् १०८ आनीय सर्वोषधीः तन्मध्ये क्षिप्त्वा तान् स्वस्तिकोपरि स्थापयेत्।

“ततः सौभाग्यवती-स्त्रीभिः भूमौ चन्दनेन छाटाः दापयित्वा मौक्तिकैः स्वस्तिकं कारयित्वा तस्योपरि सिंहासनं स्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तं भट्टारकपदयोग्यं मुनिमासयेत्। अथ ‘भट्टारकपद-प्रतिष्ठापन-क्रियायाम्’ इत्यादि उच्चार्य सिद्ध-श्रुताचार्य-भक्तिं पठेत्। ततो पण्डिताचार्यः ‘ॐ हूँ परमसुरभि-द्रव्यसन्दर्भ-परिमलगर्भ-तीर्थम्बु-सम्पूर्ण-सुवर्ण-कलशाष्टोत्तरशत-तोयेन पादौ परिषेचयामीति स्वाहा’ इति पठित्वा कलशाष्टोत्तरशत-तोयेन पादौ परिषेचयेत्।

“ततः ऐदंयुगीनेत्यादि भट्टारक-स्तवनं पठन् पादौ समन्तात् परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात्। ततः श्रीगुरुः तस्मै तत्पदयोग्यं परम्परागतं सूरिमन्त्रं दद्यात्। अथवा यदि तत्पदयोग्य-मुनेरभावात् श्रीगुरुणा भट्टारकेन आयुःप्रान्ते तत्पदयोग्यं सूरिमन्त्रं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं मदनादि-द्रव्यैर्वर्षयित्वा मुक्तं भवति। तदा स्थापनिकाधिकृतः पुमान् तत् पत्रं तस्मै दद्यात्।

“अथ आवाहनादिविधिः। ॐ ह्रूं णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परमभट्टारक-परमेष्ठिन्नत्र एहि एहि संबौषट् आह्वानम्। ॐ ह्रूं णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परम-भट्टारक-परमेष्ठिन्नत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ॐ ह्रूं णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परम-भट्टारकपरमेष्ठिन्नत्र सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम्। इति आवाहनादिकं कृत्वा ततश्च ॐ ह्रूं णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपतये सकलश्रुताम्बुधिपारप्राप्त्या परमभट्टारकाय नमः। ॐ आः अनेन सहेन्दुना चन्दनेन पादयोः तिलकं दद्यात्।

“ततः शान्ति-भक्तिं कृत्वा गुर्वावलिं पठित्वा ‘श्रीमूलसङ्घे नन्दिसङ्घे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये अमुकस्य पट्टे अमुकनामा त्वं भट्टारकः’ इति कथयित्वा समाधिभक्तिं पठेत्। ततश्च गुरुभक्तिं दत्त्वा सर्वे यतिनः प्रणामं कुर्यात् (कुर्युः)। ततश्च सर्वे उपासका अष्टतथीमिष्टिं कृत्वा गुरुभक्तिं दत्त्वा प्रणमन्ति। ततः सोऽपि भट्टारको दात्रे सर्वेभ्यः उपासकेभ्यः आशिषं दद्यात्। ततः सर्वे उपासकाः निज-निज-गृहात् महामहोत्सवेन वर्द्धापनमानीय तं वर्द्धापयन्ति। दाता सर्वं सङ्घं भोजयित्वा वस्त्रादिना सङ्घार्चनं कुर्यात्। याचकान् दीनानाथांश्च सन्तर्पयेच्च। इति भट्टारकपदस्थापनाविधिः।” (विविध-दीक्षा-संस्कार-विधि / पृ. ७३-७४)।

अनुवाद

“लघु आचार्य का पद समस्त संघ को प्रिय है। जो मुनि इस युग का श्रुतज्ञ, जिनधर्म का उद्धार करने में समर्थ, रत्नत्रय से भूषित एवं भट्टारकपद के योग्य हो, उस मुनि को खोजकर चतुर्विधसंघ के साथ विचार-विमर्श करके, शुभ मुहूर्त में सभी श्रावकों का मुखिया संघपति सब जगह आमन्त्रणपत्र भेजे।

“तत्पश्चात् विचित्रशोभा से युक्त मण्डप, वेदिका और सिंहासन का निर्माण कराया जाय। सब उपासक चैत्यालय में शान्तिक, गणधरवल्लय-रत्नत्रयादि पूजा तथा महोत्सव करते हैं। लग्न के दिन शान्तिक एवं गणधरवल्लय-पूजा एवं जलयात्रा महोत्सव करके १०८ कलश लाकर उनमें सभी औषधियाँ डाले और उन्हें स्वस्तिक के ऊपर स्थापित करे।

“तदनन्दतर सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा भूमि पर चन्दन छिड़कवाकर तथा मोतियों से स्वस्तिक बनवाकर उसके ऊपर सिंहासन स्थापित करे तथा उस पर भट्टारकपद

के योग्य मुनि को पूर्व की ओर मुख करके बैठाला जाय। फिर “भट्टारकपद-प्रतिष्ठापन-क्रिया में ---” इत्यादि बोलकर सिद्ध, श्रुत और आचार्य की भक्ति पढ़ी जाय। उसके बाद पण्डिताचार्य “ॐ हूँ अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध से युक्त तीर्थजल से भरे हुए १०८ कलशों के जल से चरणों का अभिषेक करता हूँ, स्वाहा” यह पढ़कर १०८ कलशों के जल से चरणों का अभिषेक करे।

“उसके बाद “इस युग के ---” इत्यादि भट्टारकस्तवन पढ़ते हुए सब ओर से चरणों का स्पर्श कर गुणों का आरोपण करे। तत्पश्चात् श्रीगुरु उन्हें भट्टारकपद के योग्य परम्परागत सूरिमन्त्र प्रदान करें। अथवा उस पद के योग्य मुनि का अभाव होने पर श्रीगुरु भट्टारक अपनी आयु के अन्त में उस पद के योग्य सूरिमन्त्र पत्र में लिखकर उस पत्र पर मदनादि द्रव्यों की वर्षा कर मुक्त हो जाते हैं। तदनन्तर स्थापनिका के लिए अधिकृत पुरुष वह पत्र भट्टारकपद-योग्य मुनि को प्रदान करे।

“अब आवाहनादि-विधि का वर्णन किया जाता है। ॐ हूँ णमो आयरियाणं, हे धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ आइये, यहाँ आइये, संवौषट्। ॐ हूँ णमो आयरियाणं, धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ विराजिए, यहाँ विराजिए, ठ: ठ:। ॐ हूँ णमो आयरियाणं, हे धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ पास में स्थित होइये, पास में स्थित होइये। इस प्रकार आवाहनादि करके (पण्डिताचार्य) “ॐ हूँ णमो आयरियाणं, धर्माचार्याधिपति, समस्त श्रुतसागर के पार को प्राप्त परमभट्टारक को नमस्कार” (ऐसा कहे)। फिर ‘ॐ आ:’ यह उच्चारण करते हुए कपूर और चन्दन से चरणों पर तिलक करे।

“तत्पश्चात् शान्ति-भक्ति करके, गुर्वावली पढ़कर “श्री मूलसंघ के नन्दिसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण एवं कुन्दकुन्दान्वय में अमुक के पट्ट पर अमुक नाम वाले तुम भट्टारक हुए” यह कहकर (पण्डिताचार्य) समाधिभक्ति पढ़े। उसके बाद गुरुभक्ति करके समस्त मुनि उन्हें (भट्टारक को) प्रणाम करें। फिर सभी श्रावक आठ प्रकार की इष्टियाँ तथा गुरुभक्ति करके उन्हें प्रणाम करें। तब वे भट्टारक भी दाता (दीक्षाविधि के आयोजक) एवं समस्त श्रावकों को आशीष प्रदान करें। उसके बाद सभी श्रावक अपने-अपने घर से बड़े उत्सवपूर्वक भेंट लाकर भट्टारक जी का अभिनन्दन करें। दाता सर्वसंघ को भोजन कराकर वस्त्रादि से संघ की पूजा करे, याचकों और दीन-अनाथों को भी सन्तुष्ट करे। इस प्रकार भट्टारकपद-स्थापनाविधि समाप्त हुई।”

इस विधि में वर्णित निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है कि यह आंगमोक्त नहीं है—

१. विधि में भट्टारक को लघु आचार्य, धर्माचार्याधिपति और भट्टारक-परमेष्ठी की उपाधियों से सम्बोधित किया गया है, और कहा गया है कि जो मुनि भट्टारकपद के योग्य हो, उसे ही इस पद पर प्रतिष्ठित किया जाय। इससे सूचित किया गया है कि भट्टारकपद साधारण मुनिपद से अधिक योग्यतावाला होने से ऊँचा है, जैसे आचार्य और उपाध्याय के पद। इसीलिए यह विधान किया गया है कि भट्टारकपद पर अभिषिक्त होने के बाद समारोह में उपस्थित सभी मुनि भट्टारक-परमेष्ठी को प्रणाम करें। समस्त श्रावक भी उन्हें गुरु मानकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करें। तथा भट्टारक-परमेष्ठी भी श्रावकों को आशीष दें।

किन्तु जिनागम में परमेष्ठी पाँच ही बतलाये गये हैं : अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनके अतिरिक्त भट्टारक नाम के छठवें परमेष्ठी का उल्लेख आगम में कहीं भी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त भट्टारक-पद-स्थापना-विधि आगमोक्त नहीं है। जब भट्टारक नाम के परमेष्ठी का अस्तित्व ही आगमोक्त नहीं है, तब उसकी स्थापना-विधि को आगमोक्त मानना आकाशकुसुम को सुगन्धयुक्त मानने के समान है।

२. यद्यपि आगम में मुनियों के आचार्य और उपाध्याय के अतिरिक्त प्रवर्तक, स्थविर और गणधर, ये तीन भेद और बतलाये गये हैं, तथापि इन्हें आचार्य और उपाध्याय के समान स्वतन्त्ररूप से परमेष्ठी नहीं कहा गया है, अपितु ये साधुपरमेष्ठी में ही अन्तर्भूत हैं। तथा आचार्य आदि उपाधियाँ मुनि-संघोपकारक कर्तव्यभेद से प्रवर्तित हुई हैं। शिष्यों को आचार ग्रहण करानेवाले मुनि आचार्य कहलाते हैं, उन्हें धर्म का उपदेश देने वाले साधु उपाध्याय नाम से जाने जाते हैं, चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करनेवाले मुनि की प्रवर्तक संज्ञा है, मर्यादोपदेशक अथवा संघ-व्यवस्थापक मुनि को स्थविर उपाधि दी गई है तथा गण अर्थात् मुनिसंघ के परिरक्षक साधु गणधर शब्द से अभिहित होते हैं। इन पाँच कर्तव्यों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मुनि-संघोपकारक कर्तव्य आगम में वर्णित नहीं है, जिसका सम्पादन करनेवाले मुनि को भट्टारक उपाधि दी जाती। इसीलिए मूलाचार में उपर्युक्त पाँच को ही संघ या गुरुकुल का आधार बतलाया गया है।^{११६} हाँ, इन्द्रनन्दी ने 'नीतिसार' में सर्वशास्त्रकलाभिज्ञ, नानागच्छाभिवर्धक, महातपस्वी एवं प्रभावशाली मुनि को अवश्य भट्टारक कहा है, किन्तु

११६. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।

आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य॥ १५५॥

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मवदेसो य संघवट्टवओ।

मज्जादुवदेसो वि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥ १५६॥ मूलाचार।

उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत विद्वत्ता आदि गुणों से है, जो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर और सामान्य साधु, इनमें से किसी में भी हो सकते हैं और उन सबको 'भट्टारक' उपाधि से विभूषित किया जा सकता है। इस उपाधि का न कोई पट्ट (गद्दी) होता है, न उसका कोई उत्तराधिकारी। यह एक साथ अनेकों को दी जा सकती है। वस्तुतः यह विद्वत्ता आदि गुणों की सूचक लौकिक उपाधि है, जो जैनेतर सम्प्रदायों में भी प्रचलित है। अतः इस उपाधि की अपेक्षा किसी को परमेष्ठी नहीं कहा जा सकता, न कहा गया है। परमेष्ठी नाम से तो णमोकारमंत्र में वर्णित पाँच अलौकिक आत्माएँ ही प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार 'भट्टारक' किसी संघोपकारी कर्त्तव्य को सम्पादित करने वाले मुनि की उपाधि नहीं है। अतः जब आगमानुसार प्रवर्तक, स्थविर एवं गणधर की पदस्थापना-विधि सम्पन्न नहीं होती, तब भट्टारक की पदस्थापना-विधि के सम्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आगम में मन्दिर-मठ-तीर्थादि का प्रबन्ध, शास्त्र-भण्डार आदि की सुरक्षा तथा गृहस्थों के कर्मकाण्ड का सम्पादन, ये कार्य किसी भी मुनि के कर्त्तव्य नहीं बतलाये गये हैं, अतः इनकी अपेक्षा किसी भी मुनि को भट्टारक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस कारण भी उक्त भट्टारक पदस्थापना-विधि आगमोक्त सिद्ध नहीं होती।

३. उक्त विधि में यह नियम है कि मुनि के भट्टारकपद पर अभिषिक्त होने के बाद समस्त श्रावक अपने-अपने घर से महामहोत्सवपूर्वक (गाजे-बाजे, नृत्य-गान आदि के साथ) विभिन्न प्रकार की भेंट (वर्द्धापन)^{११७} लाकर पट्टाभिषिक्त भट्टारक का अभिनन्दन करें। यह भेंट किस प्रकार की होती थी, इसका बोध संवत् १८८० में जयपुर में सम्पन्न भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति की पूर्ववर्णित दीक्षाविधि (अ.८ / प्र.४ / शी. ४.१) से हो जाता है। वह भेंट पछेवड़ी (लुंगी), दुपट्टा, शाल आदि के रूप में होती थी, जिसे स्वीकार कर भट्टारक बननेवाला मुनि वस्त्रधारी हो जाता था। उक्त संस्कृत भट्टारक-पदस्थापना-विधि में यह नियम भी है कि पट्टाभिषिक्त भट्टारक मुनि को वस्त्रादि की भेंट दिये जाने के बाद दाता सर्वसंघ को भोजन कराकर तथा वस्त्रादि देकर संघ की पूजा करे। ये नियम मुख्यरूप से पट्टाभिषिक्त भट्टारक की वस्त्रादि से पूजा किये जाने को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं, क्योंकि वस्त्रदान के पात्र क्षुल्लक, एलक और आर्यिका भी होते हैं, वे आचार्य और उपाध्याय की पदस्थापना-विधि के समय भी उपस्थित रहते हैं, किन्तु इन विधियों में अभिषिक्त आचार्य और उपाध्याय को भेंट लाकर देने और भोजन तथा वस्त्रादि के दान से सर्वसंघ की पूजा करने का नियम नहीं है। प्रमाण के लिए उक्त विधियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

११७. Congratulatory gift (एम. मोनियर विलिअम्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी)।

२

आचार्य-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ

“सुमुहूर्ते दाता शान्तिकं गणधर-वल्यार्चनं च यथाशक्ति कारयेत्। ततः श्रीखण्डा-दिना छटा: दत्त्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमाचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत्। ‘अथाचार्यपद-प्रतिष्ठापन-क्रियायामित्यादि’ उच्चार्य सिद्धाचार्यभक्तिं पठेत्। ततः ‘ऊँ हूँ परमसुरभि-द्रव्यसन्दर्भ-परिमलगर्भ-तीर्थाम्बु-सम्पूर्ण-सुवर्णकलशपञ्चक-तोयेन परिषेचयामीति स्वाहा’ इति पठित्वा कलशपञ्चकतोयेन पादौ परिषेचयेत्। ततः पण्डिताचार्यः निर्वेदसौष्टवेत्यादि-महर्षिस्तवनं पठेत्। पादौ समन्तात् परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात्। ऊँ हूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्नत्र एहि २ संवौषट् आवाहनम्। ऊँ हूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्नत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ऊँ हूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन् सन्निहितो भव भव वषट् संनिधिकरणम् इति आवाहनादिकं कृत्वा ततश्च ऊँ हूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः। अनेन सहेन्दुना चन्दनेन पादयोस्तिलकं दद्यात्। ततः शान्ति-समाधि-भक्तीः कृत्वा गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्योप-विशति। ततः उपासकास्तस्य पादयोरष्टतयीभिष्टिं कुर्वन्ति। ततश्च गुरुभक्तिं दत्त्वा प्रणमन्ति। स दात्रे उपासकेभ्यश्चाशिषं दद्यात्। इति आचार्यपददान-विधिः।” (विविध-दीक्षा-संस्कार-विधि / पृ.७२-७३)।

३

उपाध्याय-पददान-विधि का मूलपाठ

“सुमुहूर्ते दाता गणधरवल्यार्चनं द्वादशाङ्गश्रुतार्चनं च कारयेत्। ततः श्रीखण्डादिना छटा: दत्त्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमुपाध्यायपद-योग्यं मुनिमासयेत्। ‘अथ उपाध्यायपदस्थापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादि’ उच्चार्य सिद्धश्रुतभक्तीः पठेत्। ततः आवाहनादिमन्त्रानुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाक्षतानि क्षिपेत्। तद्यथा ऊँ हूँ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन्नत्र एहि २ संवौषट् आवाहनम्। ऊँ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन् तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ऊँ हूँ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन् सन्निहितो भव भव वषट् संनिधीकरणम्। ततश्च ऊँ हूँ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपर-मेष्ठिने नमः। इदं मन्त्रं सहेन्दुना चन्दनेन शिरसि न्यसेत्। ततश्च शान्ति-समाधि-भक्तीः पठेत्। ततः स उपाध्यायो गुरुभक्तिं दत्त्वा गुरुं प्रणम्य दात्रे आशिषं दद्यादिति।” (विविध दीक्षा संस्कार विधि / पृ.७२)।

इन विधियों में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि योग्य मुनियों के आचार्य और उपाध्याय पदों पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् सभी श्रावक अपने-अपने घर से महामहोत्सव-पूर्वक विभिन्न प्रकार की भेंट (वर्द्धापन) लाकर उनका अभिनन्दन करें

तथा दाता समस्त संघ को भोजन कराकर वस्त्रादि से उसकी पूजा करे। यह उल्लेख केवल भट्टारक-पदस्थापना-विधि में है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य-उपाध्याय की पदस्थापनाविधि और भट्टारक की पदस्थापनाविधि में बहुत अन्तर है। आचार्य और उपाध्याय के पद पर स्थापना निर्ग्रन्थ की निर्ग्रन्थपद पर स्थापना है, जब कि भट्टारकपद पर स्थापना निर्ग्रन्थ की सग्रन्थपद पर स्थापना है। आगम में ऐसे निर्ग्रन्थ से सग्रन्थ हो जानेवाले भट्टारकपरमेष्ठी की मान्यता नहीं है। अतः उपर्युक्त भट्टारक-पदस्थापना-दीक्षा-विधि आगममान्य नहीं है।

४. कथित भट्टारक-पदस्थापना-विधि की रचना कब की गई, इसका कोई संकेत उसमें नहीं है। फिर भी उसमें यह उल्लेख किया गया है कि "श्रीमूलसंघ के नन्दिसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारण और कुन्दकुन्दान्वय में अमुक के पट्ट पर अमुक नामवाले तुम भट्टारक हुए।" इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उक्त विधि बारहवीं शताब्दी ई० के पश्चात् किसी समय रची गई है, क्योंकि कुन्दकुन्दान्वय की उत्पत्ति ईसोत्तर प्रथम शती में, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारण की १०वीं शती में और नन्दीसंघ की ७वीं शती (भट्ट अकलंकदेव के दिवंगत होने) के बाद हुई थी। (देखिये इसी अध्याय का प्रकरण ३/ शीर्षक १)। तथा कुन्दकुन्दान्वय के साथ नन्दिसंघ का प्रथम उल्लेख बूढ़ी चँदेरी (गुना, म.प्र.) में उपलब्ध १२वीं शताब्दी के एक लेख में हुआ है। तात्पश्चात् विजयनगर के १३८६ ई० के शिलालेख में मिलता है, यह पूर्व (इसी अध्याय के प्र.३/ शी.१) में दर्शाया जा चुका है। अतः वह दीक्षाविधि आगमोक्त नहीं, अपितु १२वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में भट्टारकप्रथा की शुरुआत होने के बाद भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित है। इसलिए उसे आगमोक्त मानकर किसी मुनि को भट्टारकपद पर अभिषिक्त करना आगमसम्मत नहीं है। तथा आगमबाह्य भट्टारक-परम्परा के अनुसार भी कोई भी मुनि मुनिवेश में भट्टारकपट्ट पर स्थित नहीं रहा। मुनियों में वस्त्रधारण कर भट्टारक बनने की प्रथा १२वीं शताब्दी ई० में आरंभ हो गयी थी। तथा पण्डित हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री के ये शब्द पूर्व में उद्धृत किये गये हैं कि एक ऐतिहासिक पत्र के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति (१५ वीं शताब्दी ई०) २२ वर्ष तक मुनिवेश में रहे, पश्चात् वस्त्र धारण कर भट्टारक बन गये और प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न कराने लगे। तात्पर्य यह है कि मुनि अथवा गृहस्थ दिगम्बरवेश में भट्टारकपट्ट पर अभिषिक्त तो होते थे, किन्तु उस वेश में वे पट्ट पर स्थित नहीं रहते थे, अभिषेक के पश्चात् दिगम्बरमुनिवेश त्याग कर अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-वेश धारण कर लेते थे। अतः किसी मुनि को भट्टारकपट्ट पर अभिषिक्त कर उसे मुनिवेश में ही पट्ट पर आसीन रहने देना भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित पूर्वोद्धृत पदस्थापनाविधि के भी विरुद्ध है।

इस प्रकार भट्टारक-पदस्थापना-विधि में उल्लिखित तथ्यों से ही सिद्ध होता है कि वह विधि आगमोक्त नहीं है, अपितु आगमबाह्य भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित है। तथा आगमप्रमाण सिद्ध करते हैं कि किसी मन्दिर, मठ या तीर्थ में नियतवास कर उनके प्रबन्ध और संरक्षण का कार्य मुनियों का धर्म नहीं है, अपितु मुनिधर्म के विरुद्ध है। अतः यह कार्य करनेवाला कोई मुनि, न तो मुनि कहला सकता है, न भट्टारक, न परमेष्ठी। इस कारण भी उक्त दीक्षाविधि आगमोक्त सिद्ध नहीं होती। अतः उसे आगमोक्त मानकर किसी मुनि को तीर्थादि के प्रबन्ध और संरक्षण का कार्य करनेवाले भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित करना उसे मुनिपद से अधःपतित करना है, जो जिनशासन के प्रति गम्भीर अपराध है। अतः भट्टारक बनाना ही हो, तो किसी गृहस्थ को ही बनाया जाय। इस गृहस्थोचित लौकिक कार्य के लिए अलौकिक अवस्था में पहुँचे किन्हीं मुनिश्री का शीलभंग न किया जाय, उन्हें मुनिपद से गृहस्थपद पर न उतारा जाय, उन्हें मोक्षमार्ग से खींचकर संसारमार्ग में न घसीटा जाय, उनकी वीतरागता का अपहरण न किया जाय। उन पर मन्दिर-मठ-तीर्थादि के प्रबन्ध का स्वामित्व थोपकर, उन्हें अपरिग्रह-महाव्रत से वंचित न किया जाय, मन्दिर-मठ-तीर्थादि के संरक्षण की चिन्ता में फँसाकर उन्हें आर्त-रौद्र-ध्यान की भट्टी में न झोंका जाय, उन्हें गुरु से लघु और पूज्य से अपूज्य न बनाया जाय, उनकी पवित्र आत्मा पर अपवित्रता की कीचड़ न लपेटी जाय और उन्हें जिनशासन के नायक से जिनशासन का खलनायक न बनाया जाय। इसी प्रकार भट्टारक बनाने के लिए किसी गृहस्थ को पहले मुनिदीक्षा देकर, बाद में वस्त्र पहनाकर एवं पिच्छी-कमण्डलु देकर मुनिपद के साथ खेल न किया जाय। पहले से ही वस्त्रधारी किसी योग्य ब्रह्मचारी गृहस्थ को सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कराकर पिच्छी-कमण्डलु के बिना भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित किया जाय। इससे भट्टारकपद सम्माननीय भी रहेगा, तीर्थादि का प्रबन्ध भी भलीभाँति होगा तथा भट्टारकपद आगमानुकूल भी हो जायेगा। आगम और पिच्छी-कमण्डलु के अनादर से बचने के लिए वर्तमान नग्न भट्टारक भी अपने मुनिलिंग का एवं सवस्त्र भट्टारक पिच्छी-कमण्डलु का त्याग करें अथवा भट्टारकपद का त्यागकर मुनिपद स्वीकार करें।



सप्तम प्रकरण

भट्टारकपरम्परा के प्रति विद्रोह तेरापन्थ का उदय

भट्टारकपरम्परा अनागमोक्त थी, श्रावक-शोषक थी एवं यथार्थधर्म-विनाशक थी, इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि ईसा की १६ वीं शती में उत्तरभारत में इस परम्परा के प्रति तीव्र आक्रोश भड़का और शास्त्रज्ञ पण्डितों के नेतृत्व में इसके खिलाफ विद्रोह का शंख फूँक दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप उत्तरभारत में भट्टारकपरम्परा जड़ से उखड़ गयी। ऐसा विद्रोह कभी न तो मुनिपरम्परा के प्रति हुआ है, न एलक-परम्परा के, न क्षुल्लक परम्परा के, क्योंकि ये आगमोक्त हैं।

कुछ वर्तमानकालीन विद्वानों का कथन है कि “भट्टारक-परम्परा ने जैनधर्म, जैनतीर्थ, मन्दिर-मूर्तियों और जैनशास्त्रों की रक्षा का महान् कार्य किया है।” यह सही है, किन्तु यह धर्मरक्षा की भावना से नहीं किया गया, अपितु राजोजित प्रभुत्व और ऐश्वर्यमय जीवन की साधनभूत धरोहर होने के भाव से किया गया। यह धरोहर दान, दक्षिणा, चढ़ावा, दर्शनपूजन-शुल्क, व्यवस्थाकर आदि आय के विभिन्न-स्रोतों के रूप में भट्टारकों के ऐश्वर्यमय जीवन का साधन बन गयी थी। रत्न-प्रतिमाओं एवं षट्खण्डागम आदि शास्त्रों की ताड़पत्रीय प्रतियों के दर्शन आज भी शुल्क लेकर कराये जाते हैं। जिस वस्तु का एकछत्र स्वामित्व प्राप्त हो जाता है और अपने राजसी ठाठ-बाट का साधन बन जाती है, उसकी रक्षा का प्रयत्न अपने-आप होता है। उस के लिए वीतरागता और मोक्षमार्ग की कुर्वानी देने में भी हिचकिचाहट नहीं होती। यदि धर्मशासक-भट्टारकों ने जैनधर्म की रक्षा के भाव से यह किया होता, तो वे उसमें घोर विकृति उत्पन्न कर जिनधर्म के यथार्थ स्वरूप का विनाश न करते।

१

जिनशासन का मिथ्यात्वीकरण

भट्टारकपरम्परा ने जैनशासन के मिथ्यात्वीकरण का अभूतपूर्व कार्य किया है।
यथा—

१. सरागी सग्रन्थ (भट्टारकों) को वीतरागी निर्ग्रन्थ के समान गुरु एवं पूज्य ('नमोऽस्तु' एवं अष्टद्रव्य से पूजा के योग्य) बना दिया।

२. क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि देवी-देवताओं को जिनेन्द्रदेव से अधिक पूजनीय बना दिया।

३. संयम और शौच के उपकरणभूत पिच्छी-कमण्डलु को स्वाँग (मुनि वेश की नकल) की सामग्री बना दिया।

४. गृहस्थों की आगमानुसार आचरण की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उन्हें अपने आदेशानुसार आचरण के लिए विवश कर दिया।

५. गृहस्थों को शास्त्राध्ययन से वंचितकर केवल पूजा-हवन आदि में 'स्वाहा' बोलनेवाला तोता ही बनने दिया।

६. उन्हें मोक्षसाधक धर्म से विमुख कर लौकिक-फल-साधक धर्म के मायाजाल में फँसाया। भट्टारक स्वयं के श्रावकव्रतरहित होने के कारण गृहस्थों को श्रावकव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा न देकर अपने अर्थोपार्जन के लिए तरह-तरह के लौकिक व्रतों (रविव्रत, रोहिणीव्रत, मुकुट-सप्तमीव्रत, आकाशपंचमीव्रत, सुगन्धदशमीव्रत, कोकिलापंचमीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत, नवग्रहविधान आदि) के अनुष्ठान एवं उद्यापन^{१८} की प्रेरणा देते थे, इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवारण के लिए मन्त्रतन्त्र कराने और मणि-मुक्ता धारण करने के मायाजाल में फँसाते थे। इन व्रतों के अनुष्ठान में पंचामृत अभिषेक, सचित्तपूजा, स्त्रियों के द्वारा जिनप्रतिमा के अभिषेक आदि की अनिवार्यता बतलाते थे।

७. भगवान् महावीर ने कर्मक्षय के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्ररूपित किया है। किन्तु भट्टारकनामधारी पंचमकालीन मिथ्या धर्मगुरुओं ने इसके विकल्प के रूप में कर्मदहन नामक व्रत के अनुष्ठान अथवा उसके श्रवणमात्र को कर्मक्षय के सरल उपाय के रूप में प्रस्तुत किया है। भट्टारकोपासक पं० नेमिचन्द्र द्वारा विक्रमसंवत् १९०९ (ई० सन् १८५२) में लिखे गये सूर्यप्रकाश नामक ग्रन्थ की परीक्षा करते हुए अपने सूर्यप्रकाश-परीक्षा (१९३४ ई०) नामक ग्रन्थ (पृ. ७४-७८) में पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सब पापों से छूटने का सस्ता उपाय शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हैं—

“ग्रन्थ में एक व्रतप्रकरण दिया गया है, जिसका प्रारम्भ “पुनराह शृणु भूप! तेषां भाविसुखाप्तये” इन शब्दों से होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीर ने पंचमकाल के मानवों की सुखप्राप्ति के लिये राजा श्रेणिक को कुछ व्रतविधान सुनाया है। इस

११८. “वस्तुतः उद्यापनादि की ये सब बातें भट्टारकीय शासन से सम्बन्ध रखती हैं। भट्टारकों को उद्यापनों से बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुत सा सामान पहुँच जाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्द के तार बजाते थे। इसीलिए उन्होंने अनेक व्रतों के साथ उद्यापन की बात को जोड़ दिया है।” (पं० जुगलकिशोर मुख्तार : सूर्यप्रकाशपरीक्षा / पृ.८२-८३)।

प्रकरण में आष्टाहिक आदि व्रतों के नाम सामान्यरूप से अथवा कुछ विशेषणों के साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठान का फल दो तीन भवों में मुक्ति का होना बतलाकर 'कर्मदहन' नाम के एक खास व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत की उत्कृष्ट विधि में मूलोत्तर कर्मप्रकृतियों के संख्याप्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तर से और निरारम्भ करने होते हैं, अर्थात् पहले दिन मध्याह्न के समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है, भोजन के दिन पंचामृतादि के अभिषेक-पूर्वक तथा जिनचरणों में गन्धलेपनपूर्वक सचितादि द्रव्यों से पूजा की जाती है, प्रत्येक उपवास के दिन उस-उस कर्म प्रकृति के नामोल्लेखपूर्वक एक जाप्य १०८ संख्या-प्रमाण जपा जाता है।^{११९} साथ ही, विकथादि के त्यागरूप कुछ संयम का भी अनुष्ठान किया जाता है।^{१२०} यह सब बतलाने के बाद ग्रन्थ में इस व्रत के फल का वर्णन करते हुए लिखा है—

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना।

श्रवणाच्च यत्सर्वाहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम् ॥ १७८ ॥

“इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिक को कर्म-दहन-व्रत के फल को ध्यानपूर्वक सुनने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि-‘इस व्रत के फलश्रवण से देहधारियों के सब पाप प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं।’ यहाँ ‘सर्वाहाः’ पद में प्रयुक्त हुए ‘सर्व’ शब्द की मर्यादा ‘सर्वज्ञ’ शब्द में प्रयुक्त हुए ‘सर्व’ शब्द की मर्यादा से कुछ कम नहीं है। वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थों को विषय करनेवाला कहा जाता है वैसे ही यह ‘सर्व’ शब्द भी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकाल सम्बन्धी सब प्रकार के संपूर्ण पापों को अपना विषय करनेवाला समझना चाहिये। उन सब पापों का इस फलश्रवण से उपशम या क्षयोपशम होना ही नहीं कहा गया, बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) हो जाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथन का साफ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभगोत्र नाम की जो भी पापप्रकृतियाँ हैं वे सब इस व्रत के फलश्रवण-मात्र से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं! फिर तो मुक्ति की उसी जन्म में गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये!

११९. “अनुवादक ने एक दिन के जाप्य का नमूना “ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः” दिया है।” (लेखक)।

१२०. “वह संयम विकथा, गृहारम्भ, स्त्रीसेवन, शृङ्गार, खट्वाशयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशुन्य, परनिन्दा, परस्त्रीनिरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वकहास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्यान, भोगाभिलाष, पत्रशाक और अशुद्ध दूध-दही-घृत के त्यागरूप कहा गया है। (श्लोक १६८ से १७१)।” (लेखक)।

“पाठकजन! देखा, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवान् ने सब पापों से छूटने और मुक्ति की प्राप्ति का बतलाया है! पाप-क्षय का इससे अधिक सुगम उपाय आप को अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिला होगा। इस गुह्य रहस्य का ग्रन्थकार पर ही अवतार भगवान् की खास मेहरबानी का फल जान पड़ता है! अच्छा होता, यदि भगवान् दि० तेरहपंथियों और ढूँढियों को इस व्रत का फल पहले ही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापों से मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने-झगड़ने तथा उनपर गालियों की वर्षा करने की जरूरत ही न रहती। शायद कोई तार्किक महाशय यहाँ यह कह बैठें कि चूँकि भगवान् को खास तौर से अपने अभिषेक पूजनादि के लिये उन्हें प्रेरित करना था, वे इस व्रत का फल उन्हें पहले ही कैसे सुना देते? परन्तु तब तो उन्हें व्रतफल सुनने का ऐसा माहात्म्य बतलाना ही नहीं चाहिये था। इसे मालूम करके तो लोगों की प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रत के अनुष्ठान की भी नहीं रह सकती, जिसमें अनेक प्रकार से अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिन-चरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्यों से पूजन की प्रेरणा अथवा पुष्टि की गई है, क्योंकि उसकी उत्कृष्टविधि का—और इसलिये अधिक से अधिक—फल तो अगले जन्म में विदेह क्षेत्र का सम्राट् होकर, जिनदीक्षा लेकर और अनेक तप तपकर मुक्ति का होना लिखा है, और इस व्रतफल के श्रवण से बिना किसी परिश्रम के ही सब पापों का नाश होकर उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है। इससे व्रत करने की अपेक्षा उसका फल सुनना ही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सिद्धि के सरल से सरल एवं लघु मार्ग को छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्ग को अपनाए? ग्रन्थकार की इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफल के नूतन आविष्कार पर तो लोगों को सारे धर्मकर्म को छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रत के फल को ही सुन लेना चाहिये। बस, बेड़ा पार है। इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

“ग्रन्थ में एक स्थान पर उन मनुष्यों को, जो सारे जन्म पाप में ही मग्न रहते हैं, इसी व्रत के कारण शिवपद की प्राप्ति होना लिखा है—

आजन्मपापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात्।

अस्यैव कारणाद् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते ॥ १२ ॥ पृ. २५४।

“परन्तु हमारे खयाल से तो उक्त श्लोक नं० १७८ की मौजूदगी में, ऐसे महापापी मनुष्यों को भी व्रत की उत्कृष्ट विधि के अनुष्ठानरूप इस द्राविड़ी प्राणायाम की जरूरत नहीं है। वे इस व्रत के फल को सुनकर सहज ही में सब पापों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।” (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ. ७४-७८)।

८. भट्टारकनामधारी धर्मगुरुओं ने पंचमकाल में ध्यान और तप को असम्भव घोषित करते हुए, मोक्षप्राप्ति का एक दूसरा भी सरल उपाय बतलाया है, जिससे दूसरे ही भव में गारण्टी से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वह उपाय है सम्मेदशिखर की बार-बार वन्दना करना। यह उपाय इसी सूर्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है। उसकी जानकारी देते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सूर्यप्रकाश-परीक्षा (पृष्ठ ८४-९०) में लिखते हैं—

क— “ध्यान और तप का करना वृथा-व्रतप्रकरण के बाद ग्रन्थ में ‘सम्मेदाचल’ नाम का एक प्रकरण दिया है और उसमें श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा का अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तप की बुरी तरह से अवगणना की गई है। ‘श्मशान-भूमियों और पर्वतों की गुफादिकों में करोड़ वर्ष पर्यन्त किये हुए ध्यान से भी अधिक फल सम्मेदशिखर के दर्शन से होता है’ इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि ‘पंचमकाल में तप और ध्यान की सिद्धि नहीं होती, अतः सम्मेदशिखर की यात्रा ही सर्वसिद्धि को करनेवाली है’ यहाँ तक भी कह डाला है। और इस तरह आजकल के लिये ध्यान और तप का करना बिलकुल ही वृथा ठहरा दिया है। दो कदम आगे चल कर तो स्पष्ट शब्दों में इन दोनों का निषेध ही कर दिया है और भव्यजनों के नाम यह आज्ञा जारी कर दी है कि ‘तपों के समूह को और ध्यानों के समूह को मत करो, किन्तु जीवनभर बार-बार सम्मेदशिखर का दर्शन किया करो। उसी के एक मात्र पुण्य से दूसरे ही भव में निःसन्देह शिवपद की प्राप्ति होगी।’ यथा—

कोटिपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु।
तदधिकं भवत्येव फलं तद्दर्शनाद् नृणाम् ॥ १३ ॥
नैव सिद्धिः तपस्योच्चैः (!) ध्यानस्यैव कदाचन।
तस्मिन् काले ह्यतो भूप ! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा ॥ १४ ॥
मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः! ध्यानसंहतिम्।

× × ×
समं प्रत्येकवारं च आपृत्य तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे।
यास्यथ नात्र सन्देहो द्वितीये हि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥

“यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा से कितना बाहर है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में इसकी निःसारता का अनुभव कर सकते हैं। खेद है कि ग्रन्थकार ने इसे भी भगवान् के मुख से ही कहलाया है! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रन्थ में अन्यत्र कितनी ही बार इन दोनों के करने की प्रेरणा

तथा इनके सफल अनुष्ठान का उल्लेख भी कर आया हूँ। और न यही ख्याल आया कि जिस ध्यान और तप के माहात्म्य से सम्मेदशिखर पूज्यता को प्राप्त हुआ है, उसी की मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कर रहा हूँ। अथवा प्रकारान्तर से मुनिधर्म को भी उठा रहा हूँ। हाँ, इस प्रकार की शिक्षा भट्टारकों के खूब अनुकूल है, उन्हें राजसी ठाठों के साथ मौजमजा उड़ाना है, ध्यानादि के विशेष चक्कर में पड़ना नहीं है।

ख—“मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं—ग्रन्थ में सम्मेदशिखर के दर्शनमाहात्म्य का वर्णन करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है, जिस में राजा श्रेणिक को सम्बोधन करते हुए कहा है कि इस (पाँचवें) काल में मानवों के लिये सम्मेदशिखर के (उसके दर्शन के) सिवाय शिव का (मुक्ति का) दूसरा और कोई उपाय नहीं है—

अस्मिन्काले नराणां च मतो भो मगधाधिप !

श्रीमच्छिखरसम्मेदानान्योपायः शिवस्य वै ॥ २६ ॥

“यह कथन जैनसिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैनग्रन्थों में, जो पंचमकाल के मनुष्यों के लिये ही लिखे गये हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का उपाय (मार्ग) बतलाया है, सम्मेदशिखर की यात्रा अथवा उसके दर्शन को किसी भी सिद्धान्तग्रन्थ में मुक्ति का उपाय नहीं लिखा। दूसरे, खुद इस ग्रन्थ के भी यह विरुद्ध है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में मुक्ति के दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरण के तौर पर कर्मदहन आदि व्रतों को ही लीजिये, जिन से द्वितीयादि भव में मुक्ति का प्राप्त होना लिखा है, इस यात्रा से भी द्वितीयादि भव में ही मुक्ति की प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रन्थकार का यहाँ भगवान् के मुख से यह कहलाना कि ‘मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं’ कितनी अधिक नासमझी तथा अविवेक से सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिव का, मुक्ति अथवा कल्याण का, दूसरा कोई उपाय नहीं है, सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं, तब समझ में नहीं आता कि इस ग्रन्थ के उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थ के तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादि का कष्ट उठा रहे हैं! उन्हें तो सब कुछ छोड़-छाड़कर एक मात्र सम्मेदशिखर का दर्शन ही करते रहना चाहिये।

ग—“भव्यत्व की अपूर्व कसौटी—कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ा ही मुश्किल काम है, क्योंकि कभी-कभी कोई जीव प्रकटरूप में ऊँचे दर्जे के आचार का पालन करते हुए भी अन्तरंग में सम्यक्त्व की योग्यता न रखने के कारण अभव्य होता है और दूसरा महापापाचार में लिप्त रहने पर भी आत्मा में

सम्यक्त्व के व्यक्त होने की योग्यता को रखने के कारण भव्य कहा जाता है। बहुत बड़े विशेषज्ञानी ही जीवों के इस भेद को पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकों को यह जान कर बड़ा ही कौतुक होगा कि इस ग्रन्थ में उन सब जीवों को 'भव्य' बतला दिया गया है जो सम्मेदशिखर पर स्थित हों अथवा जिन्हें उसका दर्शन हो सके, चाहे वे भील-चाण्डाल-म्लेच्छादि मनुष्य, सिंहसर्पादि पशु, कीड़े-मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्याय में क्यों न हों, और साथ ही यह भी लिख दिया है कि वहाँ अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्यों को उक्त गिरिराज का दर्शन ही प्राप्त होता है। यथा—

यत्रत्याः सकला जीवाः सिंहसर्पादिका नराः।

भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै॥ २८॥

कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः।

भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः॥ ३३॥

“पाठकजन! देखा, भव्यत्व की यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है! बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्रों का मथन करने पर भी आपको ऐसे गूढ़ रहस्य का पता न चला होगा। यह सब भट्टारकीय शासन की महिमा है, जिसके प्रताप से ऐसे गुप्त तत्त्व प्रकाश में आए हैं। इन यात्राओं के द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडे-पुजारियों का बड़ा ही स्वार्थ सधता था। तीर्थस्थान महन्तों की गदियाँ बन गये थे। इसी से लोगों को यात्रा की प्रेरणा करने के लिये उन्होंने गंगा-यमुनादि हिन्दूतीर्थों के माहात्म्य की तरह कितने ही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है, अतिशयोक्तियाँ भरी हुई हैं। सम्मेदशिखर के माहात्म्यादि-विषय में जो कुछ विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में कहा गया है, उसकी पूरी जाँच और आलोचना को प्रकट करने के लिए एक अच्छा खासा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। मालूम होता है, आचार्य शान्तिसागर जी का जो विशाल संघ सम्मेदशिखर की यात्रा को कुछ वर्ष पहले निकला था, वह प्रायः इस ग्रन्थ में दी हुई बड़ी यात्राविधि को सामने रखकर ही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठ जी को अगले ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का सर्टिफिकेट मिल गया है।^{१२१} आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थङ्करों) की तरह उनकी अभी से पूजा प्रारम्भ हो जाय। अब वे स्वच्छन्द हैं, चाहे जो करें।

घ—“सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण—इस ग्रन्थ में, तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है—

१२१. “इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः।
नात्र संशयः।” इस वाक्य के अनुसार। (लेखक)।

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः।

वाक्यं तदेव मान्यं स्याद् ग्रन्थवाक्यं न लङ्घयेत्॥ ६१५॥

अर्थात् ग्रन्थकारों ने (ग्रन्थों में) जो भी वाक्य कहा है, उसे ही मान्य करना और ग्रन्थों के किसी वाक्य का उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शन का लक्षण है, जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो, वह सम्यग्दृष्टि है।^{१२२}

“जिन पाठकों ने जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया है, अथवा कम से कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार और पंचाध्यायी जैसे ग्रन्थों को ही देखा है, उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहज ही में समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षण के अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धान का कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरु के त्रिमूढ़तादिरहित और अष्टअंगसहित श्रद्धान का ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूति का कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणों का ही कोई चिह्न दिखाई पड़ता है। सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ा ही रहस्यमय है, जाली सिक्कों को चलाने की मनोवृत्ति ही इसकी तह में काम करती हुई नजर आती है, और इसलिए इसे भट्टारकीय शासन के प्रचार का मूल-मंत्र समझना चाहिये। इसी पर्दे की ओट में भट्टारक लोग और उनके अनुयायीजन सब कुछ करना चाहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में अपनी इष्टसिद्धि के लिये चाहे जो कुछ मिला दिया जाय और चाहे जिन बातों को चलाने के लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरों के नाम पर नये ग्रन्थों का निर्माण कर दिया जाय, परन्तु उसमें कोई भी ‘चूँ चरा’ अथवा आपत्ति न करे, बिना परीक्षा और बिना तत्त्व की जाँच किये ही सब लोग उन बातों को आगमकथित के रूप में आँख मीचकर मान लेवें, इसी मन्तव्य की रक्षा के लिये बिना किसी विशेषण के सामान्यरूप से ग्रन्थकार, ग्रन्थ और वाक्य शब्दों का प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के लक्षण का यह विचित्र कोट तैयार किया गया है। अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रन्थकारों में अच्छे बुरे, योग्य-अयोग्य सभी प्रकार के ग्रन्थकार होते हैं, उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रन्थकार तथा त्रिवर्णाचारों के कर्ताओं जैसे धूर्त भी शामिल हैं, और ग्रन्थों में भी अनेक कारणों के वश सच्ची-झूठी सभी प्रकार की बातें लिखी जा सकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्य की जाँच किये महज ग्रन्थवाक्य होने से ही किसी बात को कैसे मान्य किया जा सकता है? यदि यों ही मान्य किया जाय, तो फिर सम्यक्-मिथ्या का विवेक ही क्या रह सकता है? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि

१२२. “सम्यग्दृष्टि’ शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनों के अर्थ में आता है। इसी से मूल में प्रयुक्त हुए इस शब्द का अर्थ यहाँ उभयरूप से किया गया है।” (लेखक)।

का भेद भी कैसे बन सकता है? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीला का दुष्परिणाम है। और उसी ने ऐसे बहुत से झूठे तथा जाली ग्रन्थों को जन्म दिया है, जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं, और जिनमें से कितनों ही की परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पब्लिक के सामने आ चुका है।” (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ.८४-९०)।

९. भट्टारकों ने वीतरागता की प्रतीक जिनप्रतिमा की शृंगारमय पूजा प्रचलित की। चरणों में चन्दनलेप, गले में पुष्पमाला और मस्तक पर कुसुमरचित मुकुट पहनाया जाने लगा। मुकुट पहनाने का विधान मुकुटसप्तमी व्रत में किया गया है—

तत्प्रश्नाच्छ्रेष्ठिपुत्रीति प्राह भद्रे! शृणु ब्रुवे।
व्रतं ते दुर्लभं येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम्॥

शुक्लश्रावणमासस्य सप्तमे दिवसेऽर्हताम्।
स्नपनं पूजनं कृत्वा भक्त्याष्टविधमूर्जितम्॥

धियतां मुकुटं मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः।

कण्ठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च धार्यते॥ (व्रतकथाकोश)

अनुवाद—“सेठ की पुत्री के प्रश्न को सुनकर आर्यिका बोलीं—“भद्रे! सुनो, मैं तुम्हें ऐसा व्रत बतलाती हूँ, जिससे इस लोक में दुर्लभ सुख प्राप्त होता है। श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव का अभिषेक और अष्टद्रव्य से पूजन कर भगवान् ऋषभदेव के मस्तक पर कुसुमों से रचित मुकुट रखना चाहिए और कण्ठ में पुष्पमाला पहनानी चाहिए।”

१०. वीतरागता, संयम, अपरिग्रह और अहिंसाविशिष्ट जैनशासन में भट्टारकपरम्परा ने गुरु की ऐसी छवि प्रस्तुत की, जो राजसी ठाठ-बाट से रहता है, श्रावकों का शोषण करता है, उनसे तरह-तरह की लौकिक फलसाधक, अविश्वसनीय धार्मिक क्रियाएँ कराकर दक्षिणा माँगता है, उन्हें अपने पूरे परिकर के साथ भोजन कराने और मनमाँगी भेंट देने के लिए मजबूर करता है, भेंट देने में असमर्थ होने पर कोड़ों से पिटवाकर वसूल करता है अथवा मन्त्रतन्त्र द्वारा अनिष्ट करने की धमकी देकर आतंकित करता है।

११. भट्टारकपरम्परा ने अपने साथ कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के नाम जोड़ कर अपनी आगमविरुद्ध, मिथ्यात्वपोषक, अप्रशस्त प्रवृत्तियों को आगमसम्मत अर्थात् भगवान्-महावीरोपदिष्ट सिद्ध करने की चेष्टा की, जो केवली, श्रुत और संघ, तीनों का अवर्णवाद है।

विद्रोह एवं तेरापन्थ का उदय

भट्टारकों के इस राजसी ठाठबाटमय, श्रावकशोषक, निरंकुश रूप से जैन गृहस्थों का मन उनके प्रति घोर घृणा और आक्रोश से भर गया और ईसा की १७वीं शताब्दी में आगरावासी कविवर पं० बनारसीदास जी जैसे धर्मज्ञ पण्डितों के नेतृत्व में उन्होंने भट्टारकपरम्परा के प्रति विद्रोह कर दिया, जिसके फलस्वरूप उत्तरभारत से भट्टारकपरम्परा का लोप हो गया और तेरापन्थ की स्थापना हो गयी। केवल दक्षिणभारत, महाराष्ट्र और गुजरात में इने-गिने भट्टारकपीठ अवशिष्ट रह गये। उत्तरभारत से भट्टारकपरम्परा का यह उन्मूलन इस बात का दो टूक प्रमाण है कि उसने जैनधर्म के स्वरूप को कितना विकृत कर दिया था! और उस विकृति का दुष्परिणाम आज जैन समाज तेरापन्थ और बीसपन्थ नाम के दो टुकड़ों में विभक्त होकर दूसरे रूप में भोग रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भट्टारकसम्प्रदाय ने तीर्थों, मन्दिर-मूर्तियों और शास्त्रों की रक्षा कर जिनशासन का जितना हित किया है, उससे कई गुना अहित किया है।

२.१. पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का मत

तेरहपन्थ के उदय के कारण पर प्रकाश डालते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—“भट्टारकी युग के शिथिलाचार के विरुद्ध दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक पन्थ का उदय हुआ, जो तेरहपन्थ कहलाया। कहा जाता है कि इस पन्थ का उदय विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं० बनारसीदास जी के द्वारा आगरे में हुआ था। ---- श्वेताम्बराचार्य मेघविजय ने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरे में युक्तिप्रबोध नाम का एक ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ पं० बनारसीदास जी के मत का खण्डन करने के लिए रचा गया है। इसमें 'वाणारसीमत का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तम्हा दिगंबरानं एए भटारगा वि णो पुज्जा।

तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो॥ १६॥

जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।

वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए॥ १७॥

“अर्थात् दिगम्बरों के भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिलतुषमात्र भी परिग्रह है, वे गुरु नहीं हैं। वाणारसीमतवाले जिनप्रतिमाओं को भूषणमाला पहनाने का तथा अंगरचना करने का भी निषेध दिगम्बर-आगमों की आज्ञा से करते हैं।

“आजकल जो तेरहपन्थ प्रचलित है, वह भट्टारकों या परिग्रहधारी मुनियों को अपना गुरु नहीं मानता और प्रतिमाओं को पुष्पमालाएँ चढ़ाने और केसर लगाने का

भी निषेध करता है, तथा भगवान् की पूजनसामग्री में हरे पुष्प और फल नहीं चढ़ाता। उत्तर भारत में इस पन्थ का उदय हुआ और धीरे-धीरे यह समस्त देशव्यापी हो गया। इसके प्रभाव से भट्टारकी युग का एक तरह से लोप ही हो गया।” (जैनधर्म/ पृ. ३०४-३०५)।

२.२. पं० नाथूराम जी प्रेमी का मत

तेरहपन्थ की उत्पत्ति के कारण की मीमांसा पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इन शब्दों में की है—“जब भट्टारकों ने अपने शिथिलाचार से, क्रियाकाण्ड की अयत्नाचाररूप प्रवृत्ति से, अपरिमित अधिकारों के दुरुपयोग से और मुनिवेष के सर्वथा परित्याग से वीतराग भगवान् के मार्ग को गंदा करना शुरू किया और जब वह मनस्वी विद्वानों को सहन नहीं हुआ, तब उन्होंने तेरहपंथ की नींव डाली। इस तरह अन्य धर्मों और पंथों के समान तेरहपंथ की भी उत्पत्ति में उस समय की परिस्थिति और आवश्यकता ही को प्रधान कारण समझना चाहिए।

“पं० बखतरामजीकृत बुद्धिविलास ग्रन्थ में अनेक गच्छों का वर्णन करते हुए कहा है कि—

**इनही गच्छमें नीकस्यौ, नूतन तेरहपंथ।
सोलह सै तेरासिए, सो सब जग जानंत ॥ ६३१ ॥**

“इससे मालूम होता है कि वि० संवत् १६८३ में तेरहपंथ की उत्पत्ति हुई। तेरहपंथ कोई ऐसा जुदा पंथ नहीं है, जिसने अपने कोई खास सिद्धान्त और नियमादि के ग्रन्थ बनाये हों, इसलिये उसकी उत्पत्ति की कोई खास तिथि या मिति नहीं हो सकती है, तो भी उक्त दोहे से यह मान लिया जा सकता है कि संवत् १६८३ के लगभग इस पंथ के अनुयायी दो सौ-चार सौ श्रावक अवश्य हो गये होंगे। यद्यपि तेरहपंथ के जो विचार हैं, वे विद्वानों के जी में उसी समय कुछ अव्यक्त रूप से स्थिर हो गये होंगे, जब कि भट्टारकों में थोड़ा-थोड़ा शिथिलाचार घुसा था, परन्तु वे विचार प्रगट होकर किसी पुरुषार्थवान् विद्वान् के द्वारा १६८३ के लगभग ही कार्य में परिणत हुए होंगे। और उस समय भट्टारकों का शिथिलाचार तथा अत्याचार असह्य हो गया होगा। आगे ज्यों-ज्यों शिथिलाचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों तेरहपंथ पुष्ट होता गया और उसका प्रतिपक्षी भट्टारकपंथ वा बीसपंथ कमजोर होता गया। इन दोनों का बढ़ाव-घटाव पिछली तीन शताब्दियों में इतना हुआ कि अब इस समय दिगम्बर जैनियों का लगभग दो तिहाई समाज तेरहपंथ का अनुयायी है और बीसपंथियों में भी जितना शिक्षित समाज है, यदि वह तेरहपंथी नहीं है, तो भट्टारकपंथ का भी अनुयायी नहीं है।

“जो लोग प्राचीनता को ही समीचीनता की जड़ समझते हैं, अपने पंथ या धर्म को प्राचीन सिद्ध करने में ही अपना गौरव समझते हैं, वे शायद तेरहपंथ को आधुनिक बतलाने के कारण हम पर नाराज होंगे। परन्तु हमारी समझ में गंदे प्राचीन बनने की अपेक्षा पवित्र अर्वाचीन बनना अच्छा है। और यह भी तो सोचना चाहिये कि तेरहपंथ का उदय संवत् १६८३ के लगभग हुआ, सो क्या उसका उदय करनेवालों ने उस समय अपना कोई नवीन सिद्धान्त स्थापित किया था? नहीं, भट्टारकों के द्वारा वीतरागमार्ग में जो बुराइयाँ पैदा हो गई थीं, उनको उन्होंने दूर करने का और यथार्थमार्ग की प्रवृत्ति करने का निश्चय किया था। फिर तेरहपंथ को अर्वाचीन पद मिलने से खेद करने की क्या आवश्यकता है?

“पंचामृत-अभिषेक करना, प्रतिमा के चरणों में केशर लगाना, सचित्त फल-फूल चढ़ाना, क्षेत्रपालादि की पूजा करना आदि क्रियाकाण्ड-सम्बन्धी कई बातों में तेरहपंथ और बीसपंथ में मतभेद है। बीसपंथी इन कार्यों का करना आवश्यक समझते हैं, और तेरहपंथी इनका निषेध करते हैं। परन्तु तेरहपंथ और बीसपंथ का प्रधान मतभेद भट्टारकों की उपासना के कारण हुआ है। और भट्टारकों की उपासना नहीं करना, यह पक्ष जो तेरहपंथियों ने लिया था, उसका कारण केवल भट्टारकों का शिथिलाचार है। बल्कि इस शिथिलाचार की शंका ही से तेरहपंथियों ने बीसपंथ में अयत्नाचार-पूर्वक प्रचुरता से प्रचलित पंचामृताभिषेकादि क्रियाओं का निषेध कर दिया है। इस लेख में हम यह चर्चा नहीं करना चाहते हैं कि इन बीसपंथियों में मान्य और तेरहपंथियों में निषिद्ध क्रियाओं के विषय में शास्त्रों की क्या राय है, परन्तु यह कहने में हमें कुछ अत्युक्ति नहीं जान पड़ती है कि तेरहपंथियों ने जिस तरह बहुत सी अनुचित बातों का निषेध करके शुद्धाम्नाय की प्रवृत्ति की है, उसी तरह से बहुत सी उचित बातों का भी त्याग कर दिया है और इसका कारण भट्टारकों के शिथिलाचार की शंका तथा अपने पक्ष का सीमा से अधिक खिंचाव है।

“तात्पर्य यह है कि तेरहपंथ के उत्पन्न होने का मुख्य कारण भट्टारकों का अधःपतन तथा शिथिलाचार है।

“तेरहपंथ ने क्या किया? यदि कोई हम से उक्त प्रश्न करे, तो हम उसको स्पष्ट शब्दों में उत्तर देंगे कि तेरहपंथ ने जैनधर्म को बचा लिया! जिस प्रकार भट्टारकों ने प्रारंभ में जैनधर्म की बड़ी भारी प्रभावना की थी, उसको अनेक संकटों से बचाया था, उसी प्रकार से तेरहपंथ ने भट्टारकों के एकाधिपत्य से नष्ट होते हुए जैनधर्म को सहारा देकर खड़ा कर दिया। जिस समय भट्टारकों पर प्रवृत्ति ने अपना मोहिनी-मंत्र फूँका था, और उससे मुग्ध होकर वे स्वर्गीय निवृत्तिमार्ग से पतित होकर वासनाओं की पंकिल भूमि में आ पड़े थे, उस समय एक तो यों ही कई शताब्दियों की राजकीय

अशान्ति से सब ओर अज्ञान अंधकार छा रहा था, दूसरे भट्टारक लोग अपने दोषों पर कोई अंगुलिनिर्देश नहीं कर सके और हमारी सेवापूजा में कुछ न्यूनता नहीं होने पावे, इस स्वार्थ-विचार से श्रावकसमूह में धार्मिक ज्ञान की वृद्धि की कुछ चेष्टा नहीं करते थे, बल्कि धार्मिक ज्ञान के 'शोलएजेंट' बनकर वे श्रावकों को मनमाने भाव से धर्म का विक्रय करने लगे थे और उन्हें तार के इशारों से नाचने वाली कठपुतलियों के समान सर्वथा जड़ बना के निश्चिन्त हो गये थे। तेरहपंथ का सबसे बड़ा उद्योग भट्टारकों की इसी संकीर्णता के विरुद्ध में हुआ। उसने श्रावकों को उनका भूला हुआ निजत्व स्मरण कराया और सिखलाया कि ऐसे गुरुओं की अपेक्षा न करके अब तुम अपने पैरों से खड़ा होना सीखो। धार्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये यदि तुम संस्कृत नहीं पढ़ सकते हो, तो मत पढ़ो, हम तुम्हें भाषा में ही जैनधर्म के सिद्धान्त जानने का मार्ग सुगम किये देते हैं। इस विषय में तेरहपंथ के अगुओं ने इतना उद्योग किया कि पिछले दो सौ-तीन सौ वर्षों में हजारों जैनग्रन्थ जयपुर, आगरा आदि की सरल भाषाओं में बन गये। और उन्हें पढ़कर जगह-जगह जैनधर्म के जाननेवाले श्रावक दिखलाई देने लगे। जगह-जगह शास्त्रसभाएँ वा स्वाध्यायसभाएँ होने लगीं। और साधारण पढ़े-लिखे भाई भी गोम्मतसार जैसे गहन ग्रन्थों की चर्चा समझने लगे। इसीलिए हम कहते हैं कि तेरहपंथ ने जैनधर्म को बचा लिया।

“जिन प्रान्तों में भट्टारकों की सत्ता अभी तक बनी हुई है, उनसे यदि आप उन प्रान्तों का मिलान करेंगे, जहाँ कि भट्टारकों की पूछ नहीं है और तेरहपंथ का जोर है, तो जमीन-आसमान का फर्क नजर आयगा। भट्टारकों के प्रान्त धार्मिक ज्ञान से प्रायः कोरे मिलेंगे और तेरहपंथ के प्रान्त धर्मचर्चा से सिंचित दिखलाई देंगे। इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि तेरहपंथ ने क्या किया है।” (जैनहितैषी / भाग ७ / अंक १०-११ / वीर नि० सं० २४२७ / १९१० ई०)।

३

बुन्देलखण्ड में भट्टारकशासन की अन्तिम सदी १८वीं ई०

यद्यपि ईसा की १७वीं सदी में उत्तरभारत में भट्टारकपन्थ के प्रति विद्रोह की आग भड़की और उत्तरभारत से उसे उखाड़ फेंक दिया गया, तथापि इस कार्य में लगभग सौ वर्ष लग गये। इसका प्रमाण यह है कि बुन्देलखण्ड में ईसा की १८वीं शताब्दी तक भट्टारकों के ही उपदेश से उनके ही प्रतिष्ठाचार्यत्व में मूर्तिप्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न होते रहे। यह छतरपुर (म.प्र.) के श्री दिगम्बरजैन बड़ा मंदिर में विराजमान भगवान् अजितनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण निम्नलिखित लेख से ज्ञात होता है—

“सं० १८३९ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक श्री जनेन्द्रभूषणोपदेशात् परवारवंशोद्भव श्री भारमूर भारिल्ल गोत्रे मंजुदास तद्धार्या खरगो तस्यात्मज सिंघई वच्छरमन तस्य पत्नी श्री रामकुंवर तस्य आत्मज सन्तोष-राय द्वितीय लल्लू तृतीय पूरनमल पौत्र मनराखन नित्यं प्रणामेत् छत्रपुरमध्ये वैशाखसुदी १३ गुणौ।” (कमलकुमार जैन : ‘जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख’/ श्री दिगम्बरजैन बड़ांमंदिर छतरपुर / क्र.१०२ / पृ. ३८)।

अनुवाद—“संवत् १८३९ (ई० सन् १७८२) में श्री मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय में भट्टारक श्री जनेन्द्रभूषण के उपदेश से परवारवंशोद्भव श्री भारमूर भारिल्लगोत्र के मंजुदास, उनकी पत्नी खरगो, उनके पुत्र सिंघई वच्छरमन, उनकी पत्नी श्री रामकुंवर, उनके आत्मज सन्तोषराय, द्वितीय आत्मज लल्लू, तृतीय आत्मज पूरनमल और पौत्र मनराखन छतरपुर में, वैशाख सुदी १३, गुरुवार के दिन (प्रतिमा को प्रतिष्ठापित कर) नित्य प्रणाम करते हैं।”

४

तेरापन्थ के उदय की प्रतिक्रिया

उत्तरभारत से भट्टारकपीठों का उन्मूलन करनेवाले तेरापन्थ के उदय से, बचे हुए भट्टारकों तथा उनके उपासकों में विरोध की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेश के नाम पर सूर्यप्रकाश, चर्चासागर, त्रिवर्णाचार, भद्रबाहुसंहिता आदि तथा आचार्य कुन्दकुन्द एवं उमास्वामी जैसे प्राचीन मूलसंघीय आचार्यों के नाम से कुन्दकुन्दश्रावकाचार, उमास्वामिश्रावकाचार आदि कूट (जाली) ग्रन्थ रचकर तेरापन्थानुगामियों की अपशब्दव्यवहार-पूर्वक घोर निन्दा की और अपने द्वारा चलाये मिथ्याधर्म को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट वास्तविक धर्म बतलाया। माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भट्टारकों तथा उनके भक्त पण्डितों द्वारा रचित ऐसे अनेक कूटग्रन्थों की परीक्षा कर उन्हें जाली सिद्ध किया है और ग्रन्थपरीक्षा नामक ग्रन्थ के चार भागों में उनकी परीक्षा प्रकाशित की है, जो प्रत्येक जागरूक जैन के लिए पठनीय है। भट्टारकभक्त पं० नेमिचन्द्रकृत सूर्यप्रकाश ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भावी मनुष्यों के आचार-विचार, उनकी प्रवृत्तियों, कतिपय धर्मों के प्रादुर्भाव और कुछ घटनाओं आदि का वर्णन यद्वा-तद्वा भविष्य-कथन के रूप में कराया गया है। (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ. १९)। इसी प्रसंग में भगवान् के मुख से तेरहपन्थियों को कटु गालियाँ दिलायी गयी हैं। इसकी जानकारी के लिए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के सूर्यप्रकाश-परीक्षा ग्रन्थ (पृ.४६-६०) से निम्नलिखित अंश उद्धृत किया जा रहा है—

“ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भविष्य कथन के रूप में जो असम्बद्ध प्रलाप कराया गया है वह नं० ३ (शीर्षक) में दिये हुए कुन्दकुन्द के प्रकरण के साथ ही समाप्त नहीं होता, बल्कि दूर तक चला गया है। अगले प्रकरणों को पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् कहीं-कहीं तो ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं और कहीं एकदम विचलित हो उठे हैं और उनके मुख से कुछ का कुछ निकल गया है, कथन का कोई भी एक सिलसिला और सम्बन्ध ठीक नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द-प्रकरण के अनन्तर अगले कथन का जो प्रतिज्ञावाक्य दिया है वह इस प्रकार है—

अथापरं शृणु भूप पञ्चमसमयस्य वै।
वृत्तान्तं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिन्तासमाधिना ॥ ४९९ ॥

“इसमें साफतौर पर पंचमकाल के दूसरे भावी वृत्तान्त के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए राजा श्रेणिक से उस वृत्तान्त को सुनने की प्रेरणा की गई है। परन्तु इसके अनन्तर ही, भावी वृत्तान्त की बात को भुलाकर, भगवान् ने अभिषेकादि छह क्रियाओं का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है। और उसके द्वारा वे खुद ही अपनी पूजा-अर्चा का विधान करने बैठ गये हैं। यहाँ तक कि जपक्रिया के मंत्रों में उन्होंने अपना नाम भी ‘सर्वकर्मरहिताय श्रीमहावीरजिनेश्वराय सदा नमः’ इत्यादि रूप से जपने के लिये बतला दिया है। साथ ही अपने परम आराध्य कुन्दकुन्द के नाम का मंत्र देना भी वे नहीं भूले हैं और उन्होंने कुन्दकुन्द के नामवाले मंत्र को तीन बार ‘नमोऽस्तु’ के साथ जपने की व्यवस्था करके उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है। अभिषेक क्रिया के वर्णन में उन्होंने जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और दधिरूप पंचामृत से जिनेन्द्र के और इसलिये अपने भी स्नान का विधान ही नहीं किया, बल्कि “स्नानं कुरुध्वं बुधाः” (५०८) जैसे वाक्यों द्वारा उसकी साक्षात् प्रेरणा तक की है। साथ ही, उसकी दृढ़ता के लिये ऐसे अभिषेक का फल भी मेरुपर्वत पर देवताओं द्वारा अभिषेक किया जाना आदि बतला दिया है और एक नजीर भी प्रोत्साहनार्थ तथा इस क्रिया को मुख्यता प्रदान करने के लिये दे डाली है, और वह यह कि देवता लोग भी पहले भगवान् का अभिषेक करके पीछे सम्पत्ति को अंगीकार करते हैं, दूसरे कामों में लगते हैं।^{१२३} इसी तरह पूजन क्रिया के वर्णन में उन्होंने भगवचरणों के आगे जल की तीन धाराएँ छोड़ने, केसर, अगर-कपूर को घिसकर जिन-चरणों पर लेप करने और जिन चरणों के आगे सुन्दर अक्षतों, कुन्द-कमलादि के पुष्पों तथा सर्व प्रकार के पक्वान्न व्यंजनों को चढ़ाने, हजारों घृतपूरित दीपकों का उद्योत करने,

१२३. “इससे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से निकल जाता है और एक असम्बद्ध प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।” (लेखक)।

सुगंधित धूप जलाने और केला आम्रादि फलों को अर्पण करने रूप अष्टद्रव्य से पूजन का विधान ही नहीं किया किन्तु “एवं बुधोत्तमा जिनपतेः इज्यां कुरुध्वं च भो” (६२२) जैसे वाक्यों द्वारा उस प्रकार से पूजन की साक्षात् प्रेरणा भी की अथवा आज्ञा तक दी है। साथ ही ऐसे प्रत्येक द्रव्य से पूजन का फल ही नहीं बतलाया, बल्कि इन द्रव्यों से पूजन करके फल प्राप्त करनेवालों की आठ कथाएँ भी दे डाली हैं,^{१२४} जिससे इस प्रकार के पूजन की पुष्टि में कोई कोर-कसर बाकी न रह जाय। शेष जप, स्तुति, ध्यान और गुरुमुख से शास्त्रश्रवण^{१२५} नाम की क्रियाओं का विधान भी भगवान् ने प्रेरणा तथा फलवर्णना के साथ किया है, परन्तु उनके विषय में भविष्य का कोई खास उल्लेख नहीं किया गया।^{१२६} इसके बाद वे फिर से पूर्णाहुति के तौर पर उक्त छहों क्रियाओं का उपदेश देने बैठ गये हैं। और इतने पर भी तृप्त न होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने जलगंधाक्षतादि जुदे-जुदे द्रव्यों से पूजन का वही राग पुनः छेड़ दिया है।

“हाँ, बीच-बीच में जब कहीं उन्हें दिगम्बर तेरहपन्थी नजर पड़ गये हैं या उनसे भी चार कदम आगे तारनपन्थी और स्थानकवासी दिखलाई दे गये हैं, तो भगवान् अपने को सभाल नहीं सके, वे आवेश में आकर एकदम उन पर टूट पड़े हैं और समवसरण में बैठे-बैठे ही भगवान् की उनके साथ अच्छी खासी झड़प हो गई है। भगवान् ने उन्हें मूर्ख, मूढ़, कृतघ्न, गुरुनिन्दक, आगमनिन्दक, जिनागमप्रघातक, जैनेन्द्रमतघातक, मदोद्धत, क्रूर, सुबोधलववर्जित, क्रियालेशोज्जित, वचनोत्थापक, मिथ्यात्वपथसेवक, मायावी, खल, खलाशय, जड़ाशय, धर्मघ्न, धर्मबाह्य, कापट्यपूरित, जिनाज्ञालोपक, कुमार्गगामी और अधम आदि कहकर अथवा इस प्रकार की गालियाँ देकर ही सन्तोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें श्वपचतुल्य (चाण्डालों के समान)

१२४. “ये कथाएँ पंचमकाल के भाविक वृत्तान्त के वर्णन में बहुत कुछ असम्बद्ध जान पड़ती हैं, और इनसे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से और भी ज्यादा निकल जाता है तथा एक प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।” (लेखक)।

१२५. “ग्रन्थों का स्वतः स्वाध्याय कर भक्त लोग कहीं भट्टारकों के शासन से निकल न जायँ, उन पर नुक्ताचीनी करनेवाले तेरहपंथी न बन जायँ, इसी से शायद गुरुमुख से शास्त्रश्रवण की यह बात रक्खी गई जान पड़ती है। अनुवादक जी ने ‘ग्रन्थान् भव्याः गुरोरस्यात् शृणुध्वम्’ का अर्थ “ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिये” देकर इसकी मर्यादा को और भी बढ़ा दिया है, परन्तु खेद है कि वे अपने इस वाक्य में प्रयुक्त हुए ‘ही’ शब्द पर खुद अमल करते हुए नजर नहीं आते।” (लेखक)।

१२६. “इन क्रियाओं के साथ में भविष्य का कोई वर्णन न रहने से इनका कथन प्रतिज्ञात भाविक वृत्तान्त के साथ और भी असंगत हो जाता है और बिलकुल ही निरर्थक उहरता है।” (लेखक)।

और सप्तम नरकगामी तथा निगोदगामी तक बतला दिया है। अभिषेक और पूजन-क्रियाओं के सम्बन्ध में भविष्यवर्णना रूप से जो कथन किया गया है वह प्रायः उन्हीं को लक्ष्य करके कहा गया है।^{१२७} ये पंचमकाल के (कलियुगी) लोग इन क्रियाओं को नहीं मानेंगे अथवा अमुक विधि से अभिषेक-पूजा नहीं करेंगे, क्रियाओं का उत्थापन

१२७. इस प्रकरण के भविष्यवर्णनावाले अधिकांश वाक्य इस प्रकार हैं, जिन्हें पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि वे तेरहपंथियों आदि को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं—

१. कलौ वै मानवा मूढा चाभिषेकक्रियामिमाम्।
नूनमुत्थापयिष्यन्ति स्वस्वमतविपर्ययात् ॥ ५०९ ॥
शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यन्ति निश्चयात्।
नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यन्ति स्वकीर्तये ॥ ५१० ॥
दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलात्।
संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च ॥ ५११ ॥
स्वं स्वं कल्पित-वाक्यं च मानयिष्यन्ति ते नराः।
जैनागम-विनिर्मुक्ता आचार्यागम-निन्दकाः ॥ ५१२ ॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिन्दकाः।
कृतघ्नाः ते भविष्यन्ति जैनेन्द्रमतघातकाः ॥ ५१३ ॥

(इनके अनन्तर ही 'द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता' इत्यादि रूप से पूजन क्रिया का वर्णन है।)

२. अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नराः।
करिष्यन्ति जिनेन्द्राणां पूजा नैव मदोद्धताः ॥ ६२३ ॥
तस्मिन् तदुद्धवाः क्रूराः सुबोधलववर्जिताः।
वचनोत्थापकाः स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात् ॥ ६२४ ॥

(इनके बाद 'अंगपूर्वानाराधीश स्थास्यन्ति मत्परं खलु' इत्यादि रूप से भविष्यवर्णना के जो चार श्लोक दिये हैं और श्लोक नं० ६४० तक भूतादिवर्णना को लिये जो वाक्य दिये हैं, उनका प्रस्तावित पूजनक्रिया के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है।)

३. कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षितः।
नूतनां स्थापनां लोकाः करिष्यन्ति च मायिनः ॥ ६४१ ॥
केचिच्च द्वेषका मर्त्याः केचिच्च सेवकाः खलु।
एवं तस्मिन् भविष्यन्ति कलौ च मगधाधिप ॥ ६४२ ॥
जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर।
निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम् ॥ ६४३ ॥
ग्रन्थानां पूजकाः केचित् जिनबिम्बस्य निन्दकाः।
कलौ भेदाह्वानेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ॥ ६४४ ॥

करेंगे, नया-नया मार्ग चलाएँगे, शास्त्रों के वचन का लोप करेंगे, ग्रन्थों को दोष लगाएँगे, संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थ नहीं बाँचेंगे, अपनी ही बुद्धि से कल्पित किये (भाषा) ग्रंथों को स्वाध्याय तथा पूजनादि के कार्यों में बर्तेंगे, ग्रंथों के पूजक तथा जिनबिम्बों के निन्दक भी होंगे और जिनात्त-पुरुषों (भट्टारक गुरुओं) तथा साधर्मिपुरुषों की निन्दा करेंगे, इत्यादि कह कर और निन्दा के फलवर्णन की अप्रासंगिक बात उठाकर उसके बहाने उन्हें फिर प्रकारान्तर से खूब कोसा गया है। कहा गया है कि ऐसे निन्दक लोग अगले जन्म में अन्धे, बहरे, गूँगे, कुबड़े, सदा रोगी, विकलांगी, दारिद्री, नपुंसक, कुरूपी, असुरीले, दुःखभोगी, पुत्रपौत्रादि-रहित, सदा शोकी, भाग्यहीन, दुर्बुद्धि, क्रूर, दुष्ट, खल, ज्ञानशून्य-मुन्यादि-वर्जित (साधु आदि के सत्संग-रहित अथवा निगुरे), धर्ममार्गपराङ्मुख, गुणमानविहीन और दूसरों के घर पर नौकर होते हैं (होंगे), प्रतिपच्चन्द्रमा

वसुभूपालवत्स्वस्य मतस्य ते नराः खलाः।
 दृढं पक्षं करिष्यन्ति सप्तधावनि दुःखदम् ॥ ६४५ ॥
 जिनात्तपुरुषाणां च केचिच्छ्रद्धानिका नराः।
 खला निन्दां करिष्यन्ति जिनागम-प्रघातकाः ॥ ६४६ ॥
 पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम्।
 तस्मिन्नुत्थापयिष्यन्ति ते मूढाः पञ्चमोद्धवाः ॥ ६४७ ॥
 नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यन्ति जडाशयाः।
 ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पतः ॥ ६४८ ॥
 वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवकाः।
 मानयिष्यन्ति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिताः खलु ॥ ६४९ ॥
 स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके।
 कार्ये प्रवर्तयिष्यन्ति नो तद्धिते खलाशयाः ॥ ६५० ॥
 इत्थं जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्कराः खलु।
 तस्मिन्नेव भविष्यन्ति स्वस्वमतविनाशकाः ॥ ६५१ ॥

(इनके पश्चात् हुंडावसर्पिणी काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख ६६० नम्बर तक है।)

४. साधर्मिपुरुषाणां च निन्दां ते श्रावकाः खलाः।
 करिष्यन्ति कलौ भूप निन्दायाः किं फलं भवेत् ॥ ६६१ ॥

(आगे नम्बर ६८१ तक निन्दा का फल दिया है।)

५. ह्येवं सर्वं भविष्यन्ति कलौ भूप न संशयः।
 स्वचित्ते मानयिष्यन्ति वयं श्रद्धानिकाः खलु ॥ ६८२ ॥
 ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्रद्धानिकाः खलु।
 नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर ॥ ६८३ ॥

की तरह (शीघ्र) मर जाते हैं, ८वें, १२वें, १६वें वर्ष तथा जवानी में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं और इस लोक तथा परलोक में धूर्त^{१२८} बन जाते हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में जो भी कष्टदायक दुःख होते हैं वे सब परनिन्दा के फल हैं।^{१२९} और जो लोग प्रत्यक्ष में (सामने ही) निन्दा करते हैं उन्हें चाण्डाल के समान समझना चाहिये।^{१३०}

“इसके बाद यह दुहाई देते हुए कि ग्रंथों में भद्रबाहु, माघनन्दी, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, वसुनन्दी और सकलकीर्ति आदि योगीन्द्रों के द्वारा पूजा-स्नानादि की वे ही सब क्रियाएँ रक्खी गई हैं, जो वीतराग भगवान् तथा गणधरादिक ने कहीं हैं, यहाँ तक कह डाला है कि उन क्रियाओं का उत्थापन करनेवाले कपटी मनुष्य दुःखों से भरे हुए सातों नरकों में क्यों नहीं जायेंगे? भगवान् के वचन को लोपने से मूढ़, मानी पुरुष निश्चय ही नाना दुःखों की खान निगोदों में पड़ेगे।^{१३१}

“अन्त में बहुत कुछ संतप्त होकर भगवान् उन तेरहपन्थियों आदि को सम्बोधित करते हुए उनसे इस प्रकार पूछने और कहने लगे हैं—

“बतलाओ तो सही, किस ग्रन्थ के आधार पर तुमने गृहस्थों की इन छह क्रियाओं (पंचामृत अभिषेक, भगवत् चरणों पर गंधलेपन को लिये हुए सच्चितादि द्रव्यों से पूजा, स्तुति, जप, ध्यान, गुरुमुख से शास्त्रश्रवण) का लोप किया है? यदि तुम्हारे जिनागम

१२८. मूल में ‘धवाः’ पद है और वह यहाँ धूर्तों का वाचक है। हेमचन्द्रादि के कोशों में भी ‘धवः धूर्ते नरे पत्न्यौ’ आदि वाक्यों के द्वारा ‘धव’ शब्द को धूर्तवाचक बतलाया है। परन्तु अनुवादक-संपादक ब्र० ज्ञानचन्द्र जी महाराज ने अपनी नूतनाविष्कारिणी शक्ति के द्वारा बड़ी निरंकुशता के साथ उसका अर्थ विधुर तथा विधवा कर दिया है और लिख दिया है कि “इस लोक तथा परलोक में विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं।” (लेखक)।

१२९. “फलादेश की इस फ़िलासॉफ़ी ने जैनधर्म की सारी कर्म-फ़िलासॉफ़ी को लपेट कर बालाए ताक रख दिया है।” (लेखक)।

१३०. पिछले दोनों वाक्यों के सूचक श्लोक इस प्रकार हैं—

ये ये दुःखाश्च जायन्ते प्राणिनां दुःखदायकाः।
ते ते ज्ञेयाः शरीरेषु परनिन्दाया भो फलम् ॥ ६७९ ॥
प्रत्यक्षं येऽत्र मूढा वै निन्दां कुर्वन्ति सर्वदा।
ज्ञेयाः श्वपचसा तुल्याः स्वमतस्य क्षयंकराः ॥ ६८१ ॥

१३१. तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यन्ति ये च सप्तसु।

श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः ॥ ६९४ ॥
प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः।
यास्यन्ति वै निकोतेषु नानादुःखकरेषु च ॥ ६९८ ॥

की श्रद्धा है तो प्रतिदिन छह क्रियाओं को करो। मूढ़ो! हृदयोक्ति को छोड़ो और वसु राजा की तरह ग्रन्थों का लोप मत करो। अहो मूर्खों! मतिश्रुतावधिनेत्रधारक योगियों ने तो इन अभिषेकादि संपूर्ण क्रियाओं में कोई दोष देखा नहीं, तुम्हारे तो मूढ़ो! मतिज्ञानादि सदगुण अल्प मात्रा में भी दिखाई नहीं देते, फिर बतलाओ तुम बुद्धिविहीनों ने किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओं में प्रदोष देखा है? प्रभु के चरणों पर चन्दनादि से लेप करने में क्या दोष है? दीपक का उद्योत करने में, जिनांकस्थित यक्षों का पूजन करने में, धूप जलाने में, रात्रि को पूजन करने में, जिनात्तपुरुषों (भट्टारकों) के मार्गवर्धक वात्सल्य में, पुष्पसमूह से जिनचरण की पूजा करने में, और केला, आम तथा अंगूरादि फलों से पूजा करने में क्या दोष है? इत्यादि संपूर्ण क्रियाएँ जिननाथ ने आगम में कही हैं, तुमने अपनी मूढ़बुद्धि से उन्हें छोड़ दिया है। अतः तुम जिनेन्द्र की आज्ञा भङ्ग करने वाले और कुमार्गगामी हो, श्राद्ध (श्रद्धावान् श्रावक) नहीं हो, जिनाज्ञा के लोप से निष्फल हो गये हो। जहाँ आज्ञा (आज्ञापालन) नहीं, वहाँ धर्म का लेश भी नहीं, अतः तुम निःसन्देह कुश्रद्धा के पालक हो। अरे! जिनवचन में यदि तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा हो, तो अभिषेकादि सत्क्रियाओं को अङ्गीकार करो। मूढ़ो! बतलाओ तो सही, किसकी आज्ञा से तुमने अभिषेकादि मुख्य क्रियाएँ छोड़ी हैं? ग्रन्थ खोलकर दिखलाओ। दुष्टो! बोलो, ग्रन्थों के अनुसार तुमने ये क्रियाएँ छोड़ी हैं या अपनी मति के अनुसार? जिनमुखोत्पन्न ग्रन्थों की आज्ञा तो तीनों लोक में सभी देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खचरेन्द्र मानते हैं, जिनेन्द्र की आज्ञा के बिना सुरेन्द्र कहीं भी कोई काम नहीं करते, फिर बतलाओ, अरे मर्त्यों! तुमने परम्परा से चली आई इन अभिषेकादि क्रियाओं को कैसे उत्थापित किया है? जिनाज्ञा लोपने की सामर्थ्य तो देवेन्द्रों की भी नहीं होती, मूढ़ो! तुमने कैसे उसका लोप कर दिया? क्या तुम उनसे भी बड़े हो और इसलिये तुमने सर्वेन्द्र-पूज्य प्रभु के वाक्य का उत्थापन कर दिया है? अरे मूर्खों! बोलो, क्या ये सब क्रियाएँ असत्य हैं? यदि असत्य हैं तो फिर सारे ग्रन्थ झूठे उहरेंगे। तुम्हारे यदि जिनागम की श्रद्धा है, तो फिर आगम वाक्य के अनुसार क्यों नहीं चलते? पक्षपात को छोड़ो और ग्रन्थपक्ष के अनुसार चलो।

“जिन वाक्यों का सार दिया गया है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं

भवद्भिः केन ग्रन्थेन वक्तव्यं खलु लोपिताः ।

षट् क्रियाः जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिनाम् ॥ ६० ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च ।

कुरुध्वं जिननाथस्य षट् क्रियां वासरं प्रति ॥ ६१ ॥

त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु ।

ग्रन्थानां लोपनं मूढा मा कुरुध्वं मतापहम् ॥ ६२ ॥

मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणां च योगिनाम् ।
 गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम् ॥ ६३ ॥
 तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टोकिमप्यहो ।
 अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
 भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणाः ।
 चाल्यमात्रापि दृश्यन्ते सर्वद्वेषरनाशकाः ॥ ६५ ॥
 वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवद्भिः मतिवर्जितैः ।
 किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥ ६६ ॥
 दोषः किंस्यात्प्रभोः पादलेपनेचन्दनादिभिः ।
 दीपस्योद्योतने किं च जिनाङ्कयक्षपूजने ॥ ६७ ॥
 धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा ।
 जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥ ६८ ॥
 पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाम्बुजपूजने खलु ।
 केलाग्नगोस्तनी चान्यत्फलोत्करैः प्रपूजने ॥ ६९ ॥
 इत्याद्या याः क्रियाः सर्वा जिननाथेन वर्णिताः ।
 आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः ॥ ७० ॥
 अतः यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाग्राश्च कुमार्गगाः ।
 न श्रद्धा निःफला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु ॥ ७१ ॥
 यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोऽपि नास्ति वै ।
 अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न संशयः ॥ ७२ ॥
 यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तद्वचनस्य च ।
 तदा ह्यङ्गीकुरुध्वं भो स्नपनादिसत्क्रियाम् ॥ ७३ ॥
 आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञया स्नपनादिकाः ।
 यूयं त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्षं प्रदर्शयथ ॥ ७४ ॥
 ग्रन्थानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रियाः खलाः ।
 इमे यूयं तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु ॥ ७५ ॥
 जिनानन-समुत्पन्न-ग्रन्थाज्ञां भुवने त्रये ।
 देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः ॥ ७६ ॥

सर्वे ते मानयन्त्येव निःशङ्कां निखिलार्थदाम्।
 मतिश्रुतावधि-श्लिष्ट-शुद्ध-दृग्धारकाः खलु ॥ ७७ ॥
 क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः।
 न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥ ७८ ॥
 यूयं वदथ भो मर्त्याः पारम्पर्यात्समागताः।
 भवद्विरभिषेकाद्याः कथमुत्थापिताः खलु ॥ ७९ ॥
 सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन।
 जिनाज्ञालोपने मूढाः भवद्विः लोपिताः कथम् ॥ ८० ॥
 यूयं तदधिकाः किं वै अतः उत्थापितं प्रभोः।
 वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम् ॥ ८१ ॥
 वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्याः स्युरिमाः क्रियाः।
 सर्वे ग्रन्था असत्याः स्युः सर्वसन्देहनाशकाः ॥ ८२ ॥
 युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै।
 तदा किं न कुरुध्वं भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
 पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रन्थपक्षं जगन्नुतम्।
 यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥

(सूर्यप्रकाश/पृ. १६३ से १६७)

“पाठकजन! देखा, कितनी भारी झड़प का यह उल्लेख है! इसी तरह का और भी कितना ही संघर्षात्मक कथन है, जो भट्टारकों को, ग्रन्थकार के शब्दों में जिनात्तपुरुषों को, गुरु न मानने से सम्बन्ध रखता है, जिसमें भट्टारकों को गुरु न मानने वालों को सप्तम नरकगामी तक बतलाया है,^{१३२} और जिसे यहाँ छोड़ा जाता है। अस्तु, इतनी खैर हुई कि ग्रन्थकार ने उत्तर में तेरहपन्थियों को कुछ बोलने नहीं दिया, नहीं तो समवसरण सभा का रंग कुछ दूसरा ही हो जाता और इस तरह से निरर्गल बोलने तथा पूछनेवाले भगवान् के ज्ञान-विज्ञान की सारी कलाई खुल जाती।

“इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति द्वारा भगवान् महावीर जैसे परम वीतरागी और ब्रह्मज्ञानी पूज्य महान् पुरुष को एक अच्छा खासा पागल, विक्षिप्तचित्त, अविवेकी, कषायवशवर्ती और कलुषितहृदय, क्षुद्रव्यक्ति प्रतिपादित किया है। उसका यह घोर अपराध

१३२. येऽधमा नैव मन्यन्ते गुरुं ज्ञानस्य दायकम्।

ते यास्यन्ति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥ पृ. १७७ ॥

किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। एक स्वार्थसाधू पामर मनुष्य अपनी स्वार्थसाधना में अंधा होकर और कषायों में डूब कर जाने-अनजाने पूज्यपुरुषों तक को कितना नीचे गिरा देता है, यह इस प्रकरण से बहुत कुछ स्पष्ट है, जिसमें यहाँ तक चित्रित किया गया है कि भविष्य में एक खास ढंग से अभिषेक-पूजा को न होते हुए देखकर भगवान् एकदम बिगड़ बैठे हैं! ग्रन्थकार ने अपनी कुत्सित वासनाओं और कषायभावनाओं को चरितार्थ करने के लिये भगवान् महावीर के पवित्र नाम का आश्रय लिया है, उसे अपना आला अथवा हथियार बनाया है, अर्थात् बातें अपनी, कहने का ढंग अपना और नाम भगवान् महावीर का! उसकी इस कृति में साफतौर पर भट्टारकानुगामियों की तेरहपंथियों के साथ युद्ध की वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई दे रही है, जैसा पहले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इस सारे वर्णन में और कुछ भी सार नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परम विवेकी और परमसंयमी आप्तपुरुषों का ऐसा असम्बद्ध, सदोष और कषायपरिपूर्ण घचनव्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे वचनों अथवा ग्रन्थों को जिनवाणी कहना, जिनमुखोत्पन्न बतलाना, जिनवाणी का उपहास करना है। यदि सचमुच जिनवाणी का ऐसा ही रूप हो, तो उसे कोई भी सुशिक्षित और सहृदय मानव अपनाने के लिये तैयार नहीं होगा।

“इसके सिवाय, किसी भी सभ्य मनुष्य को यह बात पसंद नहीं आती कि वह अपनी पूजा-प्रशंसा के लिये दूसरों को साक्षात् प्रेरणा करे, फिर मोहरहित वीतरागी आप्तपुरुषों की तो बात ही निराली है। उन्हें वीतराग होने के कारण पूजा-प्रशंसा से कोई प्रयोजन ही नहीं होता, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के ‘न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे’ जैसे वाक्य से प्रकट है। उनके द्वारा इस तरह विस्तारपूर्वक और लड़-झगड़कर अपनी पूजा-अर्चा का विधान नहीं बन सकता। स्वामी पात्रकेसरी ने तो अपने स्तोत्र में ‘त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः’ जैसे वाक्य द्वारा स्पष्ट बतला दिया है कि केवलज्ञानी भगवान् ने इन पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया, किन्तु भक्त श्रावकों ने स्वयं ही (अपनी भक्ति आदि के वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है, उन्हें अपने व्यवहार के लिये कल्पित किया है। और यह बहुत कुछ स्वाभाविक है।^{१३३} ऐसी हालत में भगवान् महावीर के मुख से जो कुछ यद्वा-तद्वा अपनी इच्छानुकूल कहलाया गया है और उसमें तेरहपंथियों आदि के प्रति जो अपशब्दों का व्यवहार किया गया है, उससे भगवान् महावीर का कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका जरा भी उसमें हाथ नहीं है, वह सब वास्तव में ग्रन्थकार

१३३. “इस विषय के विशेष विवेचनादि के लिये लेखक की उस लेखमाला को देखना चाहिये, जो कुछ वर्ष पहले ‘उपासना-विषयक समाधान’ नाम से ‘जैनजगत्’ में प्रकट हुई थी।”

के संतप्त एवं आकुल हृदय का प्रतिबिम्ब है, उसकी अपनी चित्तवृत्ति का रूप है, और इसलिए उसकी निजी कृति है। अपनी कृति को दूसरे की प्रकट करना अथवा उसके विषय में ऐसी योजना करना, जिससे वह दूसरे की समझ ली जाय, इसी का नाम जालसाजी है और इस जालसाजी से यह ग्रन्थ लबालब भरा हुआ है। इसलिए इसे जाली कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

“अपनी इस कृति पर से ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र इतना मूर्ख मालूम होता है कि उसे ग्रन्थरचना के समय इतनी भी तमीज (विवेक-परिणति) नहीं रही है कि मैं कहना तो क्या चाहता हूँ और कह क्या रहा हूँ! वह कहने तो चला भगवान् महावीर के मुख से निकला हुआ अविकल भाविक वृत्तान्त और सुना गया अपने संतप्त हृदय की बेढंगी दास्तान। जिस पर-निन्दा की उसने इतनी बुराई की और जिसका इतना भारी भयङ्कर परिणाम बतलाया, उसी को उसने खुद अपनाया है और उससे उसका ग्रन्थ भरा पड़ा है। क्या दूसरों को उपदेश देना ही पंडिताई का लक्षण है, खुद अमल करना नहीं?” (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ.४६-६०)।

५

भट्टारकों के स्वरूप में कालकृत परिवर्तन

भट्टारकों का राजसी ठाठ-बाटमय, श्रावकशोषक, निरंकुश रूप देश की स्वतन्त्रता के पूर्व तक बना रहा, क्योंकि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने स्वसम्पादित मासिक पत्रिका जैनहृत्तैषी के वीर नि० सं० २४३७ (ई० सन् १९१०) तथा २४४१ (ई० सन् १९१४) के अंकों में तथा सन् १९४१ में लिखित भट्टारकचर्चा नाम की पुस्तक में अपने नाम का उल्लेख न करनेवाले लेखक ने अपने समय में विद्यमान भट्टारकों के उपर्युक्त स्वरूप का वर्णन किया है। (देखिये, इसी अध्याय का प्रकरण ४ / शीर्षक ४.५)।

देश के स्वतंत्र होने के बाद राजाओं का युग समाप्त हो गया, तब भट्टारकों के भी राजसी वेश का कोई महत्त्व नहीं रहा। वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप कार-वायुयान आदि वाहनों का आविष्कार हो जाने से घोड़े, पालकी आदि वाहन पुराने और पिछड़े प्रतीत होने लगे, जिससे भट्टारकों ने इनका भी प्रयोग बन्द कर दिया और कार-वायुयान आदि में विहार करने लगे। लोकतंत्र की स्थापना से श्रावकों पर अत्याचार भी मुश्किल हो गया। इस प्रकार काल के प्रभाव से भट्टारकों के स्वरूप में किसी हद तक सुधारात्मक परिवर्तन हुआ है, तथापि एक श्रवणबेलगोल को छोड़कर भट्टारकों द्वारा प्रबन्धित तीर्थों और मन्दिरों की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है।

धर्ममंगल नामक मराठी पाक्षिक पत्रिका की विदुषी सम्पादिका सौ० लीलावती जैन ने सन् १९९७ ई० में सभी वर्तमान भट्टारकपीठों की यात्रा कर कुछ के विषय

में अपनी प्रतिक्रिया 'धर्ममंगल' के १६ मई, १९९७ के अंक में प्रकाशित की थी, जिसका सारांश स्व० अजितप्रसाद जी जैन द्वारा सम्पादित शोधदर्श-३४ (मार्च, १९९८) में वर्णित किया गया है। 'धर्ममंगल' की सम्पादिका ने अनेक भट्टारकपीठों के अधिकार में रहनेवाली धर्मशालाओं, छात्रावासों, ग्रन्थालयों और विद्यापीठों को घोर अव्यवस्था से ग्रस्त देखा है। किसी मठ से प्राचीन जैनप्रतिमाओं, ग्रन्थों और सोने-चाँदी के भारी उपकरणों के नदारद होने की जानकारी प्राप्त की है। किसी मठ के भट्टारक स्वामी के कामकाण्डों की स्थानीय समाचारपत्रों में चर्चायें पढ़ी हैं।

मेरा भी कुछ ऐसा ही अनुभव है। मैंने एक मठ के भट्टारक जी को अपने देशी-विदेशी जजमानों के साथ दर्शन, भोजन, आवास, रात्रि को रसपान, वाहन-व्यवस्था आदि में पक्षपात करते हुए पाया है। आदर्श व्यवस्था केवल श्रवणबेलगोल के मठ में दृष्टिगोचर हुई है। वहाँ के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी, न केवल सुप्रबन्धक हैं, अपितु विद्वान्, विद्वत्प्रेमी एवं सौम्य भी हैं। उन्होंने आधुनिक एवं तकनीकी शिक्षा के विविध संस्थान एवं जैनविद्या-अनुसन्धान केन्द्र खोलकर वहाँ का जो विकास किया है और साधनहीन जैन छात्रों के उत्थान का जो पथ प्रशस्त किया है, वह स्तुत्य है।

६

जिनशासन में मिलावट को रोकना आवश्यक

किन्तु प्रश्न सुप्रबन्ध या विकास का नहीं है, प्रश्न है निर्ग्रन्थ-जिनशासन में एक सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ के तुल्य गुरु की मान्यता दिये जाने और दिलाये जाने का तथा पिच्छी-कमण्डलु ग्रहणकर एवं कराकर आगमज्ञानरहित लोगों में यह विश्वास पैदा किये जाने का कि उक्त मान्यता आगमोक्त है। निर्ग्रन्थ-जिनशासन में यह मिलावट जिनशासन के मूलस्वरूप को नष्ट करने का प्रयास है, मोक्षमार्ग को अमोक्षमार्ग बना देने की चेष्टा है, महावीर के उपदेश के साथ धोखाधड़ी है, न केवल महावीर के उपदेश के साथ धोखाधड़ी, बल्कि मोक्ष के समीचीन मार्ग की तलाश करनेवाले मोक्षार्थियों के साथ भी यह उनकी श्रद्धा को मिथ्या बनाकर उन्हें उन्मार्ग पर ढकेलने की फितरत है। वस्तुतः यह जिनशासन के साथ शत्रुता का बर्ताव है। इस मिलावट का परित्याग ही जिनशासन की सच्ची रक्षा और सेवा हो सकती है। इससे ही भट्टारकपीठों के अनुशासन में रहनेवाले श्रावक, भट्टारकों द्वारा किये जानेवाले शोषण एवं निरंकुशता से छुटकारा पा सकते हैं तथा भट्टारक भी चरित्रभ्रष्ट होने से बच सकते हैं।

किन्तु इतनी फितरत से प्राप्त हुई गुरुरूप, बल्कि जगद्गुरुरूप मान्यता को कोई भी भट्टारक स्वेच्छा से त्यागने को तैयार नहीं होगा, क्योंकि मोक्षार्थी के अतिरिक्त

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अपने राजसी ठाठबाट एवं प्रभुत्व को स्वेच्छा से त्याग देगा? और यदि कोई भट्टारक त्यागना भी चाहे, तो अन्य भट्टारक उसे ऐसा नहीं करने देंगे, क्योंकि फिर उनसे भी ऐसी अपेक्षा की जायेगी। तथा जिन मुनिसंघों और पण्डितों के स्वार्थ भट्टारकपरम्परा से जुड़े हुए हैं, वे भी उसे ऐसा करने से रोकेंगे। यह अच्छी बात है कि भट्टारक, मुनियों को अपना गुरु मानते हैं, किन्तु बुरी बात यह है कि वे श्रावकों से अपने को भी गुरु मनवाते हैं और कुछ मुनिसंघ भी भट्टारकों की पीठ थपथपाते हैं तथा चाहते हैं कि श्रावक उन्हें भी गुरु मानें, उनके अनुशासन में रहें। ऐसे ही मुनियों के द्वारा आज यह आवाज उठायी जा रही है कि उत्तरभारत में पुनः भट्टारपीठों की स्थापना की जाय। इस आवाज के पीछे क्या रहस्य है, इसका बोध एक वर्तमान आचार्य श्री दयासागर जी के वक्तव्य से होता है। शोधार्दर्श-३४ (मार्च, १९९८) के सम्पादक श्री अजित प्रसाद जी जैन ने अपने सम्पादकीय में लिखा है—

“दिगम्बर जैन आचार्य श्री दयासागर ने विगत वर्ष अपना चातुर्मास श्री दिगम्बर सिद्धक्षेत्र कोठी पावागढ़ (गुजरात) में स्थापित किया था। अपने चातुर्मास स्थल से उन्होंने “श्री दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों की रक्षा कैसे हो” शीर्षक से एक परिपत्र प्रसारित किया था, जो सम्बोधित तो श्रवणबेलगोला मठ के भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी को था, पर जिसकी प्रतियाँ अन्यो को भी प्रेषित की गयी थीं। इसकी एक प्रति हमको भी प्राप्त हुई थी। इस परिपत्र में आचार्यश्री ने उत्तरभारत में दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों की वर्तमान में दुर्व्यवस्था और कुप्रबन्ध पर घोर चिन्ता प्रकट करते हुए इसके लिए उनके असंयमी गृहस्थ-प्रबन्धकों को जिम्मेदार ठहराया है, जो “क्षेत्र के रक्षक के रूप में भक्षक बन बैठे हैं, क्षेत्र की सम्पत्ति व आय को हड़प रहे हैं, उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। क्षेत्रों पर ईमानदार पुजारी व मैनेजर देखने को नहीं मिलते, क्षेत्रों की धर्मशालाएँ लॉज का रूप ले रही हैं, जहाँ हर प्रकार के पापकर्म होने लगे हैं, क्षेत्रों पर विवाह-शादी सम्पन्न कराये जाने लगे हैं, हनीमून भी मनाये जाने लगे हैं। तीर्थों की मर्यादा, पवित्रता व शुद्धता समाप्त हो रही है तथा अतिशय घट रहे हैं। जैनागम में, समाज में दिगम्बर साधुओं का तीर्थों पर रहकर आत्मसाधना करने की बात कही जाती है, पर साधु क्षेत्र पर रहे कैसे? असंयमियों ने क्षेत्रों पर असंयम का इतना विस्तार कर रखा है कि संयमी को वहाँ भी आत्मसाधना करना मुश्किल हो गया है। क्षेत्रों पर साधुओं के ठहरने का कोई उचित स्थान नहीं है। यदि कहीं त्यागी-सन्त-निवास का निर्माण किया भी गया है, तो असंयमियों ने उस पर कब्जा जमा लिया है। यदि किसी साधु ने क्षेत्र पर रहना चाहा, उसे उसके कटु अनुभव झेलने पड़े। क्षेत्र पर साधुओं के आहार-पानी की भी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती ---।”

“इन सभी समस्याओं के हल के लिए आचार्यश्री ने सुझाव दिया है कि “सभी जैन तीर्थों पर बालब्रह्मचारी, गृहत्यागी, व्रती, धर्मात्मा, विद्वान्, मुनिभक्त, ईमानदार भट्टारकों की स्थापना होनी चाहिए, ताकि तीर्थों पर साधुसन्त शान्ति से ठहरकर अपनी आत्मसाधना कर सकें, तीर्थों का भी संरक्षण हो सके, पुरातन जिनालयों का जीर्णोद्धार हो सके तथा समाज व धर्म का भी विकास हो सके।” (शोधादर्श-३४/पृ. १५-१६)।

आचार्य दयासागर जी के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक जी लिखते हैं—“आचार्यश्री ने जिस प्रकार के भट्टारक-स्वामियों को तीर्थक्षेत्र पर स्थापित करने का सुझाव दिया है, वे आर्येण कहां से, यह हमारी अल्प बुद्धि में नहीं आता। वैसे भी इतिहास साक्षी है कि मठाधीश हो जाने पर कोई भी साधु नहीं रह जाता।” (वही)।

आचार्य जी के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी तीर्थक्षेत्रों पर भट्टारकपीठों की स्थापना इसलिए चाहते हैं कि वहाँ पर उन जैसे साधुओं के ठहरने और आहार-पानी की समुचित व्यवस्था हो सके, जिससे वे वहाँ महीनों ठहरकर शान्ति से आत्मसाधना कर सकें। आचार्य जी को विश्वास है कि ऐसी व्यवस्था तीर्थों पर भट्टारकपीठों की स्थापना से ही संभव है। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थों पर आवास और आहार-पानी की सुविधा चाहनेवाले मुनि भी किसी भट्टारक को, उसे उपलब्ध गुरु की मान्यता का परित्याग नहीं करने देंगे। इसी प्रकार जिन पण्डितों को भट्टारकों से पुरस्कार, उपाधियाँ और सम्मान प्राप्त होते हैं, वे भी उन्हें ऐसा करने से रोकेंगे। अतः भट्टारकों के द्वारा स्वयं ही गुरु की मान्यता का विसर्जन अर्थात् जिनशासन में की गयी मिलावट का परित्याग संभव नहीं है। इसलिए इस मिलावट को दूर करने का एक ही उपाय है— श्रावकों को प्रबोधित करना। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर, छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित और वितरित कर तथा भाषण और प्रवचन कर श्रावकों को ‘विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः’ (र.का.श्रा.) इत्यादि शास्त्र-वचनों के प्रमाण देकर गुरु के लक्षण समझाने होंगे, तथा बतलाना होगा कि भट्टारक सवस्त्र, आरम्भी, परिग्रही और विषयाशाधीन होते हैं, अतः वे गुरु नहीं हैं। इसलिए उन्हें न तो ‘नमोऽस्तु’ किया जाय, न उनके चरण छुए जायँ। वे क्षुल्लक और एलक भी नहीं हैं, अतः उन्हें ‘इच्छाकार’ (इच्छामि) भी न किया जाय। उन्हें केवल ‘जय जिनेन्द्र’ किया जाना चाहिए। श्रावकों को यह भी समझाना होगा कि भट्टारकों को ‘स्वामी’, ‘गुरु’ या ‘जगद्गुरु’ शब्दों से भी सम्बोधित न किया जाय तथा उनके किसी उपदेश या परामर्श को शास्त्रसम्मत होने पर ही स्वीकार किया जाय, अन्यथा अस्वीकार कर दिया जाय। इस तरह श्रावकों को प्रबोधित करते रहने पर धीरे-धीरे सभी श्रावक सत्य को समझेंगे और भट्टारकों को गुरु मानना छोड़ देंगे। तब उनकी गुरुमान्यता स्वतः

समाप्त हो जायेगी। ईसा की १७वीं शताब्दी में उत्तरभारत में पं० बनारसीदास जी आदि विद्वानों ने इसी विधि से भट्टारकपीठों का उन्मूलन किया था।

वस्तुतः भट्टारकपीठों के कायम रहने में बुराई नहीं है, बुराई है भट्टारकों की गुरुरूप-मान्यता में। इस मान्यता ने ही भट्टारकों को राजाओं के समान ठाठ-बाट से जीवन व्यतीत करनेवाला और श्रावकों का निरंकुश स्वामी बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने श्रावकों का अत्याचारपूर्वक शोषण किया। अतः पुराने भट्टारकपीठ कायम रहें, और जहाँ आवश्यक हों, नये भी स्थापित किये जायँ, किन्तु भट्टारकों की गुरुवत् मान्यता समाप्त की जाय, गुरु के प्रतीकभूत पिच्छी और कमण्डलु का भी उनसे परित्याग कराया जाय, श्रावकों पर उनका धार्मिक अनुशासन भी न रहे। वे केवल तीर्थ के प्रबन्धक और रक्षक के कर्त्तव्य निभायें। इसके लिए उन्हें यथोचित वेतन दिया जाय। इससे भट्टारकों के अस्तित्व पर किसी को भी आपत्ति नहीं होगी।

विस्तृत सन्दर्भ

१

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली
(The Indian Antiquary, vol. XX, pp. 344-347)

Introduction of Paṭṭāvalī A

११०॥ अथ पट्टावली लिख्यते ॥

श्रीत्रैलोक्याधिपं नत्वा स्मृत्वा सद्गुरुभारतीं ।
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूलसङ्घगणाधिपं ॥ १ ॥
श्रीमूलसङ्घप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कारगणोत्तसे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठं उत्पन्नं श्रीगणाधिपं ।
स एवात्र प्रवक्ष्यति श्रूयतां सज्जनाः जनाः ॥ ३ ॥

(1) अथ वंशाधिकार प्रथम पट्टावली विषै युगादि चौदा कुलकर हूवा ॥ १४ नाम छै ॥ तैठी पाछै युग ल्या धर्मनिवारक संसारतारक आदिनाथ जी १ इति २४ वीर अन्तिम हूवा ॥ तैठा वर्ष ६२ ताई केवली रह्ये ॥ गाथा ॥

अन्तिमजिणणिव्वाणे केवलणाणी य गोयममुणीन्दो ।
बारह वासे य गये सुधम्मसामी य संजादो ॥ १ ॥
तह बारह वासे पुण संजादो जम्बुसामि मुणिरायो ।
अठतीस वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥
बासठि केवलवासे तिण्ह मुणि गोयमसुधम्मजम्बू अ ।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥ ३ ॥

(2) और पाछै गोतम स्वामी वर्ष १२ केवली रह्यो । तैठा पाछै जम्बू स्वामी ३८ केवली रह्यो । एवं वर्ष ६२ मै केवली रह्या ॥ तैठी पाछै ५ श्रुतकेवली लिखिते ॥ गाथा ॥

सुयकेवलि पञ्च जणा बासठि वासे गये सु संजादा ।
पढमं चउदह वासं विण्हुकुमारं मुणेयव्वं ॥ ४ ॥
नैदिमित्त वास सोलह तीय अपराजिय वास बावीसं ।
इगहीण-वीस वासं गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ॥ ५ ॥

सद सुयकेवलणाणी पञ्च जणा विण्हु नन्दिमित्तो य।

अपराजिय गोवड्ढण (तह) भद्दबाहु य संजादा ॥ ६ ॥

वर्ष १०० मै ए पाँच श्रुतकेवली हुवा विष्णुनन्दि १४ नन्दिमित्र १६ वर्ष अपराजित वर्ष २२ गोवरधन (sic) वर्ष १९ भद्रबाहुजी वर्ष २९ ॥ ए पाँच आचार्य श्रुतकेवली वर्ष १०० मै हूवा ॥

(३) तैठा पाछैय्या नै ग्यारा अङ्ग चौदा पूर्व को पाठ कण्ठ आवैतो अर पुस्तक न छाजै ॥ द्वादशाङ्ग का पद एक सो बारा कोडि तियासी लाख अठावन हजार पाँच पद छै ११२८३५८००० ॥ ५ ॥

एक पद का श्लोक बतीस अक्षर्या एता होय। इक्यावन कोडि आठ लाख चोरासी हजार छ सै साट अकवीस ५१०८८४६२१ श्लोक हुवा।

सो बारा अङ्ग ने लिखताँ स्याही पैतीस हजार नो सै अठ्याणवे कोडिमण अर तेतीस लाखमण एक सो साटा अठाईसमण टङ्क सवा लागै ३५९९८३३००१२८ टङ्क ॥

सहस्र श्लोक लिखताँ पइसा १ भरी स्याही लागै। तै कौ लिखै तोल चालीस की एती लागै ॥

(४) तैठा पाछै महावीर स्युँ वरष १६२ पाछै दसपूर्वधारी हुवा ११ मुनि [॥ गाथा ॥]

सद-बासट्टि सु वासे गये सु उप्पण्ण दह सु पुव्वधरा।

सद तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥

आयरिय विसाख पोट्टल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी।

सिद्धत्थ धित्ति-विजयं बुहिलिङ्ग-देव-धमसेणं ॥ ८ ॥

दह उगणीस य सत्तर इकवीस अठारह सत्तर।

अठारह तेरह वीस चउदह चोदय कमे णेयं ॥ ९ ॥

श्री वीरात् वर्ष १६२ विशाखाचार्य वर्ष १०। श्रीवीरात् वर्ष १७२ प्रोष्ठिलाचार्य वर्ष १९। श्रीवीरात् वर्ष १९१ क्षत्रियाचार्य वर्ष १७। श्रीवीरात् वर्ष २०८ जयसेनाचार्य वर्ष २१। श्रीवीरात् वर्ष २२९ नागसेनाचार्य वर्ष १८। श्रीवीरात् वर्ष २४७ सिद्धार्थाचार्य वर्ष १७। श्रीवीरात् वर्ष २६४ धृतिसेनाचार्य वर्ष १८। श्रीवीरात् वर्ष २८२ विजयाचार्य वर्ष १३। श्रीवीरात् वर्ष २९५ बुद्धिलिङ्गाचार्य वर्ष २०। श्रीवीरात् वर्ष ३१५ देवाचार्य वर्ष १४। श्रीवीरात् वर्ष ३२९ धर्मसेनाचार्य ॥ वर्ष १८३ पर्यन्त दशपूर्व का धारी हुवा। १८३ वर्ष एक सो तियासी मै।

(5) सो दश पूर्व के लिखवै स्याही तोल चालीस के, ग्यारा हजार एक सौ पैसठि कोडिमण अर दोय लाखमण अठावन हजारमण तीनि सै तिराणवैमण सेर पटरा लागै ॥

सो यो एतो पाठ्याँ ११ आचार्या नै कण्ठ आवैतो अर पुस्तक न छाँ ॥

(6) इह स्थिति पाछै एकादशाङ्गधारी उपना वर्ष २२० ॥ तिह मै वर्ष १२३ तौई तौ एकादशाङ्ग पाट ५ हुवा ॥ गाथा ॥

अन्तिमजिण्णिव्वाणे तियसय-पणचाल वास जादे सु।
 एगादहङ्गधारिय पञ्च जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥
 नक्खत्तो जयपालग-पण्डव-धुवसेण-कंस-आयरिया।
 अठारह वीस वासं गुणचालं चोद बत्तीसं ॥ ११ ॥
 सद तेवीस य वासे एगादह अङ्गधर जादा ॥

श्री वीरात् वर्ष ३४५ नक्षत्राचार्य वर्ष १८। श्रीवीरात् वर्ष ३६३ जयपालाचार्य वर्ष २०। श्रीवीरात् वर्ष ३८३ पाण्डवाचार्य वर्ष ३९। श्रीवीरात् वर्ष ४२२ धुवसेनाचार्य वर्ष १४। श्रीवीरात् वर्ष ४३६ कंसाचार्य वर्ष ३२ ॥

(7) वर्ष १२३ पाछै वर्ष ९७ मै दशाङ्गधारी उतरा। १२३ ता उतरता हुवा पाट ४ ॥ गाथा ॥

वासं सत्ताणवदि (य) दसङ्ग नव अट्ट अङ्गधरा ॥ १२ ॥
 सुभदं च जसोभदं भद्रबाहु कमेण य।
 लोहाचज्ज मुणीसं च कहियं च जिणागमे ॥ १३ ॥
 छह अट्टारह वासे तेवीस बावण वास मुणिणाहं।
 दस-नव अट्टङ्गधरा वास दुसद वीस सव्वेसु ॥ १४ ॥

वर्ष ९७ मै पाट ४ हुवा ॥ श्रीवीरात् वर्ष ४६८ सुभद्राचार्य वर्ष ६। श्रीवीरात् वर्ष ४७४ यशोभद्राचार्य वर्ष १८ श्रीवीरात् वर्ष ४९२ भद्रबाहु जी वर्ष २३ ॥ श्रीवीरात् वर्ष ५१५ लोहाचार्य जी वर्ष ५० ॥ एव वर्ष ९७ ॥ अङ्ग घटता घटता रह्या वर्ष २२० तौई ॥

(8) ग्यारा अङ्ग कै लिखवै स्याही तो गैतै को व्योरो एक हजार दोय सै एक्यासी कोडिमण अर छ लाख गुणचास हजार छै सै चोसठिमण पावडो टङ्क। सवा लागै तोल चालीस कै १२८१०६४९६६४ टङ्क पाव १ ॥ एतो पाठ्याँ आचार्या नै कण्ठ आवतो अर पुस्तक न छा ॥

(9) तैठौं पाछे वर्ष ११८ तौई एकाङ्गधारी रह्या ॥ [गाथा ॥]

पञ्च सए पण्णसठे अन्तिमजिणसमय जादे सु।
उपण्णा पञ्च जणा इयङ्गधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
अहिवल्लि माघणन्दि य धरसेणं पुप्फयन्त भूदवली।
अडवीसे इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणे ॥ १६ ॥

(10) एकाङ्गधारी ५ पाँच पाट हुवा ॥ श्रीवीरात् ५६५ अहिक्विलाचार्य वर्ष २८ ॥ श्रीवीरात् ५९३ माघनन्दाचार्य वर्ष २१। श्रीवीरात् वर्ष ६१४ धरसेनाचार्य वर्ष १९ श्रीवीरात् वर्ष ६३३ पुष्पदन्ताचार्य वर्ष ३० श्रीवीरात् वर्ष ६६३ भूतवल्ल्यचार्य वर्ष २० ॥ ११८ वर्ष ॥ वर्ष ११८ तौई एकाङ्गधारी घटता घटता श्रुतिग्यानी हुवा ॥ महावीर स्युँ ६८३ वर्ष तौई अङ्ग की स्थिति रही ॥ पाछे श्रुतिज्ञानी हुवा ॥ गाथा ॥

इगसय अठार वासे इयङ्गधारी य मुणिवरा जादा।
छ सय तिरासि य वासे णिव्वाणा अङ्गछिति कहिय जिणं ॥ १७ ॥

एक अङ्ग का पाठी हुवा वरस एक सो अठारा मै ॥ एक अङ्ग का पद अठारा हजार ल्या नै लिखताँ स्याही तोल चालीस कै मण। ५७००४७४५२ सतावन कोडि सैतालीस हजार च्यारि सै बावनमण टङ्क लालै ॥

एते पाठया आचार्या नै कण्ठि आवतो अर पुस्तक न छा ॥

(11) तैठा पाछे अवै श्रीमूलसङ्घ का पाट वर्णन कीजे छै। श्रीमहावीर स्युँ वर्ष ६८३ पाछे ॥ विक्रमादित्य को जन्म हुवौ। सुभद्राचार्य स्युँ वर्ष २ विक्रम जन्म अर राज्य विक्रम की स्युँ वर्ष ४ भद्रबाहु जी पाटि बैठा ॥ भद्रबाहु शिष्य गुप्तिगुप्त। तस्य नामत्रयं। गुप्तिगुप्त १ अर्हद्धलि २ विशाखाचार्य ३ ॥ तस्य चत्वारि शिष्य। नन्दिवृक्षमूलेन वर्षायोगो धृतः सह माघनिन्द तेन नन्दिसङ्घ स्थापितः। १ ॥ जिनसेननामतृणतले वर्षायोगो धृतः सह (सः) वृषभ तेन वृषभसङ्घ स्थापितः। २ ॥ येन सिंहगुहायां वर्षायोग स्थापितः सह (सः) सिंहसङ्घ स्थापितवान्। ३ ॥ यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षायोगो स्थापितवान् सह (सः) देवसङ्घश्चकार। ४ ॥

(12) तद्यथा ॥ नन्दिसङ्घे पारिजातगच्छे बलात्कारगणे चत्वारि मुनिनामानि। नन्दि। १। चन्द्र। २। कीर्ति। ३। भूषण। ४। पुनरपि नन्दिसङ्घे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे। तथा च श्रीमूलसङ्घे नन्द्यामान्ये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे चत्वारि मुनिनामानि। नन्दि। १। चन्द्र। २। कीर्ति। ३। भूषण। ४। इत्यादि ॥

(13) तत्र प्रथमं वीरात् वर्ष ४९२ सुभद्राचार्यात् वर्ष २४ विक्रमजन्मान्तं वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४ भद्रबाहु जातः॥ गाथा ॥

सत्तरि चदुसदजुत्तो तिण काला विक्कमो हवइ जम्मो ।

अठ वरस वाललीला सोडस वासेहि भम्मिए देस ॥ १८ ॥

पणरसवासे जज्जं कुणंति मिच्छोवदेससंजुत्तो ।

चालीसवरस जिणवरधम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥ १९ ॥

सो याँ आचार्या बुद्धि घटती जाणी । क्यौँ ! जत्काल का दोष सेती ॥ तदि भूतवल्लि मुनि पुष्पदन्त मुनि श्रुतज्ञान सर्व पुस्तका में थाप्यो ॥ मिति जेष्ठ सुदि पञ्चमी के दिन ॥



प्र० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की तालिकाबद्ध पट्टावली का शेष अंश

क्र. 27 से क्र. 108 तक

(The Indian Antiquary, vol. XX, pp. 352-355)

TABLES OF THE KUNDAKUNDA LINE, OR THE SARASVATĪ GACHCHHA, CALLED THE NANDI
ĀMNĀYA, OR BALĀTKĀRA GAṆA, OF THE MŪLA SAṄGHĀ. (FROM MSS. A AND B.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days			Total			REMARKS
		Samvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	
27.	Mahākīrti	686 Mr. S. 4	629	6	-	-	12	-	-	17	11	5	15	35	11	20		He was made pontiff in Bhaddalpur, but transferred his seat to Ujaini.	
28.	Vishnunandin	704 Mr. V. 9	647	7	-	-	14	-	-	21	4	-	15	42	4	15		(MS. B calls him Viranandin.)	
29.	Śrībhūshana I	726 Ch. S. 9	669	14	-	-	8	-	-	9	-	-	26	31	-	26			
30.	Śrīchandra	735 V. S. 5	678	6	-	-	12	-	-	14	3	4	31	32	4	5		(P. 12, Śīlachandra.)	
31.	Nandikīrti	749 Bh. S. 10	692	15	-	-	20	-	-	15	6	4	13	50	6	17		(P. 12, Śrīnandin.)	

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS		
		Saṃvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days			
32.	Dēśabhūṣaṇa	765 Ch. V. 12	708	18	-	-	24	-	-	6	6	7	42	6	13	(MS. B gives Sam. 764.)
33.	Anantakīrti	765 Ā. S. 10	708	11	-	-	13	-	19	9	25	5	43	10	-	
34.	Dharmānandin	785 Ś. S. 15	728	13	-	-	18	-	22	9	25	5	53	10	-	(P. 12, Dharmānandin.)
35.	Vīrachandra	808 J. S. 15	751	13	-	-	25	-	32	-	4	8	70	-	12	(P. 13, Vidyānandin.)
36.	Rāmachandra	840 As. V. 12	783	8	-	-	11	-	16	10	-	6	35	10	6	(MS. B calls him also Vīrachandra.)
37.	Rāmākīrti	857 V. S. 3	800	14	-	-	16	-	21	4	26	11	51	5	7	
38.	Abhayachandra	878 Ā. S. 10	821	18	-	-	10	-	17	-	27	4	45	1	1	(P. 13, Abhayēndu.)
39.	Naranandin	(897) K. S. 7	840	15	-	-	21	-	18	9	-	9	54	9	9	(MS. B and P. 13 call him Narachandra; MS. B has K.S. 11; it also gives Sam. 895.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Sainvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
40.	Nāgachandra	916 Bh. V. 5	859	21	-	13	-	23	-	3	10	57	-	18	(MS. B gives Bh. S. 3. P. 14 has Nayanandin.) (MS. B gives Sam 972 and consequently deducts 2 from each date down to No. 52, where it also gives 1140.) (P. 14 has Māghavēndu.) (MS. B adds marginally Gunakīri, which is also given by P. 14.) (P. 15 inserts Vāsavēndu between Nos. 47 & 48.)
41.	Nayanandin	939 Bh. S. 9	882	8	-	10	-	8	9	11	9	26	9	20	
42.	Harichandra	948 As. V. 8	891	8	4	14	8	26	1	8	8	49	1	16	
43.	Mahichandra I	974 Ś. S. 9	917	14	-	10	11	16	6	-	5	41	5	5	
44.	Māghachandra I	990 M. S. 14	933	13	-	20	-	32	2	24	9	65	3	3	
45.	Lakshmichandra	1023 J. V. 2	966	11	-	25	-	14	4	3	11	50	4	14	
46.	Gunanandin II	1037 Ā. S. 1	980	18	-	20	-	10	10	29	14	48	11	13	
47.	Gunachandra	1048 Bh. S. 14	991	10	-	22	-	17	8	7	10	49	8	17	
48.	Lokachandra II	1066 J. S. 1	1009	15	-	30	-	13	3	3	4	58	3	7	

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Sainvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
49.	Śrutakīrti	1079 Bh. S. 8	1022	13	-	32	-	15	6	6	6	60	6	12	
50.	Bhāvachandra	1094 Ch. V. 5	1037	12	-	25	-	20	11	25	5	58	-	-	
51.	Mahāchandra II	1115 Ch. V. 5	1058	10	-	26	-	25	5	10	5	61	5	15	Down to here the seat of Pontificate was in Ujain. (P. 16 has Mahāchandra.)
52.	Māghachandra II	1140 Bh. S. 5	1083	14	-	13	-	4	3	17	7	31	3	24	He pontificated in Wārā. (See remark under No. 44.)
53.	Vṛishabhānandin	1144 P. V. 14	1087	7	-	37	-	3	4	1	4	47	4	5	In wārā. (P. 16 has Brahmanandin.)
54.	Śivanandin	1148 V. S. 4	1091	9	-	39	-	7	6	17	14	55	7	1	In Wārā.
55.	Vasuchandra	1155 Mr. S. 5	1098	11	-	40	-	-	7	28	3	51	8	1	In Wārā. (P. 16 has viśvachandra.)
56.	Saṅghanandin	1156 Ś. S. 6	1099	7	-	32	-	4	-	24	5	43	-	29	In wārā. (MS B calls him Sishanandin, P. 17, Harinandin.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days	Total			REMARKS
		Samvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days	
57.	Bhāvanandin	1160 Bh. S. 5	1103	11	-	-	30	-	-	7	2	-	3	48	2	3	In Wārā.
58.	Dēvanandin II	1167 K. S. 8	1110	11	-	-	30	-	-	3	3	2	10	44	3	12	In Wārā. (P. 17, Surakīrti.)
59.	Vidyāchandra	1170 Ph. V. 5	1113	14	-	-	38	-	-	5	5	5	14	57	5	19	In Wārā.
60.	Śūrachandra	1176 Ś. S. 9	1119	10	-	-	35	-	-	8	1	29	2	53	2	1	In Wārā.
61.	Māghanandin II	1184 Ā. S. 10	1127	14	3	-	32	2	-	4	1	16	5	50	6	21	In Wārā.
62.	Jñānakīrti	1188 Mr. S. 1	1131	10	-	-	34	-	-	11	-	3	7	55	-	10	In Wārā. (P. 18, Jñānanandin.)
63.	Gaṅgākīrti	1199 Mr. S. 11	1142	13	-	-	33	-	-	7	2	8	10	53	2	18	Down to here the pontificates took place in Wārā. (MS. B adds "from here 14 pontificates took place in Gwālēr, down to Abhayakīrti, No. 77").

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk			Pontiff			Intercalary days	Total			REMARKS	
		Samvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months		Days				
64.	Sinhakīrti	1206 Ph. V. 14	1149	8	-	-	37	-	-	2	2	15	16	47	3	1	In Gwālār (Gwāliyar).
65.	Hēmakīrti	1209 J. V. 3	1152	13	-	-	24	-	-	7	3	[27	6	44	4	3	(From the middle of No. 65 MS. A breaks off down to the middle of No. 79. The lacuna is supplied from MS. B.)
66.	Sundarakīrti	1216 Ā. S. 3	1159	6	9	-	19	3	-	6	6	20	10	32	7	-	(P. 18, has Chārunandin.)
67.	Nēmişandra II	1223 V. S. 3	1166	7	-	-	21	-	-	7	8	29	9	35	9	8	(P. 19 has Nēminandin.)
68.	Nābhikīrti	1230 M. S. 11	1173	5	-	-	35	-	-	1	11	26	4	42	-	-	
69.	Narēndrakīrti I	1232 M. S. 11	1175	14	-	-	13	-	-	9	-	18	12	36	1	-	(P. 19, Narēndrādīyāsah.)
70.	Śrīchandra II	1241 Ph. S. 11	1184	7	-	-	25	-	-	6	3	24	7	38	4	1	
71.	Padmakīrti	1248 A. S. 12	1191	10	-	-	22	-	-	4	11	25	6	37	-	1	

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Samvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
72.	Varaddhachandra	1253 A. S. 13	1196	18	-	5	-	2	11	28	3	26	-	1	(Perhaps wrong for Vardhamana, as given by P. 19).
73.	Akalankachandra	1256 A. S. 14	1199	14	-	33	-	1	3	24	7	48	4	1	
74.	Lalitakīrti	1257 K. S. 15	1200	13	-	24	-	4	-	-	5	41	-	5	
75.	Kēśavachandra	1261 Mr. V. 5	1204	11	-	34	-	-	6	15	6	45	6	21	
76.	Chārakīrti	1262 J. S. 11	1205	13	-	32	-	2	3	2	7	47	3	9	
77.	Abhayakīrti	1264 Ā. V. 3	1207	11	2	30	5	-	4	11	7	41	11	18	In Gwālēr (Gwāliyar)
78.	Vasantakīrti.	1264 M. S. 5	1207	12	-	20	-	1	4	22	8	33	5	-	In Ajmēr.
79.	Prakshākīrti	1266 As. S. 5	1209	11	-	15	-	2	3	19	4	28	3	23	In Ajmēr. (Perhaps wrong for Prakhyākīrti, as in P. 22.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Samvat	A. D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
80.	Śāntikīrti II	1268 K. V. 8	1211	18	-	23	-	2	9	7	8	43	9	15	In Ajmēr. (P. 23, Visākīrti.)
81.	Dharmachandra I	1271 Ś. S. 15	1214	16	-	24	-	25	-	5	8	65	-	13	In Ajmēr.
82.	Ratnakīrti II	1296 Bh. V. 13	1239	19	-	25	-	14	4	10	6	58	4	16	In Ajmēr.
83.	Prabhāchandra II	1310 P. S. 14	1253	12	-	12	-	74	11	15	8	98	11	23	In Ajmēr. There was an Āchārya of Prabhāchandra in Gujarāt. A certain Śrāvak called Prabhāchandra for the purpose of performing a consecration, but he could not come. Then after giving the Sūrimantra to the Āchārya, the Śrāvak conferred on him the title of Bhaṭṭāraka. Thus Padmanandin became a Bhaṭṭāraka. (MS. B adds the date Sam. 1375=A. D. 1318.) He carved a stone figure of Sarasvatī and caused it to speak (see p. 41.)

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder			Monk			Pontiff			Intercalary days			Total			REMARKS
		Samvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days	Years	Months	Days				
84.	Padmanandin	1385 P. S. 7	1328	10	7	-	23	5	-	65	-	18	10	10	99	-	28	In Dillī (Delhi.)	
85.	śubhachandra	1450 M. S. 5	1393	16	-	-	24	-	-	56	3	4	11	96	3	15	In Dillī.		
86.	Prabhāchandra III	1507 J. V. 5	1440	12	-	-	15	-	-	64	8	17	10	91	8	27	In Dillī. (MS. B and P. 30 call him Jina chandra, and the next, Prabhāchandra.)		
87.	Jinachandra II	1571 Ph. V. 2	1514	15	-	-	35	-	-	9	4	25	8	59	5	3	In Chitōr. In Sam. 1572 the Gachchha split up into two, one section residing in Chitōr, the other in Nāgōr. ⁶⁴		

* 64. This date is obscure, the separation may have taken place in that year (1572), but Separate heads were not appointed till 1581, when Jinachandra died.

A. - The Nāgōr Line. From MS. A.

Serial Number	Names	Dates of Accession		Householder		Monk		Pontiff		Intercalary days	Total			REMARKS	
		Saṃvat	A.D.	Years	Months	Days	Years	Months	Days		Years	Months	Days		
88.	Ratnakīrti III	1581 Ś. V. 5	1524	9	-	31	-	21	8	13	5	61	8	18	(All these particulars, exc. date of accession, really belong to No. 88 of the Chitōē line, q. v. Ratnakīrti reigned only about 5 years.)
89.	Bhuvanakīrti I	1586 M. V. 3	1529	11	-	26	-	4	9	26	2-4	42	0	0	He was by caste a Chhāvādā (Intercalary 2 months 4 days.)
90.	Dharmakīrti	1590 Ch. V. 7	1533	13	-	31	-	10	(10)	(20)	1-10	55	(1)	(4)	By caste a Sēthi. (Intercalary, 1 month 10 days.)
91.	Viśākīrti	1601 V. S. 1	1544	9	-	58	-	-	-	-	-	-	-	-	(From the middle of No. 91 the MS. again breaks off down to the beginning of No. 105.)
105.	Bhuvanabhūshana	1797 A. S. 10	1740	11	-	[25	1	4	6	12	4-16	41	0	0	By caste a chhāvādā, in Kāladahar. (Intercalary 4 months 16 days; the period of monkhood is missing in the MS.)
106.	Vijayakīrti	1802 A. S. 1	1745	9	-	28	-	27	7	0	?	?	?	?	By cast a Pāṇṇi, in Ajmēr. (The intercalary and total periods are missing.)
107.	Lokēndrakīrti	1830 K. ?	1773	7	-	28	-	10	0	0	mts.	?	?	?	Of a high caste (Vaḍjāyā). His seat of pontificate was in Ajmēr. His death (śānti) took place in Malakāpur in Vaiśākha Sudi 5.
108.	Bhuvanakīrti II	1840 Ch. V. 1	1783	12	-	27	-	-	-	-	-	-	-	-	He is the present pontiff.

B. - The Chitōr Line. From MS. B.

Serial Number	Names	Dates of Accession		REMARKS	Serial Number	Names	Dates of Accession		REMARKS
		Sain.	A.D.				Sain.	A.D.	
88.	Dharmachandra II	1581 S.V.5	1524	He reigned 21 years, see remark to No. 88 of the Nāgōr Line. P. 35 omits him.	96	Mahēndrakīrti I	1792 P.S.10 1815 A.S.11 1822	1735 1758 1765	He was a house holder for 4 years, (i.e., he was 4 year old when he took the vows.)
89	Lalitakīrti II	1603 Ch.S.8	1546	(P. 35 omits him.)	99	Sukhēndrakīrti	V.V.? 1852	1795	
90	Chandrakīrti	1622 V.V.?	1565				??		
91	Dēvēndrakīrti	1662 Ph.V.?	1605						
92	Narēndrakīrti	1691 K.V.8	1634	(P. pattavali closes here.)	100	Nainakīrti	1879 A.V.10	1822	
93	Surēndrakīrti	1722 S.V.8	1665		101	Dēvēndrakīrti III	1883 A.S.10	1826	
94	Jagatkīrti	1733 S.V.5	1676		102	Mahēndrakīrti II	1938 Ph.S.2	1881	
95	Dēvēndrakīrti II.	1770 M.V.11	1713						

३

प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली (वि० सं० १५३५-१६२०)

श्रीमानशेषनरनायक-वन्दिताङ्घ्रीः श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयः।
यो भद्रबाहुमुनिपुंगव-पट्टपद्मः सूर्यः स वो दिशतु निर्म्मलसंघवृद्धिम् ॥ १ ॥

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥ २ ॥

पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्रस्समभूदतन्त्रः।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधाम श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥ ३ ॥

आचार्य्यः कुन्दकुन्दाख्यो वकग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्य्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थसूत्र-कर्तृत्व-प्रकटीकृत-सन्मनाः।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ ५ ॥

लोहाचार्यस्ततो जातो जातरूपधरोऽमरैः।
सेवनीयः समस्ताऽर्थविबोधनविशारदः ॥ ६ ॥

ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः ॥ ७ ॥

यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादः पराख्येयो गुणनन्दी गुणाकरः ॥ ८ ॥

वज्रनन्दी वज्रवृत्तिस्तार्किकाणां महेश्वरः।
कुमारनन्दी लोकेन्दुः प्रभाचन्द्रो वचोनिधिः ॥ ९ ॥

नेमिचन्द्रो भानुनन्दी सिंहनन्दी जटाधरः।
वसुनन्दी वीरनन्दी रत्ननन्दी रतीशमित् ॥ १० ॥

माणिक्यनन्दी मेघेन्दुः शान्तिकीर्तिर्महायशः।
मेरुकीर्तिर्महाकीर्तिर्विश्वनन्दी विदाम्बरः ॥ ११ ॥

श्रीभूषणः शीलचन्द्रः श्रीनन्दी देशभूषणः।
अनन्तकीर्तिर्धर्मादिनन्दी नन्दीति शासनः ॥ १२ ॥

विद्यानन्दी रामचन्द्रो रामकीर्ति रनिन्दद्यावाक्।
अभयेन्दुर्नरचन्द्रो नागचन्द्रः स्थिरव्रतः ॥ १३ ॥

नयनन्दी हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोज्जितः।
 माघवेन्दु लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रयः ॥ १४ ॥
 गुणचन्द्रो वासवेन्दुर्लोकचन्द्रः स्वतत्त्ववित्।
 त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणः भास्करः ॥ १५ ॥
 भानुचन्द्रो महाचन्द्रो माघचन्द्रः क्रियागुणीः।
 ब्रह्मनन्दी शिवनन्दी विश्वचन्द्रस्तपोधनः ॥ १६ ॥
 सैद्धान्तिको हरिनन्दी भावनन्दी मुनीश्वरः।
 सुरकीर्तिर्विद्याचन्द्रः सुरचन्द्रः श्रियां निधिः ॥ १७ ॥
 माघनन्दी ज्ञाननन्दी गङ्गनन्दी महत्तमः।
 सिंहकीर्तिर्हेमकीर्तिश्चारुनन्दी मनोज्ञधीः ॥ १८ ॥
 नेमिनन्दी नाभिकीर्तिर्नरेन्द्रादियशः परम्।
 श्रीचन्द्रः पद्मकीर्तिश्च वर्द्धमानो मुनीश्वरः ॥ १९ ॥
 अकलङ्कश्चन्द्रगुरुर्ललितकीर्तिरुत्तमः।
 त्रैविद्यः केशवश्चन्द्रश्चारुकीर्तिः सुधार्मिकः ॥ २० ॥
 सैद्धान्तिकोऽभयकीर्तिर्वनवासी महातपाः।
 वसन्तकीर्तिर्व्याघ्राहिसेवितः शीलसागरः ॥ २१ ॥
 तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवन-प्रख्यात-कीर्तिरभूत्
 शिष्योऽनेक-गुणालयः सम-यम-ध्यानापगा-सागरः।
 वादीन्द्रः परवादि-वारण-गण-प्रागल्भ-विद्रावणः
 सिंहः श्रीमतिमण्डयेति विदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदम् ॥ २२ ॥
 विशालकीर्तिर्वरवृत्तमूर्तिस्तपोमहात्मा शुभकीर्तिर्देवः।
 एकान्तराद्युग्र-तपोविधानाद्धातेव सन्मार्गविधेर्विधाने ॥ २३ ॥
 श्रीधर्मचन्द्रोऽजनि तस्य पट्टे हमीरभूपालसमर्चनीयः।
 सैद्धान्तिकः संयमसिन्धुचन्द्रः प्रख्यातमाहात्म्यकृतावतारः ॥ २४ ॥
 ततपट्टेऽजनि रत्नकीर्तिरनघः स्याद्वादविद्याम्बुधिः
 नानादेशविवृतशिष्यनिवहः प्राच्यांघ्नियुग्मो गुरुः।
 धर्माधर्म-कथा-सुरक्त-धिषणः पापप्रभा-बाधको
 बालब्रह्म-तपःप्रभाव-महितः-कारुण्य-पूर्णाशयः ॥ २५ ॥

अस्ति स्वस्तिसमस्तसङ्घतिलकः श्रीनन्दिसंघोऽतुलो
 गच्छस्तत्र विशलकीर्तिकलितः सारस्वतीयः परः।
 तत्र-श्रीशुभकीर्तिमहिमा व्याप्ताम्बरः सन्मतिः
 जीयादिन्दुसमान-कीर्तिरमलः श्रीरत्न-कीर्तिगुरुः ॥ २६ ॥

पट्टे श्रीरत्नकीर्तिरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्रः
 व्याख्याविख्यातकीर्तिगुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः।
 श्रीमानानन्द-धाम-प्रतिबुध-नुतमामानसंदायिवादी
 जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ २७ ॥

श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत्प्रतिष्ठाप्रतिभागरिष्टः।
 विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्नरत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी ॥ २८ ॥

हंसो ज्ञान-मरालिका-समसमाश्लेष-प्रभूताद्भुता
 नन्दं क्रीडति मानसेति विशदे यस्यानिशं सर्वतः।
 स्याद्वादामृतसिन्धुवर्द्धनविधौ श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभाः
 पट्टे सूरिमतमल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥ २९ ॥

महाव्रतपुरन्दरः प्रशमदग्धरागाङ्गुरः
 स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेषशास्त्रार्थवित्।
 यशोभर-मनोहरीकृत-समस्त-विश्वम्भरः
 परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ॥ ३० ॥

पद्मनन्दिमुनीन्द्रेण वंशवाणी-वसुन्धरा।
 सन्न्यासपदवीन्यास-पादन्यासैः पवित्रिता ॥ ३१ ॥

श्रीपद्मनन्दि-पदपङ्कज-भानुरुद्धो
 जय्यो जिताद्भुतमदो विदितार्थबोधः
 ध्वस्तान्धकारनिकटो जयतान्महात्मा
 भट्टारकः सकलकीर्तिरतिप्रसिद्धः ॥ ३२ ॥

सुयति-भुवनकीर्तिस्तत्पदाब्जार्क-मूर्तिः
 परमतपसि निष्ठः प्राप्तसर्वप्रतिष्ठः।
 मुनिगणनुतपादो निर्जितानेकवादः
 स्ववतु सकलसङ्घान् नाशिताऽनेकविघ्नान् ॥ ३३ ॥

प्रोघज्ञानकरस्तपोभरधरः सद्बोधतार्थो धुरो
 नानान्यायवरो यतीश्वरवरो वादीन्द्रभूभट्टरः।

तत्पट्टोन्नतिकृन्निरस्तनिःकृतिः श्रीज्ञानभूषो यतिः
पायाद्वो निहताहितः परमसज्जैनावनीशैः स्तुतः ॥ ३४ ॥

विजयकीर्त्तियतिर्जितमत्सरो विदितगौम्मटसारपरागमः ।
जयति तत्पदभासितशासनो निखिलतार्किकतर्कविचारकः ॥ ३५ ॥

यः पूज्यो नृपमल्लि-सैरव-महादेवेन्द्र-मुख्यैर्नृपैः
षट्कर्तागम-शास्त्र-कोविद-मतिश्रीमद्यशश्चन्द्रमाः ।
भव्याम्भोरुहभास्करः शुभकरः संसारविच्छेदकः
सोऽव्याच्छ्रीविजयादिकीर्त्तिमुनिपो भट्टारकाधीश्वरः ॥ ३६ ॥

तत्पट्ट-कैरव-विकाशन-पूर्णचन्द्रः
स्याद्वाद-भाषित-विबोधित-भूमिपेन्द्रः ।
अव्याद्गुणान् सुशुभचन्द्र इति प्रसिद्धो
रम्यान् बहून् गुणवतो हि सुतत्त्वबोधः ॥ ३७ ॥

जायीत् षट्कर्कचंचुप्रवणगुणनिधिस्तत्पदाम्भोजभृङ्गः
शुम्भद्वादीन-कुम्भोद्भट-विकट-सटाकुण्ठ-कण्ठीरवेन्दुः ।
श्रीमत्सु सौभचन्द्रः स्फुटपट्टविकटाटोप-वैकुण्ठसूनुः
हन्ता चिद्रूपवेत्ता विदितसकलसच्छास्त्रसारः कृपालुः ॥ ३८ ॥

तत्पट्ट-चारुशतपत्र-विकाशनेन
पुण्यप्रवालधनवर्द्धनमेघतुल्यः ।
व्याख्यामितावलिस्तोषित-भव्यलोको
भट्टारकः सुमतिकीर्त्तिरतिप्रबुद्धः ॥ ३९ ॥

ज्ञात्वा संसारभावं विहितवरतपो मोक्षलक्ष्मीसुकांक्षी
स्याद्वादी शान्तिमूर्तिर्मदनमदहरो विश्वतत्त्वैकवेत्ता ।
सुज्ञानं दानमेतद्वित्तरति गुणनिधिर्मोहमातङ्गसिंहो
जीयाद्भट्टारकोऽसौ सकलयतिपतिः श्रीसुमत्यादिकीर्त्तिः ॥ ४० ॥

तत्पट्टतामरसरञ्जनभानुमूर्तिः
स्याद्वादवादकरणेन विशालकीर्त्तिः ।
भाषासुधारससुपुष्टितभव्यवर्णो
भट्टारकः सुगुणकीर्त्तिगुरुर्गणार्च्यः ॥ ४१ ॥

प्राज्ञो वादीभसिंहः सकलगुणनिधिर्ध्वस्तदोषः कृपालुः ।
शान्तो मोक्षाभिकाङ्क्षी विशदतरमतिः कस्रकान्तिः कलावान् ॥

क्षिप्ताशन्तर्कवेत्ता शुभतरवचनः सर्वलोकस्थितिज्ञः।
श्रीमानीषः कृतज्ञो जयति जगति सः श्रीगुणाद्यन्तकीर्तिः ॥ ४२ ॥

तत्पट्ट-पङ्कज-विकाशनपद्मबन्धु-
जीयात्कुवादि-मुखकैरवपद्मबन्धुः।
कान्त्या क्षमा तिमिरनाशनपद्मबन्धुः
श्रीवादिभूषण-गुरुर्जित-पद्मबन्धुः ॥ ४३ ॥

यो नानागमशब्दतर्कनिपुणो जैनैर्नृपैः पूजितः
कण्ठि कलिकालगौतमसमो भट्टारकाधीश्वरः।
हेयाहेयविचारबुद्धिकलितो रत्नत्रयालंकृतः
सः श्रीमान् शुभचन्द्रवद्धि श्रयते श्रीवादिभूष्यो गुरुः ॥ ४४ ॥

तत्पट्टपुष्पंकर-भासन-मित्र-मूर्तिः
कुज्ञान-पङ्क-परिशोषण-मित्र-मूर्तिः।
निःशेष-भव्य-हृदयाम्बुजमित्रमूर्तिः
भट्टारको जगति भाति सुरामकीर्तिः ॥ ४५ ॥

स्याद्वादन्यायवेदी हतकुमतिमदस्त्यक्तदोषो गुणाब्धिः
श्रीमच्चिद्रूपवेत्ता विमलतरसुवाक् दिव्यमूर्तिः सुकीर्तिः।
साक्षाच्छ्रीशारदायाः गच्छपतिगरिमा भूपवन्द्यो गुणज्ञः
पायाद्भट्टारकोऽसौ सकलसुखकरो रामकीर्तिर्गणेशः ॥ ४६ ॥

शास्त्राभ्यासनिबन्धनादिषु पट्टः रामादिकीर्तिस्तत-
स्ततपट्टे यशकीर्तिनाम सततं विभ्राजते धर्मभाक्।
ध्यानाभ्यासकरः सुनिर्मलमनास्तर्कादिकाव्यामृतः
भव्यानां प्रतिबोधनार्थनिपुणः स र्वकलायां रतः ॥ ४७ ॥

तत्पट्टपङ्कज-विकाशनभानुमूर्ति-
विद्याविभूषितसमन्वितबोधचन्द्रः।
स्याद्वादशास्त्र-परितोषितसर्वभूपो
भट्टारकः समभवद्यशपूर्वकीर्तिः ॥ ४८ ॥

तत्पट्टवारिज-विकाशनतिग्मरश्मिः
पापानबोधतिमिर-क्षय-तिग्मरश्मिः
पायात्सुभव्यभर-पद्मसुतिग्मरश्मिः
श्रीपद्मनन्दिमुनिपो जिततिग्मरश्मिः ॥ ४९ ॥

नानाऽनेकान्तनीत्या जितकुमतशठो विश्वतत्त्वैकवेत्ता
 शुद्धात्मध्यानलीनो विगतकलिकलो राजसेव्यक्रमाब्जः।
 शास्त्राब्धिपोत्रख्यो विमलगुणनिधी रामकीर्तेः सुपट्टे
 पायाद्दः श्रीप्रसिद्धयै जगति यतिपतिः पद्मनन्दी गणीशः॥ ५० ॥

तत्पट्ट-पद्मविकचीकरणैक-मित्रः
 सद्बोधबोधितनृपो विलसच्चरित्रः।
 भट्टारको भुवि विभात्यवबोधनेत्रः
 देवेन्द्रकीर्तिरतिशुद्धमतिः पवित्रः॥ ५१ ॥

श्रीसर्वज्ञोक्तशास्त्राऽध्ययनपटुमतिः सर्वथैकान्तभिन्नः
 चिद्रूपो भाति वेत्ता क्षितिपतिमहितो मोक्षमार्गस्य नेता।
 भव्याब्जोद्बोधभानुः परहितनियतः पद्मनन्दीन्द्रपट्टे
 जीयाद्भट्टारकेन्द्रः क्षितितलविदितो देवेन्द्रकीर्तिः॥ ५२ ॥

तत्पट्ट-नीरज-विकाशन-कर्म-साक्षी
 पापान्धकार-विनिवारण-कर्म-साक्षी।
 दुर्वादि-दुर्वन-कैरव-कर्म-साक्षी
 श्रीक्षेमकीर्तिमुनिपो जितकर्मसाक्षी॥ ५३ ॥

हेयाहेय-विचारणाङ्कित-मतिर्वादीन्द्र-चूडामणिः
 स्फुर्यद्विश्वजनीनवृत्तिरनिशं सम्यक्त्वतालङ्कृतः।
 सद्वाक्यामृतरञ्जिताखिलनृपो देवेन्द्रकीर्तेः पदे
 जीव्याद्दर्षपरः शतं क्षितितले श्रीक्षेमकीर्तिर्गुरुः॥ ५४ ॥

तत्पट्टकोकनद-मोदन-चित्रभानुः
 दुःकर्मदुस्तरसुनाशन-चित्रभानुः।
 भव्यालितामरसरंजन-चित्रभानुः
 जीयान्नेन्द्रवरकीर्तिसुचित्रभानुः॥ ५५ ॥

श्रीमत्स्याद्वाद-शास्त्रावगम-वरमतिः शान्तमूर्तिर्मनोज्ञः
 दिव्यत्स्वात्मोपलब्धिः प्रहतकलिमलोमोक्षमार्गस्य नेता।
 सर्वज्ञाभासवेदालिमकलमदरुत् क्षेमकीर्तेः सुपट्टे
 सूरिः श्रीमन्नेन्द्रो जयति पट्टगुणः कीर्तिशब्दाभियुक्तः॥ ५६ ॥

तत्पट्टवारिधिविवर्द्धनपूर्णचन्द्रः
 पुष्यायुधेभहरिणाधिपतिर्वितेन्द्रः।

सद्बोधवारिजविकाशनवासरेन्द्रः

भट्टारको विजयकीर्तिरसौ मुनीन्द्रः ॥ ५७ ॥

स्याद्वादामृतवर्षणैकजलदो मिथ्यान्धकारांशुमान्

भास्वन्मूर्तिनरेन्द्रकीर्तिसुसरो पट्टावलीक्ष्माधिपः ।

नानाशास्त्रविचारचारुचतुरः सन्मार्गसंवर्तको

जीयात् श्रीविजयादिकीर्तिरमलो दद्याच्च सन्मङ्गलं ॥ ५८ ॥

तत्पट्ट-पङ्कज-विकाशन-पङ्कजेन्द्रः

स्याद्वाद-सिन्धुवर-वर्द्धन-पूर्णचन्द्रः ।

वादीन्द्रकुम्भमदवारणसन्मृगेन्द्रः

भट्टारको जयति निर्मलनेमिचन्द्रः ॥ ५९ ॥

नानान्यायविचारचारुचतुरो वादीन्द्र-चूडामणिः

षट्कर्तागमशब्दशास्त्रनिपुणो स्फुर्जघशश्चन्द्रमाः ।

स्वात्मज्ञानविकाशनैकतरणिः श्रीनेमिचन्द्रो गुरुः

सद्भट्टारकमौलिमण्डनमणिर्जीव्यात्सहस्रं समाः ॥ ६० ॥

तत्पट्ट-पङ्कज-विकाशन-सूर्यरूपः

शास्त्रामृतेन परितोषित-सर्वभूपः ।

सच्छास्त्रकैरव-विकाशन-चन्द्रमूर्तिः

भट्टारकः समभवत् वरचन्द्रकीर्तिः ॥ ६१ ॥

श्रीमान्नाभिनरेन्द्रसुनुचरणाम्भोजद्वये भक्तिमान्

नानाशास्त्रकलाकलापकुशलो मान्यः सदा भूभृतां ।

नित्यं ध्यानपरोमहाव्रतधरो दाता दयासागरः

ब्रह्मज्ञान-परायणस्समभवत् श्रीचन्द्रकीर्तिः प्रभुः ॥ ६२ ॥

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः

पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ।

उज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्

अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥ ६३ ॥

(‘तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा’ खण्ड ४ / पृ.३९३-३९९ से उद्धृत) । प्रथम शुभचन्द्र का समय विक्रमसंवत् १५३५-१६२० है । (ती.म.आ.प./खं.३/पृ.३६५) प्रो० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार ये पाण्डवपुराण के भी रचयिता हैं और ई० सन् १५१६-५६ में हुए थे । (प्रवचनसार, Introduction, p.9) ।

श्रवणबेलगोल-महानवमी मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण
नन्दिसंघ की पट्टावली, लेख क्र० ४० (६४), शक सं० १०८५
(दक्षिणमुख)

भद्रं भूयाज्जिनेन्द्राणां शासनायाघनाशिने ।
कुतीर्थ-ध्वान्त-सङ्घात-प्रभिन्न-घनभावने ॥ १ ॥

श्रीमन्नाभयनाथाद्यमलजिनवरानीकसौधोरुवाद्धिः
प्रध्वस्ताघप्रमेयप्रचयविषयकैवल्यबोधोरुवेदिः ।
शस्तस्यात्कारमुद्रा-शवलित-जनतानन्दनादोरुघोषः
स्थेयादाचन्द्रतारं परमसुखमहावीर्यवीचोनिकायः ॥ २ ॥

श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गाः श्रीगौतमाद्याः प्रभविष्णवस्ते ।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ बोधनिधिर्बभूव ॥ ३ ॥

(श्री)भद्रस्सर्व्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥ ४ ॥

चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्गुणदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥ ५ ॥

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥ ६ ॥

अभूदुमास्वाति-मुनीश्वरोऽसावाचार्य्य-शब्दोत्तर-गृद्धपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥ ७ ॥

श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट-भुवनत्रयवर्ति-कीर्तिः ।
चारित्र-चञ्चुरखिलावनिपाल-मौलि-
माला-शिलीमुख-विराजित-पादपद्मः ॥ ८ ॥

एवं महाचार्य्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्राङ्किततत्त्वदीपः ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनिवादिसिंहः ॥ ९ ॥

ततः ॥

यो देवनिन्द्रप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पाद-युगं यदीयम् ॥ १० ॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकस्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह से पूज्यपाद-मुनिपः पूज्यो मुनीनां गणौः ॥ ११ ॥

ततश्च ॥

(पश्चिममुख)

अजनिष्ठाकलङ्कं यज्जिनशासनमादितः।
अकलङ्कं बभौ येन सोऽकलङ्को महामतिः ॥ १२ ॥

इत्याद्युद्धमुनीन्द्रसन्ततिनिधौ श्रीमूलसङ्घे ततो
जाते नन्दिगण-प्रभेदविलसदेशीगणे विश्रुते।
गोल्लाचार्य्य इति प्रसिद्ध-मुनिपोऽभूद् गोल्लदेशाधिपः
पूर्वं केन च हेतुना भवभिया दीक्षां गृहीतस्सुधीः ॥ १३ ॥

श्रीमत्त्रैकाल्ययोगी समजनि महिका कायलग्ना तनुत्रं
यस्याभूद्वृष्टि-धारानिशितशर-गणाग्रीष्ममार्तण्डबिम्बम्।
चक्रं सद्वृत्तचापाकलित-यतिवरस्याघशूत्रन्विजेतुं
गोल्लाचार्य्यस्य शिष्यस्य जयतु भुवने भव्यसत्कैरवेन्दुः ॥ १४ ॥

तच्छिष्यस्य ॥

अविद्धकर्णादिक-पद्मानन्दिसेद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धिर्जायातु सो ज्ञाननिधिस्सधीरः ॥ १५ ॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारनिधि-
स्सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥

तस्य श्रीकुलभूषणाख्यसुमुनेशिश्यो विनेयस्तुत-
स्सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेवमुनिपरिस्सिद्धान्तविद्यानिधिः।
तच्छिष्योऽजनि माघनन्दिमुनिपः कोल्लापुरे तीर्थकृ-
द्राद्धान्तार्णवपारगोऽचलधृतिश्चारित्रचक्रेश्वरः ॥ १७ ॥

एले माविं बनवब्जदिं तिलिगोलं माणिक्यदिं मण्डना-
 वलिताराधिपनिं नभं शुभदमा गिर्प्पन्तिरिर्दुत्तुनि-
 र्म्मलवीगल् कुलचन्द्रदेवचरणाम्भोजातसेवाविनि-
 श्चलसैद्धान्तिकमाघनन्दिमुनियिं श्रीकोण्डकुन्दान्वयम् ॥ १८ ॥

हिमवत्कुत्कोल-मुक्ताफल-तरलतरत्तार-हारेन्दुकुन्दो-
 पमकीर्तिव्याप्तदिग्मण्डलनवनतभूमण्डलं भव्यपद्मोग-
 मरीचीमण्डलं पण्डित-तति-विनतं माघनन्दाख्यवाचं
 यमिराजं वाग्वधूटीनिटिलतटहटनूनसद्रत्नप--- ॥ १९ ॥

---त मद-रदनिकुलमं भरदिं निर्ब्भेदिसल्लके---सरियेनिपं
 वरसंयमाब्धिचन्द्रं धरेयोल् --- माघनन्दि-सैद्धान्तेश ॥ २० ॥

तच्छिष्यस्य ॥

अवर गुडुगलु सामन्तकेदारनाकरस दानश्रेयांस सामन्त निम्बदेव जगदोर्ब्बगण्ड
 सामन्तकामदेव ॥

(उत्तरमुख)

गुरुसैद्धान्तिकमाघनन्दिमुनिपं श्रीमचमूवल्लभं
 भरतं छत्रनपारशास्त्रनिधिगल् श्रीभानुकीर्त्तिप्रभा-
 स्फुरितालङ्कृत-देवकीर्त्ति-मुनिपशिर्ष्यर्ज्जगन्मण्डन-
 हौरिये गण्डविमुक्तदेवनिनिगिन्नीनामसैद्धान्तिकर् ॥ २१ ॥

क्षीरोदादिव चन्द्रमा मणिरिव प्रख्यातरत्नाकरात्
 सिद्धान्तेश्वरमाघनन्दियमिनो जातो जगन्मण्डनः।
 चारित्रैकनिधानधामसुविनम्रो दीपवती स्वयं
 श्रीमद्गण्डविमुक्तदेवयतिपस्सैद्धान्तचक्रधिपः ॥ २२ ॥

अवर सधर्म्मर् ।

आवों वादिकथात्रयप्रवणदोल् विद्वज्जनं मेच्चे वि-
 द्यावष्टम्भमनप्पुकेय्दु परवादिक्षोणिभृत्पक्षमं।
 देवेन्द्रं कडिवन्ददिं कडिदेले स्याद्वादविद्यास्त्रदिं
 त्रैविद्यश्रुतकीर्त्तिदिव्यमुनिवोल् विख्यातियाँ ताल्दिदौ ॥ २३ ॥

श्रुतकीर्ति-त्रैविद्य-
 व्रति राघवपाण्डवीयमं विभु (बु) धचम-
 त्कृतियेनिसि गत-प्रत्या-
 गतदिं पेल्दमलकीर्तियं प्रकटिसिदं ॥ २४ ॥

अवरग्रजरु ॥

यो बौद्धक्षितिभृत्करालकुलिशश्चाव्वाकमेघान (नि) लो
 मीमांसा-मत-वर्ति वादि-मदवन्मातङ्गकण्ठीरवः।
 स्याद्वादाब्धि-शरत्समुद्गतसुधा-शोचिस्समस्तैस्स्तुत-
 स्स श्रीमान्भुवि भासते कनकनन्दि-ख्यात-योगीश्वरः ॥ २५ ॥

वेताली मुकुलीकृताञ्जलिपुटा संसेवते यत्पदे
 झोट्टिङ्गः प्रतिहारको निवसति द्वारे च यस्यान्तिके।
 येन क्रीडति सन्ततं नुततपोलक्ष्मीर्यशः(ः)श्रीप्रिय-
 स्सोऽयं शुम्भति देवचन्द्रमुनिपो भट्टारकौघाग्रणीः ॥ २६ ॥

अवर सधर्मर्माघनन्दि-त्रैविद्य-देवरु विद्याचक्रवर्ति श्रीमहेवकीर्ति-पण्डितदेवर शिष्यरु
 श्रीशुभचन्द्रत्रैविद्यदेवरुं गण्डविमुक्तवादि-चतुर्मख-रामचन्द्र-त्रैविद्यदेवरुं वादिवज्राङ्कुश-
 श्रीमदकलङ्कत्रैविद्यदेवरुमापरमेश्वरन गुड्डुगलु माणिक्यभण्डारि मरियाने दण्डनायकरुं
 श्रीमन्महाप्रधानं सर्वाधिकारिपिरियदण्डनायकं भरतिमय्यङ्गलुं श्रीकरणद हेगडे बूचिमय्यङ्गलुं
 जगदकेदानि हेगडे कोरय्यनुं ॥

अकलङ्कं पितृ वाजि-वंश-तिलक-श्री-यक्षराजं निजा-
 म्बिके लोकाम्बिके लोकवन्दिते सुशीलाचारे दैवं दिवी-
 शकदम्बस्तुतपादपद्मनरुहं नाथं यदुक्षोणिपा-
 लक चूडामणि नारसिङ्गनेनलेन्नोम्मुल्लनोहुल्लपं ॥ २७ ॥

श्रीमन्महाप्रधानं सर्वाधिकारि हिरियभण्डारि अभिनवगङ्गदण्डनायक-श्रीहुल्लराजं
 तम्म गुरुगलप्पश्रीकोण्डकुन्दान्वयद श्रीमूलसङ्घद देशियगणद पुस्तकगच्छद श्रीकोल्लापुरद
 श्रीरुपनारायणन-बसदिय प्रतिविद्धद श्रीमत्केल्लङ्गेरेय प्रतापपुरवं पुनर्भरणवं माडिसि
 जिननाथपुरदलु कल्ल दानशालेयं माडिसिद श्रीमन्महामण्डलाचार्यर्हैवकीर्तिपण्डितदेवरुं
 परोक्षविनयवागि निशिदियं माडिसिद अवर शिष्यर्लक्खणन्दि-माघव-त्रिभुवनदेवर्महादान-
 पूजाभिषेक-माडि प्रतिष्ठेयं माडिदरु मङ्गल महा श्री श्री श्री।

(जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ से उद्धृत)

नवम अध्याय

नवम अध्याय

गुरुनाम तथा कुन्दकुन्दनाम-अनुल्लेख के कारण

१

गुरुनाम-अनुल्लेख का कारण

जैसा कि अष्टम अध्याय में सूचित किया गया है, आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने साक्षाद् गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। मुनि कल्याणविजय जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि कुन्दकुन्द शुरू में यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, किन्तु आगे चलकर वे अपने गुरु और यापनीयमत की धर्मविरुद्ध मान्यताओं और हीनप्रवृत्तियों के विरुद्ध हो गये। अन्त में उन्होंने अपने गुरु का साथ छोड़ दिया और पृथक् दिगम्बर-संघ स्थापित कर लिया। इसीलिए उन्होंने अपने गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। (देखिये, अ.२/प्र.२/शी.३)।

आचार्य हस्तीमल जी ने यह कारण बतलाया है कि कुन्दकुन्द प्रारंभ में भट्टारक थे। जब उन्हें धर्म के तीर्थकरप्रणीत वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब उनके मन में अपने भट्टारक गुरु के प्रति अश्रद्धा हो गयी और वे उनसे अलग हो गये। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का स्मरण नहीं किया।

इनमें प्रथम मत की असत्यता का उद्धाटन द्वितीय अध्याय में 'कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीयमतावलम्बी होने का मत असत्य' (अ.२/प्र.२/शी.७) शीर्षक से किया जा चुका है और द्वितीय मत की अप्रामाणिकता अष्टम अध्याय में दर्शायी जा चुकी है। कुन्दकुन्द ने अपने गुरु के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया, इसका समाधान इतना जटिल नहीं है कि उसे पाने के लिए ऐसी कल्पनाएँ करनी पड़ें, जिनका कुन्दकुन्द से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

समाधान बहुत सरल है। हम देखते हैं कि षट्खण्डागम के कर्ता पुष्यदन्त और भूतबलि, कसायपाहुड़ के कर्ता गुणधर, तत्त्वार्थसूत्रकार गृध्रपिच्छ, आचार्य समन्तभद्र, पूष्यपाद स्वामी आदि अन्य दिगम्बराचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में स्वगुरुओं के नाम का स्मरण नहीं किया है। यहाँ तक कि अपने भी नाम की चर्चा नहीं की। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, पतञ्जलि ने योगदर्शन में और वाल्मीकि ने रामायण में

अपने गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में प्रायः निःस्पृह ग्रन्थकारों के द्वारा अपने ग्रन्थों में स्वयं के तथा स्वगुरु के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं थी। इसका कारण था ख्याति की आकांक्षा का अभाव। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा अपने गुरुनाम का उल्लेख न किया जाना किसी अन्य संभावना को जन्म नहीं देता।

कुन्दकुन्द ने जो बोधपाहुड (गा. ६१-६२) में श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमकगुरु (परम्परागुरु) कहकर उनका जयकार किया है, उसका विशेष प्रयोजन है। वह है अपने ग्रंथों में किये गये प्ररूपण की प्रामाणिकता ज्ञापित करना अर्थात् यह प्रकट करना कि वह स्वकल्पित नहीं है, अपितु श्रुतकेवली द्वारा वर्णित सर्वज्ञ के उपदेश पर आश्रित है, जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होता है—“वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं” (स.सा./गा. १)।

षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेन स्वामी टीका के प्रारंभ में ग्रन्थ के कर्त्ताओं का परिचय देते हुए भगवान् महावीर, गौतमस्वामी और पुष्यदन्त तथा भूतबलि को षट्खण्डागम का कर्त्ता बतलाते हैं और प्रश्न करते हैं कि यहाँ कर्त्ता का प्ररूपण किसलिए किया गया? और इसके उत्तर में कहते हैं—“शास्त्र की प्रामाणिकता दिखलाने के लिए, क्योंकि वक्ता की प्रामाणिकता से ही वचन की प्रामाणिकता का पता चलता है, ऐसा न्याय है।”^१

इसी न्याय का अनुसरण करते हुए कुन्दकुन्द ने अपने वचनों की प्रामाणिकता दर्शाने के लिए उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश पर आश्रित बतलाया है।

आचार्य कुन्दकुन्द को अपने ग्रन्थों में वर्णित जीवादि के स्वरूप की प्रामाणिकता दर्शाना विशेषरूप से आवश्यक हो गया था, क्योंकि उनके समय में मूलसंघ के अन्तर्गत कुछ ऐसे मुनिसंघ विद्यमान थे, जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश से च्युत होकर लौकिक (पार्श्वस्थ-कुशील) मुनियों का आचरण करते थे। वे मन्दिरों में नियतवास करते थे, कृषि-व्राणिय्य करते थे, यक्ष-यक्षिणियों को पूजते और पुजवाते थे, मंत्रतंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि ऐहिक कर्मों में प्रवृत्त होते थे, गृहस्थों के विवाह-सम्बन्ध भी तय कराते थे। अतः जिनशासन के मूलस्वरूप की रक्षा के लिए कुन्दकुन्द को यह बतलाना आवश्यक हो गया था कि उक्त मुनिसंघों का यह आचार-विचार सर्वज्ञ प्रणीत नहीं, अपितु स्वकल्पित है। सर्वज्ञप्रणीत धर्म वही है, जो अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा कथित है। उसमें मुनियों के लिए उपर्युक्त प्रवृत्तियों का निषेध है। कुन्दकुन्द

१. “किमर्थं कर्त्ता प्ररूप्यते? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थं, ‘वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्’ इति न्यायात्।” धवलाटीका/षट्खण्डागम / पु.१/१,१,१/ पृ. ७३।

को श्रुतकेवली—कथित धर्म का उपदेश गुरुपरम्परा से प्राप्त था। उसका ही निरूपण उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। इसी का बोध कराने के लिए कुन्दकुन्द ने स्वयं को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य कहा है। ऐसा कहकर कुन्दकुन्द ने न केवल अपने वचनों की, अपितु अपनी गुरुपरम्परा की भी प्रामाणिकता दर्शायी है, क्योंकि उन्हें श्रुतकेवली-भणित उपदेश गुरुपरम्परा से ही प्राप्त हुआ था। अतः अपने उपदेश को श्रुतकेवली-भणित बतलाकर कुन्दकुन्द ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उनके गुरु-प्रगुरु भी श्रुतकेवली भद्रबाहु की ही परम्परा के थे।

२

कुन्दकुन्द-नाम-अनुल्लेख का कारण

इसी प्रकार अनेक दिगम्बर-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का स्मरण नहीं किया है। विभिन्न विद्वानों ने इसके भी अलग-अलग कारण बतलाये हैं, जो असंगत हैं। यहाँ उनका क्रमशः निरसन किया जा रहा है।

२.१. आचार्य हस्तीमल जी के मत का निरसन

आचार्य हस्तीमल जी ने कहा है कि धवलाकार वीरसेन स्वामी और उनके शिष्य-प्रशिष्य जिनसेन, गुणभद्र, हरिवंशपुराणकार जिनसेन आदि भट्टारकसम्प्रदाय के थे तथा कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित होकर उससे अलग हो गये थे, इसलिए वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, लोकसेन आदि ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया।^२ ये वचन प्रामाणिक नहीं हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. वीरसेन स्वामी सेनसंघी थे और सेनसंघ की पट्टावली में उन्हें किसी भी स्थान के भट्टारकपीठ पर आसीन नहीं बतलाया गया है। इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में लिखा है कि पहले उन्होंने चित्रकूटपुर में रहकर अपने गुरु से सिद्धान्त पढ़ा, तत्पश्चात् वाटग्राम में आकर वहाँ के जिनमन्दिर में रहते हुए षट्खण्डागम पर टीका लिखी।^३ इससे सिद्ध है कि वे किसी भट्टारकपीठ के अधीश नहीं थे।

२. वीरसेन स्वामी ८वीं शताब्दी ई० में हुए थे (देखिये, अध्याय १०/ प्रकरण १/ शीर्षक १०.१) और १२वीं शताब्दी ई० के पूर्व भट्टारकसम्प्रदाय का उदय नहीं हुआ था।

२. देखिये, अध्याय ८/ प्रकरण २/ शीर्षक १/ उपान्त्य अनुच्छेद।

३. श्रुतावतार/कारिका १७७-१८३।

३. आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन ने पार्श्वार्थ्युदय में वीरसेन स्वामी, उनके शिष्य विनयसेन तथा स्वयं को 'मुनि' 'गरीयान् मुनि' और 'मुनीश्वर' विशेषणों से विशेषित किया है।^४ तथा प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति के कर्ता जयसेन ने, जो सेनगण (संघ) के ही थे, अपने गुरु एक अन्य वीरसेन को 'जातरूपधर' और निर्ग्रन्थपदवीधारी बतलाया है।^५ दर्शनसार के रचयिता देवसेन ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के लिए 'महातपस्वी, पक्षोपवासी, भावलिंगी मुनि' इन शब्दों का प्रयोग किया है।^६

ये तीन हेतु इस बात के प्रमाण हैं कि वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्य भट्टारकपीठ पर आसीन अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारक नहीं थे। उनके साथ जुड़ी 'भट्टारक' उपाधि उन्हें उनकी विद्वत्ता के अभिनन्दनार्थ प्रदान की गई थी।^७

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि सेनसंघी वीरसेन स्वामी भट्टारक सम्प्रदायवाले भट्टारक थे, तो सेनसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं है, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय के नहीं थे।

यदि कहा जाय कि भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो जाने के कारण सेनसंघ की भट्टारक-पट्टावली में कुन्दकुन्द का नाम नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि जब भट्टारकपट्टावली में कुन्दकुन्द का नाम ही नहीं है, तब यह किस आधार पर माना जा सकता है कि वे भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। प्रमाण के अभाव में ऐसा मानना तो कपोलकल्पना मात्र है।

-
४. श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ पार्श्वार्थ्युदय ४/७१।
५. सूरि श्रीवीरसेनाख्यो मूलसङ्घेऽपि सत्तपाः।
नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भजे जातरूपधरोऽपि यः ॥ जयसेनप्रशस्ति / प्रवचनसार / पृ.३४५।
६. सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरिपउमणंदिपच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३० ॥
तस्स य सीसो गुणवं गुणभदो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खुववासुद्धमदी महातवो भावलिंगो य ॥ ३१ ॥
तेण पुणो विय मिच्चुं णाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धंतं धोसित्ता सयं गये सम्गलोयस्स ॥ ३२ ॥ दर्शनसार।
७. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥
लोकवित्त्वं कवित्त्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्।
वाङ्मिताऽवाङ्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥ आदिपुराण / प्रथम पर्व।

इसके उत्तर में यदि आचार्य हस्तीमल जी कहें कि नन्दिसंघ की भट्टारकपट्टावली में कुन्दकुन्द का नाम है, तो प्रश्न खड़ा होता है कि तब यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि वे बाद में भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये थे? कुन्दकुन्द के भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित होने और बाद में उससे अलग होने के साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण के अभाव में ऐसा मान लेना कपोलकल्पना के अतिरिक्त क्या है?

निष्कर्ष यह कि न तो सेनसंघ की पट्टावली केवल भट्टारकपट्टावली है, न ही नन्दिसंघ की। दोनों में अपने-अपने संघ के मुनियों का भी उल्लेख है और भट्टारकों का भी। इसलिए सेनसंघ के आचार्य वीरसेन, जयसेन, गुणभद्र आदि मुनि ही थे, भट्टारकपीठों पर अभिषिक्त भट्टारक नहीं। अतः “ये भट्टारक थे और कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उससे अलग हो गये थे, इसलिए इन भट्टारक-ग्रन्थकारों ने द्वेषवश कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया” आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

यह कथन इसलिए भी मिथ्या है कि नन्दिसंघ के पीठाधीश भट्टारकों ने न केवल अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का आदरपूर्वक उल्लेख किया है, अपितु स्वयं को उनके अन्वय का बतलाकर अपने को गौरवान्वित भी किया है। पन्द्रहवीं शती ई० के भट्टारक सकलकीर्ति ने अपने वीरवर्धमानचरित के मंगलाचरण में आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित शब्दों में वन्दना की है—

अन्ये ये बहवो भूताः कुन्दकुन्दादिसूरयः।
सुकवीन्द्राश्च निर्ग्रन्थाः ह्य सन्ति सर्वे महीतले ॥ १/५६ ॥
पञ्चाचारादिभूषा ये पाठका जिनवाररताः।
वन्द्याः स्तुता मया मेऽत्र दद्युः स्वस्वगुणांश्च ते ॥ १/५७ ॥

इस प्रकार भट्टारकसम्प्रदाय में तो कुन्दकुन्द का नाम आदरपूर्वक लिया जाता था, किन्तु जो ग्रन्थकार भट्टारकसम्प्रदाय के नहीं थे, उन्होंने ही अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का स्मरण नहीं किया। यहाँ तक कि समयसारादि के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र

८. क—“संवत् १३८० वर्षे माघसुदि ७ सनौ श्रीनन्दिसङ्घे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० (भट्टारक) शुभकीर्तिदेव तत्पिष्य सर्वाति --- ।” भट्टारकसम्प्रदाय/ लेखांक २२८।

ख—“श्रीबलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीमहि (नन्दि) सङ्घे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० (भट्टारक) श्रीवसन्तकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्री विशालकीर्तिदेवाः।” भट्टारकसम्प्रदाय/ लेखांक २४४।

ने भी ग्रन्थकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण अभी अन्वेषणीय है।

२.२. प्रो. एम. ए. ढाकी के मत का निरसन

प्रो. एम० ए० ढाकी ने ग्रन्थकारों द्वारा कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न किये जाने का एक अन्य ही कारण बतलाया है। वे कहते हैं कि दसवीं शताब्दी ई० (आचार्य अमृतचन्द्र के समय) के पूर्व तक न तो किसी दिगम्बर आचार्य ने अपने ग्रन्थ में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख किया है, न ही उनके ग्रन्थों पर टीका लिखी गई। इससे सिद्ध होता है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र के सौ-दो-सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे।^१

अर्थात् प्रो० ढाकी के अनुसार कुन्दकुन्द वीरसेन स्वामी आदि से अर्वाचीन थे, इसलिए उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। किन्तु, आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, इसका सप्रमाण प्रतिपादन दशम अध्याय में द्रष्टव्य है। उन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द के नाम-अनुल्लेख का ढाकी जी द्वारा बतलाया गया कारण सर्वथा मिथ्या है।

२.३. प्रेमी जी के मत का निरसन

स्व० पं० सुखलाल जी संघवी और स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी के बीच भी इस विषय में पत्रव्यवहार हुआ था। संघवी जी के पत्र के उत्तर में प्रेमी जी ने लिखा था—“श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्यपरम्परा दी हुई है, उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है। श्रुतावतार में कुन्दकुन्द का उल्लेख है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है, परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना नहीं है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाणकोटि का है। दर्शनसार ९९० संवत्^{१०} का बनाया हुआ है। उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है, परन्तु उमास्वाति का नहीं। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओं की प्रशंसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं समझते थे। एक बात और है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि के कर्ताओं ने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नहीं किया है, यह एक विचारणीय बात है। मेरी समझ में कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय

१. The Date of Kundakundācārya, Aspects of Jainology, Vol. III, pp. 187-189.

१०. वि० सं० ९९० (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खण्ड २/ पृ.३६९)।

या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होंने जैनधर्म को वेदान्त के साँचे में ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसीलिए उनके प्रति उन्हें कोई आदरभाव नहीं था।^{११}

इस पर आपत्ति करते हुए प्रो० ढाकी प्रश्न करते हैं कि यदि कुन्दकुन्द की नई विचारधारा से अन्य आचार्य सहमत नहीं थे, तो उन्होंने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया और असहमत होते हुए भी उनके ग्रन्थों का अनुसरण क्यों किया जाता रहा?^{१२}

प्रो० ढाकी का यह प्रश्न उचित है। मैं भी प्रेमी जी से सहमत नहीं हूँ। कुन्दकुन्द के 'वोच्छ्रामि समयपाहुडमिणामो सुयकेवलीभणियं' (स.सा./गा.१) ये वचन प्रमाण हैं कि उन्होंने किसी नये आम्नाय या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया था अर्थात् जैनधर्म को वेदान्त के साँचे में नहीं ढाला था, बल्कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही उन्होंने अपने प्राभृतग्रन्थों में प्ररूपित किया है। इसका सप्रमाण प्रतिपादन दशम अध्याय (प्र.४/शी.२) में पं० दलसुख मालवणिया के 'दार्शनिक विकासवाद' के निरसन-प्रसंग में द्रष्टव्य है। तथा कोई भी दिगम्बराचार्य उनके द्वारा प्ररूपित वस्तुतत्त्व से असहमत नहीं था, अपितु सभी आचार्य उनके वचनों को प्रमाणस्वरूप मानते थे। इसीलिए प्रथम शताब्दी ई० के भगवती-आराधनाकार शिवार्य से लेकर सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द की गाथाएँ आत्मसात् की हैं अथवा प्रमाणरूप में उद्धृत की हैं। इसके प्रमाण दशम अध्याय में द्रष्टव्य हैं। अतः वीरसेन, जिनसेन आदि के द्वारा कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न किये जाने का यह तीसरा कारण भी असंगत है।

२.४. नाम-अनुल्लेख का कारण : नाम से अनभिज्ञता

वीरसेन स्वामी ने 'षट्खण्डागम' की धवलाटीका में न केवल कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है, अपितु उनके वचन प्रमाणरूप में भी उद्धृत किये हैं। और इस प्रकार उन्होंने 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इस स्वमान्य न्याय के अनुसार कुन्दकुन्द को प्रामाणिक वक्ता स्वीकार किया है। कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन के जिस ब्रह्मगुणपर्यायात्मक अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण किया है, उसका स्पष्टीकरण वीरसेन स्वामी

११. पं. सुखलाल जी संघवी : तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित)/प्रस्तावना/पृष्ठ ७३-७४।

१२. "Also why his unacceptable teachings were not refuted by any scholar and how it came about that his works continued to be copied even when disrecognized, for over the long centuries." *The Date of Kundkundācārya, Aspects of Jainology, Vol III, p.189.*

ने भी किया है और कुन्दकुन्द के वचन से उसकी पुष्टि की है।^{१३} अतः कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचारों से कोई भी असहमत नहीं था, अपितु सभी उत्तरवर्ती ग्रन्थकार उनके अनुगामी थे। फिर भी उन्होंने उनके नाम की चर्चा नहीं की।

इसका एक ही कारण प्रतीत होता है। वह कारण है समयसारादि ग्रन्थों में उनके कर्ता कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न होना और मुनिसंघों में भी यह प्रसिद्ध न हो पाना या इस प्रसिद्धि का लुप्त हो जाना कि उक्त ग्रन्थों के कर्ता कुन्दकुन्द हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में उसके कर्ता गृध्रपिच्छ के नाम का उल्लेख न होने से और यह प्रसिद्ध न होने से कि उसके कर्ता गृध्रपिच्छ हैं, टीकाकार पूज्यपाद स्वामी (५वीं शती ई०) और भट्ट अकलंकदेव (७वीं शती ई०) भी उनसे अपरिचित रहे आये, जिसके फलस्वरूप वे अपनी टीकाओं में तत्त्वार्थसूत्रकार के रूप में उनका नाम निर्दिष्ट नहीं कर सके, वैसे ही समयसारादि ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न होने से तथा यह प्रसिद्ध न होने से कि उन ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्द हैं, दसवीं शताब्दी ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र भी इस तथ्य से अनभिज्ञ रहे कि समयसारादि महान् ग्रन्थों के कर्ता वही आचार्य कुन्दकुन्द हैं, जिनसे कुन्दकुन्दान्वय नाम का विशाल अन्वय प्रसूत हुआ।

जिस प्रकार बहुत समय बाद आठवीं शती ई० में धवलाटीका के कर्ता वीरसेन स्वामी ने किसी प्राचीन लिखित स्रोत से यह ज्ञात होने पर कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आचार्य गृध्रपिच्छ हैं, धवलाटीका में इसका उल्लेख किया है,^{१४} उसी प्रकार बारहवीं शती ई० में किसी प्राचीन ग्रन्थादि से यह जानकारी प्राप्त होने पर कि समयसारादि ग्रन्थों के निर्माता वही महान् कुन्दकुन्द हैं, जिनके नाम से कुन्दकुन्दान्वय प्रवाहित हुआ है, आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं में उन ग्रन्थों के निर्माता के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द के नाम की चर्चा की है। आठवीं शती ई० से पहले के सभी ग्रन्थकार और टीकाकार इस तथ्य से अनभिज्ञ थे कि 'तत्त्वार्थसूत्र' के कर्ता आचार्य गृध्रपिच्छ हैं और बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्ववर्ती समस्त ग्रन्थकर्ताओं और टीकाकारों को यह

१३. "तत्र योऽसौ द्रव्यार्थिकनयः स त्रिविधो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदेन। तत्र सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः स सङ्ग्रहः। अत्रोपयोगिनी गाथा-
सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पायधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥"

(धवलाटीका/षट्खण्डागम/पु.९/४,१,४५/पृ.१७०-१७१। यहाँ उद्धृत गाथा 'पञ्चास्तिकाय' की ८ वीं गाथा है।)

१४. क- "तह गिद्धपिच्छाडरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' इदि दव्वकालो परूविदो।" धवलाटीका/षट्खण्डागम/पु.४/१,५,१/पृ.३१६।

ज्ञान नहीं था कि समयसारादि ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की लेखनी से प्रसूत हुए हैं। इसका प्रमाण प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा की अमृतचन्द्रकृत टीका में मिलता है—

एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं धोदघाडकम्पमलं।

पणमामि वड्डमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥ १/१॥

अनुवाद—“यह मैं उन वर्धमानस्वामी को प्रणाम करता हूँ, जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों के द्वारा वन्दित हैं, जिन्होंने घातिकर्मों के मल को धो डाला है तथा जो धर्मतीर्थ के कर्ता हैं।”

यहाँ ‘एस’ (एषः अहम् = यह मैं) सर्वनाम ‘प्रवचनसार’ ग्रन्थ के कर्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि को इसकी व्याख्या ग्रन्थकार कुन्दकुन्द के नाम का निर्देश करके करनी चाहिए थी, जैसे “यह मैं कुन्दकुन्द --- वर्धमान स्वामी को प्रणाम करता हूँ।” किन्तु उन्होंने “एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञान-सामान्यात्माहं --- श्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि” (यह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा मैं --- श्रीवर्धमान स्वामी को प्रणाम करता हूँ), इन शब्दों में की है। अर्थात् उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण न तो यह हो सकता है कि कुन्दकुन्द से उन्हें कोई द्वेष था और न यह कि टीकाकार द्वारा ग्रन्थकर्ता के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं थी। अन्यथानुपपत्ति से केवल यही कारण उभरकर सामने आता है कि टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि इस तथ्य से अनभिज्ञ थे कि ‘प्रवचनसार’ के कर्ता वही कुन्दकुन्द हैं, जिनके नाम से प्रसिद्ध कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित हुआ है।

आचार्य जयसेन ने ‘एस’ सर्वनाम शिवकुमार नामक राजा के लिए प्रयुक्त माना है।^{१५} जो संगत नहीं है,^{१६} क्योंकि ग्रन्थ की आद्य गाथाएँ मंगलाचरणरूप हैं और उनका प्रयोग ग्रन्थकार ही करता है। स्वयं जयसेन ने प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार की

ख—आठवीं-नौवीं शताब्दी ई० के आचार्य विद्यानंद ने ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में तथा ग्यारहवीं शती ई० के वादिराजसूरि ने ‘पार्श्वनाथचरित’ में भी गृद्धपिच्छ को ही तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता बतलाया है। (सिद्धा० पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री सर्वार्थसिद्धि/ प्रस्तावना / पृ.५७-६०)।

१५. अथ कश्चिदासनभयः शिवकुमारनामा---भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनो--- प्रणम्य परमचारित्रमा-श्रयामीति प्रतिज्ञां करोति।” तात्पर्यवृत्ति / पातनिका प्रवचनसार / १/ १-५।

१६. उक्त असंगति का परिहार आचार्य जयसेन ने इस प्रकार किया है—“किं च पूर्व ग्रन्थप्रारम्भकाले साम्यमाश्रयामीति शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञां करोतीति भणितम्। इदानीं तु ममात्मना

अन्तिम गाथा की तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार के कर्ता हैं और शिवकुमार महाराज श्रोता।^{१७} उन्होंने समयसार तथा पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति के आरंभ में भी यह उल्लेख कर दिया है कि इन ग्रन्थों की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा हुई है। किन्तु अमृतचन्द्र सूरि ने तीनों ग्रन्थों की टीका में कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया कि वे ग्रन्थ कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र को यह ज्ञात नहीं था कि समयसारादि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द हैं और इससे स्पष्ट होता है कि उनके समय में मुनिसंघों में भी उक्त प्रकार की प्रसिद्धि नहीं थी। आचार्य अमृतचन्द्र के समकालीन दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने केवल इतना लिखा है कि “विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर सीमन्धरस्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ (कुन्दकुन्द स्वामी) ने जो दिव्यज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि वे बोध न देते, तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?”^{१८} लगभग इसी समय (१०वीं शती ई०) के आचार्य इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार (कारिका १६०-१६१) में कहा है कि कुण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दी ने षट्खण्डागम के आदि के तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु इन दोनों आचार्यों ने कुन्दकुन्द के द्वारा समयसारादि ग्रन्थ रचे जाने की बात नहीं कही। सर्वप्रथम ईसा की बारहवीं सदी में आचार्य जयसेन ने कुन्दकुन्द को उक्त ग्रन्थों का रचयिता बतलाया है और उनके कुछ समय बाद १२ वीं शती ई० में ही हुए माइल्लनधवल ने लिखा है कि मैंने कुन्दकुन्दाचार्य-रचित शास्त्रों से सारभूत अर्थ ग्रहणकर द्रव्यस्वभाव-प्रकाशक-नयचक्र की रचना की है।^{१९} उन्होंने पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों को आगम कहकर, उनसे अनेक उद्धरण भी दिये हैं।^{२०} इससे ज्ञात होता है कि जयसेन को कुन्दकुन्द

चारित्रं प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोधः। परिहारमाह-ग्रन्थप्रारम्भात् पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति, परं किन्तु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मानं भावनापरिणतं दर्शयति, क्वापि शिवकुमारमहाराजं, क्वाप्यन्यं भव्यजीवं वा। तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति, कालनियमो नास्तीत्यभिप्रायः।”
तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार / ३ / १।

१७. “किं च ‘उवसंपयामि सम्पं’ इत्यादि --- प्रतिज्ञां --- कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शना-धिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्तिं नीता, शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च।”
तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार / २ / १०८।

१८. जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।

ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥ ४३ ॥ दर्शनसार।

१९. “श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृतशास्त्रात् सारार्थं परिगृह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं मोक्षमार्गं कुर्वन् ---।” द्रव्यस्वभावप्रकाशक-नयचक्र / उत्थानिका / गाथा १।

२०. “उक्तं च आगमे-

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।

के समयसारादि ग्रन्थों के रचयिता होने की जानकारी किसी प्राचीन लिखित स्रोत से प्राप्त हुई थी। इस तरह यह बात समझ में आ जाती है कि ईसा की बारहवीं शताब्दी से पहले के ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया। इसका एक मात्र कारण उनका इस बात से अनभिज्ञ होना था कि समयसारादि ग्रन्थों के कर्ता वही कुन्दकुन्द हैं, जिनके नाम से कुन्दकुन्दान्वय प्रसूत हुआ है।

अतः दसवीं शती ई० के पूर्व तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर टीका का न लिखा जाना तथा बारहवीं शती ई० के पूर्व तक ग्रन्थकारों द्वारा कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न किया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि कुन्दकुन्द दसवीं शताब्दी ई० के सौ दो सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर पहली टीका भले ही दसवीं शती ई० में लिखी गई हो, पर उनके ग्रन्थों की गाथाएँ ईसा की पहली, दूसरी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं आदि शताब्दियों में रचित भगवती-आराधना आदि अनेक ग्रंथों में आत्मसात् की गयी हैं अथवा प्रमाणरूप में उद्धृत की गयी हैं।^{२१} यह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध तथा ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध) में हुए थे।

जहाँ तक टीका के न लिखे जाने का प्रश्न है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के कुछ ही समय बाद जैनसिद्धान्त को संक्षेप एवं सरल भाषा में प्रस्तुत करनेवाला तत्त्वार्थसूत्र जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सामने आ गया। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि उसने आचार्यों को उसी पर टीकाएँ लिखने के लिए प्रेरित किया। इसीलिए हम देखते हैं कि पूज्यपादस्वामी (५वीं शती ई०) के पहले से ही उस पर टीकाएँ लिखी जाने लगीं और यह क्रम श्रुतसागरसूरि (१५वीं शती ई०) तक अनवरत चलता रहा। फलस्वरूप १०वीं शती ई० के पूर्व तक कुन्दकुन्द के अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों पर टीका का अवसर नहीं आ पाया।

निष्कर्ष यह कि आचार्य कुन्दकुन्द न तो यापनीयपरम्परा में दीक्षित होकर उससे अलग हुए थे, न ही उन्होंने भट्टारकसम्प्रदाय को अंगीकर कर बाद में उसका परित्याग किया था। वे शुरू से ही दिगम्बराचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा में दीक्षित हुए थे और अन्त तक उसी में स्थित रहे।

दंसणणाणवियप्पो अविद्यप्यं चावि अप्पादो ॥ १५९ ॥ पंचास्तिकाय।”

द्रव्यस्वभावप्रकाशक-नयचक्र / गाथा ४०४ के समर्थन में उद्धृत।

२१. देखिये, आगे दशम अध्याय / प्रथम प्रकरण।

दशम अध्याय

दशम अध्याय

आचार्य कुन्दकुन्द का समय

प्रथम प्रकरण

ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में होने के प्रमाण

१

इण्डि. ऐण्टि. पट्टावली के अनुसार ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती

अष्टम अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रो० हार्नले द्वारा दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। उनका जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था, ११ वर्ष की आयु में मुनिदीक्षा ग्रहण की और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की अवस्था में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। ५१ वर्ष, १० मास और १० दिन तक आचार्य पद पर आसीन रहे। उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उक्त पट्टावली में उनका जीवनकाल ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन दर्शाया गया है। प्रो० हार्नले ने इसी समय को प्रामाणिक माना है। प्रो० ए० चक्रवर्ती नयनार ने भी इस समय को ही मान्यता दी है।^१

किन्तु पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उक्त पट्टावली में अनेक दोष बतलाये हैं। वे लिखते हैं—“इसमें प्राचीन आचार्यों का समय और क्रम बहुत कुछ गड़बड़ में पाया जाता है। उदाहरण के लिये पूज्यपाद (देवनन्दी) के समय को ही लीजिये, पट्टावली में वह वि० सं० २५८ से ३०८ तक दिया है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि पट्टावली में आचार्य पूज्यपाद के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का समय ई० सन् २०० के करीब बतलाया है, परन्तु इतिहास में जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, वह ४५० के करीब पाया जाता है, और इसलिये दोनों में करीब अढ़ाई

१. "If we take this date 8 B.C. as the reliable date of his accession to the pontifical chair then the date of his birth would be about 52 B.C. For, only in his forty - fourth year he became pontiff or an Ācārya." Pañcāstikāyasāra, The historical Introduction, p.V, by Prof. A. Chakravarti Nayanar.

सौ (२५०) वर्ष का भारी अन्तर है। इतिहास में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी का उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने वि० सं० ५२६ में **ज्ञाविडसंघ** की स्थापना की, परन्तु पट्टावली में पूज्यपाद के बाद दो आचार्यों (जयनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके चौथे (१३) नम्बर पर वज्रनन्दी का नाम दिया है और साथ ही उनका समय भी वि० सं० ३६४ से ३८६ तक बतलाया है। क्रमभेद के साथ-साथ इन दोनों समयों में भी परस्पर बहुत बड़ा अन्तर जान पड़ता है। इतिहास से वसुनन्दी का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी मालूम होता है, परन्तु पट्टावली में ६ठी शताब्दी (५२५-५३१) दिया है। इस तरह जाँच करने से बहुत से आचार्यों का समयादिक इस पट्टावली में गलत पाया जाता है, जिसे विस्तार के साथ दिखलाकर यहाँ इस निबन्ध को तूल देने की जरूरत नहीं है। ऐसी हालत में पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह पट्टावली कितनी संदिग्धवस्था में है और केवल इसी के आधार पर किसी के समयादिक का निर्णय कैसे किया जा सकता है? **प्रोफेसर हार्नले**,^२ **डाक्टर पिटर्सन**^३ और **डॉ० सतीशचंद्र**^४ ने इस पट्टावली के आधार पर ही उमास्वाति को ईसा की पहली शताब्दी का विद्वान् लिखा है और उससे यह मालूम होता है कि उन्होंने इस पट्टावली की कोई विशेष जाँच नहीं की, वैसे ही उसके रंग-ढंग पर से उसे ठीक मान लिया है।" (स्वामी समन्तभद्र / पृ.१४५-१४६)।

यह सत्य है कि उपर्युक्त पट्टावली में कुछ आचार्यों का समय और क्रम त्रुटिपूर्ण है। तथापि उसमें कुन्दकुन्द से लेकर चित्तौड़पट्ट के महेन्द्रकीर्ति (क्र० १०२, वि० सं० १९३८ = ई० सन् १८८१) तक कुन्दकुन्दान्वय में जितने पट्टधर हुए हैं, उनके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि उनका अस्तित्व अन्य पट्टावलियों एवं शिलालेखों से भी प्रमाणित है और उनका निर्दिष्ट पट्टकाल भी असंभव प्रतीत नहीं होता। अतः यदि कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती से नीचे लाया जाता है, तो इण्डियन एण्टिक्वेरी-पट्टावली में निर्दिष्ट १२८ पट्टधरों में से ५७ (१८+३९) का अस्तित्व मिथ्या घटित होता है, जो मिथ्या नहीं है। इसका सयुक्तिक प्रतिपादन अष्टम अध्याय के तृतीय प्रकरण (शीर्षक ६) में किया जा चुका है। अतः उक्त पट्टावली में निर्दिष्ट आचार्यों के समय एवं क्रम में संशोधन कर लेने के बाद भी कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी से नीचे नहीं लाया जा सकता।

उक्त पट्टावली में उमास्वाति के पश्चात् लोहाचार्य का नाम निर्दिष्ट है, जब कि नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में वह भद्रबाहु (द्वितीय) के पश्चात् है। इसका समाधान

२. The Indian Antiquary, Vol. XX, pp, 341-351.

३. Peterson's fourth report on Sanskrit manuscripts p.XVI.

४. History of the Mediaeval school of Indian Logic, pp., 8,9.

मुख्तार जी के अनुसार यह हो सकता है कि श्रवणबेलगोल के कितने ही शिलालेखों में उमास्वाति के प्रधान शिष्य-रूप से 'बलाकपिच्छ' का ही नाम दिया है। सम्भवतः लोहाचार्य उनका ही नामान्तर होगा। (स्वामी समन्तभद्र/पृ.१४५)।

मुख्तार जी ने इस शंका का भी निवारण किया है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध) में एकांगधरों का अस्तित्व था, जब कि कुन्दकुन्द एकांगधर नहीं थे, अतः उक्त समय में कुन्दकुन्द का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। मुख्तार जी का कथन है कि "अंगज्ञानी न होने पर भी कुन्दकुन्द का अंगज्ञानियों के समय में होना कोई असंभव या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। उस समय भी दूसरे ऐसे विद्वान् जरूर होते रहे हैं, जो एक भी अंग के पाठी नहीं थे।" (स्वामी समन्तभद्र/पृ.१७८)।

इस प्रकार 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली में कुन्दकुन्द का जो अस्तित्वकाल दर्शाया गया है वह किसी भी प्रकार बाधित नहीं होता। उक्त पट्टावली के अनेक दोषों की ओर इंगित करते हुए भी मुख्तार जी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "फिर भी उसमें उल्लिखित अनेक समयों के सत्य होने की संभावना है और इसलिए हमें यह देखना चाहिए कि कुन्दकुन्द के उक्त समय की सत्यता में प्रकारान्तर से कोई बाधा आती है या नहीं?" (स्वामी समन्तभद्र/पृ.१७६)।

यहाँ वे प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे उक्त पट्टावली में कुन्दकुन्द का जो समय (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) बतलाया गया है, उसकी दृढ़ता से पुष्टि होती। वे प्रमाण साहित्य और अभिलेखों में उपलब्ध हैं।

२

प्र. श. ई. की 'भगवती-आराधना' में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

२.१. भगवती-आराधना का रचनाकाल

प्रायः सभी विद्वानों ने भगवती-आराधना को अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ माना है। पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—“*भगवती-आराधना* की रचना कब हुई थी, इसके स्पष्ट जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।^५ --- आचार्य वट्टकेर का मूलाचार और यह भगवती-आराधना दोनों ग्रन्थ उस समय के हैं, जब मुनिसंघ और उसकी परम्परा अविच्छिन्नरूप

५. 'भगवती-आराधना और उसकी टीकाएँ' / 'अनेकान्त' / वर्ष १, किरण ३ / वि. सं. १९८६ / पृष्ठ १४८।

से चली आ रही थी और जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम की मुख्य शाखाएँ एक-दूसरे से इतनी अधिक जुदा और कटुभावापन्न नहीं हो गई थीं, जितनी कि आगे चलकर हो गईं। इन दोनों ही ग्रन्थों में ऐसी सैकड़ों गाथाएँ हैं, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं और जो दोनों सम्प्रदायों के जुदा होने के इतिहास की खोज करनेवालों को बहुत सहायता दे सकती हैं।^६

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में प्रेमी जी के मत का समर्थन इन शब्दों में किया है—“इसमें (भगवती-आराधना में) ग्रन्थकर्ता शिवार्य ने अपना जो विशेषण ‘पाणितलभोजी’ दिया है, उससे इतना तो साफ ध्वनित होता है कि इस ग्रन्थ की रचना उस समय हुई है, जब कि जैन समाज में करतलभोजियों के अतिरिक्त मुनियों का एक दूसरा सम्प्रदाय पात्र में भोजन करनेवाला भी उत्पन्न हो गया था। उसी से अपने को भिन्न दिखलाने के लिए इस विशेषण के प्रयोग की जरूरत पड़ी है। यह सम्प्रदायभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर-भेद है, जिसका समय उभय सम्प्रदायों द्वारा क्रमशः वि० सं० १३६ तथा वी० नि० सं० ६०९ (वि० सं० १३९) बतलाया जाता है। इससे यह ग्रन्थ इस भेदारम्भ-समय के कुछ बाद का अथवा इसके करीब का रचा हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।”^७

मुनि कल्याणविजय जी ने भी निम्नलिखित वक्तव्य में भगवती-आराधना को प्राचीन ग्रन्थ कहा है—“यद्यपि शिवभूति ने वस्त्रपात्र न रखने का उत्कृष्ट जिनकल्प स्वीकारा था, तथापि आगे जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का उत्कृष्ट मार्ग अधिक समय तक चलना कठिन है। अतः एव उन्होंने साधुओं के आपवादिक लिंग को भी स्वीकार किया। पाठकगण हमारी इस बात को कोरी कल्पना न समझें, क्योंकि इसी सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों से यह बात प्रमाणित होती है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के

६. वही / पृष्ठ १४९।

७. क— ‘भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ’/‘अनेकान्त’/वर्ष १/किरण ३/वि.सं.१९८६ / पादटिप्पणी / पृ.१४८।

ख—प्रस्तुत ग्रन्थ के ‘दिगम्बर-श्वेताम्बरभेद का इतिहास’ अध्याय में सप्रमाण दर्शाया गया है कि दिगम्बर-श्वेताम्बरभेद अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था। देवसेन ने ‘दर्शनसार’ में उक्त भेद का काल जो वि.सं. १३६ बतलाया है। वह प्रामाणिक नहीं है। इसी प्रकार श्वेताम्बरग्रन्थों में जो वीर नि.सं. ६०९ (वि.सं.१३९) में बोटिक शिवभूति को दिगम्बरसम्प्रदाय का प्रवर्तक वर्णित किया गया है, वह भी समीचीन नहीं है। बोटिक शिवभूति दिगम्बरमत का प्रवर्तक नहीं था, अपितु उसने श्वेताम्बरमत को छोड़कर दिगम्बरमत स्वीकार किया था। इसका निरूपण द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है।

धुन्धर आचार्य आर्य शिव, जो कि स्वयं हस्तभोजी थे, अपने 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ में लिखते हैं—'जो औत्सर्गिक लिङ्ग में रहनेवाला हो, उसके लिए तो वह है ही, पर आपवादिक लिंगवाले को भी संथारा लेने के समय औत्सर्गिक लिङ्ग (नग्नता) धारण करना श्रेष्ठ है।' (श्र.भ.म./पृ.२९६)।

मुनि जी ने शिवभूति को यापनीयसम्प्रदाय का संस्थापक मानकरं ये उद्गार व्यक्त किये हैं। किन्तु शिवभूति यापनीयसम्प्रदाय का संस्थापक नहीं था, अपितु उसने श्वेताम्बरसम्प्रदाय को छोड़कर दिगम्बरसम्प्रदाय अपनाया था, इस तथ्य का सप्रमाण प्रदर्शन द्वितीय अध्याय में किया गया है। यहाँ केवल यह बात ध्यान देने योग्य है कि मुनि जी ने भगवती-आराधना को शिवभूति के विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाला ग्रन्थ माना है, जिससे सिद्ध होता है कि वह शिवभूति के बराबर ही पुराना है। यह संभव है कि उसकी रचना शिवभूति के ही द्वारा की गई हो। निम्नलिखित विद्वानों का ऐसा ही मत है।

प्रो० हीरालाल जी जैन अपने एक पुराने लेख में लिखते हैं—“आवश्यकमूल-भाष्य के अनुसार जिन शिवभूति ने बोटिकसंघ की स्थापना की थी, वे स्थविरावली में उल्लिखित आर्य शिवभूति तथा भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य एवं उमास्वाति के गुरु शिवश्री से अभिन्न हैं।”^८

डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने शिवार्य के समय का विचार करते हुए लिखा है—“शिवार्य सम्भवतः श्वेताम्बर-परम्परा के शिवभूति हैं। ये उत्तरापथ की मथुरा नगरी से सम्बद्ध हैं और इन्होंने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्ध में निवास किया था। बहुत सम्भव है कि शिवार्य भी कुन्दकुन्द के समान सरस्वती-आन्दोलन से सम्बद्ध रहे हों। वस्तुतः शिवार्य ऐसे जैनमुनियों की शाखा से सम्बन्धित हैं, जो उन दिनों न तो दिगम्बरशाखा के ही अन्तर्गत थी और न श्वेताम्बर शाखा के ही। वे यापनीयसंघ के आचार्य थे। अतएव मथुरा-अभिलेखों से प्राप्त संकेतों के आधार पर इनका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।”^९

शिवार्य यापनीय-परम्परा के आचार्य नहीं थे, अपितु वे दिगम्बर ही थे, इसके प्रमाण त्रयोदश अध्याय में द्रष्टव्य हैं। हाँ, यह हो सकता है कि वे श्वेताम्बरपरम्परा के वही बोटिक शिवभूति हों, जिन्होंने श्वेताम्बरमत छोड़कर दिगम्बरमत स्वीकार कर

८. 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' (दिगम्बर जैन सिद्धान्तदर्पण (द्वितीय अंश) / सम्पादक : श्री रामप्रसाद शास्त्री / बम्बई / १२ दिसम्बर, १९४४ / पृष्ठ १०)।

९. The Jain Sources of the History of Ancient India, pp.130-31 (तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा / खण्ड २ / पृ.१२७ से उद्धृत)।

लिया था और दिगम्बर मुनि बन गये थे, दिगम्बर मुनि बनने के बाद उन्होंने ही 'भगवती-आराधना' की रचना की हो।

इस प्रकार पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भगवती-आराधना का रचना काल वि० सं० १३९ (ई० सन् ८२) माना है तथा शेष विद्वान् भी भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य को बोटिक शिवभूति से अभिन्न मान कर इसी समय में भगवती-आराधना की रचना होने के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, क्योंकि बोटिक शिवभूति ने वीर नि० सं० ६०९ अर्थात् ई० सन् ८२ में ही दिगम्बरमत ग्रहण किया था। इस तरह 'भगवती-आराधना' प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध की कृति है। पर वह इसी समय रचे गये मूलाचार से निश्चित ही पूर्ववर्ती है, क्योंकि मूलाचार में आराधनानिर्युक्ति के नाम से भगवती-आराधना का उल्लेख किया गया है। यथा—

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।

पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥ २७९ ॥

अनुवाद—“अस्वाध्याय काल में आराधनानिर्युक्ति (आराधना का कथन करने वाला ग्रन्थ), मरणविभक्ति (सत्रह प्रकार के मरण का प्रतिपादक ग्रन्थ), संग्रहग्रन्थ, स्तुतिग्रन्थ, प्रत्याख्यानग्रन्थ, आवश्यकक्रिया-प्रतिपादकग्रन्थ, धर्मकथाग्रन्थ तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं।”

दिगम्बर साहित्य में निर्युक्ति का अर्थ शास्त्र है।^{१०} अतः उक्त गाथा में 'आराधना-निर्युक्ति' शब्द के द्वारा 'भगवती-आराधना' नामक शास्त्र का निर्देश किया गया है। डॉ० सागरमल जी ने उपर्युक्त गाथा में 'आराधना' शब्द से 'भगवती-आराधना' का ही उल्लेख माना है। वे लिखते हैं—

“आराधना के नाम से सुपरिचित ग्रन्थ शिवार्य का भगवती-आराधना या मूलाराधना है। यह सुस्पष्ट है कि भगवती-आराधना मूलतः दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीयसंघ का ग्रन्थ है। मूलाचार में जिस 'आराधना' का निर्देश किया गया है, वह संभवतः भगवती-आराधना हो, क्योंकि 'मूलाचार' भी उसी यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है और मूलाचार के रचनाकार ने सर्वप्रथम उसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है।” (जै.ध.या.स. / पृ. १३७)।

यद्यपि भगवती-आराधना और मूलाचार दोनों यापनीयपरम्परा के नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं, इसके प्रमाण इन्हीं नामोंवाले उत्तरवर्ती अध्यायों में द्रष्टव्य हैं, तथापि डॉक्टर सा० का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि 'दोनों एक ही

१०. देखिए , अध्याय १५ / प्रकरण २ / शीर्षक ९।

(दिगम्बर) परम्परा के ग्रन्थ हैं,' इसलिए मूलाचार के कर्ता ने उक्त गाथा में दिगम्बर-परम्परा के ही भगवती-आराधना ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह उल्लेख 'भगवती-आराधना' के 'मूलाचार' से पूर्ववर्ती होने का संकेत करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी विद्वानों ने भगवती-आराधना का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। किन्तु डॉ० सागरमल जी का कथन है कि भगवती-आराधना में पाँचवी शती ई० से पूर्व के श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं, पाँचवी शताब्दी ई० में विकसित गुणस्थान-सिद्धान्त का उल्लेख है और 'विजहना' (मुनि के शव को जंगल में रख देने) की चर्चा है, जो छठी शती ई० के श्वेताम्बरीय भाष्यग्रन्थों और ७वीं शती ई० के चूर्णि-साहित्य में भी है। अतः भगवती-आराधना इसी समय की रचना है। (जै. ध. या. स. / पृ. १२९-१३०)।

किन्तु प्रकीर्णकों की रचना भगवती-आराधना की रचना के अनन्तर हुई है तथा डॉक्टर सा० की गुणस्थान-सिद्धान्त के विकसित होने की मान्यता कपोलकल्पित है एवं ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय की समानता उनके रचनाकाल की समानता का प्रमाण नहीं है, इन तथ्यों का सप्रमाण-सयुक्तिक प्रतिपादन 'भगवती-आराधना' नामक तेरहवें अध्याय में द्रष्टव्य है। अतः डॉक्टर सा० की यह मान्यता मिथ्या है कि भगवती-आराधना की रचना भाष्य और चूर्णियों के रचनाकाल (६-७वीं शती ई०) में हुई है। उपर्युक्त विद्वानों की युक्तियाँ उसे प्रथम शती ई० की रचना सिद्ध करती हैं।

२.२. भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण

ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध में रचित भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ संगृहीत की गयी हैं। निम्नलिखित गाथाएँ तो ज्यों की त्यों पायी जाती हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिञ्जंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिञ्जंति॥

बा.अ.१९ / दं.पा.३ / भ.आ. ७३७।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती॥

नियमसार ६९ / भ.आ. ११८१।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा॥

नियमसार ७० / भ.आ. ११८२।

अद्भुतमसरणमेयत्तमण्णसंसारलोयमसुचित्तं।

आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो॥

बारस अणुवेक्खा २ / भ.आ. १७१०।

अधोलिखित गाथाएँ कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होती हैं—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलघराकिण्णे।

जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि॥ ५६॥

बारस अणुवेक्खा।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे।

जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि॥ १८१५॥

भगवती-आराधना।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥ ३/३८॥

प्रवचनसार।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण॥ १०८॥

भगवती-आराधना।

महिलालोयणपुव्वरइ-सरणसंसत्त-वसहि-विकहाहिं।

पुट्टियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि॥ ३४॥

चारित्तपाहुड।

महिलालोयणपुव्वरदि-सरणसंसत्त-वसहि-विकहाहिं।

पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंधस्स॥ १२०४॥

भगवती-आराधना।

अपरिग्गह-समणुण्णेसु सद्-परिसरसरूव-गंधेसु।

रायहोसाईणं परिहारो भावणा हंति॥ ३५॥

चारित्तपाहुड।

अपरिग्गहस्स मुणिणो सहपरिसरसरूवगंधेसु।

रागहोसादीणं परिहारो भावणा हंति॥ १२०५॥

भगवती-आराधना।

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।

सुहमेहिं वादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं॥

प्रवचनसार २ / ७६, पंचास्तिकाय ६४।

ओगाढगाढणिचिदो पुगलदव्वेहिं सव्वदो लोगो।

सुहमेहिं षादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव॥ १८१८॥

भगवती-आराधना।

ये गाथाएँ कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों से भगवती-आराधना में ली गई हैं, इसका प्रमाण यह है कि उपर्युक्त गाथाओं में 'दंसणभट्टा' और 'जं अण्णाणी' को छोड़कर कोई भी गाथा श्वेताम्बरग्रन्थों में नहीं मिलती। 'अद्भुवमसरण' गाथा तो ऐसी है कि इसमें वर्णित बारह अनुप्रेक्षाएँ भी किसी श्वेताम्बर-आगम में एक साथ उपलब्ध नहीं हैं। 'दंसणभट्टा' गाथा श्वेताम्बरीय प्रकीर्णक ग्रन्थ भक्तपरिज्ञा में हैं, किन्तु उसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी ई० है। (देखिये, पा. टि. ७६)। अतः उससे भगवती-आराधना में नहीं आ सकती। 'जं अण्णाणी कम्मं' गाथा विमलसूरि के षडमचरिय^{११} तथा श्वेताम्बरीय प्रकीर्णक ग्रन्थ तित्थोगालिय या तित्थोगालियपयन्नु^{१२} (तीर्थोद्गार) में भी है। इनमें से तित्थोगालियपयन्नु को मुनि श्री कल्याणविजय जी ने विक्रम की चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवी शताब्दी के आरंभ में रचित स्वीकार किया है।^{१३} "विमलसूरि ने षडमचरिय का रचनाकाल यद्यपि वीरनिर्वाण सं० ५३० (ई० सन् ३) बतलाया है, किन्तु डॉ० हर्मन जेकोबी ने ग्रन्थ का अन्तःपरीक्षण कर इसका रचनाकाल ईसवी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी सिद्ध किया है। डॉ० कीथ, डॉ० वूल्लर आदि पाश्चात्य विद्वान्, मुनि जिनविजय जी, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० परमानन्द शास्त्री आदि जैन विद्वान् तथा डॉ० के० एच० ध्रुव आदि जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रन्थ को अर्वाचीन मानने के पक्ष में हैं।"^{१४} इस विषय में माननीया श्वेताम्बर साध्वी संघमित्रा जी अपना मत प्रकट करते हुए लिखती हैं—“मेरे अपने अभिमत से काव्यगत कालसंवत् (षडमचरिय-काव्यसम्बन्धी कालसंवत्) के निरसन में डॉ० हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों द्वारा प्रदत्त युक्तियों में सर्वाधिक सबल आधार विमलसूरि की गुरु-परम्परा का नाइल कुल से सम्बन्धित होना है। इस शाखा का जन्म वी० नि० ५८०-६०० से पहले किसी प्रकार

११. जं अन्नाणतवस्सी खवेइ भवसयसहस्स कोडेहिं।

कम्मं तं तिहि गुत्तो खवेइ नाणी मुहुत्तेण॥ १२०, १७७॥ षडमचरिय।

१२. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।

तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ १२१३॥ तित्थोगालियपयन्नु।

१३. क— डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास/पृष्ठ १२३।

ख— "तित्थोगालिय में उल्लिखित अनेक मान्यताएँ श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मान्य नहीं और आगमों के व्युच्छिन्न होने का क्रम भी संगत प्रतीत नहीं होता : मुनि पुण्यविजय जी 'जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय' ज्ञानाञ्जलि, ४७।" वही/पा.टि./पृ.१२३।

१४. साध्वी संघमित्रा : जैनधर्म के प्रभावक आचार्य/पृ.२४४,२४५।

से भी संभव नहीं है। डॉ० के० आर० चन्द्र ने काव्यगत वी० नि० सं० ५३० को वि० सं० ५३० मान लेने का अभिमत प्रकट किया है। यह अभिमत सब दृष्टियों से समुचित अनुभूत होता है।^{१४}

चूँकि भगवती-आराधना का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की प्रथम शताब्दी निर्धारित किया है, अतः उसमें उपर्युक्त गाथा उससे तीन सौ वर्ष बाद रचे गये पउमचरिय और तित्थोगालिय से नहीं आ सकती। इसलिए सिद्ध है कि वह प्रवचनसार से ही भगवती-आराधना में ग्रहण की गई है। तथा वह प्रवचनसार में तो प्रकरण के अनुरूप है, किन्तु भगवती-आराधना में प्रकरण से मेल नहीं खाती। प्रवचनसार की उक्त गाथा (३/३८) में त्रिगुप्ति (संयम) से प्रचुर कर्मों का शीघ्र क्षय होना बतलाया गया है और वह संयम के प्रकरण में ही निबद्ध है, जो पूर्वापर गाथाओं से स्पष्ट है। किन्तु भगवती-आराधना में वह स्वाध्यायतप के प्रकरण में रखी गई है, जो प्रकरणानुरूप नहीं है। इससे सिद्ध है कि भगवती-आराधना में वह प्रवचनसार से ही ग्रहण की गई है।

२.३. कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में 'भगवती-आराधना' की गाथाएँ नहीं

'दंसणभट्टा' गाथा कुन्दकुन्द के दंसणपाहुड से ही भगवती-आराधना में आयी है, यह निम्नलिखित हेतुओं से सिद्ध होता है—

क—दंसणपाहुड में दंसण और भट्टा शब्दों के प्रयोग के अनुरूप शब्दगत प्रसंग विद्यमान है, जबकि भगवती-आराधना में नहीं है। सर्वप्रथम ग्रन्थ का नाम ही दंसणपाहुड या दंसणमग्गो है और मंगलाचरण में ही 'दंसणमग्गं वोच्छामि' कहकर दंसण शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके बाद दूसरी गाथा में 'दंसणमूलो धम्मो' वाक्यांश में दंसण शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार तीसरी गाथा में 'दंसण भट्टा भट्टा' शब्दों के प्रयोग के अनुरूप शब्दगत प्रसंग दंसणपाहुड में उपलब्ध होता है, जबकि भगवती-आराधना में 'दंसण भट्टो भट्टो' गाथा के पूर्व किसी भी गाथा में दंसण शब्द का प्रयोग नहीं है। यह गाथा सम्यक्त्वभावना के अन्तर्गत है और इसकी पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सभी गाथाओं में सम्पत्त शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। अतः इस गाथा में अचानक दंसण शब्द का प्रयोग शब्दगत प्रसंग के विरुद्ध हो जाने से अस्वाभाविक लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि दंसणभट्टो गाथा भगवती-आराधनाकार द्वारा रचित नहीं है, अपितु दंसणपाहुड से उठाकर वहाँ रख दी गई है तथा वैसी ही एक गाथा और ग्रन्थकार ने रचकर उसके बाद जोड़ दी है।

ख—दूसरी बात यह है कि दंसणपाहुड की दूसरी गाथा में 'दंसणमूलो धम्मो' (सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है) इस जैनशासन के प्राणभूत महान् सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया गया है। सम्यग्दर्शन धर्म (मोक्षमार्ग) का मूल क्यों है, इस प्रश्न का समाधान किया जाना आवश्यक था। इस हेतु 'दंसणभट्टा भट्टा', 'सम्मत्तरयणभट्टा' तथा 'सम्मत्तविरहिया' ये तीन उत्तरवर्ती गाथाएँ रची गई हैं। पहिली में बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाने पर चारित्र के रहते हुए भी मोक्ष नहीं हो सकता, दूसरी में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाने पर बहुत से शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी मुक्ति संभव नहीं है तथा तीसरी में दर्शाया गया है कि सम्यग्दर्शन के बिना उग्र तप करने पर भी मोक्ष असंभव है। इन तीनों गाथाओं से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि सम्यग्दर्शन धर्म (मोक्षमार्ग) का मूल क्यों है ? इस प्रकार 'दंसणभट्टा भट्टा' गाथा के रचे जाने के लिए दंसणपाहुड में अर्थगत प्रसंग या हेतु भी विद्यमान है, जिसका भगवती-आराधना में अभाव है।

यद्यपि भगवती-आराधना की उक्त गाथा से पूर्व की दो गाथाओं में सम्यक्त्व को ज्ञान, चारित्र, वीर्य, और तप का आधार तथा मूल कहा गया है।^{१५} तथापि उसे धर्म (मोक्षमार्ग) का मूल न कहे जाने से 'दंसणभट्टो भट्टो' गाथा का कथन उस तरह सहेतुक सिद्ध नहीं होता, जिस तरह से दंसणपाहुड में होता है। इसके अतिरिक्त सम्यक्त्व को ज्ञान, चारित्र आदि का मूल कहनेवाली गाथा के पश्चात् निम्नलिखित गाथा आ जाती है।

भावाणुराग-पेमाणुराग-मज्जाणुराग-रत्तो व्वा।

धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३६ ॥

अनुवाद—“इस जगत् में कोई परपदार्थों का अनुरागी है, कोई स्नेहीजनों का प्रेमानुरागी है और कोई मद्यानुरागी है, किन्तु तुम जिनशासन में रहकर सदा धर्मानुरागी रहो।”

इससे प्रसंग बदल जाता है और इस गाथा के बाद रखी गई 'दंसणभट्टो भट्टो' गाथा अर्थ की दृष्टि से पूर्वापरसम्बन्ध-रहित हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि यह गाथा शिवार्य ने दंसणपाहुड से लेकर बीच में प्रविष्ट की है।

ग—दंसणपाहुड में दंसणभट्टा तथा भट्टा शब्दों का प्रयोग अनेक गाथाओं में किया गया है, जैसे—'दंसणभट्टा' (गाथा ३), 'सम्मत्तरयणभट्टा' (गाथा ४), 'जिणदंसणभट्टा' (गाथा १०), 'दंसणेषु भट्टा' (गाथा १२) तथा निम्नलिखित गाथा में—

१५. मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।

सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३४ ॥

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।

तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥ भगवती-आराधना।

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य।
एदे भट्टविभट्टा सेसं पि जणं विणासंति॥ ८॥

इसके विपरीत भगवती-आराधना में दंसणपाहुड से ग्रहण की गई उक्त गाथा और उसके आधार पर शिवार्य द्वारा रची गई वैसी ही एक गाथा के अतिरिक्त और किसी भी गाथा में उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। “दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं” इस गाथा से विपरीतरूपेण शब्दार्थगत साम्य रखनेवाली गाथा भी कुन्दकुन्द के मोक्खपाहुड में मिलती है। यथा—“दंसणसुद्धो सुद्धो, दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं” (गा.३९)।

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि दंसणभट्टा, णाणभट्टा, चरियभट्टा तथा ‘दंसणभट्टा भट्टा’ से विपरीत शब्दार्थवाले ‘दंसणसुद्धा सुद्धा’ आदि प्रयोग कुन्दकुन्द के विशिष्ट प्रयोग हैं। यह उनकी अपनी शब्दावली है। ये प्रयोग उनकी शैली के अंग हैं। अतः ‘दंसणभट्टा भट्टा’ गाथा कुन्दकुन्दकृत ही है, जो शिवार्य द्वारा अपना ली गई है।

घ—भगवती-आराधनाकार ने ‘दंसणभट्टा भट्टा’ गाथा के अनुकरण पर निम्नलिखित गाथा स्वयं निबद्ध की है—

दंसणभट्टो भट्टो ण हु भट्टो होइ चरणभट्टो हु।
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे॥ ७३८॥

इसमें शिवार्य ने कुन्दकुन्द के भाव को और स्पष्ट किया है। ‘दंसणभट्टा भट्टा’ कुन्दकुन्द की इस उक्ति से ‘ण हु भट्टो होइ चरणभट्टो हु’ यह अर्थ स्वतः ध्वनित होता है। तथा ‘दंसणभट्टा ण सिञ्झंति’ इस उक्ति से ‘दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे’ (सम्यग्दर्शन का परित्याग न करनेवाले का संसार में पतन नहीं होता) यह अर्थ अपने आप आक्षिप्त होता है। तथापि शिवार्य ने इन अर्थों को शब्दों के द्वारा वाच्य बनाकर सर्वथा स्पष्ट कर दिया है।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द ने दंसणपाहुड की ‘दंसणभट्टा भट्टा’ गाथा स्वयं न रची होती, अपितु भगवती-आराधना से ग्रहण की होती, तो वे शिवार्य द्वारा रचित उत्तरगाथा भी ग्रहण करते, क्योंकि वह शब्द और अर्थ में पूर्व गाथा के ही समान है। किन्तु वह दंसणपाहुड और बारस अणुवेक्खा दोनों में पूर्वगाथा के साथ उपलब्ध नहीं है, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने पूर्वगाथा भगवती-आराधना से ग्रहण नहीं की है, अपितु स्वयं रची है तथा भगवती-आराधना के कर्ता ने ही दंसणपाहुड से उसे संगृहीत किया है और उसके अनुकरण पर उक्त दूसरी गाथा की रचना की है।

तथा शुद्धमय,^{१६} भूतार्थनय, निश्चयनय, परमार्थनय, व्यवहारनय, अभूतार्थनय यह भी आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्मग्रन्थों की अध्यात्म-भाषागत पदावली है और इसके प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं, क्योंकि अध्यात्मग्रन्थों के आद्यकर्ता वे ही हैं। भगवती-आराधना की गाथाओं पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, यथा—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिद्विस्स वेति अण्णाणं।

तम्हा मिच्छादिद्वी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥ भ.आ.।

निम्नलिखित गाथांश भी तुलनीय हैं—

मोत्तूण णिच्छयदुं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ॥ १५६ ॥ स.सा.।

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्टवेइ सो तस्स ॥ ४५३ ॥ भ.आ.।

अप्पाणमयाणंतो ----- ॥ २०२ ॥ स.सा.।

ववहारमयाणंतो ----- ॥ ४५४ ॥ भ.आ.।

इन उदाहरणों से भी प्रकट होता है कि भगवती-आराधना पर कुन्दकुन्द की भाषाशैली का प्रभाव है। इस प्रकार ये सारे प्रमाण सिद्ध करते हैं कि पूर्वोक्त गाथाएँ कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों से भगवती-आराधना में संगृहीत की गई हैं। यतः भगवती-आराधना का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है, अतः सिद्ध है कि कुन्दकुन्द उससे पूर्व हुए थे।

३

प्र. श. ई. के मूलाचार में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

३.१. मूलाचार का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई०

पूर्व में भगवती-आराधना के रचनाकाल पर दृष्टिपात करते समय पं० नाथूराम जी प्रेमी के वचन उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि मूलाचार उतना ही पुराना ग्रन्थ है, जितनी भगवती-आराधना और भगवती-आराधना को प्रेमी जी, मुख्तार जी, मुनि श्री कल्याणविजय जी, प्रो० हीरालाल जी एवं डॉ० ज्योतिप्रसाद जी ने प्रथम शताब्दी ई० की कृति माना है। वहाँ यह भी दर्शाया गया है कि भगवती-आराधना की रचना मूलाचार से कुछ पहले हुई है। अतः भगवती-आराधना को प्रथम शती ई० के तृतीय चरण में और मूलाचार को चतुर्थ चरण में रचित मानना युक्तिसंगत

१६. क— “ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ॥” ११ ॥ समयसार।

ख— “सुद्धणयस्स दु जीवे ----- ॥” १४१ ॥ समयसार।

होगा। मूलाचार के प्रथम शती ई० में रचित होने की पुष्टि निम्नलिखित प्रमाणों से होती है—

३.२. प्र.-द्वि. श. ई. के तत्त्वार्थसूत्र में मूलाचार का अनुकरण

षट्खण्डागम-परिशीलन के कर्ता पं० बालचन्द्र जी शास्त्री ने मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र का तुलनात्मक अध्ययन कर बतलाया है कि तत्त्वार्थसूत्र में व्रत नियमादि की प्ररूपणा मूलाचार के पंचाचाराधिकार के आधार पर तथा योनि, आयु, लेश्या व बन्ध आदि की प्ररूपणा उसके पर्याप्ति-अधिकार के आधार पर हुई है, क्योंकि दोनों की निरूपणाओं में शब्द, अर्थ और विषयक्रम का अत्यधिक साम्य है (षट्. परि. / पृ.१८२)। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

तत्त्वार्थसूत्र — अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-
कायक्लेशा बाह्यं तपः। (त.सू./९/१९)।

मूलाचार — अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वृत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥ ३४६ ॥

भग.आरा. — अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वृत्तिपरिसंखा।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥ २१० ॥

व्याख्याप्रज्ञ. — बाहिरए तवे छव्विहे पणणत्ते, तं जहा—अणसण ऊणोयरिया
भिव्खायरिया य रसपरिच्चाओ कायकिलेसो पडिसंलीणया
वज्झो (तवो होई)। २५/७/८०२।^{१७}

इन उदाहरणों में तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित बाह्यतप के भेदों का साम्य मूलाचारवर्णित भेदों से है। भगवती-आराधना में विविक्तशय्या के साथ आसन शब्द का उल्लेख नहीं है। तथा श्वेताम्बरीय व्याख्याप्रज्ञप्ति में उल्लिखित ऊनोदर, भिक्षाचर्या और प्रतिसंलीनता (विविक्तशयनासन) ये नाम तत्त्वार्थसूत्रगत नामों से विसदृश हैं। इससे निश्चित होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपर्युक्त सूत्र की रचना में मूलाचार का अनुकरण किया है।

तत्त्वार्थसूत्र — प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। ९/२०।

मूलाचार — पायच्छित्तं विणयं वेजावच्चं तहेव सज्जायं।

झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥ ३६० ॥

व्याख्याप्रज्ञ.—अब्भंतरए तवे छव्विहे पणणत्ते तं जहा—पायच्छित्तं विणओ
वेयावच्चं तहेव सज्जाओ झाणं विउस्सग्गो। २५/७/८०२।^{१८}

१७. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय / ९/१९/पृ.२१४।

१८. वही / ९/२०/पृ.२१४।

उक्त तीनों ग्रन्थों के वर्णन में साम्य है, तथापि तत्त्वार्थसूत्रकार ने बाह्यतप-भेदसूचक सूत्र की रचना मूलाचार के आधार पर की है, इससे अनुमान होता है कि आभ्यन्तरतप भेदसूचक सूत्र की रचना में भी उसी का अनुकरण किया है।

स्वाध्याय के पाँचभेदों का नामोल्लेख करनेवाले “वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मो-पदेशः” (९/२५) इस ‘तत्त्वार्थ’ के सूत्र की रचना मूलाचार की निम्नगाथा के आधार पर की गई है—

परियदृणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
धुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सण्डाओ॥ ३९३॥

अनुवाद—“परिवर्तन (आम्नाय)^{१९} वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय है, जो स्तुतिमंगलपूर्वक किया जाता है।”

कुन्दकुन्दसाहित्य और भगवती-आराधना में इस प्रकार की गाथा उपलब्ध नहीं है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (श० २५/उ० ७/सू० ८०२) में उक्त पाँच भेदों का वर्णन है,^{२०} किन्तु पूर्व उदाहरण इसी अनुमान पर पहुँचाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त सूत्र में भी मूलाचार का ही अनुकरण किया है।

मूलाचार की निम्नलिखित गाथा में दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय, ये पाँच प्रकार के विनयतप बतलाये गये हैं—

दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ॥ ३६४॥

इनमें से तपोविनय का चारित्रविनय में अन्तर्भाव कर तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस गाथा के आधार पर “ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।” (९/२३) सूत्र रचा है।

इस प्रकार की गाथा भगवती-आराधना में भी है—

विणओ पुण पंचविहो णिहिदुो णाणदंसणचरित्ते।
तवविणओ य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ॥ १११॥

किन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि छह आभ्यन्तरतपों और पंचविध स्वाध्याय के नामों का निर्देश करनेवाली गाथाएँ केवल मूलाचार में हैं, कुन्दकुन्दसाहित्य और

१९. “घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः” (सर्वार्थसिद्धि ९/२५) अर्थात् उच्चारण-शुद्धिपूर्वक पाठ को बार-बार दुहराना आम्नाय है।

२०. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय/९/२५/पृ.२१७।

भगवती-आराधना में नहीं। अतः मूलाचार की गाथाओं के आधार पर ही तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त सूत्रों की रचना की है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने अन्यत्र भी भगवती-आराधना की बजाय मूलाचार का ही उपयोग किया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के निम्नलिखित वाक्य में सात प्रकार के विनयों का वर्णन किया गया है—“विणए सत्तविहे पणत्ते, तं जहा—णाणविणए दंसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए।” व्या. प्र./२५ / ७/८०२।

तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्विध विनयों और व्याख्याप्रज्ञप्ति के सप्तविध विनयों में संख्या की दृष्टि से बहुत अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति का अनुकरण नहीं किया।

तत्त्वार्थसूत्र के बन्धहेतु, बन्धलक्षण, बन्धप्रकार तथा बन्धप्रकृतियों के मूलोत्तर-भेद-प्रतिपादक सूत्रों और मूलाचार की तद्विषयक गाथाओं में शब्द, अर्थ और वर्णनक्रम का घनिष्ठ साम्य है, जिससे यह बात छिपी नहीं रहती कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त सूत्रों की रचना में मूलाचार की गाथाओं का अनुकरण किया है।^{२१} उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तत्त्वार्थसूत्र — मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। ८/१।

मूलाचार — मिच्छादंसणअविरदिकसायजोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदवो ते दु णायव्वा ॥ १२२५ ॥

तत्त्वार्थसूत्र — सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ८/२।

मूलाचार — जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥ १२२६ ॥

तत्त्वार्थसूत्र — प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः। ८/३।

मूलाचार — पयडिड्ढिदिअणुभागप्पदेसबंधो य चदुविहो होइ।
दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव ॥ १२२७ ॥

तत्त्वार्थसूत्र — आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः। ८/४।

मूलाचार — णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणियं।
आउग-णामा-गोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥ १२२८ ॥

तत्त्वार्थसूत्र — पञ्चनवद्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम्।
८/५।

मूलाचार — पंच णव दोणिण अट्टावीसं चदुरो तहेव वादालं।
दोणिण य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव॥ १२२९॥

इसके बाद ज्ञानावरणादि की उत्तरप्रकृतियों का नामनिर्देश तथा उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों का निरूपण भी दोनों ग्रन्थों (तत्त्वार्थसूत्र ८/६-२०, मूलाचार/ गा. १२३०-४५) में समान क्रम और समान शब्दों में किया गया है।^{२२} केवलज्ञानोत्पत्तिविषयक इन निरूपणों में भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है^{२३}—

तत्त्वार्थसूत्र — मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। १०/१।

मूलाचार — मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव।
उव्वज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं॥ १२४८॥

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण अष्टम अध्याय मूलाचार के पर्याप्ति-अधिकार की लगभग २४ गाथाओं का अनुकृत रूप है। इसके अतिरिक्त जीवों की सचित्तादि योनियों, वेदव्यवस्था, लेश्यास्वामित्व एवं प्रवीचार आदि की प्ररूपणा भी तत्त्वार्थसूत्र में मूलाचार^{२४} के आधार पर की गयी है। पंचमहाव्रतों की पच्चीस भावनाओं एवं पाँच समितियों के नाम-निर्देशक तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र भी 'चारित्तपाहुड' (३२-३७), नियमसार (६१-६५), सूत्र के भगवती-आराधना (१२००-१२०५) या मूलाचार (३३७-३४१, १०) की गाथाओं के आधार पर निबद्ध किये गये हैं। भगवती-आराधना और मूलाचार की ये गाथाएँ सर्वथा सदृश हैं, चारित्तपाहुड की गाथाओं से भी इनकी पर्याप्त समानता है। 'महिला लोयण-पुव्वरइ' गाथा तो चारित्तपाहुड (३४), भगवती-आराधना (१२०४) और मूलाचार (३४०) तीनों में ज्यों की त्यों है। तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त सूत्रों का जहाँ चारित्तपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार की गाथाओं से शब्दगत और अर्थगत निकट सादृश्य है, वहाँ श्वेताम्बरीय समवायांग के वाक्यों से अल्पाधिक वैषम्य है,^{२५} जिससे सिद्ध होता है कि उक्त सूत्रों की रचना चारित्तपाहुड आदि दिगम्बरग्रन्थों का अनुकरण कर की गयी है।

२२. वही / पृ. १८३।

२३. वही / पृ. १८३।

२४. मूलाचार / गाथा ११०१-११०३, ११३०-११३२, ११३६-११३८, ११४१-११४५।

२५. देखिए, उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामकृत 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' / पृ० १५७-१६०।

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि मूलाचार की रचना प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के तत्त्वार्थसूत्र से पहले हुई है, अतः वह प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का ग्रन्थ है।

३.३. मूलाचार में तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण नहीं

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि संभव है मूलाचार के कर्ता ने ही तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण किया हो, किन्तु निम्नलिखित कारणों से यहा शंका निरस्त हो जाती है—

१. तत्त्वार्थसूत्र एक लघु संग्रहग्रन्थ है^{२६} और मूलाचार आचार्यपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर रचित मौलिक ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने आचार्यप्रणीत ग्रन्थों से उन्हीं सामान्य तत्त्वों को चुनकर तत्त्वार्थसूत्र में संगृहीत किया है, जो आगम में प्रवेश के लिए प्रथमतः अध्येय हैं। ऐसे तत्त्वों को वे उन्हीं ग्रन्थों से चुन सकते थे, जिनमें प्रथमतः अध्येय सामान्य तत्त्वों का और उत्तरतः अध्येय विशेष तत्त्वों का समान-रूप से प्ररूपण हो। तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती ऐसे ग्रन्थ कसायपाहुड, षट्खण्डागम, कुन्दकुन्द-ग्रन्थ, भगवती-आराधना और मूलाचार ही हैं। अतः उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के लिए इन्हीं ग्रन्थों से प्रारंभिक कक्षा में पठनीय विषयवस्तु चुनी है।

२. जैनपरम्परा में आगमग्रन्थ मूलतः प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। संस्कृत में ग्रन्थ लिखने का प्रचलन उत्तरकालीन है। और तत्त्वार्थसूत्र में जो सामान्य विषयवस्तु है, वह उपर्युक्त प्राकृत ग्रन्थों में ही उपलब्ध है। अतः अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपर्युक्त ग्रन्थों से ही तत्त्वार्थसूत्र की विषयवस्तु का चयन किया है।

३. यदि यह माना जाय कि मूलाचार के कर्ता ने ही तत्त्वार्थसूत्र से उक्त विषयवस्तु ग्रहण की है, तो पहला प्रश्न यह उठता है कि तब तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे कहाँ से ग्रहण किया? श्वेताम्बरग्रन्थों से ग्रहण करना संभव नहीं था, क्योंकि वे पाँचवी शताब्दी ई० में पुस्तकारूढ़ किये गये थे। डॉ० सागरमल जी ने भी यह बात स्वीकार की है। वे लिखते हैं—“श्वेताम्बरपरम्परा में मान्य वलभी-वाचना के जो आगम वर्तमान में प्रचलित हैं, वे भी इसका (तत्त्वार्थसूत्र का) आधार नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह वाचना उमास्वाति के पश्चात् लगभग ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध में हुई है। आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में हुई माथुरी वाचना के आगम इसका आधार हैं, ऐसा भी निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक तो यह वाचना भी

२६. तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममहर्द्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / सम्बन्धकारिका।

उमास्वाति के किञ्चित् पश्चात् ईसा की चौथी शती में हुई है, दूसरे इसके आगम आज उपलब्ध नहीं हैं। संभावना यही है कि इस ग्रन्थ की रचना के आधार उच्चैर्नागर शाखा में प्रचलित फल्गुमित्र के काल के आगम रहे हों।" (जै.ध.या.स./पृ.२४०)।

किन्तु, डॉ० सागरमल जी की यह संभावनामात्र है, प्रमाणसिद्ध तथ्य नहीं। फल्गुमित्र-कालीन आगम आज उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए उनका अस्तित्व ही सन्देहास्पद है। दूसरे, उनके अभाव में यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि वे तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार थे। इसके अतिरिक्त वर्तमान में जो पाँचवीं शती ई० में पुस्तकारूढ़ किये गये आगम उपलब्ध हैं, उनमें उल्लिखित सूत्रादि का तत्त्वार्थ के सूत्रों से शब्द, अर्थ और वर्णन क्रम की दृष्टि से साम्य नहीं है। इसका प्रदर्शन ऊपर किया जा चुका है और तत्त्वार्थसूत्र नामक अध्याय में भी द्रष्टव्य है। अतः अन्यथानुपपत्ति से उक्त प्रश्न का समाधान केवल यही है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र की विषयवस्तु को उपर्युक्त दिग्म्बरग्रन्थों से ही ग्रहण किया है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि मूलाचार के कर्ता ने उपर्युक्त विषयवस्तु को तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है, तो उससे सम्बन्धित जो अन्य विषयवस्तु मूलाचार में है और तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है, उसे कहाँ से उपलब्ध किया? जैसे—

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव।

उव्वज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं ॥ १२४८ ॥

अनुवाद—“मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मों के क्षय से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है।”

यह गाथा यदि मूलाचार के कर्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के ‘मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्’ इस सूत्र (१०/१) से अनुकृत की है, तो—

तत्तोरात्थियदेहो णामा गोदं च केवली भगवं।

आरुण वेदणीयं चदुहिं खिविइत्तु णीरओ होइ ॥ १२४९ ॥

अनुवाद—“उसके बाद केवली भगवान् एक साथ औदारिक शरीर, नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चारों कर्मों का क्षय करके कर्मरजरहित हो जाते हैं।”

यह पूर्वोक्त गाथा की अनुपूरक गाथा मूलाचारग्रन्थ के कर्ता ने कहाँ से अनुकृत की? इस आशय का सूत्र तो तत्त्वार्थसूत्र में ही नहीं। यदि यह गाथा उन्होंने आचार्य-परम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर रची है, तो पूर्वगाथा (क्र० १२४८) भी आचार्य-परम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर क्यों नहीं रच सकते थे? अवश्य रच सकते थे। अतः इस उत्तरगाथा से सिद्ध है कि पूर्वगाथा भी आचार्य वट्टकेर ने स्वयं ही

रची है और तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसका अनुकरण कर “मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरण---” इत्यादि सूत्र निबद्ध किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों से सादृश्य रखनेवाली अन्य पूर्वोक्त गाथाएँ भी आचार्य वट्टकेर ने गुरुपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर स्वयं निबद्ध की हैं और तत्त्वार्थसूत्रकार ने उनका अनुकरण कर तत्त्वार्थसूत्र के पूर्वोदाहृत सूत्र निर्मित किये हैं।

४. सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के वचनों को प्रमाणित करने के लिए कुन्दकुन्द की गाथाओं को आगमप्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा— “एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्” (त. सू. / ५ / १४) सूत्र की टीका में ‘एक स्थान में पुद्गलों का अवगाह संभव है’ इस तथ्य की पुष्टि के लिए पञ्चास्तिकाय की निम्ननिर्दिष्ट गाथा आगम-प्रमाण के रूप में इन वचनों के साथ प्रस्तुत की है—

“अवगाहनस्वभावत्वात् सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहो न विरुध्यते एकाप-
वरके अनेकदीपप्रकाशावस्थानवत्। आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम्। तदुक्तम्—

ओगाढगाढणिचिओ पुगलकाएहि सव्वदो लोगो।

सुहुमेहि बादरेहि अणंताणंतेहि विवहेहि॥

पं. का. / ६४, प्र. सा. २ / ७६

इसी प्रकार पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में “प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः” (त. सू. / ८ / ३) का अर्थ स्पष्ट करते हुए योग से प्रकृति-प्रदेशबन्ध और कषाय से स्थिति-अनुभाग-बन्ध होते हैं, इस मत का समर्थन मूलाचार की निम्नलिखित गाथा को उद्धृत करके किया है—

जोगा पयडि-पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि।

अपरिणदुच्छिण्णोसु य बंधद्विदिकारणं णत्थि॥ २४४॥

तथा “सच्चित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः” (त. सू. २ / ३२) की टीका में जीवों की ८४ लाख योनियों के होने की पुष्टि भी मूलाचार की इस गाथा से की है—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदियेसु छच्चेव।

सुरणरतिरिए चउरो चोदस मणुएसु सदसहस्सा॥ ११०६॥

इससे स्पष्ट होता है कि पञ्चास्तिकाय, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि मौलिक आगमग्रन्थ हैं, जो आचार्यपरम्परा से प्राप्त श्रुतकेवली के उपदेश पर आश्रित हैं। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा ही मूलाचार से कुछ लेना युक्तियुक्त सिद्ध होता है, मूलाचार के कर्ता द्वारा तत्त्वार्थसूत्र से कुछ लिया जाना नहीं। यतः प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के

तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की रचना में मूलाचार की गाथाओं का अनुसरण किया गया है, अतः सिद्ध होता है कि मूलाचार की रचना द्वितीय शती ई० से पूर्व अर्थात् प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में हुई थी।

३.४. द्वि. श. ई. की तिलोयपण्णत्ती में मूलाचार का उल्लेख

तिलोयपण्णत्ती द्वितीय शताब्दी ई० का ग्रन्थ है। इसके प्रमाण इसी प्रकार में आगे द्रष्टव्य हैं। इन्द्र-देवियों की आयु के विषय में मूलाचार के कर्त्ता का मत निरूपित करते हुए तिलोयपण्णत्तिकार कहते हैं—

पालिदोवमाणि पंचय-सत्तारस-पंचवीस-पणतीसं।

चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं ॥ ८/५३४ ॥

आरण-दुग-परियंतं वडुंते पंच पंच पल्लाईं।

मूलायाराइरिया एवं णिउणं णिरुवेंति ॥ ८/५३५ ॥

अनुवाद—“चार कल्पविमान-युगलों में इन्द्र-देवियों की आयु क्रमशः पाँच, सत्तरह, पच्चीस और पैंतीस पल्य-प्रमाण जाननी चाहिए। (८/५३४)। इसके आगे आरण-युगल पर्यन्त पाँच-पाँच पल्य की वृद्धि होती गयी है, ऐसा मूलाचार में आचार्य स्पष्टतया निरूपण करते हैं।” (८/५३५)।

यह मत मूलाचार की निम्नलिखित गाथा में उपलब्ध होता है—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।

चत्तलं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥ ११२३ ॥

अनुवाद—“प्रथम युगल में देवियों की आयु पाँच पल्य, द्वितीय युगल में सत्रह पल्य, तृतीय में पच्चीस, चतुर्थ में पैंतीस, पंचम में चालीस, षष्ठ में पैंतालीस, सप्तम में पचास और अष्टम युगल में पचपन पल्य है।”

इससे सिद्ध होता है कि मूलाचार के रचयिता आचार्य वडुंकेर द्वितीय शताब्दी ई० के तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ से पहले हुए हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि “मूलाचार में विशेषकर उसके पर्याप्ति-अधिकार में जिन विषयों की प्ररूपणा की गयी है, उनमें से अधिकांश की प्ररूपणा उसी पद्धति से यथाप्रसंग तिलोयपण्णत्ती में भी की गयी है। इतना ही नहीं, इन दोनों ग्रन्थों में कुछ गाथाएँ भी प्रायः शब्दशः समान उपलब्ध होती हैं।” (षट्. परि. / पृ. १६०)।

इन साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ‘मूलाचार’ की रचना प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध (अन्तिम चरण) में हुई है।

३.५. मूलाचार में श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ नहीं

डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—“जिन ग्रन्थों के आधार पर मूलाचार की रचना हुई है, वे श्वेताम्बरपरम्परा के मान्य बृहत्प्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास आदि हैं, जिनकी सैकड़ों गाथाएँ शौरसेनी-रूपान्तरण के साथ इसमें गृहीत की गयी हैं। वस्तुतः मूलाचार श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य निर्युक्तियों एवं प्रकीर्णकों की विषयवस्तु एवं सामग्री से निर्मित है।” (जै.ध.या.स./पृ.१३१)।

वे आगे कहते हैं—“मूलाचार के षडावश्यक अधिकार में ‘आवश्यकनिर्युक्ति’ की ८० से अधिक गाथाएँ स्पष्टतः मिलती हैं। --- अधिकांश निर्युक्तियाँ भद्रबाहु-द्वितीय के द्वारा रचित हैं और इन भद्रबाहु का समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी है। इससे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि मूलाचार विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है।” (जै.ध.या.स./पृ.१३८)।

माननीय विद्वान् का यह मत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण इसके विपरीत उपलब्ध होते हैं। विद्वान् श्वेताम्बरसाधु श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री एवं साध्वी संघमित्रा ने भद्रबाहु द्वितीय का समय विक्रम सं० ५६२ (ई० सन् ५०५) के लगभग बतलाया है।^{१७} और पूर्व में सप्रमाण दर्शाया गया है कि प्रथम-द्वितीय शती ई० के तत्त्वार्थसूत्र में मूलाचारकी गाथाओं के आधार पर अनेक सूत्रों की रचना की गई है। द्वितीय शती ई० की तिलोयपण्णत्ती में देवियों कि आयु के विषय में मूलाचार के कर्ता का मत ‘मूलाचार’ नामोल्लेख-सहित प्रस्तुत किया गया है और पाँचवी शती ई० के पूज्यपाद स्वामी ने आठवें अध्याय के तीसरे सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में मूलाचार की ‘जोगा पयडिपणसा’ गाथा (२४४) प्रमाणरूप में उद्धृत की है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि मूलाचार की रचना विक्रम की छठी शताब्दी में रचित आवश्यकनिर्युक्ति से बहुत पहले ईसा की प्रथम शताब्दी में हो चुकी थी। अतः उसमें जो गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं से साम्य रखती हैं, उनका आवश्यकनिर्युक्ति से मूलाचार में आना संभव नहीं है, अपितु मूलाचार या भगवती-आराधना से ही आवश्यकनिर्युक्ति में जाना संभव है। अतः ऐसा ही हुआ है।

अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों का मत है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों की जो गाथाएँ समान हैं, वे उन्हें अपनी विभाजनपूर्व-मूलपरम्परा से प्राप्त हुई हैं। इसलिए उन्हें किसी एक ने दूसरे से ग्रहण किया है, यह कहना उचित नहीं है।^{१८} किन्तु, मेरा मत यह है कि जब पाँचवीं शती (४५४-४६६) ई० में श्री देवर्द्धिगणी

२७. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृ.४३८, जैनधर्म के प्रभावक आचार्य / पृ.३००।

२८. देखिए, आगे ‘मूलाचार’ नामक पञ्चदश अध्याय।

क्षमाश्रमण द्वारा श्रुतिपरम्परागत समस्त अंगों और उपांगों को पुस्तकारूढ़ कर दिया गया और उनमें से किसी भी अंग या उपांग में उक्त समान गाथाएँ उपलब्ध नहीं हैं, जो कि 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि पाँचवीं शती ई० के बाद के ग्रन्थों में हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त समान गाथाएँ श्वेताम्बर-परम्परा को अपनी मूल परम्परा से प्राप्त हुई हैं? वे गाथाएँ प्रथम शती ई० की भगवती-आराधना और मूलाचार की गाथाओं से समानता रखती हैं, अतः स्पष्ट है कि वे इन्हीं ग्रन्थों से उक्त श्वेताम्बरग्रन्थों में पहुँची हैं।

तथा श्वेताम्बर मान्य आतुरप्रत्याख्यान एवं भक्तपरिज्ञा का रचना काल ११वीं शती ई० है और उपलब्ध महाप्रत्याख्यान की रचना ५वीं शताब्दी ई० के बाद हुई है। अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थ भी अर्वाचीन हैं, क्योंकि वे ५वीं शती ई० में आगमों के लिपिबद्ध होने के बाद ही लिखे गये हैं। इसके प्रमाण 'भगवती-आराधना' नामक अध्याय में दर्शनीय हैं। जीवसमास विक्रम की छठी शती में रचा गया है।^{२९} अतः इन ग्रन्थों की सामग्री का भी प्रथम शती ई० के मूलाचार में आना असंभव है। मूलाचार और भगवती-आराधना से ही कोई सामग्री उक्त ग्रन्थों में जा सकती है। अतः समान गाथाएँ इन ग्रन्थों से ही उपर्युक्त श्वेताम्बर-प्रकीर्णक-ग्रन्थों में गयी हैं। इसलिए मूलाचार की रचना प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में हुई है, यह मत अबाधित रहता है।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन लिखते हैं—“सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री प्रभृति सभी प्रौढ़शास्त्रज्ञ विद्वानों को मूलाचार की सर्वोपरि प्रामाणिकता एवं प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है, और उनका कहना है कि उसे यदि स्वयं कुन्दकुन्द-प्रणीत नहीं भी माना जाय, तो भी वह कुन्दकुन्दकालीन (८ ई० पू०-४४ ई०) अर्थात् ईसवी सन् के प्रारंभकाल की रचना तो प्रतीत होती ही है।”^{३०}

ज्योतिषाचार्य डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री का मत है कि आचार्य वट्टकेर का समय कुन्दकुन्द के समकालीन या उससे कुछ ही पश्चाद्वर्ती होना चाहिए।^{३१}

इस प्रकार सभी विद्वान् उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर प्रथम शताब्दी ई० को ही मूलाचार का रचनाकाल स्वीकार करते हैं।

३.६. 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण

मूलाचार में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की इतनी अधिक गाथाएँ मिलती हैं

२९. जीवसमास / भूमिका-डॉ० सागरमल जैन / पृ० १ / पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८ ई०।

३०. मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) / प्रधान सम्पादकीय / पृ० ६।

३१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा / खण्ड २ / पृ. १२०।

और कुन्दकुन्द की शैली से इतना अधिक सादृश्य है कि कुछ विद्वान् इसे कुन्दकुन्द की ही कृति मानते हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना (पृ.२५) में इसे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की सूची में शामिल किया है और कहा है कि उन्हें दक्षिण भारत में मूलाचार की कुछ पाण्डुलिपियाँ देखने को मिली हैं, जिनमें उसके कर्ता का नाम कुन्दकुन्द बतलाया गया है। माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित मूलाचार की प्रति की अन्तिम पुष्पिका में भी उसे 'कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत' कहा गया है। यथा—

“इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत-मूलाचाराख्य-विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।”^{३२}

किन्तु मूलाचार की 'आचारवृत्ति' नामक टीका के कर्ता आचार्य वसुनन्दी ने वट्टकेराचार्य को उसका कर्ता बतलाया है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने वट्टकेर या वट्टकेरि शब्द को प्रवर्तक का प्राकृतरूप मानकर उसका अर्थ सन्मार्ग-प्रवर्तक किया है और उसे कुन्दकुन्द की उपाधि बतलाया है। इस प्रकार वे भी कुन्दकुन्द को ही मूलाचार का कर्ता मानते हैं।^{३३} पं० परमानन्द जी शास्त्री ने भी अपने एक शोधलेख में कुन्दकुन्द को मूलाचार का कर्ता सिद्ध किया है।^{३४} आर्थिका ज्ञानमती जी ने भी यद्यपि स्वानुवादित मूलाचार की प्रति में उसके रचयिता के रूप में आचार्य वट्टकेर का नाम प्रकाशित किया है, तथापि 'आद्य उपोद्घात' में उसे कुन्दकुन्द द्वारा ही रचित बतलाया है।^{३५} किन्तु मेरी दृष्टि से आचार्य वट्टकेर ही मूलाचार के कर्ता हैं, कुन्दकुन्द नहीं। इसके कारणों पर आगे प्रकाश डाला जायेगा।

प्रथम शताब्दी ई० के मूलाचार में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों या किञ्चित् परिवर्तन करके ग्रहण की गई हैं, जो नीचे दर्शायी जा रही हैं। संक्षेप के लिए गाथाओं का केवल पूर्वार्ध ही उद्धृत किया जा रहा है—

१. णमिरुण सव्वसिद्धे ज्ञाणुत्तमखविददीहसंसारे। बा.अ.१ / मूला.६९३।
२. अद्धवमसरणमेयत्तमणसंसारलोगमसुचित्तं। बा.अ.२ / मूला.४०३, ६९४।
३. एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे। बा.अ.१४ / मूला.७०१।
४. अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो। बा.अ.२२ / मूला.७०३।

३२. देखिए, पं० जुगलकिशोर मुख्तार : पुरातन जैनवाक्य सूची / प्रस्तावना / पृ० १८।

३३. वही / पृष्ठ १९।

३४. 'अनेकान्त' / वर्ष २ / किरण ३ / विक्रम सं० १९९५, सन् १९३८ / पृ० २२१-२२४।

३५. मूलाचार / पूर्वार्ध / भारतीय ज्ञानपीठ / आद्य उपोद्घात / पृष्ठ ३४।

५. अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं। बा.अ.२३ / मूला.७०४।
६. णिच्चदरधादु सत्त य तरु-दस-वियलिंदियेसु छच्चेव।
बा.अ.३५ / मूला.२२६,११०६।
७. संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च। बा.अ.३६ / मूला.७११।
८. मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति। बा.अ.४७ / मूला.२३७।
९. जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती। नि.सा.६९ / मूला.३३२।
१०. कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती। नि.सा.७० / मूला.३३३।
११. ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो। नि.सा.९९ / मूला.४५।
१२. आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
नि.सा.१०० / स.सा.२७७ / भा.पा.५८ / मूला.४६।
१३. एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं। नि.सा.१०१ / मूला.४७।
१४. एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
नि.सा.१०२ / भा.पा.५९ / मूला.४८।
१५. जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे। नि.सा.१०३ / मूला.३९।
१६. सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि। नि.सा.१०४ / मूला.४२।
१७. मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
नि.सा.२ / मूला.२०२।
१८. पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं। नि.सा.६२ / मूला.१२।
१९. पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण। नि.सा.६५ / मूला.१५।
२०. णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो। नि.सा.१०५ / मूला.१०४।
२१. ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा।
नि.सा.१४२ / मूला.५१५।
२२. विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ। नि.सा.१२५ / मूला.५२४।
२३. जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा। नि.सा.१२६ / मूला.५२६।
२४. जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे। नि.सा.१२७ / मूला.५२५।

२५. जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु। नि.सा.१२८/मूला.५२७।
 २६. जो दु अट्टं च रुद्धं च ज्ञाणं वज्जेदि णिच्चसा। नि.सा. १२९/मूला.५३१।
 २७. जो दु धम्मं च सुक्कं च ज्ञाणं ज्ञाएदि णिच्चसा। नि.सा.१३३/मूला.५३१।
 २८. भूयत्थेणभिगदा जीवजीवा य पुण्णपावं च। स.सा.१३/मूला. २०३।
 २९. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।

स.सा.१५०/प्र.सा.१७९/मूला.२४७।

३०. कारुण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं। लिं.पा.१/मूला.५०२।
 ३१. गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य। बो.पा.३३/मूला.११९९।
 ३२. पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा। बो.पा.३५/मूला.११९३।
 ३३. णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य। चा.पा.७/मूला.२०१।
 ३४. जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं। दं.पा.१७/मूला.१५।
 ३५. जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो। पं.का.१४८/मूला.९६८।
 कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की ये ३५ गाथाएँ मूलाचार में ग्रहण की गयी हैं।^{३६}

३.७. मूलाचार में कुन्दकुन्द की शैली का अनुकरण

इन गाथाओं के अतिरिक्त कुन्दकुन्द की शब्दावली, वाक्यों एवं अलंकारों को भी मूलाचार में अपनाया गया है। यह उनकी शैली का अनुकरण है। यथा—

१

प्रवचनसार—जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ॥ १/८० ॥

मूलाचार —जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च ॥ ५२२ ॥

२

समयसार —अपरिग्गहो अणिच्छो ॥ २१० ॥

मूलाचार —अपरिग्गहा अणिच्छा ॥ ७८५ ॥

३६. मूलाचार की गाथाओं का क्रमांक आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी द्वारा अनुवादित एवं भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'मूलाचार' के अनुसार दिया गया है।

३

समयसार — जीवणिबद्धा एए ॥ ७४ ॥

मूलाचार — जीवणिबद्धाऽबद्धा ॥ ९ ॥

४

प्रवचनसार — जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्ध जोणहमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १/८८ ॥

मूलाचार — अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ५०६ ॥

५

समयसार — जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोगगला परिणमंति।
पोगगलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८० ॥

मूलाचार — जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोगगला परिणमंति।
ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि ॥ १६९ ॥

६

सुत्तपाहुड — सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूईं जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

सुत्तपाहुड — पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चयेणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४ ॥

मूलाचार — सूईं जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो णु णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥ १७३ ॥

७

समयसार — वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गई पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥ १ ॥

मूलाचार — वंदित्तु देवदेवं तिहुअणमहिदं च सव्वसिद्धाणां।
वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं ॥ ८९४ ॥

पूर्वोक्त गाथाएँ कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों से मूलाचार में ग्रहण की गई हैं, मूलाचार से कुन्दकुन्द ने ग्रहण नहीं की हैं, यह निम्नलिखित हेतुओं से सिद्ध होता है—

१. कुन्दकुन्द ने अपने निम्नलिखित चार ग्रन्थों में एक ही शैली में मंगलाचरण किया है। उस शैली की विशेषता यह है कि चारों मंगलाचरणों में आदि में 'णमिऊण'

क्रिया का प्रयोग किया है तथा उसके बाद नमस्करणीय इष्टदेवता के नाम का उल्लेख किया गया है। यथा—

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥ १ ॥ बा.अ.।

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥ भा.पा.।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥ मो.पा.।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥ नि.सा.।

किन्तु मूलाचार में यह शैली कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वहाँ किसी भी मंगलाचरण में 'णमिऊण' क्रिया का प्रयोग नहीं है। उसके स्थान पर केवल एक जगह 'णमंसिदूण' क्रिया प्रयुक्त की गई है और वह भी आदि में नहीं, अपितु 'सिद्धे' पद के पश्चात्। जैसे—

सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखवियदीहसंसारे ।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छं ॥ ६९३ ॥ मूला.।

कुन्दकुन्द की शैली की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने जहाँ सिद्धों को नमस्कार किया है, वहाँ केवल 'सिद्धे' पद का प्रयोग न कर 'सव्वसिद्धे' पद प्रयुक्त किया है। यथा—

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ॥ १ ॥ बा.अ.।

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गई पत्ते ॥ १ ॥ स.सा.।

किन्तु मूलाचार में केवल 'सिद्धे' पद का प्रयोग मिलता है, जैसे उपर्युक्त ६९३ वीं गाथा में—'सिद्धे णमंसिदूण।'

इस शैलीगत विशिष्टता से सिद्ध होता है कि 'बारस अणुवेक्खा' का उपर्युक्त मंगलाचरण कुन्दकुन्द की ही मौलिक कृति है, मूलाचार से गृहीत नहीं है। इस सत्य के उद्घाटन से यह दूसरा सत्य स्वतः उद्घाटित हो जाता है कि मूलाचार के कर्ता ने ही उसे 'बारस अणुवेक्खा' से ग्रहण किया है तथा उसमें उपर्युक्त प्रकार से कुछ शाब्दिक परिवर्तन कर अपनी किंचित् नवीनता का परिचय दिया है, यद्यपि सिद्धे णमंसिदूण इस नवीन प्रयोग में वह उच्चारण-सौकर्य और श्रुतिमाधुर्य नहीं है, जो

णमिऊण सव्वसिद्धे में है। इसी से तो सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द की काव्यप्रतिभा भी अद्वितीय है।

२. नियमसार और मूलाचार की अधोलिखित गाथाएँ तुलनीय हैं—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥ २ ॥ नि. सा.।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं॥ २०२॥ मूला.।

नियमसार की उपर्युक्त गाथा में कुन्दकुन्द ने मोक्ष के उपाय को मार्ग कहा है और 'णियमं णाणदंसणचरित्तं' (नि. सा. ३), 'णियमं मोक्खउवायो' (नि. सा. ४)। 'दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो' (पं. का. १६४), इन गाथाओं में दर्शनज्ञानचारित्र को मोक्ष का उपाय या मार्ग बतलाया है। तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष के मार्ग हैं, कोई एक अकेला नहीं, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके विपरीत मूलाचार की उपर्युक्त गाथा (२०२) में केवल सम्यक्त्व को मोक्ष का मार्ग कहा गया है—'मग्गो खलु सम्मत्तं', जो मोक्षमार्ग के प्रसिद्ध लक्षण के विरुद्ध है और भ्रम उत्पन्न करता है। इसीलिए टीकाकार आचार्य वसुनन्दी को यह स्पष्टीकरण देना पड़ा है— "ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि समुदितानि मार्गस्ततः कथं सम्यक्त्वमेव मार्गः। नैष दोषः अवयवे समुदायोपचारात् मार्गं प्रति सम्यक्त्वस्य प्राधान्याद्वा।" (आचारवृत्ति / मूला / गाथा २०२)। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तो समुदायरूप से मोक्ष के मार्ग हैं, तब केवल सम्यक्त्व को मोक्ष का मार्ग क्यों कहा गया? (उत्तर—) इसमें कोई दोष नहीं है। अवयव में समुदाय का उपचार होता है अथवा मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व की प्रधानता है, इसलिए केवल सम्यक्त्व को मोक्ष का मार्ग कहा गया है।

किन्तु कुन्दकुन्द ने जो नियमसार की दूसरी गाथा में 'मोक्ष के उपाय' को मार्ग कहा है—मग्गो मोक्खउवायो, उसमें यह भ्रम नहीं होता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समुदाय मोक्षमार्ग है, यह सीधे-सीधे बुद्धिगम्य हो जाता है, अवयव में समुदाय के उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथा नियमसार की उत्तरवर्ती तीसरी और चौथी गाथाओं में 'मोक्षोपाय' का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अर्थ स्पष्ट भी कर दिया गया है। अतः इन गाथाओं के प्रसंग में देखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि नियमसार की उपर्युक्त गाथा में जो 'मग्गो मोक्खउवायो' पद हैं, वे ही मौलिक हैं, 'मग्गो खलु सम्मत्तं' पद मौलिक नहीं हैं। वे मूलाचार के कर्ता द्वारा कल्पित हैं और इसका उद्देश्य है सम्यक्त्व का लक्षण बतलाने के लिए समयसार की निम्नलिखित गाथा को भी 'मूलाचार' में समायोजित करना—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्पत्तं॥ १३॥ स.सा.।

समयसार में यह गाथा जीवाजीवाधिकारमें १३ वें क्रम पर है और आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में इसे पंचाचाराधिकार के भीतर ठीक 'मग्गो मग्गफलं' गाथा के पश्चात् क्रमांक २०३ पर समायोजित किया है। समयसार में भूतार्थ और अभूतार्थ नयों से वस्तुस्वरूप का जो कथन चल रहा है, उस प्रसंग में इस गाथा का कथन सर्वथा उपयुक्त है, किन्तु मूलाचार में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ इन नयों से कथन का प्रसंग नहीं है। सम्यक्त्व का लक्षण वहाँ अन्य शब्दों में बतलाया जा सकता था।

निष्कर्ष यह है कि नियमसार की तीसरी और चौथी गाथाओं के अन्तःसम्बन्ध से यह सिद्ध होता है कि 'मग्गो मग्गफलं' गाथा मूलतः कुन्दकुन्द की ही गाथा है, उसे कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ मूलाचार में ग्रहण कर लिया गया है। इसी प्रकार 'भूयत्थेणाभिगदा' गाथा भी कुन्दकुन्दकृत ही है। वह भी समयसार से मूलाचार में आत्मसात् कर ली गई है।

३. अब समयसार और मूलाचार की निम्नलिखित गाथाओं पर दृष्टिपात किया जाय—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥ ८०॥ स.सा.।

अनुवाद—“जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप में परिणमित हो जाते हैं। इसी प्रकार पुद्गलकर्मों के निमित्त से जीव भी (शुभाशुभ-भावरूप में) परिणमित हो जाता है।”

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति।
ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि॥ ९६९॥ मूला.।

अनुवाद—“जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप में परिणमित हो जाते हैं, किन्तु ज्ञानपरिणत जीव कर्मों का आदान नहीं करता।”

समयसार की 'जीवपरिणामहेदुं' गाथा कर्ताकर्माधिकार में कही गई है। इस अधिकार का प्रयोजन यह प्रतिपादित करना है कि जीव न तो पुद्गल के परिणामों का कर्ता है, न पुद्गल जीव के परिणामों का, अपितु वे एक-दूसरे के निमित्त से स्वयं ही अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं। यही बात उक्त गाथा द्वारा प्रतिपादित की गई है। इसलिए प्रकरण के अनुसार गाथा का पूर्वार्ध उत्तरार्ध के साथ और उत्तरार्ध पूर्वार्ध के साथ परस्परसापेक्षभाव से सम्बद्ध है, जिससे सिद्ध होता है कि समयसार

में गाथा के दोनों वाक्य मौलिक हैं अर्थात् कुन्दकुन्द द्वारा रचित हैं अतः इनमें से किसी भी वाक्य का 'मूलाचार' से लिया जाना युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता।

इसके विपरीत 'मूलाचार' में 'जीवपरिणामहेदू---' वाक्य के साथ 'ण दु णाणपरिणदो---' वाक्य जोड़ देने से दोनों वाक्यों के अर्थ परस्पर असंगत हो गये हैं। पूर्वार्ध में कहा गया है कि जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप में परिणमित हो जाते हैं और उत्तरार्ध में कहा गया है कि ज्ञानपरिणाम से जीव कर्मग्रहण नहीं करता। इससे ऐसा लगता है कि ज्ञानपरिणाम जीव का परिणाम नहीं है, किसी अन्य द्रव्य का परिणाम है, क्योंकि जीवपरिणाम को तो कर्मग्रहण का हेतु बतलाया गया है। किन्तु ज्ञानपरिणाम जीव का ही परिणाम है, इस कारण उपर्युक्त वाक्यों को परस्पर जोड़ देना अर्थ विसंगति का निमित्त बन गया है। यतः ज्ञानपरिणाम जीव का ही परिणाम है, अतः ऐसा कहा जाना चाहिए था—

“अज्ञानपरिणत जीव कर्मग्रहण करता है और ज्ञानपरिणत जीव कर्मग्रहण नहीं करता,”
जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की निम्नलिखित गाथा में कहा है—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।

णाणमओ णाणिसस दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि॥ १२७॥

अनुवाद—“अज्ञानी का अज्ञानमय भाव होता है, अतः वह उससे कर्मबन्ध करता है और ज्ञानी का ज्ञानमय भाव होता है, इसलिए वह उससे कर्मबन्ध नहीं करता।”

इसी प्रकार मूलाचार में अज्ञानपरिणाम और ज्ञानपरिणाम, इन परस्परविरुद्ध भावों के द्वारा परस्परविरुद्ध फलों की प्राप्ति का कथन किया जाता, तो वाक्यों का अर्थ परस्पर असंगत न होता, किन्तु जीवपरिणाम और ज्ञानपरिणाम इन अविरुद्ध भावों के द्वारा विरुद्ध फलों की प्राप्ति का कथन किये जाने से दोनों वाक्यों का अर्थ परस्पर असंगत हो गया है।

इसके अतिरिक्त मूलाचार के 'जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति' इस पूर्ववाक्य में जीवपरिणाम और पुद्गल के कर्मपरिणाम में कर्तृकर्मभाव का निषेध एवं निमित्त-नैमित्तिक भाव का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उत्तरवाक्य में पुद्गलकर्म और जीव के शुभाशुभपरिणाम में भी कर्तृकर्मभाव का निषेध एवं निमित्तनैमित्तिक भाव का प्रतिपादन अपेक्षित था। अथवा उत्तरवाक्य में ज्ञानपरिणत जीव को कर्मग्रहण न करनेवाला बतलाया गया है, इसलिए पूर्ववाक्य में अज्ञानपरिणत जीव को कर्मग्रहण करनेवाला बतलाया जाना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं किया गया, अतः दोनों वाक्यों के अर्थ परस्पर सापेक्ष नहीं हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द की 'जीवपरिणामहेदुं' तथा

‘अण्णाणमओ भावो’ इन दोनों गाथाओं के दोनों वाक्यों में ऊपर बतलाये गये परस्परसापेक्ष अर्थों का प्रतिपादन है।

यद्यपि ‘जीवपरिणाम’ से जीव के ‘शुभाशुभभाव’ तथा ‘ज्ञानपरिणत’ से ‘शुभाशुभभाव रहित’ एवं ‘पुद्गलों के कर्मरूप परिणाम’ से ‘जीव के द्वारा कर्मों का ग्रहण’ अर्थ लेकर गाथा से उपयुक्त अर्थ निकाला जा सकता है, तथापि “जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति” इस वाक्य के शब्द और अर्थ की जितनी तर्कपूर्ण संगति या सापेक्षभाव “पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ” इस वाक्य के साथ है, उतनी “ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि” इस वाक्य के साथ नहीं है। इससे सिद्ध है कि ‘जीवपरिणामहेदुं’ इत्यादि गाथावाक्य मूलतः समयसार का है, मूलाचार में वह समयसार से ग्रहण किया गया है, क्योंकि उसने आचार्य वट्टकेर को बहुत प्रभावित किया है।

४. निम्नलिखित गाथाओं की भी तुलना की जाय—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥ स.सा.।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।

एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ १७९ ॥ प्र.सा.

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो।

एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥ २४७ ॥ मूला.।

कुन्दकुन्द की उपर्युक्त दोनों गाथाओं में रत्तो शब्द का प्रयोग होने से ज्ञात होता है कि उन्हें रागी शब्द की अपेक्षा रत्तो शब्द अधिक प्रिय है और उसके प्रयोग की प्रवृत्ति उनके अभ्यास या शैली में है। अतः वे दोनों गाथाएँ कुन्दकुन्द की हैं। इसके अतिरिक्त ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्द की इन दोनों गाथाओं के आधार पर मूलाचार की रागी बंधइ कम्मं गाथा रची गई है, क्योंकि उसमें प्रवचनसार की गाथा के एसो बंधसमासो पदों से प्रेरित होकर समासदो बंधमोक्खाणं यह पदावली निबद्ध की गयी है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द की ही गाथाएँ मूलाचार में प्रविष्ट हुई हैं।

५. समयसार की लगातार चार गाथाओं (२१०-२१३) में अपरिगहो अणिच्छो (इच्छारहित जीव ही अपरिग्रही है) पदावली प्रयुक्त हुई है, जबकि मूलाचार की केवल एक गाथा (७८५) में अपरिगहो अणिच्छा शब्द आये हैं। इससे भी साबित होता है कि यह प्रयोग मूलतः कुन्दकुन्द का है, जिसका मूलाचार में अनुकरण किया गया है।

६. आचार्य कुन्दकुन्द ने काऊण णमुक्कारं इन पदों के साथ दो ग्रन्थों में मंगलाचरण निबद्ध किया है। मूलाचार में भी इन पदों के साथ दो अधिकारों^{३७} में मंगलाचरण उपलब्ध होता है, किन्तु जहाँ कुन्दकुन्द ने दोनों जगह एक गाथा में ही मंगलाचरण और ग्रन्थ-कथन की प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है, वहाँ आचार्य वट्टकेर ने 'षडावश्यकधिकार'^{३८} में मंगलाचरण का विस्तार कर दो गाथाओं में यह कार्य सम्पन्न किया है।^{३८} उदाहरणार्थ—

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स।
 दंसणमगं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥ १ ॥ दं.पा.।
 काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
 वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥ लिं.पा.।
 काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
 आइरियउवज्जाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥ ५०२ ॥ मूला.।
 आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।
 आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुब्बीए ॥ ५०३ ॥ मूला.।

यहाँ द्रष्टव्य है कि कुन्दकुन्द ने लिंगपाहुड में केवल अरहन्तों और सिद्धों को ही नमस्कार किया है, किन्तु मूलाचार में अन्तिम तीन परमेष्ठियों को भी जोड़कर मंगलाचरण का विस्तार कर दिया गया है और 'आवश्यकनिर्युक्ति' के कथन की प्रतिज्ञा उत्तर गाथा में की गई है। इतना ही नहीं दंसणपाहुड के मंगलाचरण में आये 'जहाकमं समासेण' पदों को भी मूलाचार के कर्ता ने इस गाथाद्वयात्मक मंगलाचरण में समाविष्ट कर लिया है। इस प्रकार आचार्य वट्टकेर ने कुन्दकुन्द की उक्त दो गाथाओं की शब्दसामग्री को लेकर अपने गाथाद्वयात्मक मंगलाचरण की रचना की है और कुन्दकुन्द के मंगलाचरणों की अपेक्षा अपने मंगलाचरण में विस्तार (विकास) कर इस बात का प्रमाण दिया है कि मूलाचार कुन्दकुन्दसाहित्य से अर्वाचीन है।

७. नियमसार के 'परमसमाधि अधिकार' की १२५वीं गाथा से लेकर १३३वीं गाथा तक समस्त ९ गाथाओं के उत्तरार्ध में 'तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासेण' वाक्य है। इनमें से 'जो समो सव्वभूदेसु' (नि. सा. १२६ / मूला. ५२६) तथा 'जस्स सणिणहिदो' (नि. सा. १२७ / मूला. ५२५) गाथाएँ तो उसी उत्तरार्ध-सहित ज्यों की त्यों

३७. षडावश्यकधिकार (गा. ५०२) एवं पर्याप्त्यधिकार (गा. १०४४)।

३८. मूलाचार के 'अनगारभावनाधिकार' की ७६९-७७०वीं गाथाओं में भी ऐसा ही किया गया है।

मूलाचार में ले ली गई हैं, किन्तु 'विरदो सव्वसावज्जं' (नि. सा. १२५ / मूला. ५२४) गाथा का उत्तरार्ध मूलाचार में इस प्रकार बदल दिया गया है—

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२५ ॥ नि. सा.।

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।

जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥ ५२४ ॥ मूला.।

तथा नियमसार की 'जस्स रागो दु दोसो दु' (नि. सा. १२८ / मूला. ५२७), 'जो दु अट्टं च रुहं च' (नि. सा. १२९ / मूला. ५३१) तथा 'जो दु धम्मं च सुक्कं च' (नि. सा. १३३ / मूला. ५३१) इन गाथाओं का 'तस्स सामाइगं ठाइ' इत्यादि उत्तरार्धवाक्य मूलाचार में रखा ही नहीं गया, ये मूलाचार में एक-एक ही वाक्यवाली गाथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इसी प्रकार के भाववाली 'जेण कोधो य माणो य' (५२७), 'जस्स सण्णा य लेस्सा य' (५२८), 'जे दुरसे य फासे' (५२९) तथा 'जो रूवगंधसदे' (५३०) ये चार गाथाएँ मूलाचार में नयी निबद्ध की गई हैं, जिनका उत्तरार्ध 'तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे' वाक्य ही होना चाहिए था, किन्तु वह यहाँ भी नहीं रखा गया। ये गाथाएँ नियमसार में उपलब्ध नहीं हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि मूलाचार में नियमसार की अपेक्षा काफी परिवर्तित एवं नवीन सामग्री उपलब्ध होती है, जो मूलाचार के नियमसार से अर्वाचीन होने का लक्षण है। इससे यह स्वतः सिद्ध है कि पूर्वोक्त गाथाएँ और पदावलिyaँ कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों से मूलाचार में ग्रहण की गई हैं।

इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द की अद्वितीय काव्यप्रतिभा, सूक्ष्म अध्यात्मदृष्टि, गहन चिन्तनमनीषा, अध्यात्मग्रन्थों का आद्यकर्तृत्व, बहुमुखी विशाल साहित्यसृष्टि एवं गणधरवत् प्रामाणिकता, वन्दनीयता एवं यशःकीर्ति देखते हुए यह बुद्धिगम्य नहीं होता कि उन्होंने पर-रचित ग्रन्थों से गाथाएँ एवं शब्दावली ग्रहण की होगी। बुद्धिगम्य तो यही होता है कि उनकी अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं आकर्षक सूक्तियों से प्रभावित होकर अन्य ग्रन्थकारों ने ही उनसे अपनी कृतियों को प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार प्रथम शताब्दी ई० के मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं और उनकी शैली का भी अनुकरण किया गया है, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द-साहित्य मूलाचार की रचना से पहले रचा गया है। फलस्वरूप कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी ही सुनिश्चित होता है।

कुन्दकुन्द की गाथाओं से मूलाचार की गाथाओं में जो उपर्युक्त विसंगतियाँ हैं, उनसे सिद्ध होता है कि मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्द नहीं, अपितु वट्टकेर ही हैं। यदि उसकी रचना कुन्दकुन्द ने की होती, तो जैसे उन्होंने चार मंगलाचरणों में णमिऊण जैसे उच्चारण-सुकर एवं श्रुति-मधुर पद का प्रयोग किया है, वैसे ही मूलाचार के उक्त मंगलाचरण में भी करते, णमंसिदूण जैसे उच्चारण-असुकर पद प्रयुक्त न करते, इसी प्रकार नियमसार की तरह मूलाचार में भी मार्ग का लक्षण मग्गो मोक्खउवायो ही बतलाते मग्गो खल्लु सम्भत्तं नहीं। मूलाचार की 'जीवपरिणामहेदू' गाथा भी समयसार की 'जीवपरिणामहेदुं' गाथा के समान विसंगतिरहित होती। किन्तु मूलाचार की उक्त गाथाओं में ये विशेषताएँ उपलब्ध नहीं होतीं। इससे स्पष्ट है कि उसकी रचना कुन्दकुन्द ने नहीं की।

४

द्वि. श. ई. के तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्द के वाक्यांश

४.१. तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल

पं० सुखलाल जी संघवी ने सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी स्वीकार कर तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति के समय की उत्तरसीमा उससे दो सौ वर्ष पहले अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित की है। वे लिखते हैं—

“(तत्त्वार्थधिगमभाष्य की षट्पद्यात्मक) प्रशस्ति में अपने दीक्षागुरु (घोषनन्दी श्रमण) और विद्यागुरु (वाचकाचार्य मूल) के जो नाम उन्होंने (उमास्वाति ने) दिये हैं, उनमें से एक भी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली में या वैसी किसी दूसरी पट्टावली में नहीं मिलता। अतः उमास्वाति के समय के सम्बन्ध में स्थविरावली के आधार पर अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रमसंवत् के प्रारंभ में लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नहीं, इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार में है।

“इस अन्धकार में एक अस्पष्ट प्रकाशकिरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन टीकाकार के समय-सम्बन्धी उपलब्ध है, जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तरसीमा को मर्यादित करती है।—स्वोपज्ञ भाष्य को यदि अलग रखा जाय, तो तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध सीधी टीकाओं में आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि सबसे प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवी शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं।

“उक्त विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित होता है। इन तीन चार सौ वर्षों के बीच उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम शेष रह जाता है।” (त.सू. / वि.स. / प्रस्ता. पृ.७-८)।

इस वक्तव्य में मान्य संघवी जी ने उमास्वामी का अस्तित्वकाल विक्रम की पहली शताब्दी से लेकर तीसरी-चौथी शताब्दी के बीच सम्भाव्य माना है। दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली में उमास्वामी का जो काल निर्दिष्ट किया गया है, उसकी इससे संगति बैठ जाती है। उसमें उमास्वामी का आचार्यपदारोहणकाल विक्रम सं. १०१ (४४ ई०) बतलाया गया है। तथापि उनका समय उससे कुछ बाद ही बैठता है। उक्त पट्टावली में उमास्वामी का नाम कुन्दकुन्द के बाद आया है। कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व प्रथम शती के अन्तिम चरण तथा ईसोत्तर प्रथम शती के प्रथम चरण में की थी और उनके बाद ईसा की पहली शताब्दी में भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य और मूलाचार के रचयिता वट्टकेर हुए, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में न केवल कुन्दकुन्द की गाथाएँ ग्रहण की हैं, अपितु उनकी शैली का भी अनुकरण किया है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति अवतरित हुए। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना में उक्त तीनों आचार्यों के ग्रन्थों से सहायता ली है। अतः उमास्वाति का अस्तित्वकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध फलित होता है। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने भी यही काल आकलित किया है।^{३९}

४.२. कुन्दकुन्द के वाक्यांशों की संस्कृत-छाया

‘तत्त्वार्थ’ के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की गई है। उनमें कई सूत्र तो कुन्दकुन्द के वाक्यांशों की संस्कृत-छाया मात्र हैं। इसका विस्तृत विवेचन ‘तत्त्वार्थसूत्र’ नामक अध्याय में द्रष्टव्य है। यहाँ उसके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो। — सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

पं. का. १६४

त. सू. १/१ ।

२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं। स.सा.१५५ — तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। त. सू. १/२।

३. देवा चउण्णिकाया। पं.का.११८ — देवाश्चतुर्णिकायाः। त. सू. ४/१।

४. आगासस्सवगाहो । प्र. सा. २/४१ — आकाशस्यावगाहः। त. सू. ५/१८।

५. उवओगलक्खणा। पं.का.१०९ — उपयोगो लक्षणम्। त.सू.२/८।
 ६. दव्वं सल्लक्खणियं। पं.का.१० — सद द्रव्यलक्षणम्। त.सू.५/२९।
 ७. उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। पं.का.१० — उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। त.सू.५/३०।
 ८. गुणपज्जयासयं (दव्वं)। पं.का.१० — गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। त.सू.५/३८।
 ९. जोगो मणवयणकायसंभूदो। — कायवाङ्मनःकर्म योगः।
 पं.का.१४८ त.सू.६/१।
 १०. आसवणिरोहो (संवरो)। — आसवनिरोधः संवरः।
 स.सा.१६६ त.सू.९/१।

इस अत्यन्त साम्य से स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की है, अतः कुन्दकुन्द प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के उमास्वामी से पूर्ववर्ती हैं।

४.३. कुन्दकुन्द के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण नहीं

इस साम्य के विषय में पं० सुखलाल जी संघवी तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में लिखते हैं—“ऊपर (संघवी जी द्वारा विवेचित 'तत्त्वार्थसूत्र' की प्रस्तावना, पृष्ठ ८-९ पर) दिये हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले 'तत्त्वार्थ' के तीन सूत्रों के लिए उत्तराध्ययन के अतिरिक्त किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन-आगम अर्थात् अंग का उतना ही शाब्दिक आधार अब तक देखने में नहीं आया, परन्तु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले कुन्दकुन्द के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण और कहीं बहुत ही कम सादृश्य है। श्वेताम्बर-सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (५/२९) तथा 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (५/३७)। इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य का लक्षणविषयक एक तीसरा सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठ में है—'सद् द्रव्यलक्षणम्' (५/२९)। ये तीनों दिगम्बर-सूत्रपाठगत सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा में पूर्णरूप से विद्यमान हैं—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥ १०॥

“इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्वपूर्ण सादृश्य है, वह आकस्मिक तो नहीं ही है।” (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.९-१०)

इस प्रकार पं० सुखलाल जी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों और कुन्दकुन्द के वाक्यांशों में घनिष्ठ साम्य स्वीकार किया है। किन्तु, उन्होंने सन् १९२९ में लिखे “तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति” नामक लेख में कहा था कि “ये तीनों दिगम्बरीय सूत्रपाठ में के सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा ‘द्व्यं सल्लवखणियं’ में पूर्णरूप से भाषान्तरित होकर गूँथे गये हैं, ऐसा नजर पड़ता है।”^{४०} अर्थात् वे मानते थे कि कुन्दकुन्द ने तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्रों को प्राकृत में रूपान्तरित कर पंचास्तिकाय की वह गाथा निबद्ध की है। किन्तु आगे चलकर जब तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में उन्होंने वही लेख उद्धृत किया, तो उपर्युक्त शब्द हटा दिये। (देखिए, त.सू./वि.स./सन् १९९३/पृ.१०)। क्योंकि जब उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के रचनाकाल के आधार पर उमास्वाति का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर तीसरी-चौथी शताब्दी के बीच अनुमानित किया है, तब (उनके अनुसार) विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले कुन्दकुन्द (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.९) को उमास्वामी का परवर्ती मान लेना संगत कैसे हो सकता था? इस विसंगति के बोध ने उन्हें उक्त शब्द विलोपित करने के लिए बाध्य कर दिया।

किन्तु, पं० दलसुख मालवणिया, प्रो० एम० ए० ढाकी, डॉ० सागरमल जी तथा और भी अनेक श्वेताम्बर मुनि एवं विद्वान् यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उमास्वामी ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कुन्दकुन्द ने ही तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण किया है। फलस्वरूप उन्होंने कुन्दकुन्द को उमास्वामी से उत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के हेतुओं की कल्पना की है। डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—

“यह सत्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेक समानताएँ परिलक्षित होती हैं, किन्तु मात्र इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति ने ही इन्हें कुन्दकुन्द से ग्रहण किया है। संभावना यह भी हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने ही उमास्वाति से इन्हें लिया हो। हमें तो यह देखना होगा कि उनमें से कौन पूर्व में हुए और कौन पश्चात्?”(जै. ध. या. स./ पृ.२४७)।

इसके बाद डॉक्टर सा० मुनि कल्याणविजय जी एवं प्रो० ढाकी द्वारा प्रकल्पित हेतुओं का निर्देश करते हुए कहते हैं—

“कुन्दकुन्द छठी शताब्दी के पूर्व तो किसी भी स्थिति में नहीं हुए हैं, इस तथ्य को प्रो० मधुसूदन ढाकी और मुनि कल्याणविजय जी ने अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित

४०. 'अनेकान्त'/वर्ष १/किरण ६-७/वीर नि.सं.२४५६/पृ० ३९१।

किया है। जब कि उमास्वाति किसी भी स्थिति में तीसरी या चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होते।” (जै.ध.या.सं./पृ.२४८)।

तत्पश्चात् डॉक्टर सा० स्वयं के द्वारा प्रकल्पित गुणस्थान-विकासवाद एवं सप्तभंगी-विकासवाद की चर्चा करते हैं, जिन्हें उन्होंने कुन्दकुन्द को उमास्वाति से उत्तरकालीन सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में प्रस्तुत किया है।

इन सभी विद्वानों ने कुन्दकुन्द को उमास्वाति से उत्तरकालीन अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी या ईसा की ८ वीं शताब्दी का सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सभी कपोलकल्पित हैं, यह आगे प्रतिपादित किया जायेगा। यहाँ कुछ ऐसे अन्तरंग प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का अनुकरण किया है, कुन्दकुन्द ने तत्त्वार्थसूत्र का नहीं—

१. हम देखते हैं कि ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’, ‘उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्’ तथा ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’, द्रव्य के इन तीन लक्षणों में से श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में अन्तिम दो लक्षण ही उपलब्ध होते हैं, ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’ नहीं। ये तीनों लक्षण केवल दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में मिलते हैं। यदि कुन्दकुन्द ने ये लक्षण तत्त्वार्थसूत्र से लिए होते, तो ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’ यह सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में भी होना चाहिए था, किन्तु नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ से तो यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ने **द्वयं सल्लक्खणियं** यह द्रव्य-लक्षण ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’ सूत्र से अनुकृत किया है। अतः सिद्ध है कि उसकी रचना कुन्दकुन्द ने ही की है। और **द्वयं सल्लक्खणियं** इस वचन द्वारा द्रव्यलक्षण’ के रूप में ‘सत्’ का निर्देश होने पर ही **उत्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं** इस वचन द्वारा ‘सत्’ के लक्षण का प्रतिपादन संभव है, क्योंकि लक्ष्य के निर्देश के बिना लक्षण का निर्देश निराधार होने से युक्तियुक्त नहीं होता। अतः ‘सत्’ के लक्षण का निर्देश सत्-रूप लक्ष्य के निर्देश की अपेक्षा रखता है, अर्थात् वह सत्-निर्देश-सापेक्ष है। कुन्दकुन्द को सत् के लक्षण का प्रतिपादन अभीष्ट था, अतः उन्होंने सर्वप्रथम **द्वयं सल्लक्खणियं** वचन द्वारा ‘सत्’ का निर्देश किया है, तत्पश्चात् **उत्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं** वचन द्वारा उसके लक्षण का। इस प्रकार **द्वयं सल्लक्खणियं** इस वचन के कुन्दकुन्दकृत सिद्ध होने से यह स्वतः सिद्ध होता है कि **उत्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं** यह वचन भी कुन्दकुन्दकृत ही है और उसके ही आधार पर तत्त्वार्थसूत्र में ‘उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्’ सूत्र की रचना की गयी है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि श्वेताम्बर-आगमों में सत्

का यह लक्षण उपलब्ध नहीं है,^{४१} अतः श्वेताम्बर-आगम उक्त सूत्र के स्रोत नहीं हो सकते।

'सद् द्रव्यलक्षणम्' सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बरीय पाठ में उपलब्ध है, जिस पर पाँचवीं शती ई० के पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि यह सूत्र 'तत्त्वार्थसूत्र' में पाँचवीं शताब्दी के पूर्व विद्यमान था। और पूज्यपाद ने 'संसारिणो मुक्ताश्च' (त.सू. २/१०) सूत्र की इसी सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'बारस अणुवेक्खा' की 'सव्ये वि पुग्गला' इत्यादि पाँच गाथाएँ 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की हैं, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं। ये प्रमाण आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की तीसरी-चौथी शती में ले आते हैं, जो पं० सुखलाल जी संघवी के पूर्वोद्धृत वचनानुसार उमास्वाति का काल है। तथा भगवती-आराधना और मूलाचार के पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान रहे। अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि 'द्वयं सल्लवखणियं' आदि गाथा में वर्णित द्रव्य के तीनों लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं ही प्रतिपादित किये हैं, तत्त्वार्थसूत्र से अनुकृत नहीं हैं।

इस तथ्य से एक महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है, वह यह कि तत्त्वार्थसूत्र का दिगम्बरीय पाठ श्वेताम्बरीय पाठ से प्राचीन है, क्योंकि उसमें 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' का आधारभूत सूत्र 'सद् द्रव्यलक्षणम्' विद्यमान है, जब कि श्वेताम्बरीय पाठ में वह ग्रहण नहीं किया गया। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्र में सत् का लक्षण बतलाया गया है। किन्तु 'सत्' का निर्देश हुए बिना उसके लक्षण का प्रतिपादन युक्तिसंगत नहीं है। अतः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्र का उल्लेख ही यह सिद्ध करता है कि इसके पूर्व 'सत्' का निर्देश करनेवाला 'सद् द्रव्यलक्षणम्' सूत्र का उल्लेख है। श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र में इस आधारभूत सूत्र का अभाव सिद्ध करता है कि वह दिगम्बरीय पाठ से अर्वाचीन है।

४१. 'स्थानांग' (१०) में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का उल्लेख तो है, परन्तु उनसे युक्त पदार्थ को 'सत्' नहीं कहा गया है। वहाँ केवल 'माउयाणुयोग' (मातृकानुयोग) शब्द की चर्चा है, जिसका अर्थ है 'उत्पादव्ययध्रौव्य' इस पदत्रयी का अनुयोग—'मातृकापदानि 'उप्यणेइ वा' इत्येवमादीनि तत्समूहो मातृकाकायः। --- मातृकानुयोगः = मातृका प्रवचनपुरुषस्योत्पा-दव्यय-ध्रौव्यलक्षणा पदत्रयी तस्या अनुयोगः।' (अभिधानराजेन्द्रकोश/भाग ६/ पृ. २३५)। उपाध्याय आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय (५/३०) में इस मातृकानुयोग को ही 'सत्' कहा है, जो शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से असंगत है।

२. कुन्दकुन्द ने समयसार (गा.१०९) में बन्ध के चार हेतु बतलाये हैं : मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, जब कि तत्त्वार्थसूत्र (८/१) में प्रमाद को भी बन्धहेतु बतलाया गया है। यदि कुन्दकुन्द ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण किया होता, तो वे भी बन्ध के पाँच ही हेतु बतलाते, चार नहीं। यतः उन्होंने केवल चार हेतु बतलाये हैं, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्र में पाँच हेतुओं की उपलब्धि विकास की सूचक है और विकास अर्वाचीनता का, अतः यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने चार बन्धप्रत्यय समयसार से ग्रहण किये हैं और एक उन्होंने स्वयं विस्तररुचि शिष्यों के अवबोधार्थ कषायप्रत्यय को विभाजित कर बढ़ाया है।

३. आचार्य कुन्दकुन्द ने नौ पदार्थ और सात तत्त्व दोनों का कथन किया है—

सच्चविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइ सत्त तच्चाइं।

जीवसमासाइं मुणी चउदस-गुणठाण-णामाइं ॥ ९७ ॥ भा.पा.।

अनुवाद—“हे मुनि! सर्वविरत होने पर भी तू नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, चौदह जीवसमासों और चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का चिन्तन कर।”

श्वेताम्बर-आगमों में केवल नौ पदार्थों का कथन है।^{४२} किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने नौ पदार्थों का कथन न कर सात तत्त्वों का कथन किया है। यतः सात तत्त्वों का कथन केवल कुन्दकुन्द के भावपाहुड में मिलता है, श्वेताम्बर-आगमों में नहीं, इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने कुन्दकुन्द-वर्णित नौ पदार्थों और सात तत्त्वों में से संक्षिप्त होने के कारण सात तत्त्वों की कथनपद्धति का अनुसरण किया है। अतः कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती हैं।

डॉ० सागरमल जी का मत है कि “दोनों (दिगम्बर और श्वेताम्बर) परम्पराओं में प्राचीन काल में नव पदार्थ ही माने जाते थे, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् दोनों में सात तत्त्वों की मान्यता भी प्रविष्ट हो गयी। चूँकि श्वेताम्बर प्राचीन स्तर के आगमों का अनुसरण करते थे, अतः उनमें नौ तत्त्वों की मान्यता की प्रधानता बनी रही, जब कि दिगम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थ के अनुसरण के कारण सात तत्त्वों की प्रधानता स्थापित हो गई।” (जै.ध.या.स./पृ.२१७)।

४२. श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने ‘जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जराभोग्नास्तत्त्वम्’ (त.सू.१/४) इस सूत्र का समन्वय ‘स्थानाङ्ग’ के निम्नलिखित सूत्र से किया है, “नव सभायपयत्था पण्णत्ते तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो”। (९/६६५/तत्त्वार्थसूत्र जैनागम-समन्वय/पृ.६)। किन्तु इस सूत्र में नौ पदार्थों का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरागमों में सात तत्त्वों का उल्लेख कहीं भी नहीं है।

यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि पुण्य-पाप को आस्रव-बन्ध में शामिल कर सात तत्त्वों की संक्षिप्त कथनपद्धति तत्त्वार्थसूत्रकार की देन नहीं है, अपितु दिगम्बरपरम्परा में उनके पूर्व से चली आ रही थी, जिसका उल्लेख कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में किया है। यह और बात है कि स्पष्टीकरण के लिए कुन्दकुन्द ने सर्वत्र नव पदार्थों का ही वर्णन किया है (स.सा.१३/पं.का.१०८)। तत्त्वार्थसूत्रकार को नौ पदार्थों के स्थान में सात तत्त्वों के कथन की प्रेरणा भावपाहुड से ही मिली है। यह कुन्दकुन्द के तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती होने का प्रमाण है। कुन्दकुन्द ने कहीं भी सात तत्त्वों का अलग-अलग नाम लेकर वर्णन नहीं किया, इसलिए कुन्दकुन्द के द्वारा तत्त्वार्थसूत्रकार का अनुकरण किये जाने की कल्पना नहीं की जा सकती।

४. कुन्दकुन्द ने जीवों के एकेन्द्रियादि चौदह भेदों को अभिहित करने के लिए जीवद्वाण (जीवस्थान) और जीवणिकाय^{४३} शब्दों का प्रयोग किया है। पूर्ववर्ती षट्-खण्डागम में इन्हें किसी भी शब्द से अभिहित नहीं किया गया है, केवल इन्द्रिय-मार्गणा की अपेक्षा चौदह भेदों के नाम बतला दिये गये हैं।^{४४} षट्खण्डागम में जीवसमास संज्ञा का प्रयोग गुणस्थान के अर्थ में किया गया है। (ष.खं./पु.१/१,१,२)। गुण और द्वाण (स्थान)^{४५} शब्द भी इसी अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। कुन्दकुन्द से उत्तरवर्ती

४३. क— एदाहि य णिव्वत्ता जीवद्वाणा उ करणभूदाहिं ॥ ६६ ॥ समयसार।

ख— एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।

मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥ ११२ ॥ पञ्चास्तिकाय।

४४. षट्खण्डागम/पु.१/१,१,३३-३५। षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड का 'जीवद्वाण' नाम टीकाकार वीरसेनस्वामी-कृत है, षट्खण्डागमकार-कृत नहीं। वह भी गुणस्थानों और मार्गणाओं की अपेक्षा सत् संख्या आदि रूप से जीवतत्त्व की मीमांसा करनेवाले शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है, जीव के एकेन्द्रियादि चौदह भेदों के अर्थ में नहीं। (देखिए, ष.खं./पु.१/प्रस्तावना/पृ.६२)। स्वयं वीरसेन स्वामी ने कहा है—“एत्थेदं जीवद्वाणं भावदो सुदभावपमाणं” अर्थात् इन (नामादि छह प्रमाणों) में से यह 'जीवस्थान' नाम का शास्त्र भावप्रमाण की अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप है। (ष.खं./पु.१/१,१,१/पृ. ८३)। षट्खण्डागमकारों के अनुसार जीव के एकेन्द्रियादि चौदह भेदों को 'इन्द्रियमार्गणास्थान' कहा जा सकता है।

४५. क—“गुणं पडुच्च उभयदो वि णत्थि अंतरं।” षट्खण्डागम/पु.५/१,६,५६।

अनुवाद—“गुणस्थान की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट, इन दोनों प्रकारों से अन्तर नहीं है, निरन्तर है।” (वही/पृ.४६)।

ख—“मणुस्सा चोद्दससु द्वाणेसु अत्थि मिच्छाइटी ---।” षट्खण्डागम/पु.१/१,१,२७। षट्खण्डागम के प्रथमसंस्करण में यहाँ द्वाणेसु के स्थान में गुणद्वाणेसु पाठ है। (देखिये, उपर्युक्त सूत्र की पादटिप्पणी १/षट्खण्डागम (तृतीयसंस्करण)/जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर तथा 'आवश्यक निवेदन' पृ. १६)।

मूलाचार में जीव के उक्त भेदसमूह को जीवसमास और जीवस्थान^{४६} संज्ञा दी गई है। कुन्दकुन्दकृत भावपाहुड^{४७} और पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि^{४८} में जीवसमास शब्द षट्खण्डागम की तरह गुणस्थान के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

जीवनिकाय के समान कुन्दकुन्द ने देवों के चार भेदों को भी निकाय शब्द से अभिहित किया है, यथा-देवा चउणिकाया (पं.का.११८)। श्वेताम्बर-आगमों में न तो जीवों के उक्त चौदह भेदों के लिए 'निकाय' शब्द का प्रयोग हुआ है, न देवों के चार भेदों के लिए। उपाध्याय आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र के 'देवाश्चतुर्णिकायाः' (४/१) सूत्र को व्याख्याप्रज्ञप्ति के "चउव्विहा देवा पणणात्ता, तं जहा भवणवई वाणमंतर जोइस वेमाणिया" (शतक २, उद्देश्य ७) इस वाक्य पर आश्रित बतलाया है।^{४९} किन्तु इसमें 'निकाय' शब्द अनुपलब्ध है। इससे सिद्ध होता है कि 'श्रेणी' या 'प्रकार' के अर्थ में 'निकाय' शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द की अपनी विशेषता है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार ने कुन्दकुन्दकृत पञ्चास्तिकाय (गा.११८) के देवा चउणिकाया इस गाथांश को ही संस्कृत में रूपान्तरित करके तत्त्वार्थसूत्र में संगृहीत कर लिया है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि दोनों में शब्दशः साम्य है।

५. तत्त्वार्थसूत्र के नामकरण में तथा 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्र में जिस तत्त्वार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है, वह भी कुन्दकुन्द के ही साहित्य में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। यह तत्त्व और अर्थ, इन दो शब्दों के योग से बना हुआ विशिष्ट शब्द है, जो तत्त्वसहित पदार्थ (तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः-स.सि.१/२) अथवा तत्त्वरूप पदार्थ (तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः-स.सि.१/२) का वाचक है। श्वेताम्बर-आगमों में यह उपलब्ध नहीं है। उपाध्याय आत्माराम जी ने 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्र का आगमिक आधार उत्तराध्ययन की निम्नलिखित गाथा को बतलाया है—

तहियाणं तु भावाणं सञ्भावे उवाएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं विद्याहियं॥^{५०}

४६. क—एइंदियादि पाणा चोइस दु हवंति जीवठाणाणि ॥ ११८९ ॥ मूलाचार।

ख—तिरियगदीए चोइस हवंति सेसाणु जाण दो दो दु।

मग्गणठाणस्सेदं णेयाणि समासठाणाणि ॥ १२०१ ॥ मूलाचार।

४७. सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।

जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणाणामाईं ॥ ९७ ॥ भावपाहुड।

४८. "जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः। --- एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि।" सर्वार्थसिद्धि १/८/ अनुच्छेद ३४/ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

४९. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय ४/१/पृ.९५।

५०. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय १/२।

अनुवाद—“वास्तविक भावों के सद्भाव का उपदेश देने तथा जिस रूप से उन्हें जाना जाता है, उसी रूप से उनका श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है।”

इस गाथा में न तो तत्त्वार्थ शब्द उपलब्ध होता है, न तत्त्व, न अर्थ, जब कि कुन्दकुन्द के नियमसार की इन दो गाथाओं में तत्त्वार्थ शब्द पाया जाता है—

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवन्ति तच्चत्था ॥ ८ ॥

अनुवाद—“भगवान् के मुख से निकले हुए पूर्वापरदोष-रहित शुद्ध बचन को आगम कहा गया है। उस आगम से तत्त्वार्थों का कथन हुआ है।”

जीवा पोगलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इति भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥ ९ ॥

अनुवाद—“जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, इन्हें तत्त्वार्थ कहा गया है। ये नाना गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं।”

इस प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने सात तत्त्वों के साथ तत्त्वार्थ शब्द का संग्रह भी कुन्दकुन्द के साहित्य से किया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वार्थसूत्र एक संग्रहग्रन्थ है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार उमास्वाति ने भी यह स्वीकार किया है।^{५१}

उपाध्याय आत्माराम जी ने प्रसिद्ध श्वेताम्बर वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्रसूरि के सिद्धहेमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति से निम्नलिखित शब्द उद्धृत किये हैं—“उपोमा-स्वातिं संङ्गृहीतारः” (२/२/३९) अर्थात् उमास्वाति संग्रहकर्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसके आगे उपाध्याय जी लिखते हैं—“आगमों से संग्रह किये जाने से यह ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) भी संग्रहग्रन्थ माना गया है। --- कहीं पर तो शब्दशः संग्रह है, अर्थात् आगम के शब्दों को संस्कृतरूप दे दिया गया है और कहीं पर अर्थसंग्रह है, अर्थात् आगम के अर्थ को लक्ष्य में रखकर सूत्र की रचना की गयी है। कहीं-कहीं पर आगम में आये हुए विस्तृत विषयों को संक्षेपरूप से वर्णन किया गया है।”^{५२} इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि ऊपर उद्धृत सूत्रों की शब्दरूप सामग्री तथा

५१. तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / सम्बन्धकारिका।

५२. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय / प्रस्तावना / पृ.(छ)।

क्वचित् अर्थरूप सामग्री भी श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं है, जब कि दिगम्बर-ग्रन्थों में उपलब्ध है। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त शब्द और अर्थरूप सामग्री तथा संरचनाशैली का संग्रह कुन्दकुन्दसाहित्य से किया है। अतः पूर्वोक्त श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द ने तत्त्वार्थसूत्रकार का अनुकरण किया है। इस प्रकार सिद्ध है कि कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती हैं।

यतः उमास्वाति का स्थितिकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी है, अतः कुन्दकुन्द ईसा की द्वितीय शताब्दी से पूर्व हुए थे, यह स्वतः सिद्ध होता है।

४.४. उमास्वाति कुन्दकुन्दान्वय के आचार्य

दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की नन्दिसंघीय पट्टावली में उमास्वामी (उमास्वाति) का नाम कुन्दकुन्द के बाद आया है। प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी वह कुन्दकुन्द के ही पश्चात् है^{५३} तथा अनेक शिलालेखों और प्रशस्तियों में उमास्वामी या उमास्वाति को कुन्दकुन्दान्वय में उत्पन्न बतलाया गया है।^{५४} सन् १९२९ में पं० सुखलाल जी संघवी के पत्र के उत्तर में पं० जुगलकिशोर जी मुखार ने लिखा था—

“कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति के सम्बन्धवाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ हैं, परन्तु वे सब इस समय मेरे सामने नहीं हैं। हाँ, श्रवणबेल्गोल के जैन शिलालेखों का संग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला का २८ वाँ ग्रन्थ है। इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ शिलालेख दोनों के उल्लेख तथा सम्बन्ध को लिए हुए हैं। पहले पाँच लेखों में ‘तदन्वये’ पद के द्वारा और नं० १०८ में ‘वंशे तदीये’ पदों के द्वारा उमास्वाति को कुन्दकुन्द के वंश में लिखा है। इनमें सबसे पुराना शिलालेख नं० ४७ है, जो शक सं. १०३७ का लिखा हुआ है। --- मैं अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्द का निकटान्वयी मानता हूँ, शिष्य नहीं। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्द के प्रशिष्य रहे हों।”^{५५}

५३. देखिए, अष्टम अध्याय के अन्त में विस्तृत-सन्दर्भ के अन्तर्गत गुर्वावली का मूलपाठ।

५४. श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र-सञ्जातसुचारणर्द्धिः ॥ ४ ॥

अभूदुमास्वाति-मुनीश्वरोऽसावाचार्य-शब्दोत्तर-गुद्धपिच्छः।

तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥ ५ ॥ जै.शि.सं./ मा.च./ भा.१/ ले.

क्र.४७।

५५. ‘अनेकान्त’ वर्ष १/ किरण ६-७/ वीर नि.सं. २४५६/ पृष्ठ ४०५-४०६।

यतः शिलालेखों में उमास्वाति को कुन्दकुन्दान्वय में उद्धृत बतलाया गया है और पट्टावलियों में कुन्दकुन्द के बाद उनका नाम आया है, इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द उमास्वाति से पूर्ववर्ती थे।

५

द्वि. श. ई. की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

५.१. तिलोयपण्णत्ती का रचनाकाल

आठवीं शताब्दी ई० के वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका में तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ के मतों का उल्लेख किया है और तिलोयपण्णत्ती से अनेक उद्धरण भी दिये हैं।^{५६} यतिवृषभाचार्य ने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्रों की भी रचना की है। वीरसेन स्वामी ने जयधवला में लिखा है—

“तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चेव आइरियपरम्पराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो। पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवादपंचमपुव्व-दंसमवत्थु-तदियकसायपाहुड-महण्ण-वपारएण गंथवोच्छेदभएण पवयणवच्छल-परवसीकय-हियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदि-सदमेत्तगाहाहि उवसंघारिदं। पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसद-गाहाणं गुणहर-मुहकमल-विणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुणिसुत्तं कयं।” (ज.ध./क.पा.भा.१/गा.१/ अनु. ६८/पृ.७९-८०)।

अनुवाद—“तत्पश्चात् अंगों और पूर्वों का एकदेश ही आचार्यपरम्परा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवे पूर्व की दसवीं वस्तुसम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृतरूपी महासागर के पार को प्राप्त श्री गुणधर-भट्टारक ने जिनका हृदय प्रवचन के वात्सल्य से भरा हुआ था, सोलह हजार पदप्रमाण इस पेज्जदोसपाहुड का ग्रन्थविच्छेद के भय से, केवल एक सौ अस्सी गाथाओं के द्वारा उपसंहार किया। पुनः वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्य-परम्परा से आती हुई आर्यमंशु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं। पुनः उन दोनों आचार्यों के पादमूल में बैठकर प्रवचनवत्सल यतिवृषभ-भट्टारक ने

५६. क - “दुगुण-दुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगे त्ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो य णव्वदे।”

धवला-टीका / षट्खण्डागम / पु.३/१,२,४/ पृ.३५।

ख - “तं वक्खाणाभासमिदि कुदो णव्वदे? जोइसियभागहार-सुत्तादो चंदाइच्चबिंबपमाण-परुवयतिलोयपण्णत्तिसुत्तादो च।” धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.३/१,२,४/पृ.३६।

गुणधर आचार्य के मुखकमल से निकली हुई उन एक सौ अस्सी गाथाओं के अर्थ को अच्छी तरह सुनकर उन पर चूर्णिसूत्रों की रचना की।”

वीरसेन स्वामी के इन वचनों से ज्ञात होता है कि यतिवृषभ, आर्य मंक्षु और नागहस्ती के समकालीन थे तथा ये दोनों आचार्य, गुणधराचार्य के पश्चात् कई आचार्यों के हो जाने के बाद हुए थे।

श्वेताम्बर-परम्परा में भी आर्यमंगु और आर्यनागहस्ती के नाम उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे समकालीन नहीं थे। उनके कालवैषम्य पर प्रकाश डालते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—

“नन्दिसूत्र में आर्यमंगु के पश्चात् आर्यनन्दिल को स्मरण किया गया है और उनके पश्चात् नागहस्ती को। नन्दिसूत्र की चूर्णि और हरिभद्र की नन्दिवृत्ति में भी यही क्रम पाया जाता है। तथा दोनों में आर्यमंगु का शिष्य आर्यनन्दिल को और आर्यनन्दिल का शिष्य नागहस्ती को बतलाया है। इससे नागहस्ती आर्यमंगु के प्रशिष्य अवगत होते हैं। किन्तु मुनि कल्याणविजय जी का कहना है कि आर्यमंगु और आर्यनन्दिल के बीच में चार आचार्य और हो गये हैं और नन्दिसूत्र में उनसे सम्बद्ध दो गाथाएँ छूट गई हैं, जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस कथन के समर्थन में उनका कहना है कि आर्यमंगु का युगप्रधानत्व वीर नि० ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्यनन्दिल आर्यरक्षित के पश्चात् हुए थे और आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी० नि० सं० ५९७ में हुआ था। इसलिए आर्यनन्दिल वी० नि० सं० ५९७ के पश्चात् हुए थे। इस तरह मुनि जी की कालगणना के अनुसार आर्यमंगु और आर्यनन्दिल के मध्य में १२७ वर्ष का अन्तराल है। और उसमें आर्यनन्दिल का समय और जोड़ देने पर आर्यमंगु और नागहस्ती के बीच में १५० वर्ष के लगभग अन्तर बैठा है। मुनि कल्याणविजय जी के अनुसार आर्यमंगु और नागहस्ती समकालीन नहीं हो सकते।”(जै.सा.इ./भा.१/पृ.१३-१४)।

यतः आर्यमंगु का आचार्यकाल वी० नि० सं० ४५१ से ४७० तक अर्थात् ई० पू० ७६ से ई० पू० ५७ तक था तथा आर्यनागहस्ती ने उनसे १५० वर्ष बाद आचार्य पद ग्रहण किया था, इसलिए वे ईसोत्तर ९३ के लगभग विद्यमान थे। इस प्रकार चूँकि वे दोनों समकालीन नहीं थे, इसलिए यतिवृषभ श्वेताम्बरपरम्परा के आर्यमंगु और नागहस्ती के अन्तेवासी नहीं हो सकते, न ही श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा उल्लेख है कि यतिवृषभ ने उनके पादमूल में बैठकर कसायपाहुड का श्रवण किया था। अतः वीरसेन स्वामी द्वारा उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ती उनसे भिन्न थे। वे दिग्म्बर-परम्परा में ही उत्पन्न हुए थे। (देखिये, आगे अध्याय १२/प्रकरण ३/शीर्षक ४)।

तिलोयपण्णत्ती के अनेक पद्यों में संगाइणी, लोकविनिश्चय तथा लोकविभाग नामक ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है।^{५७} पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का कथन है कि यह लोकविभाग ग्रन्थ वही है, जिसकी रचना आचार्य सर्वनन्दी ने कांची के राजा सिंहवर्मा के राज्य में शकसंवत् ३८० (४५८ ई०) में की थी।^{५८} इसके अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ती में भगवान् महावीर के निर्वाण से लेकर १००० वर्ष (४७३ ई०)^{५९} तक की अवधि में हुए राजाओं के काल का निर्देश किया गया है। इन दो तथ्यों के आधार पर मुख्तार जी ने यतिवृषभ का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी ई० माना है।^{६०} पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये का भी यही मत है। किन्तु पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य ने तिलोयपण्णत्ती के कुछ गद्यांशों को धवलाटीका से गृहीत मानकर तथा अन्य कतिपय कारणों से वर्तमान तिलोयपण्णत्ती को नौवीं शताब्दी ई० में वीरसेन स्वामी के शिष्य जिनसेन द्वारा रचित बतलाया है।^{६१}

माननीय पं० फूलचन्द्र जी के मत का निरसन पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने पुरातन-जैनवाक्य-सूची की प्रस्तावना में विस्तार से किया है। उन्होंने सोदाहरण सिद्ध किया है कि तिलोयपण्णत्ती और धवलाटीका में जो गद्यांश एक जैसे हैं, उनमें से कुछ तिलोयपण्णत्ती से धवला में ग्रहण किये गये हैं और कुछ धवला से तिलोयपण्णत्ती में आठवीं शताब्दी ई० के बाद प्रक्षिप्त हुए हैं। तिलोयपण्णत्ती का शेषभाग मौलिक है। मुख्तार जी लिखते हैं कि “कुछ प्रक्षिप्त अंशों के कारण किसी ग्रन्थ को दूसरा ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।”^{६२} तथा तिलोयपण्णत्ती के ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रचित होने की मुख्तार जी आदि विद्वानों की मान्यता का निरसन युक्ति-प्रमाण-पूर्वक ज्योतिषाचार्य डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने किया है। उनका हेतुवाद नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। वे लिखते हैं—

“आचार्य वीरसेन के उल्लेखानुसार चूर्णिसूत्रकार का मत कसाययाहुड और षट्खण्डागम के मत के समान ही प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है।^{६३} वि० की ग्यारहवीं

५७. तिलोयपण्णत्ती / महाधिकार ४ / गा.२४७४ तथा महाधिकार ९ / गा.१०।

५८. पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्तावना / पृ.३१।

५९. तिलोयपण्णत्ती / महाधिकार ४ / गा.१५१५-१५२७।

६०. पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्तावना / पृ.३३-३४।

६१. जैनसिद्धांतभास्कर / भाग ११ / किरण १ / जून १९४४।

६२. पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्तावना / पृ. ५४-५७।

६३. पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने भी लिखा है कि “वीरसेन ने यतिवृषभ को एक बहुत प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लिखित किया है और एक प्रसंग पर रागद्वेषमोह के अभाव को उनकी वचन-प्रमाणता में कारण बतलाया है—कुदो णब्बदे? एदम्हादो चेव जइवसहाइरियमुहकमल-

शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'लब्धिसार' नामक ग्रन्थ में पहले यतिवृषभ के मत का निर्देश किया है, तदनन्तर भूतबलि के मत का। इससे स्पष्ट है कि यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र मूलग्रन्थों के समान ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थे।
 --- चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ के व्यक्तित्व में निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध हैं—

१. यतिवृषभ आठवें कर्मप्रवाद के ज्ञाता थे।
२. नन्दिसूत्र के प्रमाण से ये कर्मप्रकृति के भी ज्ञाता सिद्ध होते हैं।
३. आर्यमंथु और नागहस्ती का शिष्यत्व इन्होंने स्वीकार किया था।
४. आत्मसाधक होने के साथ ये श्रुताराधक हैं।
५. धवला और जयधवला में भूतबलि और यतिवृषभ के मतभेद परिलक्षित होते हैं।
६. व्यक्तित्व की महनीयता की दृष्टि से यतिवृषभ भूतबलि के समकक्ष हैं। इनके मतों की मान्यता सार्वजनीन है।
७. चूर्णिसूत्रों में यतिवृषभ ने सूत्रशैली को प्रतिबिम्बित किया है।
८. परम्परा से प्रचलित ज्ञान को आत्मसात् कर चूर्णिसूत्रों की रचना की गई है।

९. यतिवृषभ आगमवेत्ता तो थे ही, पर उन्होंने सभी परम्पराओं में प्रचलित उपदेश-शैली का परिज्ञान प्राप्त किया और अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का चूर्णिसूत्रों में उपयोग किया।" (ती.म.आ.प. / खं.२ / पृ.८२)।

इन शब्दों में यतिवृषभ के व्यक्तित्व की महिमा प्रकट करने के बाद डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—

“चूर्णिसूत्रकार आचार्य यतिवृषभ के समय के सम्बन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है कि ये षट्खण्डागमकार भूतबलि के समकालीन अथवा उनके कुछ ही उत्तरवर्ती हैं। कुन्दकुन्द तो इनसे अवश्य प्राचीन हैं।” (ती.म.आ.प. / खं.२ / पृ.८२)।

यतिवृषभ ने तिलोपपण्णत्ती में लोकविभाग, संगीत और लोकविनिश्चय ग्रन्थों का उल्लेख किया है। (देखिये, पा.टि.५७)। वर्तमान में सर्वनन्दी द्वारा शक सं० ३८०

विणिगय-चुणिसुत्तादो। चुणिसुत्तमण्णहा किं ण होदि? ण, रागदोसमोहा-भावेण पमाणत्तमुवगय-जइवसह-वयणस्स असच्चत्तविरोहादो” जयधवला / प्र.पृ.४६। (पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्तावना / पृ०३१।

(४५८ ई०) में रचित लोकविभाग नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार आदि विद्वानों का कथन है कि यतिवृषभ ने इसी का उल्लेख किया है। इस पर डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री कहते हैं—“यतिवृषभ के समक्ष यही ‘लोकविभाग’ था, इसका कोई निश्चय नहीं। लोकानुयोग के ग्रन्थ प्राचीन हैं और संभवतः यतिवृषभ के समक्ष कोई प्राचीन लोकविभाग रहा होगा।” (ती.म.आ.प./खं.२/पृ.८३)। वे आगे लिखते हैं—“कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि सर्वनन्दी के लोकविभाग का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी है। अतः यतिवृषभ का समय उसके बाद होना चाहिए। पर इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र अभिमत यह है कि यतिवृषभ का समय इतनी दूर तक नहीं रखा जा सकता है।” (ती. म. आ. प./खं.२/पृ.८४)। इसकी पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित हेतु प्रस्तुत किये हैं—

“आचार्य यतिवृषभ ने अपने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ में भगवान् महावीर के निर्वाण से लेकर १००० वर्ष तक होने वाले राजाओं के काल का उल्लेख किया है। अतः उसके बाद तो उनका होना संभव नहीं है। विशेषावश्यकभाष्यकार श्वेताम्बराचार्य श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ के आदेशकषाय-विषयक मत का उल्लेख किया है और विशेषावश्यकभाष्य की रचना शक संवत् ५३१ (वि० सं० ६६६) में होने का उल्लेख मिलता है। अतः यतिवृषभका समय वि० सं० ६६६ के पश्चात् नहीं हो सकता।

“आचार्य यतिवृषभ पूज्यपाद से पूर्ववर्ती हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में उनके एक मत विशेष का उल्लेख किया है—“अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ताः।”^{६४} अर्थात् जिन आचार्यों के मत से सासादनगुणस्थानवर्ती जीव एक इन्द्रिय जीवों में उत्पन्न नहीं होता है, उनके मत की अपेक्षा १२/१४ भाग स्पर्शनक्षेत्र नहीं कहा गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादन गुणस्थानवाला मरण कर नियम से देवों में उत्पन्न होता है। यह आचार्य यतिवृषभ का ही मत है। लब्धिसार-क्षपणासार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

जदि मरदि सासणो सो गिरय-तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि।

णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥ ३४९ ॥

“अर्थात् आचार्य यतिवृषभ के वचनानुसार यदि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव मरण करता है, तो नियम से देव होता है।

६४. सर्वार्थसिद्धि/भारतीय ज्ञानपीठ/१/८/पा.टि./पृ.३७ तथा सर्वार्थसिद्धि/भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्/सन् १९९५/१/८/पृ.२२।

“आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों में अपने इस मत को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

“आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं। णियमा देवगदिं गच्छदि।” (कसायपाहुड/अधिकार१४/सूत्र ५४४)।

“इस उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं और आचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि० सं० ५२६ में द्रविडसंघ की स्थापना की है। अत एव यतिवृषभ का समय वि० सं० ५२६ से पूर्व सुनिश्चित है।

“कितना पूर्व है, यह यहाँ विचारणीय है। गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ति के समय का निर्णय हो जाने पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि यतिवृषभ का समय आर्यमंक्षु और नागहस्ति से कुछ ही बाद है।

“आधुनिक विचारकों ने तिलोयपण्णती के कर्ता यतिवृषभ के समय पर पूर्णतया विचार किया है। पंडित नाथूराम प्रेमी और श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने यतिवृषभ का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी प्रायः इसी समय को स्वीकार किया है। पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने वर्तमान तिलोयपण्णती के संस्करण का अध्ययन कर उसका रचनाकाल वि० की नवीं शताब्दी स्वीकार किया है। पर यथार्थतः यतिवृषभ का समय अन्तःसाक्ष्य के आधार पर नागहस्ति के थोड़े अनन्तर सिद्ध होता है। यतिवृषभ ने तिलोयपण्णती के चतुर्थ अधिकार में बताया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण होने के पश्चात् ३ वर्ष, आठ मास और एक पक्ष के व्यतीत होने पर पञ्चम काल नामक दुषम काल का प्रवेश होता है। इस काल में वीर नि० सं० ६८३ तक केवली, श्रुतकेवली और पूर्वधारियों की परम्परा चलती है। वीर-निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् शक राजा उत्पन्न होता है। शकों का राज्यकाल २४२ वर्ष बतलाया है।^{६५} इसके पश्चात् यतिवृषभ ने गुप्तों के राज्यकाल का उल्लेख किया है। और इनका राज्यकाल २५५ वर्ष बतलाया है। इसमें ४२ वर्ष समय चतुर्मुख कल्की का भी है। इस प्रकरण के आगेवाली गाथाओं में आन्ध्र, गुप्त आदि नृपतियों के वंशों और राज्यवर्षों का निर्देश किया है। इस निर्देश पर से डा० ज्योतिप्रसाद जी ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है—

“आचार्य यतिवृषभ ई० सन् ४७८, ४८३ या ई० सन् ५०० में वर्तमान रहते, जैसा कि अन्य विद्वानों ने माना है, तो वे गुप्तवंश की ई० सन् ४३१ में समाप्ति की चर्चा नहीं करते। उस समय (ई० सन् ४१४-४५५) कुमारगुप्त प्रथम का शासनकाल

६५. णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसड्डिवासविच्छेदे।

जादो य सगणरिंदो रज्जं वंसस्स दुसयबादाला ॥ ४ / १५१५ / तिलोयपण्णती ॥

था, जिसका अनुसरण उसके वीर पुत्र स्कन्दगुप्त (ई० ४५५-४६७) ने किया। इतिहासानुसार यह राजवंश ५५० ई० सन् तक प्रतिष्ठित रहा है। तिलोयपण्णत्ती की गाथाओं द्वारा यह प्रकट होता है कि गुप्तवंश २०० या १७६ ई० सन् में प्रारम्भ हुआ। यह कथन भी भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है, क्योंकि इस का प्रारम्भ ई० सन् ३१९-३२० में हुआ था। इस प्रकार गुप्तवंश के लिए कुल समय २३१ वर्ष या २५५ वर्ष यथार्थ घटित होता है। शकों का राज्य निश्चय ही वीर नि० सं० ४६१ (ई० पू० ६६) में प्रारंभ हो गया था और यह ई० सन् १७६ तक वर्तमान रहा। ई० सन् ५वीं शती का लेखक अपने पूर्व के नाम या काल के विषय में भ्रान्ति कर सकता है, पर समसामयिक राजवंशों के काल में इस प्रकार की भ्रान्ति संभव नहीं है।”^{६६}

“अत एव इतिहास के आलोक में यह निस्संकोच माना जा सकता है कि ‘तिलोयपण्णत्ती’ की ४/१४७४-१४९६ और ४/१४९९-१५०३ तथा उसके आगे की गाथाएँ किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निबद्ध की गई हैं। निश्चय ही ये गाथाएँ ई० सन् ५०० के लगभग प्रक्षिप्त हैं।”

“तिलोयपण्णत्ती के प्रारम्भिक अंशरूप सैद्धान्तिक तथ्य मूलतः यतिवृषभ के हैं, जिनमें उन्होंने महावीर नि० सं० ६८३ या ७०३ (ई० सन् १५६-१७६) तक की सूचनाएँ दी हैं। तिलोयपण्णत्ती के अन्य अंशों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यतिवृषभ द्वारा विरचित इस ग्रन्थ का प्रस्तुत संस्करण किसी अन्य आचार्य ने सम्पादित किया है। यही कारण है कि सम्पादनकर्ता से इतिहास-सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियाँ हुई हैं। यतिवृषभ का समय शक सं० के निर्देश के आधार पर तिलोयपण्णत्ती के आलोक में भी ई० सन् १७६ के आसपास सिद्ध होता है।

“यतिवृषभ अपने युग के यशस्वी आगमज्ञाता विद्वान् थे। ई० सन् सातवीं शती के तथा उत्तरवर्ती लेखकों ने इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इनके गुरुओं के नामों में आर्यमंक्षु और नागहस्ति की गणना है। ये दोनों आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं द्वारा समान रूप से सम्मानित थे। आर्यमंक्षु का समय ई० सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्ति का समय ई० सन् १००-१५० तक का माना गया है। यतिवृषभ नागहस्ति के अन्तेवासी बताये गये हैं। अतः यह संभव है कि चूणिसूत्रों की रचना के पश्चात् तिलोयपण्णत्ती की रचना इन्होंने की। मथुरा में संचालित सरस्वती-आन्दोलन का प्रभाव इन पर भी रहा हो और ये भी ई० सन् १५०-१८० तक सम्मिलित रहे हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इन्होंने ग्रन्थरूप में सरस्वती का अवतरण कर परम्परा को जीवित रखा है।

“तिलोयपण्णत्ती के वर्तमान संस्करणों में भी कुछ ऐसी गाथाएँ समाविष्ट हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में पाई जाती हैं। इस समता से भी उनका समय कुन्दकुन्द के पश्चात् आता है।

“विचारणीय प्रश्न यह है कि यतिवृषभ के पूर्व यदि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का ज्ञान समाप्त हो गया होता, तो यतिवृषभ को कर्मप्रकृति का ज्ञान किससे प्राप्त होता? अतः यतिवृषभ का स्थिति काल ऐसा होना चाहिए, जिसमें कर्मप्रकृतिप्राभृत का ज्ञान अवशिष्ट रहा हो। दूसरी बात यह है कि षट्खण्डागम और कषायप्राभृत में अनेक तथ्यों में मतभेद है और इस मतभेद को तन्त्रान्तर कहा है। धवला और जयधवला में भूतबलि और यतिवृषभ के मतभेद की चर्चा आई है। इससे भी यतिवृषभ को भूतबलि से बहुत अर्वाचीन नहीं माना जा सकता है।” (ती.म.आ.प. / खं.२ / पृ. ८४-८७)।

इस प्रकार आचार्य यतिवृषभ का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

५.२. तिलोयपण्णत्ती में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण

तिलोयपण्णत्ती में नौ महाधिकार हैं, जिनमें अन्तिम महाधिकार का नाम सिद्धलोयपण्णत्ती (सिद्धलोकप्रज्ञप्ति) है। इसके भीतर पाँच अन्तराधिकार रखे गये हैं—१. सिद्धों की निवासभूमि, २. संख्या, ३. अवगाहना, ४. सौख्य और ५. सिद्धत्व-हेतु-भाव।^{६७} आचार्य यतिवृषभ ने सिद्धत्व के हेतुभूत भावों का वर्णन करने के लिए प्रस्तावना के रूप में निम्नलिखित गाथा स्वयं रची है—

जह चिरसंचिदमिंधणमणलो पवणाहदो लहुं दहइ।

तह कम्मिंधणमहियं खणेण ज्ञाणाणलो दहइ ॥ ९/२२ ॥ ति.प.।

अनुवाद—“जैसे चिरसञ्चित ईंधन को पवन से आहत अग्नि शीघ्र जला देती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि कर्मरूपी प्रचुर ईंधन को क्षणभर में भस्म कर देती है।”

इसके पश्चात् तिलोयपण्णत्तिकार ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की उन विभिन्न गाथाओं को लाकर रख दिया है, जिनमें स्वभाव-स्थिति, शुद्धात्मध्यान, शुद्धोपयोग, स्वात्मानुचरण आदि नामों से जानी जाने वाली मोक्ष की हेतुभूत शुभाशुभभाव-निवृत्ति एवं उस अवस्था

६७. उम्मग-संठियाणं भव्वाणं मोक्खमग्गदेसयरं।

पणमिय संतिजिणेसं वोच्छामो सिद्धलोयपण्णत्ती ॥ ९/१ ॥

सिद्धाण णिवासखिदी संखा ओगाहणाणि सोक्खाइं।

सिद्धत्तहेतुभावो सिद्धजगे पंच अहियारा ॥ ९/२ ॥ तिलोयपण्णत्ती।

में किये जाने वाले स्वात्मचिन्तन के प्रकार का वर्णन है। उन गाथाओं के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध अथवा किसी पाद को बदलकर ग्रन्थकार ने कुछ नयी गाथाएँ भी रची हैं। इस तरह 'सिद्धलोकपण्णती' नामक महाधिकार के 'सिद्धत्वहेतुभाव' नामक अन्तराधिकार की रचना प्रायः कुन्दकुन्द की गाथाओं से की गई है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो अप्पाणं हवदि ज्ञादा ॥ २/९९ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“न मैं पर का हूँ, न पर मेरे हैं, मैं तो एकमात्र ज्ञान हूँ, ऐसा जो ध्यान में चिन्तन करता है, वह आत्मा का ध्याता होता है।”

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।

समवट्टिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि ज्ञादा ॥ २/१०४ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“जो मोहमल का विनाश कर, विषयों से विरक्त हो और मन को रोककर स्वभाव में स्थित होता है, वह आत्मा का ध्याता होता है।”

प्रवचनसार की इन गाथाओं में 'सो अप्पाणं हवदि ज्ञादा' इस वाक्य की पुनरावृत्ति से सिद्ध है कि ये गाथाएँ आत्मध्याता के स्वरूप-निरूपक प्रकरण से सम्बद्ध हैं। प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार में क्रमांक ९९ से लेकर १०४ तक छह गाथाओं में आत्मध्याता के स्वरूप का निरूपण किया गया है। उनमें 'णाहं होमि परेसिं' इस गाथा (९९) से निरूपण शुरू होता है और 'जो खविदमोहकलुसो' इस गाथा (१०४) पर समाप्त होता है। प्रवचनसार के आत्मध्याता-प्रकरण से सम्बद्ध होने के कारण निश्चित होता है कि ये दोनों गाथाएँ मूलतः प्रवचनसार की हैं। तिलोकपण्णत्तिकार ने 'णाहं होमि परेसिं' इस गाथा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और इसके बाद की दो गाथाएँ छोड़कर 'जो एवं जाणित्ता' (प्र.सा. २/१०२) इत्यादि गाथा को उसके उत्तरार्ध में परिवर्तन कर साथ में रख दिया है। इस तरह ये दोनों गाथाएँ संक्षेप में सिद्धत्व के हेतुभूत भाव की प्रतिपादक बन गयी हैं। प्रवचनसार की 'जो एवं जाणित्ता' गाथा इस प्रकार है—

जो एवं जाणित्ता ज्ञादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।

सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ २/१०२ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“जो श्रावक और श्रमण निजात्मा को (एक उपयोगलक्षण आत्मा ही ध्रुव है) ऐसा जानकर परमात्मा का ध्यान करता है, वह विशुद्ध होता हुआ मोहग्रन्थि (मिथ्यात्व) का विनाश करता है।”

प्रवचनसार में यह गाथा 'णाहं होमि परेसिं' गाथा से दो गाथाओं के बाद निबद्ध है, किन्तु तिलोयपण्णत्तिकार ने उपर्युक्त प्रयोजन से इसे ठीक उसके बाद उत्तरार्ध-परिवर्तन के साथ इस प्रकार रख दिया है—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो अप्पाणं हवदि ज्ञादो ॥ ९/३६ ॥ ति.प.।

जो एवं जाणित्ता ज्ञादि परं अप्पयं विसुद्धप्पा।

अणुवममपारमदिसयसोक्खं पावेदि सो जीओ ॥ ९/३७ ॥ ति.प.।

इसके अतिरिक्त 'णाहं होमि परेसिं' गाथा के सो अप्पाणं हवदि ज्ञादा इस अन्तिम चरण के स्थान में सो मुच्चइ अट्टकम्पेहिं (वह आठ कर्मों से मुक्त हो जाता है) वाक्य रखकर भी सिद्धत्वहेतुभाव को व्यक्त करनेवाली एक नयी गाथा रच दी है। देखिए—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो मुच्चइ अट्टकम्पेहिं ॥ ९/३० ॥ ति.प.।

प्रवचनसार में लगभग ऐसी ही एक गाथा और है—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।

इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जघजादरूवधरो ॥ ३/४ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“न मैं पर का हूँ, न पर मेरे हैं, न इस लोक में मेरा कुछ है, ऐसा निश्चित कर जितेन्द्रिय आत्मा यथाजातरूपधर (नग्न) हो जाता है।”

इस गाथा के उत्तरार्ध को पूर्णतः परिवर्तित कर इसे भी सिद्धत्वहेतुभाव का प्ररूपक बनाकर तिलोयपण्णत्ती में रख दिया गया है। यथा—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।

एवं खलु जो भावइ सो पावइ सव्वकल्लाणं ॥ ९/३८ ॥ ति.प.।

अनुवाद—“न मैं पर का हूँ, न पर मेरे हैं, न इस लोक में मेरा कुछ है,” ऐसा जो भाता (चिन्तन करता) है, वह सर्वकल्याण को पा लेता है।”

इस प्रकार प्रवचनसार की इन गाथाओं में यतिवृषभाचार्य ने स्वाभीष्ट विभिन्न शब्दों का प्रयोग कर उनमें वर्णित स्वपरभेद-विज्ञान एवं आत्मध्यान की विभिन्न प्रकार से मोक्षहेतुता प्रकट की है। परद्रव्यों से स्वात्मा की भिन्नता का दर्शन और चिन्तन ही वह आत्मध्यान है, जिससे कर्मों का क्षय होता है। इस आत्मध्यान का प्ररूपण आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में बड़े प्रभावक शब्दों में किया है। यतिवृषभाचार्य

को वह बहुत भाया। उसके प्ररूपण के लिए इनसे अच्छे शब्दों का प्रयोग और नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने आत्मध्यान के प्ररूपणार्थ कुन्दकुन्द की गाथाएँ ज्यों की त्यों अपना लीं और कहीं-कहीं उपयुक्त स्थान में उपर्युक्त शब्दों का प्रतिस्थापन कर उन्हें अपने अभीष्ट विषय का प्रतिपादक बना लिया।

प्राचीनकाल में यह साहित्यिक चोरी नहीं कहलाती थी। अस्तेय-महाव्रतधारी मुनियों को न ख्यातिलाभ की चाह थी, न अर्थलाभ की। उन्हें केवल प्रभावक शब्दों में जिनोपदेश के प्रतिपादन की चाह थी। इसलिए अपने अभीष्ट जिनोपदेश के प्रतिपादनार्थ जहाँ उन्हें पूर्वरचित सुन्दर गाथाएँ उपलब्ध हो जाती थीं, वहाँ से उन्हें निःसंकोच ग्रहण कर लेते थे, इससे उनकी पुनरावृत्ति का निरर्थक परिश्रम और समय का अपव्यय बच जाता था।

इसी प्रकार प्रवचनसार की 'जो खविदमोहकलुसो' इत्यादि गाथा के अन्तिम चरण सो अप्पाणं हवदि झादा के स्थान में भी एक बार सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं (वह मोक्षसुख प्राप्त करता है) तथा दूसरी बार सो मुच्चइ कम्मणिगलेहिं (वह कर्मबन्धनों से छूट जाता है) वाक्य रखकर उसे मोक्षप्राप्ति के हेतुभूत भाव का प्ररूपक बना दिया है। यथा—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।

समवट्टिदो सहावे सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं ॥ ९/२३ ॥ ति.प.।

जो खविदमोहकम्मो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।

समवट्टिदो सहावे सो मुच्चइ कम्मणिगलेहिं ॥ ९/४८ ॥ ति.प.।

प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार की निम्नलिखित ६८ वीं गाथा में देहादि परद्रव्य के साथ आत्मा के सभी प्रकार के सम्बन्धों का निषेध किया गया है—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।

कर्त्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ २/६८ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“न मैं देह हूँ, न मन, न वाणी, न उनका कारण (पुद्गलरूप उपादान), न कर्त्ता (निमित्त), न कारयिता और न उनके करनेवाले पुद्गलों का अनुमोदक।”

उक्त अधिकार की क्र. ६९ से लेकर ७९ तक की ११ गाथाओं में विभिन्न युक्तियों से जीव और पुद्गल की भिन्नता का उपपादन कर 'अरसमरूवमगंधं' इस ८० वीं गाथा में जीव के शुद्ध (पौद्गलिक धर्मों से रहित) स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण-सम्बद्धता से सिद्ध है कि 'णाहं देहो ण मणो' गाथा मूलतः प्रवचनसार की है।

इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्दकृत नियमसार में भी इसी प्रकार की अनेक गाथाएँ हैं। जैसे—

णाहं बालो बुद्धो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
 कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७९ ॥

णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
 कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥

७७, ७८ और ८१ क्रमांकवाली गाथाएँ भी बिलकुल ऐसी ही हैं। इस रचनाशैली के साम्य से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि प्रवचनसार की उपर्युक्त गाथा कुन्दकुन्दकृत ही है।

यतः जीव और देहादि की भिन्नता का ज्ञान कर पुद्गलादिपरधर्मरहित निज शुद्धात्मा का ध्यान करने से कर्मक्षय होता है और जीव तथा पौद्गलिक देहादि की भिन्नता का प्रतिपादन 'णाहं देहो ण मणो' इत्यादि गाथा के पूर्वार्ध से भी संक्षेप में हो जाता है, अतः तिलोपण्णत्तिकार ने गाथा के पूर्वार्ध के साथ अपने अभिप्राय का प्रतिपादक उत्तरार्ध जोड़कर गाथा को संक्षेप में सिद्धत्व के कारणभूत भाव का प्ररूपक बना दिया है। यथा—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
 एवं खलु जो भाओ सो पावइ सासयं ठाणं ॥ ९/३२ ॥ ति.प.।

अनुवाद—“न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ, ऐसा जो भाता है (चिन्तन करता है), वह शाश्वत स्थान (मोक्ष) पाता है।”

निम्नलिखित गाथाएँ कुन्दकुन्दरचित समयसार के जीवाधिकार की हैं, जिसमें समस्त परद्रव्यों और परभावों से जीव की भिन्नता दर्शाते हुए उसके एकत्व का प्रतिपादन किया गया है—

णत्थि मम को वि मोहो बुद्धदि उवओग एव अहमिक्को।
 तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“जो यह जानता है कि मोह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो एक मात्र उपयोग ही हूँ, उसे शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञायक पुरुष मोह से ममत्वरहित मानते हैं।”

णत्थि मम धम्मआदी बुद्धदि उवओग एव अहमिक्को।
 तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“जो यह जानता है कि धर्म (अधर्म, आकाश) आदि द्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो एक मात्र उपयोग ही हूँ, उसे शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञाता धर्मादि द्रव्यों से ममत्वरहित मानते हैं।”

इन गाथाओं के प्रतिपाद्य विषय एवं पूर्वापर गाथाओं के साथ प्रकरणगत सम्बन्ध से सिद्ध है कि ये मूलतः समयसार के जीवाधिकारगत जीवाजीवभिन्नत्व या जीवैकत्वप्रतिपादक प्रकरण की गाथाएँ हैं। इनका रचनासाम्य और अर्थसाम्य सिद्ध करता है कि ये एक ही रचनाकार की लेखनी से प्रसूत हुई हैं। इन गाथाओं का शाब्दिक साम्य एक-दूसरे के साथ तो है ही, इसके अतिरिक्त समयसार की निम्नलिखित गाथाओं से भी है। यथा—

जो मोहं तु जिणिन्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
 तं जिदमोहं सा परमद्दुवियाणया विति ॥ ३२ ॥ स.सा.।
 अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
 ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ३८ ॥ स.सा.।
 अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
 तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं पेमि ॥ ७३ ॥ स.सा.।
 ----- जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ १९८ ॥ स.सा.।
 ----- जाणगभावो हु अहमिक्को ॥ १९९ ॥ स.सा.।

समयसार की उपर्युक्त ३६वीं एवं ३७वीं गाथाओं में अहमिक्को शब्द का प्रयोग हुआ है, वैसा ही समयसार की इन ३२, ३८, ७३, १९८ एवं १९९ क्रमांक की गाथाओं में भी हुआ है। इसी प्रकार ३६वीं एवं ३७वीं गाथाओं में समयस्स वियाणया विति वाक्य प्रयुक्त हुआ है, वैसा ही समयसार की ऊपर उद्धृत ३२वीं गाथा में तत्सदृश परमद्दुवियाणया विति वाक्य प्रयुक्त हुआ है। समयसार की अन्य गाथाओं से यह शाब्दिक एकरूपता भी, जो रचनाशैलीगत एकरूपता है, सिद्ध करती है कि 'णत्थि मम को वि मोहो' गाथा मूलतः समयसार की है। इसके पूर्वार्ध को भी आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में यथावत् ग्रहण किया है। उदाहरण नीचे द्रष्टव्य है—

णत्थि मम कोइ मोहो बुद्धो उवजोगमेवमहमेगो।
 इह भावणाहि जुत्तो खवे दुद्दु कम्पाणि ॥ ९/२९ ॥

उपर्युक्त 'अहमिक्को खलु सुद्धो' इत्यादि ३८वीं गाथा भी समयसार के जीवाधिकारगत प्रतिबुद्ध-प्रकरण से सम्बद्ध है और अहमिक्को शब्द के प्रयोग से

उसकी ऊपर निर्दिष्ट समयसार की गाथाओं के साथ रचनाशैली-गत एकरूपता भी है, अतः वह भी समयसार की मौलिक गाथा है। उसे भी तिलोयपण्णत्ती में प्रायः यथावत् आत्मसात् किया गया है। यथा—

अहमेवको खलु सुद्धो दंसणणाणप्पगो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झि किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥ ९/२८॥

अधोलिखित गाथा समयसार के जीवाधिकार में आये अप्रतिबुद्ध-प्रकरण से सम्बद्ध है, जो १९वीं गाथा (कम्मे णोकम्महि) से लेकर २६वीं गाथा (जदि जीवो ण सरीरं) तक चलता है—

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ १९॥

अनुवाद—“जब तक कर्म और नोकर्म में ‘मैं कर्म और नोकर्म हूँ तथा ये कर्म और नोकर्म मेरे हैं’ ऐसी बुद्धि होती है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है।”

समयसार की इस अप्रतिबुद्धलक्षण-प्रतिपादक गाथा को, उसके अन्तिम पाद में नवीन वाक्य रखकर तिलोयपण्णत्तिकार ने मोक्षविरोधिभाव-प्रतिपादक गाथा का रूप दे दिया है और अपने ग्रन्थ के सिद्धत्वहेतुभाव-प्रकरण में प्रतिष्ठित कर लिया है। यथा—

कम्मे णोकम्ममि य अहमिदि अहयं च कम्म-णोकम्मं।
जायदि सा खलु बुद्धी सो हिंडइ गरुव-संसारं॥ ९/४७॥

अनुवाद—“कर्म और नोकर्म में ‘मैं कर्म और नोकर्म हूँ तथा कर्म और नोकर्म मेरे हैं’ यह जो बुद्धि होती है, उससे जीव गहन संसार में भ्रमण करता है।”

समयसार के तात्पर्यवृत्तिगत पाठ में ‘जो सुयणाणं सव्वं’ इस १०वीं गाथा के अनन्तर निम्नलिखित दो गाथाएँ दी गयी हैं—

णाणमिह भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिणवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे॥ ११॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥ १२॥

अनुवाद—“सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भावना करनी चाहिए और क्योंकि वे तीनों आत्मा ही हैं, अतः आत्मा में भावना करो।”(११)।

“जो मुनि इस आत्मभावना का नित्य उद्यत होकर आचरण करता है; वह थोड़े ही समय में समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।”(१२)।

इनमें से दूसरी गाथा तिलोयपण्णत्ती में ‘गयसित्थमूस’ आदि गाथा के बाद जोड़ दी गयी। यथा—

गयसित्थ-मूस-गब्भायारो रयणत्तयादिगुणजुत्तो ।
णिय-आदा ज्ञायव्वो खयरहिदो जीवघणदेसो ॥ ९ / ४५ ॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ ९ / ४६ ॥

अनुवाद—“मोम से रहित मूसक के भीतरी आकार के समान, रत्नत्रयादि गुणों से युक्त, अविनश्वर, अखण्डप्रदेशी आत्मा का ध्यान करो।”(९/४५)।

“जो मुनि इस आत्मभावना का नित्य उद्यत होकर आचरण करता है, वह थोड़े ही समय में समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।”(९/४६)।

यहाँ हम देखते हैं कि समयसार की ऊपर उद्धृत ‘णाणमिह भावणा’ इत्यादि गाथा में ही ‘भावणा’, ‘भावणं आदे’ (आदभावणं) शब्दों का प्रयोग हुआ है, तिलोय-पण्णत्ती की ‘गयसित्थमूस’ आदि गाथा में नहीं। इसलिए ‘जो आदभावणमिणं’ यह दूसरी गाथा शब्दसाम्य-प्रमाण से समयसार की ‘णाणमिह भावणा’ आदि गाथा के ही साथ स्वभावतः सम्बद्ध सिद्ध होती है। ‘गयसित्थमूस’ आदि गाथा में ‘भावणा’ ‘भावणं आदे’ आदि शब्द न होने से, उसके बाद रखी गयी ‘जो आदभावणमिणं’ गाथा पूर्वगाथा से स्वभावतः सम्बद्ध सिद्ध नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि यह गाथा समयसार की ही है, इसे आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में आत्मसात् कर लिया है।

इसी प्रकार प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार में निम्नलिखित तीन गाथाएँ क्रमशः कही गयी हैं—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ २/१०१ ॥
जो एवं जाणित्ता ज्ञादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ २/१०२ ॥
जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥ २/१०३ ॥

अनुवाद—“शरीर, धनधान्य, सुखदुःख और शत्रुमित्र जीव के साथ सदा नहीं रहते, केवल उपयोगलक्षण आत्मा सदा रहता है।”(२/१०१)।

“ऐसा जानकर जो परमात्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार, विशुद्ध होता हुआ मोहनीय कर्म की अशुभ ग्रन्थि को नष्ट कर देता है।”(२/१०२)।

“जो पुरुष मोहग्रन्थि को नष्ट कर श्रमणावस्था में रागद्वेष का विनाश करता हुआ सुखदुःख में समभाव धारण करता है, उसे अक्षयसुख की प्राप्ति होती है।”(२/१०३)।

ये तीनों गाथाएँ अर्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं। दूसरी गाथा के ‘जो एषं जाणित्ता’ (जो ऐसा जानकर) ये शब्द पहली गाथा में कहे हुए अर्थ को संकेतित करते हैं और तीसरी गाथा के ‘जो णिहदमोहगंठी’ (जो पुरुष मोहग्रन्थि का विनाश करता है) शब्द दूसरी गाथा में कथित मोहदुर्ग्रन्थि का विनाश करनेवाले की ओर संकेत करते हैं। दोनों गाथाओं में प्रयुक्त ‘मोहग्रन्थि’ शब्द से दोनों के अर्थगत अन्तः-सम्बन्ध की विशेषतया पुष्टि होती है। यह आधारभूत अन्तःसम्बन्ध सिद्ध करता है कि ये तीनों गाथाएँ प्रवचनसार की मौलिक गाथाएँ हैं। आचार्य यतिवृषभ ने इनमें से ‘जो णिहदमोहगंठी’ इस तीसरी गाथा को तिलोत्पण्णत्ती में सम्मिलित किया है। वह उसके नौवें महाधिकार की ५४वीं गाथा है।

समयसार और प्रवचनसार में नीचे लिखी गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिरुण दो पुण्णपावजोएसु।

दंसणणाणमिह्ठिदो इच्छाविरओ य अण्णमिह्ठि ॥ १८७ ॥ स.सा.।

जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।

णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥ १८८ ॥ स.सा.।

अप्पाणं ज्ञायंतो दंसणणाणमओ अण्णणमओ।

लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९ ॥ स.सा.।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १/८८ ॥ प्र.सा.।

अनुवाद—“जो शुभ और अशुभ दोनों योगों से निवृत्त होकर आत्मा को आत्मा से ही रोककर, दर्शनज्ञान में स्थित होता है एवं अन्य पदार्थों की इच्छा से रहित होकर सर्व परिग्रह से मुक्त हो जाता है, पश्चात् आत्मा को आत्मा से ही ध्याता है तथा कर्म और नोकर्म से तनिक भी स्पृष्ट न होते हुए केवल चैतन्यभाव से ही एकत्व का अनुभव करता है, वह जीव आत्मा का ध्यान करते हुए दर्शनज्ञानमय हो जाता है, और शीघ्र ही कर्ममुक्त आत्मा को पा लेता है।” (स.सा./१८७-१८९)।

“जो जिनोपदेश पाकर मोहरागद्वेष का विनाश करता है, वह शीघ्र ही समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।” (प्र.सा./१/८८)।

समयसार की उक्त तीन गाथाएँ एक (मिश्र) वाक्यरूप हैं। तीनों गाथाओं के द्वारा ही एक कथन पूर्ण होता है। आदि की ढाई गाथाएँ उद्देश्यरूप हैं और अन्तिम आधी गाथा विधेयरूप। अन्तिम गाथा के उत्तरार्ध में कर्मविमुक्त आत्मा की प्राप्ति के कार्य का वर्णन है और आदि की ढाई गाथाओं में उसके कारणों का। इससे सिद्ध है कि दूसरी गाथा का ‘जो सव्वसंगमुक्को’ इत्यादि पूर्वार्ध उक्त गाथासमूह का अविभाज्य अंग है, अतएव समयसार का मौलिक अंश है। इसी प्रकार प्रवचनसार की उपर्युक्त गाथा अपनी पूर्ववर्ती ‘जिणसत्थादो अट्टे’ (प्र.सा.१/८६) आदि गाथाओं के आधार पर अस्तित्व में आयी है, इसलिए वह भी प्रवचनसार की मौलिक गाथा है।

कुन्दकुन्द की इन गाथाओं में से दूसरी गाथा के पूर्वार्ध और अन्तिम गाथा के उत्तरार्ध को लेकर यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती की यह गाथा निर्मित की है—

जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥ १/५१॥

प्रवचनसार के प्रथम अधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द ६९वीं गाथा से लेकर ७६वीं गाथा तक आठ गाथाओं में पुण्यजन्य इन्द्रियसुख को भी दुःखरूप ही बतलाते हुए ७७ वीं गाथा में उपसंहार रूप में कहते हैं—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।

हिंडदि घोरमपां संसारं मोहसंछण्णो॥ १/७७॥

अनुवाद—“जो ऐसा नहीं मानता कि पुण्य और पाप में भेद नहीं है, वह मोह से आच्छन्न हो घोर और अपार संसार में भ्रमण करता है।”

पुण्य की दुःखरूपता का प्रतिपादन करने के बाद उपसंहाररूप में इस गाथा का कथन स्वाभाविक होने से सिद्ध है कि यह प्रवचनसार की मौलिक गाथा है। यह गाथा तिलोयपण्णत्ती (१/५८) में भी ज्यों की त्यों मिलती है, किन्तु उसके पूर्व में पुण्य की दुःखरूपता का वैसा प्रतिपादन नहीं है, जैसा प्रवचनसार में है, जिससे सिद्ध है कि वह तिलोयपण्णत्ती की अपनी गाथा नहीं है। किन्तु वह उसके ‘सिद्धत्व-हेतुभाव’ अधिकार में संग्रह-योग्य थी, इसलिए आचार्य यतिवृषभ ने उसका उसमें संग्रह कर लिया है।

इस गाथा के पहले तिलोयपण्णत्ती में निम्नलिखित गाथा भी पायी जाती है—

परमद्वुबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अयाणंता ॥ ९/५७ ॥

यह समयसार के पुण्यपापाधिकार की १५४ वीं गाथा है और पुण्यपाप-प्रकरण से इसका अर्थगत तादात्म्य है। इसके अतिरिक्त इसके पूर्व निबद्ध तीन गाथाओं में तथा उत्तरवर्ती एक गाथा में परमार्थ (आत्मस्वरूप) में स्थित और अस्थित मुनि की परिणतियों का वर्णन किया गया है, जो 'परमद्वो खलु समओ' (स.सा.१५१), 'परमद्वुमिह दु अठिदो' (स.सा.१५२), 'परमद्वुबाहिरा जे णिव्वाणं' (स.सा.१५३) एवं 'परमद्वुमस्सिदाण दु' (स.सा.१५६) इन उक्तियों से सूचित होता है। उपर्युक्त १५४ वीं गाथा में भी परमार्थबाह्य मुनियों की परिणति का वर्णन है। इस शब्दसाम्य और भाव-साम्य से भी उसका पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती गाथाओं से तादात्म्य है। इससे सिद्ध है कि वह मूलतः समयसार की ही गाथा है। तिलोयपण्णत्ती में न तो पुण्यपाप का कोई प्रकरण है, न ही परमार्थस्थित और परमार्थबाह्य मुनियों की परिणति की प्रतिपादक अन्य गाथाएँ हैं, यहाँ तक कि परमार्थ के अर्थ की व्याख्या भी किसी पूर्व गाथा में नहीं की गई, जैसी समयसार की 'परमद्वो खलु समओ' (१५१) इत्यादि गाथा में की गई है। वस्तुतः शुद्धात्मस्वभाव के अर्थ में परमार्थ शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द की देन है। यह इस बात के निर्णय के लिए पर्याप्त सबूत है कि उपर्युक्त गाथा का मूल तिलोयपण्णत्ती में नहीं है, अपितु उसके 'सिद्धत्व-हेतुभाव' अधिकार में रखे जाने योग्य होने से उसे समयसार से ले लिया गया है।

प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथाओं में से भी प्रथम और अन्तिम को छोड़कर शेष सभी ज्यों की त्यों उसी क्रम से तिलोयपण्णत्ती में मिलती हैं—

१. परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥ प्र. सा. १/८।
२. जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसम्भावो ॥
प्र. सा. १/९, ति.प. ९/६०।
३. धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥
प्र. सा. १/११, ति.प. ९/६१।
४. असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥
प्र. सा. १/१२, ति.प. ९/६२।

५. अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धोवओगप्पसिद्धाणं॥

प्र.सा. १/१३, ति.प.९/६३।

६. सुविदिदपयत्थमुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ प्र.सा. १/१४।

यहाँ 'परिणमदि जेण' इस प्रथम गाथा में कहा गया है कि "आत्मा जिस समय जिस भाव में परिणत होता है, उस समय वह उस-भावमय (तन्मय) होता है, इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म ही मानना चाहिए। इसी कारण-कार्य-नियम के परिणाम का प्रदर्शन 'जीवो परिणमदि जदा' इस उत्तरगाथा में किया गया है। उसका अर्थ है—“जीव जब शुभभाव में परिणत होता है, तब शुभ होता है, जब अशुभभाव में परिणत होता है, तब अशुभ होता है और जब शुद्धभाव में परिणत होता है, तब शुद्ध होता है, क्योंकि जीव परिणाम-स्वभाववाला है।

'धम्मणेण' और 'असुहोदयेण' इन दो गाथाओं में शुद्ध, शुभ और अशुभ भावों में परिणत होने के फल बतलाये गये हैं कि धर्मपरिणत (मुनिव्रतधारी)^{६८} आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त होता है, तो निर्वाणसुख प्राप्त करता है और शुभोपयोग से युक्त होता है, तो स्वर्ग सुख पाता है। इसके विपरीत अशुभोपयोग-परिणत जीव कुमानुष, तिर्यच या नारकी होकर निरन्तर दुःखों से पीड़ित होता हुआ दीर्घकाल तक संसरण करता है।

'अइसयमाद' इस गाथा में शुद्धोपयोग के बल से प्राप्त होनेवाली सिद्धावस्था के सुख का वर्णन किया गया है और 'सुविदिद' इत्यादि गाथा में शुद्धोपयोग के लिए आवश्यक योग्यताओं का निरूपण है, जिसमें बतलाया गया है कि जो श्रमण आगम का सम्यग्ज्ञाता, संयम तप से युक्त, विगतराग तथा सुख-दुःख में समभाव धारण करनेवाला है, उसके शुद्धोपयोग होता है।

इस प्रकार प्रवचनसार की उपर्युक्त छहों गाथाएँ वर्ण्यविषय की एकता तथा कार्य-कारणभाव एवं लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्धों से परस्पर जुड़ी हुई हैं। पहली गाथा में धम्मपरिणदो आदा और तीसरी गाथा में धम्मणेण परिणदप्पा इन पदों का साम्य भी उक्त गाथाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतक है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त छहों गाथाएँ मूलतः प्रवचनसार की हैं। प्रवचनसार के तृतीय अधिकार में एक निम्न-

६८. "सकलसङ्गसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशात् --- अर्हदादिषु --- भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य, तावन्मात्रागप्रवर्तित-परद्रव्यप्रवृत्ति-संवलितशुद्धात्मवृत्तेः, शुभो-पयोगि चारित्रं स्यात्।" तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति / प्रवचनसार / ३ / ४६।

लिखित गाथा भी है—

समणा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।

तेसु वि सुद्धवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ३/४५ ॥

इस गाथा के साथ भी उपर्युक्त 'धम्मणे परिणदप्पा' गाथा का शब्दगत और अर्थगत साम्य है तथा इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है कि 'धम्मणे परिणदप्पा' गाथा में ग्रन्थकार (प्रवचनसार के कर्ता) ने स्वयं कहा है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है—“धम्मणे परिणदप्पा इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थ-समवायः।” इन प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'धम्मणे परिणदप्पा' गाथा कुन्दकुन्दकृत ही है। तिलोयपण्णत्ती में उपर्युक्त (क्रमांक २ से ५ तक की) गाथाओं का पूर्वापर गाथाओं के साथ वैसा कार्यकारणभाव एवं लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध नहीं है, जैसा प्रवचनसार की पूर्वापर गाथाओं के साथ है। अतः स्पष्ट है कि वे तिलोयपण्णत्ती की मौलिक गाथाएँ नहीं हैं, अपितु प्रवचनसार से लाकर रखी गई हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से निम्नलिखित गाथाएँ भी तिलोयपण्णत्ती के उपर्युक्त अधिकार में आत्मसात् की गयी हैं—

१. देहो य मणो वाणी	— प्र.सा./२/६९,	ति.प./९/३३।
२. णाहं पोगलमइओ	— प्र.सा./२/७०,	ति.प./९/३४।
३. एवं णाणप्पाणं	— प्र.सा./२/१००,	ति.प./९/३५।
४. परमाणुपमाणं वा ^{६९}	— प्र.सा./३/३९,	ति.प./९/४१।
५. जस्स ण विज्जदि रागो	— पं.का./१४२,	ति.प./९/२४।
६. जो सव्वसंगमुक्को	— पं.का./१५८,	ति.प./९/२६।
७. पयडिट्ठिदिअणुभाग	— पं.का./७३,	ति.प./९/४९।
८. तम्हा णिव्वुदिकामो ^{७०}	— पं.का./१७२,	ति.प./९/४२।
९. केवलणाणसहावो	— नि.सा./९६,	ति.प./९/५०।
१०. ण वि परिणमदि	— स.सा./७६,	ति.प./९/६८।
११. जाव ण वेदि विसेसंतरं	— स.सा./६९,	ति.प./९/६७।
१२. जो संकप्पवियप्पो	— स.सा./ता.वृ.पाठ/२८८,	ति.प./९/६५।
१३. बंधाणं च सहावं	— स.सा./२९३,	ति.प./९/६६।
१४. पडिकमणं पडिसरणं	— स.सा./३०६,	ति.प./९/५३।

६९. पाठभेद : उत्तरार्ध—“विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।” प्र.सा./३/३९।

“सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।” ति.प./९/४१।

७०. केवल गाथा के पूर्वार्ध में साम्य है।

इस प्रकार ३५ गाथाएँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से तिलोयपण्णत्ती में ली गई हैं।

कुन्दकुन्द ने मोक्षमार्ग एवं जीवादि तत्त्वों के प्ररूपण में जो निश्चय और व्यवहार नयों का प्रयोग किया है, उसका भी अनुकरण यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ती में किया है। यथा—

णाणावरणप्पहुदी णिच्छय-ववहारपाय अतिसयए।

संजादेण अणंतं णाणेणं दंसणेण सोक्खेण ॥ १/७१ ॥

विरिणण तथा खाइय-सम्मत्तेणं पि दाणलाहेहिं।

भोगोपभोग-णिच्छय-ववहारेहिं च परिपुण्णो ॥ १/७२ ॥

अनुवाद—“(अर्थागम के कर्ता भगवान् महावीर) ज्ञानावरणादि चार घाती कर्मों के निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-हेतुओं का प्रकर्ष होने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य तथा क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिक- उपभोग इन नवलब्धियों के निश्चय-व्यवहार रूपों से परिपूर्ण हुए।”

तिलोयपण्णत्ती में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से उपर्युक्त गाथाएँ ग्रहण किये जाने एवं वस्तुस्वरूप के निरूपण में निश्चय-व्यवहार नयों का अनुकरण किये जाने से सिद्ध है कुन्दकुन्द द्वितीय शताब्दी ई० में हुए यतिवृषभाचार्य से पूर्ववर्ती हैं।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह कि समयसार के आत्मख्याति-टीकागत पाठ में जो गाथाएँ नहीं हैं, किन्तु तात्पर्यवृत्तिगत पाठ में हैं, उनमें से तीन तिलोयपण्णत्ती में मिलती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे यतिवृषभ के समय में समयसार की प्रतियों में उपलब्ध थीं। दूसरी यह कि तिलोयपण्णत्ती में जो ‘पुण्णेण होइ विहवो’ गाथा (१/५६) है, वह परमात्मप्रकाश (२/६०) में भी है। किन्तु, सम्पूर्ण परमात्मप्रकाश अपभ्रंश-दोहों में निबद्ध है, जबकि उक्त गाथा प्राकृत में है। इससे सिद्ध होता है कि वह गाथा तिलोयपण्णत्ती से ही छठी शती ई० के परमात्मप्रकाश में पहुँची है।

५.३. तिलोयपण्णत्ती की गाथाएँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में नहीं

ऊपर प्रायः सर्वत्र युक्ति-प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि उपर्युक्त गाथाएँ कुन्दकुन्दकृत ही हैं, यतिवृषभकृत नहीं, अतः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से ही तिलोयपण्णत्ती में ली गयी हैं, तिलोयपण्णत्ती से कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में नहीं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आचार्य यतिवृषभ ने अपनी प्रतिभा केवल कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र तथा तिलोयपण्णत्ती जैसे करणानुयोग का ग्रन्थ लिखने में ही दिखलायी है, कोई अध्यात्मग्रन्थ उनकी लेखनी से प्रसूत नहीं हुआ। तिलोयपण्णत्ती के ‘सिद्धत्व-हेतु-भाव’ अधिकार में भी उन्होंने ‘शुभोपयोग’, ‘शुद्धोपयोग’, ‘परमार्थ’, ‘शुद्धात्मा’, ‘निश्चय’,

‘व्यवहार’ आदि जैसे अध्यात्मशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों को परिभाषित नहीं किया। यह तथ्य भी इस बात की पुष्टि करता है उपर्युक्त अध्यात्मपरक गाथाएँ यतिवृषभ की नहीं हैं, अपितु कुन्दकुन्द की ही हैं। अतः कुन्दकुन्द, यतिवृषभ से पूर्ववर्ती हैं।

६

५वीं श. ई. की सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की गाथाएँ उद्धृत

६.१. सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अनेक प्रमाणों के द्वारा सर्वार्थसिद्धिकार देवन्दी (पूज्यपाद स्वामी) का समय ईसा के पाँचवी शती (४५० ई० के लगभग) निश्चित किया है। वे स्वामी समन्तभद्र नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

“पूज्यपाद ने पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास लिखा था और आप गंगराजा दुर्विनीत के शिक्षागुरु (Preceptor) थे, ऐसा हेब्बूर के ताम्रलेख, एपिग्रे-फिया कर्णाटिका की कुछ जिल्दों, कर्णाटककविचरिते और हिस्टरी ऑफ कनडीज लिटरेचर में पाया जाता है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि ‘दुर्विनीत’ राजा का राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। इसलिए पूज्यपाद ईसवी सन् ४८२ से भी कुछ पहले के विद्वान थे, यह स्पष्ट है। डॉक्टर बूल्हर् ने^{७१} जो आपको ईसा की पाँचवी शताब्दी का विद्वान् लिखा है, वह ठीक ही है। पूज्यपाद के एक शिष्य वज्रनन्दी ने वि० सं० ५२६ (ई० सन् ४७०) में द्राविड संघ की स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेन के ‘दर्शनसार’ ग्रन्थ (वि० सं० ९९०) में मिलता है और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपाद ‘दुर्विनीत’ राजा के पिता ‘अविनीत’^{७२} के राज्यकाल में भी मौजूद थे, जो ई० सन् ४३० से प्रारंभ होकर ४८२ तक पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम पड़ता है कि द्राविड संघ की स्थापना जब पूज्यपाद के एक शिष्य के द्वारा हुई है, तब उसकी स्थापना के समय पूज्यपाद की अवस्था अधिक नहीं तो ४० वर्ष के करीब जरूर होगी और उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना का कार्य ई० सन् ४५० के करीब प्रारम्भ किया होगा।” (स्वामी समन्तभद्र / पृ. १४२-१४३)।

पूज्यपाद देवन्दी के ईसा की पाँचवी शताब्दी में वर्तमान होने की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है। परमात्मप्रकाश और योगसार नामक प्रसिद्ध अध्यात्मग्रन्थों

७१. दि इण्डियन एण्टिक्वेरी XIV, 355. (स्वामी समन्तभद्र / पादटिप्पणी / पृ. १४३)।

७२. “अविनीत राजा का एक ताम्रलेख शक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) का लिखा हुआ पाया जाता है, जिसे मर्करा प्लेट नं० १ कहते हैं।” स्वामी समन्तभद्र / पा.टि. / पृ. १४३।

के कर्ता जोइन्दुदेव (योगीन्दुदेव) का स्थितिकाल विद्वानों ने छठी शताब्दी ई० निर्धारित किया है। इसका प्रमुख प्रमाण यह है कि सातवीं शती ई० के प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने अपने प्राकृतलक्षण नामक व्याकरणग्रन्थ में 'यथा तथा अनयोः स्थाने' के उदाहरण में परमात्मप्रकाश का यह दोहा उद्धृत किया है—

काल लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।

तिमु-तिमु दंसणु लहइ जिउ णिय मै अप्पु मुणेइ॥ १/८५॥^{७३}

अनुवाद—“हे योगी! काल पाकर ज्यों-ज्यों मोह विगलित होता है, त्यों-त्यों जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, पश्चात् नियम से आत्मस्वरूप को जानता है।”

जोइन्दुदेव आचार्य कुन्दकुन्द के अतिरिक्त पूज्यपाद देवन्दी से भी अत्यधिक प्रभावित हैं। उन्होंने पूज्यपाद के प्रसिद्ध अध्यात्मग्रन्थ समाधितन्त्र के भी अनेक पद्य अपभ्रंश में रूपान्तरित कर परमात्मप्रकाश में समाविष्ट किये हैं। यथा—

१

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ ३१॥ स.तन्त्र।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।

जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु॥ २/१७५॥प.प्र.।

२

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥ ६४॥ स.तन्त्र।

जिणिणं वत्थिं जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु।

देहिं जिणिणं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥ २/१७९॥ प.प्र.।

३

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥ ६५॥ स.तन्त्र।

वत्थु षण्णइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्टु।

णट्टे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्टु॥ २/१८०॥ प.प्र.।

७३. देखिए, परमात्मप्रकाश/इण्ट्रोडक्शन : ए. एन. उपाध्ये/पृ.७५ तथा 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'/खण्ड २/पृ.२ पृ. २४६-२४८।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥ स. तन्त्र ।

रक्ते वस्त्रे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ २/१७८ ॥ प. प्र. ।

डॉ० ए० ए० उपाध्ये परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना (Introduction) में पृष्ठ ३० पर लिखते हैं—“Turning to Samādhiśataka of Pūjyapāda, P.-Prakāśa agrees with it very closely, and I feel no doubt that yōgīndu has almost verbally followed that model.” अर्थात् “पूज्यपाद के समाधिशतक से परमात्म-प्रकाश का घनिष्ठ साम्य है और इसमें सन्देह नहीं कि योगीन्दु ने उसका अक्षरशः अनुसरण किया है।” डॉ० उपाध्ये ने समाधिशतक और परमात्मप्रकाश के उन पद्यों के क्रमांक भी दर्शाये हैं, जिनमें अक्षरशः साम्य दृष्टिगोचर होता है। डॉ० उपाध्ये आगे लिखते हैं—“There are many common ideas besides these close agreements.” (Introduction, p.30)। अर्थात् “इस पद्यगत घनिष्ठ साम्य के अतिरिक्त पूज्यपाद और योगीन्दु के अनेक विचारों में भी साम्य है।”

छठी शती ई० के परमात्मप्रकाश में पूज्यपाद-स्वामी-कृत समाधिशतक (समाधि-तन्त्र) के पद्यों की उपलब्धि इस तथ्य की पुष्टि करती है कि पूज्यपाद देवन्दी का स्थितिकाल पाँचवीं शती ई० से नीचे नहीं जा सकता।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी भी पूज्यपाद के इस काल-निर्धारण से सहमत हैं, यह उनके निम्नलिखित वक्तव्य से ज्ञात होता है—

“स्वोपज्ञ माने जानेवाले भाष्य को यदि अलग किया जाय, तो तत्त्वार्थसूत्र पर जो सीधी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उन सब में पूज्यपाद की ‘सर्वार्थसिद्धि’ प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है, इससे सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पहले किसी समय हुए हैं, ऐसा कह सकते हैं।”^{७४}

इस प्रकार आचार्य देवन्दी (पूज्यपाद स्वामी) का सर्वमान्य समय ४५० ई० के लगभग है। अतः सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल भी यही है।

७४. ‘तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति’/‘अनेकान्त’/वर्ष १/किरण ६-७/वि.सं. १९८७, वीर नि. सं. २४५६/पृष्ठ ३९०।

६.२. सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण

पाँचवी शताब्दी ई० की सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की हैं। 'संसारिणो मुक्ताश्च' (२/१०) सूत्र की टीका में बारस अणुवेक्खा की निम्नलिखित पाँच गाथाएँ 'उक्तं च' निर्देश के साथ उद्धृत की गई हैं—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुञ्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गल-परिय-ट्टसंसारे ॥ २५ ॥

सव्वमिह लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पणं।
ओगाहणाए बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥ २६ ॥

उस्सप्पिणि-अवसप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ २७ ॥

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवड्ढिदी भमिदा ॥ २८ ॥

सव्वा पयडिड्ढिदीओ अणुभाग-पदेस-बंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥ २९ ॥

ये पाँचों गाथाएँ जिस क्रम से उद्धृत की गई हैं, उसी क्रम से कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा में विद्यमान हैं तथा किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पायी जातीं। अतः यह निश्चित है कि पूज्यपाद ने ये कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा से उद्धृत की हैं।

बारस-अणुवेक्खा की निम्नलिखित गाथा (३५) भी 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः' (२/३२) सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में उद्धरण के रूप में प्राप्त होती है—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोदस मणुए सदसहस्सा ॥ ३५ ॥

“प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा” (७/१३) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रवचनसार की नीचे दर्शायी गयी गाथाएँ 'उक्तं च' कहकर सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत की गयी हैं—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ ३ / १७ ॥

उच्चालिदग्धि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमद्वाणे ।
आबादे (धे) ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥ ३ / १७.१ ॥

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पमाणदो भणिदो ॥ ३ / १७.२ ॥
(ये दोनों गाथाएँ तात्पर्यवृत्ति-पाठ में हैं।)

‘एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्’ (५/१४) सूत्र की टीका में पूज्यपाद स्वामी ने ‘एक स्थान में अनन्तानन्त पुद्गलों का अवगाह संभव है’ इस तथ्य की पुष्टि के लिए ‘पञ्चास्तिकाय’ की ‘ओगाढगाढणिच्चिओ’ गाथा आगमप्रमाण के रूप में प्रस्तुत की है, यह पूर्व (शीर्षक ३.३) में बतलाया जा चुका है। यह पंचास्तिकाय की ६४वीं गाथा है। प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार में भी यह कुछ परिवर्तन के साथ ७६ वें क्रमांक पर कथित है।

‘प्रदेशसंहारविसर्पाध्यां प्रदीपवत्’ (५/१६) सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए ‘धर्मादि द्रव्यों का परस्पर प्रवेश होने पर भी वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते, इसलिए उनमें अभेद नहीं होता’ इस नियम की पुष्टि पूज्यपाद स्वामी ने पंचास्तिकाय की निम्नलिखित सातवीं गाथा सर्वार्थसिद्धि में ‘उक्तं च’ वचन के साथ उद्धृत करके की है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण जहंति ॥ ७ ॥

उन्होंने ‘अणवः स्कन्धाश्च’ (५/२५) सूत्र के अन्तर्गत ‘अणु’ को परिभाषित करते हुए कहा है कि ‘जिसका आदि भी वही होता है, मध्य भी वही होता है और अन्त भी वही होता है, उसे अणु कहते हैं’ और इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने सर्वार्थसिद्धि में नियमसार की निम्नलिखित गाथा (२६) ‘उक्तं च’ कहकर प्रमाणरूप में प्रस्तुत की है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंत णेव इंदिये गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥ २६ ॥

इस प्रकार पूज्यपाद देवन्दी ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को आगम के रूप में स्वीकार किया है और उनके वचनों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत कर अपने कथन की पुष्टि की है। पूज्यपाद द्वारा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को आगमरूप में स्वीकार किये जाने से सिद्ध होता है कि उनके समय में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को आगम का दर्जा प्राप्त था, और इस दर्जे की प्राप्ति कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के सुदीर्घ अस्तित्व के बिना संभव नहीं है।

अतः सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उद्धृत किये जाने से न केवल वे पूज्यपाद स्वामी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं, अपितु उनके वचनों को पूज्यपाद द्वारा आगमरूप में स्वीकार किये जाने से वे उनसे सैकड़ों वर्ष प्राचीन भी सिद्ध होते हैं।

६.३. समाधितन्त्र-इष्टोपदेश में कुन्दकुन्द की गाथाओं का संस्कृतीकरण

पूज्यपाद स्वामी की दृष्टि में कुन्दकुन्द न केवल एक आप्तपुरुष थे, अपितु वे उनके अध्यात्मवाद से भी अत्यधिक प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड, भावपाहुड आदि ग्रन्थों की अनेक आध्यात्मिक गाथाओं को संस्कृत में रूपान्तरित कर अपने समाधितन्त्र और इष्टोपदेश में समाविष्ट किया है। यथा—

१

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंत तम्हा ज पेमि केण हं॥ २९॥ मो.पा.।
यन्मया दूश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दूश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥ १९॥ स.तन्त्र।

२

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥ ३१॥ मो.पा.।
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥ स.तन्त्र।

३

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावाए॥ ६२॥ मो.पा.।
अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ १०२॥ स.तन्त्र।

४

वर वयतवेहि सगो मा दुक्खं होउ णिरइ इयेरहिं।
छायातवट्टियाणं पड्डिवालंताण गुरुभेयं॥ २५॥ मो.पा.।
वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ ३॥ इष्टो.।

५

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
 सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ५९ ॥ भा.पा.।
 एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
 बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥ इष्टो.।

समाधितन्त्र के कुछ श्लोक कुन्दकुन्द की गाथाओं में किञ्चित् परिवर्तन कर रचे गये हैं। यथा—

१

णियदेहसरित्थं पिच्छऊण परविग्गहं पयत्तेण।
 अच्छेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥ मो.पा.।
 स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
 परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥ १० ॥ स.तन्त्र।

२

सपरञ्जवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
 सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्डए मोहो ॥ १० ॥ मो.पा.।
 स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
 वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥ स.तन्त्र।

यह आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचवीं शती ई० के पूज्यपाद स्वामी से पूर्ववर्ती होने का एक अन्य प्रमाण है।

६.४. कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में पूज्यपाद के ग्रन्थों की सामग्री नहीं

पूर्व में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द की जिन गाथाओं को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, उन्हें उद्धृत करने के पहले 'उक्तं च' शब्दों का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया है कि वे पूज्यपाद की स्वरचित गाथाएँ नहीं हैं, अपितु अन्यत्र से ग्रहण की गई हैं। और वे गाथाएँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होतीं, इससे सिद्ध है कि वे कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों से ग्रहण की गयी हैं। इस प्रकार जब पूज्यपाद स्वामी से कुन्दकुन्द पूर्ववर्ती सिद्ध हो जाते हैं, तब यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि समाधितन्त्र और इष्टोपदेश में जो पद्य कुन्दकुन्द की गाथाओं से साम्य रखते हैं, वे कुन्दकुन्द की ही गाथाओं के संस्कृत-रूपान्तर हैं। ऐसा नहीं है कि पूज्यपाद के पद्यों को प्राकृत में रूपान्तरित कर कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया है।

६ वीं श. ई. के परमात्मप्रकाश में कुन्दकुन्द का अनुकरण

परमात्मप्रकाश और योगसार के कर्ता जोइन्दुदेव छठी शताब्दी ई० में हुए थे। इसका प्रमाण पूर्व में सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी के काल-निर्धारण-प्रसंग में उद्धृत किया जा चुका है। जोइन्दुदेव ने कुन्दकुन्द के विचारों, शब्दों और शैली का परमात्मप्रकाश एवं योगसार में प्रचुरतया अनुकरण किया है। यथा—

७.१. निश्चय-व्यवहारनयों से आत्मादि का प्ररूपण

जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु।

सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लि वि ववहारु ॥ १/४६ ॥ प.प्र.।

अनुवाद—“हे योगी! जिस परमात्मा के निश्चयनय से न बन्ध है, न संसार, उसका समस्त व्यवहार को छोड़कर मन में ध्यान कर।

जो तइलोयहँ झेउ जिणु सो अप्पा णिरु बुत्तु।

णिच्छयणइँ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ २८ ॥ यो.सा.।

अनुवाद—“जो ‘जिन’ तीनों लोकों के ध्येय हैं, उन्हें ही आत्मा कहा गया है, यह निश्चयनय का कथन है। इसमें शंका नहीं करनी चाहिए।”

मग्गण-गुण-ठाणइ कहिया विवहारेण वि दिट्ठि।

णिच्छयणइँ अप्पा मुणहि जिम पावहु परमेट्ठि ॥ १७ ॥ यो.सा.।

अनुवाद—“मार्गणाओं और गुणस्थानों का कथन व्यवहारनय से किया गया है। निश्चयनय से तू आत्मा को ही जान, जिससे तुझे परमेष्ठिपद प्राप्त हो सके।”

ये उक्तियाँ कुन्दकुन्द के निम्नलिखित वचनों का अनुसरण करती हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि ववहारणयभणिदं।

सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्टं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥ स.सा.।

परमट्ठे खलु समओ सुट्ठो जो केवली मुणी णाणी।

तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥ स.सा.।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।

गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥ स.सा.।

७.२. निश्चयनय से आत्मा के वर्णरागादि-रहितत्व का प्रतिपादन

परमात्मप्रकाश के निम्नलिखित दो दोहे द्रष्टव्य हैं—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सहु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १/१९ ॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण ज्ञाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥ १/२० ॥

अनुवाद—“जिसमें न वर्ण है, न गंध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, जिसका न जन्म होता है, न मरण, उसी का नाम निरंजन (शुद्धात्मा) है।” (१/१९)।

“जिसमें न क्रोध है, न मोह, न मद, न माया, न मान, जिसके न ध्यान के स्थान हैं, न ध्यान, हे जीव! उसे ही निरंजन (परमात्मा) समझ।” (१/२०)।

परमात्मप्रकाश के उपर्युक्त दोहों में आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की निम्नलिखित गाथाएँ स्पष्टतया प्रतिबिम्बित हो रही हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥

७.३. निश्चयनय से आत्मा के कर्म-अकर्तृत्व का प्रतिपादन

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ॥ १/६५ ॥ प.प्र.।

अनुवाद—“हे जीव! जीव के बन्ध और मोक्ष, सभी का कर्ता ‘कर्म’ है, आत्मा कुछ नहीं करता, ऐसा निश्चयनय का कथन है।”

पर.प्र. की यह उक्ति आचार्य कुन्दकुन्द की अधस्तन गाथा पर आधारित है—

णवि कुब्बइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“ज्ञानी विभिन्न प्रकार के कर्मों का न तो कर्ता है, न भोक्ता, केवल कर्मों के बन्ध, फल और पुण्य-पाप का ज्ञाता है।”

७.४. निश्चयनय से सुख-दुःख के कर्मकृत होने का प्रतिपादन

दुक्खु वि सुक्खु वि बहुविहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥ १/६४ ॥ प.प्र.।

अनुवाद—“जीवों में अनेक प्रकार के सुख-दुःख कर्म ही उत्पन्न करता है, आत्मा केवल देखता और जानता है, ऐसा निश्चयनय कहता है।”

यह दोहा समयसार की निम्नलिखित गाथा से प्रभावित है—

कम्मोदण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सब्बे।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते॥ २५४॥ स.सा.।

अनुवाद—“यदि सभी जीव कर्मोदय से दुःखी-सुखी होते हैं, तो तुम उन्हें कर्म तो (कहीं से लाकर) देते नहीं हो, (कर्मों के बन्धन में तो बाँधते नहीं हो), तब उन्हें दुःखी-सुखी कैसे कर सकते हो?”

७.५. शुभ, अशुभ, शुद्ध भाव का प्ररूपण

सुहपरिणामे^१ धम्म पर असुहे^२ होइ अहम्मु।

दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्ध ण बंधइ कम्मु॥ २/७१॥ प.प्र.।

अनुवाद—“शुभ परिणाम से पुण्यबन्ध होता है और अशुभ परिमाण से पापबन्ध। इन दोनों से रहित शुद्ध परिणाम कर्मों का बन्ध नहीं करता।”

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्म भणेविणु लेहु।

चउ-गइ-दुक्खहं जो धरइ जीउ पडंतउ एहु॥ २/६८॥ प.प्र.।

अनुवाद—“अपने विशुद्धभाव को ही धर्म समझकर ग्रहण करो। वही चतुर्गति के दुःखों में गिरते हुए जीव को सँभालता है।”

परमात्मप्रकाश के उपर्युक्त दोहे प्रवचनसार की अधोलिखित गाथाओं के गर्भ से प्रकट हुए हैं—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।

पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं॥ १/११॥

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।

दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं॥ १/१२॥

अनुवाद—“धर्मपरिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग-युक्त होता है, तो निर्वाणसुख प्राप्त करता है, और शुभोपयोग-युक्त होता है, तो स्वर्गसुख।”(१/११)।

अशुभोपयोग से ग्रस्त होने पर कुनर, तिर्यँच और नारकी होकर दुःखसहस्र से पीड़ित होता हुआ संसार में भटकता रहता है।”(१/१२)।

७.६. आत्मा के बहिरात्मादि-भेदत्रय का निरूपण

मूहु वियक्खणु बंधु परु अप्पा ति-विहु हवेइ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूहु हवेइ॥ १/१३॥ प.प्र.।

अनुवाद—“आत्मा मूढ (बहिरात्मा), विचक्षण (अन्तरात्मा) और ब्रह्म (परमात्मा), इस तरह तीन प्रकार का है। इनमें जो देह को ही आत्मा मानता है वह मूढ (बहिरात्मा) कहलाता है।”

ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर जायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥ ६ ॥ यो.सा.।

अनुवाद—“आत्मा के तीन प्रकार हैं : परमात्मा (परु), अन्तरात्मा (अंतरु) और बहिरात्मा। अन्तरात्मा-सहित होकर परमात्मा (पर) का ध्यानकर (जायहि), भ्रान्तिरहित हो (णिभंतु=निर्भ्रान्तम्) बहिरात्मा का त्याग करो।”

ये दोहे आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथाओं के आधार पर रचे गये हैं—

तिपयारो सो अप्पा पर-भितरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जह अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥ ४ ॥ मो. पा.।

अनुवाद—“आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। हे योगी! तुम बहिरात्मा का त्याग करो।”

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णाए देवो ॥ ५ ॥ मो. पा.।

अनुवाद—“इन्द्रियाँ (इन्द्रियोन्मुख आत्मा) बहिरात्मा हैं, आत्मसंकल्प (आत्मोन्मुख आत्मा) अन्तरात्मा है और कर्मकलंकरहित आत्मा परमात्मा है। परमात्मा ही देव कहलाता है।”

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइद्धं जिणवरिदेहि ॥ ७ ॥ मो. पा.।

अनुवाद—“मन, वचन, काय, इन तीन योगों से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा पर आरूढ़ हो, परमात्मा का ध्यान किया जाता है, यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।”

७.७. कुन्दकुन्द की गाथाओं का अपभ्रंशीकरण

निम्नलिखित दोहों में तो जोइन्दुदेव ने कुन्दकुन्द की गाथाओं को किञ्चित् शाब्दिक हेर-फेर के साथ ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। तुलना के लिए प्रत्येक दोहे के नीचे कुन्दकुन्द की गाथा प्रस्तुत की जा रही है—

१

जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु।

ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥२/१२॥ प.प्र.।

अनुवाद—“जीवों के मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं और उन तीनों को आत्मा ही समझना चाहिये, ऐसा निश्चयनय का कथन है।”

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।

ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चव णिच्छयदो ॥ १६ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“साधु को सदा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए और तीनों को निश्चयनय से आत्मा ही मानना चाहिए।”

२

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण पाणु।

अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेत्तिवि अप्पा जाणु ॥ १/१४ ॥ प.प्र.।

अनुवाद—“हे जीव! तू ऐसा जान कि आत्मा को छोड़कर न तो अन्य कोई दर्शन है, न अन्य कोई ज्ञान है, न अन्य कोई चारित्र है (अर्थात् आत्मा ही दर्शनज्ञानचारित्रमय है)।”

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।

ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“व्यवहारनय से ऐसा उपदेश दिया जाता है कि जीव में दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। निश्चयनय से जीव में न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र, जीव शुद्ध (एकमात्र) ज्ञायकभाव है।”

३

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।

जे सुहु असुह परिच्चयहिँ ते वि हवंति हु णाणि ॥ ७२ ॥ यो.सा.।

अनुवाद—“हे पण्डित! जैसे लोहे की साँकल को तू साँकल समझता है, वैसे ही सोने की साँकल को भी साँकल समझ। जो शुभ और अशुभ दोनों भावों का परित्याग कर देते हैं, वे ही निश्चय से ज्ञानी होते हैं।”

सोवण्णिणयं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।

बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १४६ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“जैसे पुरुष को लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, और सुवर्ण की बेड़ी भी, वैसे ही जीव के लिए शुभकर्म भी बन्ध का कारण है और अशुभ कर्म भी।”

४

एह ववहारे जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु।

बहुविहभावे परिणवइ तेण जि धम्म अहम्मु॥ १/६०॥ प.प्र.।

अनुवाद—“व्यवहारनय की अपेक्षा जीव कर्मों का निमित्त पाकर अनेकरूप से परिणमन करता है। इसी से पाप और पुण्य होते हैं।”

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुगगला परिणमंति।

पुगगलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥ ८०॥ स.सा.।

अनुवाद—“जीव के (शुभाशुभ) परिणामों के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप में परिणमित हो जाता है। इसी प्रकार पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से जीव भी (शुभाशुभभाव-रूप में) परिणमित हो जाता है।”

इसी प्रकार शीर्षक ७.२ में उद्धृत ‘जासु ण वण्णु’ (प.प्र.१/१९-२१) तथा ‘जीवस्स णत्थि वण्णो’ (स.सा. ५०-५५) आदि दोहों और गाथाओं में भी पर्याप्त आकृति-साम्य है। मोक्खपाहुड की ‘जह फलिहमणि’ इस ५१वीं गाथा के भाव को जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश (अधिकार २) के ‘णिम्मलफलिहहँ’ इत्यादि दोहों (१७६, १७७) में उतारा है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषाएँ भी परमात्मप्रकाश (१/७६-७७) और मोक्खपाहुड (१४-१५) में समान हैं। परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने ७६ वें और ७७ वें दोहों की टीका में उक्त गाथाएँ उद्धृत की हैं।

छठी शती ई० के परमात्मप्रकाश एवं योगसार में कुन्दकुन्द के विचारों, शब्दों, शैली और गाथाओं का यह प्रचुर अनुकरण इस तथ्य का ठोस प्रमाण है कि आचार्य कुन्दकुन्द छठी शताब्दी ई० से पूर्ववर्ती थे।

८

७ वीं श. ई. के वरांगचरित में कुन्दकुन्द की गाथाओं का संस्कृतीकरण

वरांगचरित के कर्ता जटासिंहनन्दी का समय सातवीं शती ई० प्रायः सर्वमान्य है। उन्होंने कुन्दकुन्द की कतिपय गाथाओं को संस्कृत-रूपान्तर के साथ ‘वरांगचरित’ में सन्निविष्ट किया है। यथा—

१

नियमसार — एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

वरांगचरित — एकस्तु मे शाश्वतिकः स आत्मा सदद्दृष्टिसञ्ज्ञानगुणैरुपेतः।

शेषाश्च मे बाह्यतमाश्चभावाः संयोगसल्लक्षणलक्षितास्ते ॥ ३१/१०१ ॥

२

नियमसार — सम्मं मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ता णं समाहिं पडिवज्जे ॥ १०४ ॥

वरांगचरित — सर्वेषु भूतेषु मनः समं मे वैरं न मे केनचिदस्ति किञ्चित्।

आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु सम्प्रपद्ये ॥ ३१/१०३ ॥

३

समयसार — भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्पत्तं ॥ १३ ॥

वरांगचरित — जीवादयो मोक्षपदावसाना भूतार्थतो येऽधिगता पदार्थाः।

नयप्रमाणानुगतक्रमेण सम्यक्त्वसंज्ञामिह ते लभन्ते ॥ ३१/६८ ॥

इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द सातवीं शती ई० के वरांगचरितकार जटासिंह-नन्दी से पूर्ववर्ती हैं। वरांगचरित में भगवती-आराधना एवं मूलाचार की निम्नलिखित गाथाएँ भी संस्कृत में उपलब्ध होती हैं—

१

भग.आरा. — दंसणभट्टो भट्टो ण हु भट्टो होइ चरणभट्टो हु।

दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥ ७३८ ॥

वरांगचरित — दर्शनाद् भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते।

न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥ २६/९६ ॥

मूलाचार — संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।

तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥ ४९ ॥

वरांगचरित — संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि।

तस्माद्विसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितान्तादहमुत्पृजामि ॥ ३१/१०२ ॥

इन उदाहरणों से यह साबित होता है कि भगवती-आराधना और मूलाचार भी वरांगचरित (सातवीं शती ई०) से प्राचीन हैं।

डॉ० सागरमल जी ने 'दंसणभट्टो भट्टो' गाथा भक्तपरिज्ञा की तथा 'एगो मे सासओ', 'संजोयमूलं' एवं 'सम्मं मे सव्वभूदेसु', ये गाथाएँ आतुरप्रत्याख्यान की मौलिक गाथाएँ बतलायी हैं।^{७५} किन्तु भक्तपरिज्ञा और आतुरप्रत्याख्यान को स्वयं डॉक्टर सा० ने ११वीं शताब्दी ई० में रचित कहा है।^{७६} यद्यपि उन्होंने ५ वीं शती ई० के नन्दीसूत्र में उल्लिखित आतुरप्रत्याख्यान को प्राचीन माना है, किन्तु उसका विच्छेद हो चुका है। अर्थात् नन्दीसूत्र में विच्छिन्न आतुरप्रत्याख्यान का नाममात्र दिया गया है। अतः वर्तमान में जो आतुरप्रत्याख्यान उपलब्ध है, वह ११ वीं शती ई० के वीरभद्र द्वारा ही रचित है। (देखिये, अध्याय १३/प्रकरण ३/शीर्षक ७.२)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गाथाएँ इन ग्रंथों से सातवीं शताब्दी ई० के वरांगचरित में नहीं आ सकतीं। अतः वे ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी के कुन्दकुन्दसाहित्य तथा प्रथम शताब्दी ई० के भगवती-आराधना और मूलाचार से ही वरांगचरित में पहुँची हैं, और वहीं से उन्हें श्वेताम्बरीय भक्तपरिज्ञा और आतुरप्रत्याख्यान में प्राप्त किया गया है।

९

८ वीं श. ई. की विजयोदयाटीका में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

९.१. 'विजयोदया' का रचनाकाल

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में हुए थे। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उन्हें अनुमानतः विक्रम की नौवीं शताब्दी के पहले और छठी शताब्दी के बाद का बतलाया है। यह युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि विजयोदया में समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, बारस-अणुवेक्खा, मूलाचार, स्वयम्भूस्तोत्र, वरांगचरित, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, प्राकृतपञ्चसंग्रह, दशवैकालिकसूत्र, आवश्यकसूत्र (श्वेता.), आचारांग (श्वेता.), उत्तराध्ययन (श्वेता.) और भर्तृहरि-शृंगारशतक से उद्धरण दिये गये हैं। इनमें अर्वाचीनतम उद्धरण वरांगचरित का है,

७५. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. १९२-१९३।

७६. डॉक्टर सा० ने अपने एक लेख में लिखा है—“प्रकीर्णकों में निम्नलिखित प्रकीर्णक वीरभद्र की रचना कहे जाते हैं—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भक्तपरिण्णा और आराधनापताका। आराधनापताका की प्रशस्ति में 'विककमनिवकालाओ अट्टुत्तरिमे-समासहसम्मि' या पाठभेद से 'अट्टुभेद से समासहसम्मि' के उल्लेख के अनुसार इनका रचनाकाल ई० सन् १००८ या १०७८ सिद्ध होता है।” (आराधनापताका : आचार्य वीरभद्र/गाथा ९८७)। डॉक्टर सा० आगे लिखते हैं—“-- वीरभद्ररचित आउरपच्चक्खाण परवर्ती ही है, किन्तु नन्दीसूत्र में उल्लिखित आउरपच्चक्खाण तो प्राचीन ही है।” डॉक्टर सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / खण्ड २ / पृ. ४४।

जिसका रचनाकाल सातवीं शताब्दी ई० है। शृंगारशतक भी इसी समय का है। अतः विजयोदयाटीका इसके पश्चात् ही रची गई है। यह उसकी पूर्वावधि है। विजयोदया में सातवीं शती ई० के बाद के किसी भी ग्रन्थ से न तो कोई उद्धरण दिया गया है, न किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख है। अतः यही अनुमानित होता है कि विजयोदयाटीका का लेखन नौवीं शती ई० के पूर्व अर्थात् आठवीं शताब्दी में हुआ है।

प्रेमी जी ने लिखा है कि “गंगवंश के पृथ्वीकोङ्गुणि महाराज का एक दानपत्र श० सं० ६९८ (वि० सं० ८३३=७७६ ई०)^{७७} का मिला है। उसमें यापनीयसंघ के चन्द्रनन्दी, कीर्तिनन्दी और विमलचन्द्र को ‘लोकतिलक’ जैनमन्दिर के लिए एक गाँव दिये जाने का उल्लेख है। अपराजित शायद इन्हीं चन्द्रनन्दी के प्रशिष्य होंगे।” (जै.सा.इ./ द्वि.सं./ पृ.७९)।

किन्तु, यह अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि अपराजित सूरि यापनीयसम्प्रदाय के नहीं थे, अपितु वे पक्के दिगम्बर थे, इसके प्रमाण ‘अपराजितसूरि : दिगम्बर आचार्य’ नाम के चतुर्दश अध्याय में द्रष्टव्य हैं। अतः वे किसी दिगम्बर चन्द्रनन्दी-महाप्रकृत्याचार्य के प्रशिष्य और बलदेवसूरि के शिष्य थे।^{७८}

९.२. विजयोदया में कुन्दकुन्द की गाथाओं के उदाहरण

आठवीं शती ई० के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने ‘भगवती-आराधना’ की विजयोदया-टीका में आचार्य कुन्दकुन्द-रचित प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय और बारस-अणुवेक्खा से कई गाथाएँ ‘उक्तं च’ आदि प्रस्तावना के साथ उद्धृत की हैं। यथा—

‘सिद्धे जयप्पसिद्धे’ इस मंगलगाथा (क्र.१) की टीका में प्रवचनसार एवं पञ्चास्तिकाय की निम्नलिखित गाथाएँ अधोलिखित प्रस्तावना-वाक्यों के साथ उद्धृत की गयी हैं—

“क्वचितीर्थकृत्वपि वीरस्वामिनः एव प्रथमं नमस्क्रिया—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदधादिकम्ममलं।

पणमामि बड्डुमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥ १/१॥ प्र.सा.।

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।

समणे य णाणदंसण-चरित्ततव-वीरियायारे॥ १/२॥” प्र.सा.।

७७. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / देवरहल्लि-लेख क्र.१२१।

७८. देखिये, भगवती-आराधना-विजयोदयाटीका-प्रशस्ति।

“क्वचिदेकप्रघट्टेन—

इंसदसद्वंदिदाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ॥ १ ॥” प.का.।

‘णाणस्स दंसणस्स’ (भ.आ.११) गाथा की टीका में ‘तथा चोक्तं’ इस निर्देश के साथ प्रवचनसार की निम्न गाथा का उल्लेख किया गया है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिहिट्टे।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ १/७ ॥

‘णाणेण सव्वभावा’ (भ. आ.१००) गाथा के भाव की पुष्टि के लिए प्रवचनसार की अधोलिखित गाथा प्रस्तुत की गयी है और अन्त में ‘इति वचनात्’ उक्ति से उसकी प्रमाणरूपता का प्रदर्शन किया गया है—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं।
रहिदं तु उग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणियं ॥ १/५९ ॥

इति वचनात् ---।

‘दंसणमाराहंतेण’ (भ.आ.४) की टीका में निम्नलिखित प्रस्तावना-वाक्य के साथ समयसार की ४९वीं गाथा का पूर्वार्ध प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है—

“तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मकता स्यात्तथा च ‘अरसमरूचमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसहं’ इत्यनेन विरोधः।”

‘हिंसादो अविरमणं’ (भ. आ. ८००) गाथा के अभिप्राय की पुष्टि अपराजित सूरि ने समयसार की इस गाथा के द्वारा की है—

अञ्जवसिदेण बंधो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

‘एगविगतिगच्चउ’ (भ.आ. १७६७) गाथा के कथन का समर्थन बारस-अणुवेक्खा की गाथा से किया गया है और गाथान्त में ‘इति वचनात्’ के उल्लेख द्वारा उसकी प्रमाणरूपता प्रदर्शित की गयी है—

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ २८ ॥

इति वचनात्।

‘जत्थ ण जादो ण मदो’ (भ.आ. १७७०) इस गाथा में वर्णित क्षेत्रपरिवर्तन के समर्थन हेतु बारस-अणुवेक्खा की निम्नलिखित गाथा ‘उक्तं च’ कहकर उद्धृत की गयी है—

सव्वम्मि लोखिखित्ते कमसो तं णत्थिज्जण उप्पण्णं।

ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ २६ ॥

'तत्कालतदाकाल' (भ. आ. १७७१) के भाव की पुष्टि बारस-अणुवेदखा की ही निम्नलिखित गाथा से 'उक्तं च' निर्देशपूर्वक की गयी है—

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलिगासु णिरवसेसासु।

जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ २७ ॥

'सञ्जायं कुब्बंतो' (भ. आ. १०३) गाथा में वर्णित मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रमाणित करने के लिए अपराजित सूरि ने पंचास्तिकाय का निम्न वचन उद्धृत किया है और 'इति वचनाच्च' कहकर उसका प्रामाण्य दर्शाया है—

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।

तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥

इति वचनाच्च।

इस प्रकार आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि के द्वारा कुन्दकुन्द के उक्त वचनों को आगमप्रमाण के रूप में उद्धृत किये जाने से सिद्ध होता है कि वे अपराजित सूरि से बहुत प्राचीन थे।

१०

८वीं श. ई. की धवला, जयधवला में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

१०.१. धवला का रचनाकाल ७८० ई०

हरिवंशपुराणकार जिनसेन (द्वितीय) ने धवलाकार वीरसेन स्वामी और उनके शिष्य आदिपुराणकार जिनसेन (प्रथम) की स्तुति हरिवंशपुराण (१/३९-४०) में की है। इन्होंने अपना समय शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ बतलाया है।^{१९} अतः वीरसेन स्वामी इनसे पूर्ववर्ती या इनके समकालीन थे। उन्होंने सन् ७८० ई० में धवलाटीका पूर्ण की थी।^{८०}

१०.२. धवला में प्रमाणस्वरूप कुन्दकुन्द की गाथाएँ एवं ग्रन्थनाम

वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका एवं कसायपाहुड की जयधवला

७९. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां ---

शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥ ६६ / ५२-५३ ॥ हरिवंशपुराण।

८०. क—धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु. १६ / धवलाकार-प्रशस्ति / पृ० ५९४।

ख—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास एक दृष्टि / पृ० २२१-२२२।

टीका में कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, चरितपाहुड और भावपाहुड से गाथाएँ उद्धृत कर अपने कथन की पुष्टि की है। इसका विवरण माननीय पं० बालचन्द्र जी शास्त्री-कृत षट्खण्डागम-परिशीलन के आधार पर दिया जा रहा है।

१. "जीवस्थान-कालानुगम में कालविषयक निक्षेप की प्ररूपणा करते हुए धवला में तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यकाल के प्रसंग में 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे ववहार-कालस्स अत्थित्तं' इस प्रकार पंचास्तिकाय ग्रन्थ का नाम-निर्देश करते हुए उसकी 'कालोत्ति य ववएसो---' (१०१) और 'कालो परिणामभवो ---' (१००) इन दो गाथाओं को विपरीत क्रम से (१०१ व १००) उद्धृत किया गया है।"^{८१}

२. "आगे वेदनाकालविधान अनुयोगद्वार में तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यकाल को प्रधान और अप्रधान के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उनमें प्रधान द्रव्यकाल के स्वरूप का निर्देश करते हुए धवला में कहा गया है कि शेष पाँच द्रव्यों के परिणमन का हेतुभूत जो रत्तराशि के समान प्रदेशसमूह से रहित लोकाकाश के प्रदेशों का प्रमाण-काल है, उसका नाम प्रधान द्रव्यकाल है। वह अमूर्त व अनादिनिधन है। उसकी पुष्टि में आगे 'उक्तं च' इस सूचना के साथ ग्रन्थनामनिर्देश के बिना पंचास्तिकाय की उपर्युक्त दोनों गाथाएँ यथाक्रम (१००-१०१) उद्धृत की गयी हैं।"^{८२}

३. "पूर्वोक्त जीवस्थान-कालानुगम में उसी कालविषयक निक्षेप के प्रसंग में धवलाकार ने द्रव्यकालजनित परिणाम को नोआगम-भावकाल कहा है। इस पर वहाँ यह शंका की गयी है कि पुद्गलादि द्रव्यों के परिणाम को 'काल' नाम से कैसे व्यवहृत किया जाता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे जो 'काल' नाम से व्यवहृत किया जाता है, वह कार्य में कारण के उपचार से किया जाता है। इसकी पुष्टि में वहाँ 'वुत्तं च पंचत्थि-पाहुडे ववहारकालस्स अत्थित्तं' ऐसी सूचना करते हुए पंचास्तिकाय की २३, २५ और २६ ये तीन गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं।"^{८३}

४. "जीवस्थान सत्प्ररूपणा में षट्खण्डागम का पूर्वश्रुत से सम्बन्ध दिखलाते हुए स्थानांग के प्रसंग में धवला में कहा गया है कि वह ब्यालीस हजार पदों के द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक के क्रम से स्थानों का वर्णन करता है। आगे वहाँ तस्सोदाहरणं ऐसा निर्देश करते हुए ग्रन्थनाम-निर्देश के बिना पंचास्तिकाय

८१. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.४/१,५,१/ पृ.३१५ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ० ५९५)।

८२. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.११/४,२,५,१/ पृ.७५-७६ (षट्खण्डागम-परिशीलन/पृ० ५९५)।

८३. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.४/१,५,१/ पृ.३१७ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ५९५)।

की 'एक्को चेय महण्यो' (७१) और 'छक्कावक्कमजुत्तो' (७२) इन दो गाथाओं को उद्धृत किया गया है।" ८४

"ये दोनों गाथाएँ आगे इसी प्रसंग में 'कृति-अनुयोगद्वार' में पुनः धवलाकार द्वारा उद्धृत की गयी हैं।" ८५

५. "उपर्युक्त कृति-अनुयोगद्वार में नयप्ररूपणा के प्रसंग में धवला में द्रव्यार्थिकनय के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं : नैगम, संग्रह और व्यवहार। इनमें संग्रहनय के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो पर्यायकलंक से रहित होकर सत्ता आदि के आश्रय से सबकी अद्वैतता का निश्चय करता है (सबको अभेदरूप में ग्रहण करता है) वह संग्रहनय कहलाता है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। आगे वहाँ 'अत्रोपयोगिनी गाथा' इस निर्देश के साथ ग्रन्थनामोल्लेख के बिना पंचास्तिकाय की 'सत्ता सव्वपयत्था' आदि गाथा (८) उद्धृत की गयी है।" ८६

६. "वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत स्पर्श-अनुयोगद्वार में द्रव्यस्पर्श के प्रसंग में पुद्गलादि द्रव्यों के पारस्परिक स्पर्श को दिखलाते हुए धवला में 'एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ' ऐसी सूचना करके 'लोगागासपदेसे एक्केक्के' आदि गाथा के साथ पंचास्तिकाय की 'खंधं सयलसमत्थं' गाथा (७५) को उद्धृत किया गया है।" ८७

७. "जीवस्थान खण्ड के अवतार की प्ररूपणा करते हुए उस प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्दकृत चारित्रप्राभृत की 'दंसण-वद-सामाइय' आदि गाथा (२१) को उद्धृत कर धवला में कहा गया है कि उपासकाध्ययन नाम का अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा दर्शनिक, व्रतिक व सामायिकी आदि ग्यारह प्रकार के उपासकों के लक्षण, उनके व्रतधारण की विधि और आचरण की प्ररूपणा करता है।" ८८

८. "जीवस्थान-खण्ड के प्रारंभ में आचार्य पुष्पदन्त के द्वारा जो मंगल किया गया है, उस पंचनमस्कारात्मक मंगल की प्ररूपणा में प्रसंगप्राप्त नैःश्रेयस सुख के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में प्रवचनसार की 'अदिसयमादसमुत्थं' आदि गाथा (१/१३) उद्धृत की गयी है।" ८९

८४. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१/१,१,२ / पृ.१०१ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ५९५)।

८५. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.९/४,१,४५ / पृ.१९८ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ५९५)।

८६. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.९/४,१,४५ / पृ.१७०-१७१

(षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ५९६)।

८७. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१३ / ५,३,१२ / पृ.१३ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ५९६)।

८८. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१/१,१,२ / पृ.१०३ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ. ६१४)।

८९. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१/१,१,१ / पृ.५९ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ.६३४)।

९. “जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम में द्रव्यभेदों का निर्देश करते हुए धवला में जीव-अजीव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। वहाँ जीव के साधारण लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा है कि जो पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध व आठ प्रकार के स्पर्श से रहित, सूक्ष्म, अमूर्तिक, गुरुता व लघुता से रहित, असंख्यात-प्रदेशवाला और आकार से रहित हो, उसे जीव जानना चाहिए। यह जीव का साधारण लक्षण है। प्रमाण के रूप में वहाँ ‘वुत्तं च’ कहकर समयसार की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसहं।
जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥ ४९ ॥

“यह गाथा प्रवचनसार (२/८०) तथा पञ्चास्तिकाय (१२७) में भी है।”^{९०}

१०. “आगे बन्धस्वामित्वविचय में वेदमार्गणा के प्रसंग में अपगतवेदियों को लक्ष्य करके पाँच ज्ञानावरणीय आदि सोलह प्रकृतियों के बन्धक-अबन्धकों का विचार किया गया है। इस प्रसंग में धवलाकार ने उन सोलह प्रकृतियों का पूर्व में बन्ध और तत्पश्चात् उदय व्युच्छिन्न होता है, यह स्पष्ट करते हुए ‘एत्थुवउज्जंती गाहा’ ऐसा निर्देश कर इस गाथा को उद्धृत किया है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खू असेसजीवा जे।
देवा य ओहिचक्खू केवलचक्खू जिणा सव्वे ॥

“यह गाथा कुछ पाठभेद के साथ प्रवचनसार में इस प्रकार उपलब्ध होती है—”

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ ३/३४ ॥”^{९१}

११. “प्रकृति अनुयोगद्वार में श्रुतज्ञान के पर्याय-शब्दों का स्पष्टीकरण करते हुए धवला में प्रवचनसार की ‘जं अण्णाणी कम्मं’ आदि गाथा (३/३८) उद्धृत की गयी है।”^{९२}

१२. “जीवस्थान-चूलिका के अन्तर्गत प्रथम ‘प्रकृति समुत्कीर्तन’ चूलिका में दर्शनावरणीय के प्रसंग में जीव के ज्ञान-दर्शन लक्षण को प्रकट करते हुए धवलाकार

९०. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.३ / १,२,१ / पृ.२ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ.६३५) ।

९१. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.८ / ३,१७९ / पृ.२६४ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ.६३५) ।

९२. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१३ / ५,५,५० / पृ.२८१ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ.६३५) ।

ने कुन्दकुन्द-विरचित भावप्राभृत के 'एगो मे सस्सदो अप्पा' आदि गाथा (५९) को उद्धृत किया है।^{९३}

इनके अतिरिक्त कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथाएँ भी धवला एवं जयधवला में उद्धृत की गयी हैं—

मरदु वा जियदु वा जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

प्र.सा.३ / १७, ष.ख. / पु.१४ / पृ.९०, क.पा. / भा.१ / पृ.९४।

उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमद्धाने।

आबाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।

मुच्छा परिग्गहो च्चिय अञ्जप्पमाणदो भणिदो॥

प्र.सा. / ता.वृ.पाठ ३ / १७-१, २, क.पा. / भा.१ / पृ.९४-९५।

वत्थुं पडुच्च तं पुण अञ्जवसाणं ति भणइ ववहारो।

ण य वत्थुदो हु बंधो बंधो अञ्जप्पजोएण॥

स.सा. / २६५, क.पा. / भा.१ /

पृ.९५।

अञ्जवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स॥

स.सा. / २६२, क.पा. / भा.१ / पृ.९४।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥^{९४}

स.सा. / ८०, ष.खं. / पु.६ / पृ.१२।

आठवीं शती ई० के वीरसेन स्वामी के द्वारा धवला और जयधवला में कुन्दकुन्द की उपर्युक्त गाथाओं के प्रमाणरूप में उद्धृत किये जाने तथा पंचरिधिपाहुड ग्रन्थ का उल्लेख किये जाने से सिद्ध है कि कुन्दकुन्द आठवीं शती ई० से बहुत पहले हुए थे।

९३. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.६ / १, ९-१, ६ / पृ.९ (षट्खण्डागम-परिशीलन / पृ० ६३७)।

९४. धवलाटीका में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—“ण य णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि।”

मर्करा-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख

मर्करा के खजाने से प्राप्त ताम्रपत्रलेख में शकसंवत् ३८८ (४६६ ई०) में कुन्दकुन्दान्वय के आचार्य चन्द्रनन्दी-भटार को एक जिनालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। लेख की सम्बद्ध पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“श्रीमान् कोङ्गणिमहाधिराज अविनीतनामधेय दत्तस्य देसिगगण-कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य अभयणन्दि (अभयनन्दि) भटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य जयणन्दिभटार-शिष्यस्य गुणणन्दिभटारशिष्यस्य चन्दणदिभटारर्गो अष्टा-असीति-उत्तरस्य त्रयो-स (श) तस्य संवत्सरस्य माघभासं सोमवारं स्वातिनक्षत्र सुद्ध पञ्चमी अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभमन्त्री तळवननगर श्रीविजयजिनालयकके --- बदणेगुप्येनाम अविनीतमहाधिराजेन दत्तेन पडिये आरौळमूरु।” (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.१५)।

इसमें कहा गया है कि कोङ्गणि-महाधिराज अविनीत के द्वारा देशीयगण, कोण्डकुन्दान्वय के गुणचन्द्रभटार के शिष्य अभयणन्दिभटार, उनके शिष्य शीलभद्रभटार, उनके शिष्य जयणन्दिभटार, उनके शिष्य गुणणन्दिभटार, उनके शिष्य चन्दणन्दिभटार को तळवननगर के श्रीविजय-जिनालय के लिए दिया गया बदणेगुप्ये नामक गाँव अकालवर्ष-पृथुवी-वल्लभ-मन्त्री ने शकसंवत् ३८८ की माघ शुक्ल पञ्चमी, सोमवार को स्वातिनक्षत्र में इस मन्दिर को प्रदान किया।

कुन्दकुन्दान्वय में इन छह गुरु-शिष्यों की परम्परा का काल १५० वर्ष और कुन्दकुन्दान्वय के प्रतिष्ठित होने के लिए ५० वर्ष का अन्तराल मानने पर कुन्दकुन्द का समय ताम्रपत्रलेख के समय (४६६ ई०) से दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् २६६ ई० घटित होता है।^{१५}

किन्तु यह इस ताम्रपत्रलेख के अनुसार कुन्दकुन्दान्वय के आरंभ का अनुमानित काल है। अन्य स्रोतों से कुन्दकुन्दान्वय इससे पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। पूर्वोद्धृत शिलालेखों और पट्टावलियों में प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० में हुए उमास्वाति को कुन्दकुन्दान्वय में उद्धृत बतलाया है। अतः कुन्दकुन्दान्वय की प्राचीनता से भी कुन्दकुन्द का अस्तित्व-काल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी ही सिद्ध होता है।

पूर्णतः कृत्रिम होने के मत का निरसन

उक्त लेख में अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ-मन्त्री नाम आया है।/जैन शिलालेखों के

१५. जुगलकिशोर मुख्तार : 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश'/पृ.६०२।

अध्येता डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी का कथन है कि यह नाम “हमें बलात् राष्ट्रकूटवंश के इतिहास की ओर ले जाता है। इस वंश में अकालवर्ष-उपाधिधारी तीन नरेश हुए हैं। उन सभी का नाम कृष्ण था। कृष्ण प्रथम का समय सन् ७५८ से ७७८ ई० के लगभग, द्वितीय का सन् ७७९ से ९१४ ई० के लगभग तथा तृतीय का सन् ९३७ से ९६८ ई० के लगभग बतलाया जाता है।”^{९६} --- “लेख नं० ९५ (मर्करा ताम्रपत्र) में चन्दणन्दिभटार को श्रीविजय-जिनालय के लिए अकालवर्ष नृप (कृष्ण तृतीय) के मन्त्री द्वारा बदणेगुप्पे नामक गाँव के दान का उल्लेख है।”^{९७} इसे दृष्टि में रखते हुए वे लिखते हैं—“इस सबसे हमें लगता है कि मर्करा के प्राचीन ताम्रपत्रों को उक्त राजा के काल में पुनः नये रूप में उत्कीर्ण किया गया है। तभी इन नामों एवं घटना आदि के साथ दान से सम्बन्धित देशीयगण, कोण्डकुन्दान्वय के आचार्यों के नाम लिखे गये हैं।”^{९८}

मेरा मत भी ऐसा ही है कि उक्त राजा के काल में इन ताम्रपत्रों का पुनर्लेखन कराया गया है और लेख में कुछ अंश नया जोड़ा गया है। अतः यह ताम्रपत्रलेख अंशतः कृत्रिम है। “राजा अविनीत या उसके मंत्री ने शक सं० ३८८ में तळवननगर के श्रीविजय-जिनालय के लिए बदणेगुप्पे ग्राम कुन्दकुन्दान्वय के चन्दणन्दिभटार को दान किया था,” यह वृत्तान्त तो पुनर्लिखित ताम्रपत्रों में पूर्ववत् ही रखा गया है, शेष वृत्तान्त नया जोड़ दिया है। यदि ग्रामदान के वृत्तान्त को भी बाद में जोड़ा गया माना जाय तो निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं—

१. यदि राजा अकालवर्ष-पृथ्वीवल्लभ कृष्ण तृतीय (९३७-९६८ ई०) के काल में मर्करा-ताम्रपत्र लेख में ग्रामदान का वृत्तान्त भी बाद में जोड़ा गया हो, तो उस राजा के मन्त्री के साथ ५०० वर्ष पूर्व (शक सं० ३८८=४६६ ई०) की घटना क्यों जोड़ी गयी, जिसका उसके समय में घटित होना असंभव है? इसके अतिरिक्त राजा कोङ्गणिवर्मा अविनीत (४२५ ई०)^{९९} अपने से ५०० वर्ष बाद होनेवाले अविद्यमान मंत्री को तळवननगर-जिनालय के लिए दान करने हेतु कोई ग्राम आदि वस्तु कैसे दे सकता था?

२. अपने राज्य का ग्राम उन्होंने दूसरे राज्य के मंत्री के द्वारा क्यों दिलवाया? अपने ही मंत्री के द्वारा क्यों नहीं दिलवाया या स्वयं क्यों नहीं दिया?

९६. जैन शिलालेख संग्रह/ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला / भा.३ / प्रस्तावना / पृ.४८। धवला / पु.६ / पृ.१२।

९७. वही/ भाग ३ / प्रस्तावना / पृ. ५३।

९८. वही / भाग ३ / प्रस्तावना/ पृ.५०/ पादटिप्पणी।

९९. वही / भा.२ / नोणमंगल-लेख क्र. ९४।

३. यदि अकालवर्ष पृथ्वीवल्लभ के मंत्री ने महाराज अविनीत द्वारा प्रदत्त ग्राम का दान ९३७ ई० से ९६८ के बीच किया था, और इसी समय मर्करा-ताम्रलेख का पुनर्लेखन कराया गया था, तो लेख में ग्रामदान करने का समय शक सं० ३८८ (४६६ ई०) क्यों लिखवाया गया ?

४. तथा पुनर्लेख में अविनीत राजा की वंशावली और विरुदावली को तो ज्यों का त्यों रहने दिया गया है, किन्तु उनके द्वारा दिये हुए ग्राम का दान करनेवाला पुरुष जिस राजा अकालवर्ष-पृथ्वीवल्लभ कृष्ण तृतीय का मन्त्री था, उस राजा के नाम तक का उल्लेख नहीं किया गया तथा उसके मन्त्री के नाम को भी अज्ञात रखा गया। ऐसा क्यों किया गया ?

५. और यदि दान से सम्बन्धित देशीयगण-कोण्डकुन्दान्वय के आचार्यों के नाम ताम्रपत्रलेख में पुनर्लेखन के समय अर्थात् पाँच सौ वर्ष बाद जोड़े गये हैं, तो पुनर्लेखन कराने वाले अकालवर्ष-पृथ्वीवल्लभ को यह कैसे मालूम हुआ कि ५०० वर्ष पहले राजा अविनीत ने इन्हीं आचार्यों को बदणेगुप्पे ग्राम दान में दिया था और इन आचार्यों का गुरुशिष्य-क्रम यही था, तथा ये देशीयगण एवं कुन्दकुन्दान्वय के थे ?

६. यदि इन गुणचन्द्रादि के शिष्य चन्द्रणन्दी आचार्य को राजा अविनीत ने ग्रामदान नहीं किया था, तो भी ताम्रपत्र में अकालवर्ष-पृथ्वीवल्लभ ने ऐसा लिखवा दिया था, तो उसके द्वारा इस असत्य बात को लिखवाये जाने का क्या प्रयोजन था? अथवा ये आचार्य देशीयगण और कुन्दकुन्दान्वय के नहीं थे, तो इनके साथ ये गण और अन्वय क्यों जोड़े गये?

मर्करा-ताम्रपत्र लेख में पाँच सौ वर्ष पूर्व की घटना जोड़ी गयी, यह कल्पना उपर्युक्त असामान्य, जटिल प्रश्नों को जन्म देती है, जिनका कोई समाधान डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी या अन्य किसी के पास नहीं हो सकता। अतः यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है। हम देखते हैं कि ३७० ई० के नोणमंगल-लेख (क्र० ९०) में राजा अविनीत के पिता माधववर्मा द्वितीय के द्वारा मूलसंघानुष्ठित जैनमंदिर को भूमि एवं कुमारपुर ग्राम दिये जाने का वर्णन है।^{१००} नोणमंगल के ही ४२५ ई० के लेख (क्र० ९४) में स्वयं अविनीत (कोङ्गणिवर्मा द्वितीय) के द्वारा मूलसंघ के चन्द्रनन्दी आदि आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूर के जिनालय को वेनैल्करनि ग्राम का दान किये जाने का कथन है।^{१००} तथा मर्करा-ताम्रपत्रलेख में भी उन्हीं राजा अविनीत के द्वारा तळवननगर के जिनालय के लिए बदणेगुप्पे गाँव के दान का उल्लेख है, वह भी उन्हीं चन्द्रणन्दी

१००. देखिये, 'पुरातत्त्व में दिगम्बरपरम्परा के प्रमाण' नामक पंचम अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में उक्त शिलालेखों के मूलपाठान्श।

आचार्य को, जिनका उल्लेख उपर्युक्त ४२५ ई० के नोणमंगल-लेख (क्र.९४) में हुआ है। अतः मर्करा-ताम्रपत्रलेख में अविनीत द्वारा देशीयगण और कुन्दकुन्दान्वय के चन्दणन्दी भटार को शक सं० ३८८ में बदणेगुप्पे ग्राम दिये जाने की जो घटना वर्णित है, उसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

अतः सिद्ध है कि पाँच सौ वर्ष पूर्व की उक्त घटना मर्करा ताम्रपत्रों के पुनर्लेखन के समय में नहीं जोड़ी गयी है, अपितु वह ताम्रपत्रों में पूर्वलिखित थी। उसे पुनर्लेखन के समय पुनः लिख दिया गया। केवल राजा अविनीत के मन्त्री का नाम हटाकर अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ के मन्त्री का उल्लेख कर दिया गया तथा उससे सम्बन्धित अन्य वृत्तान्त भी जोड़ दिया गया। इस तर्कसंगत अनुमिति से उपर्युक्त समस्त जटिल प्रश्न निरस्त हो जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि मर्करा-ताम्रपत्रलेख अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं।

किन्तु, प्रो० एम० ए० ढाकी ने एक अन्य हेत्वाभास के द्वारा उक्त पाँच सौ वर्ष पूर्व की घटना को भी असत्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। वे लिखते हैं—
“प्रेमी जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मर्कराताम्रपत्र में उल्लिखित श्री विजयजिनालय, जिसके कुन्दकुन्दान्वयी आचार्य चन्दणन्दिभटार को बदणेगुप्पे ग्राम के दान का उल्लेख है, ८ वीं शती ई० के अन्त में गंगवंशी राजा मारसिंह द्वितीय के सेनापति श्रीविजय ने मान्यनगर में बनवाया था। अतः कुन्दकुन्दान्वय ८ वीं शती ई० से प्राचीन नहीं हो सकता है।”^{१०१} इसका तात्पर्य यह है कि मर्कराताम्रपत्र में शकसंवत् ३८८ में कोङ्गणिमहाधिराज अविनीत द्वारा चन्दणन्दिभटार को ग्रामदान किये जाने का जो उल्लेख है, वह असत्य है। इससे मर्करा ताम्रपत्रलेख का जाली होना सूचित होता है। किन्तु आगे NOTES AND REFERENCES (S. N. 29) में प्रो० ढाकी लिखते हैं कि “वस्तुतः वह कथन प्रेमी जी का नहीं है, अपितु किसी अन्य लेखक का है, जिसका ग्रन्थ अभी मेरे पास नहीं है।”^{१०२}

१०१. "But the Jaina temple to the pontiff of which the grant was addressed in this charter is Vijaya-Jinālaya of Mānyanagara or Mānyapura, Maṇṇe in Gaṅgavāḍī, the temple known to have been founded by Vijaya, general of Gaṅga Mārsiṅha II in c. late eighth century A.D. as shown by Premi ! The mention, in this charter, of Koṅḍakundānvaya can not, therefore, push back that anvaya's antiquity to any century prior to the eighth" (The Date of Kundakundācārya, Aspects of Jainology, Vol. III, p. 190).

१०२ "I lately realised it was not Premi, but some other author whose work is currently not handy." (The Date of Kundakundācārya, Aspects of Jainology, Vol. III, p.202).

यह सत्य है कि राजा शिवमार द्वितीय के पुत्र मारसिंह के सेनापति श्रीविजय ने ८ वीं शताब्दी ई० के चतुर्थपाद में मान्यनगर में अर्हदायतन (जिनालय) बनवाया था और शक सं० ७१९ (७९७ ई०) में उसके लिए 'किषु-वेक्कूर' ग्राम दान किया था।^{१०३} किन्तु मर्करा-ताम्रपत्र-लेख में 'श्रीविजयजिनालय' नाम से उसी जिनालय का उल्लेख है, इस मान्यता को सही सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सेनापति श्रीविजय द्वारा मान्यपुर में बनवाये गये जिनालय को तो इस घटना का उल्लेख करने वाले दानपत्र में भी 'श्रीविजयजिनालय' नाम से अभिहित नहीं किया गया है। उसमें उसे केवल 'जिनेन्द्रभवन' या 'अर्हदायतन' कहा गया है।^{१०३}

ढाकी जी की उक्त मान्यता को मिथ्या सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु यह है कि श्रीविजय ने मन्दिर का निर्माण मान्यनगर में कराया था, लेकिन मर्करा-ताम्रपत्र में उल्लिखित श्रीविजय-जिनालय तळवननगर में स्थित था।

तीसरा हेतु यह है कि श्रीविजय ने मान्यनगर में जिनालय का निर्माण ८ वीं शती ई० के अन्तिम चरण में कराया था, जब कि मर्करा-ताम्रपत्र-लेख के अनुसार तळवननगर के श्रीविजयजिनालय को बदणेगुप्पे ग्राम का दान शक सं० ३८८ (४६६ ई०) में किया गया था। और इसे असत्य सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त ४६६ ई० के मर्करा-ताम्रपत्रलेख में उन्हीं कोङ्गणिमहाधिराज अविनीत तथा चन्दणन्दिभटार के नाम हैं, जिनके नाम ४२५ ई० के नोणमंगल के ताम्रपत्रलेख में हैं। इससे मर्करा ताम्रपत्रलेख का शक सं० ३८८ (४६६ ई०) वास्तविक सिद्ध होता है।

इन हेतुओं से सिद्ध है कि मर्करा-ताम्रपत्रोल्लिखित श्रीविजयजिनालय सेनापति श्रीविजय द्वारा मान्यनगर में बनवाये गये जिनालय से भिन्न है। स्थानभेद और कालभेद होते हुए भी केवल 'श्रीविजय' इस नामसाम्य के कारण उसे श्रीविजय द्वारा मान्यनगर में निर्मापित जिनालय का उल्लेख मान लेना मर्करा-ताम्रपत्रलेख के साथ एक दूसरी जालसाजी करना है।

किसी भी ग्रन्थ या शिलालेख में यह नहीं कहा गया है कि मर्करा-ताम्रपत्रलेख में 'श्रीविजयजिनालय' के नाम से सेनापति श्रीविजय द्वारा मान्यनगर में बनवाये गये

१०३. "स मान्यनगरे श्रीमान् श्रीविजयोऽकार (य) च्छुभम्। जिनेन्द्रभवनं तुङ्गं निर्मलं स्व-महस्-समम्॥ --- श्रीमारसिंहस्यानुज्ञया श्रीविजयो महानुभावः किषु-वेक्कूर-ग्राममादाय मान्यपुर-विनिर्मिताय भगवदर्हदायतनाय अदादिति।" जै.शि.सं./ मा.च./ भा.२/ मण्णे, ले.क्र. १२२।

जिनालय का उल्लेख है। हाँ, श्री सालेतोरे ने ऐसी अटकल लगायी है, जो डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी के निम्नलिखित वक्तव्य से सूचित होती है—

“इस संग्रह (जैन शिलालेख संग्रह/ भाग १,२,३) के बाहर के एक जैन लेख (मै. आ. रि. १९२१, पृष्ठ ३१) से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट कम्भ ने सन् ८०७ में अपने पुत्र की प्रार्थना पर तळवनपुर के श्रीविजयजिनालय के लिए कोण्डकुन्दान्वय के कुमारनन्दिभटार के प्रशिष्य एवं एलवाचार्य के शिष्य वर्धमानगुरु को बदणेगुप्पे ग्राम दान में दिया।^{१०४} यह श्रीविजयजिनालय बहुतकर जिनभक्त महासामन्त श्रीविजय द्वारा ही निर्मापित हुआ था (सालेतोरे : ‘मेडीवल जैनज्म’, पृ. ३८)।”^{१०५}

यहाँ ‘बहुतकर’ शब्द से स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थलेखक ने ‘श्रीविजय’ शब्द के साम्य से ही यह अटकल लगायी है कि तळवननगर का श्रीविजयजिनालय श्रीविजय द्वारा बनवाया गया था। यह अटकल सर्वथा अयुक्तियुक्त है, यह उपर्युक्त हेतुओं से सिद्ध है।

यहाँ एक विशेषता द्रष्टव्य है। तळवननगर के श्रीविजयजिनालय को बदणेगुप्पे ग्राम दो बार दान में दिया गया। पहली बार मर्करा-ताम्रपत्रलेख के अनुसार शक सं० ३८८ (४६६ ई०) में और दूसरी बार ८०७ ई० में। पहली बार कदम्बवंशी महाराज अविनीत के द्वारा दिया गया, दूसरी बार राष्ट्रकूटवंशी राजा कम्भ के द्वारा। पहली बार चन्दणन्दी भटार को सौंपा गया, दूसरी बार कुमारनन्दी भटार के प्रशिष्य वर्धमानगुरु को। अब प्रश्न उठता है कि एक ही गाँव, एक ही जिनालय को दो बार कैसे दान किया जा सकता है? यह संभव है। ४६६ ई० और ८०७ ई० में ३४१ वर्ष का अन्तर है। इस अन्तराल में अनेक बार सत्तापरिवर्तन हुए। किसी समय किसी जैनधर्म-विरोधी राजा के हाथ में सत्ता आयी होगी और जिनालयों के लिए दान में दिये गाँव पुनः राजसात् हो गये होंगे। इसी कारण शक सं० ३८८ में तळवननगर के श्री विजयजिनालय को दिया गया बदणेगुप्पे गाँव राजसात् हो गया होगा और उसी अवस्था में राष्ट्रकूटनरेश कम्भ के हाथ में आया होगा। तब उसके पुत्र के प्रार्थना करने पर उसने पुनः उसी जिनालय को दान कर दिया होगा।

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्रकूट राजवंश में तळवननगर के श्रीविजयजिनालय को बदणेगुप्पे गाँव का दूसरी बार दान सन् ८०७ में राजा कम्भ के द्वारा किया गया था, न कि ई० सन् ९३७ से ९६८ के बीच अकालवर्ष-पृथ्वीवल्लभ-

१०४. यह लेख भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४ में संगृहीत है, जिसका क्रमांक ५४ है।

१०५. जैन शिलालेख संग्रह/ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला / भा.३ / प्रस्ता. / पृ. ४९।

उपाधिधारी कृष्ण तृतीय के मन्त्री द्वारा। क्योंकि जब राष्ट्रकूटवंश के एक राजा ने उस गाँव का दान कर दिया, तब उसी वंश के राजाओं द्वारा उसके छीने जाने और पुनः दान किये जाने की संभावना नहीं रहती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मर्करा-ताम्रपत्र में उल्लिखित राजा अविनीत ने अपने ही मन्त्री को बदणेगुप्पे गाँव प्रदान किया था, जिसे उसने तळवननगर के श्रीविजयजिनालय को दान कर दिया। अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ कृष्ण तृतीय के काल में निश्चित ही मर्करा-ताम्रपत्र-लेख में अविनीत के मन्त्री के नाम के स्थान में 'अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ मन्त्री' उत्कीर्ण करवा दिया गया और उससे सम्बन्धित अन्य वृत्तान्त जोड़ दिया गया। अतः मर्करा-ताम्रपत्र में केवल इतना ही अंश जाली है, शेष अंश जाली नहीं है। अर्थात् राजा अविनीत अथवा उसके मन्त्री के द्वारा शक सं० ३८८ में श्रीविजयजिनालय के लिए कोण्डकुन्दान्वय के चन्दणन्दिभटार को 'बदणेगुप्पे' नामक ग्राम दान किये जाने का वृत्तान्त सत्य है। इस प्रकार मर्करा-ताम्रपत्रलेख के अनुसार कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल ४६६ ई० से बहुत पहले सिद्ध होता है।

ये साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाण भी इस बात के सबूत हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम शताब्दी से पहले हुए थे। अतः दि इण्डियन एण्टिक्वेरी की नन्दिसंघीय पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल जो ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी बतलाया गया है, उसकी इन साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से पुष्टि होती है। इस प्रकार सभी प्रमाण इस निर्णय पर पहुँचाते हैं कि कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे।

१२

४७० ई. के पूर्व निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ के शास्त्रों का अस्तित्व

कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा के ४७० ई० के देवगिरि शिलालेख से यह सिद्ध है कि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध करनेवाले निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ का अस्तित्व ४७० ई० के पूर्व से था। अतः यह भी निश्चित है कि उक्त संघ के इन सिद्धान्तों का युक्तिसंगतरूप से प्रतिपादन करनेवाले एवं दिगम्बर श्रमणों, श्रावकों और आर्यिकाओं के आचार का बोध करानेवाले, साथ ही आत्मादि द्रव्यों और मोक्षमार्ग के सर्वज्ञोपदिष्ट स्वरूप के विवेचक तथा कर्मसिद्धान्त के प्ररूपक शास्त्र भी उस समय विद्यमान होंगे। कर्मसिद्धान्त के प्ररूपक प्राचीनतम शास्त्र कसायपाहुड और षट्खण्डागम हैं, किन्तु द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और अध्यात्म का निरूपण करने वाले सबसे प्राचीन उपलब्ध शास्त्र आचार्य कुन्दकुन्द के ही हैं। मुनियों के अट्टाईस मूलगुणों का निरूपण सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में ही हुआ है। मूलाचार में भी अट्टाईस मूलगुणों

का वर्णन है, पर उसकी रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर हुई है। इसका सप्रमाण प्रतिपादन 'मूलाचार' के अध्याय में द्रष्टव्य है। सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति की अस्वीकृति निर्ग्रन्थ-श्रमण-परम्परा का प्राण है। इनका युक्तिपूर्वक खण्डन सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड और प्रवचनसार में ही मिलता है। द्रव्यानुयोग का प्राचीनतम ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय ही है। इससे इस बात को स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता कि ४७० ई० के पूर्व निर्ग्रन्थ-श्रमण-परम्परा के पास उसके साम्प्रदायिक स्वरूप को प्रकट करनेवाले प्राचीनतम ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसारादि ही थे। यह तथ्य कुन्दकुन्द की प्राचीनता की पुष्टि करता है।

१३

विरोधीमतों का निरसन

अनेक विद्वानों ने उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया और सन्दिग्ध संकेतों के आधार पर कुन्दकुन्द के समय का आकलन करने की चेष्टा की है। जिससे अनेक परस्पर विरोधी मतों का प्रादुर्भाव हुआ है। डॉ० के० बी० पाठक ने टीकाकार आचार्य जयसेन के इस कथन के आधार पर कि कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय की रचना शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए की थी, उनका समय विक्रम की छठी शताब्दी (४७० ई० के आसपास) आकलित किया है। मुनि कल्याणविजय जी ने भी डॉ० पाठक के उक्त कथन के आधार पर तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रयुक्त कुछ शब्दों के आधार पर यही समय निर्धारित किया है। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी नियमसार में उल्लिखित 'लोकविभाग' शब्द को आधार बनाकर लगभग उपर्युक्त समय ही स्वीकार किया है।^{१०६} आचार्य श्री हस्तीमल जी हरिवंशपुराण में उल्लिखित पट्टावली को प्रामाणिक मानकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कुन्दकुन्द वीरनिर्वाण सं० १००० (४७३ ई०) के आसपास हुए हैं, जबकि डॉ० हार्नले ने नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर कुन्दकुन्द को ई० पू० ५२ से ई० ४४ तक विद्यमान माना है। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने भी उनका अनुसरण किया है। कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमक गुरु कहा है, अतः आचार्यश्री ज्ञानसागर जी उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु का ही सम-कालीन मानने के पक्ष में हैं, जब कि पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उन्हें भद्रबाहु द्वितीय मानकर यह निर्णय किया है कि कुन्दकुन्द ई० सन् ८१ से १६५ के बीच स्थित थे।

इन परस्परविरोधी मतों के हेतुवाद की हेत्वाभासता का प्रदर्शन करते हुए उत्तर प्रकरणों में इनका निरसन किया जा रहा है।

१०६. देखिए, 'श्रमण भगवान् महावीर' / पादटिप्पणी / पृ.३०१-३०६।



द्वितीय प्रकरण

मुनि कल्याणविजय जी के मत का निरसन

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शती का विद्वान् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके पक्ष में उन्होंने अपने ग्रन्थ श्रमण भगवान् महावीर में पृष्ठ ३०२ से ३०६ तक अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं। उनका वर्णन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

१

कदम्बवंशी शिवमृगेश के लिए पञ्चास्तिकाय की रचना

मुनि जी का कथन है—“कुन्दकुन्दाचार्यकृत पञ्चास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए रचा था। डॉ० पाठक के विचार से यह शिवकुमार ही कदम्बवंशी शिवमृगेश थे, जो सम्भवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के ही व्यक्ति हो सकते हैं।” (श्र.भ.म./पा.टि./पृ.३०२)।

निरसन

जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे

१. इस हेतु का खण्डन सर्वप्रथम मुनि जी के ही वचनों से हो जाता है। उन्होंने कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक माना है। और श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (ई० सन् ४७०-४९०)^{१०७} में कहा गया है कि उसने जिनमन्दिर, श्वेतपट-महाश्रमणसंघ एवं निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ को कालवङ्ग नामक ग्राम दान में दिया था। और मृगेशवर्मा के हल्सी-ताम्रपत्रलेख (४७०-४९० ई०)^{१०७} में उल्लेख है कि उसने जिनालय का निर्माण कराकर चापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों को भूमिदान किया था।^{१०८} इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर-परम्परा (निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ) श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के बहुत पहले से चली आ रही थी। अतः यदि मुनि जी के अनुसार कुन्दकुन्द को उसका प्रवर्तक माना जाय, तो वे श्रीविजय-शिवमृगेश वर्मा से अर्थात्

१०७. जैन शिलालेख संग्रह/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला/भाग ३/प्रस्तावना : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी / पृ.२३।

१०८. उक्त ताम्रपत्रलेखों का मूलपाठांश अध्याय २/प्रकरण ६/शीर्षक २ में द्रष्टव्य है।

विक्रम की छठी शताब्दी से काफी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप मुनि जी को या तो कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की मान्यता छोड़नी होगी या उन्हें विक्रम की छठी शताब्दी से काफी पूर्ववर्ती स्वीकार करना होगा। किन्तु इनमें से कोई भी विकल्प चुनने पर वे दिगम्बरपरम्परा को अर्वाचीन सिद्ध नहीं कर सकेंगे, क्योंकि कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की मान्यता छोड़ने पर यह सिद्ध होगा कि वह तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित है। और कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्ववर्ती स्वीकार करने पर उन सारे हेतुओं पर पानी फिर जायेगा, जिनके आधार पर मुनि जी ने कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शती का माना है और तब उनके पास कुन्दकुन्द को ईसा-पूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी का सिद्ध करनेवाले हेतुओं को अमान्य करने के लिए और कोई हेतु शेष नहीं रहेगा। क्योंकि दि इण्डियन एण्टिक्वेरी में उद्धृत नन्दिसंघीय पट्टावली एवं अन्य प्रमाणों से कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी के सिद्ध होते हैं, उसे ही मिथ्या सिद्ध करने के लिए मुनि जी ने उक्त प्रकार के असंगत हेतुओं का मायाजाल बिछाया है। किन्तु श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के शिलालेख में निर्ग्रन्थ-महाश्रमण-संघ को दान दिये जाने का उल्लेख उस मायाजाल से माया का परदा हटा देता है और कुन्दकुन्द के ईसा-पूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में होने का सत्य सूर्य के समान प्रकाशित होने लगता है।

डॉक्टर के० बी० पाठक ने स्वीकार किया है कि श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के अस्तित्वकाल से पहले ही जैन लोग निर्ग्रन्थ और श्वेतपट सम्प्रदायों में विभक्त हो गये थे।^{१०९} अर्थात् कुन्दकुन्द दिगम्बर-सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे। किन्तु मुनि जी ने डॉ० पाठक के इस कथन की उपेक्षा कर शिवकुमार महाराज और राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा को अभिन्न मानने के साथ-साथ कुन्दकुन्द को दिगम्बरपरम्परा का प्रवर्तक भी मान लिया है। इस कारण उनकी शिवमृगेश वर्मा के शिवकुमार महाराज होने की मान्यता असंगत अतएव मिथ्या हो गयी है।

१०९. डॉक्टर के.बी. पाठक "Indian Antiquary", Vol. XIV, January 1885 में प्रकाशित अपने लेख "An Old Kanarese Inscription At Tērdāl" में पृष्ठ 15 पर लिखते हैं— "Bālachandra, the commentator, who lived before Abhinava-Pampa, says, in his introductory remarks on the Prābrītasāra, that Kuṇḍakuṇḍāchārya was also, called Padmanandi and was the preceptor of Śivakumārahārāja. I would identify this king with the Early Kadamba king Śri-vijaya-Śiva-Mṛigēsa-mahārāja. For, in his time, the Jainas had already been divided into the Nirgranthas and the Śvētapaṭas. And Kuṇḍakuṇḍa attacks the Śvētapaṭa sect when he says, in the Pravachanasāra, that women are allowed to wear clothes because they are incapable of attaining nirvāṇa-चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं।"

२. वैसे भी डॉ० पाठक ने जो शिवकुमार महाराज का श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के साथ समीकरण किया है, वह प्रमाण-विरुद्ध है, क्योंकि पूर्व में दर्शाया जा चुका है कि राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के कुछ पहले (ई० सन् ४५०) अथवा उनके समय में हुए पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उद्धृत की हैं, इसलिए कुन्दकुन्द श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा से पूर्ववर्ती हैं। अतः वे श्रीविजय-शिवमृगेश के गुरु नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त विद्वानों ने कुछ अन्य विसंगतियों की ओर भी संकेत किया है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं—“प्रथम तो जयसेनादि का यह लिखना ही कि ‘कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पंचास्तिकाय की रचना की’ बहुत कुछ आधुनिक मत जान पड़ता है, मूल ग्रन्थ में उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्रीअमृतचन्द्राचार्य-कृत प्राचीन टीका पर से उसका कोई समर्थन होता है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में यह सूचित किया है कि उन्होंने इस पंचास्तिकायसंग्रह सूत्र को प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्ग की प्रभावनार्थ रचा है। यथा—

मग्गप्पभावणदुं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।

भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं॥ १७३॥

“इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द ने अपना यह ग्रन्थ किसी व्यक्तिविशेष के उद्देश्य से अथवा उसकी प्रेरणा को पाकर नहीं लिखा, बल्कि इसका खास उद्देश्य मार्गप्रभावना और निमित्तकारण प्रवचनभक्ति है। यदि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधनार्थ अथवा उनकी खास प्रेरणा से इस ग्रन्थ को लिखा होता, तो वे इस पद्य में या अन्यत्र कहीं उसका कुछ उल्लेख जरूर करते, जैसे कि भट्टप्रभाकर के निमित्त परमात्मप्रकाश की रचना करते हुए योगीन्द्रदेव ने जगह-जगह पर ग्रन्थ में उसका उल्लेख किया है। परन्तु यहाँ मूल ग्रन्थ में ऐसा कुछ भी नहीं, न प्राचीन टीका में ही उसका उल्लेख मिलता है और न कुन्दकुन्द के किसी दूसरे ग्रंथ से ही शिवकुमार का कोई पता चलता है। इसलिये यह ग्रंथ शिवकुमार महाराज के सम्बोधनार्थ रचा गया, ऐसा मानने के लिये मन सहसा तैयार नहीं होता। संभव है कि एक विद्वान् ने किसी किंवदन्ती के आधार पर उसका उल्लेख किया हो और फिर दूसरे ने भी उसकी नकल कर दी हो। इसके सिवाय, जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की टीका में प्रथम प्रस्तावनावाक्य के द्वारा शिवकुमार का जो निम्न प्रकार से उल्लेख किया है, उससे शिवकुमार महाराज की स्थिति और भी संदिग्ध हो जाती है—

“अथ कश्चिदासन्नभध्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्न-परमानन्दैक-लक्षणसुखामृत-विपरीत-चतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशा-तिशयः समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्य-

स्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्द्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो ब्रह्म-भावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

“इस प्रस्तावना के बाद मूल ग्रन्थ (प्रवचनसार) की मंगलादिविषयक पाँच गाथाएँ एक साथ दी हैं, जिनमें से पिछली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

किञ्चा अरुहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।

अञ्जावयवग्गाणं साहूणं चव सव्वेसिं ॥ १/४ ॥

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।

उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ १/५ ॥

“इन गाथाओं में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है कि ‘मैं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्वसाधुओं’ (पंचपरमेष्ठियों) को नमस्कार करके और उनके विशुद्ध दर्शनज्ञानरूपी प्रधान आश्रम को प्राप्त होकर (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न होकर) उस साम्यभाव (परम-वीतराग-चारित्र) का आश्रय लेता हूँ, अथवा उसका सम्पादन करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।’ और इस प्रकार की प्रतिज्ञा द्वारा उन्होंने अपने ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को सूचित किया है। अब इसके साथ टीकाकार की उक्त प्रस्तावना को देखिये, उसमें यही प्रतिज्ञा शिवकुमार से कराई गई है, और इस तरह शिवकुमार को मूलग्रंथ का कर्ता अथवा प्रकारान्तर से कुन्दकुन्द का ही नामान्तर सूचित किया है। साथ ही शिवकुमार के जो विशेषण दिये हैं, वे एक राजा के विशेषण नहीं हो सकते, वे उन महामुनिराज के विशेषण हैं, जो सरागचारित्र से भी उपरत होकर वीतरागचारित्र की ओर प्रवृत्त होते हैं। ऐसी हालत में पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शिवकुमार महाराज की स्थिति कितनी संदिग्ध है।

“दूसरे, शिवकुमार का शिवभृगेशवर्मा के साथ जो समीकरण किया गया है, उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी मालूम नहीं होता। उससे अच्छा समीकरण तो प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नायनार, एम० ए०, एल० टी०, का जान पड़ता है, जो कांची के प्राचीन पल्लवराजा शिवस्कन्दवर्मा के साथ किया गया है।^{११०} क्योंकि स्कन्द कुमार का पर्याय-नाम है और एक दानपत्र में उसे युवामहाराज भी लिखा है, जो कुमारमहाराज का वाचक है, इसलिये अर्थ की दृष्टि से शिवकुमार और शिवस्कन्द दोनों एक जान पड़ते हैं। इसके सिवाय शिवस्कन्द का ‘मयिदावोलु’-वाला दानपत्र, अन्तिम मंगल पद्य

११०. देखिए, पंचास्तिकायसार के अँगरेजी संस्करण की प्रो. ए. चक्रवर्ती द्वारा लिखित ऐतिहासिक प्रस्तावना (Historical Introduction) सन् १९२०।

को छोड़ कर प्राकृतभाषा में लिखा हुआ है और उससे शिवस्कन्द की दरबारी भाषा का प्राकृत होना पाया जाता है, जो इस ग्रन्थ की रचना आदि के साथ शिवस्कन्द का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ज्यादा अनुकूल जान पड़ती है। साथ ही, शिवस्कन्द का समय भी शिवमृगेश से कई शताब्दियों पहले का अनुमान किया गया है।^{१११} इसलिये पाठक महाशय का उक्त समीकरण किसी तरह भी ठीक मालूम नहीं होता। जान पड़ता है उन्होंने इस समीकरण को लेकर ही दो ताम्रपत्रों में^{११२} उल्लिखित हुए तोरणाचार्य को, कुन्दकुन्दान्वयी होने के कारण, केवल डेढ़सौ वर्ष पीछे का ही विद्वान् कल्पित किया है, अन्यथा, वैसी कल्पना के लिये दूसरा कोई भी आधार नहीं था। हम कितने ही विद्वानों के ऐसे उल्लेख देखते हैं, जिनमें उन्हें कुन्दकुन्दान्वयी सूचित किया है और वे कुन्दकुन्द से हजार वर्ष से भी पीछे के विद्वान् हुए हैं। उदाहरण के लिये शुभचन्द्राचार्य की पट्टावली को लीजिये, जिसमें सकलकीर्ति भट्टारक के गुरु पद्मनन्दि को कुन्दकुन्दाचार्य के बाद तदन्वयधरणधुरीण लिखा है और जो ईसा की प्रायः १५वीं शताब्दी के विद्वान् थे। इसलिये उक्त ताम्रपत्रों के आधार पर तोरणाचार्य को शक सं० ६०० का और कुन्दकुन्द को उनसे १५० वर्ष पहले शक सं० ४५० का विद्वान् मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और वह उक्त समीकरण की मिथ्या कल्पना पर ही अवलम्बित जान पड़ता है। ४५० से पहले का तो शक सं० ३८८ का लिखा हुआ मर्कराताम्रपत्र है, जिसमें कुन्दकुन्द का नाम है, गुणचंद्राचार्य को कुन्दकुन्द के वंश में होनेवाला प्रकट किया है और फिर ताम्रपत्र के समय तक उनकी पाँच पीढ़ियों का उल्लेख किया है।” (स्वामी समन्तभद्र/पृ. १६७-१७२)।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी निम्नलिखित वक्तव्य में मुख्तार जी के कथन का समर्थन किया है—

“प्रो० ए० चक्रवर्ती ने भी डॉ० पाठक के उक्त मत को मान्य नहीं किया है। उनका कहना है कि एक तो कुन्दकुन्द के समय से कदम्बराज का समय बहुत

१११. “चक्रवर्ती महाशय ने कुन्दकुन्द का अस्तित्वसमय ईसा से कई वर्ष पहले से प्रारंभ करके, उन्हें ईसा की पहली शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान् माना है और इसलिये उनके विचार से शिवस्कन्द का समय ईसा की पहली शताब्दी होना चाहिये, परन्तु एक जगह पर उन्होंने ये शब्द भी दिये हैं—“It is quite possible therefore that this Śivaskanda of Conjeevuram or one of the predecessor of the Same name was the contemporary and deciple of Śri Kundakunda.” (Historical Introduction p, XII, Pañcāstikāyasāra) लेखक।

११२. जैन-शिलालेख-संग्रह/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला/भाग २/मण्णे-लेख क्र. १२२/शक सं. ७१९ (७१७ ई.) तथा मण्णे-लेख क्र. १२३/शक सं. ७२४ (८०२ ई.)।

अर्वाचीन है। दूसरे, इस बात का समर्थन करने वाले प्रमाणों का अभाव है कि कदम्ब प्राकृत भाषा से परिचित थे, जिसमें कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ रचे हैं। डॉ० पाठक के मत के विपरीत प्रो० चक्रवर्ती ने पल्लव राजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार महाराज मानने पर जोर दिया है, क्योंकि स्कन्द और कुमार शब्द एकार्थवाची हैं, अतः शिवस्कन्द का अर्थ होता है शिवकुमार। शिवस्कन्द युवमहाराज भी कहे जाते थे और युवमहाराज तथा कुमारमहाराज एकार्थक हैं। अन्य परिस्थितियाँ भी इस एकरूपता की पोषक हैं। पल्लवों की राजधानी कंजीपुरम् थी। पल्लव थोण्डमण्डलम् पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता है। इसकी राजधानी ने अनेक द्रविड़ विद्वानों को आकर्षित किया था। कंजीपुरम् के राजगण ज्ञान के संरक्षक थे। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक अर्थात् समन्तभद्र से लेकर अकलंक तक कंजीपुरम् के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। अतः यदि कंजीपुरम् के पल्लवराजा ईसा की प्रथम शताब्दी में जैनधर्म के संरक्षक थे या जैनधर्म को पालते थे, तो यह असम्भव नहीं है।

“इसके सिवाय मयीडवोलु-दानपत्र की भाषा प्राकृत है। यह दानपत्र कंजीपुरम् के शिवस्कन्द वर्मा के द्वारा जारी किया गया था। इसके प्रारंभ में सिद्ध शब्द का प्रयोग है तथा मथुरा के शिलालेखों से यह बहुत मिलता-जुलता है। ये बातें बतलाती हैं कि इसके दाता राजा का झुकाव जैनधर्म की ओर था। अन्य अनेक शिलालेखों आदि से यह स्पष्ट है कि पल्लव राजाओं के राज्य की भाषा प्राकृत थी। अतः प्रो० चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महाराज के लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह बहुत सम्भवतया पल्लववंश का शिवस्कन्द वर्मा है।” (जै.सा.इ/भा. २/पृ. ११४-११५)।

‘शिवकुमारमहाराज’ नामक मुनि का उल्लेख

किन्तु आचार्य जयसेन द्वारा उल्लिखित शिवकुमार महाराज, न तो शिवमृगेशवर्मा हो सकते हैं, न शिवस्कन्दवर्मा, क्योंकि जयसेन ने उन्हें मुनि के रूप में चित्रित किया है, यह पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में आदि और अन्त में कहे गये उनके वचनों से स्पष्ट है। आदि में वे लिखते हैं—

“श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्दाद्यापराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्य-प्रतिपत्त्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्ति-कायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते” (ता.वृ., पातनिका / पं.का./ गा.१)।

अनुवाद—“पद्मनन्दी आदि अपरनामोंवाले श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य-देव द्वारा अन्त-

स्तत्त्व और बाह्यतत्त्व का गौण-मुख्यरूप से प्रतिपादन करने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप-रुचिशिष्यों के प्रतिबोधनार्थ रचे गये पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्र में यथाक्रमेण अधिकारशुद्धिपूर्वक तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जा रहा है।”

इसके बाद आचार्य जयसेन पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा (१७३) की तात्पर्यवृत्ति समाप्त होने के पश्चात् कहते हैं—

“अथ यतः पूर्वं संक्षेपरुचिशिष्यसम्बोधनार्थं पञ्चास्तिकायप्राभृतं कथितं ततो यदा काले शिक्षां गृह्णाति तदा शिष्यो भण्यते इति हेतोः शिष्यलक्षणकथनार्थं परमात्पाराधक-पुरुषाणां दीक्षाशिक्षाव्यवस्थाभेदाः प्रतिपाद्यन्ते। दीक्षाशिक्षागण-पोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थभेदेन षट्काला भवन्ति। तद्यथा—यदा कोऽप्यासन्न-भव्यो भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमाचार्यं प्राप्यात्पाराधनार्थं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागं कृत्वा जिनदीक्षां गृह्णाति स दीक्षाकालः। दीक्षानन्तरं निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयस्य परमात्म-तत्त्वस्य च परिज्ञानार्थं तत्प्रतिपादकाध्यात्मशास्त्रेषु यदा शिक्षां गृह्णाति स शिक्षाकालः। ---”

अनुवाद—“पूर्व में कहा गया है कि संक्षेपरुचि-शिष्यों को शिक्षा देने के लिए पञ्चास्तिकायप्राभृत की रचना की गयी है, और जिस काल में शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करता है, उस काल में वह शिष्य कहलाता है, अतः शिष्य का लक्षण बतलाने के लिए परमात्मा के आराधक पुरुषों की दीक्षा, शिक्षा आदि की व्यवस्था के भेद प्रतिपादित किये जा रहे हैं। दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ के भेद से छह काल होते हैं। जैसे, जब कोई आसन्नभव्य भेदाभेदरत्नत्रययुक्त आचार्य के पास जाकर आत्मा की आराधना के लिए बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर जिनदीक्षा ग्रहण करता है, वह दीक्षाकाल है। दीक्षा के अनन्तर निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय और परमात्मतत्त्व का ज्ञान करने के लिये उनके प्रतिपादक शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करता है, तब वह शिक्षाकाल होता है।”

इन कथनों में आचार्य जयसेन ने मुनिदीक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु से शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करनेवाले को ही ‘शिष्य’ कहा है। अतः शिवकुमार महाराज आदि को ‘शिष्य’ कहने से सिद्ध है कि शिवकुमार महाराज और उनके साथी ‘मुनि’ थे।

इसके अतिरिक्त प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति के आरंभ में (पंचगाथात्मक मंगला-चरण की पातनिका में) शिवकुमार को परमचारित्र (वीतरागचरित्र) ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते हुए वर्णित किया गया है। उन वचनों को पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने पूर्वोल्लिखित वक्तव्य में उद्धृत किया है। उनसे भी सिद्ध होता है कि

शिवकुमारमहाराज मुनि थे। मुख्तार जी ने भी कहा है कि आचार्य जयसेन ने उक्त पातनिका में “शिवकुमार को जो विशेषण दिये हैं, वे एक राजा के विशेषण नहीं हो सकते। वे उन महामुनिराज के विशेषण हैं जो सरागचारित्र से भी उपरत होकर वीतरागचारित्र की ओर प्रवृत्त होते हैं।” (देखिये, मुख्तार जी का पूर्वोक्त वक्तव्य)।

प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार की १०८ वीं गाथा की तथा तृतीय अधिकार की प्रथम गाथा की तात्पर्यवृत्ति में भी शिवकुमार महाराज को मुनिरूप में ही प्रदर्शित किया गया है।

दिगम्बरजैन-साहित्य में जैसे सम्राट् चन्द्रगुप्त और सेनापति चामुण्डराय के मुनिदीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है, वैसे कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा या पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा के जिनदीक्षा ग्रहण करने की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। इसलिए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त महाराजाओं में से ही कोई जिनदीक्षा ग्रहण कर कुन्दकुन्द का शिष्य बन गया था। आचार्य जयसेन के ‘कश्चिदासन्नभय्यः शिवकुमारनामा’ (ता.वृ./पातनिका/प्र.सा.१/१-५) अर्थात् ‘कोई शिवकुमार नाम का आसन्नभय्य’ इन शब्दों से ध्वनित होता है कि शिवकुमार कोई अप्रसिद्ध पुरुष थे। उनके साथ जुड़ा ‘महाराज’ शब्द कोई उपाधि नहीं थी, अपितु नाम का ही अंश था, जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा के कर्त्ता स्वामिकुमार के साथ जुड़ा स्वामी शब्द। मुनि दीक्षा ग्रहण करने के बाद ‘राजपद’ सूचक उपाधि का प्रयोग वीतरागता सूचक मुनिपद के अनुकूल नहीं है। आचार्य जयसेन ने भी ‘शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञां करोति’ (प्र.सा./ता.वृ./३/१) इस प्रयोग द्वारा महाराज शब्द को नाम का ही अंश सूचित किया है। यदि ‘महाराज’ उपाधि होती तो ‘शिवकुमारनामा महाराजः’ ऐसा प्रयोग किया जाता। निष्कर्ष यह कि शिवकुमार नाम न तो राजा शिवमृगेशवर्मा का नामान्तर है, न ही शिवस्कन्दवर्मा का, अपितु किसी अराजवंशीय पुरुष का नाम है। यह अवश्य है कि ‘शिवकुमारमहाराजादि-संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थम्’ इस प्रयोग से यह प्रकट होता है कि ‘शिवकुमार’ कुन्दकुन्द के शिष्यों में प्रमुख थे। इस प्रमुखता के कारण ही संभवतः वे कुन्दकुन्द के शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हुए और आचार्य जयसेन को किसी पारम्परिक स्रोत या अनुश्रुति से इसकी जानकारी प्राप्त हुई। उसी के आधार पर उन्होंने अपनी तात्पर्यवृत्ति में इसका उल्लेख किया है।

इसलिए जिन शिवकुमार महाराज का काल स्वयं अज्ञात है, उनके नाम के आधार पर कुन्दकुन्द के काल का निर्णय करना अन्धकार में गन्तव्य ढूँढ़ने के समान है।

नियमसार में वि. सं. ५१२ में रचित 'लोकविभाग' का उल्लेख

मुनि जी लिखते हैं—“प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने नियमसार की एक गाथा खोज निकाली है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने लोकविभाग परमाणु का उल्लेख किया है।^{११३} यह 'लोकविभाग' ग्रन्थ संभवतः सर्वनन्दी आचार्य की कृति है, जो कि वि० सं० ५१२ में रची गयी थी। इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं।” (श्र.भ.म./पा.टि./पृ.३०३)।

निरसन

'लोकविभागों में' यह पद लोकानुयोग-विषयक प्रकरणसमूह का वाचक, स्वतन्त्र ग्रन्थ का नाम नहीं

इस हेतु का निरसन पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने किया है। वे जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—“नियमसार की उस गाथा में प्रयुक्त हुए लोयविभागेषु पद का अभिप्राय सर्वनन्दी के उक्त लोकविभाग से नहीं है और न हो सकता है, बल्कि बहुवचनान्त पद होने से वह 'लोकविभाग' नाम के किसी एक ग्रन्थविशेष का भी वाचक नहीं है। वह तो लोकविभाग-विषयक-कथनवाले अनेक ग्रन्थों अथवा प्रकरणों के संकेत को लिए हुए जान पड़ता है और उसमें खुद कुन्दकुन्द के लोयपाहुड, संठाणपाहुड जैसे ग्रन्थ तथा दूसरे लोकानुयोग अथवा लोकालोक के विभाग को लिए हुए करणानुयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल किये जा सकते हैं। और इसलिए लोयविभागेषु इस पद का जो अर्थ कई शताब्दियों-पीछे के टीकाकार पद्मप्रभ ने लोकविभागाभिधानपरमाणुमे ऐसा एकवचनान्त किया है, वह ठीक नहीं है।” (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ.६०१)।

इस पर पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि लोयविभागेषु में “बहुवचन का प्रयोग इसलिए भी इष्ट हो सकता है कि लोकविभाग के अनेक विभागों या अध्यायों में उक्त भेद देखने चाहिए।” इसका निरसन करते हुए मुख्तार जी लिखते हैं—“ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्य का यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे लोयविभाग-विभागेषु ऐसा पद रखते, तभी उक्त आशय घटित हो सकता था। परन्तु ऐसा नहीं है, और इसलिए प्रस्तुत पद के विभागेषु पद का आशय यदि ग्रन्थ के विभागों या अध्यायों का लिया जाता है, तो ग्रन्थ का नाम लोक रह जाता है, लोकविभाग नहीं और उससे प्रेमी

११३. चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।

एदेसिं वित्थारं लोयविभागेषु णादब्बं ॥ १७ ॥ नियमसार।

जी की सारी युक्ति ही लौट जाती है, जो लोकविभाग ग्रन्थ के उल्लेख को मानकर की गई है।”

इसके उत्तर में प्रेमी जी कहते हैं—“लोकविभागसु णादव्वं” पाठ पर जो यह आपत्ति की गई है कि वह बहुवचनान्त पद है, इसलिये किसी लोकविभाग-नामक एक ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, तो इसका एक समाधान यह हो सकता है कि पाठ को लोकविभागे सुणादव्वं इस प्रकार पढ़ना चाहिये। ‘सु’ को ‘णादव्वं’ के साथ मिला देने से एकवचनान्त ‘लोकविभागे’ ही रह जायगा और अगली क्रिया ‘सुणादव्वं’ (सुज्ञातव्यं) हो जायगी। पद्मप्रभ ने भी शायद इसीलिए उसका अर्थ लोक-विभागाभिधानपरमागमे किया है।” (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ. ६०५)।

मुख्तार जी इस समाधान का निरसन करते हुए लिखते हैं—“इस पर मैं इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रथम तो मूल का पाठ जब लोकविभागसु णादव्वं इस रूप में स्पष्ट मिल रहा है और टीका में उसकी संस्कृत छाया जो लोकविभागसु ज्ञातव्यं दी है उससे वह पुष्ट हो रहा है तथा टीकाकार पद्मप्रभ ने क्रियापद के साथ ‘सु’ का ‘सम्यक्’ आदि कोई अर्थ व्यक्त भी नहीं किया, मात्र विशेषणरहित द्रष्टव्यः पद के द्वारा उसका अर्थ व्यक्त किया है, तब मूल के पाठ की, अपने किसी प्रयोजन के लिए अन्यथा कल्पना करना ठीक नहीं है।” (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ. ६०५-६०६)।

मुख्तार जी ने अपने मत के समर्थन में दूसरा तर्क यह दिया है कि “उपलब्ध ‘लोकविभाग’ में, जो कि (‘उक्तं च’ वाक्यों को छोड़कर) सर्वनन्दी के प्राकृत लोकविभाग का ही अनुवादित संस्कृतरूप है, तिर्यचों के उन चौदह भेदों के विस्तारकथन का कोई पता भी नहीं, जिसका उल्लेख नियमसार की उक्त १७वीं गाथा में किया गया है।” (जै. सा.इ.वि.प्र./पृ. ६०१)। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि नियमसार की उपर्युक्त गाथा में सर्वनन्दीकृत ‘लोकविभाग’ का उल्लेख नहीं है।

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी ऐसा ही मानते हैं। उन्होंने लिखा है—“वर्तमान ‘लोकविभाग’ में अन्यगति के जीवों का तो थोड़ा बहुत वर्णन प्रसङ्गवश किया भी गया है, किन्तु तिर्यचों के चौदह भेदों का तो वहाँ नाम भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यदि नियमसार में लोकविभाग नाम के परमागम का उल्लेख है, तो वह कम से कम वह ‘लोकविभाग’ तो नहीं है, जिसकी भाषा का परिवर्तन करके संस्कृत ‘लोकविभाग’ की रचना की गई है और जो शक सं. ३८० में सर्वनन्दी के द्वारा रचा गया था।”^{११४} (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.५८)। अतः इस आधार पर यह सिद्ध

११४. “वर्तमान में जो संस्कृत लोकविभाग पाया जाता है, उसके अन्त में लिखा है कि पहले सर्वनन्दी आचार्य ने शक सं. ३८० में शास्त्र (लोकविभाग) लिखा था, उसी की भाषा को परिवर्तित करके यह संस्कृत लोकविभाग रचा गया है।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.५८)।

नहीं होता कि कुन्दकुन्द शक सं० ३८० (विक्रम सं० ५१५) के बाद हुए थे। पूर्वोक्त कई प्रमाणों से सिद्ध है कि वे ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी के आचार्य थे।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत का समर्थन किया है। वे लिखते हैं—

“Pt. Premi (Jaina Jagat VIII, IV) inferred from this that Kundakunda is referring to the Prakrit Lokavibhāga of Sarvanadi composed in Śaka 380, it is not available, but the Sanskrit version of it by Siṃhasūri is available, and that, therefore, Kundakunda is later than 458 A.D. Pt. premi's Position is logically weak, nor is it guaranteed by the facts as already shown by Pt. Jugalkishore (Jain Jagat VIII, IX). The use 'loyavibhāgesu' in plural does not indicate that it is the name of any individual work, and much reliance, so far as historical and chronological purpose is concerned, can not be placed on the interpretation of the commentator, who comes long after Kundakunda. The word might refer to a collection of works belonging to Lokānuyoga group of Jaina Literature. The interpretation of the commentator should not be attributed to Kundakunda. When the Merkara copper plates of Śaka 388 refer to Kundakundānvaya and mention half a dozen teachers belonging to that lineage, it is impossible that Kundakunda can be put after Śaka 380, and that he might be referring to the work of Sarvanandi.” (Pravacansāra, Introduction, pp.21-22, F.N.2.)

३

समयसार में तृ. श. ई. के विष्णुकर्तृत्ववाद का उल्लेख

समयसार की एक गाथा में यह कहा गया है कि लौकिक जन मानते हैं कि देव, नारक, तिर्यच और मनुष्यों का कर्ता विष्णु है।^{११५} मुनि कल्याणविजय जी का कथन है कि “विष्णु को कर्तापुरुष माननेवाले वैष्णवसम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णुस्वामी से ई० सन् की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोकसिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते, भावप्राभृत की १४९वीं गाथा में कुन्दकुन्द ने ‘शिव’, ‘परमेष्ठी’, ‘सर्वज्ञ’, ‘विष्णु’, ‘चतुर्मुख’ आदि कतिपय पौराणिक देवों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी जाना जाता है कि वे पौराणिक काल में हुए थे, पहले नहीं।” (श्र.भ.म/पा.टि./पृ.३०३)।

११५. लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।

समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये॥ ३२१॥ समयसार।

निरसन

विष्णुकर्तृत्ववाद ऋग्वेदकालीन

मुनि जी का यह तर्क समीचीन नहीं है। लोक के निर्माता के रूप में विष्णु का वर्णन ऋग्वेद के एक विष्णुसूक्त में किया गया है। उसकी निम्नलिखित ऋचाएँ द्रष्टव्य हैं—

१

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥

ऋग्वेद १/१५४/१।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—“हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नुकमतिशीघ्रं प्रवोचं प्रब्रवीमि। --- यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः तथा च मन्त्रान्तरम् ‘यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः’ (ऋक्संहिता १/१०८/९) इति।--- किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरमुद्गततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति।”

इस प्रकार इस ऋचा में कहा गया है कि विष्णु ने लोकत्रय का निर्माण किया।

भाष्यकार महीधर ने भी ऐसा ही भाष्य किया है—“यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि विममे निर्ममे।” अर्थात् विष्णु ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीन लोकों की रचना की।

२

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।

य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममेत्रिंभिरित् पदेभिः॥

ऋग्वेद १ / १५४ / ३।

सायणभाष्य—“यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयमेक इदेक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान्।”

इस ऋचा और उसके भाष्य में भी कहा गया है कि विष्णु ने अकेले ही तीन कदम चलकर लोकत्रय का निर्माण किया।

३

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥

ऋग्वेद / १ / १५४ / ४।

सायणभाष्य—“ --- एवं चतुर्दश लोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। --- पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्--- उत्पादितवानित्यर्थः।”

यहाँ बतलाया गया है कि चतुर्दश लोकों को अर्थात् उनमें रहनेवाले समस्त प्राणियों को विष्णु ने उत्पन्न किया।

४

उरुकमस्य सहिबन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥

ऋग्वेद / १ / १५४ / ५।

सायणभाष्य—“विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे निरतिशये केवलसु-खात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो वर्तते।”

यहाँ विष्णु को सर्वव्यापी परमेश्वर विशेषण से विशिष्ट किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद में विष्णु को सर्वव्यापी परमेश्वर, लोक का निर्माता एवं समस्त प्राणियों को जन्म देनेवाला कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि विष्णु के सृष्टिकर्तृत्व की अवधारणा बहुत प्राचीन है।

पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी लिखते हैं—“विष्णु देवता तो वैदिककालीन हैं, अतः वैष्णवसम्प्रदाय की उत्पत्ति से पहले विष्णु को कर्ता नहीं माना जाता था, इसमें क्या प्रमाण है? कर्तृत्ववाद की भावना बहुत प्राचीन है। इसी प्रकार शिव आदि भी पौराणिककाल के देवता नहीं हैं। हिन्दुतत्त्वज्ञान नो इतिहास में लिखा है—

“आर्योंना रुद्रनी अने द्राविडोना शिवनी भावनानुं सम्मेलन रामायण पहेला थयेलु जणाय छे। ई० स० पू० ५०० ना आरसामां हिन्दुओनी वैदिकधर्म तामीलदेशमां प्रवेश पाय्यो त्यारे विष्णु अने शिवसंबंधी भक्तिभावना क्रमशः संसार अने त्यागने पोषनारी दाखल थवा पामी। वन्ने प्रणालिका अवरोधी भाव थी टकी रही। परन्तु ज्यारे बौद्धीअ अने जैनोए ते वे देवोनी भावनाने डगाववा प्रयत्न कर्यां त्यारे प्रत्येक प्रणालिकाए पोतपोताना देवनी महता बधारी अनुयायिओंमा विरोध जगव्यो।”

“इससे स्पष्ट है कि द्रविड़ देश में कुन्दकुन्द के पहले से ही शिव की उपासना होती थी। अतः यदि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में विष्णु, शिव आदि देवताओं का

उल्लेख किया, तो उससे कुन्दकुन्द पौराणिककाल के कैसे हो सकते हैं? प्रत्युत उन्हें उसी समय का विद्वान् मानना चाहिए जिस समय तमिल में उक्त भावना प्रबल थी।' (कसायपाहुड / भा.१ / प्रस्ता. / पा.टि. / पृ.५६-५७)।

वैदिकपरम्परा में भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) विष्णु के अवतार माने गये हैं। ४०० से १०० ई० पू० में रचित महाभारत में उनसे सम्पूर्ण विश्व एवं समस्त सन्तति (प्राणियों) की उत्पत्ति बतलाई गई है।^{११६} इससे भी प्रमाणित होता है कि विष्णु ईसापूर्व काल से ही सृष्टि के कर्ता माने जाते रहे हैं। अतः समयसार में उपर्युक्त लोकमत का उल्लेख होने से कुन्दकुन्द का ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में स्थित होना असिद्ध नहीं होता।

४

षट्प्राभृतों में परवर्ती चैत्यादि एवं शिथिलाचार का वर्णन

मुनि जी कहते हैं कि कुन्दकुन्द ने बोधप्राभृत (गाथा ६-८ और १०) में 'आयतन' 'चैत्यगृह' और 'प्रतिमा' की चर्चा की है, अतः वे 'चैत्यवास' काल के पहले के नहीं हो सकते। भावप्राभृत की १६२वीं गाथा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन किया है। ये विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद में प्रचलित होने वाले विषय हैं। लिंगप्राभृत की गाथा ९, १०, १६ और २१वीं में साधुओं की आचारविषयक जिन शिथिलताओं की निन्दा की है, वे शिथिलताएँ विक्रमीय पाँचवीं सदी के बाद साधुओं में प्रविष्ट हुई थीं। इसी प्रकार रथणसार में साधुओं के द्वारा किये जानेवाले अनेक धर्मविरुद्ध कार्यों का वर्णन है, जो उन्हें विक्रम की छठी सदी से पूर्व का विद्वान् सिद्ध नहीं करते। (श्र.भ.म./पा.टि./पृ.३०३-३०६)।

निरसन

चैत्यगृह-प्रतिमादि ईसापूर्वकालीन, शिथिलाचार अनादि

इसके उत्तर में पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—“जिनालय और जिनबिम्ब के निर्माण की प्रथा चैत्यवास से सम्बन्ध नहीं रखती। 'चैत्यवास चला' इससे ही

११६. भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।

स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ २५६ ॥

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।

यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥ २५७ ॥

असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते।

सन्ततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ॥ २५८ ॥ महाभारत / आदिपर्व / प्रथम अध्याय।

स्पष्ट है कि चैत्य पहले से ही होते आये हैं। यंत्र, तंत्र, मंत्र के कारण दान देने की प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो किसी सम्प्रदाय के उद्भव से सम्बन्ध न रखकर पंचमकाल के मनुष्यों की नैसर्गिक रुचि को द्योतित करती है। अतः इनके आधार से भी कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी का विद्वान् नहीं माना जा सकता। हाँ, रयणसार ग्रन्थ से जो कुछ उद्धरण दिये गये हैं, वे अवश्य विचारणीय हो सकते थे। किन्तु उसकी भाषा शैली आदि पर से प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने अपनी प्रवचनसार की भूमिका में उसके कुन्दकुन्दकृत होने पर आपत्ति की है। ऐसा भी मालूम हुआ है कि रयणसार की उपलब्ध प्रतियों में भी बड़ी असमानता है। अतः जब तक रयणसार की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध न हो और उसकी कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के साथ एकरसता प्रमाणित न हो, तब तक उसके आधार पर कुन्दकुन्द को छठी शताब्दी का विद्वान् नहीं माना जा सकता।" (कसायपाहुड/प्रस्ता./पा.टि./पृ.५७)।

पूर्वोक्त पट्टावलीय, अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण कुन्दकुन्द को ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी का सिद्ध करते हैं, अतः उनके बोधप्राभृत आदि ग्रन्थों में चर्चित उपर्युक्त विषय निर्विवादरूप से उसी समय से सम्बन्ध रखते हैं। हम देख चुके हैं कि भगवान् महावीर के निरपवाद अचेलमार्ग में वस्त्रपात्रादि ग्रहण करने की शिथिलाचारी प्रवृत्तियाँ अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद से ही शुरू हो गई थीं और तभी से अस्तित्व में आये श्वेताम्बरसम्प्रदाय तथा पूर्ववर्ती दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) सम्प्रदाय दोनों में शुद्धाचारी और शिथिलाचारी उभय प्रवृत्तियोंवाले साधुओं का अस्तित्व रहा है। शिथिलाचार जब एक बार शुरू हो गया, तो उसमें क्रमशः वृद्धि होती गई, जिसका चरमरूप चैत्यवासी और मठवासी साधुओं के रूप में प्रतिफलित हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द ने शिथिलाचारी जैन साधुओं के पार्श्वस्थ आदि पाँच भेद बतलाये हैं और कहा है कि उनका अस्तित्व अनादिकालीन है। (देखिए अष्टम अध्याय का चतुर्थ प्रकरण)। इस प्रकार शिथिलाचार ईसापूर्व शताब्दियों से चला आ रहा था। कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में उसी का वर्णन किया है। अतः उक्त वर्णन से वे विक्रम की छठी शताब्दी के सिद्ध नहीं होते। कुन्दकुन्द के समय (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) में कुछ जैन मुनियों में कृषि-वाणिज्य आदि कर्म करने की प्रवृत्तियाँ प्रचलित हो चुकी थीं। इसका प्रमाण यही है कि उनका उल्लेख उस समय लिखे गये लिंगप्राभृत में मिलता है। अतः उक्त प्रवृत्तियों का विकास विक्रम की पाँचवीं शती के बाद मानकर कुन्दकुन्द का अस्तित्व उसी समय में मानना पूर्ववर्णित पट्टावलीय, साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों की अवहेलना करना है।

५

मर्करा-ताम्रपत्र में विक्रम की ७वीं सदी के बाद प्रचलित

'भटार' शब्द का प्रयोग

मुनि जी ने लिखा है—“विक्रम की नवीं सदी के पहले किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे, जितना कि अधिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में, जो कि संवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी इस मान्यता में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले 'भटार' (भट्टारक) शब्द लिखा गया है। इससे सिद्ध है कि यह ताम्रपत्र भट्टारककाल में लिखा गया है, जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरू होता है। इस दशा में ताम्रपत्रवाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिए अथवा यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिए।” (श्र.भ.म./पा.टि./पृ. ३०६)।

निरसन

आदरसूचक 'भटार' शब्द का प्रचलन प्राचीन

अष्टम अध्याय में सोदाहरण प्रतिपादित किया गया है कि दिगम्बरजैन साहित्य और शिलालेखों में भटार या भट्टारक शब्द तीन अर्थों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है—१. आदर, २. विद्वत्तादिगुण तथा ३. अजिनोक्त सवस्त्र-साधुलिंगी दिगम्बर-जैन धर्मगुरु। मर्करा-ताम्रपत्रलेख में भटार शब्द आदर-सूचनार्थ प्रयुक्त हुआ है। और इसके रूपान्तर परमभट्टारक शब्द का प्रयोग ४३३ ई० (गुप्तकाल वर्ष ११३) के मथुरा-शिलालेख में गुप्तनरेश कुमारगुप्त के नाम के पूर्व भी किया गया है। यथा—“परम-भट्टारक-माहाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य ---।” (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.९२)। इसलिए मुनि जी का यह कथन सर्वथा मिथ्या है कि 'भटार' या 'भट्टारक' शब्द के प्रयोग का प्रचलन विक्रम की सातवीं सदी के बाद भट्टारककाल में शुरू हुआ था। मर्करा-ताम्रपत्र में उत्कीर्ण संवत् ३८८ को इतिहासज्ञों ने शकसंवत् ही माना है, क्योंकि दक्षिण भारत में यही प्रचलित था। शक सं० ३८८ का समकालीन ईसवी सन् ४६६ है और आदर सूचित करने के लिए भट्टारक शब्द का प्रयोग कुमारगुप्त के समय ४३३ ई० में भी होता था। अतः मर्करा-ताम्रपत्र में भटार शब्द के प्रयोग से उसमें उल्लिखित संवत् के शकसंवत् होने में कोई बाधा नहीं आती। इसलिए

मुनि जी का उसे कोई अर्वाचीन संवत् मानना अथवा ताम्रपत्र को जाली कहना भी नितान्त असत्य सिद्ध होता है।

तथा मुनि जी का यह कथन भी सर्वथा मिथ्या है कि भट्टारककाल विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरू हुआ था। अष्टम अध्याय में अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया गया है कि भट्टारकपरम्परा का उदय १२वीं शताब्दी ई० में हुआ था। अतः मर्कराताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख कुन्दकुन्द की प्राचीनता सिद्ध करनेवाला एक बलिष्ठ अभिलेखीय प्रमाण है। यह ताम्रपत्र तो जाली नहीं है, किन्तु हम देख रहे हैं कि मुनि जी के सारे हेतु शत-प्रतिशत जाली हैं।

६

कोई भी पट्टावली वीर नि. सं. के अनुसार रचित नहीं

स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने कसायपाहुड (भाग १) की प्रस्तावना (पृ. ५७) में लिखा है कि “जिस प्रकार मुनि (कल्याणविजय) जी ने मर्करा के उक्त ताम्रपत्र को जाली कहने का अतिसाहस किया है, उसी प्रकार उन्होंने एक और भी अतिसाहस किया है। मुनि जी लिखते हैं—

“पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टकाल इस क्रम से मिलता है—

१. कुन्दकुन्दाचार्य	५१५-५१९
२. अहिबल्याचार्य	५२०-५६५
३. माघनन्दाचार्य	५६६-५९३
४. धरसेनाचार्य	५९४-६१४
५. पुष्पदन्ताचार्य	६१५-६३३
६. भूतबल्याचार्य	६३४-६६३
७. लोहाचार्य	६६४-६८७

“पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाणसम्बन्धी समझते हैं, परन्तु वास्तव में ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिये, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में विक्रम की बारहवीं सदी तक बहुधा शक और विक्रम संवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख वीरसंवत् के साथ किया हो, यह हमारे देखने में नहीं आया, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय

लिखने में उन्होंने वीरसंवत् का उपयोग किया होगा। जान पड़ता है कि सामान्यरूप से लिखे हुए विक्रमवर्षों को पिछले पट्टावली-लेखकों ने निर्वाणाब्द मानकर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यता को यथार्थ मानकर पिछले इतिहास-विचारक भी वास्तविक इतिहास को बिगाड़ बैठे हैं। (श्र.भ.म./पृ. ३४५-३४६)।” (कसायपाहुड/भा.१/प्रस्ता./पृ. ५७)।

और इस प्रकार मुनि जी ने वीरनिर्वाण-संवत् पर विक्रमसंवत् का आरोप कर कुन्दकुन्द को पट्टावलियों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं—

“श्रुतावतार के उपर्युक्त (श्र.भ.म./पृ.३४६ पर उल्लिखित) कथन से भी यही सिद्ध होता है कि अंगज्ञान की प्रवृत्ति जो वीर सं० ६८३ (विक्रम संवत् २१३) तक चली थी, उसके बाद अनेक आचार्यों के पीछे कुन्दकुन्द हुए थे। हमारे इस विवेचन से विचारकगण समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की छठी सदी के प्रथम चरण में स्वर्गवासी हुए थे और उनके बाद विक्रम की सातवीं सदी के मध्यभाग में दिगम्बरग्रन्थ पुस्तकों पर लिखकर व्यवस्थित किये गये थे।” (श्र.भ.म./पृ.३४६)।

निरसन

तिलोपपण्णत्ती आदि में वीरनिर्वाणानुसार ही कालगणना

इसका निरसन करते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—“मुनि जी त्रिलोकप्रज्ञप्ति को कुन्दकुन्द से प्राचीन मानते हैं, और त्रिलोकप्रज्ञप्ति में वीरनिर्वाण से बाद की जो कालगणना दी है, वह हम पहले लिख आये हैं। बाद के ग्रन्थकारों और पट्टावलीकारों ने भी उसी के आधार पर कालगणना दी है। ६८३ वर्ष की परम्परा भी वीरनिर्वाण-संवत् के आधार पर है। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी जो कालगणना दी है, वह भी स्पष्टरूप में वीरनिर्वाण-संवत् के आधार पर दी गई है। मालूम होता है मुनि जी ने इनमें से कुछ भी नहीं देखा। यदि देखा होता तो उन्हें यह लिखने का साहस न होता कि “प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख वीरसंवत् के साथ किया हो, यह हमारे देखने में नहीं आया।” आश्चर्य है कि मुनि जी जैसे इतिहासलेखक कुछ भी देखे बिना ही दूसरी परम्परा के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाओं के आधार पर भ्रम फैलाने की चेष्टा करते हैं और स्वयं वास्तविक इतिहास को बिगाड़कर पिछले इतिहास-विचारकों पर वास्तविक इतिहास को बिगाड़ने का लांछन लगाते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्!” (कसायपाहुड/भा.१/प्रस्ता./पा.टि./पृ.५८)।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शती का सिद्ध करने के लिए मुनि श्री कल्याणविजय जी द्वारा बतलाया गया प्रत्येक हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है और यह बात प्रकट हो जाती है कि उन्होंने कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा एक झूठा इतिहास रचने की कोशिश की है, लोगों की आँखों में धूल झाँकने का प्रयास किया है। अष्टम अध्याय में तथा इस अध्याय के प्रथम प्रकरण में उपस्थित किये गये पट्टावलीय, अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण सिद्ध कर देते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।



तृतीय प्रकरण

आचार्य हस्तीमल जी के दो मतों का निरसन

१

प्रथम मत : कुन्दकुन्दकाल ५वीं शती ई.

बीसवीं सदी ई० के श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों की सर्वथा उपेक्षा कर तथा दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में उद्धृत नन्दिसंघ की पट्टावली को अन्य दृष्टियों से प्रामाणिक मानते हुए भी पट्टकाल की दृष्टि से अप्रामाणिक मानकर अन्य पट्टावलियों के आधार पर षट्खण्डागम के रचनाकाल और कुन्दकुन्द के स्थितिकाल के निर्णय का प्रयत्न किया है। उन्होंने नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली को तो सर्वथा अप्रामाणिक घोषित कर दिया है और तिलोयपण्णत्ती, धवलाटीका तथा इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में प्रदत्त पट्टावलियों को प्रामाणिक स्वीकार करते हुए भी एकान्ततः दिग्म्बराचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण की पट्टावली को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर, उसके आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल वीर नि० सं० १००० (ई० सन् ४७३) के आसपास आकलित किया है। वे अपना हेतुवाद प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

“सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हरिवंशपुराण में दी गई आचार्य-परम्परा की पट्टावली अपने-आप में परिपूर्ण एवं सभी दृष्टियों से अन्य उपलब्ध पट्टावलियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। वीर नि० सं० १ से ६८३ तक और दूसरे शब्दों में केवली गौतम से लेकर अन्तिम आचारांगधर लोहार्य तक की ६८३ वर्ष की अवधि में जिनसेन ने २८ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो धवला, तिलोयपण्णत्ती, श्रुतावतार आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा समर्थित हैं। लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि० सं० ६८३ से वीर नि० सं० १३१० (शक सं० ७०५)^{११७} तक कुल मिलाकर ६२७ वर्षों में जिनसेन ने ३१ (स्वयं को मिलाकर ३२) आचार्यों का होना बताया है, जो सभी दृष्टियों से सुसंगत प्रतीत होता है। यद्यपि जिनसेन ने खिनयंधर से लेकर आचार्य अमितसेन तक ३१ आचार्यों का पृथक्-पृथक् आचार्यकाल नहीं दिया है, तथापि लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि० सं० ६८३ से स्वयं द्वारा हरिवंशपुराण की समाप्ति का समय शक सं० ७०५, तदनुसार वीर नि० सं० १३१० देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि लोहार्य से लेकर उन स्वयं (जिनसेन) तक की ६२७ वर्षों की अवधि में ३१ आचार्य हुए। इस ६२७ वर्ष के समुच्चय काल को ३१ आचार्यों में विभक्त किया जाय, तो मोटे

११७. हरिवंशपुराण ६६/ ५२-५३।

तौर पर एक-एक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग आँका जा सकता है।” (जै.ध.मौ.इ./ भा.२/ पृ.७४१-७४२)।

“हरिवंशपुराण और श्रुतावतार के उल्लेखों के आधार पर यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अन्तिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् और लगभग वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ तक आचार्य पद पर रहे आचार्य अर्हद्वलि से पूर्व क्रमशः विनयंधर आदि चार आचार्य हुए। इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अज्ञातकर्तृक नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्वलि के पश्चात् क्रमशः माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन चार आचार्यों के होने का उल्लेख है।

“नन्दीसंघ की पट्टावली में भी कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा निम्न रूप में उल्लिखित है— भद्रबाहु > गुप्तिगुप्त > माघनन्दी > जिनचन्द्र > कुन्दकुन्द।

“इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में सुस्पष्ट रूप से लिखा है कि षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृत का ज्ञान गुरुपरिपाटी से पद्मानन्दी मुनि को कुण्डकुन्दपुर में प्राप्त हुआ और उन्होंने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर १२,००० श्लोक-परिमाण की परिकर्म नामक टीका की रचना की।

“इस प्रकार हरिवंशपुराण, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली, इन तीनों ग्रन्थों के उल्लेखों से अर्हद्वलि निश्चितरूपेण कुन्दकुन्दाचार्य के प्रगुरु (दादागुरु) माघनन्दी से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं।

“नन्दीसंघ की पट्टावली में सर्वप्रथम भद्रबाहु (द्वितीय) और उनके पश्चात् गुप्तिगुप्त का नाम दिया है, पर इस पट्टावली से विद्वान् यही निष्कर्ष निकालते हैं कि माघनन्दी ही वस्तुतः नन्दीसंघ के प्रथम आचार्य, उनके शिष्य जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य हुए।” (जै.ध.मौ.इ./ भा.२/ पृ. ७५४)।

“आज से ११९० वर्ष पूर्व के हरिवंश के उल्लेख और उपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आचार्य अर्हद्वलि का अन्तिम समय वीर नि० सं० ७८३ के आस-पास का सुनिश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार अर्हद्वलि का समय वीर नि० सं० ७८३ सिद्ध हो जाने पर उनके पश्चात् हुए माघनन्दी का आचार्यकाल २० वर्ष, माघनन्दी और धरसेन के बीच हुए आचार्यों के नाम और संख्या-विषयक उल्लेख के अभाव में उनके काल की गणना न कर के धरसेन का काल २० वर्ष, (वी० नि० सं० ८२३), पुष्पदन्त का ३० वर्ष, जिनपालित का समय ३० वर्ष अनुमानित किया जाय तो जिनपालित का अन्तिम समय वीर नि० सं० ८८३ के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।

“इससे आगे जिनपालित और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच में कितने काल में कितने आचार्य हुए, इस तथ्य को प्रकट करनेवाले तथ्यों के अभाव में इन्द्रनन्दी द्वारा पद्मनन्दी के सम्बन्ध में श्रुतावतार में उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक के आधार पर अनुमान का सहारा लेने के अतिरिक्त पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) के काल के बारे में विचार करने का और कोई मार्ग ही अवशिष्ट नहीं रह जाता—

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥

श्रीपद्मनन्दिप्रणिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः ।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

“इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जिनपालित और कुन्दकुन्द के बीच में अधिक न सही तीन-चार आचार्य अवश्य हुए होंगे। उन अज्ञातनाम ३-४ आचार्यों का समुच्चय-काल कम से कम ६० वर्ष भी मान लिया जाय, तो आचार्य पद्मनन्दी, अपरनाम कुन्दकुन्दाचार्य का समय वीर नि० सं० ९४३ के आस-पास का और माघनन्दी तथा धरसेन के बीच में तीन-चार आचार्यों का अस्तित्व मान लेने की दशा में वीर नि० सं० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।” (जै.ध.मौ.इ./भा.२/पृ.७६४)।

निरसन

केवल इण्डि. ऐण्टि.-पट्टावली प्रामाणिक, तदनुसार

कुन्दकुन्दकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती

हरिवंशपुराण की पट्टावली के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का जो अस्तित्वकाल वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) अनुमानित होता है, उसकी पुष्टि दि इण्डियन ऐण्टि-क्वेरी में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली से नहीं होती, मर्कराताम्रपत्र (४६६ ई०) से नहीं होती, नोणमंगल के ताम्रपत्र-लेख (४२५ ई०) से नहीं होती, जिसमें उन्हीं चन्दणन्दी भटार का उल्लेख है, जिनका मर्करा-ताम्रपत्र लेख में है। उसकी पुष्टि श्रवणबेलगोल के उन शिलालेखों से नहीं होती, जिनमें प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के उमास्वाति को कुन्दकुन्दान्वय में उद्धृत बतलाया गया है और जिन्होंने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। उसकी पुष्टि कुन्दकुन्द की गाथाओं को उद्धृत करनेवाली सर्वार्थसिद्धि के रचनाकाल (४५० ई०) से नहीं होती तथा कुन्दकुन्द की गाथाओं और शैली को आत्मसात् करनेवाले मूलाचार और भगवती-आराधना नामक

ग्रन्थों के रचनाकाल (प्रथम शताब्दी ई०) से नहीं होती। इसलिए हरिवंशपुराण की पट्टावली तथा उससे साम्य रखनेवाली अन्य पट्टावलियाँ प्रामाणिक नहीं हैं। इसी कारण नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली भी अप्रामाणिक है।

पूर्व में 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली से तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों एवं मर्करा, नोणमंगल तथा श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी है और यह काल पट्टावली में लिखित पट्टकाल को बन्द आँखों से सत्य मानकर नहीं, अपितु उस पट्टकाल के औचित्य को सिद्ध करनेवाली युक्तियों, मर्करा और नोणमंगल के अभिलेखों में वर्णित यथार्थ घटनाओं एवं तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, भगवती-आराधना और मूलाचार में उपलब्ध कुन्दकुन्द के यथार्थ वचनों के आधार पर सिद्ध किया गया है। हरिवंशपुराणादि की पट्टावलियों में वर्णित पट्टकालों से कुन्दकुन्द का जो अस्तित्व काल फलित होता है, वह पट्टकालों के औचित्य की परीक्षा किये बिना पट्टावलीकार के वचनों को यथावत् सत्य मान लेने पर ही सत्य माना जा सकता है। औचित्य की परीक्षा करने पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि साहित्यिक प्रमाणों एवं मर्करा आदि के अभिलेखों की कसौटी पर कसने से वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

इस अपेक्षा से विचार करने पर षट्खण्डागम के सम्पादक डॉ० हीरालाल जी जैन का यह कथन युक्तिसंगत सिद्ध होता है कि "श्रुतपरम्परा के सम्बन्ध में 'हरिवंशपुराण' के कर्त्ता से लगाकर 'श्रुतावतार' के कर्त्ता इन्द्रनन्दी तक सब आचार्यों ने धोखा खाया है।" (ष.ख./पु.१/प्रस्ता./पृ.२५)।

आचार्य हस्तीमल जी ने नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली के पट्टकाल को हरिवंशपुराण, तिलोयपण्णत्ती, श्रुतावतार आदि के आधार पर गलत सिद्ध किया है, किन्तु इन ग्रन्थों में उल्लिखित पट्टकाल सही क्यों है, इसका कोई कारण नहीं बतलाया। इन ग्रन्थों की पट्टावलियों में बतलाई गई बातें भी अनेकत्र परस्पर विरुद्ध हैं। जैसे—

१. हरिवंशपुराण की पट्टावली में लोहाचार्य के पश्चात् क्रमशः विनयन्धर, गुप्तऋषि, गुप्तश्रुति, शिवगुप्त एवं अर्हद्वलि के नाम हैं, जबकि धवला (पु.१/पृ.६७, पु.९/पृ.१३०-१३२) और तिलोयपण्णत्ती (४/१४९०-१५०४) की पट्टावलियों में इनका अभाव है।

२. सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु (भद्रबाहु द्वितीय) और लोहार्य (लोहाचार्य) इन चार आचारांगधरों का समग्रकाल तिलोयपण्णत्ती, धवला तथा हरिवंशपुराण की पट्टावलियों में ११८ वर्ष दिया गया है, किन्तु इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में केवल १८ वर्ष है तथा नामों में भी भिन्नता है। यथा—

प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्योऽपपरोऽपि जयबाहुः।
लोहार्योऽन्यश्चैतेऽष्टादशवर्षयुगसङ्ख्या ॥ ८३ ॥

३. नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में लोहाचार्य को नन्दिसंघीय बतलाया गया है, किन्तु हरिवंशपुराण की पट्टावली में उनका विनयन्धर आदि पुन्नाटसंघीय आचार्यों के आदिपुरुष के रूप में उल्लेख है। (ह.पु.६६/२२-३३, जै.सि.को.१/३२६)।

४. नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में लोहाचार्य के पश्चात् अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नाम हैं। इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में लोहाचार्य के अनन्तर विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्यों के नाम देने के बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नामों का उल्लेख है। किन्तु हरिवंशपुराण की पट्टावली में विनयन्धर आदि चार आचार्यों के बाद केवल अर्हद्बलि का नाम है, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नाम अनुपलब्ध हैं। तथा आश्चर्य की बात यह है कि पट्टावली में पुन्नाटसंघी जयसेन को, जो स्वयं हरिवंशपुराणकार जिनसेन के परदादा गुरु थे, षट्खण्डागम एवं कर्मप्रकृतिश्रुत का ज्ञाता कहा गया है,^{११८} जब कि षट्खण्डागम के उपदेष्टा और कर्तारूप में प्रसिद्ध धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को पट्टावली में कहीं स्थान ही नहीं दिया गया। क्रमांक १८ पर श्रीधरसेन का नाम है, पर वे षट्खण्डागम के उपदेष्टा धरसेन से भिन्न हैं, क्योंकि उनके साथ पुष्पदन्त और भूतबलि के नाम नहीं हैं।

५. ये सभी पट्टावलियाँ अपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें उच्छेद से बचे हुए श्रुत को ग्रन्थारूढ़ करनेवाले धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी जैसे महान् आचार्यों के नाम नहीं हैं। 'श्रुतावतार' इसका अपवाद है।

इन पारस्परिक भिन्नताओं के कारण उक्त पट्टावलियों से फलित होने वाला आचार्यों का पट्टकाल भी परस्पर भिन्न हो जाता है, अतः वे भी अप्रामाणिक सिद्ध होती हैं। तथा अपूर्ण होने के कारण तो वे अप्रामाणिक हैं ही। फलस्वरूप उनके आधार पर आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल जो वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) अनुमानित किया है, वह प्रामाणिक नहीं है।

आचार्य हस्तीमल जी का 'मूले कुठाराघातः'

आचार्य हस्तीमल जी की अपने ही निर्णयों के मूल पर कुठाराघात करने की

११८. अखण्ड-षट्खण्डमखण्डितस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः ॥ ६६/२९ ॥

दधार कर्मप्रकृतिं श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः ॥ ६६/३० ॥

प्रवृत्ति दर्शनीय है। पूर्व में यह दर्शाया जा चुका है कि उन्होंने 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली को भट्टारक-परम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्ष-काल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचानेवाली माना है, जिसका तात्पर्य यह है कि उसमें दर्शाया गया पट्टधरों का पट्टकाल सत्य है। यदि उसे सत्य न माना जाय, तो पट्टावली भट्टारक-परम्परा के उदयकाल, प्रसारकाल एवं उत्कर्षकाल का युक्तिसंगत निर्णय नहीं करा पायेगी। अर्थात् उक्त पट्टावली भट्टारक-परम्परा के उद्भवकाल, प्रसारकाल एवं उत्कर्षकाल का युक्तिसंगत निर्णय तभी करा सकती है, जब उसमें दर्शाये गये भद्रबाहु (द्वितीय) के पट्टकाल विक्रम संवत् ४ से २५, गुप्तिगुप्त के पट्टकाल वि० सं० २६ से ३५, माघनन्दी के पट्टकाल वि० सं० ३६ से ३९, जिनचन्द्र के पट्टकाल वि० सं० ४० से ४८, कुन्दकुन्द के पट्टकाल वि० सं० ४९ से १०० और इसी तरह सभी पट्टधरों के पट्टकाल को सत्य माना जाय।

किन्तु, पट्टावली में प्रदर्शित पट्टकाल के आधार पर पट्टावली को भट्टारक-परम्परा के उद्भवकाल, प्रसारकाल और उत्कर्षकाल का युक्तिसंगत निर्णय करानेवाली मानते हुए भी, आचार्य हस्तीमल जी उसमें दर्शाये गये कुन्दकुन्द के पट्टकाल को सही नहीं मानते, अपितु हरिवंशपुराण की पट्टावली के आधार पर कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) के आसपास मानते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली पट्टधरों के पट्टकाल का सही प्रदर्शन न करने के कारण भट्टारक-परम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्ष-काल का युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय नहीं करा सकती। इस प्रकार आचार्य हस्तीमल जी ने इण्डियन ऐण्टि०-पट्टावली में निर्दिष्ट कुन्दकुन्द के पट्टकाल की वास्तविकता को अस्वीकार कर अपने ही निर्णीतार्थ की जड़ पर कुल्हाड़ी चला दी है, जिससे वे अनभिन्न हैं।

किन्तु, वे हरिवंशपुराण की पट्टावली को इसलिए प्रामाणिक नहीं मानते कि उनकी दृष्टि में हरिवंशपुराणकार प्रामाणिक (सत्य कथन करनेवाले) हैं। यदि वे हरिवंशपुराणकार को प्रामाणिक मानते, तो उन्होंने जो स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध किया है, उसे भी प्रामाणिक (सत्य) मानते, किन्तु उनके द्वारा ऐसा किये जाने की कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। इससे सिद्ध है कि वे हरिवंशपुराणकार को प्रामाणिक नहीं मानते। तब उन्होंने हरिवंशपुराणकारकृत पट्टावली को प्रामाणिक क्यों कहा? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उसे प्रामाणिक घोषित कर देने से वे जो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कुन्दकुन्द अर्वाचीन हैं, वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) के आसपास के हैं, उसकी सिद्धि होती है।

हम हरिवंशपुराण में वर्णित स्त्रीमुक्ति आदि के निषेध को प्रामाणिक इसलिए मानते हैं कि वह आगम के अनुकूल है। किन्तु पट्टावलियों का सम्बन्ध आगम से नहीं है, इतिहास से है और ऐतिहासिक प्रमाणों से हरिवंशपुराण की पट्टावली प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती, अतः हम उसे अप्रामाणिक मानते हैं।

हम देखते हैं कि 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की नन्दिसंघीय पट्टावली में कुन्दकुन्द का जो ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में अस्तित्व दर्शाया गया है, वह साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से पुष्ट होता है, जब कि हरिवंशपुराण की पट्टावली से फलित होनेवाले काल की पुष्ट साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से नहीं होती। अतः 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी', में प्रकाशित पट्टावली ही प्रामाणिक है, हरिवंशपुराण की नहीं। इस प्रकार आचार्य हस्तीमल जी का कुन्दकुन्द को वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) के आसपास का सिद्ध करनेवाला हेतुवाद निरस्त हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने अस्तित्व से ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध तथा ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध को ही मण्डित किया था।

२

द्वितीय (संशोधित) मत : कुन्दकुन्दकाल ८वीं शती ई.

आचार्य हस्तीमल जी ने सन् १९८३ में बड़े जोर-शोर से हरिवंशपुराण की पट्टावली को प्रामाणिक घोषित कर उसके आधार पर कुन्दकुन्द का स्थितिकाल वीर नि० सं० १००० (४७३ ई०) के लगभग निर्धारित किया था। अभी उसकी स्याही भी नहीं सूख पायी थी कि उन्होंने चार साल बाद ही सन् १९८७ में उसे निरस्त कर दिया और एक अत्यन्त अर्वाचीन पण्डित महिपाल द्वारा विक्रम सं० १९४० (१८८३ ई०) में मन से गढ़ी गई कथा को हरिवंशपुराण और 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावलियों से भी अधिक प्रामाणिक मानकर आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल उसमें लिखे अनुसार विक्रम संवत् ७७० (७१३ ई०) आँख बन्द करके स्वीकार कर लिया। उसकी प्रामाणिकता पर रंचमात्र भी शंका प्रकट नहीं की। अन्य स्रोतों से उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा करने का शोधकार का धर्म भी नहीं निभाया। पण्डित महिपाल को सर्वज्ञ के समान आप्तपुरुष मानकर उसके वचन को एक परम श्रद्धालु शिष्य की तरह चुपचाप स्वीकार कर लिया और महान् दिगम्बर-परम्परा के इतिहास को एक अत्यन्त अप्रामाणिक पुरुष के हाथ का खिलौना बना दिया। उस मनगढ़न्त कथा की हस्तलिखित पुस्तिका प्राप्त होने को आचार्य हस्तीमल जी की एक महान् खोज कहकर विज्ञापित किया गया। उसे एक ऐसी क्रान्तिकारी खोज बतलाया गया जैसे आचार्य जी ने पारसमणि ढूँढ़ लिया हो या मंगलग्रह पर जीवन की खोज कर ली हो। आश्चर्य तो यह है

कि आचार्य जी ने उस कथा का उल्लेख करनेवाली पुस्तिका की प्राप्ति को ही खोज मान लिया। कथा की प्रामाणिकता को खोजने का प्रयास नहीं किया। यह तो देखा ही नहीं कि हाथ क्या लगा है? रजत या सीपी? अस्तु। इसका निर्णय आगे हो जायेगा और आचार्य जी ने उक्त कथा की प्रामाणिकता की परीक्षा किये बिना ही उसे प्रामाणिक क्यों मान लिया इसका खुलासा भी आगे हो जायेगा। इस हेतु उक्त कथा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। आचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपनी इस खोज की महिमा का बखान श्री गजसिंह राठौड़ द्वारा लिखाये गये 'भूले बिसरे ऐतिहासिक तथ्य' नामक लेख में कराया है और उसे अपने ग्रन्थ जैनधर्म का मौलिक इतिहास (भाग ४) में उद्धृत किया है। उसे यहाँ ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहा हूँ। उसमें पण्डित महिपाल द्वारा लिखित प्रतिष्ठापाठ में वर्णित कुन्दकुन्द-कथा भी उद्धृत है।'

भूले बिसरे ऐतिहासिक तथ्य

लेखक : गजसिंह राठौड़

“सागर के गहन तल में जिस प्रकार कई अनमोल मोती, बहुमूल्य रत्न और भाँति-भाँति की निधियाँ छिपी होती हैं, ठीक उसी प्रकार जैन इतिहास के आत्यन्तिक महत्त्व के ऐतिहासिक तथ्य विस्मृति के गर्भ में छुपे पड़े हैं। जिस प्रकार साहसी गोताखोर गहरी डुबकियाँ लगाकर अथाह समुद्र के तल से समय-समय पर उन अमूल्य निधियों को खोज निकालते हैं, ठीक उसी प्रकार विस्मृति के गहन गर्भरूपी समुद्र में छिपे इतिहास के अलभ्य ऐतिहासिक तथ्यों को कोई बिरले ही शोध-प्रिय विद्वान् प्रकाश में लाने में सफलकाम होते हैं।

“इस युग के महान् अध्यात्मयोगी जैनाचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने सदियों से विलुप्त माने जाते रहे जैन-इतिहास को गहन शोध के अनन्तर जैन जगत् के समक्ष रक्खा है। ईस्वी सन् १९८५, तदनुसार वीर निर्वाण संवत् २५११-१२ के भोपालगढ़ चातुर्मासावास-काल में आचार्यश्री ने एक ऐसी ऐतिहासिक कृति को खोज निकाला है, जो दिगम्बरपरम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय के सम्बन्ध में अद्यावधि चली आ रही विवादास्पद गुत्थी को सुलझाने में सम्भवतः पर्याप्त मार्गदर्शिका बन सकती है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न अभिमत हैं, जो प्रायः सभी एकमात्र अनुमानों पर ही आधारित हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सुनिश्चित समय को बतानेवाला अद्यावधि एक भी प्रामाणिक उल्लेख अथवा कोई ठोस आधार उपलब्ध नहीं है। शोधरुचि आचार्यश्री ने प्राचीन हस्तलिखित पत्रों के पुलिन्दे में से 'अथ प्रतिष्ठापाठ लिख्यते' शीर्षकवाली जो एक प्रति खोज निकाली

है, उसमें दिगम्बरपरम्परा के अनेक भट्टारकों एवं आचार्यों के समय के सम्बन्ध में प्रकाश डालने के साथ दिगम्बरपरम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के जीवनवृत्त पर निम्नलिखित रूप में विस्तृत विवरण उपलब्ध हुआ, जो इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले विज्ञों के लिये यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया जा रहा है।

“---- संवत् ७७० के साल वारानगर में श्री कुन्दकुन्दाचार्य मुनिराज भये तिनका व्याख्यान करजे छे। कुन्दसेठ कुन्दलता सेठाणी के पाँचवाँ स्वर्ग को देव चय करि गर्भ में आये ति दिन सुं सेठ का नांव प्रसिद्ध हुआ। काहै ते पुष्पादिक की वर्षा का कारण से नव महिना पीछे पुत्र का जन्म भया ता समय में श्वेताम्बरन की आमनाय विसेस होय रही, दिगम्बर सम्प्रदाय उठ गई। एक जिनचन्द मुनि रामगिर पर्वत में रहे ताका दशन सेठजा करवा करे सोभायेय पुत्र आठ वर्षे का हुआ अर उठेन श्री आचार्य का आयुर्कर्म नजीके आया वे॥ कुमार नित्य आवे छा सो पूर्वला कारण तै कुन्दकुन्द कुमार दीक्षा लेता भया। आचार्य तो देवलोक पधारे अर कुन्दकुन्द मुनिराज का मार्ग विशेष जान्या नहीं सो अपने गुरु स्थापना के निकट ही ध्यान करता भया सोयन का ध्यान के प्रभाव तै सिंह व्याघ्रादिक सांत भाव कूँ प्राप्त भया श्री स्वामी ऐसा ध्यान प्रगट भया तीन ज्ञान अगोचर श्री सीमंदर स्वामी पूर्वले विदेह क्षेत्र का राजा तिन का ध्यान स्वामी ने सरू कर्या। आदि समवसरण की रचना विधिपूर्वक चित्त रूपी महल में बनाया वा के बीच गंधकुटी रच दीनी अर वारा सभा सहित रचना बनाय सिंहासन उपर च्यार अंगुल अन्तरीक श्री महाराजि श्री सीमंदर स्वामी कूँ विराजमान देख करि तत्काल श्री कुन्दकुन्द यतिराज नमस्कार करता भया। बस ही समय में विदेह क्षेत्र में श्री भगवान् मुनिराज कूँ धर्मवृद्धि दीनी तदि चक्रवर्त्यादिक महंत पुरुषा कै बडो विस्मय उत्पन्न हुआ अवार कोई इन्द्रदेव मनुष्य में कोई भी आया नहीं अर स्वामी धर्मवृद्धि दीनी ता का कारण कह्या। तदि महापद्म चक्रधर आदि सब ही राजा उठ करि स्वामी कूँ नमस्कार करि पूछते भये भो सर्वज्ञ देव! या धर्मवृद्धि आप कुणा कूँ दीनी ये वचन सुणि करि स्वामी दिव्य ध्वनि से व्याख्यान किया हे महापद्म! भरत क्षेत्र का आर्य खण्ड में रामगिर पर्वत के उपरि कुन्दकुन्द मुनिराज तिष्ठे हैं। उनमें अचावार मन वचन काया की सुधता करि र नमस्कार कीयो तदि धर्मवृद्धि दीनी है। ऐसा स्वामी का वचन सुण करि सभी सभा के लोगन के उर में आश्चर्य उपज्यो। भो भगवन्! आपकी दिव्य ध्वनि पहली भले प्रकार हम सुनी हती ज्यो भरतादिक दश क्षेत्र में धर्म का मार्ग नाहीं अर पाखंडी बहुत है। जिन धर्म का नाम मात्र जानेगा नाहीं। अघ वीपरीत मार्ग में चालेगा, पाखंडी लोगों की मान्यता बहुत होयगी। गुरुद्रोही लोक हो जायगा। स्व-स्व कल्पित ग्रन्थ बाचेंगे। अनेक पाखण्ड रचेंगे। जिनराज का धर्म आज्ञा समान कूँ कहुं दीखेगा। पाखंडी का मठ जागि-जागि धावेंगे। व्यन्तर आदिक

कुदेव का चमत्कार प्रतिभासेगा स्व-स्व धर्म छोड़कर सब ही लोक उन्मार्ग में धंसेंगे। अब आपके मुख ऐसा ऋद्धि धारक मुनिराज का नाम सुन्या सो हमारे बड़ा आश्चर्य है। तदि केवलि वर्णन करते भये ऐसा मुनिराज बिरले होय है। आग्या का चिमत्कार समान आर्य खण्ड में चिमत्कार होयवो करेंगे, वे सुर्गवासी देव का जीव है। इहाँ सभा में रविप्रभ सूर्यप्रभ देव हैं। तिनका वे आगले भव के भाई हैं। ऐसा शब्द होते दोय देव श्री भगवान् के निकटि आये नमस्कार करि सकल व्याख्यान पूछ्या अर मुनिराज का दर्शन करणे वास्ते रामगिर उपर आवते भये। जिस वखत देव आये ता समे में रात्रि थी तदि मुनिराज कूँ नमस्कार करि र बैठ्या। मुनिराज बोल्या नहीं। अब उनका शिष्य विना ध्यान तिष्ठे छै तिनका दर्शन भया। उन से ही बतलावणा होत भई। अर देर देव ने कही श्रीमंदर स्वामी तुमकुं धर्मवृद्धि दीनी तदि मैं अठै आया। अबे स्वामी बोलते नहीं सो हम भगवान् के समोसरण में ही पाछा जावां छां। या कहीर देव भगवान् के समोसरण में गये। अब प्रभातिक का समय हुआ। तदि प्रभाति का नमस्कार सब ही शिष्य करते भये अर रात्रि का समाचार श्रीमंदर स्वामी सम्बन्धी सर्व विधिपूर्वक मालूम करया। अर फेर कही देव दोय आपके दर्शन करण कूँ आया सो आपका दर्शन करि र वे देव भगवंत की सभा में ही गये। ये समाचार सुणि कर श्री कुन्दकुन्द मुनिराज विशेष आनन्द कूँ प्राप्त भये, अर चौडे ऐसा शब्द का प्रकाश करते भये। अब श्रीमंदर स्वामी का दर्शन करेंगे तदि आहारादिक लेंगे। या कहि करि स्वामी फिर मौनि धार करि ध्यान में भगन भये। ऐसा ध्यान आवे तदि वेसा कारण होय। अवि दो च्यार दिन में चित्त की थिरता ते वैसा ही ध्यान प्रकट भया। अर समवसरण वणाया अर साक्षात्कार श्रीमंदर स्वामी कूँ नमस्कार करता भया, वैसा समय धर्मवृद्धि फैरि भगवंत की हुई। अर प्रसन्न भया अर भगवान् कही ज्यो देव गये थे सो पाछै आये अब उनके ऐसा नियम हुआ के ज्यो दर्शन विन सर्व त्याग है। तदि देवां कही भो स्वामिन्! वे आये नहीं तदि भगवंत आज्ञा करी तम बेसमय गये तब देव पूछते भये समय कौनसा तदि भगवंत कहि। यहाँ रात्रि होती वहाँ दिन है। वहाँ दिन है यहाँ रात्रि है। सूर्य का गमन ऐसा है सो तुम दिन में वाँ जाओ तो वन का आगमन हो जायगा। ऐसा वचन सुनि करि वे दोन्यू देव ध्यान (दिन) समय में आये मुनिराज का दर्शन हुआ अर परस्पर वचनालाप हुआ। देव हाथ जोडि नमस्कार विनती करी आप विमान में विराज अर श्रीमंदर स्वामी का दर्शन करो या बात सुणिकरि प्रसन होय आप विमाण में विराजे अर विमाण आकाश मार्ग चाल्यो सो अनुक्रम से क्षेत्र भोगभूमि का देश के उपरि विमाण चल्या जाय छाँ, सो स्वामी के सामायक का समय आ गया सो सामायिक करती बखत पीछी हाथन से गिर पड़ी अर पवन का वेग अत्यन्त लाग्या ही तदि स्वामी कही अब हमारा गमन अगारी नहीं काहे, ते मुनिराज का बाना बिना मुनिराज की पिछानी नाही तदि देव

पीछी हेरण कूँ बड़ा यतन किया तदि पीछी पाई नहीं, अर गृध्र पक्षी जाति के जिनावर की पांखडी हुती सो वै अति कोमल तिनकूँ भैली करि उनकी पीछी आकार बनाय श्री मुनिराज कूँ सौंपी तदि आप कोमल जाणि अर धर्म का कारण करणे के निमित्त अंगीकार करि करि र अगाडी गमन करता भया। इस कारण से दूसरा नाम गृध्रपिछाचार्य प्रकट भया। अब विदेह क्षेत्र में जाय पहुँचे। श्रीमंदर स्वामी का समोसरण मानस्थंभादि विभूति युक्ति देखकरि प्रसन्न भये, आप अन्तरंग की सुधता धारी विमाण से उतरि भगवान् का समवसरण में प्रवेश किया अर सीमंदर स्वामी के तीन प्रदक्षिणा दे करि नमस्कार किया अर स्तुति करि अहो सर्वज्ञ तुम्हारी महिमा अगम्य है, अगोचर है, आप सकल वस्तु कौ सदी वही देखो, हौर आप जगत के गुरु हो, आप परमेशुर हो, आपके नाम से अनेक जन्म के पाप प्रलय होय हैं। आपका केवलान सर्व प्रतिभासी है। आप पूज्याधिक हो, आप ब्रह्मरूप हो, चतुर्मुख हो, गणधरादिक देव भी तुम्हारे गुणगण कथन करते थाक गये, हमारि कहा गति? आजि हमारा शरीर सफल भया आजि हमारी मोक्ष भई मानूँ ऐसा मैं आनन्द मानूँ या कह करि भगवान् की गंध कुटी की कटनि उपरि देव बैठावते भये, काहे तेवा का शरीर पाँच से धनुष का अर ये ६ हाथ काय सकारण, वैसे ही समय में चक्रधर आयो गंध कुटी के उपर नजरि गई तदि हात भैले करि विचार करता भया॥ यह कौन सा आकार है छ खण्ड में यह आकार कहूँ देख्या नहीं। ऐसा आकार कौन का है। तदि चक्रधर भगवान् कूँ पूछता भया हे जिनेन्द्र! ये मनुष्यों का आकार कौन सा जीव है। तदि भगवान् की दिव्य ध्वनि हुई। यह भरत के मुनिराज हैं। तुम पहली धर्मवृद्धि का कारण पूछता था सो अब ये दर्शन करने निमित्त आये हैं। ऐसा शब्द सुणिकारि प्रसन्न होय चक्रधर मुनिराज कूँ कटनी उपरि विराजमान करि र नमस्कार करता भया तदि मुनिराज का नाम एलाचार्य प्रकट होता भया। अर भगवान् की आज्ञा हुई। इन कूँ सकल संदेह का निवारण करावणे वाला सिद्धांत सिखाओ। अर ग्रंथ लिखाय द्यो, सो यो धर्म का उद्योतक होयगा। अब आपके जैसा संदेह छ सो सब भगवान् सूँ पूछ करि निसंदेह भया, एक दिन चक्रधर विनती करी आप आहार कूँ उतरो तदि आप कहि जोग्यता नाहीं काहे ते इहा दिन हमारा क्षेत्र में रात्रि हम वांहां के उपजे याशे आहार कैसो अंगीकार करे सो स्वामी दिन सात (७) ताई निराहार रहे। भगवान् की दिव्य ध्वनि निरूपी अमृत के पीवते क्षुधा बाधा नै देती भई, च्यार शास्त्र लिखाये।

“मतान्तर निर्णय चौरासी हजार, सर्व सिद्धान्त मन बियासी हजार, कम प्रकाश बहतरी हजार, न्याय प्रकाश बासठि हजार। ऐसे ग्रंथ च्यार लेकरि भगवान् सूँ आज्ञा मांगी देव विमाण में बैठ करि रामगिरि उपरि आय विराजे देव अपने स्थानक गए अब सर्व ही स्वामी की आग्या में चालते भये। श्वेताम्बर धर्म छुड़ाय दिगम्बर धर्म

का मार्ग बताया अर धन वाले कूं धन बताया, पुत्रवान् कूं पुत्र दिया, राज्य वाला कूं राज्य दीनो। केवल धर्म का मार्ग बधावा के निमित्त हजार श्रावक व्रती हो गये। कुंद सेठ सबन का मालिक भया। ५९४ मुनिराज हुआ। ४०० आर्जिका हुई। अब आप सकल संघ सहित श्री गिरनारजी की यात्रा वास्ते चालता भया अर श्वेताम्बरीन का संघ भी जावा चाल्या, तिनकी संख्या श्रीपूज्य तो ८४ गच्छ के अर यति १२००० अर वन के श्रावक श्रावकणी दोय लाख बावन हजार अरु चाकर पयादे बहुत सो ये दोउ संघ गिरनारजी के नीचे अपणी अपणी हद में मुकाम करते भये। तदि श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का संघ ऊपर चढ़ने लगा तदि श्वेताम्बरीन का हलकारा अगाड़ी नहीं करणे दीना। अर कही पहली यात्रा हमारी होयगी पीछे यात्रा तुम्हारी होयगी। यह समाचार सुणि करि सब ही पाछा आय गया। अर आचार्य सूं विनती करी हे नाथ! यह श्वेताम्बरी तो बहोत। अपना संघ थोड़ा सो यात्रा कैसे होवेगी तदि आचार्य आज्ञा करी तुम बांसुं कहो तुमारे हमारे कछु वैर तो है नहीं अर जो तुम अपने मत का आडम्बर राख्या चावो छो तो अरु याहां आवो जो जीतेंगे सो ही पहली यात्रा करेगा। अबे यात्रा तुम भी नहीं करोगे ऐसा वचन होता थका दौन्यू संघ का ही वाद उहर्या ज्यो जीते सो यात्रा पहली करेगा। दिगम्बर के स्वामी श्री कुन्दकुन्दाचार्य अर श्वेताम्बर के मालिक श्रुक्ताचार्य जा के चौइस महाकाल पक्ष का साधन सो इनकै केतेक दिन तलक वाद भया। जदि येक दिन श्रुक्ताचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कमंडल में छाकरि दीनो अर समस्या सै कोई कहीये काहे का मुनि है यन का आचरण धीवर का है। ऐसी बात सुणि करि कोई श्रावक कही स्वामी कमंडल में काई छै। स्वामी कही कमंडल के जल में फूल है। स्वामी दिखाओ। तदि कमंडल उंधो करयो। सो कमंडल में सूं फूल के ढेर हो गया। अर स्वामी का नाम चौथा पद्मनन्दि स्वामी प्रकट भया। श्रुक्ताचार्य पीछी कमंडल दोनूं उडाय दीनां। तदि स्वामी सब यतीन की चादर बैठना उडाय दीना। श्रुक्ताचार्य कूं नग्न करि दीना। पीछे तो ऊपर चांद स्या नीचे इस तरे से चादरि चादरि परि पीछी होय गई, कूठ ने लगी यति बाहर मेलने लाग्या ऐसा स्वामी चिमत्कार बताया। अब आप बोल्या ऐसी धूर्त विद्या से बाद नहीं होता है। अब मैं कहता हूँ या सरस्वती की प्रतिमा पाषाणमयी छे इनै बुलावो ज्यो कहै सो इ पहली यात्रा करेगा। तदि श्रुक्ताचार्य अनेक पक्ष की स्थापना करी बुलाई तो भी नहीं बोली। तदि स्वामी आप कमंडल पीछी हाथ में ले करि श्री सीमंदर स्वामी कूं नमस्कार करि पीछी सरस्वती का शिर उपर धरि करि आप प्रकट बोलते भये। हे देवी! अब तूं सत्य वचन का प्रकाश करहु तदि देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली आदि दिगम्बर, आदि दिगम्बर, आदि दिगम्बर, गर्भ का बालक है चिहू जामे तदि दिगम्बर सम्प्रदाय सत्य रूपी होय गई। श्वेताम्बरी भी देवी कूं बुलावना-

सत्य वचन का प्रकाश करहु तदि देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली आदि दि.-सरु करयात देवी कही तुम बारा बरस तलक झगड़ा करो हमने एक सत्यार्थ था सो ई कह्या। तदि श्वेताम्बरी के सैकरूं शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य भये। अर प्रथम यात्रा श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का संघ का लोग करता भया। अर श्री नेमिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा करी। अर सकलगिर प्रतिष्ठित भया।

“तदि मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण श्री कुन्दकुन्दाचार्य का वंश बड़े नन्दि मुनिराज कूं आचार्य पद दीना सो उनकी आमनाय सकल संख्या गायत्री कर्म अंग न्यासादिक कर्म, प्रतिष्ठा, कलशाभिषेक, पूजा, दान, यात्रा, इत्यादि छहूं कर्मन की स्थापना करी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप तीन वलय का सूत्र की यज्ञोपवीत श्रावक लोग कूं दीनी। अर जिनमार्ग का प्रकाश करि र आप वापनारा नाम नगर के वन में आये सब श्रावकन कूं शिष्या (शिक्षा) दे करि आप सन्यास धारि करि पाँचवे स्वर्ग गये। विशेष अधिकार बड़े ग्रन्थन से जाणा लेणा यहाँ अधिकार मात्र वर्णन किया है।”

प्रतिष्ठापाठ शीर्षकवाली इस लघु पुस्तिका के उपरिलिखित उद्धरण से निम्न-लिखित चार तथ्य प्रकाश में आते हैं—

“१. दिगम्बर-परम्परा के महान् प्रभावक आचार्य श्री कुन्दकुन्द विक्रम संवत् ७७० में विद्यमान थे।

“२. उनके गुरु का नाम आचार्य श्री जिनचन्द्र था।

“३. आचार्य जिनचन्द्र रामगिरि पर्वत पर रहते थे।

“४. श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ के एक अंग दिगम्बरसम्प्रदाय में ब्राह्मणों ही के समान श्रावकों के लिये त्रिकाल सन्ध्या, (गायत्री कर्म अंगन्यासादि कर्म), कलशाभिषेक, प्रतिष्ठा, पूजा, दान और यात्रा ये छ कर्म और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के प्रतीक रूपी तीन वलय के सूत्र की यज्ञोपवीत धारण करने की अनिवार्यरूपेण परमावश्यक प्रथा आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रचलित की गई।

“आचार्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य श्री जिनचन्द्र के शिष्य थे इस बात की पुष्टि इंडियन ऐन्टीक्यूरी के आधार पर विद्वानों द्वारा निर्णीत की गई नन्दीसंघ की पट्टावली से भी होती है। उक्त पट्टावली में चौथे आचार्य का नाम जिनचन्द्र और पाँचवें आचार्य का नाम कुन्दकुन्दाचार्य उल्लिखित है।^{११९}

११९. क— जैन धर्म का मौलिक इतिहास / भाग ३ / पृष्ठ १३६ व १३७।

ख— नन्दीसंघ की पट्टावली / जैन धर्म का मौलिक इतिहास / भाग २ / पृष्ठ ७५४।

“इस लघु पुस्तिका में आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित संवत् का उल्लेख किया गया है कि वे विक्रम संवत् ७७० में (तदनुसार ईस्वी सन् ७१३ एवं वीर निर्वाण संवत् १२४०) में हुए। इस प्रकार के निश्चित संवत् का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में, श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर-परम्परा की पट्टावलियों आदि में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

“इसी प्रकार जैन श्रावक के लिये तीन सूत्र की यज्ञोपवीत धारण करना, त्रिकाल सन्ध्या, गायत्री कर्म, अंगन्यासादिकर्म, प्रतिष्ठा, कलशाभिषेक, आदि जिनका कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा के आगमों अथवा आगमिक ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, उन सब कर्मकांडों का ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, उन सब ब्राह्मणिक कर्मकांडों का प्रचलन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही दिगम्बर-परम्परा में प्रारम्भ किया, इस बात का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से इस लघु पुस्तिका में है। इस दृष्टि से भी इस प्रतिष्ठापाठ नाम का हस्तलिखित पुस्तिका का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर पौराणिक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि अहर्निश धर्माराधन में निरत रहनेवाले माहणवर्ग की पहिचान के लिये भरत चक्रवर्ती ने रत्नविशेष से यज्ञोपवीत की भाँति की तीन रेखाएँ प्रत्येक माहण के दक्षिण स्कन्ध से वाम वक्षस्थल और वाम पृष्ठभाग तक अंकित कर दी थीं। यज्ञोपवीत जैसा यह चिह्न भरत चक्रवर्ती ने इस उद्देश्य से किया था कि जो माहण वस्तुतः धर्माराधन में, अध्ययन-अध्यापन में ही निरत रहते थे और भरत चक्रवर्ती द्वारा इस प्रकार के नितान्त धर्मनिष्ठ माहणों के लिये प्रदान की गई अशन, पान, आवास, परिधान आदि की सुविधाओं का उपभोग दूसरे छद्म व्यक्ति न कर सकें। माहणों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था भरत चक्रवर्ती द्वारा की गई थी, न कि किसी भी तीर्थंकर महाप्रभु अथवा किसी धर्माचार्य द्वारा। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना तीर्थंकर प्रभु द्वारा की गई थी। उसमें श्रावक वर्ग भी सम्मिलित था। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के समय ऋषभादि महावीरान्त चौबीसों तीर्थंकरों में से किसी भी तीर्थंकर महाप्रभु ने श्रावक वर्ग के लिये त्रिकाल सन्ध्या, कलशाभिषेक, प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा अथवा यज्ञोपवीत का विधान किया हो, इस प्रकार का एक भी उल्लेख सम्पूर्ण आगमिक वाङ्मय में कहीं नाम मात्र के लिये भी दृष्टिगोचर नहीं होता। श्रमण भगवान् महावीर के समय में भी श्रावकों ने यज्ञोपवीत धारण किया हो, इस प्रकार का एक भी उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में इस लघु पुस्तिका के एतद्-विषयक उपरि वर्णित उल्लेख से यह आत्यन्तिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही दिगम्बर-परम्परा में यज्ञोपवीत एवं उपर्युक्त छहों कर्मों का विधान किया।

“इस प्रकार आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज द्वारा खोज निकाली गई इस लघु पुस्तिका से इन ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईस्वी सन् ७१३ में विद्यमान थे। वे भट्टारक श्री जिनचन्द्र के शिष्य थे, उन्होंने रामगिरि पर्वत पर बाल्यावस्था में भट्टारक जिनचन्द्र के पास पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की थी और कालान्तर में इन्हीं आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने दिगम्बरपरम्परा में श्रावकों के लिये यज्ञोपवीत के साथ-साथ षट्कर्मों का प्रचलन प्रारम्भ किया।

“प्रतिष्ठापाठ नामक इस पुस्तिका का आलेखन आज से लगभग १०३ वर्ष पूर्व विक्रम सम्बत् १९४० में पंडित महिपाल द्वारा गणेश नामक ब्राह्मण से करवाया गया। इस प्रति का लेखन किस प्राचीन प्रति के आधार पर करवाया गया, इस सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख है “ई मरजाद प्रतिष्ठा हुई, सो आगम के अनुसार लिखी है।”

“इस उल्लेख से यही प्रकट होता है कि प्रतिष्ठा-सम्बन्धी प्राचीन पत्रों के आधार पर ही सम्भवतः इस पुस्तिका का आलेखन करवाया गया होगा। यह प्रतिष्ठापाठ नाम की लघु पुस्तिका स्थान-स्थान पर अतिशयोक्तियों से ओत-प्रोत है, किसी एक प्रतिष्ठा पर ३८ करोड़ रुपया, किसी दूसरी पर २४ करोड़ रुपया, तो किसी पर १९ करोड़ रुपया, किसी पर ३६ करोड़ रुपया, किसी पर ३५ करोड़ रुपया आदि व्यय किये जाने का उल्लेख है। सब मिलाकर बीस प्रतिष्ठाओं पर लगभग साढ़े चार अरब रुपये खर्च किये जाने का इस लघु पुस्तिका में उल्लेख है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा करवाई गई प्रतिष्ठाओं और उनके तत्त्वावधान में तीर्थयात्रा के लिये निकाले गये सुविशाल संघ पर जो धन व्यय हुआ वह इस राशि में सम्मिलित नहीं है।

“इतना सब कुछ होते हुए भी इसमें उल्लिखित अनेक भट्टारकों के नाम और उनका काल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक प्रतीत होता है। इनके नाम एवं काल की पुष्टि ‘इंडियन ऐण्टिक्यूरी’ के आधार पर तैयार की गई नन्दीसंघ की पट्टावली एवं कतिपय शिलालेखों से भी होती है। इसी कारण यह लघु पुस्तिका इतिहासविदों से गहन शोध की अपेक्षा करती है। आशा है शोधप्रिय इतिहासज्ञ इस सम्बन्ध में अग्रेतन शोध के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द के समय एवं उनके द्वारा श्रावकों के लिये प्रारम्भ किये गये यज्ञोपवीत आदि विधानों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।” (जै.ध.मौ.इ/ भा.४ / पृ.२१-२८)।

निरसन

कुन्दकुन्द-काल के सुनिश्चित संवत् का उल्लेख केवल इण्डि. ऐण्टि. में

१. इस कथा का वर्णन करनेवाली प्रतिष्ठापाठ नामक हस्तलिखित पुस्तिका की प्राप्ति को आचार्य श्री हस्तीमल जी की बहुत बड़ी खोज बतलाया गया है। किन्तु यह कथा छिपी ही नहीं थी। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९४२ में लिखे एक लेख में इसकी चर्चा की है और यह भी बतलाया है कि यह कथा ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषाग्रन्थ में दी गयी है। (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.२५९)। इस ग्रन्थ में यह नहीं लिखा है कि कुन्दकुन्द संवत् ७७० में हुए थे। यदि लिखा होता, तो प्रेमी जी अवश्य इसका उल्लेख करते और इसकी प्रामाणिकता की परीक्षा करते। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिष्ठापाठ के लेखक ने उक्त कथा में कुन्दकुन्द के सं० ७७० में होने की बात अपने मन से जोड़ दी है।

२. आचार्य हस्तीमल जी के विचारों को प्रस्तुत करते हुए श्री गजसिंह राठौड़ कहते हैं कि उक्त प्रतिष्ठापाठ नामक लघु पुस्तिका में "आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित संवत् का उल्लेख किया गया है कि वे विक्रम संवत् ७७० में (तदनुसार ईस्वी सन् ७१३ एवं वीर निर्वाण संवत् १२४०) में हुए। इस प्रकार का निश्चित संवत् का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों आदि में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।" (जै.ध.मौ.इ./भा.४/पृ.२६)।

आचार्य जी ने ऐसा इसलिए कहा है कि उन्होंने दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रो० हार्नले द्वारा प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली को प्रत्यक्ष नहीं देखा। उसमें तो कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में और भी अधिक सुनिश्चित संवत्, वर्ष, मास और दिन का उल्लेख है। उसमें न केवल कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का वर्ष विक्रम संवत् ४९ बतलाया गया है, अपितु गृहास्थाश्रम में रहने का समग्रकाल ११ वर्ष, सामान्यमुनि के रूप में रहने की वर्ष संख्या ३३, आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहने की कालावधि ५१ वर्ष, १० मास और १० दिन, व्यवधानकाल ५ दिन तथा सम्पूर्ण जीवन काल ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन बतलाया गया है। यतः वे ११ वर्ष गृहस्थाश्रम में और ३३ वर्ष सामान्य मुनि के पद पर रहने के बाद ४४ वर्ष की आयु में विक्रम सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे, अतः उनका जन्मवर्ष विक्रम सं० ५ अर्थात् ईसापूर्व का ५२ वाँ संवत्सर सुनिश्चित होता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त के एक-एक दिन का हिसाब क्या उक्त प्रतिष्ठापाठ नामक लघु पुस्तिका में है? नहीं है। अतः आचार्य हस्तीमल जी

ने उक्त प्रतिष्ठापाठ के विषय में जो यह दावा किया है कि इस प्रकार का निश्चित संवत् का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में जैनवाङ्मय में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, सर्वथा मिथ्या है।

अतः यदि निश्चित संवत् के उल्लेख को पट्टावली आदि की प्रामाणिकता का हेतु माना जाय तो दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में निर्दिष्ट पट्टावली सर्वाधिक प्रामाणिक सिद्ध होती है और इस तर्क से भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में था।

३. इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में कुन्दकुन्द के ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में होने के जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे उनका वि० सं० ७७० में होना निरस्त हो जाता है।

४. उक्त प्रतिष्ठापाठ (१८८३ ई०) की अपेक्षा दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित पट्टावली (१७८३ ई०) तथा शुभचन्द्रकृत गुर्वावली (प्र० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार १५१६-१५५६ ई०) अधिक प्राचीन हैं। अतः प्रतिष्ठापाठ की अपेक्षा ये अधिक विश्व-सनीय हैं। इनमें कुन्दकुन्द को उमास्वाति का पूर्ववर्ती बतलाया गया है, जिससे उनका वि० सं० ७७० में होना असिद्ध हो जाता है।

५. वि० सं० ७७० में न तो नन्दिसंघ का अस्तित्व था, न सरस्वतीगच्छ का, न बलात्कारगण का। बलात्कारगण तथा सरस्वतीगच्छ की उत्पत्ति १० वीं शताब्दी ई० में, एवं नन्दिसंघ का आविर्भाव १२ वीं शती ई० में हुआ था, यह अष्टम अध्याय के तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है। अतः वि० सं० ७७० ई० में इन नामोंवाले संघ, गच्छ और गण में कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख सिद्ध करता है कि प्रतिष्ठापाठ में उल्लिखित काल मनगढ़न्त है।

६. गिरनार पर्वत पर सरस्वती की पाषाणप्रतिमा से 'दिगम्बरमत प्राचीन है, श्वेताम्बरमत अर्वाचीन' यह कहलवाने का कार्य १४ वीं शताब्दी ई० में पद्मनन्दी नामक भट्टारक ने किया था। यह पूर्व में सप्रमाण दर्शाया जा चुका है। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनन्दी था। अतः नामसाम्य के कारण भट्टारक पद्मनन्दी को भ्रान्तिवश कुन्दकुन्द समझकर उनके साथ यह घटना जोड़ दी गयी। किन्तु दोनों का अस्तित्व वि० सं० ७७० अथवा उसके लगभग नहीं था, अतः भट्टारक पद्मनन्दी के साथ भी वि० सं० ७७० में उक्त घटना का जोड़ा जाना 'प्रतिष्ठापाठ' की कथा को कथंचित् बनावटी सिद्ध करता है, कुन्दकुन्द के साथ जोड़े जाने से तो उसका शतप्रतिशत बनावटी होना सिद्ध होता है।

७. प्रतिष्ठापाठ की कुन्दकुन्दकथा में कुन्दकुन्द के द्वारा जिन षट्कर्मों का चलाया जाना बतलाया गया है, उनका उल्लेख कुन्दकुन्द के किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता। उक्त कथा में कुन्दकुन्द के द्वारा षट्कर्मों को चलाये जाने का कथन तो किया गया है, किन्तु उन्होंने समयसारादि में अध्यात्मतत्त्व का सर्वप्रथम निरूपण किया है, इसकी रचना भी चर्चा नहीं की गयी। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में से एक के भी नाम का उल्लेख नहीं किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि पण्डित महिपाल भट्टारक थे, अतः उन्होंने ब्राह्मणों से गृहीत अपनी आगमविरुद्ध क्रियाओं को आगमसम्मत सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द जैसे परम आगमनिष्ठ एवं अध्यात्मपुरुष दिगम्बराचार्य द्वारा प्रवर्तित किये जाने का कपटपूर्ण प्रचार किया है।

८. वारानगर में एक अन्य पद्मनन्दी नामक आचार्य (ई० सन् १७७-१०४३) थे, जिन्होंने वहाँ रहकर जंबूदीवपण्णत्ती नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनका परिचय देते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

“पद्मनन्दी जिस समय वारानगर में थे, उस समय यह ग्रन्थ रचा गया है। इस नगर की प्रशंसा में लिखा है कि उसमें वापिकार्ये, तालाब, और भवन बहुत थे, भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से वह भरा हुआ था, बहुत ही रम्य था, धनधान्य से परिपूर्ण था। सम्यग्दृष्टिजनों से, मुनियों के समूह से और जैन मंदिरों से विभूषित था। यह नगर पारियात्र (पारियात्र) नामक देश के अन्तर्गत था। वारानगर के प्रभु या राजा का नाम शक्ति या शक्तिकुमार था। वह सम्यग्दर्शनशुद्ध, व्रती, शीलसम्पन्न, दानी, जिनशासनवत्सल, वीर, गुणी, कलाकुशल और नरपतिसम्पूजित था।

“हेमचन्द्र ने अपने कोश में लिखा है—‘उत्तरो विन्ध्यात्पारियात्रः’ अर्थात् विन्ध्याचल के उत्तर में पारियात्र है। यह पारियात्र शब्द पर्वतवाची और प्रदेशवाची भी है। विन्ध्याचल की पर्वतमाला का पश्चिम भाग जो नर्मदातट से शुरू होकर खंभात तक जाता है और उत्तरभाग जो अर्बली की पर्वतश्रेणी तक गया है, पारियात्र कहलाता है। अतः पूर्वोक्त वारानगर इसी भूभाग के अन्तर्गत होना चाहिए। राजपूताने के कोटा राज्य में जो बारा नाम का कसबा है, वही वारानगर है, क्योंकि वह पारियात्रदेश की सीमा के भीतर ही आता है। नन्दिसंघ की पट्टावली^{१२०} के अनुसार बारा में एक भट्टारकों की गद्दी भी रही है और उसमें वि० सं० ११४४ से १२०६ तक के १२ भट्टारकों के नाम दिये हैं। इससे भी जान पड़ता है कि सम्भवतः ये सब पद्मनन्दी या माघनन्दी की ही शिष्यपरम्परा में हुए होंगे और यही बारा (कोटा) जम्बूदीपप्रज्ञप्ति के निर्मित होने का स्थान होगा।

१२० “देखो, जैनसिद्धांतभास्कर/किरण ४ और इंडियन ऐण्टिक्वेरी २० वीं जिल्द।” लेखक।

“ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषाग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य की एक कथा दी है। उसमें कुन्दकुन्द को इसी बारापुर या बारा के धनी कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता का पुत्र बतलाया है। पाठक जानते हैं कि कुन्दकुन्द का एक नाम पद्मनन्दी भी है। जान पड़ता है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के कर्ता पद्मनन्दी को ही भ्रमवश कुन्दकुन्द समझकर ज्ञानप्रबोध के कर्ता ने कुन्दकुन्द का जन्मस्थान कर्नाटक के कोण्डकुण्डपुर के बदले बारा^{१२१} बतला दिया है। कुन्दकुन्द नाम की उपपत्ति बिठाने के लिए कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी की कल्पना भी उन्हीं के उर्वर मस्तिष्क की उपज है, जैसे उमा माता और स्वाति पिता की सन्तान उमास्वाति।” (जै. सा. इ./द्वि. सं./पृ. २५८-२५९)।

इस प्रकार उक्त प्रतिष्ठापाठ की कुन्दकुन्दकथा में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के कर्ता पद्मनन्दी को कुन्दकुन्दाचार्य मान लेने के कारण भी उनका अस्तित्व वि० सं० ७७० में बतलाया जाना मिथ्या सिद्ध होता है।

१२१. “सुना है कि वारा में पद्मनन्दी की एक निषिद्धा भी है।” लेखक।



चतुर्थ प्रकरण

मालवणिया जी के दार्शनिक विकासवाद का निरसन

१

मालवणिया जी की तीन अवधारणाएँ

पं० दलसुख जी मालवणिया ने स्वकल्पित दार्शनिक-विकासवाद के आधार पर कुन्दकुन्द को उमास्वाति (तीसरी-चौथी शताब्दी ई०) के बाद का आचार्य बतलाया है। वे न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में लिखते हैं—

“वाचक उमास्वाति का समय पं० श्री सुखलाल जी ने तीसरी-चौथी शताब्दी होने का अंदाज किया है। आ० कुन्दकुन्द के समय में अभी विद्वानों का एकमत नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द का समय जो भी माना जाय, किन्तु तत्त्वार्थ और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत दार्शनिक विकास की ओर यदि ध्यान दिया जाय तो वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थगत जैनदर्शन की अपेक्षा आ० कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत जैनदर्शन का रूप विकसित है, यह किसी भी दार्शनिक से छिपा नहीं रह सकता। अत एव दोनों के समयविचार में इस पहलू को भी यथायोग्य स्थान अवश्य देना चाहिए। इसके प्रकाश में यदि दूसरे प्रमाणों का विचार किया जायगा, तो संभव है दोनों के समय का निर्णय सहज में हो सकेगा।” (न्या.वा.वृ. / प्रस्ता. / पृ.१०३)।

पश्चात् माननीय मालवणिया जी ने ‘क्या बोटिक दिगम्बर हैं?’ नामक लेख में लिखा है—“बोटिक मूलतः दिगम्बर नहीं थे, क्योंकि स्त्रीमुक्ति के निषेध की चर्चा हमें सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द में मिलती है। यद्यपि उनका समय विवादास्पद है, फिर भी मेरा अपना यह निश्चित मत है कि आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य उमास्वाति के पूर्व नहीं हुए हैं। इसको सिद्ध करने का प्रयत्न मैंने अपनी न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में दोनों आचार्यों के जैन दर्शन-सम्बन्धी मन्तव्यों की तुलना करके किया है। इस समग्र चर्चा से दो फलित निकलते हैं—प्रथम तो यह कि श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिक नाम से जिस सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है, वह दिगम्बर-सम्प्रदाय से भिन्न है और जिसे अन्यत्र यापनीय के नाम से पहचाना जाता है। दूसरे, दिगम्बर-सम्प्रदाय जो स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है, वह या तो बोटिकों का ही परवर्ती विकास है, या फिर उससे प्रारंभिक श्वेताम्बराचार्य परिचित नहीं थे। क्योंकि प्राचीन निर्युक्तियों एवं भाष्यों से ऐसी मान्यता की उपस्थिति के न तो कोई संकेत ही मिलते हैं और न उसके खण्डन का ही कोई प्रयास देखा जाता है।”^{१२२}

१२२. जैन विद्या के आयाम / ग्रन्थाङ्क २ (Aspect of Jainology, Vol. II) ‘पं. बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ’ / पृष्ठ ७३।

मालवणिया जी ने न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना (पृ.११८) में यह भी लिखा है कि “वाचक उपास्वाति के तत्त्वार्थ की रचना का प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषा में सूत्रशैली के ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति करना था। तब आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की रचना का प्रयोजन कुछ दूसरा ही था। उनके सामने तो एक महान् ध्येय था। दिगम्बर-सम्प्रदाय की उपलब्ध जैन आगमों के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी। किन्तु जब तक ऐसा ही दूसरा साधन आध्यात्मिक भूख को मिटानेवाला उपस्थित न हो, तब तक प्राचीन जैन आगमों का सर्वथा त्याग संभव न था। आगमों का त्याग कई कारणों से करना आवश्यक हो गया था,^{१२३} किन्तु दूसरे प्रबल समर्थ साधन के अभाव में वह पूर्णरूप से शक्य न था। इसी को लक्ष्य में रखकर आ० कुन्दकुन्द ने दिगम्बर-सम्प्रदाय की आध्यात्मिक भूख की माँग के लिए अपने अनेक ग्रन्थों की प्राकृत भाषा में रचना की।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११८)।

मालवणिया जी के इस कथन से ऐसा प्रतीत तो नहीं होता कि उनके अनुसार दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कुन्दकुन्द ने की थी, भले ही स्त्रीमुक्तिनिषेध आदि दिगम्बरीय मान्यताओं का उल्लेख उनके ग्रन्थों में सर्वप्रथम मिलता हो। किन्तु यह स्पष्ट है कि वे दिगम्बर-सम्प्रदाय को बोटिक-सम्प्रदाय का विकसित रूप मानते हैं। अर्थात् विकसित होने के लिए यदि अधिक से अधिक पचास वर्ष का समय आवश्यक माना जाय (निर्ग्रन्थसंघ से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का विकास वीरनिर्वाण से ६२ वर्ष बाद ही हो गया था), तो मालवणिया जी के अनुसार दिगम्बर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति बोटिक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति (वीरनिर्वाण सं० ६०९ = ई० ८२) से लगभग पचास वर्ष बाद (द्वितीय शती ई० में) मानी जा सकती है।

मालवणिया जी ने अपने उपर्युक्त वक्तव्य (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११८) में यह मन्तव्य प्रकट किया है कि “दिगम्बर-सम्प्रदाय की उपलब्ध जैन आगमों के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी, क्योंकि उनमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिकवलाहार, आपवादिक मांसाशन आदि के उल्लेख थे, जो दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुकूल न थे,^{१२३} इसलिए कुन्दकुन्द ने सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध करनेवाले दिगम्बरमत-प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना की।” इससे यह सूचित होता है कि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि मान्यताओं के प्रति अरुचि रखनेवाला दिगम्बर-सम्प्रदाय कुन्दकुन्द के बहुत पहले अस्तित्व में आ गया था और वह कुन्दकुन्द के पूर्व इतने दीर्घ समय तक अस्तित्व

१२३. “खासकर वस्त्रधारण, केवली-कवलाहार, स्त्रीमुक्ति, आपवादिक मांसाशन इत्यादि के उल्लेख जैन आगमों में थे, जो दिगम्बरसम्प्रदाय के अनुकूल न थे।” न्यायावतारवार्तिकवृत्ति/प्रस्तावना / पादटिप्पणी / पृष्ठ ११८।

में रहा कि उसकी अरुचि को निरन्तर बढ़ते जाने का अवसर मिल सका। मालवणिया जी के इस मन्तव्य से इस निर्णय को बल मिलता है कि उनके मतानुसार बोटिकमत से दिगम्बरमत के विकसित होने का काल ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है।

श्री मालवणिया जी के इन वक्तव्यों से उनके द्वारा पोषित तीन अवधारणाओं का पता चलता है—पहली तो यह कि दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय बोटिक-सम्प्रदाय का विकसितरूप है और उसकी उत्पत्ति ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानी जा सकती है। दूसरी यह कि दिगम्बरमत-प्रतिपादक ग्रन्थों के आद्य प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। उनके पूर्व दिगम्बर-सम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को अरुचिपूर्वक मानता था। तीसरी यह कि कुन्दकुन्द उमास्वाति के बाद अर्थात् ईसा की तीसरी-चौथी शती के पश्चात् हुए थे। मान्य विद्वान् की इन तीन अवधारणाओं में से प्रथम अवधारणा की मिथ्यारूपता का प्रकाशन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। यथा—

१. द्वितीय अध्याय में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों और अनेक आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति-निषेधक दिगम्बरों को ही बोटिक कहा है, यापनीयों को नहीं। तथा बोटिक शिवभूति की मान्यताओं से भी सिद्ध होता है कि उसने यापनीयमत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु श्वेताम्बरमत छोड़कर परम्परागत दिगम्बरमत का वरण किया था। इस प्रकार दिगम्बर-सम्प्रदाय से भिन्न किसी बोटिक-सम्प्रदाय का अस्तित्व ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है, अतः उससे दिगम्बरसम्प्रदाय के विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनतर साहित्य एवं पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैनमत सिन्धुसभ्यता से भी प्राचीन है।

२. बोटिक-सम्प्रदाय को यापनीय-सम्प्रदाय मानकर उससे दिगम्बर-सम्प्रदाय के विकसित होने की कल्पना मुनि कल्याणविजय जी ने की है, उसका अनौचित्य द्वितीय अध्याय में प्रदर्शित किया जा चुका है।

३. द्वितीय अध्याय में यह भी निरूपित किया गया है कि आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य में बोटिक-सम्प्रदाय के नाम से दिगम्बर-सम्प्रदाय की चर्चा की गई है और दिगम्बरीय सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। तृतीय अध्याय में बतलाया गया है कि दशवैकालिकसूत्र में आचार्य शय्यम्भव ने 'जं पि वत्थं वा पायं चा' आदि गाथाओं में परिग्रह की दिगम्बरमान्य परिभाषा का निरसन किया है। अतः मालवणिया जी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि प्राचीन निर्युक्तियों एवं भाष्यों

में दिगम्बरीय मान्यताओं की उपस्थिति के संकेत नहीं हैं अथवा उनके खण्डन का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता।

तथा मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरसाहित्य का आद्यकर्ता सिद्ध करने के लिए जो यह द्वितीय अवधारणा निर्मित की है कि कुन्दकुन्द के पूर्व तक दिगम्बरसम्प्रदाय के पास दिगम्बरमत के प्रतिपादक आगम नहीं थे, वह उपपन्न नहीं होती। क्योंकि प्रश्न उठता है कि यदि दिगम्बर-परम्परा के पास अपने आगम नहीं थे, तो उसने सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि के निषेध की मान्यताएँ कहाँ से ग्रहण की थीं, जिनके कारण उसकी सवस्त्रमुक्ति के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी? आगमों का लिखित होना जरूरी नहीं है, वे श्रुतिपरम्परागत भी होते हैं और पहले वे श्रुतिपरम्परागत ही थे।^{१२४} अथवा यदि दिगम्बरपरम्परा के पास दिगम्बरत्व-प्रतिपादक आगम नहीं थे, तो वह कौन सा प्रामाणिक आदिपुरुष था, जिसके उपदेश से दिगम्बरसम्प्रदाय के बहुसंख्यक अनुयायियों ने स्त्रीमुक्ति आदि को आगमविरुद्ध मान लिया था? मालवणिया जी की उक्त अवधारणा से इन प्रश्नों का समाधान नहीं होता, अतः वह युक्तियुक्त नहीं है। फलस्वरूप यह सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में दिगम्बर-सम्प्रदाय के पास भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट आगम उपलब्ध थे, जिनमें दिगम्बरमत का प्रतिपादन था। हाँ, यह अवश्य है कि कालप्रवाहवश बारह अंगों और चतुर्दशपूर्वों के ज्ञान का क्रमशः लोप होते-होते उन सबके एक-एकदेश का ही ज्ञान कुन्दकुन्द को उपलब्ध हो पाया था। तिलोयषण्णत्ती, हरिवंशपुराण, धवला इत्यादि में कहा गया है कि लोहाचार्य ऐसे अन्तिम आचार्य थे, जिन्हें आचारांग के सम्पूर्ण तथा शेष ग्यारह अंगों और चौदह पूर्वों के एकदेश का ज्ञान था। उनके पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों को बारह अंगों और चौदह पूर्वों के एक-एक देश का ही ज्ञान प्राप्त था। उनमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि और कुन्दकुन्द शामिल हैं। उन्होंने उसी के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की थी।^{१२५}

१२४. "तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरियपरंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।"

धवलाटीका / पु.१ / १,१,१ / पृ. ६८।

१२५. क— "तदो सुभदो, जसभदो, जसबाहू, लोहज्जो ति एदे चत्तारि वि आइरिया आयारंगधरा सेसंग-पुव्वाणमेगदेसधरा य। तदो सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।" धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१ / १,१,१ / पृ.६७-६८।

ख—पूर्वाचार्येभ्य एतेभ्यः परेभ्यश्च वितन्वतः।

एकदेशागमस्यायमेकदेशोऽपदिश्यते ॥ १ / ६६ ॥ हरिवंशपुराण।

माननीय मालवणिया जी की तीसरी अवधारणा यह है कि कुन्दकुन्द तीसरी-चौथी शती ई० में हुए उमास्वाति से परिवर्ती हैं, क्योंकि कुन्दकुन्दसाहित्य में वर्णित जैनदर्शन का स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित जैनदर्शन से विकसित है। अतः अब यह द्रष्टव्य है कि श्री मालवणिया जी ने तत्त्वार्थसूत्रगत जैनदर्शन की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्यगत जैनदर्शन के रूप को किन हेतुओं के आधार पर विकसित माना है? वे हेतु द्विविध हैं—१. कुन्दकुन्दसाहित्य में उन मतों की उपलब्धि होना, जिन्हें मालवणिया जी ने जैनेतर दर्शनों से अनुकृत माना है और २. प्रतिपाद्य विषय की विविधता तथा व्याख्या-दृष्टान्तादि-कृत विस्तार पाया जाना। यहाँ पहले प्रथम-हेतुभूत उन मतों को, जिन्हें मालवणिया जी ने जैनेतर दर्शनों से अनुकृत बतलाया है, उद्धृत कर यह सिद्ध किया जा रहा है कि वे जैनेतरदर्शनों से अनुकृत नहीं, अपितु जिनोपदिष्ट ही हैं।

२

कुन्दकुन्दसाहित्य में जैनेतर दर्शनों का अनुकरण नहीं

२.१. कुन्दकुन्द द्वैताद्वैत के रूप में द्वैतवाद के ही प्रतिपादक

मालवणिया जी का मत

माननीय मालवणिया जी ने यह मत गढ़ा है कि कुन्दकुन्द ने ब्रह्माद्वैत और विज्ञानाद्वैत का अनुकरण कर जैनदर्शन को अद्वैतवाद के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। वे लिखते हैं—

“आचार्य कुन्दकुन्द का श्रेष्ठ ग्रन्थ समयसार है। उसमें उन्होंने तत्त्वों का विवेचन नैश्चयिक दृष्टि का अवलम्बन लेकर किया है। खास उद्देश्य तो है आत्मा के निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन, किन्तु उसी के लिए अन्य तत्त्वों का भी पारमार्थिक रूप बताने का आचार्य ने प्रयत्न किया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि व्यवहारदृष्टि के आश्रय से यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों में तथा ज्ञानादिगुणों में पारस्परिक भेद का प्रतिपादन किया जाता है, फिर भी निश्चयदृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है या आत्मा ज्ञायक है, अन्य कुछ नहीं। (समयसार/६-७)। इस प्रकार आचार्य की अभेदगामिनी दृष्टि ने आत्मा के सभी गुणों का अभेद ज्ञानगुण में कर दिया है --- इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य और गुण में अर्थात् ज्ञान और ज्ञानी में भी कोई भेद नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया है। --- आचार्य कुन्दकुन्द की अभेददृष्टि को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ। उनके सामने विज्ञानाद्वैत तथा आत्माद्वैत का आदर्श भी था। विज्ञानाद्वैतवादियों का कहना है कि ज्ञान में ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थों का प्रतिभास नहीं होता, स्व का

ही प्रतिभास होता है। ब्रह्माद्वैत का भी यही अभिप्राय है कि संसार में ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है, अत एव सभी प्रतिभासों में ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है। इन दोनों मतों के समन्वय की दृष्टि से आचार्य ने कह दिया कि निश्चयदृष्टि से केवलज्ञानी आत्मा को ही जानता है, बाह्य पदार्थों को नहीं (नि.सा./१५९)। ऐसा कह करके तो आचार्य ने जैनदर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया है और जैनदर्शन को अद्वैतवाद के निकट रख दिया है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३४-१३५)।

यही मनगढ़न्त मत मालवणिया जी ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—“आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अद्वैतवादों की बाढ़ सी आ गई थी। औपनिषद् ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिकों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तार्किक और श्रद्धालु दोनों के ऊपर उन अद्वैतवादों का प्रभाव सहज ही में जम जाता था। अत एव ऐसे विरोधी वादों के बीच जैनों के द्वैतवाद की रक्षा करना कठिन था। इसी आवश्यकता में से आ० कुन्दकुन्द के निश्चयप्रधान अध्यात्मवाद का जन्म हुआ है। जैन आगमों में निश्चयनय प्रसिद्ध था ही और निक्षेपों में भावनिषेध भी मौजूद था। भावनिक्षेप की प्रधानता से निश्चयनय का आश्रय लेकर जैनतत्त्वों के निरूपण द्वारा आ० कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन को दार्शनिकों के सामने एक नये रूप में उपस्थित किया। ऐसा करने से वेदान्त का अद्वैतानन्द साधकों को और तत्त्वजिज्ञासुओं को जैनदर्शन में ही मिल गया। निश्चयनय और भावनिक्षेप का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी इत्यादि का भेद मिटकर अभेद हो जाता है। आ० कुन्दकुन्द को इसी अभेद का निरूपण परिस्थितिवश करना था, अतएव उनके ग्रन्थों में निश्चयप्रधान वर्णन हुआ है। और नैश्चयिक आत्मा के वर्णन में ब्रह्मवाद के समीप जैन आत्मवाद पहुँच गया है। आ० कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थों के अध्ययन के समय उनकी इस निश्चय और भावनिक्षेपप्रधान दृष्टि को सामने रखने से कई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और आ० कुन्दकुन्द का तात्पर्य सहज ही में प्राप्त हो सकता है”। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११८-११९)।

निरसन

यह महान् आश्चर्य की बात है कि जैनदर्शन के इतने बड़े विद्वान् ने यह कैसे कह दिया कि कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद के निकट लाकर खड़ा कर दिया है या उन्होंने आत्मा के निश्चयनयात्मक प्रतिपादन से जैनदर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया है! कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित द्रव्य-गुण-पर्याय के या आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों के निश्चयनयात्मक (सत्तागत) अद्वैत (अभेद) और वेदान्तदर्शन के ब्रह्माद्वैत या आत्माद्वैत में आकाश-पाताल का अन्तर है। अद्वैतवेदान्त में सत् या द्रव्य एक ही माना गया है और वह है एक अकेला

ब्रह्म। अर्थात् सम्पूर्ण लोकालोक या ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा व्याप्त है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी आत्मा या जड़ द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। लोक में जो ये अनेक जीव और जड़ पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सत्य नहीं हैं, अपितु जैसे अँधेरे में रज्जु में सर्प का अध्यास (भ्रम) होता है, वैसे ही अविद्या या माया के कारण उस एक अकेले ब्रह्म में अनेक जीवों और जड़ पदार्थों का अध्यास (भ्रम) होता है। इसी प्रकार उस एकमात्र सत् या द्रव्यभूत ब्रह्म में ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों का भी सद्भाव नहीं है तथा वह कूटस्थनित्य है अर्थात् उसमें परिणमन भी नहीं होता, जिससे वह पर्यायरहित भी है। ब्रह्माद्वैतवाद का यह स्वरूप है। वेदों, उपनिषदों और वेदान्तग्रन्थों में उसका यही रूप वर्णित है। यथा—

१. 'एकं सद्दिवा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद/१/१६४/४६) = सत् या द्रव्य एक ही है, ज्ञानी उसका अनेकरूपों में वर्णन करते हैं।

२. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्योपनिषत् ६/२/१) = हे सोम्य! जो यह नानारूपात्मक जगत् दिखाई देता है, वह उत्पत्ति के पूर्व सत्, अखण्ड (निरवयव) और अद्वितीय ही था।

३. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो./३/१४/१) = यह सम्पूर्ण चराचर जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है।

४. 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छान्दो./७/२५/२) = यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आत्मा ही है।

५. 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (मुण्डकोपनिषत्/२/२/११) = यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है।

६. 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/१९) = जगत् में एकत्व (अद्वैत) ही सत् है, नानात्व असत् है। "असति नानात्वे, नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया --- अविद्याध्यारोपण-व्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः" (वही / शांकरभाष्य) = यतः नानात्व असत् है, इसलिए ब्रह्म अविद्या के द्वारा नानात्व का अध्यारोप करता है। अविद्या के द्वारा ही द्वैत का अध्यारोपण होता है, परमार्थतः द्वैत का अस्तित्व नहीं है।

७. 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृहदा. २/५/१९) = ब्रह्म मायाओं के द्वारा अनेक-रूप धारण कर लेता है।

८. "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु" (सदानन्दकृत वेदान्तसार) =

असर्पभूत रज्जु में सर्पारोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप होना अध्यारोप है। सत्, चित्, आनन्द, अनन्त तथा अद्वितीय ब्रह्म वस्तु (सत्) है तथा अज्ञानादि सकल जड़ पदार्थों का समूह अवस्तु (असत्) है।

इन सूत्रों में एक मात्र ब्रह्म या आत्मतत्त्व को ही सत् या सत्य कहा गया है तथा उसकी संख्या भी एक ही बतलायी गयी है, शेष समस्त पुद्गलादि द्रव्यों के अस्तित्व को अस्वीकार कर उनकी प्रतीति को अविद्याजनित या मायाजन्य भ्रम कहा गया है।

निम्नलिखित निरूपणों में ब्रह्म या आत्मा में गुणपर्यायरूप अनेकात्मकता का भी निषेध किया गया है—

१. “नन्वनेकात्मकं ब्रह्म। यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। --- एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति।^{१२६} नैवं स्यात्। ‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्। दाष्टान्तिकेऽपि ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्’ इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्।” (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य / अध्याय २ / पाद १ / अधिकरण ६ / सूत्र १४)।

अनुवाद—“शंकाकार कहता है—ब्रह्म तो अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओं से युक्त होता है, वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्तियों और प्रवृत्तियों से युक्त होता है, इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों सत्य हैं। यथा, वृक्ष की अपेक्षा एकत्व सत्य है, शाखाओं की अपेक्षा नानात्व। समुद्ररूप से एकत्व वास्तविक है, फेनतरंगादिरूप से अनेकत्व। मृत्तिकारूप से एकत्व यथार्थ है और घट-शरावादि-रूप से अनेकत्व। ऐसा होने पर ही मृत्तिका आदि के दृष्टान्त घटित होंगे।

समाधान— ऐसा नहीं है। दृष्टान्त में ‘मिट्टी ही सत्य है’ इस वचन से प्रकृति

१२६. “एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ (छान्दो.६ / १ / ४) इति। एतदुक्तं भवति एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्च-नादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्। यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते। विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनुतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः।” (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य / अध्याय २ / पाद १ / अधिकरण ६ / सूत्र १४)।

(कारण) की ही सत्यता का अवधारण किया गया है। वाचारम्भण शब्द से घट, शराव आदि विकार समूह की असत्यता बतलायी गयी है। अर्थात् घट, शराव आदि नामों का ही अस्तित्व होता है, घट, शराव आदि वस्तुओं का नहीं। वस्तुदृष्टि से केवल मिट्टी की सत्ता होती है। इसी प्रकार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (यह सम्पूर्ण जगत् इस आत्मा से ही व्याप्त है, अतः वही सत्य है) इस दार्ष्टान्तिक में एकमात्र परमकारणभूत ब्रह्म की ही सत्यता का अवधारण किया गया है। अतः एकत्व (अद्वैत) ही सत्य है, नानात्व असत्य।"

इस तरह वेदान्तीय अद्वैतवाद में ब्रह्म में गुणपर्यायों के अस्तित्व को अस्वीकार कर उसकी स्वगत अनेकात्मकता का भी निषेध किया गया है।

वेदान्त में ब्रह्म को कूटस्थनित्य विशेषण दिया गया है, जो उसमें विक्रिया (परिणमन) के निषेध द्वारा पर्यायों के उत्पाद-व्यय का निषेधक है।^{१२७}

इस प्रकार अद्वैतवेदान्तगत ब्रह्म के स्वरूप में गुणपर्यायों का अस्तित्व मान्य न होने से वहाँ गुणपर्यायरूप द्वैत नहीं है, अन्य ब्रह्म (आत्मा) का अस्तित्व स्वीकार्य न होने से सजातीय द्वैत नहीं है तथा पुद्गलादिरूप अचेतन पदार्थों की सत्ता इष्ट न होने से विजातीय द्वैत भी नहीं है। यही बात पञ्चदशी की निम्न कारिकाओं में कही गई है—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।

वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥ २/२०॥

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।

ऐक्यावधारणाद्वैत-प्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्॥ २/२१॥

अनुवाद—“जिस प्रकार वृक्ष का पत्रपुष्पफलादि की अपेक्षा स्वगत भेद होता है, दूसरे वृक्ष से सजातीय भेद होता है और शिला आदि से विजातीय भेद होता है, उसी प्रकार सदब्रह्मरूप वस्तु में यदि कोई इस भेदत्रैविध्य की कल्पना करे, तो श्रुति एकमेवाद्वितीयम् कहकर 'एकम्' से ऐक्य, 'एव' से अवधारण तथा 'अद्वितीय' से द्वैतनिषेध के द्वारा इस भेदत्रैविध्य का निराकरण करती है।"

किन्तु कुन्दकुन्द ने आत्मद्रव्य में गुणपर्यायों का अस्तित्व प्रतिपादित कर गुणपर्याय-रूप द्वैत स्वीकार किया है, अनन्त आत्माओं की सत्ता का वर्णन कर सजातीय द्वैत भी मान्य किया है तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल

१२७. "पुरुषः --- विक्रियाहेत्वाभावाच्च कूटस्थनित्यः।" ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य / अध्याय १ / पाद १ / अधिकरण ४ / सूत्र ४ / पृ.२०।

द्रव्यों की सत्ता बतलाकर विजातीय द्वैत को भी मान्यता प्रदान की है। यह बात तो स्वयं मालवणिया जी ने स्वीकार की है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने छह द्रव्यों, नौ पदार्थों और सात तत्त्वों की श्रद्धा करनेवाले जीव को सम्यग्दृष्टि कहा है। यथा—

छहृष्व णवपयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिहिद्धा।

सहहइ ताण रूवं सो सहिद्धी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥ दं.पा.।

निम्नलिखित गाथा में कुन्दकुन्द ने 'जीव' शब्द के साथ बहुवचन का प्रयोग कर आत्मा के बहुत्व का प्रतिपादन किया है—

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।

जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥ १० ॥ पं.का.।

अधोवर्णित गाथा में कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञ के अनुसार द्रव्य को गुणपर्यायों का आश्रय कहा है—

दव्वं सल्लवखणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपज्जासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ १० ॥ पं.का.।

ये गाथाएँ इस बात की साक्षी हैं कि ब्रह्माद्वैत या विज्ञानाद्वैत के साथ कुन्दकुन्द का दूर का भी नाता नहीं है। वे सभी प्रकार से द्वैतवादी हैं। यद्यपि उन्होंने द्रव्य-गुण-पर्याय या धर्म-धर्मी के प्रदेशगत अभेद की अपेक्षा निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य के अद्वैत^{१२८} अर्थात् अखण्डता या निरवयवता का प्रकाशन किया है, तथापि संज्ञादिभेद की अपेक्षा उनके पारस्परिक अन्यत्व का प्रकाशन कर व्यवहारनय से द्रव्यगत द्वैत का भी निरूपण किया है। इस प्रकार द्वैताद्वैत युग्म अर्थात् अनेकान्त के रूप में भी कुन्दकुन्द ने द्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

तथा ब्रह्माद्वैत में ब्रह्म के अतिरिक्त एवं विज्ञानाद्वैत में ज्ञान के अतिरिक्त द्रव्यान्तर का अस्तित्व अस्वीकार किया गया है। इसलिए उनमें द्रव्यान्तर के साथ ज्ञेयज्ञायक-सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता, मात्र स्व के साथ ही घटित हो सकता है। अतः उक्त अद्वैतवादों में ज्ञेयज्ञायक-सम्बन्ध की अपेक्षा भी ऐकान्तिक अद्वैत मान्य है। किन्तु कुन्दकुन्द ने स्व और पर दोनों के साथ आत्मा का ज्ञेयज्ञायक-सम्बन्ध बतलाया है। यथा—

१२८. अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्

तत्सामान्य-विशेषरूप-विरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।

तत्त्यागे जडता चित्तोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-

दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥ १८३ ॥ समयसार-कलश।

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।

अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥ १६४ ॥ नि.सा.।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥ १६५ ॥ नि.सा.।

अनुवाद—“व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन परप्रकाशक है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन पर प्रकाशक है। निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक है, अतः दर्शन स्वप्रकाशक है। निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है, अत एव दर्शन स्वप्रकाशक है।”

यह बात स्वयं मालवणिया जी ने पूर्व में कुन्दकुन्द के ज्ञानविषयक स्वपर-प्रकाशकत्व-मत की चर्चा करते हुए स्वीकार की है। इस प्रकार कुन्दकुन्द के अनुसार स्व के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने से ज्ञेयज्ञायक-अद्वैत तथा पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होने से ज्ञेयज्ञायक-द्वैत, दोनों फलित होते हैं। अतः कुन्दकुन्द ने ज्ञेयज्ञायक-द्वैताद्वैत-युगम के रूप में भी द्वैतवाद का ही प्ररूपण किया है। निम्नलिखित गाथा में निश्चय और व्यवहारनों के आश्रय से इसी द्वैत का प्रकाशन किया गया है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥ नि.सा.।

अनुवाद—“व्यवहारनय से केवली भगवान् सब को जानते-देखते हैं, किन्तु निश्चयनय से आत्मा को ही जानते-देखते हैं।”

तथा कुन्दकुन्द ने जो द्रव्य-गुण-पर्याय या धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य, ज्ञाता-ज्ञेय आदि के प्रदेशगत अभेद की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य के अद्वैतभाव (अखण्डता) का प्रकाशन किया है, वह उनकी अपनी दार्शनिक देन नहीं है, अपितु उन्होंने तत्त्वों के जिनोपदिष्ट अनेकान्तस्वरूप को ही प्रतिपादित किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

“--- ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तत्वात्। तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादक-परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।” (समयसार / स्याद्वादाधिकार)।

अनुवाद—“ज्ञानमात्र आत्मवस्तु स्वयं अनेकान्त है। तथा जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर-विरुद्ध शक्ति-युगल का प्रकाशित होना अनेकान्त कहलाता है।”

आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है—‘अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वम्’ (युक्त्यनुशासन/ ७) = वस्तु अभेदात्मक और भेदात्मक उभयरूप है। ‘अनेकमेकं च तदेव तत्त्वम्’ (स्वयम्भूस्तोत्र / २२) = जो वस्तु अनेकरूप है, वही एकरूप है।

माननीय मालवणिया जी ने भी स्वीकार किया है कि “आगमों में भी द्रव्य और गुणपर्याय के अभेद का कथन मिलता है।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२१)।

इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय या धर्म-धर्मों का प्रदेशगत अभेद अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का अद्वैतस्वभाव (अखण्डता, निरवयवता) जिनोपदिष्ट वस्तुस्वरूप है। कुन्दकुन्द ने इसी का निश्चयनय के द्वारा प्रकाशन किया है। मालवणिया जी भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

“आगम में जहाँ द्रव्य और पर्याय का भेद और अभेद माना गया है, वहाँ आचार्य (कुन्दकुन्द) स्पष्ट करते हैं कि द्रव्य और पर्याय का भेद व्यवहार के आश्रय से है, जब कि निश्चय से दोनों का अभेद है।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११९-१२०)।

मालवणिया जी यह भी मानते हैं कि निश्चय और व्यवहार नयों का उल्लेख आगमों में है। भगवान् महावीर ने इन दोनों नयों के आश्रय से गौतम के प्रश्नों का समाधान किया था (भगवतीसूत्र / १८.६ / न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.५४)।

इन प्रमाणों से तथा मान्य मालवणिया जी के स्वकीय वचनों से सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जो प्रत्येक द्रव्य के कथंचित् अद्वैतस्वरूप का प्रतिपादन किया है, वह उनकी अपनी देन नहीं है, अपितु भगवान् महावीर के उपदेश का अंग है। तथा उसका प्रतिपादन कर कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद के निकट लाकर खड़ा नहीं किया, अपितु जैनदर्शन के द्वैताद्वैतयुग्मरूप द्वैतवाद का ही प्रकाशन किया है। द्वैत और अद्वैत दो का मेल द्वैत ही तो होता है।

अपने उपर्युक्त वचनों से इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी कि (जैन) आगमों में भी द्रव्य और गुणपर्याय के अभेद का कथन मिलता है, मालवणिया जी ने यह कैसे लिख दिया कि “कुन्दकुन्द के सामने विज्ञानाद्वैत एवं ब्रह्माद्वैत का आदर्श था। उसका अनुकरण कर उन्होंने अपने प्रतिपादनों से जैनदर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया और जैनदर्शन को अद्वैतवाद के निकट रख दिया।” उनका यह कथन बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है। क्योंकि यह स्ववचन विरोधी है।

दिगम्बर-आगमों के समान श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में संग्रहनय की अपेक्षा भी अद्वैतवाद माना गया है। आगम के आधार पर रचित माने गये तत्त्वार्थाधिगमभाष्य

में सत्सामान्य की अपेक्षा समस्त पदार्थों में एकत्व या अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है, यथा “सर्वमेकं सदविशेषात्” (१/३५/पृ.६५)। साथ ही अपेक्षाभेद से द्वित्व, त्रित्व आदि भी प्रतिपादित किये गये हैं, यथा “सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात्, सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् ---।” (१/३५)। इसी संग्रहनात्मक अद्वैत का निरूपण धवला में किया गया है—“तत्र सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतत्वमध्य-वस्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः” (ष.खं./पु.९/४,१,४५/पृ.१७०)।

यदि इस अद्वैतवाद का प्रतिपादन जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद के निकट लाकर रखना माना जाय, तो यह मानना होगा कि यह कार्य सुधर्मा स्वामी आदि सभी प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों ने भी किया है। किन्तु यह माननीय मालवणिया जी को मान्य नहीं हो सकता। क्यों? इसके उत्तर में वे यही कहेंगे कि श्वेताम्बराचार्यों को मान्य अद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद से भिन्न है। श्वेताम्बराचार्यों को मान्य अद्वैतवाद द्वैतसापेक्ष है, जबकि ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद द्वैतनिरपेक्ष है। कुन्दकुन्द को मान्य अद्वैतवाद भी द्वैतसापेक्ष है। अर्थात् कुन्दकुन्द-प्रतिपादित जैन-अद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद एवं विज्ञानाद्वैतवाद के समान ऐकान्तिक नहीं है, अपितु प्रतिपक्षी द्वैतवाद को भी स्वीकार करने के कारण अनैकान्तिक है। इस तरह कुन्दकुन्द-प्रतिपादित अनैकान्तिक जैन-अद्वैतवाद तथा प्रतिपक्षी ऐकान्तिक ब्रह्माद्वैतवाद एवं विज्ञानाद्वैतवाद के बीच उतनी ही दूरी है, जितनी उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के बीच। अतः मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द पर जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद या विज्ञानाद्वैतवाद के निकट लाकर रखने का जो आरोप लगाया है वह असत्य, युक्तिप्रमाणविरुद्ध, पक्षपातपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण है।

२.२. शाश्वत, उच्छेद, शून्य, विज्ञान आदि वस्तुधर्मों की संज्ञाएँ

मालवणिया जी का मत

‘पंचास्तिकाय’ में “अत्र जीवाभावो मुक्तिरिति निरस्तम्” (समयव्याख्या) तथा “अथ जीवाभावो मुक्तिरिति सौगतमतं विशेषेण निराकरोति” (तात्पर्यवृत्ति), इन उत्थानिकाओं के साथ निम्नलिखित गाथा कही गयी है—

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णणमविण्णणं ण वि जुज्जदि असदि सव्भावे॥ ३७॥

अनुवाद

उत्थानिका—“इस गाथा में ‘जीव का अभाव हो जाना मुक्ति है’ इस मत को निरस्त किया गया है। (समयव्याख्या)। ‘अब जीव का अभाव मुक्ति है’ इस

बौद्धमत का निराकरण किया जा रहा हैं।” (तात्पर्यवृत्ति)—

गाथा—“यदि मोक्षावस्था में जीव का अभाव माना जाय, तो जीव द्रव्यरूप से शाश्वत है, यह कथन संगत नहीं होगा और नित्य जीवद्रव्य का प्रतिसमय पर्याय की अपेक्षा उच्छेद (विनाश) होता है, यह कथन भी घटित नहीं होगा, क्योंकि जब मोक्षावस्था में जीव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, तब पर्याय की अपेक्षा उच्छेद किसका होगा? तथा सर्वदा नयी-नयी पर्याय का आविर्भाव भव्यत्व है एवं सदा पूर्व-पूर्व पर्याय का विनाश अभव्यत्व। इन दोनों धर्मों का अस्तित्व भी मोक्ष में जीव का सद्भाव न होने से उपपन्न नहीं होगा। इसी प्रकार जीव द्रव्य में अन्य द्रव्य का अभाव शून्यत्व तथा स्वस्वरूप का सद्भाव अशून्यत्व है। मोक्ष में जीव की सत्ता न रहने पर इन दोनों धर्मों की सत्ता भी घटित नहीं होगी। तथैव सिद्धों में केवलज्ञान का सद्भाव विज्ञान का सद्भाव है और क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव अविज्ञान का सद्भाव। मोक्ष के अनन्तर जीव की सत्ता न रहने पर इन दोनों भावों की भी सत्ता संभव नहीं होगी। इस प्रकार मोक्षावस्था में जीव के सद्भाव के बिना इन आठ धर्मों का सद्भाव उपपन्न नहीं होता, अतः अन्यथा अनुपपद्यमान होने से ये आठ धर्म मोक्षावस्था में जीव का सद्भाव सूचित करते हैं।” १२९

इन आठ धर्मों के अस्तित्व का प्रतिपादन कर आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षावस्था में जीव के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है, जिससे ‘जीव का अभाव मुक्ति है’ इस बौद्धमत का निरसन हो जाता है।

पञ्चास्तिकाय की इस गाथा में प्रयुक्त ‘शाश्वत’, ‘उच्छेद’, ‘शून्य’, ‘विज्ञान’ आदि शब्दों को मालवणिया जी ने शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, शून्यवाद आदि दार्शनिकवादों का वाचक मान लिया है और कहा है कि “तत्कालीन नाना विरोधीवादों का सुन्दर समन्वय कुन्दकुन्द ने परमात्मा के स्वरूप-वर्णन के बहाने कर दिया है। उससे

१२९. क—“द्रव्यं द्रव्यतया शाश्वतमिति, नित्ये द्रव्ये पर्यायाणां प्रतिसमयमुच्छेद इति, द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति, द्रव्यस्य सर्वदा भूतपर्यायैरभाव्यमिति, द्रव्यमन्यद्रव्यैः सह सदा शून्यमिति, द्रव्यं स्वद्रव्येण सदाऽशून्यमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनन्तं ज्ञानं क्वचित्सान्तं ज्ञानमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनन्तं क्वचित्सान्तमज्ञानमिति। एतदन्यथानुपपद्यमानं मुक्तौ जीवस्य सद्भावमावेदयतीति।” समयव्याख्या / पञ्चास्तिकाय / गा.३७।

ख—“--- केवलज्ञानगुणेन विज्ञानं, विनष्टमतिज्ञानादिछद्मस्थज्ञानेन परिज्ञानादविज्ञानमिति। --- इदं तु नित्यत्वादिस्वभावगुणाष्टकमविद्यमानजीवसद्भावे मोक्षे न युज्यते न घटते तदस्ति-त्वादेव ज्ञायते मुक्तौ शुद्धजीवसद्भावोऽस्ति।” तात्पर्यवृत्ति / पञ्चास्तिकाय / गा. ३७।

पता चलता है कि वे केवल पुराने शाश्वत और उच्छेदवाद से ही नहीं, बल्कि नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवाद से भी परिचित थे।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२८)।

निरसन

मालवणिया जी का यह कथन समीचीन नहीं है। इस गाथा में वर्णित 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि परस्परविरोधी वाद नहीं हैं, अपितु जीवद्रव्य के परस्परविरुद्ध धर्मयुगल हैं। अतः यहाँ परस्पर विरोधी वादों के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस गाथा में तो 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि परस्परविरुद्ध धर्मयुगलों के अस्तित्व से मुक्ति में जीव का अस्तित्व सिद्ध किया गया है, क्योंकि इन धर्मयुगलों का अस्तित्व मुक्ति में जीव के अस्तित्व के बिना संभव नहीं है। और मुक्ति में जीव का अस्तित्व सिद्ध कर आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जीव का अभाव मुक्ति है' इस बौद्धमत का जिनागम के अनुसार निरसन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में भी जिनागम के आधार पर जीव को अपेक्षाभेद से कर्ता और अकर्ता दोनों सिद्ध कर 'जीव सर्वथा अकर्ता है' इस सांख्यमत को अस्वीकार किया है। (देखिए, आगे शीर्षक २.६)। इसी प्रकार 'जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है' तथा 'कर्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य' इन दोनों मतों को अपेक्षाभेद से सत्य सिद्ध करते हुए 'कर्ता अन्य ही होता है और भोक्ता अन्य ही' इस एकान्त बौद्धमत का निरसन किया है। देखिये समयसार की ये गाथाएँ—

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४५ ॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ ॥

जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो भिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो भिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

अनुवाद—“जीव कितनी ही पर्यायों से तो विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नहीं होता। इसलिए वही जीव कर्ता होता है या अन्य, इस विषय में एकान्त नहीं है (अर्थात् वही जीव भी कर्ता हो सकता है और अन्य जीव भी)।” (३४५)।

“जीव कितनी ही पर्यायों से तो नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नहीं होता। इसलिए वही जीव भोक्ता होता है या अन्य, इस विषय में एकान्त नहीं है (अर्थात् वही जीव भी भोक्ता हो सकता है और अन्य जीव भी)।” (३४६)।

“और जिसका ऐसा एकान्त सिद्धान्त है कि जो जीव कर्ता होता है, वही जीव भोक्ता नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है, अरहंत के मत का अनुयायी नहीं है।” (३४७)।

“तथा जो एकान्तरूप से ऐसा मानता है कि कर्ता कोई और होता है और भोक्ता कोई और, वह मिथ्यादृष्टि है, आर्हतमत का नहीं है।” (३४८)।

कथन का अभिप्राय यह है कि बौद्धमत एकान्त क्षणिकवादी है। उसके अनुसार सभी शरीरधारियों में रूप (रूप, रस आदि विषय), वेदना (सुख-दुःखानुभूति), विज्ञान (जानने की शक्ति), संज्ञा (मनुष्यादि नाम) और संस्कार (पुण्य-पापादि) ये पाँच स्कन्ध होते हैं, आत्मा नहीं होती। ये ही परलोक में जाते हैं।^{१३०} ये पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं, अर्थात् एक ही क्षण तक उहरते हैं और दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाते हैं।^{१३०} किन्तु जैसे दीपक की पूर्वक्षणवर्ती ज्योति के नष्ट होने पर उत्तरक्षण में वैसी ही नयी ज्योति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पूर्वक्षणवर्ती पंचस्कन्धरूप शरीरधारी के नष्ट होने पर उत्तरक्षण में वैसा ही पंचस्कन्धरूप नया शरीरधारी उत्पन्न हो जाता है।^{१३०} और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक अन्तिम शरीरधारी का निर्वाण नहीं हो जाता। यतः पूर्वक्षणवर्ती पंचस्कन्धरूप शरीरधारी उत्तरक्षण में नष्ट हो जाता है, अतः वह अपने किये हुए पुण्यपाप का फल भोगने के लिए अवसर प्राप्त नहीं करता। इसलिए वह कर्ता ही होता है, भोक्ता नहीं। और चूँकि उत्तरक्षण में उत्पन्न हुए वैसा ही नये शरीरधारी को पूर्वक्षणवर्ती शरीरधारी के सदृश पुण्यपापरूप संस्कारस्कन्ध प्राप्त होता है, अतः वह उनका कर्ता न होते हुए भी भोक्ता होता है। इस तरह बौद्धमतानुसार कर्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य।

इसे अस्वीकार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक जीव द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य होता है। वह भिन्न-भिन्न कालों में देव, मनुष्य, तिर्यच और नारक पर्यायों धारण करता है, किन्तु अपने द्रव्यस्वरूप

१३०.क— “सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्-रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः सर्वशरीरिणामेते पञ्चस्कन्धा विद्यन्ते, न पुनरात्मा। त एव हि परलोकगामिनः।” षड्दर्शनसमुच्चय/तर्करहस्यदीपिका/बौद्धमत/कारिका ११/पृ. ७३।

ख— “ते च पञ्च स्कन्धाः क्षणमात्रावस्थायिन एव।” वही/कारिका ५/पृ. ४२।

ग— “ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि ‘स एवायम्’ इति ज्ञानम्? उच्यते— निरन्तरसदृशापरापरक्षण-निरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायां दीपकलिकान्तरमिव तत्सदृशमपरं क्षणान्तरमुदयते, तेन समानाकार-ज्ञानपरम्परा-परिचय-चिरतर-परिणामान्तिरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्य-वसायः प्रसभं प्रादुर्भवति।” वही/कारिका ७/पृ. ४८-४९।

का परित्याग नहीं करता, अर्थात् उन पर्यायों में वह अविच्छिन्नरूप से विद्यमान रहता है, अतः मनुष्यादिपर्यायों में अपने द्वारा किये गये पुण्यपाप के सुखदुःखरूप फल को वह देवादिपर्यायों में भोगता है। इस तरह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। किन्तु देव-मनुष्यादि पर्यायों स्वरूप की अपेक्षा एक दूसरे से अन्य-अन्य होती हैं, इसलिए पर्यायार्थिकनय से मनुष्यादिरूप जीव पुण्यपाप करता है और देवादिरूप जीव उनके सुख-दुःख रूप फल का भोग करता है। इस अपेक्षा से कर्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य।^{१३१}

इन उदाहरणों से प्रमाणित है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जैनेतरवादों का कहीं भी समन्वय नहीं किया, अपितु निरसन ही किया है। अतः पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथा में विरोधीवादों का समन्वय मानना प्रामाणिक नहीं है, वह मालवणिया जी की स्वकल्पित मान्यता है। इसलिए उनकी यह धारणा भी काल्पनिक है कि आचार्य कुन्दकुन्द नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवाद से भी परिचित थे, अत एव वे उमास्वाति से परवर्ती हैं।

पं० मालवणिया जी ने शब्दसाम्य के कारण उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि जीवधर्म-वाचक शब्दों से शाश्वतवाद, उच्छेदवाद आदि जैनेतर दार्शनिकवादों का उल्लेख मान लिया है। यह उनकी महान् भ्रान्ति है। ये शब्द तो संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य में नित्य, अनित्य आदि के अर्थ में बहुशः प्रयुक्त हुए हैं। 'शाश्वत', 'विज्ञान' शब्दों का प्रयोग तो 'नित्य' और 'ज्ञान' के अर्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं किया है। यथा—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
 सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ५९ ॥ भा.पा. ।
 भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
 लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥ ६० ॥ भा.पा. ।

१३१. उप्पादट्टिदिभंगा विज्जंते पज्जाएसु पज्जाया ।
 दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ २/९ ॥ प्रवचनसार ।
 जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
 किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि ॥ २/२० ॥ प्रवचनसार ।
 मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
 एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ २/२१ ॥ प्रवचनसार ।
 दव्वट्टिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्टिएण पुणो ।
 हवदि य अण्णमण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २/२२ ॥ प्रवचनसार ।

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।

एकट्टमेव सच्चं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥ स.सा.।

इन गाथाओं में आत्मा और सुख के विशेषण के रूप में 'शाश्वत' शब्द का तथा बुद्धि, मति आदि के समानार्थी के रूप में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे यहाँ 'शाश्वत' शब्द से 'शाश्वतवाद' और 'विज्ञान' शब्द से विज्ञानाद्वैतवाद का उल्लेख नहीं माना जा सकता, वैसे ही पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथा में भी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गाथा में विरोधी वादों के समन्वय का न तो कोई प्रसंग है, न कोई प्रयोजन तथा आचार्य कुन्दकुन्द जैसे वीतराग एवं निर्भीक आचार्य के द्वारा किसी बहाने से उक्त समन्वय किये जाने का तो कोई औचित्य ही बुद्धिगम्य नहीं होता। इन समस्त प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध होता है कि मालवणिया जी की उक्त मान्यता सर्वथा निराधार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय की 'सस्सदमध विच्छेद' इत्यादि गाथा में न तो विरोधी वादों का समन्वय किया है, न वे शून्यवाद एवं विज्ञानाद्वैतवाद से परिचित थे। अतः यह सिद्ध नहीं होता है कि वे तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति से उत्तरवर्ती थे।

२.३. विष्णुकर्तृत्व और आत्मकर्तृत्व दोनों अपसिद्धान्त

मालवणिया जी का मत

कुन्दकुन्द ने समयसार में ये तीन गाथाएँ कही हैं—

लोगस्स कुणइ विण्हू सुरणारथतिरियमाणुसे सत्ते।

समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥ ३२१ ॥

लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।

लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥ ३२२ ॥

एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हंपि।

णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ ॥

इनका आशय बतलाते हुए मालवणिया जी कहते हैं—“आचार्य ने विष्णु के जगत्कर्तृत्व के मन्तव्य का भी समन्वय जैनदृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है कि व्यवहारनय के आश्रय से जैनसम्मत जीवकर्तृत्व में और लोकसम्मत विष्णु के जगत्कर्तृत्व में विशेष अन्तर नहीं है। इन दोनों मन्तव्यों को यदि पारमार्थिक माना जाय, तब दोष यह होगा कि दोनों के मत से मोक्ष की कल्पना असंगत हो जायेगी।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२९)।

निरसन

मालवणिया जी का यह आशय कुन्दकुन्द के कथन के सर्वथा विपरीत है। उनके कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि जैसे लौकिकजन विष्णु को जगत्कर्ता मानते हैं, वैसे ही कुन्दकुन्द के कथनानुसार जैन भी व्यवहारनय से आत्मा को जगत्कर्ता मानते हैं। यह मन्तव्य नितान्त मिथ्या है। उपर्युक्त गाथाओं में जो कहा गया है, वह इस प्रकार है—

“लौकिक जन मानते हैं कि देवों, नारकों, तिर्यचों और मनुष्यों की सृष्टि विष्णु करते हैं, इसी प्रकार यदि श्रमण भी मानें कि षट्कायिक जीवों की सृष्टि आत्मा करता है, तो लौकिकों और श्रमणों का मत परकर्तृत्व की अपेक्षा समान ठहरेगा, उसमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देगा। एक विष्णु को जगत्कर्ता मानता है, दूसरा आत्मा को। दोनों की जगत्कर्तृत्व-मान्यता मिथ्या है। इसलिए इस मिथ्या मान्यता के कारण लौकिकों और श्रमणों, दोनों को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।”

इस प्रकार उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्द ने तो यह कहा है कि विष्णु और आत्मा के द्वारा जगत् की सृष्टि किये जाने की मान्यता जिनागम-विरुद्ध है। इस तरह जब कुन्दकुन्द ने दोनों मान्यताओं को निरस्त ही कर दिया है, तब समन्वय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी दोनों सिद्धान्तों को अपसिद्धान्त^{१३२} कहकर स्पष्ट कर दिया है कि वे जिनागममान्य नहीं हैं। इसलिए विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता का कुन्दकुन्द के द्वारा जैनदृष्टि से समन्वय किया गया है, यह कथन कुन्दकुन्द के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। जहाँ कुन्दकुन्द कहते हैं कि विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता और आत्मा के जगत्कर्तृत्व की मान्यता दोनों समानरूप से मिथ्या हैं, वहाँ मालवणिया जी कहते हैं कि कुन्दकुन्द ने इन दोनों मान्यताओं को व्यवहारनय की अपेक्षा समानरूप से सत्य बतलाया है। कितना विपरीत प्रस्तुतीकरण है! मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द को विष्णु और आत्मा दोनों के सृष्टिकर्तृत्व को स्वीकार करनेवाला घोषित कर दिया है। इसे पढ़कर तो जैनदर्शन और कुन्दकुन्द के सम्प्रदाय की मामूली सी जानकारी रखनेवाले को भी हँसी आये बिना न रहेगी। द्रष्टव्य है कि उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्द ने निश्चय-व्यवहार शब्दों का प्रयोग किया ही नहीं है। मालवणिया जी ने अपने ही मन से ‘व्यवहारनय’ शब्द जोड़कर कुन्दकुन्द पर स्वाभीष्ट कथन आरोपित कर दिया है।

१३२. “ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते। लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।” आत्मख्याति / समयसार / गा.३२१-३२३।

२.४. शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग जिनोपदिष्ट

मालवणिया जी का मत

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपादित जो भी सिद्धान्त श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं होता, उसे मालवणिया जी ने सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से गृहीत मान लिया है। इस तथ्य को तो उन्होंने संभव ही नहीं माना कि वे सिद्धान्त कुन्दकुन्द को उनके परम्परागुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु से प्राप्त हुए थे। इसीलिए वे लिखते हैं—

“सांख्यकारिका में कहा है कि धर्म (पुण्य) से ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म (पाप) से अधोगमन होता है, किन्तु ज्ञान से मुक्ति मिलती है (कारिका ४४)। इसी बात को आचार्य (कुन्दकुन्द) ने जैन परिभाषा का प्रयोग करके प्रवचनसार (गा.१ / ९,११-१३,२/८९) में कहा है कि आत्मा के तीन अध्यवसाय होते हैं : शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभाध्यवसाय का फल स्वर्ग है, अशुभ का नरकादि और शुद्ध का मुक्ति।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३०)।

निरसन

यहाँ भी वही पूर्व प्रश्न खड़ा होता है कि मालवणिया जी को इस बात का ज्ञान किस प्रमाण से हुआ है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यकारिका में वर्णित धर्म, अधर्म और ज्ञान को आत्मा के शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोगों के नाम से^{१३३} जैनदर्शन में समाविष्ट किया है और उनका उपदेश उन्हें अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त नहीं हुआ था? तथा जब कुन्दकुन्द स्वयं कह रहे हैं कि मैं श्रुतकेवली के उपदेश के अनुसार कथन कर रहा हूँ, तो मालवणिया जी ने इसे किस आधार पर अमान्य किया है? इन प्रश्नों का समाधान करनेवाले प्रमाण मालवणिया जी के उपर्युक्त कथन में नहीं हैं। अतः सिद्ध है कि उनका वक्तव्य अप्रामाणिक है।

फलस्वरूप यही प्रामाणिक ठहरता है कि कुन्दकुन्द को उपयोगत्रय का उपदेश गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था।

२.५. कर्तृत्व-अकर्तृत्व का निरूपण जिनागमाश्रित

मालवणिया जी का मत

मालवणिया जी का कथन है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत के समन्वय की दृष्टि

१३३. कुन्दकुन्द ने शुभ और अशुभ उपयोगों को ही अध्यवसान कहा है, शुद्धोपयोग को नहीं। अध्यवसान को उन्होंने बन्ध का कारण बतलाया है और शुद्धोपयोग को मोक्ष का। (समयसार / गा. २६३-२६४)।

से आत्मा को अकर्ता कहा है और 'जो परिणमनशील हो, वह कर्ता है' इस सांख्यसम्मत व्याप्ति के बल से आत्मा को कर्ता भी कहा है, क्योंकि वह परिणमनशील है। (न्या.वा.वृ. / प्रस्ता. / पृ.१२९)।

निरसन

किन्तु कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर आत्मा को अकर्ता और कर्ता कहा है, जिनागम के आधार पर नहीं, यह निष्कर्ष मान्य विद्वान् ने किन प्रमाणों और युक्तियों के आश्रय से निकाला है, इसका उल्लेख नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उनका यह मत कपोलकल्पित है।

दूसरी बात यह है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में कहा है कि मैंने सम्पूर्ण तत्त्वनिरूपण श्रुतकेवली के उपदेश के आधार पर किया है, इस कथन को असत्य मानने का कोई कारण नहीं है।

तीसरी बात यह है कि द्रव्य का उत्पाद-व्यय अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना परिणमन कहलाता है, जैसे दूध का दही-अवस्था को अथवा जीव का अक्रोध से क्रोध दशा को प्राप्त होना। इसी को दूसरे शब्दों में इस तरह कहा जाता है कि दूध, दही का या जीव, क्रोध का उत्पादक, जन्मदाता या कर्ता है, क्योंकि दूध और जीव के क्रमशः दही और क्रोध-रूप परिणमन करने से ही दही एवं क्रोधरूप परिणाम या कार्य की उत्पत्ति होती है। इस तरह परिणमन करना और कर्ता होना एक ही बात है, अलग-अलग नहीं। जीवादि सभी द्रव्यों का इस प्रकार परिणामी होना तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्यों का स्वभावरूप से ही परिणमित होना और जीव तथा पुद्गल का स्वभाव-विभाव दोनों रूप से परिणमित होना, किन्तु परद्रव्यरूप से परिणमित न होना एवं परिणमन करनेवाले की ही 'कर्ता' संज्ञा होना, ये सभी द्रव्यस्वभाव जिनोपदिष्ट ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनके बिना जिनेन्द्रदेव का मोक्षोपदेश उपपन्न नहीं होता। यथा—

१. यदि जीव रागादि-विभाव रूप से परिणमित न हो, अर्थात् रागादिभाव का कर्ता न हो, तो उसके सदा शुद्ध रहने का प्रसंग आयेगा, तब वह मुक्त ही ठहरेगा। इस स्थिति में जिनेन्द्र भगवान् का जीवों के लिए मोक्ष-पौरुष करने का उपदेश निरर्थक सिद्ध होगा।

२. यदि रागादिभावों के कर्ता पुद्गलकर्म हों और कर्मबन्धन में जीव बँधे, तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म सदा रागादिभाव उत्पन्न करते रहेंगे, परिणामस्वरूप जीव सदा कर्मबन्धन में बँधता रहेगा। इस स्थिति में भी भगवान् का मोक्षोपदेश निरर्थक ठहरेगा।

३. यदि सांख्यमत को 'प्रकृति' के समान पुद्गलकर्म रागादिभाव करके जीव को कर्मबन्धन में बाँधें और मुक्त भी करें, तब रागादिभावों के समान सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप परिणमन भी पुद्गलकर्मों के ही द्वारा किये जाने का प्रसंग आयेगा। इससे जड़ पुद्गलकर्म आत्मा के समान चेतन सिद्ध होंगे। फलस्वरूप सम्यग्दर्शन के लिए पुद्गलकर्मों का अजीवतत्त्व के रूप में श्रद्धान करने का जिनोपदेश मिथ्या साबित होगा। अथवा पुद्गलकर्म जीव के बन्ध-मोक्ष-नियामक बन जाने से ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित हो जायेंगे। तब बन्धमोक्ष के विषय में जीव के परतंत्र सिद्ध होने से उसके लिए मोक्ष का उपदेश उपपन्न नहीं होगा।

अतः जीवादि सभी द्रव्यों का परिणामी होना, उनका यथायोग्य स्वभाव और विभावरूप से ही परिणमित होना, परद्रव्यरूप से परिणमित न होना एवं परिणमन करनेवाले की ही 'कर्ता' संज्ञा होना, इन द्रव्यस्वभावों के कारण ही जीवों के लिए जिनेन्द्रदेव के मोक्षोपदेश का औचित्य सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि ये द्रव्यस्वभाव जिनेन्द्रदेव द्वारा ही उपदिष्ट हैं। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इस तत्त्वार्थसूत्र में उत्पादव्यय शब्दों के द्वारा उपर्युक्त द्रव्यस्वभावों का निर्देश कर दिया गया है। इस सूत्र का आगमानुसारी होना तो श्वेताम्बरों को भी मान्य है। अतः यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त द्रव्यस्वभाव जिनागमोक्त हैं। तथा जब जीवादि द्रव्यों का यथायोग्य स्वभाव और विभावरूप से ही परिणमन संभव है, परद्रव्यरूप से नहीं, तब वे स्वभाव और विभाव के ही कर्ता सिद्ध होने से परद्रव्य के अकर्ता स्वतः सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जीव के कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों धर्म जिनागमोक्त ही हैं। इसलिए मालवणिया जी का यह कथन युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर जीव को कर्ता और अकर्ता कहा है। ऐसा कहकर तो उन्होंने श्वेताम्बर आगमों एवं तत्त्वार्थसूत्र को भी सांख्यदर्शन के आधार पर निर्मित सिद्ध कर दिया है, क्योंकि उनमें भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् सूत्र के अनुसार जीवादि-द्रव्यों को परिणमनशील, अत एव कर्ता-अकर्ता माना गया है। किन्तु चूँकि जीव को परिणमनशील या कर्ता-अकर्ता माने बिना उसका संसारी और मुक्त होना घटित नहीं होता, अतः उसके परिणमनशील या कर्ता-अकर्ता होने का उपदेश जिनेन्द्रदेव ने ही दिया है, यह तत्त्वार्थाधिगम के भाष्यकार ने भी स्वीकार किया है। यथा—

“उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम्। यदिह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण व्ययत आत्मनो देवत्वादिना पर्यायेणोत्पादः एकान्तध्रौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयाऽवस्थाभेदानुपपत्तेः। एवं च संसारपवर्गभेदाभावः।” (५ / २९)।

अनुवाद—“सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। आत्मा का मनुष्यत्वादि-पर्याय से विनाश होता है और देवत्वादि पर्याय से उत्पाद होता है। यदि वह एकान्तरूप

से ध्रुव हो, तो उसके एकस्वभावात्मक ही होने का प्रसंग आयेगा, जिससे अवस्थाभेद घटित नहीं होगा। ऐसा होने पर उसकी संसार और मोक्ष अवस्थाएँ भी उपपन्न नहीं होंगी।”

इस प्रकार श्वेताम्बर-शास्त्रों में भी यह उल्लेख है कि जीव के परिणमनशील या कर्त्ता-अकर्त्ता होने का उपदेश भगवान् महावीर ने ही दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भगवान् महावीर के ही उपदेश का अनुसरण कर जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का प्रतिपादन किया है। अतः श्वेताम्बरग्रन्थों से भी सिद्ध होता है कि मालवणिया जी का उपर्युक्त कथन प्रमाणविरुद्ध, अत एव स्वकल्पित है।

२.६. सांख्य और जैन मतों के पारस्परिक वैपरीत्य का प्रदर्शन

मालवणिया जी का मत

मालवणिया जी कहते हैं—“आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से यह जाना जाता है कि वे सांख्यदर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। जब वे आत्मा के अकर्तृत्व आदि का समर्थन करते हैं, तब वह प्रभाव स्पष्ट दिखता है। इतना ही नहीं, किन्तु सांख्यों की ही परिभाषा का प्रयोग करके उन्होंने संसारवर्णन भी किया है। सांख्यों के अनुसार प्रकृति और पुरुष का बन्ध ही संसार है। जैनागमों में प्रकृतिबन्ध नामक बन्ध का एक प्रकार माना गया है। अतएव आचार्य ने अन्य शब्दों की अपेक्षा प्रकृति शब्द को संसारवर्णन के प्रसंग में प्रयुक्त करके सांख्य और जैनदर्शन की समानता की ओर संकेत किया है।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३०)।

निरसन

सर्वप्रथम तो यह कथन मिथ्या है कि कुन्दकुन्द सांख्यदर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। उन्होंने तो उन जैनश्रमणों को मिथ्यादृष्टि कहा है जो सांख्यमत की प्रकृति के समान पुद्गलकर्मों को ही जीव के रागादिभावों का कर्त्ता और जीव को उनका अकर्त्ता मानते थे। कुन्दकुन्द उनकी मान्यताओं का विस्तार से वर्णन करने के बाद समयसार में लिखते हैं—

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।

तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे॥ ३४०॥

अनुवाद—“जो श्रमण इस प्रकार सांख्यमत का प्ररूपण करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही सब करती है और आत्मा सभी अकारक हैं।”

टीकाकार अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

“एवमीदृशं साङ्ख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणा-
भासाः प्ररूपयन्ति तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेना-
कर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्।” (आ.ख्या. / स.सा. / गा.
३३२-३४४)।

अनुवाद—“इस प्रकार कुछ श्रमणाभास स्वबुद्धि के दोष से आगम के अभिप्राय को समझे बिना ही सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। उनके इस प्रकार प्रकृति (पुद्गलकर्मों) को एकान्त से कर्ता मान लेने पर सभी जीव सर्वथा अकर्ता सिद्ध हो जाते हैं। तब ‘जीव कर्ता है’ इस आगमवचन की अवमानना का दोष दूर करना दुष्कर है।”

इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द सांख्यदर्शन से अत्यन्त असहमत हैं। वे उसके इस मत को अमान्य करते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता है। वे आत्मा के कथंचित् कर्ता होने का प्रतिपादन करते हैं, तथा प्रकृति (पुद्गलकर्मों) के सर्वथा कर्ता होने का भी निषेध करते हैं। इससे मालवणिया जी की यह स्थापना मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत के पुरुष-अकर्तृत्व का समर्थन किया है। तथा जब ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को जैनदर्शन में कर्मप्रकृति या ‘प्रकृति’ शब्द से भी अभिहित किया गया है, तब कुन्दकुन्द द्वारा कर्म के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाना सांख्यदर्शन का अनुकरण कैसे कहला सकता है? तथा सांख्य के प्रकृति और पुरुष एवं जैनदर्शन के पुद्गलकर्म और आत्मा के स्वरूपों में तो जमीन-आसमान का अन्तर है, तब ‘कर्म’ शब्द के स्थान में ‘प्रकृति’ शब्द के प्रयोग से कुन्दकुन्द ने दोनों की किस समानता की ओर संकेत किया है, इसका खुलासा माननीय मालवणिया जी ने नहीं किया। वस्तुतः कुन्दकुन्द ने सांख्य की प्रकृति के समान पुद्गलकर्मों को रागादिभावों का कर्ता तथा आत्मा को सांख्य के पुरुष के समान रागादिभावों का अकर्ता माननेवाले श्रमणों को जिनागमविरुद्ध मान्यता का अनुयायी कहकर सांख्यदर्शन और जैनदर्शन के पारस्परिक वैपरीत्य का संकेत किया है। इससे सिद्ध है कि मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द के मत को विपरीतरूप में प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द ने, न तो ब्रह्माद्वैत या विज्ञानाद्वैत का अनुकरण कर जैनदर्शन को अद्वैतवादी रूप दिया है, न ही सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर जीव के अकर्तृत्ववाद, परिणमनरूप-कर्तृत्ववाद एवं शुभाशुभ-शुद्धोपयोगवाद आदि नये वादों का जैनदर्शन में समावेश किया है। मालवणिया जी ने अपने कल्पना-प्रवण मस्तिष्क से तथ्यों को अँधेरे में ढकेल कर तथा मिथ्या एवं विपरीत व्याख्याएँ कर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उक्त नवीन वादों या मतों का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास

किया है। इसका प्रयोजन है तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में दार्शनिक विकास सिद्ध करना, जिससे कुन्दकुन्द को उमास्वाति से परवर्ती साबित किया जा सके। जिन उपर्युक्त वादों को मालवणिया जी ने जैनतर दर्शनों से अनुकृत बतलाया है, वे वस्तुतः जिनोपदिष्ट ही हैं, यह ऊपर सप्रमाण-सयुक्ति सिद्ध किया जा चुका है। अतः कुन्दकुन्द के साहित्य में दार्शनिक विकास सिद्ध करने के लिए मालवणिया जी द्वारा प्रकल्पित प्रथम हेतु हेत्वाभास सिद्ध होकर विफल हो जाता है।

३

विषयवैविध्य एवं व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार

अर्वाचीनता के लक्षण नहीं

मालवणिया जी-प्ररूपित विषयप्रतिपादनगत विशेषताएँ

अब द्वितीय हेतु विचारणीय है। द्वितीय हेतु के रूप में पं० दलसुख जी मालवणिया जी ने तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य में प्रतिपाद्य विषय की विविधता और व्याख्या-दृष्टान्तादि-कृत विस्तार का उल्लेख किया है। इसके प्रमाण हेतु उन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्र और कुन्दकुन्दसाहित्य के विषयप्रतिपादन में निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी हैं। इन विशेषताओं का वर्णन माननीय मालवणिया जी ने 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की प्रस्तावना में पृष्ठ ११९ से १४० तक किया है—

३.१. प्रमेयनिरूपणगत विशेषताएँ

१. उमास्वाति ने सात तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन का विषय कहा है, किन्तु कुन्दकुन्द ने छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व इन सब का श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दृष्टि निरूपित किया है।

२. उमास्वाति ने जीवादि सात तत्त्वों को अर्थ कहा है। कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और पर्याय को भी 'अर्थ' संज्ञा दी है। (प्र.सा./१/८७)। इसे मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द द्वारा किया गया नया प्रयोग बतलाया है।

३. कुन्दकुन्द ने द्रव्य को 'अर्थ' संज्ञा देकर तथा गुणपर्यायों को द्रव्य में ही समाविष्ट कर परमसंग्रहावलम्बी अभेदवाद का समर्थन किया है (प्र.सा./२/१,९), उमास्वाति ने ऐसा नहीं किया।

४. कुन्दकुन्द ने आगमोक्त द्रव्य-पर्याय, देह-आत्मा आदि के भेदाभेद को निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा स्पष्ट (युक्तियुक्त सिद्ध) किया है। (उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र

में निश्चय-व्यवहार के आश्रय से उक्त अनेकान्त का स्पष्टीकरण अनुपलब्ध है)।

५. द्रव्य और गुण-पर्याय का कुण्ड-बदरवत् आधाराधेयसम्बन्ध है या दण्डदण्डवत् स्वस्वामिसम्बन्ध अथवा वैशेषिकसम्मत समवायसम्बन्ध, उमास्वाति ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। कुन्दकुन्द ने पृथक्त्व और अन्यत्व में भेद बतलाते हुए इसका युक्ति एवं दृष्टान्त द्वारा सम्यक् स्पष्टीकरण किया है। (प्र.सा./२/१४,१६)।

६. उमास्वाति ने केवल इतना कहा है कि द्रव्य गुणपर्याय-वियुक्त नहीं होता। कुन्दकुन्द ने इसे पल्लवित करके कहा है कि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य। इसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना गुण। अर्थात् भाव (वस्तु) द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है (पं.का./गा.१२-१३)।

७. उमास्वाति ने सत् को उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है, किन्तु उत्पादादि का परस्पर और द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट नहीं किया। वह कुन्दकुन्द ने किया है। (प्र.सा.२/८)।

८. कुन्दकुन्द ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का समन्वय किया है (पं.का./१५,१९,६०), जो तत्त्वार्थसूत्र में अनुपलब्ध है।

९. उमास्वाति ने यह समाधान तो किया है कि धर्मादि द्रव्य अमूर्त हैं, अत एव सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है। किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि इन सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है, वे सभी परस्पर प्रविष्ट हैं, तो उन सभी की एकता क्यों न मानी जाय? इस प्रश्न का समाधान उमास्वाति ने नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है कि ऐसा होते हुए भी वे स्वभाव का परित्याग नहीं करते, इसलिए उनमें भेद बना रहता है। (पं.का./गा.७)।

१०. उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में स्याद्वाद का जो रूप है ^{१३४} वह आगमगत स्याद्वाद के विकास का सूचक नहीं है। भगवतीसूत्र की तरह उमास्वाति ने भी भंगों में एकवचन आदि वचनभेदों को प्राधान्य दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने भंगों में वचनभेद को महत्त्व नहीं दिया है।

११. जैन आगमों और उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में द्रव्यों के साधर्म्य-वैधर्म्य के प्रकरण में रूपि और अरूपि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शब्दों के स्थान में मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग किया है। (पं.का./गा.९९)।

१३४. तत्त्वार्थसूत्र में नहीं, अपितु उसके भाष्य (५/३१) में स्याद्वाद का रूप प्रदर्शित किया गया है। दोनों के कर्ता भिन्न-भिन्न हैं।

इतना ही नहीं, गुणों को भी मूर्त और अमूर्त विभागों में विभक्त किया है। (प्र.सा./ २/३८-३९)।

१२. आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार नयों से पुद्गलद्रव्य की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व है। उनका कहना है कि निश्चयनय की अपेक्षा से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य कहा जाना चाहिए और व्यवहारनय की अपेक्षा से स्कन्ध को पुद्गल कहना चाहिए। (नि.सा./गा.२९)। मालवणिया जी का अभिप्राय यह है कि उमास्वाति ने ऐसी व्याख्या नहीं की है, अतः कुन्दकुन्द की व्याख्या विकास का लक्षण है।

१३. आचार्य कुन्दकुन्द ने स्कन्ध के छह भेद बतलाये हैं, जो उमास्वाति के तत्त्वार्थ में तथा श्वेताम्बरीय आगमों में उस रूप में देखे नहीं जाते। वे छह भेद ये हैं—१. अतिस्थूल—पृथ्वी, पर्वतादि, २. स्थूल—घृत, जल, तैलादि, ३. स्थूलसूक्ष्म—छाया, आतप आदि, ४. सूक्ष्म-स्थूल—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत स्कन्ध, ५. सूक्ष्म—कार्मणवर्गणा-प्रायोग्य स्कन्ध तथा ६. अतिसूक्ष्म—जो कार्मणवर्गणा के भी योग्य न हों, वे स्कन्ध। (पं.का./गा.७६ तथा नि.सा./गा.२१-२४)।

१४. उमास्वाति ने परमाणु का जो लक्षण बतलाया है, कुन्दकुन्द ने उसे और भी स्पष्ट किया है। (पं.का./गा.७७-८१, नि.सा./गा.२५-२७)।

१५. श्वेताम्बर-आगमों में जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन विस्तार से है। कहीं-कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लेकर विरोध का समन्वय भी किया गया है। उमास्वाति ने भी जीव के वर्णन में सकर्मक (कर्मसहित) और अकर्मक (कर्मरहित) जीव का वर्णन मात्र कर दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के आगमोक्त वर्णन को समझने की चाबी बता दी है, जिसका उपयोग करके आगम के प्रत्येक वर्णन को हम समझ सकते हैं कि आत्मा के विषय में आगम में जो अमुक बात कही गई है, वह किस दृष्टि से है। जैन आगमों में निश्चय और व्यवहार ये दो दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल (लौकिक) और सूक्ष्म (तत्त्वग्राही) मानी जाती रही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मनिरूपण इन्हीं दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है। आत्मा के पारमार्थिक शुद्धरूप का वर्णन निश्चयनय के आश्रय से और अशुद्ध या लौकिक (स्थूल) आत्मा का वर्णन व्यवहारनय से किया है। (न्या.वा.वृ./ प्रस्ता./पृ.१२७-१२८)।

१६. कुन्दकुन्द ने आत्मा के तीन प्रकार बतलाये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। (मो.पा./गा.४, नि.सा./गा.१४९-१५१)। तत्त्वार्थसूत्र में इनका उल्लेख नहीं मिलता।

१७. परमात्म-वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी समन्वयशक्ति का परिचय दिया है। अपने काल में 'स्वयम्भू' (ब्रह्मा) की प्रतिष्ठा को देखकर 'स्वयम्भू' शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए जैनसम्मत अर्थ में कर दिया है। (प्र.सा.१/१६)। इतना ही नहीं भावपाहुड (गा.१४९)में कर्मविमुक्त, शुद्ध आत्मा के लिए शिव, परमेष्ठिन्, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध और परमात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि तत्त्वतः देखा जाय तो परमात्मा का रूप एक ही है, नाम भले ही नाना हों। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२८)।

१८. कुन्दकुन्द ने अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध 'सर्वगत' (सर्वव्यापक) शब्द का प्रयोग सर्वज्ञ के अर्थ में किया है। (प्र.सा.१/२३,२६)। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ऐसा नहीं किया।

१९. कुन्दकुन्द ने परिणमनशील होने के कारण आत्मादि द्रव्यों को कर्ता कहा है और उनके परिणाम को कर्म। (तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा कथन नहीं है)।

२०. कुन्दकुन्द ने आत्मा के शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों का वर्णन कर उन्हें क्रमशः स्वर्ग, नरक और मोक्ष का हेतु बतलाया है। (प्र.सा./१/९, ११-१३)। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ने इन उपयोगों का नाम भी नहीं लिया।

३.२. प्रमाणनिरूपणगत विशेषताएँ

यतः जिनागम में ज्ञान को प्रमाण कहा गया है, इसलिए प्रमाणचर्चा शीर्षक के नीचे माननीय मालवणिया जी लिखते हैं—“इतना तो किसी से छिपा नहीं रहता कि वाचक उमास्वाति की ज्ञानचर्चा से आ० कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्चा में दार्शनिक विकास की मात्रा अधिक है। यह बात आगे की चर्चा से स्पष्ट हो सकेगी।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३४)। इस चर्चा में वे कहते हैं—

१. कुन्दकुन्द ने आत्मा के साथ ज्ञानादिगुणों का तथा ज्ञानगुण के साथ अन्य गुणों का अभेद प्रतिपादित कर एवं केवली भगवान् को निश्चयनय से केवल आत्मा को ही जाननेवाला कहकर जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद और विज्ञानाद्वैतवाद के निकट रख दिया है। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ. १३४-१३५)। तत्त्वार्थसूत्र में इसकी झलक नहीं मिलती।

२. “दार्शनिकों में यह एक विवाद का विषय रहा है कि ज्ञान को स्वप्रकाशक माना जाय या परप्रकाशक अथवा स्वपरप्रकाशक? वाचक (उमास्वाति) ने इस चर्चा को ज्ञान के विवेचन में छोड़ा ही नहीं है। सम्भवतः कुन्दकुन्द ही प्रथम जैन आचार्य हैं, जिन्होंने (नि.सा./गा.१६०-१७० में) ज्ञान को स्वपर-प्रकाशक मानकर इस चर्चा का सूत्रपात जैनदर्शन में किया है। आ० कुन्दकुन्द के बाद के सभी आचार्यों ने आचार्य के इस मन्तव्य को एकस्वर से माना है।” (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३५)।

३. उमास्वाति ने अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है,^{१३५} किन्तु कुन्दकुन्द ने संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है—‘संसयविमोह-विब्भमविवज्जियं होदि सण्णार्णं’ (नि.सा./ गा.५१)। बौद्धादि दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में हेय और उपादेय शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी हेयोपादेय तत्त्वों के अधिगम को सम्यग्ज्ञान कहा है—‘अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं’ (नि.सा./ गा.५२)।

४. उमास्वाति ने पूर्वपरम्परा के अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों को क्षायोपशमिक और केवल को क्षायिक ज्ञान कहा है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने क्षायोपशमिक ज्ञानों के लिए विभावज्ञान और क्षायिकज्ञान के लिए स्वभावज्ञान शब्दों का प्रयोग किया है। (नि.सा./ गा.१०-१२,१५)।

५. कुन्दकुन्द ने उमास्वाति की तरह प्राचीन आगमों की व्यवस्था के अनुसार ही ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व की व्यवस्था की है। किन्तु प्रवचनसार में प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व को युक्ति से भी सिद्ध किया गया है। (प्र.सा./ १/५७-५८)।

६. ज्ञप्ति का तात्पर्य अर्थात् ज्ञान से अर्थ को जानने का मतलब क्या है? क्या ज्ञान अर्थरूप हो जाता है, यानी ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है? या जैसा अर्थ का आकार होता है, वैसा ही आकार ज्ञान का हो जाता है? या ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट हो जाता है या अर्थ ज्ञान में? अथवा ज्ञान अर्थ में उत्पन्न होता है? इन प्रश्नों का उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने दूध के बर्तन में पड़े हुए इन्द्रनीलमणि के दृष्टान्त द्वारा दिया है। (प्र.सा./ १/ ३०-३१)।

७. कुन्दकुन्द और उमास्वाति^{१३६} दोनों ने केवली के ज्ञान और दर्शन का यौगपद्य माना है। विशेषता यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने यौगपद्य के समर्थन में दृष्टान्त दिया है कि जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं, वैसे ही केवली के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। (नि.सा./ गा.१६०)।

८. आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी अभेददृष्टि के अनुरूप निश्चयदृष्टि से सर्वज्ञ की नई व्याख्या की है और भेददृष्टि का अवलंबन कर व्यवहारनय से सर्वज्ञ की वही व्याख्या की है जो (श्वेताम्बरीय) आगमों में तथा उमास्वाति के ‘तत्त्वार्थ’ में है।^{१३७} अर्थात् निश्चयनय से केवली को केवल आत्मा का ज्ञाता कहा है और व्यवहारनय

१३५. यह अर्थ वस्तुतः तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के भाष्यकार ने किया है, जो तत्त्वार्थसूत्रकार से भिन्न हैं। (देखिए ‘तत्त्वार्थसूत्र’ नामक षोडश अध्याय)।

१३६. “केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।” तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/३१।

१३७. “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।” तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/३०।

से समस्त द्रव्यों का। (नि.सा./ गा.१५९)। तथा केवली के सर्वज्ञ (समस्त द्रव्यों का ज्ञाता) होने के यथार्थ को युक्ति से सिद्ध किया है। (प्र.सा./१/४७-५१)। अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों का ज्ञान होने के पक्ष में भी युक्तियाँ दी हैं। (प्र.सा./१/ ३७-३९)।

९. तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञानादि के लब्धि और उपयोग ये दो भेद ही मिलते हैं। कुन्दकुन्द ने उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन भेद किये हैं। (पं.का./ गा.४३.१)।

१०. पाँच ज्ञानों में से नयों का समावेश किस ज्ञान में होता है, उमास्वाति ने इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुत के भेदों की चर्चा करते हुए नयों को भी श्रुत का एक भेद बतलाया है। उन्होंने श्रुत के भेद इस प्रकार किये हैं—लब्धि, भावना, उपयोग और नय (पं.का./ गा.४३.२)।

३.३. नयनिरूपणगत विशेषताएँ

कुन्दकुन्द की नय-निरूपण-विषयक विशेषताओं को परिगणित करते हुए मालवणिया जी लिखते हैं—

१. कुन्दकुन्द ने नयों के नैगमादि भेदों का वर्णन नहीं किया, किन्तु निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा मोक्षमार्ग का और तत्त्वों का पृथक्करण किया है। (श्वेताम्बर) आगमों में निश्चय और व्यवहार की चर्चा है। कुन्दकुन्द ने इन नयों की व्याख्या (श्वेताम्बरीय) आगमों के ही अनुकूल की है, किन्तु इनके अनुसार विचारणीय विषयों की अधिकता कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में स्पष्ट है। उन विषयों में आत्मादि कुछ विषय तो ऐसे हैं, जो आगम में भी हैं, किन्तु आगमिक वर्णन में यह नहीं बताया गया कि यह वचन अमुक नय का है। कुन्दकुन्द के विवेचन के प्रकाश में यदि आगमों के उन वाक्यों का बोध किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम के वे वाक्य किस नय के आश्रय से प्रयुक्त हुए हैं। (न्या.वा.वृ./ प्रस्ता./ पृ.१३९)।

२. कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यह कथन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के इस कथन से समानता रखता है—

नान्यथा भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥

मालवणिया जी के कथन का अभिप्राय यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की उपर्युक्त गाथा की रचना माध्यमिककारिका की 'नान्यया भाषया प्लेच्छः' इस कारिका के आधार पर की है।

निरसन

क

विषयवैविध्यादि अर्वाचीनता के लक्षण नहीं : इसके हेतु

उपर्युक्त विषय-प्रतिपादनगत विशेषताओं में हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकार की दार्शनिक मान्यताओं में कोई भेद नहीं हैं। दोनों की मान्यताएँ जिनागम-सम्मत हैं। अन्तर केवल यह है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय की विविधता विशेषीकरण, व्याख्या और शंकासमाधान आदि का समावेश है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र में सूत्रात्मक संक्षिप्तता के लिए सूत्रकार ने षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों से प्राथमिक-शिष्योपयोगी मुख्य-मुख्य विषय ही चुनकर लिये हैं तथा विशेषीकरण, व्याख्या आदि को अधिकांशतः छोड़ दिया है। मालवणिया जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थ की रचना का प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषा में सूत्रशैली के ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति करना था।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११८)। मेरी दृष्टि से न केवल सूत्रशैली के ग्रन्थ की, अपितु ३५७ सूत्रवाले लघुकाय ग्रन्थ की आवश्यकता पूर्ण करना सूत्रकार का प्रयोजन था। किन्तु कुन्दकुन्द का प्रयोजन सूत्रशैली के लघुकाय ग्रन्थ की रचना नहीं था, बल्कि पृथक्-पृथक् ग्रन्थ में पृथक्-पृथक् विषय का सूक्ष्म और सयुक्तिक विवेचन करना था। इसलिए जहाँ तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'उपयोगो लक्षणम्' कहकर दो शब्दों में जीव के लक्षण (द्रव्यस्वरूप) का निरूपण समाप्त कर दिया, वहाँ कुन्दकुन्द समयसार के जीवाजीवाधिकार की ६८ गाथाओं में जीव के लक्षण (द्रव्यस्वरूप) का विवेचन करते हुए थके नहीं, तथा जहाँ उमास्वामी ने आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के लक्षण एक-एक सूत्र में ही निबद्ध कर दिये हैं, वहाँ कुन्दकुन्द ने इनके निरूपण में एक-एक स्वतन्त्र अधिकार प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त जहाँ उमास्वामी ने जैनदर्शन का निरूपण केवल तत्त्वार्थसूत्र के ३५७ सूत्रों में ही सम्पन्न किया है, वहाँ कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अट्टपाहुड, बारसअणुवेवखा आदि अनेक ग्रन्थों में विस्तारित किया है। इतने से ही समझा जा सकता है कि कुन्दकुन्द का विषयप्रतिपादन उमास्वामी के विषयप्रतिपादन की अपेक्षा कितना विविध और व्यापक है। इस संक्षेप और विस्तार का कारण केवल प्रयोजनभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं। प्राचीन ग्रन्थकर्ता का प्रयोजन यदि विविध विषयों या विषय के विविध पक्षों

का सयुक्तिक, सप्रमाण, सोदाहरण एवं सदृष्टान्त प्रतिपादन रहा हो, तो उसका विषय-विवेचन युक्तियों, प्रमाणों, उदाहरणों, दृष्टान्तों और व्याख्याओं से भरा हुआ, अत एव विस्तृत हो सकता है। इसके विपरीत कोई अर्वाचीन ग्रन्थकार किसी प्राचीन ग्रन्थ या ग्रन्थों के सार से लोगों को अवगत कराने के लिए सूत्रशैली में संक्षिप्त ग्रन्थ निबद्ध कर सकता है। दिगम्बरपरम्परा में ईसा की दसवीं शताब्दी में एक बृहत्प्रभाचन्द्र नाम के आचार्य हुए हैं। उन्होंने उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर उससे भी छोटा तत्त्वार्थसूत्र रचा है, जिसमें मात्र १०७ सूत्र हैं, जब कि उमास्वामिकृत प्राचीन तत्त्वार्थसूत्र में ३५७ सूत्र हैं। आठवीं शताब्दी ई० (७८० ई०) के वीरसेन स्वामी ने ६८३९ (२७ गाथा-सूत्रों सहित) सूत्रयुक्त पाँच खण्डोंवाले और ३०,००० श्लोक प्रमाण छठे खण्डवाले विशालकाय षट्खण्डागम पर ७२ हजार श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी है, जब कि दसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुए आचार्य नेमिचन्द्र ने षट्खण्डागम और उसकी धवलाटीका का सार गोम्मटसार में मात्र १७०६ गाथाओं में निबद्ध किया है।^{१३८} ये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि ग्रन्थ के संक्षेप और विस्तार का कारण प्रयोजनभेद और कर्त्तागत रुचिभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं। यह बात स्वयं मान्य मालवणिया जी एवं उनके सहयोगी सम्पादकों ने प्रज्ञापनासूत्र की प्रस्तावना में स्वीकार की है। षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र के रचनाकाल की पूर्वापरता का विचार करते हुए वे लिखते हैं—

" The style of treatment i.e., its simplicity or otherwise, can not be determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapanana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapanana sutra."¹³⁹

अनुवाद—“इन ग्रन्थों (प्रज्ञापनासूत्र एवं षट्खण्डागम) की प्रतिपादनशैली की सरलता या कठिनता इनके रचनाकाल की पूर्वापरता का निर्णायक हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि शैली का स्वरूप ग्रन्थकर्त्ता के प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य विषय की सरलता या

१३८. जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।

तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥ गोम्मटसार-कर्मकण्ड।

139. पण्णवणासुत्त/अँग्रेजी प्रस्तावना/पृष्ठ २३०/सम्पादक-मुनि पुण्यविजय जी, पं० दलसुख मालवणिया, पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक/प्रकाशक, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई सन् १९६९ एवं १९७१, (षट्खण्डागम पु.१/सम्पादकीय/पृष्ठ ५ एवं १० से उद्धृत)।

सूक्ष्मता पर निर्भर होता है। इसलिए यदि हम प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के कालक्रम का निर्णय केवल इस आधार पर करें कि षट्खण्डागम के विषय का प्रतिपादन प्रज्ञापनासूत्र की अपेक्षा अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से किया गया है, तो यह भारी भूल होगी।”

इस युक्ति-प्रमाणसिद्ध तथ्य को ध्यान में रखते हुए विषयवैविध्य या विषयाधिकता के कारण कुन्दकुन्दसाहित्य को तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरवर्ती मान लेना भारी भूल है। मान्य मालवणिया जी के विचारानुगामियों को इस भूल का परिहार करना चाहिए। इस भूल से श्वेताम्बर-आगम भी तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होते हैं, क्योंकि—

१. सभी श्वेताम्बर अंगों एवं उपांगों में विषय-प्रतिपादन तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया गया है। जैसे “जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम्” (त.सू.१/४) इस सूत्र को उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी ने ‘तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय’ में ‘स्थानांग’ के “नव सम्भावपयत्था पणणत्ते, तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो” (१/६६५) इस सूत्र पर आधारित बतलाया है और टिप्पणी में लिखा है—

“संक्षेप में सात तत्त्वरूप से वर्णन किये जाने में यह तत्त्व कहलाते हैं और विशेषरूप से वर्णन करने में यह पदार्थ कहलाते हैं। उस समय आस्रव और बन्ध से पाप और पुण्य पृथक् कर लिये जाते हैं। संक्षेप-विवक्षा में पाप और पुण्य का आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव कर दिया गया है। स्थानाङ्ग में विस्तृत कथन होने से नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है। किन्तु सूत्रों में संग्रहनय के आश्रित होकर ही संक्षेप से कथन किया गया है। अतः यहाँ सात तत्त्वों का वर्णन है।” (पृ.६)।

इस कथन से यह बात पुष्ट होती है कि श्वेताम्बरागमों में तत्त्वों का विशेष या विस्तृत कथन है और तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य या संक्षिप्त कथन।

‘तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय’ में तत्त्वार्थ के सूत्रों का जिन श्वेताम्बरागमों के वाक्यों से साम्य दर्शाया गया है, वे सूत्ररूप न होकर व्याख्यारूप हैं। जैसे द्विविधानि (त.सू.२/१६) सूत्र का साम्य प्रज्ञापना के निम्नलिखित वाक्यों से प्रदर्शित किया गया है—

“कईविहा णं भंते! इंदिया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
दक्खिंदिया य भाविदिया य।” (पद १५ / उद्दे. १)।

अनुवाद—“भगवन्! इन्द्रियाँ कितने प्रकार की बतलायी गयी हैं? गौतम! इन्द्रियाँ दो प्रकार की बतलायी गयी हैं, यथा-द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ।”

ये दो वाक्य द्विविधानि के समान सूत्ररूप नहीं हैं, अपितु इनमें प्रश्नोत्तर के द्वारा द्विविधानि के अर्थ की व्याख्या की गयी है, अतः व्याख्यारूप हैं। इस तथ्य से शंकाग्रस्त होकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी ने अपने उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है—

“कुछ लोग यह शंका भी कर सकते हैं कि ‘संभव है कि श्वेताम्बर-आगमों में तत्त्वार्थसूत्र के इन सूत्रों की ही व्याख्या की गई हो,’ सो इस विषय में यह बात स्मरण रखने की है कि जैन इतिहास के अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आगमग्रन्थों का अस्तित्व उमास्वाति जी महाराज से भी पहले था। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र और जैन-आगमों का अध्ययन करने से यह स्वयं ही प्रकट हो जावेगा कि कौन किसका अनुकरण है।” (पृ. 'ज')

इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में किया गया तत्त्वनिरूपण सूत्रात्मक या सामान्यरूप न होकर व्याख्यात्मक है। अतः व्याख्यात्मक या विशेषकथन को अर्वाचीनता का लक्षण मानने पर श्वेताम्बर-आगम तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होंगे।

२. तत्त्वार्थसूत्र में निश्चय-व्यवहार नयों का उल्लेख नहीं है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में इन नयों के द्वारा विषय-प्रतिपादन किया गया है।^{१४०} इस विषयाधिकता को विषय की नवीनता कहा जायेगा।

३. तत्त्वार्थसूत्र में सप्तभंगी का वर्णन नहीं है, व्याख्याप्रज्ञप्ति में विस्तार से किया गया है। इसे भी विषय की नवीनता मानना होगा।

४. तत्त्वार्थसूत्र में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध की हेतुभूत भावनाओं की संख्या सोलह ही बतलाई गई है। ज्ञाताधर्मकथांग में बीस का कथन है। यह विकास का लक्षण माना जायेगा।

१४०. “फाणियगुले णं भंते! कतिवण्णे कति गंधे कति रसे कति फासे पन्नत्ते? गोयमा! एत्थ दो नया भवन्ति, तं जहा—नेच्छयियनए य वावहारियनए य। वावहारियनयस्स गोडुं फाणियगुले नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे दुग्ंधे पंचरसे अट्टफासे पन्नत्ते।” (व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र/ शतक १८ / उद्देशक ६ / पृष्ठ ७०४)।

प्रश्न— भगवन्! फाणित (गीला) गुड़ कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्शवाला कहा गया है?

उत्तर— गौतम! इस विषय में दो नय हैं, यथा—नैश्चयिकनय और व्यावहारिकनय। व्यावहारिकनय की अपेक्षा से फाणित गुड़ मधुर-रसवाला कहा गया है और नैश्चयिकनय से गुड़ पाँचवर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शवाला कहा गया है।

५. तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह का लक्षण 'मूर्च्छा परिग्रहः' इस छोटे से सूत्र में ही सीमित कर दिया गया है, जबकि दशवैकालिक सूत्र में उसका कई गाथाओं में वर्णन है, जिनमें निम्नलिखित दो गाथाएँ प्रमुख हैं—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
 तं पि संजमलज्जट्टा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥
 न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
 मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥ ६/२० ॥

इनमें दिग्म्बरों द्वारा उठाई गई शंका का श्वेताम्बरमत के अनुसार समाधान भी किया गया है। यह विवेचनात्मक एवं शंकासमाधनात्मक विस्तार अर्वाचीनता की परिभाषा में आ जायेगा, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में इसका अभाव है।

६. मालवणिया जी ने लिखा है कि "जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन आगमों में विस्तार से है। कहीं-कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लेकर विरोध का समन्वय भी किया गया है। वाचक (उमास्वाति) ने भी जीव के वर्णन में सकर्मक (कर्मबद्ध) और अकर्मक (कर्ममुक्त) जीव का वर्णन मात्र कर दिया है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ. १२७)। 'वर्णनमात्र कर दिया है' इस शब्दावली से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा आगमों में वर्णित विषय विस्तृत है। यह विषयविस्तार मालवणिया जी की ही मान्यतानुसार विकास की श्रेणी में परिगणित किया जायेगा और तब आगम तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरवर्ती सिद्ध होंगे।

७. मालवणिया जी का एक वक्तव्य यह है कि "आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों में भेदज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। वे भी कहते हैं कि आत्मा मार्गणास्थान, गुणस्थान, नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव नहीं है, वह बाल, वृद्ध और तरुण नहीं है, वह राग, द्वेष, मोह नहीं है, क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं है, वह कर्म-नोकर्म नहीं है, उसमें वर्णादि नहीं हैं, इत्यादि भेदाभ्यास करना चाहिए। शुद्धात्मा का यह भेदाभ्यास (श्वेताम्बरीय) जैनागमों में भी मौजूद है ही। उसे ही पल्लवित करके आचार्य ने शुद्धात्मस्वरूप का वर्णन किया है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३३)।

किन्तु यह भेदाभ्यास तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है, इसलिए मालवणिया जी की परिभाषा के अनुसार श्वेताम्बर-आगमों का यह विषय तत्त्वार्थसूत्र के विषय की अपेक्षा नवीन माना जायेगा, जिससे आगम तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती सिद्ध होंगे।

८. आत्मा,^{१४१} श्रमण, अद्वासमय (काल), निर्वाण,^{१४२} सर्वज्ञ आदि अनेक संज्ञा-शब्द श्वेताम्बर आगमों में हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हैं। मालवणिया जी की नवीनता या विकास की परिभाषा के अनुसार आगमों में इन शब्दों की उपलब्धि को भी विकास मानना होगा और ऐसा मानने पर तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा आगमों के अर्वाचीन होने का प्रसंग आयेगा।

इस प्रकार विषय-वैविध्य एवं स्पष्टीकरण, व्याख्या, शंकासमाधान आदि को ग्रन्थ की अर्वाचीनता का लक्षण माना जाय, तो श्वेताम्बर-आगम भी तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन सिद्ध होंगे। किन्तु वे तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन नहीं हैं, इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त विशेषताएँ ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लक्षण नहीं हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में भी प्रयोजनवश विषयसंक्षेप हो सकता है और उसके लिए विषय की विविधता एवं स्पष्टीकरण, व्याख्या आदि का परिहार किया जा सकता है। प्राथमिक शिष्यों के लिए परिमित और स्थूल विषयवाले ग्रन्थ ही उपयोगी होते हैं तथा प्रबुद्ध शिष्यों के लिए विस्तृत एवं सूक्ष्मविषय-वाले ग्रन्थ। दोनों प्रकार के शिष्य सदा विद्यमान रहते हैं, अतः दोनों प्रकार के ग्रन्थों की रचना सदा से होती आयी है और सदा होती रहेगी।

ख

विकासवादीमान्य-लक्षणानुसार तत्त्वार्थसूत्र में विकास भी है, विस्तार भी

यद्यपि विषयवैविध्य, विशेषीकरण, विभेदीकरण तथा व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार रचनाशैली के विकास एवं ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लक्षण नहीं हैं, तथापि तत्त्वार्थसूत्र में व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार को छोड़कर ऐसा विषयवैविध्य या विषयविस्तार तथा विशेषीकरण-विभेदीकरण आदि विद्यमान हैं, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः जो विद्वान् इसे रचनागत विकास, अत एव ग्रन्थ की अर्वाचीनता का लक्षण मानते हैं, उनकी मान्यतानुसार भी तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में विद्यमान उपर्युक्त विशेषताओं के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. कुन्दकुन्द ने आस्रव के चार ही प्रत्यय बतलाये हैं : मिथ्यात्व, अविरमण (अविरति), कषाय और योग। (स.सा./ गा.१०९)। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने कषाय में

१४१. क — “अप्पणा अप्पणो कम्मक्खयं करित्ते” (आत्मनाऽऽत्मनः कर्मक्षयं कर्तुमिति)।

ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र/अध्ययन ५।

ख — “एगप्पा अजिए सत्तू” (अपना अविजित आत्मा ही एकमात्र शत्रु है)।

उत्तराध्ययनसूत्र/२३/३८।

१४२. “निव्वाणं ति अबाहं ति।” उत्तराध्ययनसूत्र २३/८३।

अन्तर्भूत प्रमाद को पृथक् दर्शाकर पाँच प्रत्यय प्रतिपादित किये हैं। (त.सू./८/१)। यह विशेषीकरण विकासवादियों की मान्यतानुसार प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण है।

२. कुन्दकुन्द ने छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पाँच अस्तिकायों और सात तत्त्वों का श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दृष्टि कहा है।^{१४३} श्वेताम्बरीय 'स्थानांग' में भी नौ पदार्थों का ही कथन है।^{१४४} किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य-पाप को आस्रव तत्त्व में गर्भित कर केवल सात तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। यह सामान्यीकरण भी विकासवादियों के मतानुसार प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण है।

३. षट्खण्डागम^{१४५} और कुन्दकुन्दसाहित्य^{१४६} दोनों में ज्ञान के पाँच भेदों में से प्रथम ज्ञान को 'आभिनिबोधिकज्ञान' के नाम से तथा अज्ञान के तीन भेदों में से प्रथम अज्ञान को मत्यज्ञान या कुमतिज्ञान के नाम से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बरीय स्थानांगसूत्र में भी ऐसा ही है।^{१४७} कुन्दकुन्द ने आभिनिबोधिकज्ञान को मतिज्ञान भी कहा है। (नि.सा./गा.१२)। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में 'आभिनिबोधिकज्ञान' शब्द का प्रयोग न कर 'मतिज्ञान' शब्द का प्रयोग किया गया है।^{१४८} यह चुनाव भी विकासवादियों के मत से प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण सिद्ध होता है।

४. षट्खण्डागम में 'सण्णा सदी मदी चिन्ता चेदि' सूत्र में संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता को एकार्थक बतलाया गया है। (ष.खं./पु.१३/५,५,४१/पृ.२४४)। कुन्दकुन्दसाहित्य में ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त चार पर्यायवाचियों में 'अभिनिबोध' को जोड़कर पाँच को एकार्थक प्रतिपादित किया है, यथा—'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' (१/१२)। यह भी विकासवादियों

१४३. छद्द्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिद्वा।

सदहइ ताण रूवं सो सद्विद्धी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥ दंसणपाहुड।

१४४. "नव सम्भावपयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।" स्थानांगसूत्र ९/६६५ (तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय/पृ.६)।

१४५. "णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी, सुद-अण्णाणी, विभंगणाणी, आभिणिबोहियणाणी, सुदणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी, केवलणाणी चेदि।" (ष.खं/पु.१/१,१,११५)।

१४६. आभिणिसुदोधिमणकेवलानि णाणाणि पंचभेयाणि।

कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥ ४१ ॥ पंचास्तिकाय।

१४७. "पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे।" स्थानांगसूत्र ५/३/४६३ (तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय/पृ.९)।

१४८. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।" त.सू./१/९।

की मान्यतानुसार प्रतिपादनशैली के ही विकास का नमूना है और पर्यायवाचियों के उल्लेख के रूप में व्याख्यागत विस्तार का निदर्शन भी है।

आगे वर्ण्य-विषय के विस्तार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में निम्नलिखित विषयों का विशेष वर्णन है, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में उपलब्ध नहीं हैं—सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज भेद, निर्देशस्वामित्वादि एवं सत्संख्याक्षेत्रादि अनुयोगद्वार, ज्ञान की प्रमाण संज्ञा और प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्षभेद, मतिज्ञान के मति, स्मृति आदि नामान्तर, मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त, मतिज्ञान की अवग्रहादि अवस्थाएँ, अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ, श्रुतज्ञान की मतिपूर्वकता और उसके दो, अनेक एवं बारह भेद, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेद, स्वामी एवं विषय, केवलज्ञान का विषय, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में अन्तर तथा नैगमादिनय। इस दृष्टि से कुन्दकुन्द साहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में वर्ण्यविषय का विस्तार है।

तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में जीव के औपशमिकादि पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेदों का भी वर्णन किया गया है, जिनका कुन्दकुन्दसाहित्य में अभाव है। पंचास्तिकाय में पाँच भावों के केवल नामों का ही उल्लेख है।^{१४९} उक्त अध्याय में इन्द्रियों के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये दो भेद, विग्रहगति में होनेवाले कार्मण काययोग, गतिप्रकार, अनाहारक रहने का समय, मुक्तजीव की गति का स्वरूप, जन्म के सम्मूर्च्छनादि भेद और उनके स्वामी, जीवों की योनियों के प्रकार, शरीर के औदारिक आदि पाँच भेद और उनकी विशेषताएँ, जीवों की वेद-व्यवस्था और अनपवर्त्यायु के स्वामी, इन सब का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ इन विषयों के वर्णन से शून्य हैं।

तृतीय अध्याय में सात पृथिवियों, उनमें स्थित नरकों की संख्या, नारकियों की दशा, नारकियों की आयु, जम्बूद्वीप के क्षेत्रों, वर्षधरपर्वतों, उनपर स्थित सरोवरों, सरोवरों में स्थित कमलों, कमलों में निवास करनेवाली देवियों, चौदह नदियों और उनकी सहायक नदियों, वर्षधरपर्वतों के विस्तार, भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कालपरिवर्तन, कर्मभूमियों और भोगभूमियों की संख्या, उनमें रहनेवाले मुनियों और तिर्यचों की आयु इत्यादि का निरूपण है, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में अनुपलब्ध है।

१४९. उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।

जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा ॥ ५६ ॥ पञ्चास्तिकाय।

चतुर्थ अध्याय के ४२ सूत्रों में देवों के चार निकायों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जब कि कुन्दकुन्दकृत पंचास्तिकाय की ११८वीं गाथा में 'देवा चउण्णिकाया' (देवों के चार निकाय हैं), केवल इतनी सूचना दी गयी है।

समयसार (गा.१०९) में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को बन्धसामान्य का हेतु तथा पञ्चास्तिकाय (गा.१३५-१४०) में प्रशस्तराग, अनुकम्पासंश्रित परिणाम तथा अकालुष्य को पुण्यास्रव का एवं प्रमादबहुलचर्या, कालुष्य, विषयलोलता, परपरिताप और परापवाद को पापास्रव का कारण बतलाया गया है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ अध्याय में प्रत्येक कर्म के विशिष्ट आस्रवहेतुओं का भी वर्णन किया गया है, जो अठारह सूत्रों में व्याप्त है। कुन्दकुन्दसाहित्य में यह उपलब्ध नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में द्रव्यकर्माँ की ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों का तथा उनमें से प्रत्येक की उत्तर प्रकृतियों का खुलासा किया गया है और प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति भी बतलायी गयी है। कुन्दकुन्दसाहित्य में इसके कहीं भी दर्शन नहीं होते।

नौवें अध्याय में बाईस परीषहों का वर्णन कर यह दर्शाया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान में से किस गुणस्थान का जीव किस ध्यान का स्वामी होता है। असंख्येय-गुणश्रेणि-निर्जरा के पात्रों का भी वर्णन है। पुलाक, बकुश आदि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का भी निर्देश मिलता है। कुन्दकुन्दसाहित्य में इन सबका अभाव है।

इस प्रकार यदि विकास और विस्तार को अर्वाचीनता का लक्षण माना भी जाय, तो कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में ये दोनों धर्म उपलब्ध होते हैं, अतः इस हेतु से भी तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्दसाहित्य से परवर्ती सिद्ध होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध हो जाता है कि पं० दलसुख जी मालवणिया ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जिस दार्शनिक विकास की कल्पना कर उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार से परवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह कल्पना सर्वथा कपोलकल्पना है। तथा वर्ण्यविषय का विस्तार भी किसी ग्रन्थ के अर्वाचीन होने का अव्यभिचरित हेतु नहीं है। तथापि तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा प्रतिपादन शैली का विकास एवं वर्ण्यविषय का विस्तार भी उपलब्ध होता है। अतः यदि इन हेतुओं की कसौटी पर कसा जाय, तो भी कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप पूर्व प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला यह तथ्य अक्षुण्ण रहता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

समस्त दार्शनिक तत्त्वों का अधिगम गुरुपरम्परा से

वस्तुतः मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने यह धारणा बना ली है कि “तीर्थंकरों ने सवस्त्र तीर्थ का उपदेश दिया था, इसलिए श्वेताम्बरमत ही प्राचीन है, दिगम्बरमत तो विक्रम की छठी शताब्दी में कुन्दकुन्द ने चलाया था और श्वेताम्बर आगमों के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की थी।” किन्तु, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ऐसे अनेक जैन-दार्शनिक-तत्त्व मिलते हैं, जो श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। उनके बारे में श्वेताम्बर मुनियों और विद्वानों ने इस कल्पना को जन्म दिया है कि उनमें से कुछ तो कुन्दकुन्द ने स्वयं कल्पित किये हैं और अनेक का जैनैतर दर्शनों से अनुकरण किया है।

यह कल्पना कितनी निराधार है, यह ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों और युक्तियों से दृष्टिगोचर हो जाता है। कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो तत्त्वनिरूपण किया है, वह अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश पर आधारित है, अतः जो दार्शनिक तत्त्व श्वेताम्बर-आगमों में नहीं मिलते, किन्तु कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलते हैं, वे कुन्दकुन्द को अपनी गुरुपरम्परा से ही प्राप्त हुए थे। जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में संघभेद हो जाने से श्वेताम्बरपरम्परा उन दार्शनिक तत्त्वों के उपदेश से वंचित रह गई,^{१५०} इसी कारण उनके आगमों में वे दार्शनिक तत्त्व उपलब्ध नहीं होते। दिगम्बरजैन-परम्परा के प्रवर्तक कुन्दकुन्द नहीं थे, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से वह सिन्धुसभ्यता से भी पूर्ववर्ती है, इसका सप्रमाण प्रदर्शन पूर्व में किया जा चुका है।

१५०. श्वेताम्बरार्या का भी ऐसा कथन है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने आचार्य स्थूलभद्र को केवल दस पूर्वों का ही अर्थज्ञान दिया था, शेष चार पूर्वों का केवल शब्दज्ञान ही कराया था। (देखिये, षष्ठ अध्याय/ प्रकरण १/ शीर्षक ११)।



पञ्चम प्रकरण

डॉ० सागरमल जी के गुणस्थानविकासवाद एवं सप्तभंगीविकासवाद

१

गुणस्थानविकासवाद

डॉ० सागरमल जी ने कुन्दकुन्द को उमास्वाति का उत्तरवर्ती और पाँचवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने के लिए दो नये वाद कल्पित किये हैं : गुणस्थान-विकासवाद और सप्तभंगी-विकासवाद। उन्होंने इन मिथ्याधारणाओं को जन्म देने की कोशिश की है कि गुणस्थानसिद्धान्त और नयप्रमाण-सप्तभंगी भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं, अपितु आचार्य उमास्वाति के बाद के आचार्यों द्वारा विकसित किये गये हैं। वे लिखते हैं—

“वस्तुतः कुन्दकुन्द और उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों का विकासक्रम देखना पड़ेगा। यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान और सप्तभंगी का स्पष्ट निर्देश है। गुणस्थान का यह सिद्धान्त समवायांग के १४ जीवसमासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिगम्बर-टीकाओं में इन सिद्धान्तों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं। पूज्यपाद देवनन्दी यद्यपि सप्तभंगी-सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते, परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बरपरम्परा में आगमरूप में मान्य षट्खण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित है। उमास्वाति के तत्त्वार्थ में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से यह सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधाररूप गुणस्थान के सिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे? चाहे विस्ताररूप में चर्चा भले न करते, परन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते।” (जै. ध. या. स. / पृ. २४८-२५०)।

वे एक अन्य ग्रन्थ में लिखते हैं—“हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने चौदह

गुणस्थानों का स्पष्टरूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था, तो उमास्वाति ने अपने मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञटीका 'तत्त्वार्थभाष्य' में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्मनिर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती, तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है, उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थानसिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं।^{१५१}

वे आगे कहते हैं—“ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें 'जीवस्थान' कहता है, वहाँ प्रस्तुत 'जीवसमास' (ग्रन्थ) एवं षट्खण्डागम में उन्हें 'जीवसमास' कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम, ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती हैं और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करनेवाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं।^{१५२}

अपने कथन का उपसंहार करते हुए डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—“इससे यह फलित होता है कि जैनपरम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।^{१५२}— इस प्रकार यदि गुणस्थान-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मूलाचार, भगवती-आराधना, सर्वार्थसिद्धिटीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी

१५१. जीवसमास/भूमिका/पृ. IV-V. पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

१५२. वही/पृ. V।

ग्रन्थ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध के या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत 'जीवसमास' और 'षट्खण्डागम' उनसे कुछ पूर्ववर्ती हैं।^{१५३}

२

गुणस्थानविकासवाद का निरसन

तत्त्वार्थसूत्र में सम्पूर्ण गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रकाशन

गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की यह मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्ण अभाव बतलाना सत्य का महान् अपलाप है। सूत्रकार ने किसी स्वतन्त्र सूत्र में चौदह गुणस्थानों का नामोल्लेख नहीं किया है, किन्तु भिन्न-भिन्न सूत्रों में भिन्न-भिन्न गुणस्थानों का नामोल्लेख करते हुए, उनमें होने वाले परीषहों, ध्यान-प्रकारों, कर्मबन्ध और गुणश्रेणिनिर्जरा का आगमसम्मत विवेचन किया है। इस प्रकार सभी चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित विषयविशेष का विवेचन तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध है, जिससे सम्पूर्ण गुणस्थानसिद्धान्त प्रकाशित होता है। उदाहरण प्रस्तुत हैं—

२.१. गुणश्रेणिनिर्जरास्थान गुणस्थान ही हैं

तत्त्वार्थ के निम्नलिखित सूत्र में गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का वर्णन है—

“सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजकदर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।” (त.सू./९/४५)।

अनुवाद—“सम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्वोन्मुख अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि),^{१५४} श्रावक (देशव्रती), विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, इन दस स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।”^{१५५}

इनमें सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह और जिन ये स्पष्टतः गुणस्थानों के नाम हैं। 'विरत' शब्द प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों गुणस्थानों का ज्ञापक है। अनन्तवियोजक (अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करनेवाले) एवं दर्शनमोहक्षपक (दर्शनमोह का क्षय करनेवाले) चतुर्थ से सप्तम गुणस्थानवाले जीव होते हैं। अतः वे इन गुणस्थानों के विशेषण हैं। 'उपशमक' उपशमकश्रेणी^{१५६} पर

१५३. वही/पृ. VI।

१५४. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु. १२ / ४, २, ७ / गा. ७-८ / हिन्दी अनुवाद / पृ. ७८।

१५५. “त एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।” सर्वार्थसिद्धि / ९ / ४५।

१५६. क—“इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः—उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति।”

तत्त्वार्थराजवार्तिक / ९ / १ / १८ / पृ. ५९०।

आरूढ़ अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय, इन आठवें, नौवें एवं दसवें (तीन) गुणस्थानों की सामान्य संज्ञा है। इसी प्रकार 'क्षपक' क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ इन्हीं तीन गुणस्थानों का सामूहिक नाम है। 'जिन' शब्द सयोगिजिन और अयोगिजिन, इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों का सूचक है।^{१५६} इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र में आदि के तीन (मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थानों को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों का वर्णन है। गुणश्रेणिनिर्जरा का प्रकरण होने से आदि के तीन गुणस्थानों के निर्देश का यहाँ प्रयोजन नहीं था, क्योंकि उनमें अविपाक निर्जरा नहीं होती।

उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थानों की गुणस्थानात्मकता निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जाती है—

गुणस्थानसमूह

०१. मिथ्यादृष्टि
०२. सासादनसम्यग्दृष्टि
०३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि
०४. असंयतसम्यग्दृष्टि ----- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक
०५. संयतासंयत (श्रावक) ----- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक
०६. प्रमत्तसंयत (प्रमत्तविरत) ----- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक
०७. अप्रमत्तसंयत (अप्रमत्तविरत)----- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक
०८. अपूर्वकरण ----- उपशमक / क्षपक^{१५६}
०९. अनिवृत्तिबादरसाम्पराय ----- उपशमक / क्षपक^{१५६}
१०. सूक्ष्मसाम्पराय ----- उपशमक / क्षपक^{१५६}
११. उपशान्तमोह
१२. क्षीणमोह
१३. सयोगिजिन
१४. अयोगिजिन

ख—“ ---अपूर्वकरणोपशमक-क्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक-सूक्ष्मसाम्परायो-
पशमक-क्षपकोपशान्त-क्षीणकषाय-सयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि।”
आत्मख्याति / समयसार / गाथा ५०-५५।

इस चित्र से स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तवियोजक और दर्शनमोहक्षपक स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं हैं, अपितु चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानों के ही विशिष्टरूप हैं। इसी प्रकार उपशमक और क्षपक भी पृथक् गुणस्थान नहीं हैं, बल्कि आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों की ही विशिष्ट अवस्थाएँ हैं।

२.१.१. अनन्तवियोजक का अर्थ—सूत्र में अनन्तवियोजक का उल्लेख हुआ है। अनन्तवियोजक का अर्थ है अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करनेवाला। विसंयोजना का अर्थ है अनन्तानुबन्धी के कर्मस्कन्धों का अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के रूप में परिणमित होना।^{१५७} विसंयोजना और क्षपणा में लक्षणभेद बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं—

“कम्मंतरसरूवेण संकमिय अवट्टाणं विसंयोजना, णोकम्मसरूवेण परिणामो खवणा त्ति अत्थि दोण्हं पि लक्खणभेदो। --- अणंताणुबंधीणं व मिच्छत्तादीणं विसंजोयणपयडिभावो आइरिएहि किण्ण इच्छिज्जदे? ण, विसंजोयणभावं गंतूण पुणो गिय-मेण खवणभावमुवणमंति त्ति तत्थ तदणुब्भुवगमादो। ण च अणंताणुबंधीसु विसंजोइदासु अंतोमुहुत्तकालभंतेरे तासिमकम्म-भावगमणणियमो अत्थि जेण तासिं विसंजोयणाए खवण-सण्णा होज्ज। तदो अणंताणुबंधीणं व सेसविसंजोइदपयडीणं ण पुणरुप्पती अत्थि त्ति सिद्धं।” (ज.ध./क.पा./भा.५/पृ.२०७-२०८)।

अनुवाद—“किसी कर्म का दूसरे कर्म के रूप में संक्रमित होकर ठहरे रहना विसंयोजना है और कर्म का नोकर्मरूप से अर्थात् कर्माभावरूप से परिणमन होना क्षपणा है। इस प्रकार दोनों में लक्षणभेद है। यदि प्रश्न किया जाय कि अनन्तानुबन्धी की तरह मिथ्यात्वादि प्रकृतियों को भी आचार्यों ने विसंयोजनाप्रकृति क्यों नहीं माना? (क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि में दर्शनमोह की मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियाँ उदयप्राप्त सम्यक्त्व-प्रकृति के रूप में संक्रमित होकर उदय में आती हैं), तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वादि प्रकृतियाँ विसंयोजनभाव को प्राप्त होकर नियम से क्षय को प्राप्त होती हैं, इसलिए उनमें विसंयोजनभाव नहीं माना गया है। किन्तु अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन होने पर अन्तर्मुहूर्त के भीतर उनके अकर्मभाव को प्राप्त होने का नियम नहीं है, जिससे उनकी विसंयोजना को क्षपणा संज्ञा प्राप्त हो सके। अतः अनन्तानुबन्धी की तरह शेष विसंयोजित प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यह सिद्ध हुआ।”

१५७. “अणंताणुबंधिचउक्कवखंधाणं परसरूवेण परिणमणं विसंयोजना।” जयधवला/कसायपाहुड/
भा.२/२,२२/पृ.२१९। अर्थात् अनन्तानुबन्धी-चतुष्क के कर्मस्कन्धों का परपकृतिरूप (अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप) में परिणमित होना विसंयोजना है।

अनन्तानुबन्धी विसंयोजित रूप में अधिक से अधिक कुछ कम १३२ सागर काल तक रह सकती है। उसके बाद पुनः संयोजित हो सकती है अर्थात् अपने अनन्तानुबन्धीरूप में आ सकती है। जैसे कोई मिथ्यादृष्टि जीव वेदकसम्यग्दृष्टि होकर अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करता है और वेदकसम्यक्त्व के साथ कुछ कम ६६ सागर तक रहता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त के लिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है। पुनः वेदकसम्यग्दृष्टि होकर कुछ कम ६६ सागर तक सम्यग्दृष्टि बना रहता है। तत्पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और अनन्तानुबन्धी की संयोजना कर लेता है। इस प्रकार जीव का कुछ कम दो ६६ सागर अर्थात् कुछ कम १३२ सागर तक अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना से युक्त रहना सम्भव है। (षट्खण्डागम/पु.५/पृ.६ तथा कसायपाहुड/भाग ५/पृ.२६९/पं. र.च.जै.मुखार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व/भा.१/पृ.५०१)।

विसंयोजना की उपशम से यह भिन्नता है कि विसंयोजना में कर्म अन्यकर्मरूप में परिणामित होकर स्थित रहता है, किन्तु उपशम में ऐसा नहीं होता। उपशम में केवल वह उदय में नहीं आता। दूसरे, उपशम-अवस्था अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहती है, जबकि विसंयोजना कुछ कम १३२ सागरोपमकाल तक रह सकती है। विसंयोजना केवल अनन्तानुबन्धी कषाय की होती है, किन्तु उपशम शेष सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का होता है।

उपशम दो प्रकार का होता है : प्रशस्त और अप्रशस्त। उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति-संक्रमण, स्थिति-काण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को (प्रशस्त) उपशम कहते हैं—“उवसमो णाम किं? उदयउदीरण-ओकड्डडुक्कड्डण-परपयडिसंकम-ड्ढिदि-अणुभाग-खंडयघादेहि विणा अच्छणामुवसमो।” (धवला/ष.ख./पु.१/१, १, २७/पृ. २१३)। यह उपशम चारित्रमोह का होता है। (जै.सि.को. १/४३७)।

किन्तु जिस उपशम में कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण तथा अन्यप्रकृति में संक्रमण शक्य हो, केवल उदयावली में प्रवेश संभव न हो, वह अप्रशस्त उपशम कहलाता है—“अप्पसत्थुवसामणाए जमुवसंतं पदेसगं तमोकड्ढिदुं पि सक्कं, उवकड्ढिदुं पि सक्कं पयडीए संकामिदुं पि सक्कं, उदयावलयं पवेसिदुं ण उ सक्कं।” (धवला/ष.ख./पु.१५/पृ.२७६)।

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रशस्त उपशम होता है, अर्थात् उसका उत्कर्षणादि तो संभव होता है, किन्तु उदयावली में प्रवेश संभव न होने से उदय नहीं होता। श्री केशववर्णी प्रथमोपशम-सम्यक्त्व का लक्षण बतलाते हुए लिखते हैं—

“अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहत्रयस्य च उदयाभाव-लक्षणाऽप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपङ्क्तोयसमानं यत्पदार्थश्रद्धानमुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वं नाम।” (जी. त. प्र./गो.जी./गा.६५०)।

अनुवाद—“अनन्तानुबन्धिचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक के उदयाभावरूप अप्रशस्त उपशम से मलपंक के नीचे बैठ जाने से निर्मल हुए जल की तरह जो पदार्थश्रद्धान होता है, उसका नाम उपशमसम्यक्त्व है।”

किन्तु कर्मसिद्धान्त के विशेषज्ञ स्व० पं० रतनचन्द्र जी जैन मुख्तार का कथन है कि उपशमसम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय परमुख से उदय में आती है। एक प्रश्न का समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

“उपशमसम्यक्त्व के काल में जो निषेक उदय होने योग्य होते हैं, उनमें दर्शनमोहनीय कर्म का द्रव्य नहीं होता, क्योंकि अन्तरकरण के द्वारा दर्शनमोहनीय का अन्तर कर दिया जाता है। इस अन्तर के पश्चात् द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम हो जाने से वह द्रव्य उदीरणा होकर उपशमसम्यक्त्व के काल में उदय में नहीं आता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी कर्म का अन्तर नहीं होता। उपशम-सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय का द्रव्य प्रतिसमय स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा परप्रकृति-रूप संक्रमण होकर परमुखरूप उदय में आता है। वर्तमान समय से ऊपर के निषेकों में अनन्तानुबन्धी का द्रव्य उपशम रहता है, अर्थात् उदीरणा होकर वर्तमान समय में उदय में नहीं आता। उपशम मोहनीयकर्म का ही होता है, किन्तु स्तिबुकसंक्रमण ज्ञानावरणादि सात कर्मों में होता है, आयु कर्म में स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता।--- उदयावली के अन्दर ही स्तिबुकसंक्रमण होता है, उदयावली से बाह्य स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता है। उदयरूप निषेक के अनन्तर ऊपर के निषेक में अनुदयरूप प्रकृति के द्रव्य का उदयप्रकृतिरूप संक्रमण हो जाना स्तिबुकसंक्रमण है।” (पं. र. च. जैन मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व / भा.१/पृ. ५१७)।

लब्धिसार की १००वीं गाथा का विशेषार्थ बतलाते हुए भी पं० रतनचन्द्र जी मुख्तार ने लिखा है—“प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व तीन करण (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण) होते हैं। अनिवृत्तिकरण काल का बहुभाग व्यतीत हो जाने पर दर्शनमोहनीय का अन्तर होकर उपशम होता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का न तो अन्तर होता है और न उपशम होता है। हाँ, परिणामों की विशुद्धता के कारण प्रतिसमय स्तिबुकसंक्रमण द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रत्याख्यानादिकषायरूप परिणामन होकर परमुख उदय होता रहता है। प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के काल में अधिक से अधिक छह आवलिकाल शेष रह जाने पर और कम से कम एक समय काल शेष रह जाने पर यदि परिणामों

की विशुद्धता में हानि हो जावे, तो अनन्तानुबन्धी-कषाय का स्तिवुकसंक्रमण रुक जाता है और अनन्तानुबन्धी का परमुख उदय की बजाय स्वमुख उदय आने के कारण प्रथमोपशम सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) हो जाती है और प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर दूसरा सासादनगुणस्थान हो जाता है। मिथ्यात्वप्रकृति का अभी उदय नहीं हुआ, क्योंकि उसका अन्तर व उपशम है। अतः उसको मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया। अनन्तानुबन्धीकषायजनित विपरीताभिनिवेश हो जाने के कारण सम्यक्त्व की विराधना हो जाने से उसकी सासादन-सम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्व की विराधना-सहित) संज्ञा हो जाती है।” (विशेषार्थ / लब्धिसार / गा. १००)।

जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता, उसका भी अनन्तानुबन्धीकर्म स्तिवुकसंक्रमण द्वारा अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप में संक्रमित होकर उदय में आता है।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजनापूर्वक होता है, यह लब्धिसार की ‘उवसमचरियाहिमुहो’ आदि गाथाओं (२०५, २०६) में कहा गया है। (देखिये, शीर्षक २.२)। श्री वीरसेन स्वामी का भी यही कथन है। उन्होंने उपशमक (उपशमकश्रेणि पर आरूढ़ होनेवाले जीव) की उपशमनविधि का वर्णन करते हुए लिखा है—

“तत्थ ताव उवसामणविहिं वत्तइस्सामो। अणंताणुबंधिकोध-माण-माया-लोभ-सम्पत्तसम्पामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्पाइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। सरूवं छंडिय अणणपयडि-सरूवेणच्छणमणंताणु-बंधीणमुवसमो। दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो, तेसिमुव-संताणं पि ओकइडुक्कडुण-पर-पयडि-संकमाणमत्थित्तादो।---”(धवला / ष. खं. / पु. १ / १, १, २७ / पृ. २११)।

अनुवाद—“(उपशमनविधि और क्षणविधि में से) पहले उपशमन-विधि का कथन करते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व, इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानों में रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है। अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृतिरूप से रहना अनन्तानुबन्धी का उपशम है। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उदय में नहीं आना ही उपशम है, क्योंकि उपशान्त हुई उन तीन प्रकृतियों का उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूप से संक्रमण पाया जाता है।”

यहाँ उपशम का प्रकरण होने से वीरसेनस्वामी ने विसंयोजना को ‘उपशम’ शब्द से अभिहित किया है, किन्तु लक्षण विसंयोजना का ही है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी के

उदयाभाव को नहीं, अपितु स्वरूप को छोड़कर परप्रकृतिरूप (अप्रत्याख्यानावरणादिरूप) में स्थित रहने को उपशम कहा गया है। इसे उन्होंने जयधवला में विसंयोजना ही कहा है। (देखिये, पा.टि.१५७)। षट्खण्डागम के अनुवादकों ने भी लिखा है— “अनन्तानुबन्धी के अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण होने को ग्रन्थान्तरों में विसंयोजना कहा है और यहाँ पर द्वितीयोपशम का प्रकरण होने से उसे उपशम कहा है। सो यह केवल शब्दभेद है। स्वयं वीरसेन स्वामी को द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अभाव (स्वरूप को छोड़कर अप्रत्याख्यानादिरूप से रहना) इष्ट है।” (ब.खं./पु.१/१.१.२७ विशेषार्थ/पृ.२१५)। तात्पर्य यह कि लक्षण की दृष्टि से विसंयोजना और उपशम में भेद है, तथापि व्यवहारनय से उसे उपशम शब्द से अभिहित किया गया है।

क्षायिकसम्यक्त्व भी अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना से ही होता है,^{१५८} किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि में कभी मिथ्यात्व का उदय नहीं हो सकता, इसलिए विसंयोजित अनन्तानुबन्धी भी कभी संयोजित नहीं हो सकती, अतः उसका क्षय ही माना जाता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशमकश्रेणी पर भी आरूढ़ हो सकता है और क्षपक श्रेणी पर भी।^{१५९} किन्तु द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि के लिए केवल उपशमश्रेणी पर ही आरोहण संभव है।

अनन्तानुबन्धीकषाय-चतुष्क की विसंयोजना चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानों में से किसी में भी हो सकती है, यह वीरसेनस्वामी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की जीवतत्व-प्रदीपिका-वृत्ति में भी ऐसा ही कहा गया है। (देखिये, पा.टि.१५८)। विसंयोजना क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही करता है।

श्वेताम्बर आचार्य श्री सिद्धसेनगणी और श्री हरिभद्रसूरि ने वियोजन का अर्थ ‘क्षपण’ या ‘उपशमन’ किया है,^{१६०} इसी के आधार पर डॉ० सागरमल जी ने भी ‘अनन्तवियोजक’ से ‘अनन्तानुबन्धी का क्षय करने वाला’ अर्थ ग्रहण किया है।^{१६१} यह आगमविरुद्ध है। उपशमन, क्षपण और विसंयोजना के लक्षण परस्पर अत्यन्त भिन्न

१५८. “असंयतादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽनिवृत्तिकरणपरिणामकालान्तर्मुहूर्तचरमसमयेऽनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्कं युगपदेव विसंयोज्य द्वादशकषायनोकषायरूपेण परिणमय्य अन्तर्मुहूर्तकालं विश्रम्य --- मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वप्रकृतिः क्रमेण क्षपयति। ततः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भवति।” जीवतत्वप्रदीपिका / गोम्मटसार-कर्मकाण्ड / गा.३३५-३३६।

१५९. “एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो ---।” सर्वार्थसिद्धि / ९ / ४५।

१६०. “अनन्तः संसारस्तदनुबन्धिनोऽनन्ताः क्रोधादयस्तान् वियोजयति क्षपयत्युपशमयति वा अनन्तवियोजकः।” तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / ९ / ४७।

१६१. गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण / पृ.१०।

हैं, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यदि इनमें भेद न होता, तो तत्त्वार्थसूत्रकार 'वियोजक' शब्द का प्रयोग न कर 'क्षपक' या 'उपशमक' शब्द ही प्रयुक्त करते, जैसा कि 'दर्शनमोहक्षपक' और 'उपशमक' (चारित्र-मोहोपशमक) में किया है। 'दर्शनमोहक्षपक' में 'क्षपक' और 'अनन्तवियोजक' में 'वियोजक' शब्द का प्रयोग करने से स्पष्ट है कि 'वियोजक' का अर्थ 'क्षपक' से भिन्न है और वह वही है, जो ऊपर बतलाया गया है। वह कसायपाहुड की टीका जयधवला आदि से प्रमाणित है।

२.१.२. अनन्तवियोजक-असंयतसम्यग्दृष्टि संयत से अधिक निर्जरायोग्य कैसे?—उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में अनन्तवियोजक असंयतसम्यग्दृष्टि और श्रावक को अनन्त-अवियोजक विरत (प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत मुनि) से असंख्येयगुणनिर्जरा के योग्य बतलाया गया है। इसकी युक्तियुक्तता के विषय में शङ्का उठना स्वाभाविक है, अतः वीरसेनस्वामी ने इसका समाधान निम्नलिखित शब्दों में किया है—

“संजमपरिणामेहितो अणंताणुबंधिं-विसंजोएंतस्स असंजदसम्मादिट्ठिस्स परिणामो अणंतगुणहीणो, कथं तत्तो असंखेज्जगुणपदेसणिज्जरा जायदे? ण एस दोसो, संजम-परिणामेहितो अणंताणुबंधीणं विसंजोजणाए कारणभूदाणं सम्पत्त-परिणामा-णमणंतगुणत्तुवलंभादो। जदि सम्पत्तपरिणामेहि अणंताणुबंधीणं विसंजोजणा कीरदे, तो सब्बसम्माइट्ठीसु तब्भावो पसज्जदि ति वुत्ते ण, विसिट्ठेहि चेव सम्पत्त-परिणामेहि तत्त्विसंजोयणभ्वगमादो।” (धवला / ष.ख. / पु. १२ / ४, २, ७, १७८ / पृ. ८२)।

अनुवाद

शंका—“संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करनेवाले असंयतसम्यग्दृष्टि का परिणाम अनन्तगुणाहीन होता है, ऐसी अवस्था में उससे असंख्यातगुणी प्रदेशनिर्जरा कैसे हो सकती है?”

समाधान—“यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत सम्यक्त्वरूप परिणाम अणंतगुणे उपलब्ध होते हैं।”

शंका—“यदि सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना की जाती है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग आता है?”

समाधान—“सब सम्यग्दृष्टियों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि विशिष्ट सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना स्वीकार की गयी है।”

२.१.३. गुणश्रेणिनिर्जरा का काल—सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी लिखते हैं—“असंख्यात-गुणितक्रम-श्रेणिरूप से कर्मों की निर्जरा होना गुणश्रेणिनिर्जरा है। यह गुणश्रेणिनिर्जरा सर्वदा नहीं होती, किन्तु उपशमना और क्षपणा के कारणभूत परिणामों के द्वारा ही गुणश्रेणिरचना होकर यह निर्जरा होती है।” (स. सि./ विशेषार्थ/ ९/ ४५)। वीरसेनस्वामी ने भी पूर्वोद्धृत कथन में कहा है कि अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत विशिष्ट-सम्यक्त्व-परिणामों से ही उक्त कषायों की विसंयोजना होती है। इसका तात्पर्य यह है कि विसंयोजना में कारणभूत उन्हीं परिणामों से अर्थात् विसंयोजनाकाल में ही असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से जिस गुणस्थानवाला जीव विसंयोजना करता है, उसके कर्मों की छोटे गुणस्थानवर्ती संयत की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने इस प्रकार किया है—

“काललब्धि आदि साधनों को प्राप्त करनेवाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, पंचेन्द्रिय जीव विशुद्ध परिणामों की वृद्धि करता हुआ क्रमशः अपूर्वकरण आदि सोपानपंक्ति पर आरूढ़ होते हुए बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है। वही जीव प्रथमोपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर प्रथमोपशम-सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण-कर्मनिर्जरा करता है। जब वह जीव अप्रत्याख्यानावरण-कषाय के क्षयोपशम में कारणभूत परिणामों की विशुद्धि से युक्त होता है, तब ‘श्रावक’ संज्ञा प्राप्त करता हुआ अपनी पूर्वोक्त अवस्था से असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। जब वह श्रावक प्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशम में निमित्तभूत परिणामों की विशुद्धि से युक्त होता है, तब वह ‘विरत’ संज्ञा धारण करता हुआ पूर्वकथित अवस्था से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है। जब चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थानवाला जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में तत्पर होता है, तब वह विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से ‘विरत’ की अपेक्षा असंख्येयगुण-निर्जरावाला होता है। जब चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थान का अनन्तानुबन्धि-विसंयोजक दर्शनमोह के क्षय में संलग्न होता है, तब परिणामविशुद्धि के अतिशय से ‘दर्शनमोहक्षपक’ नाम प्राप्त करता हुआ अपनी अनन्तानुबन्धि-विसंयोजक पूर्वावस्था से असंख्येयगुण-निर्जरा का स्वामी होता है। इस प्रकार वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि पर आरोहण के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्रमोह के उपशम का प्रयत्न करता हुआ विशुद्धि के प्रकर्षवश उपशमक संज्ञा का अनुभव करता है और पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा करता है। वही जीव समस्त चारित्रमोह के उपशमक निमित्त मिलने पर उपशान्तकषाय संज्ञा को प्राप्त होता हुआ, पूर्वकथित निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा करता है। जो सप्तगुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि, चारित्रमोह के क्षपण के सम्मुख होता है, अर्थात् चारित्रमोह का क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी पर आरूढ़

होता है, वह परिणामों की विशुद्धि से बढ़ता हुआ और 'क्षपक' संज्ञा धारण करता हुआ उपशान्तकषाय को होनेवाली निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा का पात्र होता है। जब वह निःशेष चारित्रमोह के क्षपण में कारणभूत परिणामों के अभिमुख होता है, तब क्षीणकषाय नाम ग्रहण करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। पश्चात् वही मुनि द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्मसमूह को दग्धकर 'जिन' संज्ञा धारण करता है और पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण-गुण निर्जरा करता है।" (सर्वार्थसिद्धि / ९ / ४५)।

वीरसेनस्वामी का कथन है कि मोहनीय के बन्ध, उदय व सत्त्व का अभाव हो जाने से कर्मनिर्जरा की शक्ति अनन्तगुणी वृद्धिगत हो जाती है—“मोहणीयस्स बंधुदयसंताभावेण वड्ढिदअणंतगुणकम्मणिज्जरणसत्तीदो।” (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४,२, ७,१८३ / पृ.८४)। इसी प्रकार घातिया कर्मों के क्षीण हो जाने से कर्मनिर्जरा का परिणाम अनन्तगुणा बढ़ जाता है—“घादिकम्मक्खएण वड्ढिदाणंतगुणकम्म-णिज्जरणपरिणामादो” (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४, २, ७, १८४ / पृ.८४)।

वीरसेनस्वामी ने 'जिन' के स्वस्थान जिन और योग-निरोध में प्रवृत्त जिन, ये दो भेद करके गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थान बतलाये हैं—“जिणे त्ति भणिदे सत्थाणजिणाणं जोगिणरोहे वावदजिणाणं च गहणं।” (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४, २, ७, ७-८ गा. / पृ.७९)। गोम्मटसार-जीवकाण्ड (गा.६६) की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में भी इसी प्रकार ग्यारह स्थान कहे गये हैं—“ततः स्वस्थानकेवलिजिनस्य गुणश्रेणि-निर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम्। ---इत्येकादशसु स्थानेषु गुणश्रेणिनिर्जरा-द्रव्यस्य प्रति-स्थानमसंख्यातगुणितत्वमुक्तम्।”

उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों में भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित निर्जरा होती है, किन्तु नैगमनय से उनमें एकत्व ग्रहण कर एक-एक स्थान ही प्ररूपित किया गया है, जैसा कि वीरसेनस्वामी ने कहा है—“--- गइगमणए अवलंबिज्जमाणे तिण्णामुवसामगाणं तिण्णं खवगाणं च एगत्तप्पणाए एक्कारसगुणसेडिणिज्जरुववत्तीदो।” (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४,२,७,१८० / पृ.८३)।

विरत अर्थात् संयत के भी दो भेद हैं : प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। कोई अनादि-मिथ्यादृष्टि जब अनन्तानुबंधी एवं दर्शनमोह का उपशम तथा अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम एक साथ करता हुआ सीधे अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थान में पहुँचता है, तब इन कषायों के क्षयोपशम-निमित्तक विशुद्धपरिणामप्रकर्ष से वह प्रमत्तसंयत के तुल्य ही श्रावक से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है, बल्कि प्रमाद के अभाव में निमित्तभूत विशुद्धपरिणाम के अतिशय से प्रमत्तसंयत से भी अधिक

निर्जरा करता है। अतः 'विरत' शब्द प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों गुणस्थानों में पूर्वगुणस्थानापेक्षया असंख्येयगुणनिर्जरा होने का सूचक है। किसी अनादिमिथ्यादृष्टि के सीधे अप्रमत्तगुणस्थान में पहुँचने का कथन धवलाटीका में इस प्रकार किया गया है—“एक्केण अणादियमिच्छादिद्विणा तिण्णिण करणाणि करिय उवसमसम्मत्तं संजमं च अक्क-पेण पडिवण्णपढमसमए अणंतसंसारं छिंदिय अद्धपोगल-परियट्टमेत्तं कदेण अप्पमत्तद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता अणुपालिदा। तदो पमत्तो जादो। ---” (धवला / ष.ख. / पु.५ / १,६,१५ / पृ.१९)।

२.२. गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञतावश स्वकल्पित असंगत व्याख्याएँ एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त प्ररूपण से स्पष्ट हो जाता है कि 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी गयी है, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक और क्षपक, ये स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं हैं, अपितु गुणस्थानों के विशिष्टरूप हैं। किन्तु गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वकल्पना से असंगत व्याख्याएँ की हैं, जिससे उन्हें गुणश्रेणिनिर्जरास्थानों में गुणस्थानों का अस्तित्व दिखाई देना असंभव हो गया। वे लिखते हैं—

“यद्यपि अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-साधा गुणस्थान के चौखटे में संयोजित करना कठिन है, क्योंकि गुणस्थानसिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है। पुनः उपशमश्रेणी से विकास करनेवाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धीकषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशमश्रेणी की दृष्टि से बाधा आती है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं विरत के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है।” (गुण. सिद्धा. एक विश्ले. / पृ.९-१०)।

ये सभी धारणाएँ गुणस्थानसिद्धान्त, कर्मसिद्धान्त और तत्त्वार्थसूत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। पहली बात तो यह है कि उपशमकश्रेणी पर द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि ही नहीं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी आरूढ़ होता है और द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन तथा क्षायिकसम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धिकषायों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं होता, विसंयोजना होती है, अर्थात् विशिष्ट सम्यक्त्वपरिणाम से उन्हें अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायों और नौ नोकषायों के रूप में परिणमित किया जाता है। केवल दर्शनमोह का उपशम और क्षय होता है। विसंयोजित (अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप में परिणमित) अनन्तानुबन्धी का क्षय क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ मुनि ही करता है।

दूसरी बात यह है कि अनन्तानुबन्धी का वियोजन केवल चौथे गुणस्थान में नहीं, बल्कि चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें में से किसी में भी हो सकता है। और सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के वियोजन से ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसकी पुष्टि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-कृत लब्धिसार के निम्नलिखित वचनों से होती है—

उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्पो अणं विजोयिता।
 अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तोऽपमत्तो य॥ २०५॥
 तत्तो तियरणविहिणा दंसणमोहं समं खु उवसमदि।
 सम्पत्तुप्पत्तिं वा अण्णं च गुणसेढिकरणविही॥ २०६॥

अनुवाद—“उपशमचारित्र के सम्मुख हुआ वेदकसम्यग्दृष्टि जीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधान से अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त-अप्रमत्त अर्थात् स्वस्थान-अप्रमत्त होता है।” (२०५)।

“अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तीन करण-विधि के द्वारा तीनों दर्शनमोहनीय-कर्मप्रकृतियों को एक साथ उपशमाता है। गुणश्रेणी, करण व अन्य अर्थात् स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक आदि विधि प्रथमोपशम-सम्यक्त्वोत्पत्ति के सदृश करता है।” (२०६)।

इस प्रमाण से सिद्ध है कि उपशमचारित्र को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उपशमक-श्रेणि पर आरूढ़ होने के लिए क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि जीव अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के वियोजनपूर्वक दर्शनमोह का उपशम करता है। और अनन्तानुबन्धी के वियोजन या विसंयोजना का अर्थ क्षय है ही नहीं, यह पूर्व में जयधवला टीका से प्रमाणित किया जा चुका है, अतः ‘विरत’ के पश्चात् अनन्तवियोजक अवस्था के उल्लेख से उपशमश्रेणी की दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती। यह बाधा ‘अनन्तवियोजक’ के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के मस्तिष्क में आयी है। इसीलिए उन्हें यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं विरत के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा है? यदि वे ‘अनन्तवियोजक’ के उपर्युक्त अर्थ से, जो तत्त्वार्थसूत्रकार को अभीष्ट था, तथा द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति में अनन्तवियोजन की अनिवार्यता के तथ्य से परिचित होते, तो उन्हें यह समझने में देर न लगती कि आचार्य ने अनन्तवियोजक का क्रम वहाँ किस दृष्टि से रखा है। उन्हें उसके क्रम का औचित्य तुरन्त बुद्धिगम्य हो जाता और उसे गुणस्थान के चौखटे में संयोजित करना कठिन नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्रकार की सूत्ररचना में गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को विसंगति दिखायी देना, इस बात का सबूत है कि मान्य विद्वान् की धारणाएँ एवं चिन्तनपद्धति तत्त्वार्थसूत्रकार के विरुद्ध हैं।

उक्त विद्वान् को गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच में क्षपक का क्रम रखा जाना भी अयुक्तिसंगत प्रतीत हुआ है। वे लिखते हैं—“क्षपक को सूक्ष्मसाम्पराय से भी योजित (समीकृत) किया जा सकता है, किन्तु उमास्वाति ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है, उसका युक्तिसंगत समीकरण कर पाना कठिन है, --- गुणस्थानसिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और फिर क्षय मानते होंगे।” (गुण. सिद्धा. एक विश्ले./पृ.१०)।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच क्षपक की स्थिति क्यों रखी है, यह तो सूत्र से ही स्पष्ट है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सूत्र में क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जरा करनेवालों का वर्णन किया है। उपशान्तमोह मुनि की अपेक्षा क्षपक (क्षपक श्रेणी के तीन गुणस्थानों के मुनि) असंख्येयगुणनिर्जरा करते हैं और क्षपक से असंख्येयगुणनिर्जरा क्षीणमोह मुनि करता है, अतः उपर्युक्त क्रम युक्तिसंगत है।

यह सत्य है कि चतुर्दश गुणस्थान-समूह में उपशमकश्रेणी के उपशान्तमोह गुणस्थान के बाद क्षपकश्रेणी के अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों का क्रम नहीं है। सातवें गुणस्थान के आगे गुणस्थानों की उपशमक और क्षपक, ये दो अलग-अलग श्रेणियाँ आरम्भ हो जाती हैं, जो अलग-अलग समानान्तर क्रम से आगे बढ़ती हैं। इनमें उपशमकश्रेणी ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान पर समाप्त हो जाती है, किन्तु क्षपकश्रेणी अबाधगति से बढ़ती हुई चौदहवें गुणस्थान पर खत्म होती है। उपशमकश्रेणी में चारित्रमोह की विशिष्ट प्रकृतियों का केवल अन्तर्मुहूर्त के लिए उदय रुकता है, वे सत्ता से नहीं हटतीं। किन्तु क्षपकश्रेणी में वे सत्ता से क्रमशः अलग होती जाती हैं, फलस्वरूप क्षपकश्रेणी के तीन गुणस्थानों में उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम होते हैं, जिनसे उनमें उपशान्तमोह गुणस्थान की अपेक्षा असंख्येयगुणनिर्जरा होती है। यही प्रदर्शित करने के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमकश्रेणी के उपशान्तमोह गुणस्थान के पश्चात् क्षपकश्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों का क्रम रखा है। गुणस्थानविकासवादी विद्वान् इस गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञ थे, इसीलिए उनकी समझ में यह नहीं आया कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपशान्तमोह के अनन्तर क्षपक का स्थान क्यों रखा है? और तत्त्वार्थसूत्रकार को दोषी ठहराते हुए वे कह पड़े—“उमास्वाति ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है, उसका युक्तिसंगत समीकरण कर पाना कठिन है।” यदि उक्त विद्वान् उपर्युक्त गुणस्थानसिद्धान्त से अभिज्ञ होते, तो उन्हें यह कठिनाई महसूस नहीं होती।

गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों का क्रम क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जरा करनेवालों की अपेक्षा रखा गया है। सर्वत्र नियतक्रम से ही गुणस्थानों का उल्लेख किया जाय, प्रयोजनवश अनियतक्रम से उल्लेख की आवश्यकता हो, तो भी ऐसा न किया जाय, ऐसा तो जिनेन्द्र का उपदेश नहीं है। तथा जब नियतक्रम से गुणस्थानों का उल्लेख हो, तभी वे गुणस्थान कहलायेंगे, अनियतक्रम से उल्लेख करने पर गुणस्थान नहीं कहलायेंगे, ऐसा भी आगमवचन नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र चौदह गुणस्थानों का उल्लेख होने पर ही वे गुणस्थान कहला सकते हैं, प्रयोजनानुसार एक या दो का उल्लेख करने से वे गुणस्थान की परिभाषा से च्युत हो जायेंगे और 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' कहलाने लगेंगे, ऐसा भी आगम में नहीं कहा गया है। ये सारे नियम गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वयं कल्पित किये हैं, ताकि 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के उल्लेख का अभाव सिद्ध किया जा सके। किन्तु गुणस्थानों का अनियतक्रम से युक्तिसंगत उल्लेख करनेवाला 'तत्त्वार्थ' का गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र इन कल्पित नियमों को निरस्त कर देता है और सिद्ध करता है कि उसमें गुणस्थानों का स्पष्टतः उल्लेख है तथा वह सम्पूर्ण गुणस्थानसिद्धान्त का द्योतन करता है।

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का कथन है कि गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में "मिथ्यादृष्टि, सासादन (सासादन), सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अयोगिकेवली की कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपकश्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहाँ नहीं है।" (गुण. सिद्धा. एक विश्ले./ पृ.१०)।

यह तो गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र के प्रतिपाद्य विषय से ही स्पष्ट है कि उसमें मिथ्यादृष्टि, सासादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों का उल्लेख नहीं हो सकता था, क्योंकि इन गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा तो क्या, सामान्य अविपाक निर्जरा भी नहीं होती। अयोगिकेवली की चर्चा पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली दोनों गुणस्थानों में क्षीणमोह की अपेक्षा समान असंख्येयगुणनिर्जरा होती है, अतः 'जिन' शब्द से दोनों का उल्लेख किया गया है। तथा सूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह इन दो शब्दों से उपशमकश्रेणि का और क्षपक तथा क्षीणमोह इन दो शब्दों से क्षपकश्रेणि का स्पष्टतः संकेत किया गया है। गुणश्रेणिनिर्जरा के प्रसंग में 'उपशमक' शब्द से उपशमक श्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों का तथा 'क्षपक' शब्द से क्षपकश्रेणी के शुरु के तीन गुणस्थानों का सामान्यग्राही नैगमनय से षट्खण्डागम में भी निर्देश किया गया है, इस तथ्य को सूचित करनेवाले धवलाकार वीरसेनस्वामी के वचन पूर्व में उद्धृत किये गये हैं। (देखिए, शीर्षक २.१.३)। इस प्रकार गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के उल्लेख का अभाव सिद्ध करने के लिए जितने भी स्वकल्पित हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं और सिद्ध होता है

कि उक्त सूत्र में गुणस्थानों का ही उल्लेख है और किस गुणस्थानवाला जीव किस विशेषता से युक्त होने पर अपने पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती गुणस्थानवाले जीव से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है, इस गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

२.३. गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थानक्रम में आध्यात्मिक-विकासक्रम घटित नहीं होता

गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का क्रम कहीं-कहीं गुणस्थानों के क्रम के अनुसार नहीं है, इसलिए गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने उन्हें गुणस्थान नहीं माना, अपितु आध्यात्मिक विकास की अवस्था माना है। अर्थात् वे मानते हैं कि सूत्र में जिस अवस्था का जिस क्रम से उल्लेख है, वही अवस्था उसी क्रम से आत्मा में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में पूर्वावस्था से उत्तर अवस्था का विकास होता है। अपने इस मत को प्रकट करते हुए उक्त विद्वान् लिखते हैं—

“तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है, उसकी गुणस्थानसिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ गुणस्थानसिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपशमश्रेणीवाला क्रमशः आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थान से होकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है, जब कि क्षपकश्रेणीवाला क्रमशः आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है। जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो, पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शनमोह के समान चारित्रमोह का भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय होता है। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्मविशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह के उपशम और क्षपण से है तथा अन्तिम पाँच का सम्बन्ध चारित्रमोह के उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यग्दृष्टि का क्रमशः श्रावक और विरत इन दो भूमिकाओं के रूप में चारित्र का विकास तो होता है, किन्तु उसका सम्यग्दर्शन औपशमिक होता है, अतः वह उपशान्तदर्शनमोह होता है। ऐसा साधक चौथी अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है, अतः वह क्षपक होता है। इस पाँचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है, अतः वह क्षीणदर्शनमोह होता है। छठी अवस्था में चारित्रमोह का उपशम होता है, अतः वह उपशमक-(चरित्रमोह) कहा जाता है। सातवीं अवस्था में चारित्रमोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त-चरित्रमोह का क्षपण किया जाता है, अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्रमोह क्षीण हो जाता है, अतः उसे क्षीणमोह कहा जाता है और दसवीं अवस्था में ‘जिन’ अवस्था प्राप्त होती है।” (गुण. सिद्धा. एक विश्ले./ पृ. १०-११)।

आध्यात्मिक विकास के कल्पित क्रम का निरसन

१. आध्यात्मिकविकास का यह कल्पित क्रम तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है। यदि गुणश्रेणिनिर्जासूत्र को उपर्युक्त प्रकार से ही आध्यात्मिक विकास के क्रम का प्रदर्शन माना जाय, तो उसमें क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक-चारित्र एवं क्षायोपशमिक-संयमासंयम (श्रावकावस्था) का किसी भी क्रम पर उल्लेख न होने से इन्हें आध्यात्मिक विकास की अवस्था नहीं माना जा सकता, जब कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्षायोपशमिकभाव-प्रदर्शक सूत्र में इन्हें क्षायोपशमिक (कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाले) भाव तथा सम्यक्त्व, चारित्र एवं संयमासंयम कहकर आत्मविकास की ही अवस्था बतलाया है। सूत्र इस प्रकार है-

“ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।”
(त.सू.—दि.२/५, श्वे.२/५)।

अनुवाद—“मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत और कु—अवधि (विभंग) ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ तथा सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये अठारह क्षायोपशमिकभाव जीव के भाव हैं।”

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (२/५) में भी सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम को क्षायो-पशमिक भाव कहा है— “--- सम्यक्त्वं चारित्रं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायो-पशमिका भावा भवन्तीति।”

यतः इन क्षायोपशमिक आध्यात्मिक अवस्थाओं का विकास उक्त सूत्र में प्रदर्शित नहीं किया गया है, अतः सिद्ध है कि वह आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का प्रदर्शक सूत्र नहीं है।

२. औपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। अनादि-मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह उसमें अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है। उसके बाद यदि वह मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होता अथवा उपशमसम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलि शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी के उदय से सासादनसम्यग्दृष्टि नहीं होता, तो सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशमयोग्य विशुद्ध परिणाम होने पर उक्त कषाय का क्षयोपशम कर श्रावक अवस्था प्राप्त करता है। तत्पश्चात् योग्य विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से प्रत्याख्यानावरणकषाय का क्षयोपशम कर ‘विरत’

अवस्था का स्वामी बनता है। इस प्रकार प्रायः क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही श्रावक और विरत अवस्थाओं को प्राप्त करता है। कदाचित् कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और संयमासंयम अथवा संयम को एक साथ प्राप्त कर संयतासंयत (श्रावक) अथवा अप्रमत्तसंयत अवस्था में पहुँचता है, वह अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथमोपशम-सम्यक्त्व में स्थित रहता है, उसके पश्चात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने जो श्रावक और विरत में नियम से औपशमिक सम्यग्दर्शन माना है, वह तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने सम्यग्दर्शन का क्षायोपशमिक भेद भी बतलाया है, और वह असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक चार अवस्थाओं में ही रह सकता है, क्योंकि उसके आगे केवल द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शनवाला ही विकास कर सकता है। इसलिए यदि गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् के अनुसार गुणश्रेणिनिर्जरा की श्रावक और विरत अवस्थाओं में औपशमिक सम्यग्दर्शन के अस्तित्व को आध्यात्मिक विकास माना जाय, तो ऐसा आध्यात्मिक विकास गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र प्रदर्शित नहीं करता। इससे सिद्ध है कि गुणश्रेणिनिर्जरास्थान क्रमशः विकसित आध्यात्मिक अवस्थाएँ नहीं हैं।

३. केवल विरत-अवस्था से अनन्तवियोजक अवस्था विकसित नहीं होती, अपितु असंयतसम्यग्दृष्टि और श्रावक-अवस्था से भी विकसित होती है। अतः वह विकास की चौथी अवस्था नहीं है, अपितु असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा दूसरी अवस्था है। इसलिए गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने जो अनन्तवियोजक अवस्था को विकास की चौथी अवस्था माना है, वह गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र से प्रमाणित नहीं होती। इससे भी सिद्ध है कि उसमें प्रदर्शित अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की क्रमिक अवस्थाएँ नहीं हैं।

४. चूँकि अनन्तवियोजक अवस्था विकास की चौथी अवस्था नहीं है, इसलिए उसके बाद उल्लिखित दर्शनमोहक्षपक-अवस्था विकास की पाँचवीं अवस्था नहीं है। वह चौथी अवस्था भी नहीं है, क्योंकि दर्शनमोह का क्षय भी असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा विरत, इनमें से किसी में भी हो सकता है।

५. दर्शनमोह के क्षय के बाद चारित्रमोह-उपशमक अवस्था उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि दर्शनमोह का क्षय असंयतसम्यग्दृष्टि-अवस्था में भी होता है और उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण-कषाय के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक श्रावक अवस्था प्रकट होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने श्रावक (संयमासंयम) अवस्था को क्षायोपशमिकभाव बतलाया है, इसका प्रमाण पूर्व में दिया जा चुका है। अतः गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने जो दर्शनमोहक्षपक-अवस्था से चारित्रमोह-उपशमक-अवस्था का विकास माना है, वह तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है। यह भी इस बात का सबूत है कि गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का प्ररूपण नहीं है।

६. तत्त्वार्थसूत्रकार ने औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र को भी जीव का स्वतत्त्व बतलाया है—‘सम्यक्त्वचारित्रे’ (त.सू./२/३)। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह शब्दों के द्वारा औपशमिकचारित्र का कथन तो किया गया है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व का कथन नहीं है। अतः गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का सूचक नहीं माना जा सकता।

७. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित अवस्थाओं के क्रमानुसार ही पूर्वावस्था से उत्तर अवस्था का विकास माना है। अतः ‘उपशान्तमोह’ के बाद ‘क्षपक’ का उल्लेख होने से उन्होंने यह धारणा बनायी है कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का पहले उपशम मानते हैं, फिर क्षय। किन्तु जैसे चारित्रमोह के प्रसंग में ‘क्षपक’ के पूर्व ‘उपशान्तमोह’ का उल्लेख है, वैसे ही ‘दर्शनमोहक्षपक’ के पूर्व ‘उपशान्तदर्शनमोह’ का उल्लेख नहीं है। इससे इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह का पहले उपशम मानते हैं, फिर क्षय। तथा सूत्र में चारित्रमोह की अनन्तानुबन्धी-प्रकृतियों के उपशमपूर्वक क्षय का उल्लेख नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को चारित्रमोह का उपशमपूर्वक क्षय इष्ट नहीं है।

८. एक प्रश्न विचारणीय है। उपशान्तमोह अवस्था में भी मोहनीय कर्म का उदय नहीं रहता और क्षीणमोह अवस्था में भी। उपशान्तमोह-अवस्था में भी सातावेदनीय के अतिरिक्त समस्त कर्मों का आस्रव-बन्ध रुक जाता है और क्षीणमोह-अवस्था में भी। तब क्षीण-मोह-अवस्था के बाद ही ‘जिन’ अवस्था क्यों प्राप्त होती है, उपशान्तमोह अवस्था के बाद क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि उपशान्त-अवस्था या उपशम-अवस्था का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। अन्तर्मुहूर्त के बाद कषाय का उदय होने पर वह समाप्त हो जाती है और मुनि क्षायोपशमिक विरत-अवस्था में पहुँच जाता है। कदाचित् उससे नीचे भी जा सकता है। अतः जब क्षायिकसम्यग्दर्शन-सहित क्षायोपशमिक-चारित्रवाला ‘विरत’, चारित्रमोह का क्रमशः क्षय करते हुए क्षीणमोह हो जाता है, तब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय का अवसर न रहने से आगे बढ़ता है और ‘जिन’ अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा उपशान्तमोह-अवस्था के बाद ‘जिन’ अवस्था की प्राप्ति न बतलाये जाने से सिद्ध है कि वे ‘विरत’ (अप्रमत्त-विरत) अवस्था से उपशमक और क्षपक इन दो श्रेणियों का आरंभ होना तथा उपशमकश्रेणी पर आरूढ़ होकर उससे जीव का नियमतः पतित होना अथवा भवक्षय से मृत्यु को प्राप्त होना मानते हैं। उन्होंने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में चारित्रमोह के उपशम से संबंधित उपशमक और उपशान्तमोह तथा क्षय से सम्बन्धित क्षपक और क्षीणमोह इन दो-दो अवस्थाओं का उल्लेख करके भी उक्त दो श्रेणियों के अस्तित्व

की सूचना दी है। 'उपशमक' और 'क्षपक' शब्द उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों के सूचक हैं।

यदि तत्त्वार्थसूत्रकार को उपर्युक्त दो-दो अवस्थाओं से उपशमक और क्षपक श्रेणियाँ अभिप्रेत न होतीं, तो जैसे एकमात्र 'दर्शनमोहक्षपक' शब्द से दर्शनमोह का क्षय सूचित कर दिया गया है, वैसे ही एकमात्र 'चारित्रमोहोपशमक' शब्द से चारित्रमोह का उपशम और केवल 'चारित्रमोहक्षपक' शब्द से चारित्रमोह का क्षय सूचित कर दिया जाता, उपशान्तमोह और क्षीणमोह अवस्थाओं के उल्लेख की आवश्यकता न होती।

तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार को उपशमक और क्षपक श्रेणियाँ मान्य थीं और यह भी मान्य था कि जीव क्षायोपशमिकचारित्रवाले अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है। उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होनेवाला उपशमकाल के समाप्त होने पर उससे पतित होकर क्षायोपशमिक-चारित्रवाले गुणस्थान में अथवा उससे होते हुए और भी नीचे के गुणस्थान में पहुँच जाता है। किन्तु जो जीव उसी क्षायोपशमिक-चारित्रवाले अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है, वह चारित्रमोह का क्षपण करते हुए क्षीणमोहगुणस्थान प्राप्त कर लेता है, पश्चात् 'मोहक्षयाञ्जान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' (त.सू./१०/१) इस नियम के अनुसार 'जिन' हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार चारित्रमोह का क्षय क्षायोपशमपूर्वक मानते हैं, न कि उपशमपूर्वक, अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् की यह धारणा अतर्कसंगतरूप से कपोलकल्पित है कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह और चारित्रमोह का पहले उपशम और बाद में क्षय मानते हैं।

इन प्रमाणों और युक्तियों से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है गुणनिर्जरासूत्र में आध्यात्मिक अवस्थाओं का विकासक्रम सूचित नहीं किया गया है, अपितु विभिन्न गुणस्थानों अथवा उनकी विशिष्ट अवस्थाओं में कालविशेष में होनेवाले विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से उसी गुणस्थान की पूर्वावस्था की अपेक्षा अथवा अन्य गुणस्थान की अपेक्षा जो असंख्येयगुणनिर्जरा होती है, उसका ज्ञापन किया गया है। इस प्रकार गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के ही नामों, उनकी विशिष्ट अवस्थाओं तथा गुणस्थानसिद्धान्त के ही अनुसार उत्तरोत्तर असंख्येयगुणनिर्जरा का वर्णन है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित थे।

२.४. 'सम्यग्दृष्टि' आदि में गुणस्थान का लक्षण विद्यमान

उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित सम्यग्दृष्टि आदि अवस्थाओं के साथ तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं किया, इसलिए डॉक्टर सागरमल जी ने

उन्हें गुणस्थान कहने की बजाय 'आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्थाएँ' कहकर उनके गुणस्थान होने के सत्य का अपलाप करने की चेष्टा की है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने उनके साथ 'आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्था' नाम का भी प्रयोग नहीं किया, अतः उन्हें इस नाम से भी व्यवहृत करना अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त यह (आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्था) पारिभाषिक (विशेषार्थसूचक) शब्द भी नहीं है, अपितु परिभाषा (विशेषार्थ) ही है। इस परिभाषा का सूचक शास्त्रप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'गुणस्थान' है। अतः 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित करना ही शास्त्रसम्मत शब्दव्यवहार है।

इन अवस्थाओं के गुणस्थान होने का पहला प्रमाण तो यह है कि आगम में इन्हें सर्वत्र जीवसमास एवं गुणस्थान शब्दों से ही अभिहित किया गया है, किसी अन्य शब्द से नहीं। दूसरा प्रमाण यह है कि इनमें गुणस्थान का ही लक्षण व्याप्त है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं। 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तरतमता अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्षयुक्त होने का गुण है, वही उनके गुणस्थान होने का लक्षण है। वीरसेन स्वामी ने मोक्ष के सोपानों को गुणस्थान कहा है—“मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।” (ध्वला/ष.ख./पु.१/१,१,२२/पृ.२०१)। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि ने भी ज्ञानदर्शनचारित्ररूप परम्परा को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया है। यथा—

“परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया मिध्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्मिध्यादृष्ट्यविरत-सम्यग्दृष्टि-विरताविरत-प्रमत्ताप्रमत्त-निवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्त-क्षीणमोह-सयोग्ययोगि-गुणस्थानभेदभिन्नया गताः ---।” (ललितविस्तार / 'सिद्धाणं—' गाथा १/पृ.३९४)।

इन प्रमाणों से 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के गुणस्थान होने की पुष्टि होती है। ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षय से प्रकट होती हैं तथा सम्यग्दर्शनदिरूप विशुद्धिविशेष के कारण क्रमशः अधिकाधिक संवर, निर्जरा आदि मोक्ष साधक कार्यों का हेतु हैं। इसीलिए इन्हें मोक्षसोपान एवं मोक्षमार्ग की परम्परा कहा गया है। अत एव गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। फलस्वरूप गुणश्रेणि-निर्जरासूत्र में गुणस्थानों को ही गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थान कहा गया है, किसी अन्य को नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत आदि अवस्थाएँ दो-दो लक्षणवाली नहीं हैं, जिनमें से एक को 'गुणश्रेणिनिर्जरा का स्थान' या 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' कहा जाय और दूसरी को 'गुणस्थान' उन सब का एक-एक ही लक्षण है। जैसे, 'सम्यग्दृष्टि' अवस्था सर्वत्र सम्यग्दर्शनज्ञान-लक्षणात्मक

ही है और श्रावक (देशविरत) अवस्था सर्वत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित-देशसंयमात्मक ही है, इत्यादि। अतः सिद्ध है कि आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ और गुणस्थान अभिन्न हैं। सम्पूर्ण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान (मोक्षसोपान) नहीं हैं। अतः डॉ० सागरमल जी का उन्हें गुणस्थानों से भिन्न मानना अप्रामाणिक है।

आश्चर्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होने से डॉक्टर सा० ने उन्हें गुणस्थान मानने से इनकार कर दिया, जब कि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि सम्पूर्ण दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में उन्हें गुणस्थान ही कहा गया है और वे गुणस्थानों के ही पारिभाषिक शब्द हैं। उन्होंने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र के प्रसंग में स्वयं लिखा है कि "इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह-) उपशमक, (चारित्रमोह-) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं।" (देखिये, पादटिप्पणी १५१)। वे यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं में गुणस्थानों का ही लक्षण व्याप्त है। यह सब जानते हुए भी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन अवस्थाओं को वे गुणस्थान मानने के लिए तैयार नहीं हुए। वे इस मान्यता पर अटल हैं कि गुणश्रेणीनिर्जरा की आधारभूत इन दस अवस्थाओं से ही आगे चलकर गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है। किन्तु गुणश्रेणीनिर्जरासूत्र से अलग भी जीव की अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि चौदह अवस्थाओं का तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख हुआ है और वहाँ उनके उल्लेख का प्रयोजन गुणश्रेणी-निर्जरा का प्ररूपण नहीं है, अपितु उनमें चतुर्विध ध्यानों, बाईस परीषहों आदि के यथायोग्य स्वामित्व का प्ररूपण है। (देखिए, आगे शीर्षक २.९)। इस प्रकार गुणश्रेणीनिर्जरा की आधारभूत दस अवस्थाओं से अलग 'अविरत', 'देशविरत' आदि चौदह अवस्थाओं का तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख होने से सिद्ध है कि उसमें चौदह गुणस्थानों की मान्यता पहले से ही उपलब्ध है। अतः यह मानना कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ है, प्रमाणविरुद्ध है। तथापि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने इस तथ्य की ओर से आँखें फेरते हुए घोषणा कर दी कि "उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं।" (जै.ध.या.स. / पृ.२४९-२५०)।

'तत्त्वार्थसूत्र' में उल्लिखित जो 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ लक्षणतः गुणस्थान हैं, उन्हें केवल इसलिए गुणस्थान न मानना कि उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग

नहीं हुआ है, वैसी ही कथा है जैसे कोई हाथी को साक्षात् खड़ा हुआ देखकर भी उसे इसलिए हाथी न माने कि उसके ऊपर 'हाथी' शब्द नहीं लिखा है।

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने इस कथा का अनुसरण इसलिए किया है, कि वे इस तरह यह सिद्ध कर सकें कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था, इसलिए षट्खण्डागम, कसायपाहुड, समयसार, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि जिन दिगम्बरग्रन्थों में सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), विरत (संयत) आदि अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग मिलता है, वे तत्त्वार्थसूत्र (उक्त विद्वान् के अनुसार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी) के बाद रचे गये हैं।

किन्तु गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् का तत्त्वार्थसूत्रोल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान न मानना प्रमाणविरुद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में (यद्यपि श्वेताम्बरसाहित्य में गुणस्थानसिद्धान्त षट्खण्डागम से अनुकृत है) 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान ही कहा गया है और उनमें गुणस्थान का ही लक्षण व्याप्त है, अतः उनका गुणस्थान होना निर्विवाद है।

२.५. सम्यग्दृष्टित्व आदि संवरादि के भी हेतु

उक्त अवस्थाओं के गुणस्थान होने की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि वे केवल उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा का आधार नहीं हैं, अपितु कर्मप्रकृतियों के उत्तरोत्तर अधिक संवर का भी हेतु हैं, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचनों से प्रकट होता है—“इदं विचार्यते कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इति?” (स. / सि. / ९ / १)। उन अवस्थाओं में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उत्तरोत्तर अल्प होता जाता है और परीषहों के हेतु भी न्यून होते जाते हैं। उनमें क्रमशः उच्चतर चारित्र धारण करने का क्षमता आती जाती है और उच्चतर ध्यान की योग्यता का भी आविर्भाव होता जाता है। इस तरह वे मात्र गुणश्रेणिनिर्जरा की हेतुभूत आध्यात्मिक विशुद्धता की दस अवस्थाएँ नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण बन्ध और मोक्ष की प्रणाली के सोपानभूत गुण-स्थान हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के ये गुण 'तत्त्वार्थ' के विभिन्न सूत्रों में प्ररूपित किये हैं, जो आगे द्रष्टव्य हैं। अतः सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार के सामने गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा पूर्णरूप में विद्यमान थी।

२.६. उपशमक-क्षपक श्रेणियों का उल्लेख

तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानों का संक्षेप में उल्लेख किया है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है।

उसमें 'उपशमक' और 'क्षपक' इन दो सामान्यग्राही संज्ञाओं से उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के १. अपूर्वकरण, २. अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और ३. सूक्ष्मसाम्पराय ये तीन गुणस्थान संकेतित किये गये हैं। उक्त संज्ञाओं से ये ही तीन गुणस्थान ग्राह्य हैं, यह षट्खण्डागम के निम्नलिखित सूत्रों से प्रमाणित है—

१. "अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।"

= अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं।

२. "अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।"

= अनिवृत्तिबादर-साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी।

३. "सुहुमसांपराइय-पविट्ट-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।"

= सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों हैं।
(षट्खण्डागम / पु.१/१,१,१६-१८)।

आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित वचनों से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

"अपूर्वकरणोपशमक-क्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक-सूक्ष्मसाम्परायो-पशमक-क्षपको ---।" (आ.ख्या. / स.सा. / गा. ५०-५५)।

इससे भी सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी है तथा वे गुणस्थानसिद्धान्त से सम्यग्रूपेण अभिज्ञ थे।

यहाँ यदि कहा जाय कि उक्त दस अवस्थाओं में परिगणित 'उपशमक' और 'क्षपक' अवस्थाओं के आधार पर उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के तीन गुणस्थानों की कल्पना कर ली गयी है, तो यह कथन प्रत्यक्षप्रमाण के विरुद्ध होगा, क्योंकि उनमें से 'अनिवृत्तिबादर-साम्पराय' और 'सूक्ष्मसाम्पराय' गुणस्थानों का तत्त्वार्थसूत्र (९ / १२, ९ / १०) में शब्दशः उल्लेख है। परीषहों के प्रकरण में अपूर्वकरण गुणस्थान को 'बादरसाम्पराय' में ही शामिल कर लिया गया है, क्योंकि उसमें भी स्थूल कषाय का अस्तित्व होने से सभी परीषह संभव हैं। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार गुणस्थानों की उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी से भी सुपरिचित थे, अर्थात् उन्हें गुरु-परम्परा से गुणस्थानसिद्धान्त का परिपूर्ण उपदेश प्राप्त हुआ था। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में 'अनन्तवियोजक' और 'दर्शनमोहक्षपक' शब्दों का प्रयोग भी तत्त्वार्थ-सूत्रकार की गुणस्थानसिद्धान्त में गहरी पैठ का परिचायक है। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

२.७. समवायांग का प्रमाण

श्वेताम्बर-आगम 'समवायांग' में गुणश्रेणिनिर्जरास्थानों को चौदह गुणस्थानों के ही अन्तर्गत बतलाया गया है। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय ग्रन्थ में 'तत्त्वार्थ' के उक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को समवायांग (१४/१५) के निम्नलिखित चौदह-गुणस्थान-निर्देशक सूत्र पर आधारित बतलाया है—

“कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवडुणा पणत्ता, तं जहा— (मिच्छा-दिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी) अविरयसम्मादिट्ठी विरयाविरए पमत्तसंजए अप्पमत्तसंजए निअट्ठिबायरे अनियट्ठिबायरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवए वा उवसंतमोहे खीणमोहे सजोगी केवली अयोगी केवली।”

डॉ० सागरमल जी ने कहा है कि समवायांग का यह सूत्र प्रक्षिप्त है। यह सही है, किन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को समवायांग के इस चतुर्दश-गुणस्थान-निर्देशक सूत्र पर आधारित माना है, अतः उनके मतानुसार उक्त सूत्र में वर्णित 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं।

२.८. जीवतत्त्वप्रदीपिका का प्रमाण

दिग्म्बर-परम्परा के श्री केशववर्णी ने भी गुणश्रेणिनिर्जरा की आधारभूत 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान ही कहा है। गोम्मतसार-जीवकाण्ड में ८ वीं गाथा से लेकर ६५वीं गाथा तक चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् निम्नलिखित दो गाथाओं में गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का प्ररूपण किया गया है—

सम्मत्तुप्पत्तीए सावयविरदे अणंतकम्मसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते ॥ ६६ ॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होति ॥ ६७ ॥

इन गाथाओं की व्याख्या करते हुए श्री केशववर्णी लिखते हैं—

“एवंविधचतुर्दशगुणस्थानेषु स्वायुवर्जितकर्मणां गुणश्रेणिनिर्जरा तत्कालविशेषं च गाथाद्वयेनाह—प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रयपरिणामचरमसमये वर्तमान-विशुद्धि-विशिष्टमिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जितज्ञानावरणादिकर्मणां यद्गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यं ततः असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान-गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम्। ततः देशसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जरा-द्रव्यमसंख्यातगुणम्। ततः सकलसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जरा-

द्रव्यमसंख्यातगुणम्।—इत्येकादशसु स्थानेषु गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यस्य प्रतिस्थान-
मसंख्यातगुणितत्वमुक्तम्।” (जी.त.प्र./ गो.जी./ गा.६६-६७)।

इस प्रकार श्री केशववर्णी ने चौदह गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थान बतलाये हैं। उन्होंने सातिशय मिथ्यादृष्टि के अतिरिक्त असंयतसम्यग्दृष्टि में भी गुणश्रेणिनिर्जरा बतलायी है। अतः उनके अनुसार गुणश्रेणिनिर्जरा के ११ स्थान हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुणस्थान ही गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थान हैं।

२.९. चतुर्दश गुणस्थानों में ध्यानादि के स्वामित्व का कथन

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ग्यारह गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा के प्ररूपण के अतिरिक्त चौदह गुणस्थानों में ध्यानभेदों के स्वामित्व का और प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिजिन पर्यन्त नौ गुणस्थानों में परीषहभेदों की पात्रता का भी कथन किया है। इसके अतिरिक्त प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक शरीर के उत्पादन की योग्यता का निर्देश किया है तथा दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थानों के आधारभूत चारित्रों पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही संयमासंयम एवं सरागसंयम के नाम से संयतासंयत एवं प्रमत्तसंयत गुणस्थानों को देवायु के बन्ध का कारण बतलाया है। यथा—

‘तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्’ (त.सू.—दि.९/३४, श्वे. ९/३५) इस सूत्र में ‘अविरत’ शब्द से अविरति-साधर्म्यवाले आदि के चार गुणस्थानों का निर्देश करते हुए मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं प्रमत्तसंयत, इन छह गुणस्थानवर्ती जीवों को आर्त्तध्यान का स्वामी बतलाया गया है। पूज्यपादस्वामी ने ‘अविरता असंयतसम्यग्दृष्टयन्ताः’ (स.सि./९/३४) इस व्याख्यान द्वारा स्पष्ट किया है कि ‘अविरत’ पद मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त चार गुणस्थानों का सूचक है। माननीय पं० सुखलाल जी संघवी ने भी उपर्युक्त सूत्र का विवेचन करते हुए लिखा है—“प्रथम (अविरत) के चार (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि) तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छह गुणस्थानों में उक्त आर्त्तध्यान संभव है।” (त.सू./वि.स./९/३१-३५/पृ.२२६)।

‘हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः’ (त.सू.—दि.९/३५, श्वे. ९/३६) यहाँ आदि के पाँच गुणस्थानों को रौद्रध्यान का पात्र कहा गया है।

‘आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य’ (९/३७) तथा ‘उपशान्त-
क्षीणकषाययोश्च’ (९/३८), ये दोनों सूत्र केवल श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में हैं। इन दोनों सूत्रों से यह अर्थ प्रतिपादित होता है कि अप्रमत्तसंयत नामक सातवें से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें तक छह गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है। पं० सुखलाल जी संघवी ने भी लिखा है—

“धर्मध्यान के स्वामियों (अधिकारियों) के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार उक्त दो सूत्रों में निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में तथा इस कथन से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानों में अर्थात् सातवें से बारहवें तक के छह गुणस्थानों में धर्मध्यान सम्भव है। दिगम्बरपरम्परा में चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान की सम्भावना मान्य है। उसका तर्क यह है कि श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही सम्यग्दृष्टि में धर्मध्यान सम्भव है और श्रेणी का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।” (त.सू./वि.स./ ९/३७-३८/पृ.२२७)।

दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यानसम्बन्धी सूत्र इस रूप में मिलता है— ‘आज्ञापाय-विपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्’ (९/३६) और पूज्यपादस्वामी ने ‘धर्म्यं ध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम्। तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति’ (स.सि.९/३६) इस वचन द्वारा असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानों को ही धर्मध्यान का अधिकारी बतलाया है।

‘शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः’ (त.सू.—दि.९/३७, श्वे. ९/३९), तथा ‘परे केवलिनः’ (त.सू.—दि.९/३८, श्वे. ९/४०) ये दोनों सूत्र दिगम्बरमतानुसार ८वें से लेकर १४वें तक सात गुणस्थानों में और श्वेताम्बरमतानुसार ११वें से लेकर १४वें तक चार गुणस्थानों में जीव को क्रमशः चार प्रकार के शुक्लध्यानों का अधिकारी प्ररूपित करने के लिए रचे गये हैं। इन सूत्रों का अर्थ करते हुए पं० सुखलाल जी संघवी लिखते हैं—“उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान पूर्वधर को होते हैं। --- शेष दो भेदों के स्वामी केवली अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवाले ही हैं।” (त.सू./वि.स./ ९/३९-४०/पृ.२२७-२२८)।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में दिगम्बरमतानुसार पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक आर्तध्यान, पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान, चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान और आठवें से लेकर चौदहवें तक शुक्लध्यान का प्ररूपण किया गया है। तथा श्वेताम्बरमतानुसार पहले से छठे तक आर्तध्यान, पाँचवें तक रौद्रध्यान, सातवें से बारहवें तक धर्मध्यान और ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान का स्वामित्व बतलाया गया है। इस तरह तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का उल्लेख स्पष्टरूप से मिलता है।

निम्नलिखित सूत्रों में बाईस परीषहों की यथायोग्य पात्रता बतलाने के लिए नौ गुणस्थानों का निर्देश किया गया है—

‘सूक्ष्मसाम्परायच्छब्दस्थवीतरागयोश्चतुर्दश’ (त.सू.—दि.९/१०, श्वे.९/१०)। यहाँ सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें और वीतरागच्छब्दस्थ नामक ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थानों में चौदह परीषहों की सम्भावना बतलायी गयी है। ११वें और १२वें गुणस्थानों के नाम क्रमशः उपशान्तमोह और क्षीणमोह हैं, जिनका निर्देश तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र (९/४५) में किया है तथा श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के ‘उपशान्तक्षीणकषाययोश्च’ (९/३८) सूत्र में किया गया है।

‘एकादश जिने’ (९/११) सूत्र में ‘जिन’ शब्द से सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक १३वें और १४वें गुणस्थान सूचित किये गये हैं और उनमें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, इन ग्यारह परीषहों की संभावना व्यक्त की गई है, क्योंकि इनके कारणभूत वेदनीयकर्म की सत्ता उक्त दोनों गुणस्थानों में होती है। पं० सुखलाल जी संघवी लिखते हैं—“तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल ग्यारह ही परीषह संभव हैं। --- शेष ग्यारह घातिकर्मजन्य होते हैं और इन गुणस्थानों में घातिकर्मों का अभाव होने से वे संभव नहीं हैं।” (त.सू./वि.स./९/११/पृ.२१६)। श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी ने भी ‘जिन’ शब्द को अन्त्य (१४वें) और उपान्त्य (१३वें) गुणस्थानों का सूचक बतलाया है—“तत्रान्त्योपान्त्य-योर्गुणस्थानयोर्जिनत्वम् ---।” (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति/९/११)।

‘बादरसाम्पराये सर्वे’ (त.सू.—दि. ९/१२, श्वे. ९/१२) इस सूत्र के द्वारा छठे से लेकर नौवें गुणस्थान तक सभी बाईस परीषह संभव बतलाये गये हैं। (देखिये, अगला शीर्षक २.११.२)।

‘सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम्’ (त.सू.—दि.९/१८, श्वे.९/१८) इस सूत्र में दसवें गुणस्थान के आधारभूत सूक्ष्म-साम्परायचारित्र का एवं ग्यारहवें-बारहवें, गुणस्थानों के आधारभूत यथाख्यातचारित्र का कथन किया गया है।

‘शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव’ (त.सू.—दि.२/४९) इस सूत्र के द्वारा प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव को आहारक-शरीर का स्वामी बतलाया गया है।

‘सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य’ (त.सू.—दि.६/२०, श्वे. ६/२०) यह सूत्र पाँचवें और छठे गुणस्थानों में देवायु के आस्रव का प्रतिपादक है।

‘त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्’ (त.सू.—दि. ९/४०, श्वे.९/४२) यहाँ अयोग शब्द के द्वारा अयोगिकेवलि-गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवर्ति-ध्यान की पात्रता बतलायी गयी है।

इन सूत्रों में १. अविरत, २. देशविरत, ३. प्रमत्तसंयत, ४. अप्रमत्तसंयत, ५. बाँदर-साम्पराय, ६. सूक्ष्मसाम्पराय, ७. उपशान्तकषाय, ८. क्षीणकषाय और ९. केवली, इन नौ गुणस्थानों का शब्दतः निर्देश किया गया है। इनमें 'अविरत' शब्द से मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान द्योतित किये गये हैं। 'त्र्येकयोग-काद्ययोगायोगानाम्' सूत्र में 'अयोगानाम्' पद अयोगकेवलि-गुणस्थान का प्रतिपादक है तथा 'एकादश जिने' सूत्र में 'जिन' शब्द सयोगिजिन और अयोगिजिन दोनों का वाचक है। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में पठित 'उपशमक' और 'क्षपक' शब्द उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार शब्दतः या अर्थतः समस्त चौदह गुणस्थानों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में किया गया है। अतः यह कथन सत्य का महान् अपलाप है कि तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का निर्देश नहीं है, फलस्वरूप उसमें गुणस्थान-अवधारणा का पूर्णतः अभाव है। इसलिए यह मान्यता भी महामिथ्या है कि गुणस्थानसिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद हुआ है। निष्कर्षतः यह मन्तव्य भी सर्वथा असत्य है कि गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों से गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानावरणकर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं, दर्शनमोह और अन्तराय के उदय में अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं, चारित्रमोहोदय के कारण नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं और वेदनीयकर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्चा, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श एवं मल परीषह होते हैं। (त.सू./ ९ / १३-१६)। यतः दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में दर्शनमोह एवं चारित्रमोह का उदयाभाव होता है, अतः उनमें तज्जन्य आठ परीषह नहीं होते, किन्तु ज्ञानावरण, अन्तराय और वेदनीय का उदय होता है इसलिए तन्निमित्तक चौदह परीषह हो सकते हैं। 'जिन' में केवल वेदनीय का उदय होता है, शेष का नहीं, अतः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में ग्यारह परीषह ही संभव हैं। किन्तु छठे से नौवें तक परीषहोत्पादक सभी कर्मों का उदय होता है, अतः उनमें सभी परीषहों की संभावना बतलायी गयी है। इस स्पष्टीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणस्थान-विषयक सर्वाङ्गीण ज्ञान था।

२.१०. चौदह का एक साथ निर्देश अनावश्यक था

गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने अपने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि "उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का स्पष्टरूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि उनके समय तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी।" (देखिए, इसी प्रकरण की शीर्षक १)। सम्भवतः मान्य विद्वान् के कथन का यह

तात्पर्य है कि उमास्वाति ने किसी स्वतन्त्रसूत्र में चौदह गुणस्थानों का उल्लेख करते हुए यह नहीं कहा कि ये गुणस्थान हैं। केवल इसलिए मान्य विद्वान् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था।

किन्तु ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं, जो आगम में बहुचर्चित हैं, फिर भी तत्त्वार्थसूत्र में उनका स्वतन्त्ररूप से उल्लेख नहीं हुआ। जैसे षड्लेश्यासिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थ 'स्थानांग' (१/५१) और 'प्रज्ञापना' (१७/१ लेश्याधिकार) में हुआ है, तथापि तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा कोई स्वतन्त्रसूत्र नहीं है, जिसमें छहों लेश्याओं के नाम वर्णित कर यह कहा गया हो कि ये लेश्याएँ हैं। केवल 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः' (त.सू.—दि.४/२), 'तृतीयः पीतलेश्यः' (त.सू.—श्वे.४/२), 'पीतान्तलेश्याः' (त.सू.श्वे.—४/७) और 'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' (त.सू.—दि.४/२२, श्वे.४/२३), इन सूत्रों के द्वारा देवों के प्रसंग में मात्र तीन लेश्याओं का नामतः उल्लेख हुआ है। और 'पीतान्त' शब्द से आदि की तीन लेश्याओं का द्योतन मात्र किया गया है। अतः किसी स्वतन्त्र सूत्र में षड्लेश्याओं का नामनिर्देश करते हुए उन्हें 'लेश्या' शब्द से अभिहित न किये जाने से क्या यह मान लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्रकार के समय तक षड्लेश्याओं की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी? इसी प्रकार सप्तभंगी के सात भंगों का निरूपण पंचम आगम भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति)^{१६२} में हुआ है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में उसका नाम तक नहीं है। तो क्या यह समझ लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? तत्त्वार्थसूत्र में मुनियों के दिगम्बरमतानुसार २८ मूलगुणों का और श्वेताम्बर-आगम 'स्थानांग' (२७/१७८) के अनुसार २७ मूलगुणों का वर्णन नहीं है, तो क्या यह निर्णय कर लिया जाय कि ईसा की चौथी शताब्दी अर्थात् श्वेताम्बरमान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में मुनियों के २८ या २७ मूलगुणों की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी? तत्त्वार्थसूत्र में 'आर्थिका' शब्द का उल्लेख नहीं है, न ही आर्थिकाओं के लिए किसी आचारमार्ग का निर्देश है, तो क्या यह मान लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक स्त्रियों के दीक्षित होने की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में णमोकारमन्त्र का पाठ नहीं है, न ही पञ्चपरमेष्ठी के नामों का उल्लेख है, तो क्या यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईसा की चौथी शताब्दी तक जैनधर्म में पञ्चपरमेष्ठी की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी?

१६२. "गोयमा, चउप्पएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया तिय, सिय आया य नो आया य, सिय आया य अवत्तव्वं, सिय नो आया य अवत्तव्वं, सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं।" व्याख्याप्रज्ञप्ति १२/१०/३०(१)/पृष्ठ २३५।

गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् के तर्क से ऐसे अनेक विपरीत अर्थ फलित होते हैं, अतः उनका तर्क समीचीन नहीं है। 'तत्त्वार्थ' में तो अनेक सूत्रों के द्वारा चौदह गुणस्थानों तथा उनकी कारणकार्य-व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है, यदि यह भी न हुआ होता, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी, ठीक वैसे ही जैसे उसमें मुनियों के २८ या २७ मूलगुणों, 'आर्यिका' शब्द और उनके आचार तथा पञ्चपरमेष्ठी के नामों का उल्लेख न होने पर यह सिद्ध नहीं होता कि इनकी अवधारणाओं का विकास तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक नहीं हुआ था, क्योंकि इनका पूर्वभाव आगमप्रमाण से सिद्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का एक साथ निर्देश करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि पूर्वरचित ग्रन्थों में यह अनेकत्र किया गया है। सूत्रग्रन्थों का उद्देश्य 'सांकेतिक भाषा में विषयवस्तु का संक्षेप में प्रतिपादन करना होता है। अतः जिस विषय या सिद्धान्त की परिभाषा (व्याख्या) पूर्वरचित ग्रन्थों में हो चुकती है, या भेदों का निरूपण किया जा चुका है, उसकी पुनरावृत्ति सूत्रग्रन्थ में नहीं की जाती, जब तक वह अनिवार्य न हो। उससे सम्बन्धित केवल पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण, अवग्रह, ईहा, अवाय, नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, एवंभूत, समभिरूढ, सम्मूर्च्छन, उपयोग, दर्शन, लेश्या, कषाय, मूर्च्छा, अनन्तानुबन्धी, संज्वलन, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, बादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशमक, क्षपक, परीषह आदि ऐसे ही पारिभाषिक शब्द हैं। इनमें से किसी की भी परिभाषा (व्याख्या) तत्त्वार्थसूत्र में नहीं की गयी है और केवल इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण कारण-कार्य-व्यवस्था प्रतिपादित कर दी गयी। इससे सिद्ध होता है कि इन पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ या इनका सैद्धान्तिक स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र से पहले रचे गये ग्रन्थों में स्पष्ट किया जा चुका है, उनमें वह बहुचर्चित है। यदि ऐसा न होता, तो तत्त्वार्थसूत्र में इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उन्हें परिभाषित किये बिना संभव न होता, क्योंकि उस स्थिति में इनसे अभिप्रेत या जिनागमसम्मत अर्थ ग्रहण करना असम्भव होता। अतः तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का एक साथ निर्देश एवं व्याख्या किये बिना जो सम्यग्दृष्टि, अविरत, देशविरत आदि गुणस्थानविशेष-वाचक शब्दों का उल्लेख करते हुए ध्यानादिभेदों का स्वामित्व वर्णित किया गया है, उससे सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में बहुचर्चित रहा है।

जैसे वृक्ष के अस्तित्व के बिना फल का अस्तित्व नहीं हो सकता, वैसे ही गुणस्थान-सिद्धान्त के अस्तित्व के बिना गुणस्थान के विभिन्न भेदों का अस्तित्व संभव नहीं है। जैसे लेश्या की अवधारणा के बिना कृष्ण, नील, कापोत आदि लेश्याभेद-वाचक नामों का प्रचलन असंभव है, वैसे ही गुणस्थान की अवधारणा के बिना अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानभेद-वाचक संज्ञाओं का प्रचलन असंभव है। यतः इन गुणस्थानभेद-वाचक संज्ञाओं का बहुशः प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है, अतः गुणस्थान की अवधारणा तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुई है, यह मान्यता अयुक्तियुक्त और प्रत्यक्ष प्रमाण-विरुद्ध है।

२.११. प्रतिपादनशैली से गुणस्थानसिद्धान्त के पूर्वभाव की पुष्टि

२.११.१. गुणस्थान-विवरण के बिना गुणस्थानाश्रित निरूपण—उपरिदर्शित पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थद्योतन की शैली पर ध्यान देने से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणस्थानाश्रित निरूपण को संक्षिप्त बनाने के लिए दो उपायों का अवलम्बन किया है। उनमें पहला है गुणस्थान-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किये बिना गुणस्थानानुसार ध्यान-परीषहादि का प्रतिपादन। उन्होंने न तो किसी सूत्र में गुणस्थान का लक्षण बतलाया है, न चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया है, न ही अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों की व्याख्या की है और न ही इन्हें 'गुणस्थान' नाम से सम्बोधित किया है। वे सीधे गुणस्थान-विशेष का नाम लेते हुए यह बतलाते चले गये हैं कि किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं, किस गुणस्थान में कौन सा ध्यान संभव है, किस गुणस्थान में किस कर्मप्रकृति का बन्ध हो सकता है और किन गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इससे सूचित होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार भलीभाँति जानते थे कि जिनागम में गुणस्थान-सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है और अनेक पूर्वग्रन्थों में उसका विस्तार से निरूपण है, अतः श्रुताराधक टीकाकारों और उपदेशकों को 'तत्त्वार्थ' के सूत्रों की टीका-व्याख्या करना दुरूह नहीं होगा। पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों के द्वारा वे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि जीवावस्थाओं की गुणस्थानात्मकता, उनकी उत्पत्तिविषयक सम्पूर्ण कारणव्यवस्था, उनकी उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षयात्मकता, उनकी मिथ्यात्व-सम्यक्त्व, अविरति-विरति, प्रमाद-अप्रमाद, कषाय-अकषाय, योग-अयोगमयता, उनकी आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष एवं ध्यान-परीषहादि-सम्बन्धी योग्यता तथा उन अवस्थाओं की चतुर्दशविध तरतमता सरलतया समझ जायेंगे। इसी विचार से सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में इन सबकी प्ररूपणा नहीं की।

यदि गुणस्थान-सिद्धान्त पूर्वप्रसिद्ध न होता, तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो उसका परिचय दिये बिना, केवल गुणस्थानों का नामोल्लेख करते हुए, परीषहादि के स्वामित्व का

वर्णन किया है वह कार्यकारी न होता, क्योंकि पाठक जब यही नहीं समझ पाते कि अविरत, देशविरत आदि किसके नाम हैं, उनसे क्या विवक्षित है, तब उनके विषय में किये गये कथन को यथावत् कैसे ग्रहण कर पाते? अतः सिद्ध है कि गुणस्थान-सिद्धान्त पूर्वप्रसिद्ध था, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसका परिचय दिये बिना ही गुणस्थान-सम्बन्धी निरूपण किया है।

दूसरी बात यह है कि यदि सूत्रकार स्वयं गुणस्थान-सिद्धान्त से अपरिचित होते, तो न तो वे उक्त गुणस्थान-भेदों का उल्लेख कर पाते, न ही उनमें विभिन्न परीषहों, ध्यानभेदों और गुणश्रेणीनिर्जरा के स्वामित्व का जो आगमसम्मत निरूपण किया है, वह संभव होता। इससे ज्ञात होता है कि वे गुणस्थान-सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित थे। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार की प्रतिपादनशैली से गुणस्थान-सिद्धान्त के पूर्वभाव की पुष्टि होती है।

यदि कोई कहे कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त गुणस्थानभेद स्वबुद्धि से कल्पित किये हैं और उनमें जिन परीषहादि भेदों का अस्तित्व बतलाया है, वह भी उनकी कल्पना की उपज है, तो यह युक्ति और प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि—

१. यदि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि जीव-अवस्थाओं को तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्वबुद्धि से कल्पित किया होता, तो वे उनका सुव्यवस्थित (विधिपूर्वक) प्रतिपादन करते। अर्थात् ये क्या हैं, किसके भेद हैं, यह बतलाने के लिए सूत्रकार इन्हें गुणस्थान या जीवसमास आदि कोई नाम देते तथा इनके कुल कितने भेद हैं, यह स्पष्ट करने के लिए एक सूत्र में इन सब का नामोल्लेख करते तथा ये भेद किस आधार पर किये गये हैं, यह भी स्पष्ट करते। क्योंकि ऐसा करने पर ही उनके नवीन सिद्धान्त को पाठक हृदयंगम करने में समर्थ हो पाते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे सिद्ध है कि गुणस्थानों के तत्त्वार्थसूत्र-निर्दिष्ट भेद सूत्रकार द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु आगमोक्त हैं। आगम (कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों) में गुणस्थानों का विधिपूर्वक प्रतिपादन होने से तत्त्वार्थकर्ता ने अपने ग्रन्थ में उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं समझी।

२. यदि गुणस्थान तत्त्वार्थकर्ता द्वारा कल्पित होते, तो आगमसिद्ध न होने के कारण समकालीन आचार्य उन्हें मान्यता प्रदान न करते, किन्तु किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया। इससे सिद्ध है कि वे आगमोक्त ही हैं, तत्त्वार्थकर्ता द्वारा कल्पित नहीं।

३. अनेक प्रमाण इस बात की गवाही देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रंथों के आधार पर की गई है (देखिए 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक अध्याय)।

इससे भी साबित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित गुणस्थान उसके कर्त्ता ने कल्पित नहीं किये।

४. श्वेताम्बरपरम्परा में उमास्वाति को सूत्र और भाष्य दोनों का कर्त्ता माना गया है। भाष्य की सम्बन्धकारिकाओं में उमास्वाति ने कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र एक संग्रह-ग्रन्थ है।^{१६३} अर्थात् उसमें प्रतिपादित विषय पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से संगृहीत किये गये हैं। यह भी इस बात का प्रमाण है कि तत्त्वार्थसूत्रोल्लिखित गुणस्थान तत्त्वार्थसूत्रकार की बुद्धि से उद्भूत नहीं, अपितु आगमोक्त हैं।

५. श्वेताम्बरीय 'जीवसमास' (छठी शती ई०) में चौबीस तीर्थंकरों को चौदह गुणस्थानों का ज्ञाता कहा गया है,^{१६४} जिससे सिद्ध है कि श्वेताम्बराचार्य भी उमास्वाति को गुणस्थानसिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते। इसका फलितार्थ यह है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणस्थानसिद्धान्त का ज्ञान आचार्यपरम्परा से प्राप्त था अर्थात् वह जिनोपदिष्ट है।

२.११.२. अन्तदीपकन्याय से अनुक्त गुणस्थानों का द्योतन—गुणस्थानाश्रित निरूपण के संक्षिप्तीकरण के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो दूसरा उपाय अपनाया है, वह है अन्तदीपकन्याय से अनुक्त गुणस्थानों का द्योतन।

ग्रन्थकार ने अन्तदीपकन्याय से समानधर्म-वाचक शब्द के द्वारा सभी समानधर्म गुणस्थानों को द्योतित किया है। जैसे आर्त्तध्यान के स्वामियों (पात्रों) का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।' (त.सू./९/३४) (= वह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों को होता है)। यहाँ 'अविरत' शब्द को अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त कर उसके द्वारा अविरति-धर्मवाले मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत-सम्यग्दृष्टि इन आदि के चार गुणस्थानों का बोध कराया गया है,^{१६५} क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में आर्त्तध्यान सम्भव है। यदि 'अविरत' शब्द से केवल अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान का उल्लेख माना जाय तो यह सिद्ध होगा कि मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में आर्त्तध्यान नहीं होता, जो आगमविरुद्ध है। अतः स्पष्ट है कि 'अविरत' पद उपर्युक्त चार गुणस्थानों का द्योतन करता है। माननीय पं०

१६३. तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

१६४. दस चोद्दस य जिणवरे चोद्दस गुणजाणए नर्मसिता।

चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि ॥ १ ॥ जीवसमास।

१६५. "अविरताः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः।" (स.सि / ९ / ३४) । "असंजद इदि जं सम्पादट्टिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्टिल्लाणं सयलगुणट्टाणाणमसंजदत्तं परूवेदि।" धवला / ष.ख / पु.१ / १, १, १२ / पृ.१७४।

सुखलाल जी संघवी ने भी उक्त सूत्र का विवेचन करते हुए लिखा है—“प्रथम (अविरत) के चार (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि) तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छः गुणस्थानों में उक्त आर्तध्यान संभव है।” (त.सू./वि.स./९/३१-३५/पृ.२२६)।

इसी प्रकार रौद्रध्यान के पात्रों का कथन करते हुए सूत्रकार ने यह सूत्र रचा है—‘हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः’ (त.सू./९/३५)।

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के निमित्त से अविरत और देशविरत जीवों को रौद्रध्यान होता है।

यहाँ भी ‘अविरत’ पद अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, अत एव उससे भी उपर्युक्त चारों गुणस्थान संकेतित किये गये हैं।

‘बादरसाम्पराये सर्वे’ (त.सू./९/१२) इस सूत्र में प्रयुक्त ‘बादरसाम्पराय’ पद श्वेताम्बरमत के अनुसार अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान का वाचक है और अन्तदीपकन्याय से अपने साथ अपने से पूर्ववर्ती गुणस्थानों का भी बोध कराता है। यह स्पष्टीकरण पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना में इस प्रकार किया है—

“जिसमें सम्पराय (कषाय) की बादरता अर्थात् विशेषरूप में सम्भावना हो उस बादरसम्पराय नामक नवें गुणस्थान में बाईस परीषह होते हैं, क्योंकि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नवें गुणस्थान में बाईस परीषहों की संभावना का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों में उतने ही परीषह संभव हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है।” (त.सू./वि.स./९/१०-१२/पृ.२१६)।

दिगम्बरमत इससे भिन्न है। सर्वार्थसिद्धि (९/१२) में बादरसाम्पराय शब्द को नवम गुणस्थान का वाचक न मानकर स्थूलकषाय का वाचक स्वीकार करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान से पहले के प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्ति बादरसाम्पराय, इन चार गुणस्थानों का बोधक माना है, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—“साम्परायः कषायः। बादरः साम्परायो यस्य स बादरसाम्पराय इति। नेदं गुणस्थानविशेष-ग्रहणम्। किं तर्हि? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम्” (स.सि./९/१२)।

इस प्रकार आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक के रूप में किसी विशेषण का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब उससे संकेतित धर्म अनेक पदार्थों में हो और वे परस्पर अनुबद्धक्रम में आगमप्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध हों। जैसे, चौदह गुणस्थान

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, इस क्रम से परस्पर अनुबद्धरूप में शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, इसीलिए 'अविरत' शब्द अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर इन चारों गुणस्थानों का बोध कराता है, क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में अविरतिभाव मौजूद है। यदि ये चारों उक्त प्रकार से अनुबद्धक्रम में आगमप्रसिद्ध न होते, तो न तो कोई ग्रन्थकार 'अविरत' शब्द का अन्तदीपक के रूप में प्रयोग कर सकता था, न ही कोई पाठक या टीकाकार इस शब्द से उक्त चारों गुणस्थानों का अभिप्राय ग्रहण कर पाता।

यतः तत्त्वार्थसूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में 'अविरत' और 'बादरसम्प्राय' शब्दों का प्रयोग अन्तदीपक के रूप में किया है अर्थात् उनके द्वारा उक्त धर्मोंवाले सभी पूर्ववर्ती गुणस्थानों का कथन किया है, अतः इस प्रतिपादनशैली से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार के काल में चौदह गुणस्थान परस्पर-अनुबद्ध क्रम में आगमप्रसिद्ध थे और वे आगम थे कसाय-पाहुड, षट्खण्डागम, समयसार, मूलाचार आदि। अतः गुणस्थानसिद्धान्त के विषय में जो विकासवादी अवधारणा थोपी गई है और तत्त्वार्थसूत्र में जो उसके बीजमात्र होने की अवधारणा पैदा की गयी है, वह एक महान् सत्य का अपलाप करने की खेदजनक चेष्टा है।

२.१२. तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित

जीव के चतुर्दश-गुणस्थानरूप परिणामों, उनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप फलों तथा उन परिणामों की चतुर्विध-ध्यानादि-विषयक योग्यताओं का वर्णन ही सम्पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र में है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के सद्भाव और अभाव से युक्त जीव अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। इन पाँच भावों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (त. सू. / ८ / १) इस सूत्र में किया है। ये बन्ध के हेतु हैं, इसलिए इनके अभाव से प्रकट सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पाँच भाव मोक्ष के हेतु हैं, यह अर्थ उन्हें बन्ध-हेतु कहने से स्वतः फलित होता है। इस प्रकार सभी चौदह गुणस्थान इस एक सूत्र द्वारा द्योतित किये गये हैं। उदाहरणार्थ, मिथ्यादर्शन के उदय से युक्त जीव की अवस्था का नाम मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान है। अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यग्दर्शन के विनाश और एक समय से लेकर अधिक से अधिक छह आवली-काल तक मिथ्यादर्शन के उदय न होने की अवस्था को सासादन-गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यादर्शन के अनुदय, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व के उदय की अवस्था सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान कहलाती है। मिथ्यादर्शन के विनाश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन तथा उसके साथ अविरति के सद्भाव की अवस्था अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कही गयी है। अविरति और विरति की मिश्रावस्था को देशविरत या संयतासंयत-गुणस्थान

शब्द से अभिहित किया गया है। अविरति के सर्वथा अभाव, किन्तु प्रमाद के सद्भाव की अवस्था को प्रमत्तसंयत-गुणस्थान संज्ञा प्रदान की गयी है, और अविरति तथा प्रमाद दोनों के अभाव की अवस्था अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान नाम से वर्णित की गयी है। अविरति और प्रमाद के अभाव के साथ उपशम या क्षय के द्वारा उत्तरोत्तर न्यून होती हुई कषायों के उदय से युक्त अवस्थाओं को क्रमशः अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान नाम दिये गये हैं। समस्त कषायों के उपशम से युक्त अवस्था उपशान्तमोह-गुणस्थान और क्षय से युक्त अवस्था क्षीणमोह-गुणस्थान कही गयी है। केवलज्ञान के साथ योग के सद्भाव की अवस्था को सयोगिकेवली-गुणस्थान और योग के अभाव की अवस्था को अयोगिकेवली-गुणस्थान नामों से व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त बन्धहेतु-सूत्र द्वारा जीव की चौदह गुणस्थानरूप अवस्थाएँ द्योतित की गयी हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में बन्ध के मिथ्या-दर्शनादि पाँचों हेतु विद्यमान होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में मिथ्यादर्शन को छोड़कर शेष चार बन्धहेतुओं का अस्तित्व होता है। संयता-संयत-गुणस्थान में विरतिमिश्र-अविरति (स. सि. / ८ / १, तत्त्वार्थवृत्ति ८ / १) तथा प्रमाद, कषाय और योग ये चार बन्ध हेतु उपलब्ध होते हैं। प्रमत्तसंयतगुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग इन तीन बन्धहेतुओं की सत्ता होती है। अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानों में कषाय और योग, ये दो बन्धहेतु होते हैं। तथा उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय एवं सयोगिकेवली गुणस्थानों में मात्र योग नामक बन्धहेतु का अस्तित्व होता है। अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी बन्धहेतु नहीं होता।

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ (त.सू./१/१) सूत्र असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक के ग्यारह गुणस्थानों को प्रतिबिम्बित करता है, क्योंकि ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अवस्थाएँ हैं। **‘तपसा निर्जरा च’** (त.सू./१/३) सूत्र द्वारा तप को निर्जरा का साधन निरूपित कर, ध्यान को छह आभ्यन्तर तपों में परिगणित कर और चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों को ध्यान का अधिकारी बतलाकर उक्त ग्यारह गुणस्थानों को ही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित किया गया है।^{१६६} इस तरह तत्त्वार्थसूत्र के प्रतिपाद्य विषय की आधारशिला ही चौदह-गुणस्थान हैं। **“औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च”** (त.सू./२/१)—जीव के इन पाँच

१६६. “मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।” धवला / ष.ख. / पु.१/१,१,२२/पृ.२०१।

भावों में से प्रथम चार भाव भी औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक गुणस्थानों के निष्पादक हैं। और षष्ठ अध्याय में तेरह गुणस्थानों को ही विभिन्न कर्म प्रकृतियों का आस्रवक बतलाया गया है, जैसे—'सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य' (त.सू./६/२०)। इस सूत्र में 'सरागसंयम' शब्द द्वारा षष्ठ एवं सप्तम गुणस्थानों को और 'संयमासंयम' शब्द से पञ्चम गुणस्थान को देवायु का आस्रवक बतलाया गया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित ही है। यदि गुणस्थान-व्यवस्था का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद हुआ होता, तो उसमें षट्खण्डागम की गुणस्थान-व्यवस्था से अक्षरशः संगति रखनेवाला इतना सुव्यवस्थित, निर्दोष, गुणस्थान-केन्द्रित विषय-प्रतिपादन नहीं हो सकता था। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को षट्खण्डागम, भगवती-आराधना आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्ररूपित गुणस्थान-व्यवस्था का ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त था। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि इन ग्रन्थों की रचना तत्त्वार्थसूत्र की रचना से पहले हुई थी।

२.१३. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-केन्द्रित निरूपण सर्वमान्य

सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों और विद्वानों को यह मान्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-केन्द्रित प्ररूपण है। पूज्यपाद, अकलंकदेव, श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी आदि की टीकाएँ इसका प्रमाण हैं। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में आये वीतरागच्छद्वास्थ शब्द का अर्थ ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तमोह और क्षीणमोह निर्ग्रन्थ किया है—“उपशमितक्षपितमोहजाला विगताशेषरागद्वेषमोहत्वाद् एकादश-द्वादशगुणस्थानवर्तिनस्ते छद्वास्थाः।” (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ९/४८/पृ.२८४)। तथा सयोगाः और शैलेशीप्रतिपन्नाः को क्रमशः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती स्नातक शब्द से व्याख्यात किया है, यथा—“सयोगाः त्रयोदश-गुणस्थानवर्तिनो निरस्तघाति-कर्मचतुष्टयाः केवलिनः स्नातकाः। शैलेशीप्रति-पन्नाश्चेत्यनेनायोगकेवलिन उपात्ताः।” (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ९/४८/पृ.२८४) इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थान-केन्द्रित निरूपण है, यह तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार सिद्धसेनगणी को भी मान्य है।

‘भगवती-आराधना’ के टीकाकार अपराजितसूरि ने लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानमात्र का आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यान के स्वामियों का कथन किया गया है। जैसे—

“तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां, हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोरिति गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात्।” (वि.टी./गाथा-‘धम्म’ १६९४)।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में बाईस परीषहों, चतुर्विध ध्यानों और गुणश्रेणी निर्जरा के स्वामित्व का कथन गुणस्थान के आश्रय से किया गया माना है। यह उनके पूर्वोद्धृत कथनों से स्पष्ट है।

गुणस्थाननियम के आश्रय से बन्ध और मोक्ष के कारणभूत परिणामों का सुसंगत कथन तब तक संभव नहीं है, जब तक गुणस्थाननियम आगमसिद्ध न हो और ग्रन्थकार को उसका परिपूर्ण ज्ञान न हो। तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा किया गया कथन अत्यन्त संगत है। इसीलिए सभी टीकाकारों ने उसका अनुसरण किया है और अन्य ग्रन्थकारों ने उसे प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, जैसे अपराजितसूरि ने उपर्युक्त उद्धरण में। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के समय गुणस्थाननियम आगमप्रसिद्ध था और तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को उसका ज्ञान आचार्यपरम्परा से प्राप्त था। पता नहीं डॉ० सागरमल जी को तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थाननियम या गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज ही क्यों दृष्टिगोचर हुए, चतुर्दश शाखाओं से समृद्ध इतना विशालवृक्ष उनकी दृष्टि में क्यों नहीं आया? अस्तु।

ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में न केवल चौदह गुणस्थानों की अवधारणा है, अपितु चौदह गुणस्थानों के आश्रय से बाईस परीषहों, चतुर्विध ध्यानों और गुणश्रेणिनिर्जरा के स्वामियों का कथन किया गया है, जिसका समर्थन श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी तथा प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी की टीकाओं से भी होता है। अतः डॉ० सागरमल जी का यह कथन सर्वथा असत्य है कि “तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती ई०) में गुणस्थान-सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है, इसलिए वह उस समय की रचना है जब गुणस्थानसिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था।”

२.१४. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-अवधारणा के सुदृढ़ प्रमाण

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा सुदृढ़-रूप में विद्यमान है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के नाम निर्दिष्ट किये हैं, गुणस्थानों से सम्बन्धित उपशमक और क्षपक श्रेणियों तथा ‘अनन्तवियोजक’ एवं ‘दर्शनमोहक्षपक’ संज्ञाओं का उल्लेख किया है। विभिन्न सूत्रों में गुणस्थानानुसार परीषहों के पात्रों एवं चतुर्विध ध्यान के स्वामियों का प्ररूपण किया है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार के सामने गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा पूर्णरूप में मौजूद थी।

यदि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पहले गुणस्थान की अवधारणा न होती, तो तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवाचक संज्ञाओं का प्रयोग भी न हुआ होता, क्योंकि गुणस्थान-अवधारणा के अभाव में ये अस्तित्व में ही न आये होते। गुणस्थान की अवधारणा के अभाव में यह निर्णय भी

न हो पाता कि किन गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, किस गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं और किस गुणस्थान में कौन सा ध्यान होता है? उक्त स्थिति में उपशमक, क्षपक, अनन्तवियोजक और दर्शनमोहक्षपक जैसे गुणस्थानसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी संभव न होता। चारित्र के सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात भेदों की अवधारणा भी असंभव होती। यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता था कि आहारकशरीर की प्राप्ति प्रमत्तसंयत को ही हो सकती है। गुणस्थानसम्बन्धी ये सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध हैं, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा तत्त्वार्थसूत्रकार को अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त हुई थी, तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित नहीं हुई।

२.१५. तत्त्वार्थसूत्र की कर्मव्यवस्था से गुणस्थानव्यवस्था स्वतः सिद्ध

'तत्त्वार्थसूत्र' में जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय की व्यवस्था का, औदयिक आदि पाँचों भावों का, दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय की विभिन्न प्रकृतियों का एवं मिथ्यादर्शनादि पाँच बन्धहेतुओं का निर्देश किया गया है, उससे चौदह गुणस्थानों की व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से प्रकट होनेवाली जीव की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। कर्मों का उदय तो अनादिकाल से है, उपशम आदि मोक्ष के पौरुष से होते हैं। अतः मोक्ष-पौरुष से ज्यों-ज्यों कर्मों के उपशम आदि होते हैं, त्यों-त्यों सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान अपने आप प्रकट होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने "औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।" (त.सू./ २/१), इस सूत्र में जीव के पाँच भाव बतलाये हैं : औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इनमें औदयिक भाव इक्कीस हैं, जिनमें मिथ्यादर्शन जीव में अनादिकाल से प्रकट है, जो पहला 'गुणस्थान' है। "सम्यक्त्वचारित्रे" (त.सू./ २/३) सूत्र में औपशमिक भावों के भेद बतलाये गये हैं। वे दो हैं : औपशमिक-सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्र। औपशमिक-सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के अप्रशस्त उपशम एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के स्तिवुक-संक्रमण या विसंयोजना से प्रकट होता है, वह चतुर्थ गुणस्थान है। औपशमिक-चारित्र चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से प्रकट होता है। पूर्वापर-कारणकार्यभाव एवं कर्मप्रकृतियों के क्रमशः उपशम से उपशमचारित्रवाले गुणस्थान के चार भेद होते हैं : अपूर्वकरण-उपशमक, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तमोह। इनमें से अन्तिम तीन का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित सूत्रों में किया है— "बादरसाम्पराये सर्वे" (९/१२), "सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश" (९/१०) एवं "सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्" (९/१८)। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में भी 'उपशमक' संज्ञा द्वारा उपशमचारित्रवाले

प्रथम तीन गुणस्थानों का एवं 'उपशान्तमोह' शब्द द्वारा अन्तिम का निर्देश किया गया है।

अपूर्वकरण-गुणस्थान से सम्बन्धित कुछ कहने योग्य विषय-विशेष तत्त्वार्थसूत्रकार के मन में नहीं था, केवल परीषहों का वर्णन अपेक्षित था। यतः अपूर्वकरण भी स्थूलकषा-यात्मक है, अतः सभी स्थूलकषायकाले गुणस्थानों को 'बादरसाम्पराय' शब्द से अभिहित कर "बादरसाम्पराये सर्वे" सूत्र द्वारा अपूर्वकरणगुणस्थान में होनेवाले परीषहों का भी कथन कर दिया।

"ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च" (त.सू./२/४) इस सूत्र में वर्णित क्षायिकभावों में 'क्षायिकज्ञानदर्शन' पद 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' नामक तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों का संकेत करता है। "मोहक्षयाञ्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" (त.सू./१०/१) सूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान अर्थात् 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' गुणस्थान प्रकट होते हैं।

उपर्युक्त क्षायिकभाव-प्रतिपादक सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र भी सूचित किये गये हैं, जो क्रमशः दर्शनमोह और चारित्रमोह के क्षय से आविर्भूत होते हैं। पूर्वापर-कारणकार्यभाव एवं कर्म प्रकृतियों के क्रमिक क्षय से क्षायिक-चारित्रवाले गुणस्थान के भी अपूर्वकरण-क्षपक, बादरसाम्पराय-क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय-क्षपक तथा क्षीणमोह ये चार भेद होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इनका निरूपण 'क्षपक' तथा क्षीणमोह शब्दों के द्वारा गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में हुआ है।

"ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।" (त.सू./ २/५) इस सूत्र में क्षायोपशमिकभावों का कथन किया गया है। इनमें क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान है, संयमासंयम पंचमगुणस्थान और क्षायोपशमिकचारित्र प्रमत्त-संयत एवं अप्रमत्तसंयत गुणस्थान।

"दर्शनचारित्रमोहनीय---सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ---अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यान ---।" (त.सू./८/९)। इत्यादि सूत्र में दर्शनमोह की सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व (तदुभय) ये तीन प्रकृतियाँ वर्णित हैं। जब उपशमसम्यक्त्व का काल समाप्त होने लगता है, तब यदि उपर्युक्त प्रकृतियों में से सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होता है, तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से जीव असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में ही बना रहता है। यदि मिथ्यात्वप्रकृति उदय में आती है, तो मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में गिर जाता है। अथवा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि-

गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। यदि अनन्तानुबन्धी उदित हो जाती है, तो सासादनगुणस्थान में पहुँच जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृध्रपिच्छाचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण किया है उससे चतुर्दश-गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है, अतः तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद उसके विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह उतनी ही प्राचीन है, जितना तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मसिद्धान्त।

३

विकासवादविरोधी अनेक हेतु

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का कथन है कि “आध्यात्मिक विशुद्धि की ‘सम्यग्दृष्टि’ आदि दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान-सिद्धान्त का तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकास हुआ है।” किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि उक्त दस अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं, अतः गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की मान्यता निरस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक हेतु हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इस मान्यता के लिए स्थान ही नहीं है। पहले हेतु की उपलब्धि यह अनुसन्धान करने पर होती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उपदेश कहाँ से प्राप्त हुआ?

३.१. श्वेताम्बरागमों में गुणश्रेणिनिर्जरा का उल्लेख नहीं

श्वेताम्बर-आगमों में गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने यह स्वयं स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

“हम इस सम्बन्ध में अपनी खोज जारी रखे हुए थे कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन दस अवस्थाओं का आगमिक आधार क्या है और इन अवस्थाओं का प्राचीनतम उल्लेख किस ग्रन्थ में मिलता है? अपनी इस खोज के दौरान हमने श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य का आलोडन किया, किन्तु उसमें हमें कहीं भी इन दस अवस्थाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका। --- उसके बाद हमने प्राचीनतम आगमिक व्याख्याओं की दृष्टि से निर्युक्तियों का अध्ययन प्रारम्भ किया और संयोग से आचारांगनिर्युक्ति के ‘सम्यक्त्व-पराक्रम’ नामक चतुर्थ अध्याय की निर्युक्ति में इन दस अवस्थाओं का उल्लेख करनेवाली निम्नलिखित दो गाथाएँ उपलब्ध हुयीं—

सम्मत्तुप्पत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसंते ॥ २२ ॥

खवाए य खीणमोहे जिणे य सेढीभवे असंखिज्जा।

तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए॥ २३॥

आचारांगनिर्युक्ति-निर्युक्तिसंग्रह / पृ. ४४१।

“यदि हम निर्युक्तिसाहित्य को तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा प्राचीन मानते हैं, तो हमें यह कहना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र की इन दस अवस्थाओं का प्राचीनतम स्रोत आचारांगनिर्युक्ति ही है। यद्यपि आचारांगनिर्युक्ति में जिस स्थल पर ये गाथाएँ हैं, उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ मूलतः निर्युक्तिकार की नहीं हैं, अपितु पूर्वसाहित्य के किसी कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ से इन गाथाओं को इसमें अवतरित किया गया है, क्योंकि ‘सम्यक्त्व-पराक्रम’ की चर्चा के प्रसंग में ये गाथाएँ बहुत अधिक प्रासंगिक नहीं लगती हैं। फिर भी गुणश्रेणी की अवधारणा का अभी तक जो प्राचीनतम स्रोत उपलब्ध है, वह तो यही है।”^{१६७}

आचारांगनिर्युक्ति के कर्ता वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु द्वितीय हैं, जिनका समय ईसा की छठी शताब्दी (वि० सं० ५६२) है। और पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति का काल ईसा की तीसरी-चौथी शती माना है। अतः आचारांगनिर्युक्ति ‘तत्त्वार्थ’ के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विशुद्धि की दस अवस्थाओं का स्रोत नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गाथाएँ आचारांगनिर्युक्ति की मौलिक गाथाएँ नहीं हैं। गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने उन्हें पूर्वसाहित्य के किसी कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ से अवतरित माना है। उन्होंने उस ग्रन्थ के साथ ‘किसी’ विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे सिद्ध है कि उन्हें स्वयं नहीं मालूम कि वह कौन सा ग्रन्थ है? अर्थात् वर्तमान श्वेताम्बरसाहित्य में वह उपलब्ध नहीं है। और पूर्व श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा कोई ग्रन्थ था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए एक काल्पनिक ग्रन्थ को आचारांगनिर्युक्ति की उपर्युक्त गाथाओं का स्रोत नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः वे गाथाएँ ईसापूर्व प्रथम शती में रचित दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम की गाथाएँ हैं, वहीं से आचारांगनिर्युक्ति में ग्रहण की गयी हैं, जिस प्रकार ‘समवायांग’ में चौदहगुणस्थानों के नाम षट्खण्डागम से लिये गये हैं।

३.२. तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत षट्खण्डागम

अभिप्राय यह कि गुणश्रेणिनिर्जरा के उपर्युक्त दस स्थानों की अवधारणा श्वेताम्बर-साहित्य में उपलब्ध नहीं है, अतः तत्त्वार्थसूत्रकार को वहाँ से प्राप्त नहीं हो सकती

१६७. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण / पृ. २०-२१।

थी। तथा वे स्वयं उसके जन्मदाता नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने न तो यह निर्देश किया है कि वे दस स्थान क्या हैं, किस चीज के भेद हैं, उनके 'सम्यग्दृष्टि' आदि नाम क्यों पड़े? न ही अनन्तवियोजक का क्या अर्थ है? उपशमक-क्षपक से क्या तात्पर्य है? इत्यादि का कोई स्पष्टीकरण किया है। यदि वे उन स्थानों के शिल्पी होते, तो इस सबका पूर्ण विवरण दिये बिना न रहते, क्योंकि उसके बिना इन दस स्थानों के वर्णन मात्र से पाठकों के पल्ले कुछ भी न पड़ता। तत्त्वार्थसूत्रकार ने यह सब नहीं किया, इससे सिद्ध है कि वे स्थान तत्त्वार्थसूत्रकार के मस्तिष्क की उपज नहीं हैं, अपितु उनकी अवधारणा उन्हें अपनी परम्परा के किसी प्राचीन ग्रन्थ से प्राप्त हुई है। वह प्राचीन ग्रन्थ है षट्खण्डागम। उसमें उक्त दस स्थानों का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में किया गया है—

सम्पत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे।
 दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते ॥ ७ ॥
 खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
 तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेडीए ॥ ८ ॥^{१६८}

इन दो गाथाओं के अतिरिक्त इनके पश्चात् (ष.खं./पु.१२/४,२,७ के) १७५वें सूत्र से लेकर १९६वें सूत्र तक 'जिन' नामक स्थान के 'स्वस्थानजिन' और 'योगनिरोध में प्रवृत्त जिन', इन दो भेदों सहित ग्यारह अवस्थाओं (गुणश्रेणियों) में होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा तथा उसके काल का कथन किया गया है।

षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शती में हुई थी (देखिए 'षट्खण्डागम' नामक ११वाँ अध्याय), जब कि तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल दिगम्बरमतानुसार प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० और श्वेताम्बरमतानुसार तीसरी-चौथी शती ई० है। अतः यह निर्विवाद है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित दस निर्जरा-स्थानों की अवधारणा षट्खण्डागम से ग्रहण की है। इसी प्राचीन ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक विकास की चौदह अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, जिन्हें 'जीवसमास' एवं 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया गया है।^{१६९} षट्खण्डागम में इन अवस्थाओं का विस्तार से परिचय दिया गया है, जिसमें यह भी बतलाया गया है कि ये किन कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय से प्रकट होती हैं।^{१७०}

१६८. षट्खण्डागम/पु.१२/४, २, ७/प्रथम चूलिका/पृ.७८।

१६९. षट्खण्डागम/पु.१/१, १,९-२३।

१७०. वही/पु.७/२, १, ४६-५५, ६८-८१।

इस प्रकार चूँकि गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उपदेश तत्त्वार्थसूत्रकार ने षट्खण्डागम से ग्रहण किया है और चतुर्दश गुणस्थानों का विवरण भी उसी षट्खण्डागम में उपलब्ध है, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद उक्त दस निर्जरास्थानों के आधार पर नहीं हुआ, अपितु वह जिनोपदिष्ट है।

३.३. भद्रबाहु-द्वितीय ही निर्युक्तियों के कर्ता

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत आचारांगनिर्युक्ति की पूर्वोक्त गाथाएँ हैं। किन्तु निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्वकाल ईसा की छठी शताब्दी है और तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल श्वेताम्बर विद्वान् ईसा की तीसरी-चौथी शती मानते हैं, अतः आचारांगनिर्युक्ति का तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत होना सिद्ध नहीं होता। उपर्युक्त प्रमाणों से षट्खण्डागम ही आचारांगनिर्युक्ति की उक्त गाथाओं एवं 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत साबित होता है। किन्तु गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को यह स्वीकार्य नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे दिग्म्बरग्रन्थ षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन सिद्ध होता है, जो वे नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने इस सत्य को झुठलाने के लिए कोई न कोई युक्ति निकालने की कोशिश की और इस कोशिश में उन्होंने श्वेताम्बर-परम्परा के सर्वमान्य इतिहास को ही पलट देने का करिश्मा कर डाला। उन्होंने सारे प्रमाणों को ताक पर रखते हुए मिथ्या एवं बाल तर्कों से एक ऐसे व्यक्ति को निर्युक्तियों का कर्ता घोषित कर दिया, जो तत्त्वार्थसूत्रकार से सौ-सवा सौ वर्ष पहले हुए थे और जिनके नाम का अर्धांश भद्रबाहु के नाम के अर्धांश से मिलता है। वे व्यक्ति हैं आर्यभद्र। अपनी कपोलकल्पना को शब्दों के वस्त्र पहनाते हुए वे लिखते हैं—

“किन्तु निर्युक्तियों को वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु की कृतियाँ मानने में भी कई कठिनाइयाँ हैं। यदि हम यह मानते हैं कि ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में होनेवाले भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई हैं, तो सबसे पहला प्रश्न यह उठेगा कि वी० नि० सं० ६०९ अर्थात् ईस्वी सन् द्वितीय शती में होनेवाले बोटिक निहव की चर्चा इसमें क्यों नहीं है? दूसरे, यह कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक तो गुणस्थान की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गई थी, उनका अन्तर्भाव निर्युक्तियों में क्यों नहीं हो पाया, जब कि आचारांगनिर्युक्ति 'तत्त्वार्थ' के समान मात्र दस अवस्थाओं की ही चर्चा करती है, वह परवर्ती ग्यारह गुणश्रेणियों अथवा चौदह गुणस्थानों की चर्चा क्यों नहीं करती है? निर्युक्तियों में उपलब्ध विषयवस्तु की दृष्टि से हमें यही मानना होगा कि वे लगभग ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी की रचना हैं। पुनः वी० नि० सं० ५८५ तक होनेवाले निहवों के उल्लेख और वी० नि० सं० ६०९ में होनेवाले बोटिक शिवभूति

के उल्लेख का अभाव यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियाँ वी० नि० सं० ६०९ (ई० सन् १४२) के पूर्व लिखी गई हैं। इस प्रकार वे ई० सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इस काल में कोई भद्रबाहु हुए हैं? हमने कल्पसूत्र की पट्टावली का अध्ययन करने पर यह पाया कि आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति, जिनके बीच सचेतता और अचेतता के प्रश्न को लेकर विवाद हुआ था और बोटिकसम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, के समकालिक एक आर्यभद्र हुए हैं। ये आर्य शिवभूति के शिष्य थे, ये आर्य नक्षत्र एवं आर्य रक्षित से ज्येष्ठ थे और इनका काल ई० सन् की द्वितीय-तृतीय शताब्दी ही रहा है। अतः यह मानना होगा कि निर्युक्तियाँ इन्हीं आर्यभद्र की रचनाएँ हैं और आगे चलकर नामसाम्य और भद्रबाहु की प्रसिद्धि के कारण उनकी रचनाएँ मानी जाने लगीं। जिस प्रकार प्रबन्धों के लेखकों ने प्राचीन भद्रबाहु और वराहमिहिर के भद्रबाहु के कथानक मिला दिये हैं, उसी प्रकार निर्युक्तिकार आर्यभद्र से भद्रबाहु की एकरूपता कर ली गई है।' (गुण.सिद्धा.एक विश्ले./पृ.२२-२३)।

विरोधी तर्कों का निरसन

आचारांगनिर्युक्ति को द्वितीय शताब्दी ई० की रचना सिद्ध करने के लिए गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने जो हेतु बतलाये हैं, वे मिथ्या हैं, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के ही नामों का वर्णन है, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है, अतः आचारांगनिर्युक्ति की गुणश्रेणिनिर्जरा-विषयक गाथाओं में भी गुणस्थानों के ही नामों का उल्लेख है, यह स्वतः सिद्ध है। उनमें आदि के तीन गुणस्थानों को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों का शब्दतः और अर्थतः वर्णन है, क्योंकि उनमें ही गुणश्रेणिनिर्जरा होती है। इसके अतिरिक्त उनमें उपशमक और क्षपक श्रेणियों तथा 'अनन्तवियोजक' एवं 'दर्शनमोहक्षपक' के उल्लेख द्वारा गुणस्थानसिद्धान्त की सूक्ष्म जानकारी भी दी गयी है। अतः उक्त विद्वान् का यह कथन सत्य नहीं है कि निर्युक्तियाँ गुणस्थानसिद्धान्त की चर्चा नहीं करतीं। उनमें गुणस्थानसिद्धान्त पूर्णतः समाविष्ट है, इस सत्य को उक्त विद्वान् के अतिरिक्त सभी विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। अतः निर्युक्तियों को पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० के भद्रबाहु-द्वितीय की रचना मानने में बाधा नहीं आती।

२. भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा रचित 'आवश्यकनिर्युक्ति' में स्पष्टतः कहा गया है कि रथवीरपुर में आठवें निहव की उत्पत्ति हुई थी। देखिए—

सावस्ती उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराइं॥ ७८१॥

वृत्तिकार श्री हरिभद्र सूरि ने इस गाथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“श्रावस्ती ऋषभपुरं श्वेतविका मिथिला उल्लुकातीरं पुरमन्तरंजि दशपुरं रथ-वीरपुरं च नगराणि निह्वानां यथायोग्यं प्रभवस्थानानि, वक्ष्यमाणभिन्नद्रव्यलिङ्ग-मिथ्यादृष्टि-बोटिक-प्रभवस्थान-रथवीरपुरोपन्यासो लाघवार्थ इति गाथार्थः।” (हारि. वृत्ति/ आव.निर्यु./ गा.७८१)।

अनुवाद—“श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीर, अन्तरंजियापुरी, दशपुर और रथवीरपुर, ये नगर निह्वानों के यथायोग्य उत्पत्तिस्थान हैं। रथवीरपुर नामक नगर का उल्लेख आगे कहे जानेवाले बोटिक नामक भिन्नद्रव्यलिङ्गी मिथ्यामत का उत्पत्तिस्थान बतलाने के लिए किया गया है।”

इस प्रकार भद्रबाहु-द्वितीयकृत निर्युक्तियों में बोटिक-निह्वान का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है, अतः उक्त गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का यह कथन भी मिथ्या है कि निर्युक्तियों में बोटिक-निह्वान की चर्चा नहीं है। निर्युक्तियों में बोटिक-निह्वान की चर्चा है, इसलिए उन्हें पाँचवीं शती ई० के भद्रबाहु-द्वितीय की कृति मानने में कोई बाधा नहीं है।

३. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने निर्युक्तियों का रचनाकाल वीर निर्वाण संवत् ६०९ के पूर्व अर्थात् बोटिकमत की उत्पत्ति से पहले कल्पित किया है। मुनि श्री कल्याणविजय जी (श्र.भ.म./पृ.२००), श्री विजयेन्द्र सूरि, आचार्य श्री हस्तीमल जी (जै.ध.मौ.इ./भा.१/पृ.७७०) आदि सभी श्वेताम्बर मुनियों एवं सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री (जै.सा.इ./पृ.पी./पृ.३३७), डॉ० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य (ती.म.आ.प./खं.१/पृ.२९१) आदि समस्त दिगम्बरविद्वानों ने भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि ५२७ ई०पू० (विक्रमपूर्व ४७०) मानी है। अतः वीर नि० सं० ६०९, ईसवी सन् (६०९-५२७) ८२ में पड़ता है, न कि ई० सन् १४२ में, जैसा कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने आकलित किया है। अतः स्पष्ट है कि ई० सन् १४२ में हुए आर्यभद्र उक्त विद्वान् के द्वारा ई० सन् ८२ के पूर्व लिखित मानी गयी निर्युक्तियों के कर्ता नहीं हो सकते।

४. उक्त विद्वान् एक तरफ लिखते हैं कि निर्युक्तियों की रचना बोटिक शिवभूति से पूर्व उत्पन्न हुए आर्यभद्र ने की है, दूसरी तरफ कहते हैं कि आर्यभद्र बोटिक

शिवभूति के शिष्य थे। यहाँ तक कि उक्त विद्वान् ने आर्यभद्र को बोटिक शिवभूति का अनुयायी मानकर भद्रान्वय नाम की यापनीयशाखा का संस्थापक तक घोषित कर दिया है। वे लिखते हैं—

“विदिशा के उदयगिरि के अभिलेख (गुप्त संवत् १०६, वि० सं० ४२६) में पार्श्वनाथ की प्रतिमा को स्थापित करानेवाले ने अपने आप को आर्यकुल और भद्रान्वय के आचार्य गोशर्मा का शिष्य बताया है। इस अभिलेख के भद्रान्वय को यापनीयपरम्परा का पूर्व नाम माना जा सकता है। कल्पसूत्र-स्थविरावली में आर्य शिवभूति और आर्य कृष्ण, जिनके मध्य वस्त्रपात्र-विवाद हुआ था, के पश्चात् आर्यभद्र का नाम आता है। मेरी दृष्टि में इस शिलालेख में उल्लिखित आर्यकुल और भद्रान्वय का सम्बन्ध इन्हीं आर्यभद्र से हो सकता है। संभावना है कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र, आर्य शिवभूति के पक्षधर रहे हों और उन्हें ही अग्रगण्य मानकर यह परम्परा अपने को आर्यकुल और भद्रान्वय की मानती हो। यह निश्चित है कि उत्तरभारत की यह अचेलपरम्परा जिसे हम बोटिक या यापनीय के नाम से जानते हैं, मथुरा से लेकर साँची तक अपना व्यापक प्रभाव रखती थी। संभावना यही है कि उत्तरभारत में अपने प्रारम्भिक काल में यह यापनीयपरम्परा आर्यकुल और भद्रान्वय के नाम से पहचानी जाती रही हो।” (जै.ध.या.स./पृ.१९)।

अब उपर्युक्त विद्वान् की किस बात को सत्य माना जाय? आर्यभद्र बोटिकमत के प्रवर्तक शिवभूति के पूर्व हुए थे, इस बात को अथवा वे शिवभूति के शिष्य थे, इसको? आर्यभद्र बोटिक शिवभूति के पूर्व नहीं हुए थे, यह तो ऊपर सिद्ध हो चुका है और वे उसके शिष्य थे यह कल्पसूत्र की स्थविरावली कहती है। अब यदि आर्यभद्र को बोटिक शिवभूति का शिष्य और उसके द्वारा स्थापित यापनीयसंघ की भद्रान्वय शाखा का सूत्रधार मानते हुए निर्युक्तियों का कर्ता माना जाय तो समस्त श्वेताम्बरीय निर्युक्तियाँ यापनीय आचार्य द्वारा रचित सिद्ध होती हैं। और तब यह तर्क मिथ्या हो जाता है कि निर्युक्तियों में बोटिक निहव का उल्लेख न होने से वे छठी शताब्दी ई० के भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा रचित नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि जो निर्युक्तियाँ बोटिक (गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के मतानुसार यापनीय) आचार्य द्वारा ही रचित सिद्ध हो रही हों, उनमें बोटिक मत का उल्लेख न मानकर उसकी उत्पत्ति के पूर्व रचित मानी जायँ, इस जैसी हास्यापद चेष्टा और क्या हो सकती है?

स्पष्ट है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को, जो श्वेताम्बर हैं, बोटिक (यापनीय) मत के अनुयायी आर्यभद्र के द्वारा निर्युक्तियों के रचे जाने की बात स्वीकार्य नहीं हो सकती और उक्त आर्यभद्र के अलावा अन्य आर्यभद्र का उल्लेख किसी भी स्थविरावली

या पट्टावली में उपलब्ध नहीं है, अतः सिद्ध है कि निर्युक्तियों के कर्ता उक्त विद्वान् द्वारा दूँदे हुए आर्यभद्र नहीं हैं, अपितु परम्परा से प्रसिद्ध भद्रबाहु-द्वितीय ही हैं।

इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् निर्युक्तियों को बोटिकमत की उत्पत्ति के पूर्व रचित सिद्ध करने चले थे, किन्तु बोटिकमत के ही आचार्य द्वारा रचित सिद्ध कर बैठे।

५. यदि आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्ता होते, तो वे भी भद्रबाहु-द्वितीय के समान ही प्रसिद्ध होते, तब उनकी रचनाओं को भद्रबाहु की रचनाएँ मान लेने के भ्रम की गुंजाइश न रहती। इसी प्रकार यदि भद्रबाहु-द्वितीय निर्युक्तियों के कर्ता न होते तो, वे इतने प्रसिद्ध भी न होते कि लोग आर्यभद्र के स्थान में भद्रबाहु के नाम का प्रयोग करने लगते।

६. लोगों की भूल से गुणधर के स्थान में गणधर, गुणरत्न के स्थान में गुणयत्न और उमास्वाति के स्थान में उमास्वामी तो प्रचलित हो सकता है, किन्तु आर्यभद्र के स्थान में भद्रबाहु प्रचलित नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ केवल किसी मात्रा या अक्षर के परिवर्तन का सवाल नहीं है, अपितु एक पूरे शब्द के परिवर्तन का प्रश्न है, और वह भी 'आर्य' के स्थान में 'बाहु' जैसे सर्वथा विपरीत उच्चारणवाले शब्द का स्थापन और वह भी विरुद्ध स्थान में? इस प्रकार के परिवर्तन का कोई भाषा वैज्ञानिक कारण नहीं है, अतः उपर्युक्त परिवर्तन मानना अयुक्तिसंगत है।

इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने निर्युक्तियों को द्वितीय शताब्दी ई० में रचित सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे नितान्त अप्रामाणिक, अयुक्तिसंगत और हास्यास्पद हैं, अतः मिथ्या हैं। फलस्वरूप यह तथ्य यथावत् स्थित रहता है कि निर्युक्तियों के कर्ता छठी शताब्दी ई० में हुए भद्रबाहु-द्वितीय ही हैं। अतः यह बात भी निर्विवाद हो जाती है कि आचारांगनिर्युक्ति में उद्धृत गुणश्रेणिनिर्जराविषयक गाथाएँ भी षट्खण्डागम की ही गाथाएँ हैं।

३.४. मोक्षमार्ग चतुर्दशगुणस्थानों का अविनाभावी

चतुर्दश गुणस्थान मोक्षमार्गभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम की उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ हैं। वीरसेन स्वामी ने इन्हें मोक्ष की सीढ़ियाँ कहा है— "मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।" (धवला / ष.ख. / पु.१/१, १, २२ / पृ.२०१)। तथा श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने इनको 'मोक्ष की परम्परा' (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) नाम दिया है। ललितविस्तरा के एक प्रकरण में सिद्धों को परम्परागत (क्रम से सिद्धि को प्राप्त) कहते हुए नमस्कार किया गया है। इस पर कोई प्रतिपक्षी कहता है—

नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः ।
दरिद्रराज्याप्तिसमा तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ॥

अनुवाद—“ऐसा कोई नियम नहीं है कि धनप्राप्ति क्रमशः होती है। किसी दरिद्र को एक बार में भी राज्यप्राप्ति होती देखी जाती है। इसी प्रकार किसी को क्या बिना क्रम के अर्थात् सम्यग्दृष्टि, देशविरत, विरत आदि अवस्थाओं को प्राप्त किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती?”

इसके उत्तर में श्री हरिभद्रसूरि लिखते हैं—“इत्येतद्व्यपोहायाह—परम्परागतेभ्यः।” अर्थात् इसी का निषेध करने के लिए तो मंगलगाथा में परंपरागत (क्रम से सिद्ध) कहा गया है। फिर वे परम्परा का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं—“परम्परया ज्ञान-दर्शनचारित्ररूपया मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि-विरताविरत-प्रमत्ताप्रमत्त-निवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्त-क्षीणमोह-सयोग्ययोगि-गुणस्थान-भेदभिन्नया गताः परम्परागताः एतेभ्यः।” (ललितविस्तरा/‘सिद्धाणं’—गाथा १/पृ.३९४)।

यहाँ श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्दश गुणस्थानों को सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्था बतलाया है और उनके समूह को ‘मोक्षपरम्परा’ (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) नाम देकर स्पष्ट किया है कि इन गुणस्थानों को प्राप्त हुए बिना मुक्ति संभव नहीं है। यतः मोक्षमार्ग चतुर्दश गुणस्थानों का अविनाभावी है, अतः गुणस्थानों की अवधारणा उतनी ही पुरानी है, जितनी मोक्षमार्ग की। इसलिए उसे ईसा की चौथी शताब्दी के बाद विकसित बतलाना एक महान् सत्य के अपलाप की हास्यास्पद चेष्टा है।

३.५. विकास का अर्थ : ऋषभादि में सम्यक्त्वादि की अनुत्पत्ति मानना

वीरसेन स्वामी ने जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों को गुणस्थान कहा है—“औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणाः।” (धवला/ष.ख./पु.१/१,१,८/पृ.१६२)। श्री केशववर्णी ने स्पष्ट किया है कि मिथ्यात्व से लेकर अयोगिकेवलित्व पर्यन्त जीव के चौदह परिणामविशेष गुणस्थान हैं—“मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलित्वपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुण-स्थानानीति प्रतिपादितम्।” (जी.त.प्र./गो.जी./गा.८)। वे चौदह परिणामविशेष इस प्रकार हैं : मिथ्यादृष्टित्व, सासादन-सम्यग्दृष्टित्व, सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व, असंयतसम्यग्दृष्टित्व, संयतासंयतत्व, प्रमत्त-संयतत्व, अप्रमत्तसंयतत्व, अपूर्वकरणत्व, अनिवृत्तिबादरसाम्परायत्व, सूक्ष्मसाम्परायत्व, उपशान्तमोहत्व, क्षीणकषायत्व, सयोगिकेवलित्व और अयोगिकेवलित्व।

इन चौदह परिणामोंवाले गुणस्थानसिद्धांत को यदि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल (श्वेताम्बरमतानुसार ईसा की तीसरी-चौथी शती) के बाद विकसित माना जाय, तो

यह मानना होगा कि जीवों में इन परिणामों की उत्पत्ति ईसा की तीसरी-चौथी शती के बाद से होनी शुरू हुई है, उसके पहले तक जीव में ये परिणाम उत्पन्न नहीं होते थे, अर्थात् ऋषभादि तीर्थकरों के काल में न तो कोई जीव सम्यग्दृष्टि अवस्था को प्राप्त होता था, न देशविरत अवस्था को, न प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि को। इन चौदह अवस्थाओं को प्राप्त हुए बिना ही वे मुक्त हो जाते थे। किन्तु ऐसा मानने का गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के पास कोई आधार नहीं है। श्वेताम्बर-आगमों में इन चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, तो भी कोई जैन यह नहीं मान सकता कि ऋषभादि तीर्थकर सम्यग्दृष्टि नहीं हुए थे, देशविरत (श्रावक) नहीं हुए थे, प्रमत्त-संयत-अप्रमत्तसंयत (मुनि) नहीं हुए थे, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थाओं को प्राप्त नहीं हुए थे। यदि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् यह मानते हैं कि ऋषभादि तीर्थकर इन अवस्थाओं को प्राप्त होने के बाद ही मुक्त हुए थे, तो उन्हें यह मानना होगा कि गुणस्थानसिद्धान्त ऋषभादि तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट है। तत्त्वार्थसूत्र में इन सभी चौदह अवस्थाओं का वर्णन है, जिनके उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं और आगे भी द्रष्टव्य हैं। यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि जिनागम में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा तत्त्वार्थ-सूत्र के रचनाकाल के पूर्व से विद्यमान थी, वह उसके रचनाकाल के बाद विकसित नहीं हुई।

४

गुणस्थानसिद्धान्त का कपोलकल्पित विकासक्रम

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने ग्रन्थों में गुणस्थान के सभी भेदों का उल्लेख होने और न होने तथा उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग किये जाने और न किये जाने के आधार पर गुणस्थानसिद्धान्त के क्रमिक विकास की कल्पना की है और तदनुसार ग्रन्थों के रचनाकालविषयक पूर्वापरत्व का निर्धारण किया है। 'जीवसमास' की भूमिका (पृ. V-X) में उन्होंने इस विकासक्रम को दो सारणियों में दर्शाया है और इसे 'गुणस्थान-सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम' तथा 'गुणस्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास' नामों से अभिहित किया है।

किन्तु यह गुणस्थानसिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम नहीं, अपितु कपोल-कल्पित विकासक्रम है, क्योंकि विकासक्रम के निर्णायक सभी हेतु अप्रामाणिक हैं। यह नीचे लिखे हेतुओं से सिद्ध होता है।

१. किसी ग्रन्थ में गुणस्थान के सभी भेदों का उल्लेख न होना गुणस्थानसिद्धान्त के अविकसित होने का प्रमाण नहीं है, बल्कि इस बात का सबूत है कि ग्रन्थ के

प्रतिपाद्य विषय के अनुसार सभी भेदों का उल्लेख आवश्यक नहीं था। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्तपाहुड में केवल 'देशविरत' गुणस्थान का उल्लेख किया है, क्योंकि वहाँ उन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन अपेक्षित था—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्धिट्ट देसविरदो य॥ २२॥

बारस अणुवेक्खा में दान के प्रकरण में सम्यग्दृष्टि साधु (प्रमत्तसंयत), सम्यग्दृष्टिश्रावक (देशविरत) तथा अविरतसम्यग्दृष्टि का कथन आवश्यक था, इसलिए केवल उनका कथन किया गया है—

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ॥ १७॥
णिद्धिट्ठो जिणसमए अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिदो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो॥ १८॥

समयसार में कर्मबन्ध के कर्ता कौन हैं, यह बतलाने के लिए मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिजिन पर्यन्त तेरह गुणस्थानों का निर्देश किया गया है, क्योंकि ये तेरह गुणस्थान ही बन्ध के हेतु हैं। 'अयोगिजिन' नामक चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है, अतः वह गुणस्थान बन्ध का हेतु नहीं है, इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया। देखिए—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा या बोद्धव्वा॥ १०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियण्णो।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥ ११०॥
एदे अचेदणा खलु पुगलकम्ममुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्म णवि तेसिं वेदगो आदा॥ १११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्म कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि॥ ११२॥ स.सा.।

किन्तु भावपाहुड में मुनियों के लिए भावलिंग ही मोक्षमार्ग में प्रधान है, यह उपदेश दिया गया है। भावलिंग के लिए सात तत्त्वों, नौ पदार्थों और चौदह गुणस्थानों का चिन्तन आवश्यक है। अतः वहाँ चौदहों गुणस्थानों का निर्देश किया गया है।

यथा—

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुण णामाइं ॥ ९५ ॥

इसके विपरीत प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय और शेष छह पाहुडों में न तो 'गुणस्थान' शब्द का उल्लेख है, न ही उसके किसी भेद की चर्चा, क्योंकि इन ग्रन्थों में ऐसे किसी भी विषय का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जिसमें गुणस्थानविशेष का निर्देश आवश्यक हो।

अब क्या इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवचनसार आदि की रचना के समय गुणस्थानसिद्धान्त का तनिक भी विकास नहीं हुआ था, चारित्तपाहुड के रचनाकाल में कुछ विकास हो गया था, बारस अणुवेक्खा की रचना के अवसर पर वह कुछ और विकसित हो गया था, समयसार के रचनाकाल में विकसित होते-होते तेरह अंगोंवाला हो गया और भावपाहुड की रचना के समय पूर्ण विकसित होकर चौदह अंगों से समन्वित हो गया? ऐसा कदापि सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसा सिद्ध होने पर तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल बारस अणुवेक्खा के पश्चात् एवं समयसार के पूर्व सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें बारसअणुवेक्खा से अधिक और समयसार से कम नौ गुणस्थान-भेदों का शब्दतः उल्लेख है। तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में (जो कि तत्त्वार्थसूत्र के बाद की कृति है) गुणश्रेणी-निर्जरा के दस स्थानों का (गा.१०६-१०८), श्रावक, प्रमत्तविरत (गा.१९६), अविरत-सम्यग्दृष्टि (गा.१९७), क्षीणकषाय (गा. ४८५), सयोगिजिन (गा.४८६) और अयोगिजिन (गा. ४८७) गुणस्थानों का तथा उपशमक और क्षपक श्रेणियों (गा.४८४) का वर्णन है, किन्तु अप्रमत्तविरत, सासादन तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन न होने से केवल ग्यारह गुणस्थानों के उल्लेख के कारण समयसार के पूर्व की और बारस अणुवेक्खा के पश्चात् की तथा तत्त्वार्थसूत्र के समकाल की रचना सिद्ध होगी और जोइन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश एवं योगसार, जो कि छठी शती ई० की रचनाएँ हैं, तत्त्वार्थसूत्र से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे, क्योंकि उनमें और भी कम (प.प्र.१/७६,७७ एवं २/४१, योगसार/१७, ८८) गुणस्थानों का निर्देश है। तथा जिस ग्रन्थ में जिस गुणस्थान का उल्लेख नहीं है, वह गुणस्थान उसके कर्ता द्वारा विकसित नहीं माना जायेगा, बल्कि जिस ग्रन्थ में उल्लेख है, उसके कर्ता द्वारा विकसित माना जायेगा। अब यदि उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में है, तो उसे उन सब के द्वारा विकसित मानना होगा और तब वे सब ग्रन्थकार समकालीन सिद्ध होंगे।

इन अतर्कसंगत एवं इतिहास-विरुद्ध परिणामों का जनक होने से गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् का गुणस्थान-विकास के निर्णयार्थ निर्धारित किया गया यह हेतु

अप्रामाणिक है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड, षट्खण्डागम और समयसारादि में क्रमशः अधिक-अधिक गुणस्थानों का निर्देश है, अतः इन ग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त का क्रमशः विकास हुआ है, इसलिये ये उत्तरोत्तर अर्वाचीन हैं। 'चारित्तपाहुड' आदि ग्रन्थों के उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड, षट्खण्डागम और समयसार आदि में जो अल्प या अधिक गुणस्थानों का निर्देश हुआ है, उसका कारण ग्रन्थ में ऐसे प्रतिपाद्य विषय का चुना जाना है, जिसने अल्प या अधिक गुणस्थानों के निर्देश का अवसर दिया है, गुणस्थानसिद्धान्त का अविकसित होना कारण नहीं है। जिन गुणस्थानों के निर्देश का जहाँ अवसर ही नहीं है, वहाँ उनका निर्देश करना अविवेकपूर्ण कार्य है, जिसकी अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्रकार जैसे महान् आचार्यों से नहीं की जा सकती।

२. किसी ग्रन्थ में गुणस्थानभेदों के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होना उनके गुणस्थान न होने का प्रमाण नहीं है, अपितु 'गुणस्थान' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता न होने का प्रमाण है, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि शब्दों के अर्थ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गुणस्थानभेद हैं। आगम में ये शब्द गुणस्थानों के लिए ही प्रसिद्ध हैं, किसी अन्य पदार्थ के लिए नहीं। ये गुणस्थान ही हैं, इसे सिद्ध करने वाले अनेक शास्त्रीय प्रमाण हैं। ये गुणस्थान नहीं हैं, इसे सिद्ध करनेवाला एक भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। इस प्रकार आगम में गुणस्थानविशेष के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण ही 'अविरत', 'देशविरत', 'प्रमत्तसंयत' आदि के साथ गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्तपाहुड में 'देशविरत' के साथ और बारस अणुवेक्खा में 'अविरतसम्यग्दृष्टि' के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

मूलाचार की निम्नलिखित गाथाओं में भी 'उपशान्तकषाय', 'क्षीणकषाय', 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' इन गुणस्थानविशेषों के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं है—

उवसंतो दु पुहुत्तं ज्ञायदि ज्ञाणं विदक्कवीचारं।

खीणकसाओ ज्ञायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥ ४०४ ॥

सुहुमकिरियं सजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं च तदियसुवकं तु।

जं केवली अजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं समुच्छिण्णं ॥ ४०५ ॥

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो 'गुणस्थान' शब्द का स्वतंत्र रूप से भी कहीं उल्लेख नहीं है और उसकी नीचे उद्धृत गाथाओं में भी श्रावक, प्रमत्तविरत, 'अविरतसम्यग्दृष्टि', 'क्षीणकषाय', 'सयोगिजिन' और 'अयोगिजिन' ये गुणस्थानभेद 'गुणस्थान' शब्द से रहित हैं—

सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होति ॥ १९६ ॥

अविरयसम्मादिट्ठी होति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता ॥ १९७ ॥

णीसेसमोहविलाए खीणकसाए य अंतिमे काले ॥ ४८५ ॥

जं ज्ञायदि सजोगिजिणो तं तिदियं सुहुमकरियं च ॥ ४८६ ॥

जं ज्ञायदि अजोगिजिणो णिविकरियं तं चउत्थं च ॥ ४८७ ॥

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में 'अविरत', 'देशविरत', 'प्रमत्तसंयत' आदि शब्दों के साथ गुणस्थान शब्द का प्रयोग न होने से उनका गुणस्थान होना असिद्ध नहीं होता। अतः 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त की अनुपस्थिति मानना प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध है। इसलिए गुणस्थान का ऐतिहासिक विकासक्रम भी कपोलकल्पित है।

३. आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की पूर्वोद्धृत ११०वीं गाथा में तथा भावपाहुड की पूर्वोक्त ९७वीं गाथा में क्रमशः गुणस्थानों की तेरह एवं चौदह संख्या का उल्लेख किया है और जीवसमास तथा गुणस्थान शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु गुणस्थानों के चौदह नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इससे सिद्ध है कि गुणस्थानों के चौदह नाम और 'गुणस्थान' शब्द पूर्व-प्रसिद्ध थे, इसीलिए उन्होंने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। इस तथ्य से भी गुणस्थानसिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम अनैतिहासिक सिद्ध होता है।

४. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणस्थान का ऐतिहासिक विकासक्रम (गुण-स्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास) दशनिवाली सारणी क्र.१ (जीवसमास/भूमिका / पृ. VIII) में तत्त्वार्थसूत्र में अप्रमत्तसंयत एवं अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानों का अभाव बतलाया है, जब कि आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य (त.सू.—श्वे.९/३७) तथा बादरसम्पराये सर्वे (त.सू.—श्वे.९/१२) इन सूत्रों में उनका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान का भी तत्त्वार्थसूत्र (९/१०—दि., श्वे.) में उल्लेख है, किन्तु सारिणी में उसका उल्लेख नहीं बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह तथा क्षपक और क्षीणमोह इन शब्दों के प्रयोग से ही सिद्ध है कि उपशमकश्रेणी पर आरूढ़ होकर ही जीव उपशान्तमोह गुणस्थान को तथा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर क्षीणमोहगुणस्थान को प्राप्त होता है। तथा उपशान्तमोह को क्षपक और क्षीणमोह से अल्प-गुणश्रेणिनिर्जरावाला बतलाया गया है, इससे स्पष्ट है कि वह 'जिन' अवस्था को प्राप्त नहीं होता अतः उसका उपशमकश्रेणि से उतरना स्वतः सिद्ध है। तथापि उक्त विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र

में इन श्रेणियों तथा इन पर आरोहण-अवरोहण के उल्लेख का अभाव बतलाया है। इन कारणों से भी विकासक्रम दर्शानेवाली सारिणी अप्रामाणिक है।

५. सारिणी में जो विवरण दिया गया है, उसके अनुसार कुन्दकुन्द-साहित्य में तो गुणस्थानसिद्धान्त-सम्बन्धी विषय अत्यल्प ही उपलब्ध होता है। उसमें न तो गुणस्थानों के सभी नाम हैं (कुल छह नाम हैं), न गुणश्रेणिनिर्जरा की दस अवस्थाएँ वर्णित हैं, न उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी का उल्लेख है और न 'अनन्तवियोजक' और 'दर्शनमोहक्षपक' शब्दों का प्रयोग है।

इसके विपरीत तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों के नाम शब्दतः और पाँच के नाम अर्थतः मिलते हैं। उपशमक और क्षपक शब्दों के उल्लेख से उपशमकश्रेणी और क्षपक-श्रेणी का संकेत मिलता है। गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का निर्देश प्राप्त होता है। अनन्तवियोजक और दर्शनमोहक्षपक की चर्चा उपलब्ध होती है। विभिन्न गुणस्थानों में चतुर्विधध्यान एवं बाईस परीषहों के स्वामित्व का कथन दृष्टिगत होता है। यह विवरण इतना अधिक है कि कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त अत्यधिक विकसितरूप में उपलब्ध होता है। अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के निर्णायकहेतुओं के अनुसार कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप उन्हें सारिणी में चौथे स्थान पर प्रदर्शित किया जाना दोषपूर्ण है।

६. गुणस्थानसिद्धान्त का उद्भव और विकास दर्शानेवाली सारिणी में तत्त्वार्थसूत्र को पहले स्थान पर रखा गया है और कसायपाहुड, षट्खण्डागम एवं समयसारादि को क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे स्थान पर। इससे ध्वनित होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त का उद्भव तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है और विकास क्रमशः कसायपाहुड आदि में। इसका तात्पर्य यह है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के अनुसार गुणस्थान-सिद्धान्त की आधारभूत सामग्री (गुणश्रेणि-निर्जरा के दस स्थान) तत्त्वार्थसूत्रकार ने कल्पित की है, जिनीपदिष्ट नहीं है। किन्तु इसकी पुष्टि किसी प्रमाण से नहीं होती। इसके विपरीत तत्त्वार्थधिगमसूत्र (श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र) की बाईसवीं सम्बन्धकारिका में कहा गया है कि 'तत्त्वार्थाधिगम' नामक यह ग्रन्थ संग्रहग्रन्थ है और अर्हद्वचन का अंश है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणनिर्जरा के दस स्थान तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु जिनेन्द्रदेव के उपदेश का अंग हैं और किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ से संगृहीत किये गये हैं।

श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास में भी, जिसकी भूमिका गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वयं लिखी है, कहा गया है कि चौबीसों तीर्थंकर चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं—

दस चोद्दस य जिणवरे चोद्दस गुणजाणए नमंसिता।

चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि ॥ १ ॥

इन प्रमाणों से गुणस्थानविकासवादी विद्वान् की यह मान्यता अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है कि गुणस्थानसिद्धान्त के आधारभूत गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों की कल्पना तत्त्वार्थसूत्रकार ने की है। और इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे जिनोपदेश पर आधारित किसी पूर्वकालीन ग्रन्थ से ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार गुणस्थानसिद्धान्त के उद्भव की ही कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है, तब विकास की कल्पना के लिए कोई अवकाश ढूँढ़े भी नहीं मिलता।

अब प्रश्न उठता है कि वह पूर्वकालीन ग्रन्थ कौन है, जिससे तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणीनिर्जरा के दस स्थान संगृहीत किये हैं? इस प्रश्न का उत्तर सप्रमाण इसी प्रकरण में पूर्व में दिया जा चुका है। वह यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उन्हें दिगम्बरपरम्परा के महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम से ग्रहण किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र से पूर्वकालीन है, अतः उसे उद्भव-विकासवाली सारिणी में तीसरे क्रम पर रखा जाना अप्रामाणिक है।

७. सारिणी में तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल तीसरी-चौथी शती ई०, कसायपाहुड का चौथी शती ई०, षट्खण्डागम का पाँचवी-छठी शती ई० तथा समयसार-नियमसार आदि का छठी शती ई० से भी पश्चात् का बतलाया गया है, ये काल प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी है और तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी। इसी प्रकार कसायपाहुड और षट्खण्डागम क्रमशः ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी एवं ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचे गये थे, इसका सप्रमाण प्रतिपादन इन्हीं-नामवाले अध्यायों में द्रष्टव्य है।

इस तरह गुणस्थान-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम को निर्धारित करनेवाले सभी हेतु अप्रामाणिक हैं, अतः वह ऐतिहासिक विकासक्रम नहीं, अपितु कपोलकल्पित विकासक्रम है।

५

डॉक्टर सा० के मत में किञ्चित् परिवर्तन

डॉ० सागरमल जी के द्वारा 'जैनधर्म का यापनीयसम्प्रदाय' (ई० सन् १९९६) एवं 'गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण' (ई० सन् १९९६) ग्रन्थों के लिखे जाने के

९ वर्ष बाद उनके निर्देशन में माननीया श्वेताम्बर साध्वी डॉ० दर्शनकलाश्री जी ने 'प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा' विषय पर शोधप्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें ई० सन् २००५ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। उनका शोधप्रबन्ध श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, जयन्तसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा (राजगढ़) धार, म.प्र. द्वारा ई० सन् २००७ में प्रकाशित हुआ है। मेरे इस ग्रन्थ का जब अन्तिम लिपि-संशोधन चल रहा था, तब मुझे उक्त शोधग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई। मैंने उसका अध्ययन किया और पाया कि साध्वी जी भी इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि यद्यपि श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में गुणस्थानों के नाम-सदृश अनेक शब्द मिलते हैं, तथापि उनका गुणस्थानसिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव है। साध्वी जी के शोधग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉ० सागरमल जी ने अपने गुणस्थानसिद्धान्त-विषयक मत में कुछ परिवर्तन होने की बात स्वीकार की है। उसकी भी समीक्षा मुझे आवश्यक प्रतीत हुई, जिसका समावेश यहाँ कर रहा हूँ। 'प्राक्कथन' में डॉक्टर सा० साध्वी जी के शोधकार्य की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

“सम्भवतः ऐतिहासिक एवं शोधपरक दृष्टि से गुणस्थानसिद्धान्त पर अब तक लिखे गये ग्रन्थों में यह कृति अपना सर्वोपरि स्थान सिद्ध करेगी। यद्यपि इस कृति की रचना में मेरा मार्गदर्शन और सहयोग रहा है, किन्तु साध्वी जी का श्रम भी कम मूल्यवान् नहीं है। उपलब्ध सन्दर्भों को खोज निकालने में उन्होंने जैनसाहित्य का गंभीरता से आलोडन-विलोडन किया। यही नहीं, उनके इस आलोडन और विलोडन के परिणामस्वरूप जो तथ्य सामने आये, उनके आधार पर मुझे भी अपनी पूर्वस्थापनाओं को किञ्चित् रूप में परिमार्जित करना पड़ा।

“मेरी अपनी अवधारणा यही थी कि गुणस्थानसिद्धान्त की प्रतिस्थापना लगभग ५वीं शताब्दी में हुई। यद्यपि एक सुव्यवस्थित गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास के रूप में मेरी यह स्थापना आज भी अडिग है। किन्तु मेरी दृष्टि में गुणस्थानसिद्धान्त के विकास का मूल आधार आचारांग-निर्युक्ति में, तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में एवं षट्खण्डागम के कृति-अनुयोगद्वार के परिशिष्ट में वर्णित कर्मनिर्जरा की उत्तरोत्तर वर्धमान दस अवस्थाएँ रही हैं। पूर्व में मेरी यही मान्यता थी कि इन दस अवस्थाओं से ही चौदह गुणस्थानों का सिद्धान्त विकसित हुआ है। किन्तु प्रस्तुत शोधकार्य के सन्दर्भ में जब हमने श्वेताम्बरमान्य अर्धमागधी आगमसाहित्य का गम्भीरता से आलोडन-विलोडन किया, तो हमें उसमें भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में विविध सन्दर्भों में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सम्यगिमिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत और विरत, निवृत्ति-बादर, अनिवृत्ति-बादर और सूक्ष्मसम्पराय, मोह-उपशमक एवं मोहक्षपक तथा सयोगी केवली,

और अयोगी केवली, ऐसी तेरह अवस्थाओं के उल्लेख मिल गये। यद्यपि ये सब उल्लेख अलग-अलग सन्दर्भों में ही हुए हैं और किसी एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रथमतः गुणस्थानसिद्धान्त के मूल बीज श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में ही रहे हुए हैं और उन्हीं के आधार पर आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि में उत्तरोत्तर कर्मनिर्जरा की दस अवस्थाओं का विकास हुआ है। जहाँ तक गुणस्थानसिद्धान्त के सुव्यवस्थित उल्लेख का प्रश्न है, श्वेताम्बरपरम्परा में वह सर्वप्रथम जीवसमास, आवश्यकचूर्णि तथा तत्त्वार्थसूत्र की सिद्धसेनगणी की टीका में ही मिलता है।

“इनमें से जीवसमास लगभग पाँचवीं शती का है, शेष दोनों ही ग्रन्थ लगभग सातवीं शताब्दी के हैं। दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त-सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख षट्खण्डागम और पूज्यपाद देवन्दी की तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में मिलता है, ये दोनों ग्रन्थ पाँचवीं शती के उत्तरार्ध या छठवीं शती के प्रारम्भ के हैं। इससे स्पष्ट रूप से यह भी फलित होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त व्यवस्थित रूप में पाँचवीं शती के बाद ही अस्तित्व में आया है, अन्यथा श्वेताम्बर-आगमसाहित्य और तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में एवं निर्युक्ति और भाष्य-साहित्य में कहीं तो कुछ संकेत अश्वय मिलते। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि गुणस्थानसिद्धान्त का प्रारम्भिक व्यवस्थित स्वरूप श्वेताम्बरसाहित्य की अपेक्षा दिगम्बरसाहित्य में पहले पाया जाता है और श्वेताम्बर आचार्यों की अपेक्षा दिगम्बर आचार्यों का अवदान इस सिद्धान्त के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

“मेरी दृष्टि में यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके स्वोपज्ञभाष्य में, वल्लभी-वाचना (५वीं शती) में अर्धमागधी आगमों का जो पाठ निर्धारण हुआ था, उसमें तथा अर्धमागधी आगमों की निर्युक्तियों एवं भाष्यों में गुणस्थानसिद्धान्त की कहीं भी कोई व्यवस्थित चर्चा उपलब्ध नहीं है, मात्र कुछ अवस्थाओं के यत्र-तत्र कुछ संकेत हैं। यदि ये आचार्य उससे परिचित होते, तो कहीं न कहीं उसका उल्लेख अवश्य करते। समवायांगसूत्र के १४वें समवाय की जिस गाथा में जीवस्थान के नाम से तथा आवश्यकनिर्युक्ति में जो १४ गुणस्थानों के नाम आये हैं, वे गाथाएँ परवर्ती प्रक्षेप हैं और संग्रहणीसूत्र से उद्धृत हैं। क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में उसे संग्रहणी-गाथा कहा है।” (पृ. २-३)।

यहाँ नयी बात यह है कि डॉक्टर सा० ने जहाँ अपने उपर्युक्त दो ग्रन्थों में और ‘जीवसमास’ की भूमिका में गुणस्थान-सिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र (९/४५)

में वर्णित गुणश्रेणिनिर्जरा की दस अवस्थाओं के आधार पर माना है (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक १), वहाँ अब वे श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में मोक्षमार्ग से असम्बद्ध मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत आदि तेरह अवस्थाओं का यहाँ-वहाँ उल्लेख प्राप्त होने से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'गुणस्थानसिद्धान्त के बीज प्रथमतः श्वेताम्बर आगमसाहित्य में ही रहे हैं और उन्हीं के आधार पर आचारंग-निर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि में कर्मनिर्जरा (गुणश्रेणिनिर्जरा) की दस अवस्थाओं का और उनके आधार पर गुणस्थानसिद्धान्त का विकास हुआ है।' यह निष्कर्ष सर्वथा कपोलकल्पित है। इसका निरसन नीचे किया जा रहा है।

निरसन

१. जैसा कि पूर्व में कहा गया है, गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की अवधारणा ही मिथ्या है। इसे पुनः समझने के लिए गुणस्थानसिद्धान्त किसे कहते हैं, इस पर पुनः दृष्टिपात कर लिया जाय। वीरसेन स्वामी ने मोक्ष के सोपानों को गुणस्थान कहा है। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने ज्ञानदर्शनचारित्ररूप परम्परा को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक २.४)। श्वेताम्बरीय 'कर्मग्रन्थ' के द्वितीय कर्मग्रन्थ की टीका में कहा गया है—

“तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धिविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदाः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा। गुणानां स्थानं गुणस्थानम्।” (अभिधानराजेन्द्र कोष / भा.३ / पृ.९१४)।

अनुवाद— “जीव के ज्ञानदर्शनारित्ररूप स्वभावविशेष गुण कहलाते हैं। उनकी शुद्धि और विशुद्धि के प्रकर्ष और अपकर्ष से जनित स्वरूपभेदों का नाम स्थान है, क्योंकि इसमें गुण स्थित रहते हैं। गुणों का स्थान गुणस्थान है।”

श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार (द्वार ९०) में गुणस्थान की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—“परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पानि गुणस्थानानि।” (अभि. रा. कोष / भा.३ / पृ.९१३)। अर्थात् जो परमपद-रूप (सिद्धपदरूप) प्रासाद (महल) के शिखर पर आरोहण के लिए सोपान के समान होते हैं, वे गुणस्थान कहलाते हैं।

इन परिभाषाओं का सार यह है कि मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के क्रमिक विकास की चौदह अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि संज्ञाओं से स्पष्ट

है। ये घाती कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय तथा योगप्रवृत्ति एवं योगनिरोध से प्रकट होती हैं और विभिन्न कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उपशम एवं क्षय का कारण हैं। साथ ही इनमें से विशिष्ट अवस्थाओं में विशिष्ट सम्यक्त्व, व्रत, तप, चारित्र, ध्यान, परीषह, लेश्या आदि परिणाम संभव होते हैं। इस जिनोपदेश को गुणस्थान-सिद्धान्त कहते हैं।

यदि इस सिद्धान्त को जिनोपदिष्ट न माना जाय, अपितु छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा विकसित माना जाय, तो यह सर्वज्ञ के ज्ञान पर आधारित सिद्ध न होने से कपोलकल्पित सिद्ध होगा। इससे अर्हद्वचनैकदेशरूप तत्त्वार्थसूत्र के छद्मस्थ-अनाप्त-वचनैकदेश होने का प्रसंग आयेगा। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र (दि.—९/४५, श्वे.—९/४७) में सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत (प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत), उपशमक (अपूर्वकरणोपशमक, अनिवृत्ति-बादरसाम्परायोपशमक एवं सूक्ष्मसाम्परायोपशमक), उपशान्तमोह, क्षपक (अपूर्वकरण-क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय-क्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक), क्षीणमोह एवं जिन (सयोगिजिन, एवं अयोगिजिन), इन अवस्थाओं में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि ये मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं, अत एव रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण गुणस्थान हैं। यदि गुणस्थानसिद्धान्त (गुणस्थानभाव) को छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा कल्पित माना जायेगा, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह गुणश्रेणिनिर्जरा-सिद्धान्त भी छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा कल्पित सिद्ध होगा, जिससे उमास्वाति ने जो तत्त्वार्थसूत्र (श्वेताम्बरमान्य) की बाईसवीं सम्बन्धकारिका में तत्त्वार्थसूत्र को अर्हद्वचन का एकदेश कहा है (देखिये पीछे पा. टि. १६३), उसके झूठ होने का प्रसंग आयेगा।

इसी प्रकार “तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्” (त.सू./श्वे./९/३५) तथा “आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य” (त.सू./श्वे./९/३७), इन सूत्रों में वर्णित अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत अवस्थाएँ अपने नाम से ही सूचित करती हैं कि ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं, इसीलिए प्रथम तीन में उत्तरोत्तर घटते हुए आर्तध्यान की योग्यता और चौथी में आर्तध्यान की अयोग्यता एवं धर्मध्यान की योग्यता बतलायी गयी है। (दिगम्बरमत के अनुसार अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं प्रमत्तसंयत गुणस्थानों में धर्मध्यान की भी योग्यता होती है)। अतः ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण गुणस्थान हैं। तथा “उपशान्तक्षीणकषाययोश्च” (त.सू./श्वे./९/३८), “शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः” (त.सू./श्वे./९/३९/), ‘परे केवलिनः’ (त.सू./श्वे./९/४०) एवं “तत्र्येककाययोगायोगानाम्” (त.सू./श्वे./९/४), इन सूत्रों में उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय अवस्थाओं में चतुर्विध धर्मध्यानों के साथ आदि के

दो शुक्लध्यानों की पात्रता का प्रतिपादन किया गया है और सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थाओं में उत्तरवर्ती दो शुक्लध्यानों की योग्यता का निर्देश है, जिससे सिद्ध होता है कि ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं। अत एव रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण ये गुणस्थान हैं। अतः गुणस्थान-भाव या गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित मानने पर ये अर्हद्वचन भी छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत सिद्ध होने से मिथ्या सिद्ध होंगे।

इस तरह गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित (छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत) मानने पर श्रुत के अपलाप और उसके द्वारा उसके अवर्णवाद का प्रसंग आता है। अतः यह मान्य नहीं हो सकता कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट नहीं, अपितु विकसित है। यतः तत्त्वार्थ-सूत्र में उपलब्ध गुणस्थानों के उपर्युक्त उल्लेख, जिनसे गुणस्थानभाव (रत्नत्रय के क्रमिक विकास का धर्म) स्पष्टतः प्रकट होता है एवं गुणश्रेणिनिर्जारासूत्र आचार्य उमास्वाति के वचनानुसार अर्हद्वचन के अंश हैं, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त विकसित नहीं, अपितु जिनोपदिष्ट है।

२. श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास, जो किसी अज्ञात पूर्वधर द्वारा रचित माना गया है, उसकी मंगलाचरण-गाथा में ही उल्लेख है कि चौबीसों जिन चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं। (देखिये, पीछे पा. टि. १६४)। इससे डॉ० सागरमल जी का यह मत असत्य सिद्ध हो जाता है कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट नहीं, अपितु छद्मस्थों द्वारा विकसित है। इसलिए यदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानसिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता और दिगम्बर-आगमों में उपलब्ध होता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसका उपदेश भगवान् महावीर से प्राप्त नहीं हुआ, अपितु वह विकसित हुआ है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त को श्वेताम्बरपरम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, फलस्वरूप वह इस परम्परा के आगमसाहित्य में संकलित नहीं हो सका। उसकी स्मृति में केवल गुणस्थानों के नाम ही शेष रहे, उनमें अन्तर्निहित गुणस्थानभाव (उनके मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्था होने का तथ्य) विस्मृत हो गया। इसीलिए भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानवाचक अनेक नाम मिलते हैं। जैसे भगवतीसूत्र में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत, विरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी (सयोगिकेवली, अयोगिकेवली नहीं) इन १३ नामों का उल्लेख है, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि नाम नहीं मिलता। (देखिये, साध्वी दर्शनकलाश्री जी का पूर्वोक्त शोधग्रन्थ / पृ.३४-३५)। ये नाम भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में गुणस्थानों से धिन्न अर्थ में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि ही है, सम्यग्दृष्टि का अर्थ सम्यग्दृष्टि ही है, अविरत का अर्थ अविरत

ही है, विरत का अर्थ विरत ही है, तथापि ये मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की सूचक अवस्थाओं के रूप में वर्णित नहीं है। ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं, ऐसी अवधारणा भी वहाँ उपलब्ध नहीं है।

कुछ शब्दों का अर्थ भी परिवर्तित हुआ है। जैसे अनुत्तरविमान के देवों को 'उपशान्तमोह' कहा गया है। यहाँ यह शब्द कषाय के अत्यन्त मन्द होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'सयोगी' और 'अयोगी' शब्द केवली के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, मन-वचन-काय की क्रिया करनेवाले और न करनेवाले सामान्य जीवों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। (वही/पृ.३४)। 'प्रमत्तसंयत' और 'अप्रमत्तसंयत' शब्दों में 'प्रमत्त' और 'अप्रमत्त' शब्दों का प्रयोग अयत्नाचारी और यत्नाचारी, इन सामान्य लोकप्रसिद्ध अर्थों में किया गया है, छठे और सातवें गुणस्थानवालों के अर्थ में नहीं। (वही/पृ.४८)।

इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपण भी हुआ है। उदाहरणार्थ, सम्यग्दृष्टि जीव की उत्पत्ति पृथ्वीकायिक में भी बतलायी गयी है। (साध्वी दर्शनकलाश्री/वही/पृ.३२)। ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का क्षय करने के बाद अपूर्वकरण में प्रविष्ट होने का कथन किया गया है तथा सूक्ष्मसम्पराय-चारित्रवाले मुनि को सवेद कहा गया है। (वही/पृ.३३)।

यतः भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध होनेवाली उपर्युक्त तेरह अवस्थाओं के नाम गुणस्थानों के नामों से मिलते-जुलते हैं, इसलिए डॉ० सागरमल जी ने माना है कि वे गुणस्थानसिद्धान्त के बीज हैं। उन्हीं से श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है, जो क्रमशः श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास और दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् उन्हीं अवस्थाओं में सासादनसम्यग्दृष्टि नाम की अवस्था जोड़कर और उन्हें रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ मानकर गुणस्थानसिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया गया।

यहाँ प्रश्न है कि गुणस्थानों के नामों से अक्षरशः साम्य रखनेवाले, भगवतीसूत्र में उपलब्ध उपर्युक्त तेरह नामों का विकास कैसे हुआ? अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय जैसे अत्यन्त असामान्य पारिभाषिक शब्द किस सिद्धान्त को अभिव्यक्त करने के लिए गढ़े गये? जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त नाम वस्तुतः गुणस्थानों के ही नाम हैं। वे गुणस्थानसिद्धान्त के बीज नहीं, अपितु चिह्न हैं, भग्नावशेष हैं। जैसे किसी खुदाई में मिले मंदिर के भग्नावशेष वहाँ पर पूर्व में मंदिर होने की सूचना देते हैं, वैसे ही भगवतीसूत्र में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम पूर्व में गुणस्थानसिद्धान्त का अस्तित्व होने की सूचना देते हैं। जैसे किसी

स्थान में बिखरे हुए कुछ छिद्रयुक्त मोती पूर्व में विद्यमान मोतियों की माला के अस्तित्व का बोध कराते हैं, वैसे ही भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम पूर्व में गुणस्थानसिद्धान्त के श्रुतिपरम्परा में विद्यमान होने का बोध कराते हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को अपनी प्राचीन अभिन्न निर्ग्रन्थपरम्परा से गुणस्थानसिद्धान्त का उपदेश प्राप्त हुआ था। उसे श्वेताम्बरपरम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, केवल गुणस्थानों के ही अधिकतर नाम उसकी स्मृति में शेष रहे। उनका अर्थ और स्वरूप भी विस्मृत हो गया। स्मृति में शेष इन्हीं नामों का पाँचवीं शती ई० में वलभी-वाचना के समय नये सन्दर्भों में नये अर्थ के साथ भगवतीसूत्र आदि में उल्लेख कर दिया गया।

किन्तु दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त ज्यों का त्यों आचार्यों की स्मृति में बना रहा, इसलिए षट्खण्डागम में वह अपनी समस्त विशेषताओं और विभिन्न पक्षों के साथ विस्तार से निबद्ध हो गया।

इस प्रकार भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम सिद्ध करते हैं कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट ही है, विकसित नहीं।

३. डॉक्टर सा० ने माना है कि 'श्वेताम्बरपरम्परा में सर्वप्रथम जीवसमास ग्रन्थ में गुणस्थानसिद्धान्त का सुव्यवस्थित उल्लेख हुआ है।' इस कथन में थोड़ी ही सत्यता है, क्योंकि उसमें केवल चौदह गुणस्थानों के नाम देकर, चौदह मार्गणाओं एवं आठ अनुयोगद्वारों की अपेक्षा गुणस्थानों का वर्णन किया गया है। इसके अलावा उसमें न तो 'गुणस्थान' शब्द की व्याख्या की गयी है, न चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, न ही यह वर्णन है कि विभिन्न गुणस्थानों की उत्पत्ति किन कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपश या क्षय से होती है तथा किस गुणस्थान में किन कर्मों का उदय, उदीरणा, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उपशम या क्षय होता है, तथा किस गुणस्थान में कौनसा सम्यग्दर्शन, कौनसा संयम, कौनसा चारित्र, कौनसे ध्यान, कौनसे परीषह आदि संभव होते हैं? जिस ग्रन्थ में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रथम वार सुव्यवस्थित उल्लेख माना जा रहा हो, अर्थात् छद्मस्थ द्वारा नवीन विकसित किये गये गुणस्थानसिद्धान्त का प्रथम वार प्रस्तुतीकरण माना जा रहा हो, उसमें उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख प्राथमिक रूप से आवश्यक है, क्योंकि उनके बिना गुणस्थान-सिद्धान्त को हृदयंगम करना ही संभव नहीं है। चूँकि उनका उल्लेख नहीं किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा भी गुणस्थानसिद्धान्त से परिचित हो चुकी थी, इसीलिए जीवसमास के कर्ता ने उपर्युक्त प्राथमिक विषयों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा।

श्वेताम्बरपरम्परा गुणस्थानसिद्धान्त से कैसे परिचित हुई, जब कि उस परम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा ही नहीं थी? इसका सयुक्तिक उत्तर यह है कि दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादक षट्खण्डागम जैसा महान् ग्रन्थ ईसा-पूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध में रचा जा चुका था। जीवसमास (छठी शती ई०—उत्तरार्ध) की रचना के कतिपय वर्ष पूर्व श्वेताम्बरपरम्परा षट्खण्डागम एवं पूज्यपाद-स्वामीकृत सर्वार्थसिद्धि (५वीं शती ई०) के सम्पर्क में आयी और वह गुणस्थानसिद्धान्त से परिचित हुई। श्वेताम्बराचार्यों में उस पर गहन चिन्तन-मनन हुआ और भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानों के नाम-जैसे अनेक नाम उपलब्ध होने से उन्हें विश्वास हो गया कि ये गुणस्थानों के ही नाम हैं और गुणस्थान-सिद्धान्त जिनोपदिष्ट है। फलस्वरूप श्वेताम्बरसंघ में षट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि का गहन अध्ययन चलता रहा और वे गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित हो गये। अब उन्हें लगा कि गुणस्थान-विषयक कोई ग्रन्थ श्वेताम्बर-परम्परा में भी लिखा जाना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर किन्हीं आचार्य ने, जिनका नाम विस्मृति के गर्त में चला गया, षट्खण्डागम का अनुसरण कर जीवसमास नामक संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की। और ग्रन्थ को लघुकाय रखने के लिए ऊपर निर्दिष्ट उन समस्त विषयों का उल्लेख छोड़ दिया, जो गुणस्थानसिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिए प्राथमिकरूप से आवश्यक होते हैं, क्योंकि षट्खण्डागम एवं सर्वार्थसिद्धि के अध्ययन से श्वेताम्बरसंघ उनसे सुपरिचित हो चुका था। इस प्रकार चूँकि जीवसमास में उन विषयों का निर्देश नहीं है, जो गुणस्थानसिद्धान्त को समझने के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि के माध्यम से गुणस्थानसिद्धान्त से पहले ही परिचित हो चुकी थी। यह इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बरजैनसंघ में गुणस्थानसिद्धान्त का ज्ञान आचार्यपरम्परा से चला आ रहा था, अतः वह विकसित नहीं हुआ है, अपितु जिनोपदिष्ट है।

४. गुणस्थानसिद्धान्त का छद्मस्थों द्वारा विकास किये जाने का कोई प्रयोजन भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि तीर्थंकरों ने गुणस्थान-आरोहण के बिना ही मोक्ष होने का उपदेश दिया था, तो उसमें अविश्वास करने की क्या आवश्यकता थी, जिससे गुणस्थानसिद्धान्त विकसित किया गया? कोई भी सम्यग्दृष्टि आचार्य जिनवचन में अश्रद्धा नहीं कर सकता। अतः गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित करनेवाला एवं उसमें श्रद्धा करने-वाला मिथ्यादृष्टि ही कहा जा सकता है। किन्तु 'जीवसमास' के कर्ता अज्ञात पूर्वधर आचार्य, तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिकार श्री सिद्धसेनगणी एवं श्री हरिभद्रसूरि ने गुणस्थानसिद्धान्त में श्रद्धा व्यक्त की है, उसे मान्यता प्रदान की है। इन आचार्यों को कोई भी श्वेताम्बर मुनि एवं श्रावक मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकता। इससे सिद्ध है

कि गुणस्थानसिद्धान्त छद्मस्थ या अनाप्त द्वारा विकसित नहीं किया गया, अपितु जिनो-पदिष्ट है।

५. डॉ० सागरमल जी ने श्वेताम्बरीय जीवसमास ग्रन्थ को ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित सिद्ध किया है। इसके समर्थन में उन्होंने दो प्रमुख हेतु प्रस्तुत किये हैं। यथा—

१. “नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उस काल तक रचित आगमग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी जीवसमास का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पाँचवीं शती में हुई, अतः जीवसमास पाँचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रन्थों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अतः जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की पाँचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।” (जीवसमास / भूमिका / पृ. I)।

२. “--- मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष (जीवसमास/गा.१४२) को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानचर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है। नन्दीसूत्र का काल पाँचवीं शती है। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एक भेद के रूप में इन्द्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।” (वही / पृ. II)।

तात्पर्य यह कि नन्दीसूत्र से ही जीवसमास में मतिज्ञान का इन्द्रियप्रत्यक्ष नामक भेद ग्रहण किया गया है, अतः जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र की रचना के बाद छठी शती ई० में हुई है।

किन्तु साध्वी डॉ० दर्शनकलाश्री जी के प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुण-स्थान की अवधारणा नामक शोधग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉक्टर सा० ने जीवसमास को लगभग पाँचवीं शती का बतलाया है और इसके समर्थन में कोई हेतु प्रस्तुत नहीं किया। (पृष्ठ २)। इससे उनका यह मत मान्य नहीं हो सकता, पूर्वमत ही मानने योग्य है। इसके साथ ही उन्होंने उपर्युक्त प्राक्कथन में लिखा है—

“श्वेताम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्टतः प्रस्तुत करने-वाला प्रथम ग्रन्थ जीवसमास है। तुलनात्मक आधार पर मैंने और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी यह माना है कि ‘जीवसमास’ ही षट्खण्डागम का आधारभूत ग्रन्थ रहा है।” (पृ. ३)।

इस प्रकार डॉक्टर सा० ने षट्खण्डागम को जीवसमास के बाद का और छठी शती ई० के उत्तरार्ध के पश्चात् रचित माना है। इसके समर्थन में उन्होंने दिगम्बर विद्वान् पं० हीरालाल जी शास्त्री (साढमल-निवासी) के उन वचनों की ओर संकेत किया है, जो उन्होंने ब्र० पं० सुमतिबाई शहा द्वारा सम्पादित एवं १९६५ ई० में श्री श्रुतभाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति फलटण द्वारा प्रकाशित 'षट्खण्डागम' की प्रस्तावना में निबद्ध किये हैं। प्रस्तावना में उन्होंने 'जीवस्थान का आधार' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि षट्खण्डागम के जीवस्थान की रचना 'जीवसमास' नामक ग्रन्थ के आधार पर हुई है। प्रस्तावना का यह अंश डॉ० सागरमल जी ने 'जीवसमास' की भूमिका (पृष्ठ xxxi-x/i) में उद्धृत किया है।

पण्डित जी की भ्रान्ति—पं० हीरालाल जी शास्त्री ने जिस जीवसमास ग्रन्थ को षट्खण्डागम के जीवस्थान का आधार बतलाया है, वह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह डॉ० सागरमल जी के उपर्युक्त वचनों से ज्ञात होता है। ग्रन्थ के अन्तरंग प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। यथा—

१. जीवसमास की भाषा शौरसेनी न होकर अर्धमागधी है, क्योंकि उसमें नेरइया (गा. ११) तिरिया (गा. २७२), अन्नाण (गा. २६९), केवलनाणी (गा. ८१) निगगंथ (गा. ६८) इत्यादि अर्धमागधी के प्रयोग मिलते हैं। शौरसेनी में क्रमशः णेरइया, तिरिक्खा, अण्णाण, केवलणाणी, णिगगंथ, ये रूप बनते हैं। दिगम्बरग्रन्थों की भाषा शौरसेनी और क्वचित् महाराष्ट्री है।

२. जीवसमास में छह भाव माने गये हैं—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, पारिणामिक और सान्निपातिक (गा. २६५)। दिगम्बरपरम्परा में पृथक् सान्निपातिक भाव मान्य नहीं है। दो भावों के संयोग को सान्निपातिकभाव कहते हैं, वह मिश्रभाव में ही गर्भित हो जाता है। (तत्त्वार्थराजवार्तिक २/७/२१-२२/पृ.११४)।

३. जीवसमास में अनुदिश नाम के नौ कल्पातीत स्वर्ग नहीं माने गये हैं, जब कि दिगम्बरपरम्परा मानती है। षट्खण्डागम में भी मान्य हैं।

पं० हीरालाल जी शास्त्री ने जीवसमास को भ्रान्तिवश दिगम्बरग्रन्थ मान लिया है। इसीलिए दिगम्बरमत के विरुद्ध जो मान्यताएँ उसमें उपलब्ध होती हैं, उनका उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की पद्धति से समाधान करके उसे दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। वे लिखते हैं—

“यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश

नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के “दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः” इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और “नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु” इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उनकी नवसु पद से सूचना मान करके समाधान कर लिया गया है, उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।” (षट्खण्डागम/प्रस्तावना/पृ.९९/सम्पा.-ब्र. पं० सुमतिबाई शहा/द्वि.सं./प्रकाशक—आ० शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला/बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर उ.प्र./२००५ ई०)।

इसके अतिरिक्त पं० हीरालाल जी शास्त्री ने षट्खण्डागम के उपदेष्टा आचार्य धरसेन का समय वीरनिर्वाण से ६०० वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् ७३ के पश्चात् माना है (वही/द्वि.सं./प्रस्ता./पृ.१) और लिखा है कि किसी अज्ञात पूर्वभूत (पूर्वधर) सूरि द्वारा सूत्रित (रचित) जीवसमास ग्रन्थ “आचार्यपरम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनचार्य को प्राप्त हुआ। उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।” (वही/द्वि.सं./प्रस्ता./पृ.९२)।

पण्डित जी आगे लिखते हैं—“--- जीवसमास के प्रणेता वस्तुतः श्रुतज्ञान के अंगभूत ११ अंगों और १४ पूर्वों के वेत्ता थे। भले ही वे श्रुतकेवली न हों, पर उन्हें अंग और पूर्वों के बहुभाग का विशिष्ट ज्ञान था, और यही कारण है कि वे अपनी कृति को इतना स्पष्ट और विशद बना सके। यह कृति आचार्यपरम्परा से आती हुई धरसेनाचार्य को प्राप्त हुई, ऐसा मानने में हमें कोई बाधक कारण दिखाई नहीं देता।” (वही/द्वि.सं./प्रस्ता./पृ.९२)।

११ अंगों और १४ पूर्वों के अन्तिम वेत्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। पण्डित जी के अनुसार जीवसमास के कर्ता का समय इनके ठीक बाद ही माना जा सकता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुए थे। अतः जीवसमास के कर्ता को भी ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में ही विद्यमान मानना होगा। इस तरह उनका स्थितिकाल, धरसेनाचार्य से लगभग ४०० वर्ष पूर्व घटित होता है। और पण्डित जी का मत है कि उनके द्वारा रचित जीवसमास धरसेनाचार्य को आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि पण्डित जी जीवसमास के कर्ता को दिगम्बरपरम्परा का मानकर चले हैं। इसीलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि षट्खण्डागम के ‘जीवस्थान’ नामक खण्ड की रचना ‘जीवसमास’ के आधार पर हुई है। यदि उनकी दृष्टि इस तथ्य पर गयी होती कि वह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है और उसका रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध है, तो वे ठीक उसी निर्णय पर पहुँचते, जिसे उन्होंने

निरस्त किया है। उन्होंने जीवसमास को ईसापूर्व चौथी सदी की कृति मानकर इस सम्भावना को निरस्त किया है कि जीवसमास की रचना षट्खण्डागम के आधार पर हुई है। वे लिखते हैं—

“यहाँ यह शंका की जा सकती है कि संभव है षट्खण्डागम के उक्त जीवस्थान के विशद एवं विस्तृत वर्णन का जीवसमासकार ने संक्षेपीकरण किया हो, जैसा कि धवला-जयधवला टीकाओं का संक्षेपीकरण गोम्मटसार के रचयिता नैमिचन्द्राचार्य ने किया है। पर, इस शंका का समाधान यह है कि पहले तो गोम्मटसार के रचयिता ने उसमें अपना नाम स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, जिससे वह परवर्ती रचना सिद्ध हो जाती है। पर यहाँ तो जीवसमासकार ने न तो अपना नाम कहीं दिया है और न परवर्ती आचार्यों ने ही उसे किसी आचार्य-विशेष की कृति बताकर नामोल्लेख किया है। प्रत्युत उसे ‘पूर्वभृत्सूरि-सूत्रित’ ही कहा है, जिसका अर्थ यह होता है कि जब यहाँ पर पूर्वों का ज्ञान प्रवहमान था, तब किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणाशक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथारूप में निबद्ध कर दिया है। और वह आचार्यपरम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है।” (वही / द्वि.सं. / प्रस्ता. / पृ.९१-९२)।

इस कथन से स्पष्ट है कि पण्डित जी ने जीवसमास को दिगम्बरग्रन्थ एवं ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी की रचना मानकर ही उसे षट्खण्डागम के ‘जीवस्थान’ का आधार माना है। यदि वे इस तथ्य से अभिज्ञ होते कि वह श्वेताम्बरग्रन्थ है और ईसा की छठी शती के उत्तरार्ध में रचा गया है, तो वे भी यह निर्णय देते कि वह षट्खण्डागम के आधार पर निर्मित हुआ है, उसमें षट्खण्डागम का संक्षेपीकरण किया गया है।

इसलिए डॉ० सागरमल जी ने जीवसमास को षट्खण्डागम का आधारभूत ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि दिगम्बर विद्वान् पं० हीरालाल जी शास्त्री ने भी जीवसमास को षट्खण्डागम के जीवस्थान का आधार माना है, वह भ्रान्तिजन्य होने से भ्रान्तिपूर्ण है। अतः उससे इस बात की पुष्टि नहीं होती कि षट्खण्डागम के जीवस्थान की रचना जीवसमास के आधार पर हुई है।

६. यदि जीवसमास को षट्खण्डागम के जीवस्थान-खण्ड की रचना का आधार माना जाय तो, प्रश्न उठता है कि उसके २. खुद्दाबन्ध (क्षुद्रबन्ध), ३. बन्धस्वामित्वविचय, ४. वेदना, ५. वर्गणा एवं ६. महाबन्ध, इन शेष पाँच खण्डों की रचना किन ग्रन्थों के आधार पर हुई? क्योंकि इन पाँच खण्डों की सामग्री तो जीवसमास ग्रन्थ में

उपलब्ध ही नहीं है। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि उनकी रचना आचार्यपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर हुई है, तो जीवस्थान-खण्ड की रचना भी आचार्यपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर क्यों नहीं हो सकती? इस तर्क का निरसन किसी भी तर्क से संभव नहीं है, अतः सिद्ध होता है कि जीवसमास को जो षट्खण्डागम के जीवस्थान खण्ड का आधारभूत ग्रन्थ माना गया है, वह अप्रामाणिक है।

७. आगे षट्खण्डागम नामक एकादश अध्याय में वे प्रमाण प्रस्तुत किये जायेंगे, जिनसे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी। और जीवसमास का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह डॉ० सागरमल जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध ही है। अतः रचनाकाल की यह पूर्वापरता इस निर्णय में सन्देह के लिए अवकाश नहीं छोड़ती कि जीवसमास ही षट्खण्डागम के आधार पर रचा गया है, षट्खण्डागम जीवसमास के आधार पर नहीं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है—

१. कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से प्रकट जीव की मिथ्या एवं सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्रात्मक अवस्थाएँ गुणस्थान कहलाती हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की ऊपर-ऊपर उठती अवस्थाएँ अर्थात् गुणस्थान मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं।

२. 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाएँ लक्षण की दृष्टि से गुणस्थान ही हैं और सम्पूर्ण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-साहित्य में उन्हें गुणस्थान ही कहा गया है। उनका 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' यह नामकरण तो स्वयं तत्त्वार्थसूत्रकार ने नहीं किया। यह पारिभाषिक (अर्थविशेष-सूचक) शब्द भी नहीं है, अपितु परिभाषा (अर्थविशेष) ही है, अतः अप्रामाणिक है।

३. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों का उल्लेख न केवल गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में है, अपितु परीषहों, ध्यानभेदों, आहारकशरीर और पञ्च चारित्रभेदों के वर्णन-प्रसंग में भी है।

४. तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों का कथन शब्दतः है और पाँच का अर्थतः। इस प्रकार उसमें चौदहों गुणस्थानों का वर्णन है।

५. तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और क्षपक श्रेणियों का उल्लेख 'अनन्तवियोजक' एवं 'दर्शनमोहक्षपक' संज्ञाओं का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्रकार के गुणस्थान-सिद्धान्त-विषयक गहन और सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है।

६. तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण विषय-प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित है और उसकी गुणस्थानकेन्द्रितता सर्वमान्य है।

७. श्वेताम्बर-आगमों में न तो गुणस्थानों की मान्यता है, न गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों की। 'समवायांग' और 'आचारांगनिर्युक्ति' में इनका प्रवेश षट्खण्डागम से हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में भी वहीं से आये हैं। अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है।

८. तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण है, उससे चतुर्दश गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। अतः वह उतनी ही प्राचीन है, जितनी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मव्यवस्था।

९. दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने गुणस्थानों को मोक्ष का सोपान कहा है और श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि ने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षपरम्परा' (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) शब्द से अभिहित किया है। अतः गुणस्थानसिद्धान्त उतना ही पुराना है, 'जितना तीर्थकरप्रणीत मोक्षमार्ग।

१०. यदि गुणस्थानसिद्धान्त को ईसा की चौथी शती के बाद विकसित माना जाय, तो इसका यह तात्पर्य होगा कि उसके पहले जीव सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), विरत आदि अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते थे और ऋषभादि तीर्थकर मिथ्यादृष्टि एवं व्रतहीन अवस्था में ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार यह गुणस्थानविकासवादी मान्यता जैनशासन के 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्राणभूत सिद्धान्त पर ही कुठाराघात करती है, अतः यह जैनशासनविरोधी होने से युक्तियुक्त नहीं है।

११. गुणस्थानसिद्धान्त के उद्भव और विकास अथवा ऐतिहासिक विकासक्रम को निर्धारित करनेवाले हेतु अप्रामाणिक हैं, अतः वह ऐतिहासिक विकासक्रम नहीं, अपितु कपोलकल्पित विकासक्रम है।

१२. गुणस्थानसिद्धान्त को छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत मानने पर तत्त्वार्थसूत्र छद्मस्थ-अनाप्त के उपदेश पर आधारित सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें गुणस्थानसिद्धान्त के आधार पर तत्त्वप्ररूपण किया गया है। इस स्थिति में श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र की २२वीं सम्बन्धकारिका में उमास्वाति ने जो तत्त्वार्थसूत्र को अर्हद्वचनैकदेश कहा है, उसके असत्य होने का प्रसंग आवेगा और उमास्वाति अन्यथावादी सिद्ध होंगे।

१३. गुणस्थानसिद्धान्त के प्ररूपक श्वेताम्बरीय जीवसमास की मंगलाचरण-गाथा में कहा गया है कि चौबीसों जिन चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं।

१४. श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में जो गुणस्थाननाम-सदृश शब्द मिलते हैं, वे गुणस्थानों के ही नाम हैं। जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त को

श्वेताम्बर-परम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, केवल गुणस्थानों के नाम ही स्मृति में शेष रहे, इसलिए उनका ही उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थों में हो पाया। और उनका वास्तविक अर्थ विस्मृत हो जाने से उनके साथ नया अर्थ और नये सन्दर्भ जोड़ दिये गये। किन्तु दिगम्बरपरम्परा में जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त ज्यों का त्यों आचार्यों की स्मृति में बना रहा, इसलिए षट्खण्डागम में वह अपनी समस्त विशेषताओं और विविध पक्षों के साथ विस्तार से निबद्ध हो गया।

१५. गुणस्थानसिद्धान्त को समझने के लिए 'गुणस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति, गुणस्थानों के लक्षण आदि तथ्यों की जानकारी सर्वप्रथम आवश्यक होती है। किन्तु छठी शती ई० के गुणस्थानसिद्धान्त-प्रतिपादक श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास में इन तथ्यों की जानकारी नहीं दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा षट्खण्डागम एवं पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धि-टीका के माध्यम से गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित हो गयी थी। इसीलिए जीवसमास के कर्त्ता ने ग्रन्थ में उपर्युक्त जानकारी देना आवश्यक नहीं समझा।

१६. दिगम्बर विद्वान् पं० हिरालाल जी शास्त्री ने भ्रान्तिवश ईसा की छठी शताब्दी में रचित श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास को ईसापूर्व चौथी शताब्दी में रचित दिगम्बरग्रन्थ मान लिया और यह घोषित कर दिया कि उसके आधार पर षट्खण्डागम के 'जीवस्थान' खण्ड की रचना हुई है। वस्तुतः षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि श्वेताम्बरीय जीवसमास ईसा की छठी शती के उत्तरार्ध में रचा गया है। अतः जीवसमास षट्खण्डागम का आधार नहीं हो सकता, अपितु षट्खण्डागम ही जीवसमास का आधार हो सकता है।

१७. इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट ही है। उसे तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल (श्वेताम्बरमान्यतानुसार ईसा की तीसरी-चौथी शती) के बाद विकसित मानना और इस आधार पर गुणस्थानों की चर्चा करनेवाले कसायपाहुड, षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, मूलाचार आदि दिगम्बरग्रन्थों को तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती मानना और इस कारण आचार्य कुन्दकुन्द को पाँचवीं शती ई० (विक्रम की छठी शती) का बतलाना महामिथ्या मान्यताएँ हैं।

१८. पूर्ववर्णित प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

६

सप्तभंगीविकासवाद

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का दूसरा तर्क यह है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके उमास्वातिकृत भाष्य में नयप्रमाण-सप्तभंगी का भी उल्लेख नहीं है, जब कि कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय में उसका स्पष्ट शब्दों में वर्णन है।^{१७१} इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी का भी विकास नहीं हुआ था, अतः तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्द से पूर्व की रचना है। इसलिए कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार के बाद विक्रम की छठी शती में हुए थे। (जै.ध.या.स/पृ.२४८-२४९)

निरसन

६.१. भगवतीसूत्र में सातों भंगों की चर्चा

यह तर्क भी एकदम कपोलकल्पित है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की रचना से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत (श्वेताम्बरमतानुसार) पाँचवें आगमग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में न केवल सात भंगों की चर्चा है, अपितु तेईस भंग प्रतिपादित किये गये हैं। सप्तभंगीविकासवादी विद्वान् स्वयं लिखते हैं—“श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कन्ध के सम्बन्ध में जो २३ भंगों की योजना है, वह वचनभेदकृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूलभंग सात ही हैं।” (डॉ.सा.म.जै.अभि.ग्र./पृ.१५८)। उन सात मूलभंगों का निरूपण चतुःप्रदेशी स्कन्ध के प्रसंग में इस प्रकार किया गया है—

“गोयमा, चउप्पएसिए खंधे १. सिय आया, २. सिय नो आया, ३. सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया तिय, ४. सिय आया य नो आया य, ५. सिय आया य अवत्तव्वं, ६. सिय नो आया य अवत्तव्वं, ७. सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं।” (व्याख्याप्रज्ञप्ति/१२/१०/३०(१)/पृ. २३५)।

अनुवाद—“गौतम! चतुःप्रदेशी स्कन्ध १. स्याद् आत्मा है, २. स्याद् नो-आत्मा है, ३. स्याद् अवक्तव्य है—आत्मा और नो-आत्मा उभयरूप होने से, ४. स्याद् आत्मा भी है और नो-आत्मा भी, ५. स्याद् आत्मा है और अवक्तव्य भी है, ६. स्याद् नो-आत्मा है और अवक्तव्य भी है, ७. स्याद् आत्मा है, नो-आत्मा है और अवक्तव्य भी है।”

१७१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।

द्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥ पञ्चास्तिकाय।

इससे सिद्ध है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने जो सप्तभंगी को तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित माना है, वह सर्वथा मिथ्या है। अतः सप्तभंगी-विकासवाद के मिथ्या हेतु द्वारा कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से उत्तर-कालीन सिद्ध नहीं होते।

६.२. सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ महावीर के ही युग में

वैसे तो अनेकान्त, स्याद्वाद और नय-प्रमाण-सप्तभंगी के सिद्धान्त उतने ही प्राचीन हैं, जितना जैनशासन, तथापि यदि सप्तभंगी के विकास की कल्पना ही की जाय, तो उसके विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही युग में थीं, उत्तरकाल में नहीं। क्योंकि उनके ही युग में सप्तभंगी के अंगभूत विभिन्न ऐकान्तिक भंग प्रचलित थे। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में कहा गया है—

'नासदासीनो सदासीत्तदानीम्' (१०/१२९/१) अर्थात् उस समय (सृष्टि के आरंभ में) न सत् था, न असत् था। इस कथन में सद्-असद्-निषेध रूप अनुभय-भंग का वर्णन है।

छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि कहते हैं—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—असदेवेदमग्र आसीत्' (६/२/१) अर्थात् 'हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व यह दृश्यमान जगत् सत् ही था ---। हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व यह असत् ही था।' इन वाक्यों में सद्-विधान और असद्-विधान ये दो भंग वर्णित हैं।

तैत्तिरीय-उपनिषत्कार का कथन है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (२/४/१) अर्थात् 'उस ब्रह्म की थाह न पाकर मन और वाणी दोनों निवृत्त हो जाते हैं।' यह उक्ति अवक्तव्य (अनिर्वचनीय) भंग का निर्देश करती है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में चार भंग उपलब्ध होते हैं।

महावीर के समकालीन छह इतर दार्शनिकों में संजय बेलट्टपुत्त अनिश्चयवादी था। उसके अनिश्चयवाद में भी चार भंग थे—

१. मैं नहीं कह सकता कि परलोक है।
२. मैं नहीं कह सकता कि परलोक नहीं है।
३. मैं नहीं कह सकता कि परलोक है भी और नहीं भी।
४. मैं नहीं कह सकता कि परलोक न है और न नहीं है।^{१७२}

१७२. "एवं वुत्ते, भन्ते! सञ्जयो वेलट्टपुत्तो मं एतदोवाच—'अत्थि परो लोको ति इति चे मे पुच्छसि, अत्थि परो लोको ति इति चे मे अस्स, अत्थि परो लोको ति इति ते नं ब्याकरेय्यं। एवं

गौतमबुद्ध अव्याकृतवादी थे। उन्होंने चार आर्यसत्त्यों के अलावा और किसी भी दार्शनिक तत्त्व की मीमांसा नहीं की, क्योंकि वे मानते थे कि अन्य किसी भी दार्शनिक तत्त्व के विषय में जानना निर्वाण-प्राप्ति के लिए उपयोगी नहीं है।^{१७३} उनके अव्याकृतवाद में भी चार भंग थे—

१. क्या मरण के बाद तथागत होते हैं?
२. क्या मरण के बाद तथागत नहीं होते?
३. क्या मरण के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते?
४. क्या मरण के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते।^{१७४}

इस प्रकार भगवान् महावीर का युग सृष्टि और सृष्टिकर्ता आदि के विषय में विभिन्न प्रकार के विधि-निषेधरूप ऊहापोह करने का युग था। उस समय जिज्ञासुओं के मन में प्रायः ऐसे ही प्रश्न उठा करते थे और वे तत्कालीन प्रसिद्ध दार्शनिकों से इनका समाधान पाने की चेष्टा करते थे, जिनमें से कोई उन्हें अनिश्चयवाद या अज्ञानवाद की गोद में ढकेल देता था और कोई अव्याकृतवाद के द्वारा उनकी जिज्ञासाओं को निरर्थक ठहरा देता था। किन्तु भगवान् महावीर स्याद्वादी थे। वे हर प्रश्न का उत्तर 'स्याद्'(कथंचित्) निपात का प्रयोग करते हुए 'हाँ' या 'न' में देते थे, जिससे जिज्ञासु का यथोचित रीति से समाधान हो जाता था।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि भी लिखते हैं—“जब हम महावीरयुग का अध्ययन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उस युग में इस प्रकार के प्रश्न दर्शनिकों के मस्तिष्क को झकझोर रहे थे और वे यथार्थ समाधान पाने के लिए मूर्धन्य मनीषियों के पास पहुँचते थे।” (भगवतीसूत्र : एक परिशीलन/पृ.६९)।

इससे इस सत्य का समर्थन होता है कि सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही काल में विद्यमान थीं। इस बात से तो गौतमबुद्ध भी अभिन्न

ति पि मे नो, तथा ति पि मे नो, अञ्जथा ति पि मे नो, नो ति पि मे नो, नो नो ति पि मे नो। नत्थि परो लोको---। अत्थि च नत्थि च परो लोको---। नेवत्थि न नत्थि परो लोको---।” संजयवेलट्टुपुत्तवादी/ सामञ्जफलसुत्त / दीघनिकायपालि/ भाग १/ पृ.६४।

१७३. चूळमालुक्क्यसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि/ भा.२/ पृ.५४९।

१७४. “‘होति तथागतो परं मरणा’ ति मया अब्ब्याकतं, ‘न होति तथागतो परं मरणा’ ति मया अब्ब्याकतं, ‘होति च नं च होति तथागतो परं मरणा’ ति मया अब्ब्याकतं, ‘नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा’ ति मया अब्ब्याकतं।” चूळमालुक्क्यसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि/ २. मज्झिम पण्णासक/ पृ.५९४।

थे कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माने जाते थे। वे स्वयं अपने भिक्षुओं से कहते हैं—

“एवं वुत्ते भिक्खवे! ते निगण्ठा मं एतदवोचुं—‘निगण्ठो, आवुसो, नाटपुत्तो सब्बञ्जू सब्बदस्सावी, अपरिसेसं जाणदस्सनं पटिजानाति—चरतो च मे तिद्दुतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं जाणदस्सनं पच्चुपट्टितं ति। सो एवमाह—अत्थि खो वो, आवुसो निगण्ठा, पुब्बे व पापकम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करकारिकाय निज्जीरेथ, यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता वाचाय संवुता मनसा संवुता तं आयतिं पापकम्मस्स अकरणं। इति पुराणानं कम्मानं तपसा व्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खओ, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती ति। तं च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्हा अत्तमना’ ति।” (निगण्ठानं दुक्खनिज्जरावादो/ देवदहसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि/ ३. उपरिपण्णासक / पृ. १०२६-२७)।

अनुवाद—“भिक्षुओ! मेरे द्वारा ऐसा कहे जाने पर उन निर्ग्रन्थों ने मुझे से कहा—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपने सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन की प्रतिज्ञा करते हैं कि चलते, खड़े रहते, सोते-जागते सदा मुझे ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) ऐसा कहते हैं—‘आयुष्मन् निर्ग्रन्थो! जो तुम्हारा पूर्वकृत कर्म है, उसे इस क्लेशसाध्य दुष्कर कारिका (तपश्चर्या) से नष्ट कर दो। और जो इस समय तुम काय, वाक्, मन से संवृत हो, यह तुम्हें भविष्य में पाप न करने में सहायक होगा। यों पुराने पापकर्मों के तपस्या द्वारा क्षय हो जाने एवं नये कर्मों के न किये जाने से भविष्य में तुम लोग क्षीणकर्मा हो जाओगे। कर्मों के क्षीण हो जाने से तुम्हारा समग्र दुःख विनष्ट हो जायेगा। दुःखनाश से तुम्हारी सभी वेदनाओं (कुशल-अकुशल अनुभूतियों) का नाश हो जायेगा। यों, वेदनाओं के नाश से तुम्हारा सभी प्रकार का दुःख निर्जीर्ण हो जायेगा। उनका यह कहना हमको रुचता है, अच्छा लगता है, इससे हम सन्तुष्ट हैं।”

इस प्रकार गौतमबुद्ध के समय भगवान् महावीर सर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्ध थे और जिज्ञासुओं के मन में उठनेवाली उपर्युक्त जिज्ञासाओं से वे परिचित थे तथा सर्वज्ञ होने के कारण उन्हें यह भी दिखाई देता था कि जिज्ञासाओं के ये चार ही प्रकार नहीं हैं, उनके परस्पर संयोग से कम से कम सात जिज्ञासाएँ हो सकती हैं। यथा—

१. क्या लोक शाश्वत है?
२. क्या लोक शाश्वत नहीं है?
३. क्या लोक शाश्वत है और शाश्वत नहीं है?

४. क्या लोक अवक्तव्य है?
५. क्या लोक शाश्वत है और अवक्तव्य है?
६. क्या लोक शाश्वत नहीं है और अवक्तव्य है?
७. क्या लोक शाश्वत है, शाश्वत नहीं है और अवक्तव्य है?

सारी जिज्ञासाएँ इन सात जिज्ञासाओं में समाविष्ट हो जाती हैं। उनका अपुनरुक्त परस्पर संयोग करने पर वे सात से अधिक नहीं हो सकतीं। भगवान् महावीर जैसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के लिए गणित का यह सरल नियम अदृष्ट नहीं रह सकता था। इन सात जिज्ञासाओं का समाधान वे स्याद्वाद के द्वारा करते थे। अतः नय-प्रमाण-सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही युग में विद्यमान थीं और उसका विकास भगवान् महावीर के द्वारा ही किया गया, यह युक्तिः सिद्ध होता है।

६.३. बादरायण व्यास द्वारा सप्तभंगी की आलोचना

‘ब्रह्मसूत्र’ के कर्ता श्री बादरायण व्यास का समय भारतीय और विदेशी विद्वानों ने ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० के बीच निर्धारित किया है।^{१७५} श्री व्यास ने ब्रह्मसूत्र में ‘नैकस्मिन्नसम्भवात्’ (२/२/३३) सूत्र द्वारा जैनदर्शन के अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी की आलोचना की है। सूत्र का अर्थ है ‘एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते।’ इसका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं—

“निरस्तः सुगतसमयः। विवसनसमय इदानीं निरस्थते। सप्त चैषां पदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम। संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्ति-कायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति। सर्वेषा-मप्येषामवान्तरप्रभेदान् बहुविधान् स्वसमयपरिकल्पितान् वर्णयन्ति। सर्वत्र चेम् सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति। अत्राचक्षमहे—नायमभ्युपगमो युक्त

१७५. “Keith holds that Bādarāyāṇa can not be dated later than A.D.200. Indian Scholars are of opinion that the Sūtra was composed in the period from 500 to 200 B.C. Fraser assigns it to 400 B.C. Max Muller says : “Whatever the date of the Bhagavadgīta is, and it is a part of the Mahābhārata the age of the vēdānta sūtra and of Bādarāyāṇa must have been earlier.” Indian Philosophy, Volume II, by S. Rādhākṛishṇan / Page 433.

इति। कुतः? एकस्मिन्नसम्भवात्। न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्।” (शांकरभाष्य/ब्रह्मसूत्र २/२/३३/पृ.२५२-२५३)।

अनुवाद—“बौद्धमत का निरसन कर दिया गया। अब निर्वस्त्रों (दिगम्बर जैनों) के मत का निरसन करते हैं। ये लोग सात पदार्थ मानते हैं : जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में तो दो ही पदार्थ हैं : जीव और अजीव। शेष का इन दोनों में अन्तर्भाव मानते हैं। ये दोनों पदार्थ पंचास्तिकाय नाम से भी वर्णित किये गये हैं : जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। इन सब के स्वमत-परिकल्पित बहुविध भेद बतलाये गये हैं। इन सब में वे ‘सप्तभंगीनय’ नामक न्याय का प्रयोग करते हैं, जैसे-स्याद् है। स्याद् नहीं है। स्याद् है और स्याद् नहीं है। स्याद् अवक्तव्य है। स्याद् है और अवक्तव्य भी है। स्याद् नहीं है और अवक्तव्य भी है। स्याद् है, स्याद् नहीं है तथा अवक्तव्य भी है। इसी प्रकार वे एकत्व, नित्यत्व आदि में भी सप्तभंगीनय की योजना करते हैं। यहाँ हमारा कहना है कि यह मान्यता समीचीन नहीं है। क्योंकि जैसे शीत और उष्ण धर्म एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म भी युगपत् नहीं रह सकते।”

ब्रह्मसूत्रकार एवं भाष्यकार का यह तर्क समीचीन नहीं है, क्योंकि परस्परविरुद्ध धर्म दो प्रकार के होते हैं : १. सहावस्थान-विरोधी (जिनका एकसाथ रहना संभव नहीं है) और २. सहावस्थान-अविरोधी (जिनका एक साथ रहना संभव है)। स्वर्ण में स्वर्णत्व का कभी अभाव न होने से स्वर्णत्वरूप से अर्थात् द्रव्यरूप से नित्यता और आकृति के परिवर्तनशील होने से पर्यायरूप से अनित्यता, ये दोनों परस्परविरुद्ध धर्म एक साथ विद्यमान होते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

“द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या --- सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्त-सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशो कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।” (व्याकरणमहाभाष्य/पस्पशाह्निक)।

अनुवाद—“द्रव्य नित्य है, आकृति अनित्य। सुवर्ण किसी आकार से युक्त होकर पिण्डरूप धारण करता है। पिण्डाकृति को नष्ट कर उसके रुचक (आभूषणविशेष) बनाये जाते हैं। रुचकाकृति का विनाशकर उसे कड़ों का रूप दिया जाता है। कड़ों का आकार मिटाकर उसे स्वस्तिकों के रूप में ढाला जाता है। स्वस्तिकों को गलाकर पुनः स्वर्णपिण्ड बना दिया जाता है और वह पिण्ड पुनः अन्य आकृति से युक्त होकर

खदिराङ्गारसदृश दो कुण्डलों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार आकृति अन्य-अन्य होती जाती है, किन्तु द्रव्य वही का वही रहता है। आकृति के नष्ट होने पर द्रव्य ही अवशिष्ट रहता है।”

बौद्धों के एक दोषान्वेषण का खण्डन करते हुए ‘पातञ्जलयोगदर्शन’ के भाष्य में श्री व्यास कहते हैं—

“अयमदोषः। कस्मात्? एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति। कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्।” (विभूतिपाद/सूत्र १३)।

अनुवाद—“यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हम प्रकृति को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य नहीं मानते, अपितु नित्यानित्य मानते हैं। यह त्रैलोक्य (तदन्तर्गत पदार्थ) बाह्यरूप की अपेक्षा नष्ट होता है, क्योंकि नित्यत्व का प्रतिषेध है। नष्ट होकर भी विद्यमान रहता है, क्योंकि विनाश (अनित्यत्व) का निषेध है।”

इसी तरह वृक्ष में वृक्षत्वरूप से एकत्व और स्कन्ध-शाखा-पत्रादिरूप से अनेकत्व एक साथ उपलब्ध होते हैं। तथा वृक्ष स्कन्ध-शाखा-पत्रादिरूप ही होता है, इस अपेक्षा से स्कन्ध-शाखा पत्रादि का वृक्ष से अभेद है। किन्तु वृक्ष के नाम-लक्षण आदि अन्य हैं और स्कन्ध-शाखा-पत्रादि के नाम-लक्षण आदि अन्य, इस अपेक्षा से उनमें परस्पर भेद भी है। आत्मादि द्रव्यों में अपने चैतन्यादिरूप की सत्ता और पुद्गलादि पर द्रव्यों के जड़रूप की असत्ता सदा पायी जाती है। ‘सच्चासत्’ (विद्यमान पदार्थ भी अविद्यमान होता है) इस वैशेषिकसूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर मिश्र लिखते हैं—

“यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवहियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना, असन् गौरश्व्वात्मना---।” (वैशेषिकसूत्रोपस्कार/९/१/४)।

अर्थात् जहाँ सत् घट भी असत् कहा जाता है, वहाँ तादात्म्याभाव प्रतीत होता है, क्योंकि अश्व गोरूप से असत् होता है, और गो अश्वरूप से।

मीमांसक कुमारिल भट्ट ने भी वस्तु को स्वरूप से सत् और पररूप से असत् प्रतिपादित किया है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।

वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किञ्चन कदाचन॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिक / आकृतिवाद १०)।

पातञ्जलयोगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने पदार्थ को सामान्य और विशेष, इन परस्पर विरुद्ध धर्मों से समन्वित बतलाया है—“सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य।” (समाधिपाद/सूत्र ७)।

मीमांसक कुमारिल भट्ट वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता का प्रतिपादन करते हुए मीमांसाश्लोकवार्तिक में कहते हैं—“विशेषरहित सामान्य और सामान्यरहित विशेष शशविषाण के समान असत् है। अर्थात् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है”—

निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त बतलाया गया है। यथा—

क—“अणोरणीयान्महतो महीयान्” = वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। (कठोपनिषद्/१/२/२०)।

ख—“तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके” = वह चलता है, नहीं भी चलता है। वह दूर भी है, पास भी है। (ईशावास्योपनिषद्/५)।

ग—“क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तम्” = वह क्षर भी है, अक्षर भी। व्यक्त भी है, अव्यक्त भी। (श्वेताश्वतरोपनिषद्/१/८)।

ये सभी परस्परविरुद्ध धर्म सहावस्थान-अविरोधी हैं। किन्तु शीत और उष्ण, चेतनत्व और अचेतनत्व, ब्रह्मचारित्व और अब्रह्मचारित्व इत्यादि परस्परविरुद्ध धर्मों का एक साथ रहना संभव नहीं है, अतः ये सहावस्थान-विरोधी हैं। अनेकान्तवाद वस्तु में सभी प्रकार के विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व नहीं मानता, अपितु जो सहावस्थान-अविरोधी हैं, उन्हीं की सत्ता स्वीकार करता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं—

“अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां सम्भवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्य-क्रमेणैकात्म-न्यवस्थितिप्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित् क्वचिद-क्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे।” (धवला/ष.ख./पु.१/१,११/पृ.१६८)।

अनुवाद

शंका—“जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने में विरोध नहीं है, वे रह सकते हैं, किन्तु सभी धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना संभव नहीं है।

समाधान—“यह कौन कहता है कि परस्परविरोधी और अविरोधी सभी प्रकार के धर्मों का आत्मा में एक साथ रहना संभव है? यदि सभी प्रकार के धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाय, तो चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों के भी एक आत्मा में एक साथ रहने का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सभी प्रकार के परस्पर-विरोधी धर्म एक आत्मा में रहते हैं, अनेकान्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए, अपितु जिस आत्मा में जिन धर्मों का अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं है, वे किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् उस आत्मा में होते हैं, यह अनेकान्त का अभिप्राय है।”

अतः जिस विरुद्ध धर्म का वस्तु में अत्यन्ताभाव होता है, वह सद्रूप या अस्तिरूप से अनेकान्त का अंग नहीं होता, अपितु असद्रूप या नास्तिरूप से (अनेकान्त का अंग) होता है। जैसे आत्मा चैतन्यरूप से सत् है और अचैतन्यरूप (पुद्गलादिरूप) से असत्। इसी प्रकार अग्नि उष्णरूप से सत् है और शीतरूप से असत्। अतः अग्नि में उष्ण और शीत धर्म युगपत् नहीं रह सकते। इसी कारण तो उसमें सत्त्व और असत्त्वरूप दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना सिद्ध होता है। अग्नि में उष्णत्व का होना सत्त्वधर्म का होना है और शैत्य का न होना असत्त्व धर्म का होना है। अतः मान्य शंकराचार्य जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि “जैसे एक वस्तु में शीत और उष्ण धर्म एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही सत्त्व-असत्त्वादि धर्म भी एक साथ नहीं रह सकते।” उपर्युक्त युक्तियों और वैदिक-औपनिषदिक दार्शनिकों के वचनों से सिद्ध है कि एक वस्तु में शीत और उष्ण जैसे सहावस्थान-विरोधी परस्परविरुद्ध धर्म तो नहीं रह सकते, किन्तु सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि सहावस्थान-अविरोधी विरुद्ध धर्मों के रहने में कोई बाधा नहीं है। अतः शीत-उष्ण धर्मों के एक साथ न रहने के दृष्टान्त से सत्त्व-असत्त्वादि का एक साथ रहना असंगत सिद्ध नहीं होता। इसलिए अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगीनय की ब्रह्मसूत्रकार श्री बादरायण व्यास एवं भाष्यकार आचार्य शंकर द्वारा की गई आलोचना समीचीन नहीं है।

किन्तु, मुख्य विषय यहाँ यह है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों की आलोचना ५०० से २०० ई० पू० में हुए ब्रह्मसूत्र के कर्ता श्री बादरायण व्यास द्वारा की गई है, इससे सिद्ध होता है कि सप्तभंगीनय ईसा से भी कई सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध था। अतः ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के लेखक ने जो उसे तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित माना है, वह सर्वथा मिथ्या है, एक बड़ी कपोलकल्पना है। यह भगवतीसूत्र में सप्तभंगीनय के उल्लेख, भगवान् महावीर के युग में सप्तभंगीनय के विकासयोग्य परिस्थितियों के अस्तित्व तथा ‘ब्रह्मसूत्र’ में सप्तभंगीनय की आलोचना, इन तीन-तीन प्रमाणों से सिद्ध है। अतः उक्त ग्रन्थलेखक ने जो इस कपोलकल्पना के द्वारा कुन्दकुन्द

को तत्त्वार्थसूत्रकार का उत्तरकालीन सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह विफल हो जाती है और कुन्दकुन्द निर्विवादरूप से तत्त्वार्थसूत्रकार के पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं।

६.४. 'स्यात्' निपात का प्रयोग बौद्धसाहित्य में भी

सप्तभंगीनय में 'स्याद्' निपात का प्रयोग होता है। यह प्रयोग भी बहुत पुराना है। प्राचीन बौद्धसाहित्य में भी इसका प्रयोग हुआ है, जो अनिश्चितता या संशय का सूचक न होकर निश्चितता का द्योतन करता है। इस पर प्रकाश डालते हुए स्व० पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य लिखते हैं—

“स्यात् शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय, अनिश्चय और संभावना का भ्रम होता है। पर, यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसंग की, जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करनी होती है, वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग भाषा की विशिष्ट शैली का रूप रहा है, जैसा कि 'मज्झिमनिकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' के अवतरण से विदित होता है। इसमें तेजोधातु के दोनों सुनिश्चित भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है,^{१७६} न कि उन भेदों का अनिश्चय, संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित अपेक्षा से दृढ़ तो करता ही है, साथ ही साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में हैं, पर वे विवक्षित न होने से इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता है।” (जैन दर्शन/पृ.५१९)।

इस सन्दर्भ को उद्धृत करने का अभिप्राय यह दर्शाना है कि यदि स्याद्वादमय सप्तभंगीनय को विकसित ही माना जाय, तो उसके विकास की सम्पूर्ण सामग्री एवं परिस्थितियाँ भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के ही युग में विद्यमान थीं, उत्तरकाल में नहीं, अतः उसे तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित मानना किसी भी तरह न्याय्य नहीं है। वह पूर्णतः भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट है। अतः ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उसका उल्लेख होना युक्तिसंगत है।

१७६. “कतमा च राहुल! तेजोधातु? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका, सिया बाहिरा।” = राहुल तेजोधातु (अग्नि) क्या है? तेजो धातु भी आन्तर और बाह्य (भेद से दो प्रकार की) हो सकती है। (महाराहुलोवादसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / २. मज्झिमपण्णासक / पृ.५८२)।



षष्ठ प्रकरण

प्रो० ढाकी के मत का निरसन

प्रो० एम० ए० ढाकी ने अपना एक लेख, जिसका शीर्षक “The Date Of Kundakundācārya” है Aspects of Jainology, vol. III, (P.V. Research Institute, Varanasi—5) में प्रकाशित किया है। उसमें उन्होंने स्वसम्प्रदायी विचारकों के पदचिह्नों पर चलते हुए प्रमाणों पर परदा डालकर अप्रामाणिक अर्थात् कपोलकल्पित हेतुओं के आधार पर कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल निर्धारित करने की चेष्टा की है।

प्रो० ढाकी ने कुन्दकुन्द को ८ वीं शताब्दी ई० में वर्तमान सिद्ध करने के लिए पहली मनमानी चेष्टा तो यह की है कि कुन्दकुन्द से परवर्ती आचार्यों को उनसे पूर्ववर्ती बतलाया है, दूसरी यह कि उनके काल में भी मनमाना परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ उमास्वाति का अस्तित्वकाल ३७५-४०० ई०, सिद्धसेन दिवाकर का ५ वीं शताब्दी ई०, पुष्पदन्त और भूतबलि का ५ वीं शती ई० का अन्त एवं ६ वीं शती का आरंभ, समन्तभद्र का ५७५-६२५ ई०, पूज्यपाद देवनन्दी का ६३५-६८५ ई०, भट्ट अकलंक का ७२०-७८० ई०, और आचार्य कुन्दकुन्द का ८ वीं शती ई० का उत्तरार्ध दिखलाया है।^{१७७} यह सर्वथा अप्रामाणिक है। मैंने पूर्व में उन प्रमाणों और युक्तियों को प्रदर्शित किया है, जिनसे आचार्य गुणधर का अस्तित्व ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में, कुन्दकुन्द का ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में, उमास्वामी का प्रथमशती के उत्तरार्ध तथा द्वितीय शती के पूर्वार्ध में और पूज्यपाद देवनन्दी का ४५० ई० में सिद्ध होता है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने समन्तभद्र-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन कर उनका अस्तित्वकाल १२०-१८५ ई० निर्धारित किया है। तथा सन्मति सूत्रकार सिद्धसेन का अस्तित्व छठी शताब्दी ई० एवं भट्ट अकलंकदेव की स्थिति ७ वीं शताब्दी ई० में होने के प्रमाण मिलते हैं।

ढाकी जी ने जिन कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की ८ वीं शती में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका प्रदर्शन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

१७७. Aspects of Jainology, vol. III, P.V. Research Institute, Varanasi-5, pp. 187, 191, 193. (उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, भट्ट अकलंक/पृष्ठ 187, पुष्पदन्त, भूतबलि/पृष्ठ 191, आचार्य कुन्दकुन्द/पृ.193)।

८वीं शती ई. से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं

प्रो० ढाकी लिखते हैं—“स्वामी समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी और भट्टअकलंक ने अपने ग्रन्थों में न तो कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख किया है, न ही उनकी गाथाएँ उद्धृत की हैं, और न उनके विचारों का प्रभाव उनके लेखन पर दृष्टिगोचर होता है। (Asp. of Jaino., vol.III, p.187)। उक्त तीनों आचार्यों ने उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं, किन्तु कुन्दकुन्द के किसी भी ग्रन्थ पर टीका लिखने का प्रयत्न नहीं किया। उनके ग्रन्थों पर सर्वप्रथम टीका नौवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तथा दसवीं के पूर्वार्ध में हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखी है। इसके अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेन तथा आदिपुराण के कर्ता जिनसेन ने अपने ग्रन्थों में समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, सिद्धसेन, वीरसेन आदि के गुणों का कीर्तन तो किया है, किन्तु कुन्दकुन्द का नाम नहीं लिया। इससे सिद्ध होता है कि इन आचार्यों के काल तक कुन्दकुन्द का जन्म ही नहीं हुआ था।” (Asp. of Jaino., vol. III, pp.188-189)।

निरसन

मूलाचार आदि में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

प्रथम प्रकरण में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की वे गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं, जिन्हें प्रथम शती ई० के ग्रन्थ ‘भगवती-आराधना’ और ‘मूलाचार’ में आत्मसात् किया गया है, उन गाथाओं के उदाहरण दिये गये हैं, जिनको संस्कृत में परिवर्तित कर प्रथम-द्वितीय शती ई० के उमास्वामी ने ‘तत्त्वार्थ’ के अनेक सूत्रों की रचना की है, वे अनेक गाथाएँ बतलायी गयी हैं जिनको द्वितीय शती ई० के आचार्य यतिवृषभ ने ‘तिलोयपण्णत्ती’ का अंग बनाया है। पाँचवीं शती ई० के पूज्यपाद स्वामी ने ‘तत्त्वार्थ’ के सूत्रों में प्रतिपादित मन्तव्यों को प्रमाणित करने के लिए कुन्दकुन्द की जिन गाथाओं को आगमप्रमाण के रूप में उद्धृत किया है तथा ‘समाधितन्त्र’ और ‘इष्टोपदेश’ में संस्कृत रूप देकर अपनाया है, उन्हें भी सामने रखा गया है। कुन्दकुन्द की जो गाथाएँ छठी शताब्दी ई० के जोइन्दुदेव ने ‘परमात्मप्रकाश’ और ‘योगसार’ में दोहों के रूप में तथा सातवीं शती ई० के जटासिंहनन्दी ने ‘वरांगचरित’ में संस्कृतपद्यों की आकृति में समाविष्ट की हैं, उनका भी साक्षात्कार कराया गया है। ईसा की आठवीं शताब्दी के अपराजित सूरि ने ‘विजयोदया’ टीका में तथा वीरसेन स्वामी ने ‘धवला’ एवं ‘जयधवला’ टीकाओं में कुन्दकुन्द की जिन गाथाओं को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, उनका भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। और वहाँ इस बात के प्रमाण भी

दिये गये हैं कि वे गाथाएँ मूलतः कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों की हैं, किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ईसोत्तर प्रथम शती की 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' से लेकर आठवीं शती ई० की 'विजयोदया' और 'धवला' तक के कर्ता कुन्दकुन्द-साहित्य से न केवल सुपरिचित थे, अपितु उसे प्रामाणिक भी मानते थे। इसीलिए ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द की गाथाओं को आत्मसात् कर अपने ग्रन्थों का स्तर ऊँचा उठाया है और टीकाकारों ने उनके वचनों को उद्धृत कर अपने प्रतिपादन को प्रामाणिक सिद्ध किया है। अतः प्रो० ढाकी का यह कथन शतप्रतिशत मिथ्या है कि "दसवीं शताब्दी ई० (टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य) के पूर्व तक जैन ग्रन्थकारों पर कुन्दकुन्द के साहित्य का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, न ही उनके ग्रन्थों में कुन्दकुन्द-साहित्य से गृहीत वास्तविक और असंदिग्ध उद्धरण मिलते हैं,^{१५८} अतः उनका जन्म दसवीं शताब्दी ई० से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले ही हुआ होगा।" सर्वार्थसिद्धि, विजयोदया और धवला में कुन्दकुन्द-साहित्य से जो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, उनके कुन्दकुन्दरचित होने की असंदिग्धता इससे सिद्ध है कि वे उक्त टीकाओं में 'उक्त च' शब्दों का प्रयोगकर उद्धृत की गई हैं तथा वे केवल कुन्दकुन्द-साहित्य में ही मिलती हैं, अन्यत्र नहीं। वीरसेन स्वामी ने तो पंचत्थिपाहुड नाम लेकर पंचास्तिकाय से कई गाथाएँ उद्धृत की हैं, जिससे उनके पंचास्तिकाय से उद्धृत किये जाने में तो कोई बालक भी सन्देह नहीं कर सकता। तथा जो गाथाएँ भगवती-आराधना और मूलाचार में अपनायी गयी हैं, उन्हें कुन्दकुन्दरचित सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण और युक्तियाँ उपलब्ध हैं। उनका अवलोकन इन ग्रन्थों से सम्बन्धित अध्यायों में किया जा सकता है। प्रो० ढाकी का उपर्युक्त मिथ्या निष्कर्ष उनके अनुसन्धान के स्तर को सूचित करता है, वह यह ज्ञापित करता है कि उनकी शोधपद्धति कितनी उथली, सतही या साम्प्रदायिक पक्षपात से परिपूर्ण है, जिसमें कुन्दकुन्द को प्राचीन सिद्ध करनेवाले उपर्युक्त प्रमाणों पर परदा डाल कर यह मिथ्या अवधारणा उत्पन्न की गई है कि "दसवीं शताब्दी ई० के पूर्व तक किसी भी जैन ग्रन्थकार ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत नहीं कीं।"

१७८.क— "For nine Centuries his writings and thoughts, did not meet with approval or recognition." (Aspects of Jainology, Vol. III, p. 189.)

ख— "No earlier commentaries on, or genuine and undoubted quotations from this celebrated saint's great works are available." (Aspects of Jainology, Vol. III, p. 193.)

२

कुन्दकुन्दान्वय-लेखयुक्त मर्कराताम्रपत्र जाली

प्र० ढाकी का कथन है कि “कुन्दकुन्दाचार्य का नाम किसी प्राचीन शिलालेख में नहीं मिलता। मर्करा-ताम्रपत्र-लेख में उत्कीर्ण संवत् ३८८ शकसंवत् नहीं है, इसलिए उसे ४६६ ई० का नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त शिलालेख-विशेषज्ञों ने उसे जाली बतलाया है।” (Asp. of Jains., Vol.III, p.190)।

निरसन

पूर्णतः कृत्रिम नहीं, कुन्दकुन्दान्वय-उल्लेख प्राचीन

पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि मर्कराताम्रपत्र अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं। उसमें महाराज अविनीत या उसके मन्त्री के द्वारा शक सं० ३८८ (४६६ ई०) में तळवननगर के श्रीविजय-जिनालय के लिए कुन्दकुन्दान्वय के चन्द्रणन्दि-भटार को बदणेगुप्ते ग्राम दिये जाने का उल्लेख वास्तविक है। अतः ४६६ ई० के ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का वर्णन होने से कुन्दकुन्द का स्थितिकाल उससे बहुत पहले सिद्ध होता है। फलस्वरूप प्र० ढाकी की यह स्थापना मिथ्या साबित होती है कि कुन्दकुन्द ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए थे।

३

८वीं शती ई. के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना

आचार्य जयसेन ने ‘पंचास्तिकाय’ की तात्पर्यवृत्ति के प्रारंभ में लिखा है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पंचास्तिकाय की रचना की थी। ऐसा ही उन्होंने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति (२/१०८) में प्रवचनसार की रचना के विषय में भी लिखा है। डॉ० के० बी० पाठक ने इन शिवकुमार महाराज का समीकरण ५वीं शती ई० के कदम्बवंशीय राजा शिवमृगेशवर्मा से तथा प्र० ए० चक्रवर्ती ने प्रथम शती ई० के पल्लवराज शिवस्कन्द स्वामी (स्कन्द वर्मा प्रथम) से किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्र० ढाकी कहते हैं कि ये दोनों लेखक कुन्दकुन्द को प्राचीन मानते थे, इसलिए उन्होंने इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कुन्दकुन्द का अस्तित्व प्राचीनकाल में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। (Asp. of Jains., Vol.III, p.192)। इस टिप्पणी के द्वारा प्र० ढाकी ने स्वयं का भी परिचय दे दिया है। उन्होंने ठीक विपरीत मनोवृत्ति से ग्रस्त होकर अर्थात् कुन्दकुन्द को अत्यन्त अर्वाचीन सिद्ध करने की भावना से प्रेरित होकर उनके कालनिर्णय का उपक्रम किया है और ८वीं शताब्दी

ई० के गंगवंशीय राजा शिवमार-द्वितीय को शिवकुमार महाराज घोषित कर दिया है। किन्तु शिवमार और शिवकुमार नामों में साम्य नहीं है, इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि आचार्य जयसेन ने तो अपनी टीका में 'शिवमार' ही लिखा होगा, लेकिन आगे चलकर लिपिकार की भूल से 'शिवमार' के स्थान में 'शिवकुमार' लिखा गया होगा अथवा किसी ने जानबूझकर शिवकुमार कर दिया होगा।^{१७९} इस प्रकार आठवीं सदी ई० में किसी शिवकुमार महाराज का अस्तित्व न होने पर भी प्रो० ढाकी ने एक बनावटी (काल्पनिक) शिवकुमार महाराज को खड़ा कर दिया है और कह दिया है कि "देखो, यही वे शिवकुमार महाराज थे, जिनके लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की रचना की थी। अतः कुन्दकुन्द इन्हीं के काल में अर्थात् ८ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।"

निरसन

जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पञ्चास्तिकाय या प्रवचनसार की रचना की थी, यह बात न तो स्वयं कुन्दकुन्द ने कहीं लिखी है, न नौवीं शती ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र जी ने। यह बात १२वीं शती ई०^{१८०} के टीकाकार जयसेनाचार्य द्वारा कही गई है, जो बहुत अर्वाचीन थे। इस कथन का स्रोत क्या है, इसका कोई संकेत उन्होंने नहीं किया। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख से इस बात की पुष्टि नहीं होती। कुन्दकुन्द ने तो पञ्चास्तिकाय की १७३वीं गाथा में यह लिखा

१७९. "The foregoing discussion rather compels us to expect the king in question somewhere in the later part of the eighth century A.D. within the geographical, political and cultural ambit of Karṇāṭaka proper. Verily there is no king with the name Śivakumāra known to have flourished at that time. However, I seem to perceive that there could be a slight error, scribal or a deliberate emendation done at some later point, in the orthography of the name as it has come down to us through Jayasena's notice. For exactly at that time we meet the Gaṅga ruler Śivamāra II (last quarter of the 8th cent. A.D.) in Gaṅgavāḍī, a part of south-eastern Karṇāṭaka. It is for him, the luckless monarch who had to spend several years in Rāṣṭrakūṭa prison, that Kundakundācārya may have written his Pravacana-prābhṛta ! Kundakundācārya's writings, on this showing, seem to belong to the last quarter of the eighth century A.D., though the third quarter of the self-same century he may have spent in studies and preparation." (Aspects of Jainology, vol. III, 192-193).

१८०. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : प्रवचनसार-प्रस्तावना/पृ. ९९।

है कि “मैंने सिद्धान्तप्ररूपण के अनुराग से प्रेरित होकर जिनशासन की प्रभावना के लिए द्वादशांगश्रुत का साररूप यह ‘पञ्चास्तिकायसंग्रह’ ग्रन्थ प्ररूपित किया है।”^{१८१}

यदि उन्होंने इसका प्ररूपण किसी शिवकुमार महाराज के लिए किया होता, तो वे इस गाथा में या ग्रन्थ की किसी प्रारंभिक गाथा में इसका उल्लेख अवश्य करते, जैसा जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के प्रारंभ में लिखा है कि प्रभाकर भट्ट के परमात्मस्वरूप की जिज्ञासा करने पर उन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की है।^{१८२} किन्तु कुन्दकुन्द ने ऐसा उल्लेख न तो पञ्चास्तिकाय में किया है, न प्रवचनसार में।

२. तथा आचार्य जयसेन ने शिवकुमार महाराज को एक राजा के रूप में नहीं, अपितु मुनि के रूप में वर्णित किया है। इसलिए कुन्दकुन्द ने किसी राजा के लिए उक्त ग्रन्थों की रचना की थी, यह मानना प्रामाणिक नहीं है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि कोई अराजवंशीय शिवकुमार कुन्दकुन्द के प्रधान शिष्य हुए हों और उनके लिए उक्त ग्रन्थों की रचना किये जाने की कोई अनुश्रुति जयसेनाचार्य के कानों तक पहुँची हो, उसी के आधार पर उन्होंने उक्त उल्लेख किया है। इसकी चर्चा द्वितीय प्रकरण में की जा चुकी है।

३. आठवीं शताब्दी ई० में दक्षिणभारत में कोई शिवकुमार नाम का राजा था ही नहीं, प्रो० ढाकी ने यह बात स्वयं स्वीकार की है। तथा जयसेन ने ‘शिवमार’ नाम का प्रयोग किया था शिवकुमार का नहीं, इसे सत्य सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत प्रवचनसार की टीका में भी शिवकुमार नाम का प्रयोग होने से इस बात की पुष्टि होती है कि पञ्चास्तिकाय की टीका में भी ‘शिवकुमार’ नाम ही जयसेन द्वारा प्रयुक्त किया गया है। अतः आचार्य जयसेन ने शिवकुमार महाराज के लिए ही कुन्दकुन्द के द्वारा पञ्चास्तिकाय के लिखे जाने की बात कही है, शिवमार महाराज के लिए नहीं। और आठवीं शती ई० में कर्नाटक में कोई शिवकुमार नाम का राजा था नहीं, अतः जयसेन द्वारा कथित शिवकुमार कोई राजा नहीं थे, यह स्पष्ट

१८१. क— मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।

भणियं पवयणसारं पंचस्थियसंगहं सुत्तं ॥ १७३ ॥ पञ्चास्तिकाय।

ख— पं० जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र/पृ.१६७-१६८।

१८२. भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ।

भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥ १/८ ॥

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ।

चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥ १/१० ॥

पुणु पुणु पणविवि पंचगुरु भावँ चित्ति धरेवि।

भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि ॥ १/११ ॥ परमात्मप्रकाश।

हो जाता है। इसलिए जयसेन के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।

४. शिवमार-द्वितीय के समय (७९७ ई०) में उत्कीर्ण मण्णे-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है,^{१८३} जिससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्दान्वय के आदिपुरुष 'कुन्दकुन्द' शिवमार-द्वितीय से बहुत प्राचीन हैं।

५. प्रो० ढाकी ने शिवमार-द्वितीय का स्थितिकाल ८वीं शती ई० का अन्तिम चरण बतलाया है।^{१८४} किन्तु इस शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने अपनी विजयोदया टीका में कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत की हैं तथा आठवीं सदी के तृतीयचरण में धवलाटीका लिखनेवाले वीरसेन स्वामी ने भी अपनी टीका में समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि से गाथाएँ उद्धृत कर अपने वक्तव्य को पुष्ट किया है। ये उदाहरण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि कुन्दकुन्द शिवमार-द्वितीय के समय से बहुत पहले उत्पन्न हुए थे।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० ढाकी का कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में वर्तमान सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु कितना छलपूर्ण है। एक बनावटी शिवकुमार को खड़ा करके उन्होंने कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने की कुटिल चेष्टा की है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण विफल बना देते हैं।

४

८वीं शती ई. के कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति का आरम्भ करते हुए यह भी लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव के शिष्य थे—“अथ श्रीकुमारनन्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यैः—श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः—विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे—तात्पर्यार्थ-व्याख्यानं कथ्यते।”

यतः प्रो० ढाकी कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में वर्तमान सिद्ध करने का उद्देश्य लेकर चले थे, अतः उन्होंने आठवीं शती ई० के अन्तिम चरण में एक बनावटी कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को भी खड़ा कर दिया। वे उसका परिचय देते हुए लिखते हैं—“कुन्दकुन्दान्वय के इन कुमारनन्दी का नाम गंगवाड़ी के राष्ट्रकूट शासक रणावलोक

१८३. “आसीत् तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्धवः।” जै. शि. सं/ मा. च./ भा.२/ ले. क्र.१२२।

१८४. “Śivamāra II (last quarter of the 8th cent.A.D.)” Aspects of Jainology, vol. III, p.192.

कम्भराज के ताम्रपट्टिकोत्कीर्ण दानपत्र (वदनोगुप्ते-ताम्रपट्ट-दानपत्र / जै.शि.सं. / भा.ज्ञा. / भा.४ / ले.क्र.५४) में मिलता है। दानपत्र में लिखा है कि कम्भराज ने वर्धमानगुरु को शक सं० ७३० (८०८ ई०) में 'वदनोगुप्ते' ग्राम दान में दिया था। दानपत्र में वर्धमानगुरु का अन्वय इस प्रकार बतलाया गया है—कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव > एलवाचार्य > वर्धमानगुरु (८०८ ई०)।^{१८५}

इस ताम्रपट्ट-दानपत्र का विवरण देकर प्रो० ढाकी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि "उक्त वंशपरम्परा में उल्लिखित कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव ही आचार्य जयसेन द्वारा निर्दिष्ट कुन्दकुन्द के गुरु थे और एलवाचार्य नाम से उसमें स्वयं कुन्दकुन्द का उल्लेख किया गया है, क्योंकि विजयनगर के १३८६ ई० के दीपस्तम्भलेख में कुन्दकुन्द के पाँच नाम बतलाये गये हैं : पद्मनन्दी, आचार्य कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ। (जै.शि.सं./मा.च./भा.३/ले.क्र.५८५)। यतः कुन्दकुन्द के गुरु ८ वीं शताब्दी ई० में विद्यमान थे, अतः कुन्दकुन्द का स्थितिकाल यही था।" दानपत्र में बहुप्रचलित नाम 'कुन्दकुन्द' को छोड़कर अल्पप्रचलित 'एलाचार्य' नाम का प्रयोग क्यों किया गया, इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रो० ढाकी ने बहुत से अयुक्तियुक्त, अविश्वसनीय, अग्राह्य तर्क दिये हैं, क्योंकि उसका प्रयोग स्वयं उनके गले नहीं उतर रहा था।

निरसन

दानपत्र में न सिद्धान्तदेव का नाम है, न कुन्दकुन्द का

प्रो० ढाकी ने दानपत्र में प्रयुक्त नामों को यथावत् उद्धृत नहीं किया है, उसमें से कुछ अंश हटा दिया है और कुछ नया जोड़ दिया है। और इस इंजीनियरिंग के द्वारा उन्होंने जो कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव नहीं हैं, उन्हें कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव बना दिया है और जो कुन्दकुन्द नहीं हैं, उन्हें कुन्दकुन्द बना दिया है। वास्तविक नाम क्या हैं, इसकी जानकारी के लिए दानपत्र के मूलपाठ का सम्बन्धित अंश उद्धृत किया

185. "This Kumāranandi of koṇḍakundānvaya figures in a charter granted by the Rāṣṭrakūṭa governor of Gaṅgavādi, Prince Raṅgavāloka Kambharāja, in Ś.730, A.D. 808 from Badanoguppe, the charter noticed as far back as 1927. In that charter, for Vardhamānguru, who received the bequest of the village Badanoguppe, the following preceptorial lineage is given :

Kumāranandi Siddhāntadeva

∨

Elavācārya

∨

Vardhamāna-guru (A.D.808)

(Aspects of Jainology, Vol. III , p.191).

जा रहा है—

“रणावलोक-श्री कम्भराजः पुन्नाड एडेनाडुविषये वदनोगुप्पे नाम ग्रामः तलवननगरं अधिवसति विजयस्कन्धावारे त्रिंशदुत्तरेष्वतीतेषु शकवर्षेषु कार्तिकमास-पौर्णमास्यां रोहिणीनक्षत्रे सोमवारे कोण्डकुन्देयान्वय-सिर्मलगेरूगण-कुमारणन्दिभट्टारकस्य शिष्यः एलवाचार्यगुरुः तस्य शिष्यो वर्धमानगुरुः सर्वप्रणिहितः साक्षात् सिद्धान्तनुगमोद्धतः शान्तः सर्वज्ञकल्पोऽयं नयोनत-गुणोन्नतः तस्मै तं ग्रामम् अदात् स्वपुत्र-श्रीशंकरगण्ण-विज्ञापनेन श्रीकम्भदेवः श्रीविजयवसतये तलवननगरे प्रतिष्ठितायै।” (जै. शि. सं. / भा. ज्ञा. / भा. ४ / ले. क्र. ५४ / शक सं. ७३० / ८०८ ई०)।

१. यहाँ हम देखते हैं कि दानपत्र में ‘कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव’ नाम नहीं है, अपितु ‘कुमारणन्दिभट्टारक’ नाम है, किन्तु प्रो० ढाकी ने वंशावली में ‘कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव’ नाम प्रदर्शित किया है। केवल इतने से ही बोध हो जाता है कि प्रो० ढाकी ने छलवाद के द्वारा ८वीं शताब्दी ई० में कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ‘भट्टारक’ शब्द आदर या विद्वत्तासूचक सामान्य उपाधि है। उससे मनुष्य की शास्त्रगत विशेषज्ञता का बोध नहीं होता। उसकी प्रतीति सिद्धान्तदेव, त्रैविद्यदेव, सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि विशिष्ट उपाधियों के प्रयोग से ही होती है। यतः ये उपाधियाँ प्रत्यक्षतः प्रतिष्ठासूचक हैं, अतः जो मुनि या भट्टारक इन उपाधियों से विभूषित थे, उनके नाम के साथ इनका प्रयोग साहित्य और अभिलेखों में अनिवार्यतः हुआ है। ऐसा न किया जाना अविनय का सूचक होता। उपर्युक्त ताम्रपट्टिका-दानपत्र में कुमारनन्दि के साथ ‘सिद्धान्तदेव’ उपाधि का प्रयोग नहीं है, अपितु ‘भट्टारक’ उपाधि का प्रयोग है। इससे सिद्ध है कि वे सिद्धान्तदेव उपाधि से विभूषित नहीं थे। अतः वे आचार्य जयसेन द्वारा निर्दिष्ट कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव नहीं हैं।

२. १४वीं शताब्दी ई० के शुभचन्द्र ने अपनी नन्दिसंघ की गुर्वावली में^{१८६} तथा १५वीं शती ई० के श्रुतसागर सूरि ने^{१८७} कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव को नहीं, अपितु जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बतलाया है। इन ग्रन्थकारों के बीच अधिक समय का अन्तर नहीं है, फिर भी आचार्य जयसेन कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को कुन्दकुन्द का गुरु कह रहे हैं और शुभचन्द्र जिनचन्द्र को। अतः कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव का कुन्दकुन्द का गुरु होना विवादास्पद है।

१८६. क—देखिए, अष्टम अध्याय के अन्त में ‘विस्तृत सन्दर्भ’।

ख—“The Nandi Saṅgha gurvāvalī (A.D.14th cent.)” Aspects of Jainology, Vol.III, p.192.

१८७. “श्रीपद्मनन्दि-कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनाम-पञ्चकविराजितेन --- श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारक-पट्टाभरणभूतेन ---।” मोक्षप्राभृत / टीकाकर्तुः प्रशस्तिः।

३. कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त दोनों में से किसी को भी अपना गुरु नहीं कहा। उन्होंने तो अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य बतलाया है। तथा नौवीं शताब्दी ई० के आचार्य अमृतचन्द्र तो कुन्दकुन्द और उनके गुरु दोनों के विषय में मौन हैं। इस कारण भी कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को प्रामाणिक रूप से कुन्दकुन्द का गुरु नहीं माना जा सकता।

४. इसी प्रकार कथित दानपत्र में 'एलवाचार्य' नाम नहीं है, अपितु 'एलवाचार्यगुरु' नाम है, किन्तु प्रो० ढाकी ने वंशावली में केवल 'एलवाचार्य' नाम प्रदर्शित किया है। दानपत्र में एलवाचार्य और वर्धमान दोनों के साथ 'गुरु' शब्द जुड़ा हुआ है। यह नाम का ही अंग है, उपाधि नहीं। किन्तु, ढाकी जी ने 'वर्धमानगुरु' यह नाम तो ज्यों का त्यों प्रदर्शित किया है, पर 'एलवाचार्यगुरु' इस नाम से 'गुरु' शब्द हटा दिया है, जिससे वह 'एलाचार्य'-सदृश दिखने लगे। फिर भी एलवाचार्य और एलाचार्य समान नाम नहीं हैं। ढाकी जी ने कहा है कि 'एलवाचार्य' एलाचार्य का कन्नड़ रूप है।^{१८८} किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। कन्नड़ लेख में भी जहाँ-जहाँ संस्कृत शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ केवल प्रत्यय ही कन्नड़ भाषा का प्रयुक्त हुआ है, मूलशब्द ज्यों का त्यों ग्रहण किया गया है, उसका कन्नड़ीकरण नहीं किया गया, जैसे 'चन्द्रण्दिभट्टारगर्गे', 'श्रीविजयजिनालयक्के' आदि (मर्करा-ताम्रपत्रलेख)। तब संस्कृत लेख में संस्कृत शब्द के कन्नड़ीकरण या संस्कृत शब्द के स्थान में उसका कन्नड़ रूप प्रयुक्त किये जाने की कल्पना युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। अतः 'एलवाचार्य' शब्द में 'एलव' 'एल' का कन्नड़रूप न होकर कन्नड़ की स्वतंत्र व्यक्तिवाचक संज्ञा है, जैसे 'कोण्डकुन्द।' उसमें 'आचार्य' शब्द जोड़कर 'कोण्डकुन्दाचार्य' के समान 'एलवाचार्य' बना दिया गया है। विजयनगर भी कर्नाटक में ही था। वहाँ दीपस्तम्भ पर उत्कीर्ण संस्कृत शिलालेख (१३८६ ई०) में जो कुन्दकुन्द के पाँच नाम बतलाये गये हैं, उनमें 'एलाचार्य' शब्द का ही प्रयोग है,^{१८९} 'एलवाचार्य' का नहीं। अतः पूर्वोक्त कम्भराज के दानपत्र में उल्लिखित एलवाचार्य को कुन्दकुन्द का नामान्तर मानकर उन्हें कुमारनन्दिभट्टारक का शिष्य घोषित करना एक अत्यन्त अप्रामाणिक कार्य है।

१८८. "What we find in the charter of A.D. 808, however, is the appellation 'Elavācāraya', seemingly a Kannaḍa (local? Dialectical?) variant of Elācārya." Aspects of Jainology, Vol.III, p.191.

१८९. श्री मूलसंघेऽजनि नदिसंघ (स्त) स्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्यः।

तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मन्दी ॥ ३ ॥

आचार्य कुंड (कुंदा) ख्यो बक्रग्रीवो महामतिः।

एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥ ४ ॥ जै.शि.सं./मा.च./भा.३/ले.क्र.५८५।

५. यदि 'एलवाचार्यगुरु' शब्द को कुन्दकुन्दाचार्य का पर्यायवाची माना जाय, तो एलवाचार्यगुरु कुन्दकुन्दान्वय में उत्पन्न सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि किसी भी आचार्य का अपने ही अन्वय में उत्पन्न होना संभव नहीं है। यदि प्रो० ढाकी यह मानते हों कि कुन्दकुन्दान्वय आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध नहीं हुआ, अपितु 'कौण्डकुन्द' नामक ग्राम के नाम से प्रसिद्ध हुआ है, तो ऐसा ही हुआ है, इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जब कि उमास्वाति आदि आचार्यों के कुन्दकुन्दाचार्य के अन्वय में उद्धृत होने का वर्णन अनेक शिलालेखों में मिलता है। सर्वप्रथम तो उसी विजयनगर-दीपस्तम्भलेख में मिलता है, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य के पर्यायवाची 'एलाचार्य' नाम का उल्लेख है, और जिसके अर्वाचीन होने पर भी प्रो० ढाकी ने यह माना है कि भले ही वह लेख अर्वाचीन हो, पर संभव है कि उसमें कुन्दकुन्द और एलाचार्य के अभिन्न होने का उल्लेख उस समय प्रवर्तमान लिखित या श्रुतिगत परम्परा के आधार पर किया गया हो।^{१९०} इसी युक्ति से यह भी मान्य है कि उक्त दीपस्तम्भलेख के लेखनकाल में लिखित या श्रुति के रूप में यह प्रमाण उपलब्ध था कि कुन्दकुन्दान्वय का प्रचलन आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से हुआ है और उसमें अनेक मुनिरत्न उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए उक्त लेख में इसका उल्लेख किया गया है।^{१९१} इसके अतिरिक्त श्रवणबेलगोल के ४०, ४२, ४३, ४७, १०५ और १०८ क्रमांकवाले शिलालेखों (जै.शि.सं./मा.च./भा.१) में भी कहा गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति का उद्भव हुआ था। 'कौण्डकुण्ड' ग्राम के नाम से केवल आचार्य कुन्दकुन्द का नाम प्रचलित हुआ है और कुन्दकुन्दान्वय की धारा उनसे ही प्रवाहित हुई है। उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की ऊँचाई और असाधारण प्रतिष्ठा के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही था। अतः जहाँ एलवाचार्यगुरु के कुन्दकुन्दान्वय में उत्पन्न होने का उल्लेख हो, वहाँ 'एलवाचार्यगुरु' नाम आचार्य कुन्दकुन्द का वाचक हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी भी आचार्य का अपने ही अन्वय में उत्पन्न होना संभव

१९०. "In point of fact the Vijayanagar lamp-pillar inscription of Ś 1307/A.D. 1386, which enumerates five distinct appellations for our Padamanandi, includes both Kundakunda and Elācārya. The Nandi Saṁgha gurvāvali (A.D. 14th Cent.) likewise mentions the elācārya status-cognomen of Kundakundācārya. True, these latter two sources are rather late, but they possibly were so recording on the basis of the then current written or oral tradition." (Aspects of Jainology, Vol. III , p.192).

१९१. आचार्यकुण्डकुण्डाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।

एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥ ४ ॥

केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम्।

जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः ॥ ५ ॥ जै. शि. सं. / मा. च. / भा. ३ / ले. क्र. ५८५।

नहीं है। वह इसलिए कि अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने नामवाले अन्वय का अस्तित्व असम्भव है। दूसरा कारण यह है कि श्रवणबेल्लोल के शक सं० १०८५ (११६३ ई०) के शिलालेख में कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त के अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है।^{१९२}

इस प्रकार प्रो० ढाकी ने आचार्य कुन्दकुन्द को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जो आठवीं शताब्दी ई० के एलवाचार्यगुरु को कुन्दकुन्द सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह उनके छलवाद का अन्य उदाहरण है। कम्भराज के पूर्वोद्धृत दानपत्र में एलवाचार्यगुरु को स्पष्टतः कुन्दकुन्दान्वय में उद्धृत बतलाया गया है। यह देखते हुए भी कुन्दकुन्दान्वय के आदि पुरुष को कुन्दकुन्द न मानकर 'एलवाचार्यगुरु' को कुन्दकुन्द ठहराने की और इस प्रकार कुन्दकुन्दान्वय को आचार्य कुन्दकुन्द से अनुद्धृत सिद्ध करने की चेष्टा करके प्रो० ढाकी ने लोगों की आँखों में धूल झाँकने का प्रयास किया है।

६. कुन्दकुन्द के किसी वर्धमानगुरु नामक शिष्य का भी उल्लेख अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे भी एलवाचार्यगुरु का कुन्दकुन्द होना बाधित होता है।

७. कुन्दकुन्द ने भावपाहुड और लिंगपाहुड में ग्राम, भूमि आदि का दान लेकर कृषि-वाणिज्य आदि करनेवाले मुनियों को पासत्थ-कुसील मुनियों की संज्ञा दी है और उन्हें नरकगामी बतलाया है। अतः उनके ही शिष्य ने उनकी ही उपस्थिति में या उनके विद्यमान रहते हुए बदणोगुप्ते ग्राम का दान स्वीकार किया होगा, यह संभव नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि न तो 'एलवाचार्यगुरु' कुन्दकुन्द का नामान्तर था, न ही वर्धमानगुरु उनके शिष्य थे, और न कुमारनन्दि-भट्टारक उनके गुरु।

८. उक्त दानपत्र में कुमारनन्दि-भट्टारक और उनके शिष्य-प्रशिष्य को कुन्दकुन्दान्वयोद्धृत बतलाया गया है, इससे सिद्ध है कि इस अन्वय के आदिपुरुष कुन्दकुन्द उनसे बहुत पहले हुए थे।

९. उक्त दानपत्र नौवीं शताब्दी (८०८ ई०) के आरंभ का है, किन्तु पाँचवीं शताब्दी ई० के पूज्यपाद स्वामी ने, आठवीं शती ई० के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने तथा इसी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान वीरसेन स्वामी ने स्वकृत टीकाओं में कुन्दकुन्द की गाथाओं को उक्तं च कहकर उद्धृत किया है तथा वे गाथाएँ अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त वीरसेन स्वामी ने पंचत्थिपाहुड नाम का उल्लेख करके भी पंचास्तिकाय की गाथाएँ धवला में उद्धृत की हैं। प्रथम शताब्दी ई० की भगवती-आराधना और मूलाचार में, द्वितीय शती ई० की तिलोयपण्णत्ती में तथा छठी

१९२. लेख का मूलपाठ अध्याय २/प्रकरण २/शीर्षक ९ में द्रष्टव्य है।

शती ई० के परमात्मप्रकाश में भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ आत्मसात् की गई हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० के तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द-साहित्य के आधार पर की है। इससे भी कुन्दकुन्द का आठवीं सदी ई० में उत्पन्न होना बाधित होता है।

ये अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द कम्भराज, कुमारनन्दि-भट्टारक, एलवाचार्यगुरु और वर्धमानगुरु के समय (८०८ ई०) से सैकड़ों वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे।

५

लिङ्गप्राभृतोक्त शिथिलाचार छठी शती ई. से परवर्ती

अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द को ईसा की आठवीं शताब्दी का सिद्ध करने के लिए पहला हेतु बतलाते हुए प्रो० ढाकी कहते हैं कि कुन्दकुन्द ने लिंगपाहुड में मुनियों के शिथिलाचार पर तीव्र प्रहार किया है। उन शिथिलाचारों में कृषि-वाणिज्य आदि करने का उल्लेख है। ये शिथिलाचार छठी शताब्दी ई० के बाद की घटनाएँ हैं। अतः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनका उल्लेख होने से वे छठी शताब्दी ई० के बाद के विद्वान् प्रतीत होते हैं। (Asp. of Jains., Vol.III, p.195)।

निरसन

उक्त शिथिलाचार अनादि से

भावपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पासत्थ, कुसील आदि पाँच प्रकार के शिथिलाचारी जैन साधुओं का वर्णन किया गया है। इनमें एक ही स्थान में नियतवास करने वाले साधु को पासत्थ (पार्श्वस्थ) संज्ञा दी गई है। जो साधु एक ही स्थान में नियतवास करेगा, उसका जीविकोपार्जन हेतु कृषि-वाणिज्य, मंत्र-तंत्र, औषधप्रयोग आदि लौकिक कर्मों में प्रवृत्त हो जाना स्वाभाविक है। इन क्रियाओं को करनेवाला मुनि कुसील (कुशील) कहा गया है, अर्थात् पासत्थ मुनि कुसील भी हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि इन पासत्थादि पाँच प्रकार के भ्रष्ट मुनियों का अस्तित्व अनादि से है।^{१९३} इतिहास भी साक्षी है कि अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् (४६५ ई० पू०) भगवान् महावीर के अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ के मुनियों का एक वर्ग शीतादि परीषहों से बचने के लिए अर्थात् शारीरिक

१९३. देखिये, अष्टम अध्याय के चतुर्थ प्रकरण का शीर्षक क्र.३ 'पासत्थादि मुनियों के वस्त्रधारण से १२वीं शती ई. में भट्टारक-परम्परा का उदय'।

सुख के लिए आचेलक्यादि मूलगुणों का परित्याग कर मूलाचार से च्युत हो गया, वस्त्र पहनने लगा, कम्बल ओढ़ने-बिछाने लगा, पात्र में भिक्षा लाकर उपाश्रय में बैठकर भोजन करने लगा, अश्रावकों के भी घर से भिक्षा लेने लगा, यहाँ तक कि मांस से भी उदरपूर्ति करने लगा। जब ईसापूर्व ४६५ में शिथिलाचार मांसभक्षण तक पहुँच सकता है, तब आचार्य कुन्दकुन्द के काल में अर्थात् ईसापूर्व और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी में कुछ मुनियों का नियतवास और कृषि-वाणिज्यादि कर्मों में प्रवृत्त हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। अन्य तीर्थकरों के काल में भी ऐसी प्रवृत्तियोंवाले साधु रहे होंगे। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि पासत्य-कुसीलादि साधुओं का अस्तित्व अनादिकाल से है। पूर्ववर्णित साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में था। उस समय के आचार्य ने जब ऐसे मुनियों की निन्दा की है, तब यह तो प्रमाणित ही है कि उस प्राचीनकाल में भी उक्त प्रकार के मुनियों का अस्तित्व था। अतः केवल छठी शताब्दी ई० में या उसके बाद ऐसे मुनियों का उद्भव मानना प्रमाणों की अवहेलना कर स्वाभीष्ट मत का आरोपण करना है। इस ऐतिहासिक तथ्य को देखते हुए लिंगप्राभृत में कृषि-वाणिज्यादि करनेवाले शिथिलाचारी मुनियों के वर्णन से यह सिद्ध नहीं होता कि आचार्य कुन्दकुन्द छठी शताब्दी ई० के बाद उत्पन्न हुए थे।

६

छठी शती ई.-रचित षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द की टीका

पूर्वोक्त विद्वान् का कथन है कि इन्द्रनन्दी के अनुसार कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। षट्खण्डागम का रचनाकाल पाँचवी-छठी शताब्दी ई० है। अतः कुन्दकुन्द उसके बाद हुए हैं। (Asp. of Jains., Vol.III, p.196)।

निरसन

षट्खण्डागम ईसापूर्व प्र. श. के पूर्वार्ध की रचना

पूर्व प्रस्तुत साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने षट्खण्डागम पर टीका लिखी थी। अतः षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी, यह स्वतः सिद्ध होता है।

७

कुन्दकुन्द द्वारा छठी शती ई. के मूलाचार का अनुकरण

उक्त विद्वान् आगे लिखते हैं कि वट्टकेरकृत 'मूलाचार' यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है और उसकी रचना छठी शती ई० के उत्तरार्ध में हुई थी, क्योंकि उसमें छठी शती के आरम्भ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ मिलती हैं। उसमें जो कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं, वे उस समय प्रक्षिप्त की गयी हैं, जब वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया। मूलाचार की एक गाथा में प्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा गया है। कुन्दकुन्द ने इसका अनुकरण कर समयसार की वह गाथा रची है, जिसमें उनको विषकुंभ संज्ञा दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द मूलाचार के रचनाकाल छठी शताब्दी ई० के बाद उत्पन्न हुए थे। (Asp. of Jains., Vol. III, p.196)।

निरसन

'मूलाचार' में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और मूलाचार की रचना उनके पश्चात् प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में हुई थी। तथा मूलाचार यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु शत-प्रतिशत दिगम्बरग्रन्थ है। (देखिये, 'मूलाचार' नामक अध्याय)। उसमें श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ नहीं हैं, बल्कि उसकी गाथाएँ श्वेताम्बर-निर्युक्तियों में हैं। यतः वह दिगम्बरग्रन्थ ही है, अतः वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया है, इस कल्पना के लिए स्थान नहीं है। इसलिए उसमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ प्रक्षिप्त किए जाने की कल्पना भी निराधार है। मूलाचार के कर्ता ने स्वयं उन्हें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से ग्रहण किया है, इसका सोदाहरण प्रतिपादान प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है।

८

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में छठी शती ई. के श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ

मान्य विद्वान् का अगला तर्क यह है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में चौथी शती ई० से लेकर छठी शती ई० के मध्य रचे गये श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ, ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के महाप्रत्याख्यान नामक प्रकरणग्रन्थ की जैनमहाराष्ट्री में निबद्ध एक गाथा और विमलसूरि (४७८ ई०) के पउमचरिय की वैसी

ही एक गाथा प्रवचनसार में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बर-आगम और आगमिक साहित्य तो कुन्दकुन्द से सर्वथा अपरिचित है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उक्त गाथाएँ तथा अन्य अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द ने यापनीयों के माध्यम से अथवा स्वयं ही श्वेताम्बरग्रन्थों से ग्रहण की हैं। (Asp. of Jains., Vol. III, p.197)।

निरसन

कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी

प्रथम प्रकरण में सोदाहरण निरूपण किया गया है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ प्रथम शताब्दी ई० में रचित भगवती-आराधना और मूलाचार नामक दिगम्बरग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की है। द्वितीय शती ई० की तिलोयपण्णत्ती एवं छठी शती ई० के परमात्मप्रकाश में कुन्दकुन्द की गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं। ईसोत्तर पाँचवीं शती के पूज्यपादस्वामी ने, ईसोत्तर आठवीं शती के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने तथा उत्तरार्ध में वर्तमान वीरसेन स्वामी ने अपने टीकाग्रन्थों में कुन्दकुन्द की गाथाएँ उक्तं च कहकर उद्धृत की हैं। ४६६ ई० के मर्करा-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय के छह गुरु-शिष्यों के नाम वर्णित हैं। 'दि इण्डियन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली में कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में बतलाया गया है। इन तथ्यों को पूर्व में युक्तिप्रमाणपूर्वक निर्विवाद सिद्ध किया गया है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तरप्रथम शताब्दी में हुए थे, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। फलस्वरूप तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाओं का कुन्दकुन्द द्वारा ग्रहण किया जाना संभव नहीं है। वे गाथाएँ या तो दोनों सम्प्रदायों की समान मूल परम्परा से आयी हैं अथवा श्वेताम्बर ग्रन्थों में कुन्दकुन्दसाहित्य से पहुँची हैं। भाषाविज्ञान की गुत्थियों में उलझाकर उपर्युक्त प्रमाणों को मेटा नहीं जा सकता। उक्त प्रमाणों के प्रकाश में ही भाषावैज्ञानिक नियमों की खोज करनी होगी।

९

कुन्दकुन्द द्वारा निश्चयनय का गहन-विस्तृत प्रयोग

प्र० ढाकी ने बहिरंग हेतुओं के पश्चात् अन्तरंग हेतुओं को लेकर कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने की चेष्टा की है। पहले अन्तरंग हेतु का प्रदर्शन करते हुए वे लिखते हैं कि यद्यपि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती आचार्य भी निश्चयनय

से परिचित थे, तथापि सिद्धसेन दिवाकर (छठी शती ई०) और मल्लवादी (छठी-सातवीं शती ई०) ने उसका प्रयोग गहराई और विस्तार से नहीं किया। (Asp. of Jains, Vol. III, p.198)। अर्थात् कुन्दकुन्द ने उसका प्रयोग गहराई और विस्तार से किया है, अतः वे सिद्धसेन और मल्लवादी से परवर्ती हैं।

निरसन

श्वेताम्बरमत में निश्चयनय के गहन-विस्तृत प्रयोग का अनवसर

पहली बात तो यह है कि सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी, कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती नहीं थे। दूसरे, यदि उन्होंने निश्चयनय का प्रयोग गहराई और विस्तार से अर्थात् आत्मा के निरुपाधिक और औपाधिक रूपों तथा मोक्षमार्ग के साध्य-साधक पक्षों के निरूपण में नहीं किया, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रह पाया। इसलिए उनका उपलब्ध आगमसाहित्य उससे शून्य है। डॉ० सागरमल जी ने भी लिखा है—

“अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बरपरम्परा में भी चली है।--- मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा में भी जो अंगसाहित्य आज अवशिष्ट है, वह उसी रूप में तो नहीं है, जिस रूप में उसकी विषयवस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व-साहित्य का, अपितु अंगसाहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञातधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। स्थानांग में दस दशाओं की जो विषयवस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषयवस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवद्विगणी ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगमग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिए कि यह श्रुतसम्पदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिकरूप से विस्मृति के गर्भ में चली गयी। क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति

स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रुका, जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।” (डॉ. सा. म. जै. अभि. प्र. / पृ. ३९)।

डॉक्टर सा० आगे लिखते हैं—“अर्धमागधी आगम-साहित्य की विषयवस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वारा जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती हैं, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। --- इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराइयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में प्रायः उनका अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता।” (डॉ. सा. म. जै. अभि. प्र. / पृ. ३९)।

इस वक्तव्य से मेरे इस मत की पुष्टि होती है कि श्वेताम्बरपरम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रह पाया। उसमें गुणस्थान-सिद्धान्त तक का अभाव है, इसलिए निश्चय और व्यवहार नयों के गहन एवं विस्तृत प्रयोग के लिए श्वेताम्बरसाहित्य में विषय ही उपलब्ध नहीं है। तब सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी क्या कर सकते थे? किन्तु दिगम्बर-परम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहु के मुखारविन्द से निःसृत हो गुरुपरम्परा से कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने यथावत् अपने ग्रन्थों में निबद्ध कर दिया। इसलिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में आत्मा के निरुपाधिक और सोपाधिक रूपों एवं मोक्षमार्ग के साध्य-साधक पक्षों का निश्चय और व्यवहार नयों से गहन एवं विस्तृत विवेचन हुआ है। यह कुन्दकुन्द के परवर्ती होने और सिद्धसेन तथा मल्लवादी के पूर्ववर्ती होने का प्रमाण नहीं है, अपितु श्वेताम्बर-परम्परा में निश्चय-व्यवहार नयों के प्रयोगयोग्य आध्यात्मिक विषयवस्तु के अभाव एवं दिगम्बर-परम्परा में उसके सद्भाव का प्रमाण है।

तथा सिद्धसेन और मल्लवादी से बहुत प्राचीन अन्य ग्रन्थों में भी आत्मादि तत्त्वों के व्यवहार और परमार्थ रूपों का व्यवहार और निश्चय नयों से निरूपण उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ प्रथम शती ई० की भगवती-आराधना में कहा गया है कि शुद्धनय से देखनेवाले ज्ञानी मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहते हैं—

सुद्धनया पुण णाणं मिच्छादिद्विस्स वेत्ति अण्णाणं।

तम्हा मिच्छादिद्वी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनय, भूतार्थ (नय) और परमार्थ (नय), ये निश्चयनय के पर्यायवाची हैं।^{१९४} अतः प्रथम शताब्दी ई० की भगवती-आराधना में भी निश्चयनय से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान के सम्यक् स्वरूप का विवेचन किया गया है।

प्रथम शती ई० के ही मूलाचार में समयसार की यह गाथा उपलब्ध होती है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ २०३ ॥ मूला ।

इसमें भी जीव की परसापेक्ष पर्यायों में से एक शुद्ध जीवद्रव्य का निश्चय कराने के लिए निश्चयनय (भूतार्थनय) का प्रयोग किया गया है।

मूलाचार की ही निम्नलिखित गाथा में निश्चयनय के पर्यायभूत 'परमार्थ' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि जो साधु आर्यिकाओं की वसतिका में रहता है, उसकी दो प्रकार से निन्दा होती है : व्यवहाररूप से और परमार्थरूप से—

होदि दुगुंछा दुविहा ववहारदो तथा य परमट्टे ।
पयदेण य परमट्टे ववहारेण य तहा पच्छा ॥ १५५ ॥

आर्यिकाओं की वसति में रहने से साधु का जो व्रतभंग होता है, वह मुख्यरूप से निन्दा है और जो लोकापवाद होता है, वह व्यवहाररूप से निन्दा कहलाती है।^{१९५} इस प्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा निन्दा के मुख्य और गौणरूपों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय शताब्दी ई० में रचित तिलोयपण्णत्ती में ज्ञानावरणादि घातिकर्मों के क्षय-हेतुओं की साध्यसाधकरूप द्विविधता तथा नवलब्धियों की बाह्याभ्यन्तररूप द्विविधता का संकेत निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा किया गया है। यथा—

णाणावरणप्पहुदी णिच्छय-ववहारपाय अतिसयए ।
संजादेण अणंतं णाणेणं दंसणेण सोक्खेणं ॥ १/७१ ॥
विरिएण तहा खाइय-सम्मत्तेणं पि दाण-लाहेहिं ।
भोगोपभोग-णिच्छय-ववहारेहिं च परिपुण्णो ॥ १/७२ ॥

१९४. क— “भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन।” तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा.१३।

ख— मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्ठंति ।

परमट्टमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६ ॥ समयसार ।

१९५. “तत्रार्थिकोपाश्रये वसतः साधोर्द्विप्रकारापि जुगुप्सा, व्यवहाररूपा तथा परमार्था च। लोका-पवादो व्यवहाररूपा, व्रतभङ्गश्च परमार्थतः।” आचारवृत्ति / मूलाचार / गा.१५५।

पूज्यपाद देवनन्दी का समय पाँचवीं शताब्दी ई० है, यह पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। उन्होंने 'समाधितन्त्र' और 'इष्टोपदेश' में 'व्यवहार' शब्द का उल्लेख कर और उसके द्वारा प्रतिपक्षी 'निश्चय' का आक्षेप कर मोक्षमार्ग के आभ्यन्तर और बाह्य रूपों में साध्यसाधकभाव का प्ररूपण किया है। जैसे—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागत्यात्मगोचरे।

जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥ स. तन्त्र।

अनुवाद—“जो व्यवहार में सोता है (व्रताव्रत दोनों से विमुख होता है) वह आत्मस्वभाव में जागता है (शुद्धोपयोग में लीन होता है) और जो व्यवहार में जागता है, वह आत्मस्वभाव (शुद्धोपयोग) में सोता है (उससे विमुख होता है)।”

यहाँ पूज्यपादस्वामी ने व्रतों में प्रवृत्ति को 'व्यवहार' कहा है, और इससे यह द्योतित किया है कि आत्मस्वभाव में स्थित होना 'निश्चय' है। अर्थात् वे शुद्धोपयोग को निश्चयनय से मोक्षमार्ग मानते हैं।

'इष्टोपदेश' में भी पूज्यपादस्वामी ने व्रतरूप शुभप्रवृत्ति को 'व्यवहार' शब्द से अभिहित किया है—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥ इष्टोपदेश।

अनुवाद—“जो योगी व्यवहार (व्रतादि शुभ प्रवृत्तियों) से बाहर होकर स्वयं को आत्मा में ही स्थापित करता है (शुद्धोपयोग में स्थित होता है), उसे इस योग (शुद्धोपयोग या ध्यान) से परमानन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रकार पाँचवीं शती ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने भी 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग कर 'निश्चय' शब्द का आक्षेप किया है और उन दोनों के द्वारा मोक्ष के आभ्यन्तर और बाह्य उपायों में साध्यसाधकभाव संकेतित किया है।

छठी शती ई० के 'परमात्मप्रकाश' में भी निश्चय और व्यवहार नयों से आत्मादि पदार्थों के परमार्थ और अपरमार्थ रूपों का प्रतिपादन किया गया है। इसके उदाहरण प्रथम प्रकरण (शीर्षक क्र. ७) में दिये गये हैं। 'वरांगचरित' (७वीं शती ई० पूर्वार्ध) तथा धवला एवं जयधवला (८वीं शती ई० उत्तरार्ध) में कुन्दकुन्द की गाथाओं का जो संस्कृतीकरण किया गया है या उद्धरण दिये गये हैं, उनमें भी भूतार्थनय या निश्चयनय से जीवादि तत्त्वों के परमार्थरूप का प्ररूपण मिलता है। इनके भी उदाहरण प्रथम प्रकरण (शीर्षक क्र. ८ एवं १०) में उपलब्ध हैं।

इस प्रकार जब ईसवी प्रथम शती से लेकर आठवीं शती तक के ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार नयों का प्रयोग जीवादि सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों और पाँच अस्तिकायों के पारमार्थिक और अपारमार्थिक पक्षों के गहन और विस्तृत निरूपण में किया गया है, तब सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन (छठी शताब्दी ई०) और 'सन्मत्तिसूत्र' पर टीका लिखनेवाले मल्लवादी (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) ने यह कार्य नहीं किया, तो क्या फर्क पड़ता है? इससे यह सिद्ध नहीं होता कि "उक्त नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में व्यापक प्रयोग सिद्धसेन और मल्लवादी के पश्चात् हुआ है, और वह सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है, अतः कुन्दकुन्द सिद्धसेन और मल्लवादी से अर्वाचीन हैं।" भगवती-आराधना आदि के उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि निश्चय और व्यवहार नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में गहन और व्यापक प्रयोग सिद्धसेन से अतिपूर्ववर्ती प्रथम शती ई० के भगवती-आराधना, मूलाचार, आदि के कर्त्ताओं ने किया है और उन्होंने उसका अनुकरण आचार्य कुन्दकुन्द से किया है अतः कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, यह युक्तिपूर्वक सिद्ध होता है।

१०

आत्मनिरूपण में ८वीं शती ई. के गौडपाद का अनुसरण

प्र०० ढाकी का दूसरा अन्तरंग हेतु इस प्रकार है—कुन्दकुन्द ने निश्चयनय के आधार पर सांख्य और वेदान्त की तरह आत्मा को पुद्गल के सम्पर्क से भिन्न और स्वतन्त्र प्ररूपित किया है और इस कारण उसे पुद्गल कर्मों का निश्चयनय से अकर्त्ता और (उनके फल का) अभोक्ता तथा व्यवहारनय से कर्त्ता और भोक्ता बतलाया है। किन्तु मध्ययुग के पूर्व तक और तब भी कुन्दकुन्द के उक्त सिद्धान्त के प्रसिद्ध होने के पहले तक किसी जैन विद्वान् ने आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की वैसी व्याख्या नहीं की, न ही किसी की वैसी मान्यता थी।^{१९६} इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने संसारी आत्मा को सदा शुद्ध और कर्मरज से असम्पृक्त प्रतिपादित किया है, जब कि उनके पहले तक दिगम्बरसम्प्रदाय में भी उसे इसके विपरीत माना जाता था।^{१९७} आत्मा के विषय में नवीन वेदान्तिक मत शंकराचार्य (७८०-८१२ ई०) से कम से कम ५०

१९६. "Now, the ancient Jaina doctrine of ātman as the kartā and bhoktā has never been interpreted or understood that way by any Jaina scholiast till the premedieval times, and that too not before the Kundakundācārya's doctrine was widely known." Aspects of Jainology, Vol. III, p.198.

१९७. "The unliberated Self, in Kundakundācārya's concept, thus is always pure and not contaminated by karma-raja as was otherwise believed till late, even in the Digambara sect." Aspects of Jainology, Vol. III, p. 198.

वर्ष पहले उनके गुरु गौडपाद द्वारा रचित कारिकाओं के माध्यम से प्रसिद्ध हो चुका था। संभव है, वे कुन्दकुन्द की दृष्टि में आयी हों और उन्होंने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि कुछ संशोधित करके अपना ली हो।^{१९८}

निरसन

कुन्दकुन्द द्वारा श्रुतकेवली के उपदेश का अनुसरण

कुन्दकुन्द ने आत्मद्रव्य को, चाहे वह संसारावस्था में हो या सिद्धावस्था में, लक्षण की दृष्टि से मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों और देह से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाया है और यह श्रुतकेवली का उपदेश है, कुन्दकुन्द के अपने विचार नहीं। आत्मद्रव्य का लक्षण यही है। मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों तथा देह से युक्त 'अशुद्ध चैतन्य' आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य की ऐसी अवस्था तीनों कालों में नहीं पायी जाती। मुक्त आत्मा में इसका अभाव होता है। तथा यदि मोहरागादि आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव हों, तो आत्मा की मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने त्रैकालिक स्वभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः आत्मद्रव्य का वही लक्षण है, जो कुन्दकुन्द ने बतलाया है। और वह जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट है, कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित नया सिद्धान्त नहीं। तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड से लेकर वर्तमान काल तक के किसी भी ग्रन्थ में कर्मरज-सम्पृक्त चैतन्य को आत्मा का लक्षण नहीं बतलाया गया। प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में रचित 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ही शब्दों (भावपाहुड/गा.५९) को ज्यों का त्यों अपनाकर आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला बतलाया गया है और मोहरागादिभावों, पुद्गलकर्मों तथा पौद्गलिक शरीर को आत्मा से भिन्न सांयोगिक भाव कहा गया है। यथा—

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ४८ ॥ मूला.।

तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम-द्वितीय शती ई०) में जीव के चैतन्यपरिणामरूप उपयोग को जीव का लक्षण^{१९९} तथा स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण को पुद्गल का धर्म कहा गया

१९८. "The new Veādānta doctrine about ātman was already known at least 50 years before Śāṅkarācārya (A.D. 780-812), through the kārikās of his grand preceptor Gauḍapāda. May be, Kundakundācārya has seen these and adopted the Vedāntic way of looking at self, but in a modified way." Aspects of Jainology, Vol. III, p.198.

१९९. "उपयोगो लक्षणम्" त.सू./२/८। "जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः" स.सि/२/७। "चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः" स.सि./२/८।

है।^{२००} और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि लक्षण की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा पौद्गलिक शरीर, पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों तथा तन्निमित्तक मोहरागादिभावों से रहित है।

द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ली गयी हैं, जिनमें आत्मा को कर्मरज तथा देहादि से भिन्न निरूपित किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रथम प्रकरण के (शीर्षक क्र.५) में देखे जा सकते हैं। पाँचवीं सदी ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने कुन्दकुन्द की 'एओ मे सस्सओ अप्पा' (भावपाहुड/५९) इत्यादि गाथा का संस्कृत-रूपान्तरण कर इष्टोपदेश में आत्मा को एक, शुद्ध, ज्ञानी और निर्मम (परद्रव्यसम्बन्ध से रहित) प्रतिपादित किया है, और कहा है कि इसके अतिरिक्त जितने भी भाव आत्मा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रशोचरः।

बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

इष्टोपदेश के एक अन्य श्लोक में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।

यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

छठी शताब्दी ई०^{२०१} के जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा को देह से भिन्न बतलाया है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।

परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १/१४॥

अनुवाद—“जो परमसमाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा के दर्शन करता है, वही पण्डित (अन्तरात्मा) है।”

तथा 'समयसार' की गाथाओं (५०-५५) का अनुकरण करते हुए उन्होंने परमात्मप्रकाश में जीव के स्वभाव को वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से रहित बतलाया है—

२००. “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।” त.सू./२/२३।

२०१. परमात्मप्रकाश / इण्ट्रोडक्शन / ए.एन.उपाध्ये / पृ.७५ तथा तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खं.२ / पृ.२४८।

जासु ण वण्णु ण गंधुरसु जासु ण सहु ण फासु ।
 जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १/१९ ॥
 जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
 जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥ १/२० ॥

‘वरांगचरित’ में, जो सातवीं शती ई० की रचना है, ‘नियमसार’ की ‘एगो मे सासदो आदा’ इत्यादि गाथा संस्कृत पद्य के रूप में मिलती है। उसमें आत्मा को पुद्गल-लात्मक शरीर, द्रव्यकर्म एवं भावकर्म से रहित वर्णित किया गया है। उक्त पद्य पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है।

ईसा की आठवीं शती (पूर्वार्ध) के अपराजित सूरि ने भगवती-आराधना की विजयोदया टीका (गा.४) में तथा वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका (पु.३/१,२,१) में समयसार की ‘अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसहं’ गाथा (४९) उद्धृत करते हुए आत्मा का रसादि-पुद्गलधर्मों से रहित होना स्वीकार किया है।

इस प्रकार जब हम देखते हैं कि प्रथम शती ई० के वट्टकेर (मूलाचारकर्त्ता) से लेकर आठवीं शती ई० तक के वीरसेन स्वामी आदि अनेक आचार्यों ने आत्मा को द्रव्यदृष्टि से कर्मरज-असम्पृक्त प्रतिपादित किया है, तब “आठवीं शताब्दी ई० के गौडपाद की कारिकाओं को देखकर कुन्दकुन्द ने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि अपनायी होगी” इस कथन की असत्यता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है।

तथा कुन्दकुन्द ने निश्चयनय से उपादान को ‘कर्त्ता’ शब्द से अभिहित किया है और व्यवहारनय से निमित्त को^{२०२} निश्चयनय से अर्थात् उपादान की दृष्टि से आत्मा पुद्गलकर्मों के रूप में परिणमन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा के चेतन होने से पुद्गल कर्मों के भी चेतन होने का प्रसंग आयेगा, जो पुद्गल के लक्षण के विरुद्ध है। इसलिए आत्मा निश्चयनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नहीं हो सकता। कर्त्ता न होने से उनके फल का भोक्ता भी नहीं हो सकता। जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से पुद्गलद्रव्य स्वयं पुद्गलकर्मों के रूप में परिणमित हो जाता है, इसलिए जीव को व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता कहा जाता है।^{२०३} तथा पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से जीव के परिणाम सुखदुःखात्मक हो जाते हैं। इस अपेक्षा से वह व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का भोक्ता कहलाता है। यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। इसे ही गुरुपरम्परा से प्राप्त कर कुन्दकुन्द ने समयसार में प्ररूपित किया है।

२०२. समयसार/गाथा ९८, १००, १०२, १०५, १०७।

२०३. जीवमिह हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।

जीवेण कदं कम्मं भण्णादि उवयारमत्तेण ॥ १०५ ॥ समयसार।

यह कुन्दकुन्द द्वारा आविष्कृत नया सिद्धान्त नहीं है। ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में रचित कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त यह सिद्धान्त प्रथम शती ई० से लेकर आठवीं शती ई० तक के 'मूलाचार', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'तिलोयपण्णत्ती', 'इष्टोपदेश', 'परमात्मप्रकाश', 'वरांगचरित', विजयोदयाटीका, धवलाटीका आदि में भी मिलता है। इनमें आत्मा को जो द्रव्यदृष्टि या लक्षण की दृष्टि से मात्र चैतन्यस्वरूप या ज्ञान-दर्शन-लक्षणात्मक बतलाते हुए पौद्गलिक देह-कर्मादि से रहित प्रतिपादित किया गया है, वह निश्चयनय से जीव के देह-कर्मादि के अकर्ता होने का भी प्रतिपादन है। और निश्चयनय से देहकर्मादि का अकर्ता-अभोक्ता प्रतिपादित किये जाने पर व्यवहारनय से उसका कर्ता-भोक्ता होना स्वतः सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रन्थों में स्पष्ट शब्दों में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। यथा तिलोयपण्णत्ती (द्वितीय शती ई०) की निम्नलिखित गाथा में जीव को देह का अकर्ता कहा गया है—

णाहं पुग्गलमइओ ण दे मया पुग्गला कदा पिंडं।

तम्हा हि ण देहो हं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ १/३४ ॥

छठी शती ई० के जोइन्दुदेव ने भी परमात्मप्रकाश में जीव को निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष का अकर्ता कहा है—

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्म जणेइ।

अप्या किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ ॥ १/६५ ॥

अनुवाद—“हे जीव! जीवों के बन्ध और मोक्ष सबको कर्म करता है, आत्मा कुछ भी नहीं करता, ऐसा निश्चयनय का कथन है।”

इस प्रकार जब कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रथम शती ई० से लेकर आठवीं शती ई० तक के अन्य ग्रन्थों में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का वैसा ही निरूपण मिलता है, जैसा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में, तब ढाकी जी का यह कथन सत्य सिद्ध नहीं होता कि मध्ययुग के पूर्व तक किसी जैन विद्वान् ने आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की, वैसी व्याख्या नहीं की, जैसी कुन्दकुन्द ने की है। अतः इस प्रकार की व्याख्या को मध्ययुग के पश्चात् विकसित मानकर कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयास असत्याश्रित प्रयास है।

हाँ, यह सत्य है कि कुन्दकुन्द के पूर्व किसी ग्रन्थकार ने निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व आदि का निरूपण नहीं किया। वह सर्वप्रथम आचार्य-परम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर कुन्दकुन्द के द्वारा किया गया है। किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक के तथा उसके भी बाद के ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द का अनुसरण कर अपने ग्रन्थों

में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि का वैसा ही निरूपण किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द इन समस्त ग्रन्थकारों से पूर्ववर्ती अर्थात् प्रथम शती ई० के मूलाचार-कर्ता आचार्य वट्टकेर से भी पूर्ववर्ती हैं।

११

'स्वसमय', 'परसमय' शब्दों का नवीनार्थ में प्रयोग

प्र०० ढाकी का तीसरा अन्तरंग हेतु—'स्वसमय' और 'परसमय' ये शब्द बहुत पहले से स्वमत और परमत के अर्थ में प्रसिद्ध थे। किन्तु कुन्दकुन्द ने इनकी परिभाषा पूर्णतः बदल दी। उन्होंने 'स्वसमय' शब्द का प्रयोग 'आत्मा से सम्बद्ध पदार्थ' और 'परसमय' का प्रयोग 'आत्मा से भिन्न पदार्थ' के अर्थ में प्रचलित कर दिया। इन शब्दों की ऐसी परिभाषा दक्षिण के जैनग्रन्थकारों ने भी निर्दिष्ट नहीं की है।^{२०४}

निरसन

आत्मा के अर्थ में भी 'समय' शब्द का प्रयोग परम्परागत

कुन्दकुन्द-साहित्य में 'समय' शब्द छह अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. आत्मा,^{२०५} २. परमागम, जैनसिद्धान्त, शास्त्र या जिनमत^{२०६} ३. सम्प्रदाय^{२०७} ४. पदार्थ सामान्य,^{२०८} ५. पाँच अस्तिकायों का समूह,^{२०९} और ६. कालांश।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मार्थक 'समय' शब्द और सम्प्रदायार्थक 'समय' शब्द दोनों के स्वसमय और परसमय, इन दो-दो भेदों का निरूपण किया है। आत्मार्थक 'समय' शब्द के भेद निम्न गाथा में वर्णित हैं—

२०४. "As its corolary as though, Kundakundācārya completely redefines the terms svasamaya and parasamaya, the terms which for long had been understood as the 'doctrine of one's own sect' and 'the doctrine of the other's sect.' According to Kundakundācārya, svasamaya is the one which relates to ātman, the parasamaya meant anything outside ātman including one's body. This is an absolutely different way of looking at the connotation of the terms, indeed not referred to by even Southern Jaina Writers." Aspects of Jainology, Vol. III, pp.198,199.

२०५. आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा.१।

२०६. प्रवचनसार / गा.२ / ९६, ३ / ७१।

२०७. नियमसार / गा.१५६ तथा कुन्दकुन्दकृत आचार्यभक्ति / गा. २।

२०८. "समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते।" आत्मख्याति / समयसार / गा.३।

२०९. "समवाओ पंचणहं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ॥ ३ ॥" पञ्चास्तिकाय।

जीवो चरित्त दंसणणाणद्धित्तं तं हि ससमयं जाण।

पुग्गलकम्मपदेसद्धियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥ स.सा.।

अनुवाद—“दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित आत्मा (शुद्धात्मा) स्वसमय है और पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित आत्मा (मोहरागद्वेषपरिणत अशुद्धात्मा) परसमय।”

सम्प्रदायार्थक ‘समय’ शब्द के दो भेदों का उल्लेख करनेवाली गाथा इस प्रकार है—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ १५६ ॥ नि.सा.।

अनुवाद—“लोक में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं तथा नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं। अतः स्वसमयों (स्वधर्मियों) एवं परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचनविवाद नहीं करना चाहिए।”

कुन्दकुन्दकृत आचार्यभक्ति में भी सम्प्रदाय के अर्थ में स्वसमय और परसमय शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

सग-पर-समयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।

सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण ॥ २ ॥

अनुवाद—“वे आचार्य स्वमत और परमत के ज्ञाता होते हैं, आगम और हेतुओं के द्वारा पदार्थों को जानकर जिनवचनों के प्ररूपण में तथा शक्ति अथवा प्राणियों के अनुरूप विनय करने में समर्थ होते हैं।

प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा में परमतावलम्बी के अर्थ में ‘परसमय’ शब्द का प्रयोग किया गया है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।

सिद्धं तथ आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ २/६ ॥

अनुवाद—“द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। जिनेन्द्रदेव ने उसे स्वरूप से सत् कहा है। उसका यह स्वरूप आगम से निर्णीत है। जो ऐसा नहीं मानता, वह परसमय (परमतावलम्बी) है।”

ये उदाहरण बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वसमय और परसमय शब्दों का प्रयोग शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा तथा स्वमत और परमत दोनों अर्थों में किया है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द के पूर्व से ही उक्त शब्दों का प्रयोग दोनों अर्थों में होता आ रहा था। यदि कुन्दकुन्द ने उक्त शब्दों को स्वमत और परमत के अर्थों

में प्रयुक्त न कर केवल शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा के अर्थों में प्रयुक्त किया होता, तब कहा जा सकता था कि उन्होंने उक्त शब्दों को सर्वथा नये अर्थों में व्यवहृत किया है। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः प्रो० ढाकी का यह कथन समीचीन नहीं है कि कुन्दकुन्द के द्वारा उक्त शब्द परम्परागत अर्थ की अपेक्षा सर्वथा नये अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं, अतः वे (कुन्दकुन्द) अर्वाचीन हैं।

आत्मा के अर्थ में 'समय' शब्द का प्रयोग श्वेताम्बरसाहित्य में तो मिलता ही नहीं है, दिगम्बरसाहित्य में भी 'समयसार' के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। मूलाचार में समयसाराधिकार की प्रथम गाथा में समयसार शब्द का प्रयोग है, किन्तु उसका अर्थ शुद्धात्मा नहीं है, अपितु 'जिनागम का सार' है। और आत्मा के अर्थ में 'समय' शब्द के प्रसिद्ध हुए बिना कुन्दकुन्द का उस शब्द के माध्यम से आत्मा के सूक्ष्म, गूढ़ स्वरूप के विवेचन का प्रयास निरर्थक होता। इससे ध्वनित होता है कि कुन्दकुन्द उस प्राचीन युग के हैं, जब दिगम्बरजैनपरम्परा में 'समय' शब्द आत्मा के अर्थ में भी प्रसिद्ध था और दर्शनज्ञानचारित्र-स्थित आत्मा स्वसमय कहलाता था तथा मोहरागद्वेष-परिणत आत्मा परसमय। इस प्रकार इन अर्थों में 'समय', 'स्वसमय' और 'परसमय' शब्दों का प्रयोग कुन्दकुन्द की प्राचीनता का सूचक है। अतः इन शब्दों के प्रयोग से उनके ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होने की पुष्टि होती है।

१२

कुन्दकुन्द प्रतिपादित 'शुद्धोपयोग' ८वीं शती ई. से पूर्व अज्ञात

प्रो० ढाकी का चौथा अन्तरंग हेतु—कुन्दकुन्द ने उपयोग के शुभ और अशुभ भेदों के अतिरिक्त एक तीसरे 'शुद्ध' भेद को भी जन्म दिया है। यह पहले अज्ञात था। (Asp. of Jaino, vol. III, p.199)।

निरसन

पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी 'शुद्धोपयोग' का उल्लेख

ढाकी जी कुन्दकुन्द को आठवीं सदी ई० का मानते हैं। किन्तु आठवीं सदी के पहले से लेकर ईसा की पहली सदी तक के ग्रन्थों में शुद्धोपयोग का उल्लेख मिलता है। अतः यह कथन मिथ्या है कि आठवीं सदी के पूर्व तक यह अज्ञात था। देखिए—

प्रथम शती ई० के ग्रन्थ भगवती-आराधना की निम्नलिखित गाथा में 'शुद्धोपयोग' शब्द का उल्लेख है—

अणुकंपासुद्धवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८२८ ॥

अनुवाद—“अनुकम्पा और शुद्धोपयोग पुण्यकर्म के आस्रव के द्वार हैं तथा उनसे विपरीत परिणाम (अननुकम्पा और अशुद्धोपयोग) पापकर्म के आस्रव के द्वार।”

यद्यपि इस गाथा में शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग शब्द शुभोपयोग और अशुभोपयोग के अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तथापि भगवती-आराधना में 'अशुभपरिणाम' शब्द का भी प्रयोग हुआ है,^{२१०} जो प्रतिपक्षी 'शुभपरिणाम' शब्द की स्वीकृति का सूचक है और अधोलिखित गाथा में इन दोनों परिणामों को संसार-महोदधि में चिरकाल तक भ्रमण करानेवाला कहा गया है—

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥ १७६६ ॥

अनुवाद—“कर्मरूपी भाण्ड (माल) से भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ-अशुभ परिणामरूप हवा से प्रेरित होकर अत्यन्त भीषण संसार-महासागर में चिरकाल तक भ्रमण करता है।”^{२११}

जब शुभ और अशुभ दोनों परिणाम संसारसागर में भ्रमण कराने के हेतु हैं, तब इन दोनों परिणामों का अभावरूप परिणाम मोक्ष का हेतु है, यह स्वतः फलित होता है। उसी का नाम शुद्धोपयोग है। उसे भगवती-आराधनाकार ने 'शुद्धमनोयोग',^{२१२} 'मनोगुप्ति',^{२१३} 'विशुद्धात्मा',^{२१४} और 'भावशुद्धि'^{२१५} आदि शब्दों से भी अभिहित किया है।

२१०. असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं।

जोणिबहुत्तं च कुण्दि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६२ ॥ भगवती-आराधना।

२११. “द्विविधाः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तमतिभयङ्करं संसारमहोदधिं प्रविश्य जीवपोतः
चिरकालं भ्रमति कर्मद्रविणभारः।” विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. १७६६।

२१२. अवहट्ट कायजोगे व विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे।

सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्जवसियप्पा ॥ १६८९ ॥ भगवती-आराधना।

२१३. जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं ॥ ११८१ ॥ भगवती-आराधना।

२१४. एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ॥ १६९० ॥ भगवती-आराधना।

२१५. समदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु।

परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १९४७ ॥ भगवती-आराधना।

प्रथम शती ई० के मूलाचार में भी 'शुद्धभाव' का उल्लेख किया गया है—

मणगुत्ते मुणिवसहे मणकरणोम्बुकसुद्धभावजुदे।
आहारसण्णविरदे फासिंदियसंपुडे चेव ॥ १०२३ ॥

पुढवीसंजमजुत्ते खंतिगुणसंजुदे पढमसीलं।
अचलं ठादि विसुद्धे तहेव सेसाणि णेयाणि ॥ १०२४ ॥

अनुवाद—“जो मुनि मनोगुप्तिधारी, मनःकरण से रहित, शुद्धभाव से युक्त, आहारसंज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवी-संयम से युक्त और क्षमागुण से युक्त होता है, उस विशुद्ध मुनि का प्रथमशील अचल होता है।”

शुद्धभाव या शुद्धोपयोग को मूलाचार में पारमार्थिक विशुद्धि भी कहा गया है—

परमट्टियं विसोहिं सुद्ध पयत्तेण कुणइ पव्वइओ।
परमट्टदुगुंखा वि य सुद्ध पयत्तेण परिहरउ ॥ १४९ ॥

अनुवाद—“दीक्षित मुनि को पारमार्थिक विशुद्धि प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए तथा परमार्थ निन्दा का परिहार भी सावधानी से करना चाहिए।”

द्वितीय शताब्दी ई० में रचित तिलोपपणत्ती में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की गयी हैं। उनमें शुभ, अशुभ और शुद्ध भावों या उपयोगों का स्पष्ट रूप से वर्णन है। इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में शीर्षक ५.२ के नीचे उक्त गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं।

सर्वार्थसिद्धिटीका (५वीं शती ई०) में सम्यग्दर्शन के दो भेद बतलाये गये हैं: सराग और वीतराग। जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, इन शुभरागात्मक भावों से सूचित होता है, वह सरागसम्यग्दर्शन है और जो शुभरागात्मक एवं अशुभरागात्मक दोनों प्रकार के भावों से रहित आत्मविशुद्धिमात्र होता है अर्थात् मात्र शुद्धभाव के साथ विद्यमान होता है, वह वीतराग सम्यग्दर्शन है—

“तद् द्विविधं, सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्ति-
लक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।”(स. सि./१/२)।

इस प्रकार पाँचवी शती ई० की सर्वार्थसिद्धि में भी शुभ और अशुभ भावों से विलक्षण शुद्धभाव का उल्लेख मिलता है, जिसका उपदेश सर्वार्थसिद्धिकार को कुन्दकुन्द के माध्यम से ही प्राप्त हुआ है।

छठी सदी ई० के परमात्मप्रकाश में भी तीनों भावों का वर्णन है। यथा—

सुह-परिणामेँ धम्म पर असुहेँ होइ अहम्मु।
दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्ध ण बंधइ कम्म ॥ २/७१ ॥

अनुवाद—“शुभपरिणाम से धर्म (पुण्यबन्ध) होता है और अशुभपरिणाम से अधर्म (पापबन्ध), किन्तु इन दोनों से रहित शुद्धपरिणाम से कर्म बन्ध नहीं होता।”

सयल-वियम्पहँ (प. प्र. २/१९०) तथा जामु सुहासुहभावडा (प. प्र. २/१९४), इन दोनों दोहों में भी ‘परमसमाधि’ नाम से शुद्धभाव का वर्णन है।

सातवीं शती ई० के वरांगचरित में मुनियों की क्रियाओं को शुभ और शुद्धरूप में वर्णित किया गया है—शुद्धशुभप्रयोगाः (९/३३)।

धवला (८वीं सदी ई०) में वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि कर्मबन्ध शुभ और अशुभ परिणामों से होता है। शुद्धपरिणाम से उन दोनों (शुभाशुभ परिणामों या शुभाशुभ कर्मों) का निर्मूल क्षय होता है—

“कम्पबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहितो जायदे। सुद्धपरिणामेहितो तेसिं दोण्णं पि णाम्मूलक्खओ” (धवला/ष.ख./पु.१२/४, २, ८, ३/पृ. २७९)।

इस प्रकार आठवीं शताब्दी ई० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों भावों का उल्लेख मिलता है। अतः प्रो० ढाकी का यह कथन सर्वथा मिथ्या सिद्ध होता है कि “आठवीं शती ई० के पूर्व के किसी ग्रन्थ में ‘शुद्धभाव’ का उल्लेख नहीं है, वह सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है, अतः वे आठवीं शती ई० के हैं।”

१३

कुन्दकुन्दसाहित्य में स्याद्वाद-सप्तभंगी, ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में नहीं

प्रो० ढाकी का पाँचवाँ अन्तरंग हेतु—कुन्दकुन्द स्याद्वाद और सप्तभंगी से परिचित हैं, जब कि उमास्वाति और सिद्धसेन नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द इनसे परवर्ती हैं। (Asp. of Jains., Vol.III, p.199)।

निरसन

कुन्दकुन्दसाहित्य ‘तत्त्वार्थ’ के सूत्रों की रचना का आधार

यह सिद्ध किया जा चुका है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थ के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रंथों के आधार पर की है तथा पट्टावलियों और शिलालेखों में उन्हें कुन्दकुन्द के अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है। अतः कुन्दकुन्द उमास्वाति से पूर्ववर्ती हैं। फलस्वरूप उमास्वाति द्वारा स्याद्वाद और सप्तभंगी का निरूपण न किया जाना उनके कुन्दकुन्द से प्राचीन होने का प्रमाण नहीं है।

१४

बहिरात्मादिभेद पूज्यपाद (७ वीं शती ई.) से गृहीत

प्रो० ढाकी का छठवाँ अन्तरंग हेतु—कुन्दकुन्द ने आत्मा के जो बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, ये तीन भेद वर्णित किये हैं, उनका जैनग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। उन्हें पूज्यपाद देवन्दी (६३५-६८० ई०) ने उपनिषदों से ग्रहण किया है और देवन्दी से कुन्दकुन्द ने। (Asp. of Jains., Vol.III, p.199)।

निरसन

श्रुतकेवली के उपदेश से गृहीत

यह पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि पूज्यपाद देवन्दी ईसा की पाँचवीं शती में हुए हैं और कुन्दकुन्द से परवर्ती हैं। अतः कुन्दकुन्द द्वारा देवन्दी से कुछ भी ग्रहण किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। तथा प्रो० ढाकी ने इसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया कि पूज्यपाद ने उक्त भेद उपनिषदों से ग्रहण किये हैं, कुन्दकुन्द से नहीं, जब कि कुन्दकुन्द का अस्तित्व ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में सिद्ध किया जा चुका है। और उन्होंने इसका भी कोई प्रमाण नहीं दिया कि आत्मा के उक्त भेदत्रय का ज्ञान कुन्दकुन्द को अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त नहीं हुआ था, जब कि कुन्दकुन्द ने स्वयं को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कहा है

पुनः ढाकी जी ने पूज्यपाद स्वामी का काल ६३५-६८० ई० माना है, किन्तु छठी शताब्दी ई० के जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश एवं योगसार में आत्मा के उक्त तीन भेदों का वर्णन किया है। यथा—

त्ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।

पर जायहि अंतर-सहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥ ६ ॥ योगसार।^{२१६}

अतः ढाकी जी की यह मान्यता मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द ने बहिरात्मादि-भेद पूज्यपाद से लिए हैं। यह भी नहीं माना जा सकता कि उक्त तीन भेद उपनिषदों से जोइन्दुदेव ने, जोइन्दुदेव से पूज्यपाद ने और पूज्यपाद से कुन्दकुन्द ने लिए हैं, क्योंकि जोइन्दु ने पूज्यपादकृत समाधितंत्र के अनेक श्लोकों को अपभ्रंश-दोहों में रूपान्तरित करके परमात्म-प्रकाश^{२१७} में निबद्ध किया है, अतः पूज्यपाद जोइन्दु से पूर्ववर्ती हैं। और कुन्दकुन्द भी जोइन्दु से प्राचीन हैं, क्योंकि कुन्दकुन्दकृत मोक्षपाहुड

२१६. परमात्मप्रकाश / दोहा १/११-१५ भी देखिए।

२१७. परमात्मप्रकाश / दोहा १/८०, १२३, २/१७५, १७८-१८०।

की कई गाथाओं को भी जोइन्दु ने परमात्मप्रकाश में अपभ्रंशरूप दिया है।^{२१८} अतः कुन्दकुन्द ने जोइन्दु से बहिरात्मादि-भेद ग्रहण किये होंगे, यह संभावना भी निरस्त हो जाती है।

इस प्रकार यह किसी भी तरह से सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ने आत्मा के बहिरात्मादि तीन भेद उपनिषदों अथवा पूज्यपाद देवनन्दी या जोइन्दुदेव से ग्रहण किये हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों और युक्तियों से यह बात अच्छी तरह प्रकट हो जाती है कि प्रो० ढाकी ने कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा कुन्दकुन्द को ८वीं शती ई० में विद्यमान सिद्ध करने की चेष्टा की है। यतः उनके द्वारा प्रस्तुत एक भी हेतु वास्तविक नहीं है, अतः कुन्दकुन्द को ८वीं शती में विद्यमान सिद्ध करने का उनका प्रयास विफल हो जाता है, और पूर्व प्रस्तुत प्रमाणों से यही स्थित रहता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने अस्तित्व से भारतभूमि को ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में सुशोभित किया था।

२१८. वही/दोहा १/८६, २/१३, १७६-१७७।



सप्तम प्रकरण

डॉ० चन्द्र के अपभ्रंश-प्रयोग-हेतुवाद का निरसन

श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० के० आर० चन्द्र ने अपने एक लेख 'षट्प्राभृत के रचनाकार और उसका रचनाकाल' में लिखा है^{२१९} कि कुन्दकुन्द के षट्प्राभृत में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग है, इसलिए उसका रचनाकाल अपभ्रंशयुग (पाँचवीं-छठी शताब्दी ई०) में चला जाता है। इसलिए न तो वह स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य की रचना है और न ही उनके द्वारा प्रचलित किया गया प्राचीन गाथाओं का संकलन, जैसी कि डॉ० ए० एन० उपाध्ये की धारणा है।^{२२०}

इस विषय में मेरा निवेदन है कि अपभ्रंश के प्रयोग ई० पू० द्वितीय शताब्दी के सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फाभिलेख में भी मिलते हैं। इतिहासकार श्री चिमनलाल जैचंद शाह लिखते हैं—“उस शिलालेख का, जैसा भी वह है, अनुसरण करते हुए हम देखते हैं कि उसकी भाषा अपभ्रंश प्राकृत है, जिसमें अर्धमागधी और जैनप्राकृत के भी छँटि हैं। यह शिलालेख खारवेल के राज्य के तेरहवें वर्ष में खुदवाया गया था।” (उत्तरभारत में जैनधर्म / पृ.१३६)।

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के सम्राट् अशोक के शिलालेखों में तो हिन्दी के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। और स्वयं डॉ० के० आर० चन्द्र ने ईसापूर्व ५वीं शती की कृति माने जानेवाले दशवैकालिकसूत्र में हिन्दी-शब्दों के प्रयोग के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसका उल्लेख करते हुए प्रो० डॉ० राजाराम जी जैन 'हिन्दी का उद्विकास और भोजपुर की साहित्यिक प्रगति' नामक अपने शोध आलेख में लिखते हैं—

“प्रियदर्शी मौर्य सम्राट् अशोक के स्तम्भलेखों एवं अर्धमागधी-प्राकृतागम के दशवैकालिकसूत्र का भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन हुआ है।”^{२२१} इनमें हिन्दी-शब्दों के प्रयोग के प्रमाणस्वरूप उन्होंने अशोक के देहली-टोपरा-तृतीय स्तम्भलेख के “कयानमेव देखति ---” इत्यादि कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। वह पूरा स्तम्भलेख इस प्रकार है—

१. देवानं पिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] कयानमेव देखिति इयं मे
२. कयाने कटे ति [।] नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा

२१९. देखिए, 'श्रमण' (पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी)/अक्टूबर-दिसम्बर, १९९७ ई. / पृ. ५२।

२२०. देखिए, प्रवचनसार : प्रस्तावना/पृ.३६।

२२१. 'शोध-५' नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा (भोजपुर, बिहार)/१९८७-८८ ई. / पृ. ७६

आसिनवे

३. नामा ति [।] दुपटिवेखे चु खो एसा [।] हेवं चु खो एस देखिये [।]
इमानि

४. आसिनव-गामीनि नाम अथ चंडिये निदूळिये कोधे माने इस्या

५. कालनेन व हकं मा पळिभसयिसं [।] एस वाढ देखिये [।] इयं मे

६. हिदतिकाये इयंमन मे पाळतिकाये [॥]

(डॉ० शिवस्वरूप सहाय : 'भारतीय पुरालेखों का अध्ययन'/पृ.१२४)।

अनुवाद

१. देवों का प्रिय राजा ऐसा कहता है—(मनुष्य अपने द्वारा किये गये) कल्याण को ही देखता है (और सोचता है कि) मेरे द्वारा यह

२. कल्याण किया गया। (वह अपने द्वारा किये गये) पाप को नहीं देखता (और न यह सोचता है कि) मेरे द्वारा यह पाप किया गया अथवा यह पाप है।

३. यह सचमुच कठिनाई से देखा जा सकता है, किन्तु इसे अवश्य देखना चाहिए कि ये

४. पाप की ओर ले जाते हैं—चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान ईर्ष्या

५. इनके कारण मैं अपने को भ्रष्ट न करूँ। इसे गंभीरता से देखना चाहिए कि ये मेरे

६. इस लोक के लिए लाभकारी हैं तथा परलोक के लिए कल्याणकारी हैं।

प्रो० डॉ० राजाराम जी जैन लिखते हैं—“यहाँ देखने के अर्थ में देखिये शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है, जो आज भी हिन्दी के क्षेत्र में यथावत् प्रयुक्त है।” ('शोध-५'/नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, भोजपुर : बिहार, १९८७-८८ ई०/पृ. ७६)।

हिन्दी तो अपभ्रंश का विकसित रूप है। अतः जब अपभ्रंश का विकसित रूप अशोक के शिलालेखों की भाषा में मिल सकता है, तब आचार्य कुन्दकुन्द के षट्प्राभृत में अपभ्रंश के प्रयोग मिलना आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रो० डॉ० राजाराम जी जैन आगे लिखते हैं—“अर्द्धमागधी-प्राकृतागम के उक्त दशवैकालिकसूत्र का समय डॉ० के० आर० चन्द्र ने ईसापूर्व ४५२ से ४२९ तक

निर्धारित किया है। उसमें उन्होंने हिन्दी के अनेक शब्दों की खोज की है। उनके अनुसार उसमें हिन्दी-शब्द प्रचुरता से प्राप्त हैं। उनका यह विस्तृत वैज्ञानिक निबन्ध **परिषद्-पत्रिका** (पटना ८/३-४) के **भाषा-सर्वेक्षणांक** में प्रकाशित है। उन्होंने **दशवैकालिकसूत्र** में प्राप्त होनेवाले तद्भव एवं देश्य शब्दों की ऐसे हिन्दी-शब्दों के साथ तुलना की है, जो प्राचीन, आधुनिक और स्थानीय हिन्दी-भाषा में अथवा किञ्चित् परिवर्तित अर्थ में शब्दों के अर्थसंकोच अथवा विस्तार के साथ उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ : माउसी (मौसी) ७/१५, लोग (जनता) ८/४४, मसान (श्मसान) १९/१२, मनुस (मनुष्य) ७/२२, धोवन (धोवन) ५/१/७५, मुह (मुख) ४/१० बीय, (बीज), सत्तू (सत्तू) ५/१/७१, लोढ़ (पत्थर) ५/१/४५, चाउल (चावल) ५/१/७५, दंतवण (दतवन) ३/९, पप्पड़ (पापड़) ५/२/२१, थिगल (थिगली) ५/१/१५, लट्टी (लाठी) ७/२८ आदि। उक्त तथ्य इस बात के संकेतक हैं कि हिन्दी-भाषा के उद्भव की अभी तक जो कालसीमा मान्य थी, नवीन खोजों के आलोक में उस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।" ('शोध'-५ / नागरी प्रचारिणी सभा, आरा भोजपुर, बिहार / १९८७-८८ ई० / पृ० ७७)।

जब डॉ० आर० के० चन्द्र ने स्वयं ईसापूर्व पाँचवीं शती के माने जानेवाले श्वेताम्बरग्रन्थ **दशवैकालिकसूत्र** में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग सिद्ध किया है, तब ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्दकृत **षट्प्राभृत** में यदि हिन्दी से पूर्ववर्ती अपभ्रंश के शब्दों की उपलब्धि होती है, तो इससे षट्प्राभृत को ईसा की ५-६वीं शताब्दी ई० का ग्रन्थ कैसे माना जा सकता है? यह तो डॉ० चन्द्र के ही द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त प्रमाण से असत्य सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः अशोक के उपर्युक्त स्तम्भलेख एवं 'दशवैकालिकसूत्र' में उपलब्ध उक्त शब्द हिन्दी-शब्दों से साम्य रखने एवं हिन्दी-भाषा के आरम्भकाल से अत्यन्त पूर्ववर्ती होने के कारण प्राकृत या अपभ्रंश के ही माने जाने चाहिए।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास का समय विद्वानों ने विक्रम का प्रथम शतक माना है। उनके नाटक **विक्रमोर्वशीयम्** में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं।

प्राकृत भाषाओं के जर्मन विशेषज्ञ डॉ० रिचार्ड पिशाल लिखते हैं—“अपभ्रंश के ज्ञान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण के अध्याय ४ के सूत्र ३२९ से ४४६ तक हैं। --- हेमचन्द्र के बाद महत्त्वपूर्ण (अपभ्रंश-) पद **विक्रमोर्वशी** पेज ५५ से ७२ तक में मिलते हैं। शंकर परब पण्डित और ब्लौख का मत है कि ये मौलिक नहीं, क्षेपक हैं, किन्तु ये उन सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलते हैं, जो दक्षिण में नहीं लिखी गयी हैं। यह बात हम जानते हैं कि दक्षिण में लिखी

गयी पुस्तकों में पूरे पाठ का संक्षेप दिया गया है और अंश के अंश निकाल दिये गये हैं। इन पदों की मौलिकता के विरुद्ध जो कारण दिये गये हैं, वे ठहर नहीं सकते, जैसा कि कोनो ने प्रमाणित कर दिया है।^{२२२}

कोनो के प्रमाणित करने से यह शंका भी निर्मूल हो जाती है कि कालिदासकृत विक्रमोर्वशीयम् नाटक के अपभ्रंश-पद प्रक्षिप्त हैं। वे मौलिक हैं और ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित नाटक में मिलते हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में अपभ्रंश प्रचलित थी। तथा अशोक एवं खारवेल के पूर्वोक्त शिलालेखों एवं दशवैकालिकसूत्र में अपभ्रंश भाषा के प्रयोग से सिद्ध है कि उसका प्रयोग ईसापूर्व द्वितीय, तृतीय एवं पंचम शताब्दी में भी होता था।

अतः कुन्दकुन्दकृत षट्प्राभृत की भाषा में अपभ्रंश के लक्षण मिलने से उसके ईसोत्तर प्रथम शताब्दी की रचना होने में कोई बाधा नहीं आती।

२२२. डॉ. रिचर्ड पिशल : 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' / विषयप्रवेश / पृ. ५९-६० / अनुवादक : डॉ. हेमचन्द्र जोशी।



अष्टम प्रकरण

प्रो० हीरालाल जी जैन के मत का निरसन

१

प्रो. हीरालाल जी का मत

प्रसिद्ध जैन विद्वान् स्व० प्रो० हीरालाल जी ने (जो जन्मना दिगम्बरजैन थे) एक चौंकाने-वाले, कपोलकल्पित इतिहास के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीरनिर्वाण के ६५० वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी (ईसापूर्व ५२७-६५०=१२३ ई०) में बतलाया है। यह कपोलकल्पित इतिहास उन्होंने अपने जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय नामक शोधपत्र में निबद्ध किया है, जो 'अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन' के १२ वें अधिवेशन (१९४४ ई०) में वाराणसी में पढ़ा गया था।

इस शोधपत्र में उन्होंने केवल नामसाम्य के आधार पर भगवती-आराधना के कर्ता दिगम्बर शिवार्य, तुषमाष-घोषक दिगम्बरमुनि शिवभूति, श्वेताम्बर-कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति तथा बोटिकसम्प्रदाय के संस्थापक शिवभूति इन चारों को एक ही व्यक्ति बतलाया है। इसी प्रकार दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं दिगम्बर समन्तभद्र तथा श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं श्वेताम्बर सामन्तभद्र को भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। और मजे की बात यह है कि इस अभिन्नता के द्वारा श्वेताम्बरपरम्परा के शिवभूति एवं भद्रबाहु-द्वितीय आदि का दिगम्बरीकरण न कर, दिगम्बर शिवार्य (शिवभूति), दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय और दिगम्बर समन्तभद्र का श्वेताम्बरीकरण किया है। क्योंकि प्रोफेसर सा० की मान्यता है कि उस समय दिगम्बरमत की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, उसका प्रवर्तन तो द्वितीय शताब्दी ई० में कुन्दकुन्द ने किया था। इस प्रकार वे शिवभूति और भद्रबाहु-द्वितीय को श्वेताम्बर और बोटिक दोनों मानते हैं, दिगम्बर किसी को भी नहीं मानते। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रोफेसर हीरालाल जी ने भी बोटिकसम्प्रदाय को यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप माना है। फिर वे बतलाते हैं कि श्वेताम्बर-बोटिक शिवभूति के शिष्य बने श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय तथा श्वेताम्बर-बोटिक भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य हुए कुन्दकुन्द। शिवभूति के दूसरे शिष्य घोषनदी हुए और उनके शिष्य हुए उमास्वाति।

इस प्रकार प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को आरंभ में श्वेताम्बर और बोटिक दोनों माना है। किन्तु, वे कहते हैं कि आगे चलकर कुन्दकुन्द ने सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का सर्वथा निषेध कर दिया और इस प्रकार दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया। किन्तु उनके इस कठोरमार्ग के प्रवर्तन से असहमत तथा शिवभूति के आपवादिक

सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति के समर्थक मुनियों ने उमास्वाति के नेतृत्व में पृथक् यापनीयसंघ बना लिया।

यह कपोलकल्पित इतिहास वैसा ही है जैसा श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने सन् १९४१ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर' में कल्पित किया है, जिसे पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है। प्रो० हीरालाल जी ने यह लेख सन् १९४४ ई० में लिखा था। इससे ऐसा लगता है कि उन्होंने मुनि कल्याणविजय जी से प्रेरणा प्राप्त कर और संभवतः श्वेताम्बर मित्रों को खुश करने के लिए यह मिथ्या इतिहास गढ़ा है।

दिगम्बर विद्वानों में इस लेख ने तथा इसके पूर्व लिखे गये प्रोफेसर सा० के अन्य लेखों ने तीव्र क्षोभ पैदा किया था, फलस्वरूप उनके द्वारा प्रोफेसर सा० का उसी समय कड़ा विरोध किया गया। स्व० पं० परमानन्द जी शास्त्री, स्व० डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, स्व० पं० जुंभलकिशोर जी मुख्तार, स्व० पं० रामप्रसाद जी शास्त्री आदि मूर्धन्य दिगम्बर विद्वानों ने अमोघ तर्कों और प्रमाणों से प्रोफेसर सा० के तर्कों का जोरदार खण्डन कर उनके निष्कर्षों को मिथ्या सिद्ध किया है।

प्रो० हीरालाल जी के कुन्दकुन्द से सम्बन्धित दो लेखों के साथ उनके खण्डन में लिखे गये दो महत्त्वपूर्ण लेखों को यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा रहा है, ताकि जिनशासनभक्त सत्य से अवगत हो जायँ और कभी प्रो० हीरालाल जी के उक्त लेख उनके पढ़ने में आयें, तो उनका श्रद्धान शिथिल होने से बच सके।

१.१. पहला लेख

शिवभूति और शिवार्य^{२२३}

लेखक : प्रोफेसर हीरालाल जी जैन

आवश्यक मूलभाष्य की^{२२४} बहुधा उल्लिखित कुछ गाथाओं के अनुसार बोटिकसंघ की स्थापना महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् रहवीरपुर में शिवभूति के नायकत्व

२२३. 'दिगम्बर जैन सिद्धान्तदर्पण' (द्वितीय अंश)/ सम्पादक : पं. रामप्रसाद जी शास्त्री/प्रकाशक : दिगम्बर जैन पंचायत, बम्बई/१२ दिसम्बर, १९४४ ई./पृ.१२-१७ से उद्धृत।

२२४. छव्वाससयाइं नवुतराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।

तो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्यण्णा ॥ १४५ ॥

रहवीरपुरं नगरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे य।

सिवभूइस्सुवहिम्मिय पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १४६ ॥

में हुई। बोटिकों को बहुधा दिगम्बरों से अभिन्न माना जाता है, अतः श्वेताम्बर-पट्टावलियों में वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बरसम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।

अब हमें यह देखने की आवश्यकता है कि क्या इन शिवभूति का श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों में से किसी के साथ एकत्व स्थापित किया जा सकता है? श्वेताम्बरों द्वारा सुरक्षित आचार्यों की पट्टावलियों में कल्पसूत्र-स्थविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इसमें हमें फग्गुमित्त के उत्तराधिकारी धनगिरि के पश्चात् शिवभूति का उल्लेख मिलता है।^{२२५} ये ही शिवभूति मूलभाष्य में उल्लिखित शिवभूति से अभिन्न प्रतीत होते हैं, जिसके प्रमाण निम्नलिखित हैं—

१. दोनों नाम बिल्कुल एक हैं।

२. यद्यपि स्थविरावली में आचार्यों के समय का उल्लेख नहीं किया गया, तथापि अन्य पट्टावलियों में समय का भी उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार स्थविरावली के शिवभूति का वही समय पड़ता है, जो मूलभाष्य के शिवभूति का कहा गया है।

ऊहाए पण्णत्तं बोडिअसिवभूइ-उत्तराहि इमं।

मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पणं ॥ १४७ ॥

बोडिअसिवभूइओ बोडिअलिंगस्स होइ उप्पत्ती।

कोडिन्नकोट्टवीरा परंपराफासमुप्पण्णा ॥ १४८ ॥ आवश्यक-मूलभाष्य।

“इन गाथाओं का ठीक अनुवाद इस प्रकार होता है—जब वीर निर्वाण के पश्चात् ६०९ वर्ष समाप्त हो गये, तब बोडिकों की दृष्टि रहवीरपुर में उत्पन्न हुई। रहवीरनगर के दीपक उद्यान में आर्य कण्ह भी थे, तब शिवभूति ने उपधि-सम्बन्धी प्रश्न उठाया, जिस पर थेरों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये। ऊहापोह के पश्चात् उन शिवभूति-प्रधान थेरों ने ‘बोडिक’ (मत) स्वीकार किया। इस प्रकार रहवीरपुर में यह मिथ्यादर्शन उत्पन्न हुआ। बोडिक शिवभूति से बोडिकलिंग की उत्पत्ति हुई और कोडिन्नकुट्टवीर उनकी परम्परा के स्पर्श से उत्पन्न हुए।

नोट—उपलब्ध पाठ की गाथा १४७ में ‘उत्तराहि’ पाठ ठीक नहीं प्रतीत होता। उसके स्थान पर उत्तरेहि पाठ रहा जाना पड़ता है, जिसका अर्थ होता है ‘प्रधानैः’। उत्तरा पाठ या तो भ्रम से या जान बूझकर उस पर से शिवभूति की बहिन की कल्पना करके इस संघ का हास्य करने की दृष्टि से उत्पन्न हुआ जान पड़ता है।” लेखक।

२२५. “थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिदुगुत्तस्स अज्जसिवभूइ थेरं अंतेवासी कुच्छसगुत्ते ॥ ११ ॥

वंदामि फग्गुमित्तं च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।

कुच्छं सिवभूइं पि य कोसिय दुज्जत्त कण्हे य ॥ १ ॥”

३. मूलभाष्य में शिवभूति का सम्बन्ध एक और आचार्य से बतलाया गया है, जिनका नाम कण्ह था, उसी प्रकार कण्ह का उल्लेख स्थविरावली के पद्यभाग में शिवभूति के साथ-साथ किया गया है।

४. समयसुन्दर ने अपनी स्थविरावली की टीका में कहा है कि शिवभूति के एक ही बोटक नामक शिष्य ने (वीर) निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बरसंघ की स्थापना की थी।^{२२६} इस कथन का मूलभाष्य के तथा जिनभद्रगणी, कोट्याचार्य और मलयगिरि जैसे टीकाकारों की परम्परा के वृत्तांत से विरोध पड़ता है, जिससे ऐसा जान पड़ता है कि उक्त कथन स्थविरावली के शिवभूति को बोटिकसंघ के संसर्ग से बचाने के लिये जान बूझकर गढ़ा गया है। किन्तु उससे केवल वह अभिन्नता पूर्णतः सिद्ध हो जाती है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन आर्य शिवभूति का दिगम्बरसम्प्रदाय के किसी आचार्य के साथ एकत्व सिद्ध होता है? उक्त नाम एकदम हमें 'आराधना' अथवा 'भगवती-आराधना' के कर्ता का स्मरण दिलाता है, जिनके साथ उक्त एकत्व कदाचित् सम्भव हो, क्योंकि इन आचार्य का नाम ग्रंथ में शिवार्य पाया जाता है, जिनके तीन गुरुओं के नाम आर्य जिननन्दिगणी, शिवगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दी कहे गये हैं।^{२२७} इन नामोल्लेख से इतना तो स्पष्ट है कि 'आर्य' नाम का अंश नहीं, किन्तु एक आदरसूचक उपाधि थी, जो स्थविरावली में सभी आचार्यों के नामों के साथ लगी हुई पायी जाती है। अतः शिवार्य 'आर्य शिव' के समरूप है, जिसका एकत्व आर्य शिवभूति के साथ बैठना कठिन नहीं है, क्योंकि नाम के उत्तरार्ध को छोड़ कर उल्लेख करना एक साधारण बात है, जैसा कि रामचन्द्र के लिये राम, कृष्णचन्द्र के लिये कृष्ण व भीमसेन के लिये भीम के उल्लेखों में पाया जाता है। फिर यह 'आर्य' उपाधि स्थविरावली में तो साधारण है, किन्तु दिगम्बर-पट्टावलियों में प्रायः अप्राप्य है और उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त क्वचित् ही उसका उपयोग पाया जाता है। मुझे केवल वीरसेन के गुरु आर्यनन्दी का स्मरण आता है, जिनका नामोल्लेख धवलाटीका की प्रशस्ति में 'आर्य'-शब्द-पूर्वक किया गया है। इसके अतिरिक्त शिवार्य के ग्रन्थ 'आराधना' का दिगम्बर साहित्य में कुछ असाधारण स्थान है। वह ग्रन्थ कुन्दकुन्द

२२६. "शिवभूतिशिष्यः एको बोटकनामाऽभूत्। तस्मात् वीरात् सं० ६०९ वर्षे बोटकमतं जातं दिगम्बरमतमित्यर्थः।"

२२७. अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं।

अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥ २१६१॥

पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।

आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥ २१६२॥

की परम्परा का तो है नहीं, क्योंकि उसमें अपवादरूप से मुनियों के लिये वस्त्रधारण करने का भी विधान है।^{२२८} और उसे कुन्दकुन्द से पश्चात्काल का सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बरसम्प्रदाय से पृथक् भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि परम्परा से उसका सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के साथ पाया जाता है। उसके एक टीकाकार हैं अपराजित सूरि, जो 'आरातीयसूरि-चूड़ामणि' थे,^{२२९} और आरातीय को सर्वार्थसिद्धिकार ने सर्वज्ञ तीर्थकर व श्रुतकेवली के समान ही प्रामाणिक वक्ता माना है।^{२३०} उसके अन्य टीकाकार हैं अमितगति और आशाधर, जिनका दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय में विशेष मान है।^{२३१} इसके अतिरिक्त शिवार्य के गुरुओं के नामों में जो 'नन्दि' शब्द पाया जाता है, उससे भी उस ग्रन्थ का दिगम्बरों के साथ सम्बन्ध प्रकट होता है, क्योंकि उन्हीं में नन्दिसंघ की बड़ी प्राचीन सत्ता पाई जाती है और नन्दी-नामान्त भी खूब प्रचलित मिलता है, जब कि श्वेताम्बर पट्टावलियों में इस नामान्त का उपयोग बिलकुल ही नहीं मिलता, तथा पश्चात्काल में भी उसका उपयोग क्वचित् ही पाया जाता है। प्राप्य श्वेताम्बर-पट्टावलियों पर दृष्टि डालने से मुझे तो केवल दो ही नाम उस प्रकार के दिखलाई दिये—एक इन्द्रिनन्दी और दूसरे उदयनन्दी। ये दोनों ही पन्द्रहवीं शताब्दी से भी पश्चात्कालीन हैं।^{२३२}

शिवार्य के तीन गुरुओं में से एक जो सर्वगुप्तगणी थे, आश्चर्य नहीं, वे ही सर्वगुप्त हों, जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोला-शिलालेख नं० १०५ (२५४) में चार आचारांगधारियों के पश्चात् एवं कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व किया गया है।^{२३३} कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भावपाहुड़ की गाथा ५३ में शिवभूति का उल्लेख बड़े सन्मान से किया

२२८. जस्स वि अब्बभिचारी दोसो तिट्ठाणिओ विहारमि।

सो वि तु संधारगदो गेण्हेज्जोस्सुगियं लिंगं ॥ ८० ॥

आवसधे व अप्पाउग्गे जो वा महद्धिओ हिरिमं।

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ८१ ॥

२२९. "चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूड़ामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोप-सेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजित-सूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता।" विजयोदया टीका / टीकाकारकृत प्रशस्ति।

२३०. "त्रयो वक्ताः—सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति।" स.सि/१/२०।

२३१. "भगवती-आराधना की और भी टीकाओं आदि के लिये देखिए, पं० नाथूरामकृत 'जैन साहित्य और इतिहास' / पृ. २३ आदि।" लेखक।

२३२. 'पट्टावली समुच्चय' / मुनि दर्शनविजयकृत / पृ. ३९ और ६७।

२३३. सर्वज्ञः सर्वगुप्तो महिधर-धनपालौ महावीरवीरौ।

इत्याद्यानेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या,

शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥ १३ ॥

है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माष की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुये।^{२३४} प्रसंग पर ध्यान देने से यहाँ ऐसे ही मुनि से तात्पर्य प्रतीत होता है, जो द्रव्यलिंगी न होकर केवल भावलिंगी मुनि थे। ये शिवभूति अन्य कोई नहीं, वे ही स्थविरावली के शिवभूति, 'आराधना' के कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये। भगवती-आराधना की गाथा ११२० में तुष और तंडुल की उपमा देकर संगत्याग द्वारा मोहमल को दूर करने की आवश्यकता बतलाई गई है,^{२३५} जिसके प्रकाश में ही भावपाहुड़ की गाथा का अर्थ स्पष्ट समझ में आता है।

इस तुष-माष अथवा तुष-तंडुलवाले सिद्धान्त का और भी मर्म भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति से खुलता है। निर्युक्ति के अनुसार महावीरस्वामी के केवलज्ञान प्राप्त होने से लगातार ६१४ वर्ष में सात निहव उत्पन्न हुए। इनमें का अन्तिम निहव निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल के इस उपदेश से उत्पन्न हुआ कि जीव कर्म से स्पष्ट तो है, पर बाँधता नहीं है।^{२३६} इसे ही मूलभाष्यकार ने इस प्रकार समझाया है कि जैसे कंचुक उसके धारण करनेवाले पुरुष को स्पर्श तो करता है, पर उसे बाँधता नहीं है, उसी प्रकार कर्म का जीव के साथ स्पष्ट किन्तु अबद्ध होने का समन्वय है।^{२३७} आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में मलयगिरि ने बताया है कि आर्यरक्षित के तीन उत्तराधिकारी थे—दुर्बलिका-पुष्यमित्र, गोष्ठामाहिल और फग्गुरक्षित। गोष्ठामाहिल को वाग्लब्धि प्राप्त थी, फिर भी आर्यरक्षित ने अपने पश्चात् गणधर दुर्बलिका-पुष्यमित्र को नियुक्त किया, जिससे गोष्ठामाहिल को क्षोभ हुआ।^{२३८} स्थविरावली के अनुसार पुष्यमित्र के पश्चात् फग्गुमित्र (फग्गुरक्षित), उनके पश्चात् धनगिरि और उनके पश्चात् शिवभूति हुए थे। शिवार्य ने सम्भवतः गोष्ठामाहिल के उसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भगवती-आराधना में कहा है कि जब तक तुष दूर नहीं किया जायेगा, तब तक तण्डुल का भीतरी मैल साफ नहीं किया जा सकता और उनकी इसी भावशुद्धि की कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में प्रशंसा की है। भावपाहुड़ की गाथा

२३४. तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।

णामेण य सिवभूर्ई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥ भावपाहुड।

२३५. जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।

तह जीवस्स ण सक्कं मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥ भगवती-आराधना।

२३६. बहुरय एस अव्वत्त समुच्छ दुग तिग अबद्धिआ चव।

सत्ते ते निहववा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स ॥ ७७८ ॥ आवश्यकनिर्युक्ति।

२३७. पुट्टो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ।

एवं पुट्टमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥ १४३ ॥ मूलभाष्य।

२३८. देखिये, आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७७७ की वृत्ति।

५१ में शिवकुमार नामक भावश्रमण का उल्लेख है, जो युवतिजन से वेष्टित होते हुए भी विशुद्धमति रह, संसार के पार उतर गये।^{२३९} इसका जब हम भगवती-आराधना की ११०८ से १११६ तक की गाथाओं से मिलान करते हैं, जहाँ स्त्रियों और भोगविलास में रहकर भी उनके विष से बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है,^{२४०} तो हमें यह भी सन्देह होने लगता है कि यहाँ भी कुन्दकुन्द का अभिप्राय इन्हीं शिवार्य से हो, तो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेश का उपचार से उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।

इस विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. बोटिकसंघ के संस्थापक कहे जानेवाले शिवभूति स्थविरावली के प्रतिष्ठित आचार्यों में से एक थे।

२. उन्होंने पीछे नन्दिसंघ में प्रवेश किया होगा और उस संघ के आगम का उन्होंने जिननन्दी, सर्वगुप्त और मित्रनन्दी इन तीन आचार्यों से उपदेश पाया।

३. जब ये शिवभूति स्वयं अनुक्रम से संघ के नायक हुये, तब उन्होंने सम्भवतः उस संघ में कुछ परिवर्तन उपस्थित किये, जिनके कारण उनके अनुयायी बोटिक कहलाये।

४. उन्होंने मुनि आचार पर आराधना, मूलाराधना या भगवती-आराधना की रचना की, जिसमें उन्होंने अपना नाम शिवार्य प्रकट किया है। इस ग्रन्थ में ऐसा शासन पाया जाता है, जो कुन्दकुन्द के शासन से पूर्वकालीन सिद्ध होता है।

५. कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में जिन भावश्रमण शिवभूति का उल्लेख किया है, वे संभवतः ये ही शिवभूति या शिवार्य हैं।

अब आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या जिस स्थान पर शिवभूति के संघ की स्थापना हुई कही जाती है, उसका भी कोई पता चल सकता है? उक्त स्थान का दिग्म्बरों से सम्बन्ध होने के कारण दक्षिण भारत में ही उस स्थान के पाये जाने की सम्भावना प्रतीत होती है, जिसे मूलभाष्य के कर्ता ने रहवीरपुर कहा है, विशेषकर

२३९. भावसवणो य धीरो जुवईजणवेद्धिओ विसुद्धमई।

णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जादो ॥ ५१ ॥ भावपाहुड।

२४०. उदयम्मि जायवड्ढिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं।

तह विसएहिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥ भगवती-आराधना।

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए।

विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण बुडुंति ॥ ११११ ॥ भगवती-आराधना।

दक्षिण-पश्चिम-प्रदेश का गुजरात से लगाकर कोकण तक का वह भाग, जहाँ पर षट्खण्डागम सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में चहल-पहल पाई जाती है।^{२४१} इस भूभाग पर दृष्टि डालने से हमें एक राहुरी नामक स्थान का पता चलता है, जो अहमदनगर से मनमाड़ की ओर पन्द्रह मील व तीसरा रेल्वे स्टेशन है। इसी स्थान का रहवीरपुर (पुरी) के साथ समीकरण सम्भव प्रतीत होता है। भाषाशास्त्र के नियमानुसार रहवीरपुरी नाम का भ्रष्ट होकर राहुरी बन जाना कठिन नहीं जान पड़ता।

अब बोडिक, बोटिक अथवा बोटक शब्द का अर्थ समझना शेष रहा है। समयसुन्दर का यह वक्तव्य कि वह शिवभूति के एक शिष्य का नाम था, किसी भी आधार से प्रमाणित नहीं पाया जाता। श्वेताम्बर और दिगम्बर नामावलियों में कहीं भी बोटिक या बोटक जैसा नाम नहीं दिखाई देता। किसी अन्य टीकाकार ने भी इस बात का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत मूलभाष्य में उस शब्द का शिवभूति के तथा एक और दूसरे शब्द 'लिंग' के विशेषण रूप से उल्लेख किया गया है, जिससे सूचित होता है कि बोटिक किसी ऐसी उपाधिविशेष का नाम था, जिसका विधान शिवभूति ने पहले-पहल किया होगा। मूलभाष्य में यह भी कहा गया है कि शिवभूति ने कण्ह आदि अपने साथियों से उपाधि के सम्बन्ध में विचार किया था। 'मूलाराधना' में देखने से विदित होता है कि शिवार्य ने मुनियों के लिये गमनागमन करने व उठाने-धरने आदि सब क्रियाओं में प्रतिलेखन के उपयोग पर बड़ा जोर दिया है। उन्होंने इसे ही मुनिधर्म का चिह्न और लिंग कहा है। इस प्रतिलेखन के ये गुण भी बतलाये गये हैं कि वह धूलि व पसीने से मैला नहीं होना चाहिये और उसे मृदु, सुकुमार और लघु भी होना चाहिए।^{२४२} इन गुणों तथा दिगम्बर मुनियों के सुप्रसिद्ध आचार से हम यह समझ सकते हैं कि यहाँ शिवार्य ने अपने अनुयायियों को एक पिच्छिका रखने का उपदेश दिया है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस समय बटेर के पंख सुलभ जान पड़े और उन्हीं का शिवार्य और उनके अनुयायियों ने उपयोग किया होगा। बटेर के लिये संस्कृत शब्द है 'वर्तक' जो कि प्राकृत में साधारणतः वट्टक, वटक, वडल या बडअ हो जायगा। श्री सुधर्म स्वामी से आठ पीढ़ियों के पश्चात् नवमी पीढ़ि के आर्य सुहस्ति के समय से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के लिये प्रयोग किये जानेवाले

२४१. षट्खण्डागम / पु.१/ भूमिका / पृष्ठ १३ आदि।

२४२. इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।

उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणाउंटणामरसे ॥ ९८ ॥

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं य होइ सगपक्खे।

विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ॥ ९९ ॥

रयसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।

जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १०० ॥ भगवती-आराधना।

कोटिक, कौटिक, कोडिअ आदि शब्द के सादृश्य से यही बटक, बोटिक आदि रूपों में परिवर्तित हुआ जान पड़ता है।^{२४३} (लेख समाप्त)।

१.२. दूसरा लेख

जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय^{२४४}

लेखक : प्रो० हीरालाल जी जैन

मैंने अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेख में^{२४५} मूलभाष्य में उल्लिखित बोटिकसंघ के संस्थापक शिवभूति को एक ओर कल्पसूत्र-स्थविरावली के आर्य शिवभूति से और दूसरी ओर दिगम्बरग्रन्थ 'आराधना' के कर्ता शिवार्य से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिससे उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्ति से अभिप्राय पाया जाता है, जो महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् प्रसिद्धि में आये। मूलभाष्य की जिन गाथाओं पर से मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था, उनमें की एक गाथा में शिवभूति की परम्परा में 'कोडिन्नकोट्टवीर' का उल्लेख आया है।^{२४६} अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्य के उत्तराधिकारियों की खोज करना है। इस सम्बन्ध में मेरे प्राथमिक अन्वेषण से निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं—

१. स्थविरावली के अनुसार शिवभूति के शिष्य और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुए।^{२४७}
२. श्रवणबेलगोला के एक लेखानुसार भद्र या श्रीभद्र ही भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्हीं के शिष्य चन्द्रगुप्त थे।^{२४८}

२४३. "श्रीसुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्यार्थाभिधायि-
न्याख्याऽऽसीत्। नवमे च तत्पट्टे कौटिका इति विशेषार्थावबोधकं द्वितीयं नाम प्रादुर्भूतम्।"
तपागच्छ-पट्टावली / ९।

२४४. 'दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण' (द्वितीय अंश)/सम्पादक : पं० रामप्रसाद जी शास्त्री/ प्रकाशक :
दिगम्बर जैन पंचायत, बम्बई/ १२ दिसम्बर, १९४४ ई./पृ. १-११ से उद्धृत।

२४५. नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल नं.९।

२४६. बोडिअसिवभूईओ बोडिअलिंगस्स होइ उप्पत्ती।

कोडिन्नकोट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना ॥ १४८ ॥

२४७. "थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगुत्तस्स अज्जभदे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥ २० ॥
ते वंदिरुण सिस्सा भदं बंदामि कासवगुत्तं" ॥ २ ॥

२४८. (श्री)भद्रस्सर्व्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।

श्रुतकेवलनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥ ४ ॥

चन्द्रप्रकाशोज्ज्वल-सान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।

यस्य प्रभावाद्द्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥ ५ ॥

श्रवणबेलगोल शिलालेख क्र./४० (६४)/जै. शि. सं./ मा. चं./ भा.१।

३. ये ही वे भद्रबाहु थे, न कि उनसे पूर्ववर्ती, जिन्होंने श्रवणबेलगोला शिलालेख नं० १ के अनुसार द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की और उज्जयिनी से दक्षिण देश को प्रस्थान किया। इन भद्रबाहु को 'स्वामी' की विशेष उपाधि दी गई है।^{२४९}

४. दिगम्बरजैन-साहित्य में जो आचार्य 'स्वामी'^{२५०} की उपाधि से विशेषतः विभूषित किये गये हैं, वे आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही हैं। कथाओं की परम्परा उनका शिवकोटि या शिवायन से भी संबंध स्थापित करती है।^{२५१} कहा जाता है कि समन्तभद्र ने शिवकोटि के निर्माण किये हुए मंदिर में प्रवेश किया और वहाँ की शिवप्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रगट की।^{२५२} यह भी कहा गया है कि

२४९. "गौतमगणधर-साक्षाच्छिष्य-लोहार्य्य-जम्बूविष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि-गुरुपरम्परीणक्रमाभ्यागत-महापुरुषसन्तति-समवद्योतितान्वय-भद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्यामष्टाङ्गमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्व्वस्सङ्घ उत्तरा-पथाद्दक्षिणापथम्प्रस्थितः ---।" जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.१ / ले. क्र.१।

२५०. "स्वामी, यह वह पद है जिससे 'देवागम' के कर्ता महोदय खास तौर से विभूषित थे और जो उन की महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ता का द्योतक है। बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानों ने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषण के साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समन्तभद्र के साथ इतना रूढ़ जान पड़ता है कि उनके नाम का प्रायः एक अंग हो गया है। इसी से कितने ही बड़े-बड़े विद्वानों तथा आचार्यों ने, अनेक स्थानों पर, नाम न देकर, केवल स्वामी पद के प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है और इससे यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि स्वामी रूप से आचार्य महोदय की कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।" (पं० जुगलकिशोर मुख्तार : रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-भूमिका / पृ.८)।

२५१. क— तस्यैव शिष्यशिष्यकोटिसूरिस्तपोलतालम्बितदेहयष्टिः।

संसारवाराकरपोतमेतत्त्वार्थसूत्रं तदलञ्चकार ॥ ११ ॥

जैन शिलालेख संग्रह / मा. च. / भा.१ / ले. क्र.१०५ (२५४)।

ख— शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरिष्ठौ। (विक्रान्तकौरवीय नाटक)।

२५२. तां कुर्वन्नाष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः।

तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नमिति संस्तुते ॥ ६६ ॥

वाक्यं यावत्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान्।

तावत्तल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥ ६७ ॥

निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी।

सञ्जातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥ ६८ ॥

समन्तभद्र स्वामी कथा ४ / नेमिदत्तकृत आराधनाकथा कोश।

उन्होंने अपनी धर्मयात्रा पाटलिपुत्र से प्रारम्भ की और वहाँ से वे मालवा, सिन्धु और ठक्क देशों में परिभ्रमण कर अन्ततः कांचीपुर करहाटक में पहुँचे।^{२५३}

५. श्वेताम्बर पट्टावलियों में सामन्तभद्र की प्रसिद्धि चन्द्रकुल के आचार्य तथा वनवासी गच्छ के संस्थापक के रूप में पाई जाती है।^{२५४}

अब हमें यह देखने का प्रयत्न करना चाहिए कि उक्त बातों का निष्कर्ष क्या निकलता है। भद्र और भद्रबाहु का एकीकरण तो श्रवणबेलगोला के लेख नं० ४० (६४) से सहज ही हो जाता है, क्योंकि वहाँ स्पष्टतः कहा गया है कि भद्रबाहु का ही पूर्वनाम भद्र या श्रीभद्र था।^{२५५} ऐसी कोई बात भी नहीं पाई जाती, जिससे इस अभिन्नता का कोई विरोध उत्पन्न हो। समंतभद्र और सामंतभद्र इन दो नामों में तो प्रायः कोई भेद ही नहीं है। अकार का ह्रस्वत्व या दीर्घत्व कोई महत्त्व नहीं रखता। सामंतभद्र के सम्बन्ध में यह जो कहा गया है कि उन्होंने वनवासी-गच्छ स्थापित किया, उससे उनका सम्बन्ध दक्षिण देश से स्पष्ट है, क्योंकि उत्तर कर्नाटक देश का ही नाम वनवासी था। यही नाम उस देश के प्रमुख नगर 'क्रौंचपुर' का भी था जो तुङ्गभद्रा की शाखानदी बरदा के तटपर स्थित था।^{२५६} वनवासी-गच्छ की स्थापना का इतिहास समंतभद्र-सम्बन्धी दिगम्बर-कथानकों के प्रकाश में अच्छा समझ में आ जाता है, जिसके अनुसार समंतभद्र ने अपनी धर्मयात्रा पाटलीपुत्र से प्रारम्भ की, पश्चात्

२५३. पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालव-सिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं ।
वादार्या विचराम्यहनरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥ ७ ॥

श्रवणबेलगोला-लेख क्र. ५४ (६७)/ जै.शि.सं./ मा.च. / भा.१।

२५४. श्री वज्रशाखाधुरिवज्रसेनानागेन्द्रचन्द्रादिकुलप्रसूतिः ।
चान्दे कुले पूर्वगतश्रुताढ्यः सामंतभद्रो विपिनादिवासी ॥ ९ ॥ गुरुपर्वक्रमवर्णनम्/ गुणरत्नसूरि ।
सिरिवज्जसेणसूरी चाउद्दसमो चंदसूरि पंचदसो ।
सामंतभद्रसूरी सोलसमो रणवासरई ॥ ६ ॥
श्री चन्द्रसूरिपट्टे षोडशः श्रीसामंतभद्रसूरिः । स च पूर्वगत-श्रुतविशारदो वैराग्यनिधिर्निर्ममतया
देवकुलवनादिष्वप्यवस्थानात् लोके वनवासीत्युक्तस्तस्माच्चतुर्थं नाम वनवासीति प्रादुर्भूतम् ॥ ६ ॥
(तपागच्छ-पट्टावली) । निग्रन्थः श्रीसुधर्माभिगणधरतः कोटिकः सुस्थितार्याच्चन्द्रः श्रीचन्द्रसूरे-
स्तदनु च वनवासीति सामन्तभद्रात् ॥ ३१ ॥ (श्रीसूरिपरम्परा) । और भी देखिए-पट्टावलीसारोद्धार
(१६) श्री गुरुपट्टावली (१६) (पट्टावलीसमुच्चय / मुनि-दर्शनविजयकृत) ।

२५५. पादटिप्पणी क्र.२४८ देखिये ।

२५६. देखिये, Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, by Nundolal Dey.

उन्होंने मालवा, सिन्ध और ठक्क (पंजाब) में भी धर्मप्रचार किया और फिर वे कांचीपुर और करहाटक में जा पहुँचे। इनमें का अंतिम स्थान निस्संदेहरूप से बम्बई-प्रान्त के सतारा जिले का 'कराड' ही होना चाहिये और तब मेरे मतानुसार कांचीपुर कर्नाटक का क्रौंचपुर होना चाहिये, न कि मद्रास के निकट तामिलदेशीय काँची। उक्त पद्य में^{२५७} वैदिश संभवतः कांचीपुर का विशेषण है और वेदवती नदी का बोधक है, जो उसी बरदा का दूसरा नाम पाया जाता है, जिसके तट पर क्रौंचपुर स्थित था। यह विशेषण खासकर प्रस्तुत नगर को उसी नाम के अन्य प्रसिद्ध नगर से पृथक् निर्दिष्ट करने के लिये लगाया गया जान पड़ता है।

समन्तभद्र के सम्बन्ध में जो दिगम्बरपरम्परा में अन्य बातें पाई जाती हैं, उन्हें यदि हम समन्तभद्र के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-उल्लेखों के प्रकाश में देखें, तो वे अच्छी समझ में आने लगती हैं। समन्तभद्र के शिवकोटि के मन्दिर में प्रवेश^{२५८} करने का यह अर्थ समझा जा सकता है कि वे शिवभूति या शिवार्य के संघ में शिष्यरूप से प्रविष्ट हुए। एवं शिवप्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट करना^{२५९} इस बात का सांकेतिक वर्णन हो सकता है कि शिवार्य के संघ में उन्होंने चन्द्रशाखा का वनवासी-गच्छ स्थापित किया। भक्तामरस्तोत्र के कर्त्ता मानतुङ्ग इसी चन्द्रकुल में समन्तभद्र से चार पीढ़ी पीछे हुए कहे गये हैं,^{२६०} तथा अपभ्रंशकाव्य करकंड-चरिउ के दिगम्बर-कर्त्ता कनकामर मुनि ने भी अपने को चन्द्रगोत्रीय प्रकट किया है।^{२६१}

सामन्तभद्र का जो काल श्वेताम्बर-पट्टावलियों में बतलाया गया है, वह भी उक्त अभिन्नत्व के अनुकूल पड़ता है। तपागच्छ-पट्टावली के अनुसार वज्रसेन का स्वर्गवास वीर निर्वाण से ६२० वर्ष पश्चात् हुआ और उनके उत्तराधिकारी चन्द्रसूरि और उनके

२५७. पादटिप्पणी क्र. २५३ देखिए। "वैदिश को मालवा की विदिशा नगरी के अर्थ में लेने से प्रसंग ठीक नहीं बैठता, क्योंकि मालवा का उल्लेख पद्य में पहले ही आ चुका है। इसीलिए श्रवणबेलगोला के लेखों को पहले-पहल अनुवादित करनेवाले लुईस राइस ने उसका अर्थ 'out of the way Kanchi' अर्थात् दिशा से दूर की कांची किया था। श्री आर्यंगर उसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—'the far off city of Kanchi' अर्थात् बड़ी दूर का कांचीनगर।" लेखक।

२५८. स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा।

कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च॥ २०॥ आदि (आराधना-कथाकोश)।

२५९. देखिये, पादटिप्पणी क्र. २५२।

२६०. देखिये, पट्टावलीसमुच्चय।

२६१. चिरु दिव्यवंसुप्पण्णण। चंदारिसिगोत्ते विमलएण॥ १०/२८/१॥

वइरायइ हुयइ दिव्यंरेण। सुपसिद्धाणयाम-कणयामरेण॥ १०/२८/२॥ करकण्डचरिउ।

सामन्तभद्रसूरि हुए।^{२६२} इस प्रकार वे सहज ही उन शिवार्य के लहुरे समसामयिक समझे जा सकते हैं, जिन्होंने वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् संघ स्थापित किया था।^{२६३} यह समय आप्त-मीमांसा के कर्ता समन्तभद्र के लिये भी अनुकूल सिद्ध होता है।^{२६४}

इस प्रकार स्थविरावली के भद्र और दिगम्बर-लेखों के भद्रबाहु को एक व्यक्ति एवं श्वेताम्बर-पट्टावलियों के सामन्तभद्र और दिगम्बरसाहित्य के समन्तभद्र को भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के पश्चात् अब देखना यह है कि क्या उक्त प्रकार से प्रकट हुए दो व्यक्ति भी एक ही सिद्ध हो सकते हैं? इसके लिये हमें श्रवणबेलगोल के प्रथम शिलालेख पर ध्यान देना चाहिए जो कि सब से प्राचीन है, अतः भद्रबाहु के सम्बन्ध में सब से अधिक प्रामाणिक आधार है। इस लेख को सावधानी से पढ़ने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उज्जैनी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करने वाले भद्रबाहु प्राचीन पाँच श्रुतकेवलियों में से नहीं हैं, किन्तु उनसे बहुत पीछे उसी आम्नाय में होने वाले दूसरे ही आचार्य हैं।^{२६५} अतः इन्हें दूसरे भद्रबाहु जानना चाहिये, और जिस दुर्भिक्ष की उन्होंने भविष्यवाणी की थी, वह वही होना चाहिये, जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि में मिलता है। इस लेख के अनुसार वज्रस्वामी के समय में एक बड़ा घोर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण वज्रस्वामी ने दक्षिण को विहार किया।^{२६६} पट्टावलियों के अनुसार वज्रस्वामी वज्रसेन के पूर्ववर्ती थे और वीर निर्वाण के ४९६ से ५८४ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे।^{२६७} यह समय समन्तभद्र के काल

२६२. "स च श्रीवज्रसेनो --- सर्वायुः साष्ट्यविंशतिशतं १२८ परिपाल्य श्रीवीरात् विंशत्यधिक-षट्शत ६२० वर्षान्ते स्वर्गभाक्। --- श्रीवज्रसेनपट्टे पञ्चदशः श्रीचन्द्रसूरिः। तस्माच्चन्द्रगच्छ इति तृतीयं नाम प्रार्दुभूतम्। --- श्रीचन्द्रसूरिपट्टे षोडशः श्री सामन्तभद्रसूरिः।"

२६३. छव्वाससाइं नवुत्तराईं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।

तो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पन्ना ॥ १४५ ॥ आवश्यकमूलभाष्य।

२६४. "देखिये, पं० जुगलकिशोरकृत 'स्वामी समन्तभद्र,' पृ. ११५ आदि। दिगम्बरपरम्परानुसार समन्तभद्र विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुए थे।" लेखक।

२६५. देखिये, पादटिप्पणी क्र. २४९।

२६६. "इतो य वइरसामी दक्खिणावहे विहरति। दुब्बिक्खं च जायं बारसवरिसंगं। सव्वतो समंता छिन्नपंथा। निराधारं जादं। ताहे वइरसामी विज्जाए आहडं पिंडं तह्विसं आणेति।" आवश्यकसूत्रचूर्णि / भा. १ / पत्र ४०४ / निर्युक्ति गा. ७७४ की वृत्ति।

२६७. "श्रीसौहगिरिपट्टे त्रयोदशः श्रीवज्रस्वामी यो बाल्यादपि जातिस्मृतिभाग् नभोगमनविद्यया संघ-रक्षाकृत् दक्षिणास्यां बौद्धराज्ये जिनेन्द्रपूजानिमित्तं पुष्पाद्यानयनेन प्रवचनप्रभावनाकृतं देवाभि-वन्दितो दशपूर्वविदामपश्चिमो वज्रशाखोत्पत्तिमूलम्। तथा स भगवान् --- सर्वायुरघ्वाशीति ८८ वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरात् चतुरशीत्यधिकपञ्चशत ५८४ वर्षान्ते स्वर्गभाक्।"

से लगा हुआ आता है और सामन्तभद्र इन्हीं के पौत्र शिष्य थे। यही नहीं, वीरवंशावली^{२६८} के अनुसार वज्रस्वामी ने अपना चातुर्मास दक्षिण देश के तुंगिया नामक स्थान पर किया था, जो संभवतः तुंगभद्रा नदी के समीप था, जहाँ हमने समन्तभद्र के क्रौंचपुर या कांचीपुर की भी स्थिति निश्चित की है। यह स्थान श्रवणबेलगोला के कटवप्र से भी बहुत दूर नहीं है, जहाँ लेखानुसार आचार्य प्रभाचन्द्र ने शरीरांत किया था।

दूसरा महत्त्वपूर्ण संकेत इस शिलालेख से यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि 'स्वामी' थी, जो कि साहित्य में प्रायः एकान्ततः समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े-बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द^{२६९} और वादिराजसूरि^{२७०} ने तो उनका उल्लेख, नाम न देकर केवल उनकी इस 'स्वामी' उपाधि से ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे, जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि से उनके पाठक केवल समन्तभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देहरूप से सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक ही व्यक्ति हैं।

इस प्रकार भद्र, सामन्तभद्र, समन्तभद्र और भद्रबाहु के एक ही व्यक्ति सिद्ध हो जाने से हम कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, जो हमें चकित कर देते हैं। इन निष्कर्षों में से एक तो यह है कि हमें कुन्दकुन्द को उन्हीं भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य स्वीकार करना पड़ता है, जो दिगम्बर-सम्प्रदाय के भीतर अन्य कोई नहीं, स्वयं आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही हैं। कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में स्पष्टतः अपने को भद्रबाहु का शिष्य^{२७१} कहा है, जो अन्य कोई नहीं, उक्त भद्रबाहु-द्वितीय ही हो सकते हैं। इस एकीकरण में केवल यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने अपने गुरु भद्रबाहु को बारह अंगों के विज्ञाता, चौदह पूर्वों के विपुल विस्तारक श्रुतज्ञानी कहा है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे प्रस्तुत भद्रबाहु उनसे

२६८. जैनसाहित्य-संशोधक / खण्ड १ / अंक ३ / परिशिष्ट / पृ. १४। "पुनः श्रीवज्रसूरि उत्तर दीशि थकी विहरता दक्षिण पंथि तुंगिया नगरइयं चौमासई रह्या।"

२६९. स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥ आप्तपरीक्षा / उपसंहार।

२७०. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्शयते ॥ पार्श्वनाथचरित।

२७१. सद्दिवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स ॥ ६१ ॥
बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्रबाहु गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥ ६२ ॥ बोधपाहुड।

पूर्ववर्ती भद्रबाहु-प्रथम से पृथक् होते हुए भी अनेक शिलालेखों में श्रुतज्ञानी कहे गये हैं।^{२७२}

यही बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम श्वेताम्बर-आगम की दश निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु के सम्बन्ध में विचार करते हैं। ये निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु भी श्रुतकेवली कहे गये हैं,^{२७३} किन्तु यह तो अब सिद्ध है कि ये भद्रबाहु-प्रथम नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति में ऐसी घटनाओं और व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिनका समय महावीर से लगा कर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् तक उन्होंने स्वयं बतलाया है।^{२७४} उन्होंने आर्य वज्र की भी बहुत प्रशंसा की है, जिनका समय वीरनिर्वाण ४९६ से लगाकर ५८४ तक पाया जाता है, एवं उन्हीं के समकालीन^{२७५} आर्यरक्षित का भी उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों पर से ऐसा अनुमान है कि उक्त निर्युक्ति के कर्ता स्वयं वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् हुए हैं और सम्भवतः आर्यवज्र से भी उनका संपर्क रहा है, जिनके विषय में उन्होंने कुछ व्यक्तिगत बातें भी बतलाई हैं एवं उन्हें श्रुत को दो खंडों में यानी कालिक और दृष्टिवाद में विभाजित करनेवाला भी कहा है। ये दो भाग आर्यरक्षित द्वारा पुनः चार भागों में विभाजित किये गये थे।^{२७६} मेरे मतानुसार निर्युक्तियों के कर्ता और कुन्दकुन्द के गुरु आप्तमीमांसा के कर्ता एवं वनवासीगच्छ के संस्थापक व चंद्रकुल के नायक तथा द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करके दक्षिण की यात्रा करने वाले आचार्य सब एक ही व्यक्ति हैं, और वह व्यक्ति था शिवार्य का शिष्य।

शिवार्य के गौरव को बढ़ाने वाला इतना ही यश नहीं है। उनके मुकुट में एक और तेजस्वी मणि जड़ा हुआ मिलता है, जिसकी ओर अब हम दत्तचित्त होंगे।

२७२. देखिये, पादटिप्पणी क्र. २४८। श्रवणबेल्लोल लेख क्र. १०८ (२५८) / पद्य ८-९ भी देखिये।

(जै. शि. सं. / मा. च. / भा. १)।

२७३. येनैषा पिंडनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता।

द्वादशांगविदे तस्मै नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ पिंडनिर्युक्ति / मलयगिरि-टीका।

दसकम्पव्वहारा निज्जूढा जेण नवमपुव्वाओ।

वंदामि भद्रबाहुं तमपश्चिमसयलसुयनाणिं ॥ ऋषिमंडल सूत्र।

२७४. चोद्दस सोलस वासा चोद्दसवीसुत्तरा य दुण्णिा सया।

अठ्ठावीसा य दुवे पंचेव सया य चोआला ॥ ७८२ ॥

पंच सया चुलसीया छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति।

नाणुप्पत्तीए दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ ७८३ ॥ आवश्यकनिर्युक्ति।

२७५. "श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिक-पंचशत ५३३ वर्षे श्रीआर्यरक्षितसूरिणा श्रीभद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभाग्।" तपागच्छ पट्टावली।

२७६. आवश्यकनिर्युक्ति / गाथा ७६३-७७८।

जरा, हम तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की प्रशस्ति^{२७७} पर तो ध्यान दें। यहाँ कहा गया है कि उसके कर्ता उमास्वाति शिवश्री के प्रशिष्य तथा घोषनन्दी शिष्य थे। इन दो आचार्यों में से अभी तक किसी का भी कोई खास पता नहीं चल सका। शिवश्री का शिवार्य के साथ सहज ही एकीकरण हो जाता है। श्री और आर्य तो सन्मानसूचक संज्ञायें हैं। उनको छोड़ दोनों में नाम एक ही है। इसके अतिरिक्त शिवश्री के शिष्य घोषनन्दी के नाम में जो नन्दि-नामांश पाया जाता है, वही शिवार्य के गुरुओं के नाम में भी विद्यमान है तथा वह नदिसंघ के आचार्यों में सुप्रचलित रहा है, जब कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्राचीन नामों में तो उसका प्रायः सर्वथा ही अभाव पाया जाता है।^{२७८} प्रशस्ति से जो दूसरी बात जानी जाती है, वह यह है कि उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था। चूँकि शिवार्य के संघ की स्थापना के स्थान रहवीरपुर को मैं अहमदनगर जिले का 'राहुरी' नामक स्थान अनुमान कर चुका हूँ, अत एव मैंने उसी प्रदेश में इस नाम की भी खोज की, जिसके फलस्वरूप उसी जिले में 'निघोज' नामक स्थान का पता चला, जो राहुरी से बहुत दूर भी नहीं है। यह निघोज उमास्वाति की जन्मभूमि न्यग्रोधिका हो सकता है।

भाष्य की प्रशस्ति में निम्नलिखित बातें भी ध्यान देने योग्य हैं—

१. उमास्वाति के आगमशिक्षक वाचनाचार्य मूल थे।

२७७. वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
 शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
 वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
 शिष्येण वाचकाचार्यमूलानाम्नः प्रथितकीर्तिः ॥ २ ॥
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
 कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
 अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
 दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
 इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
 तत्त्वार्थाधिकमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
 यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
 सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥
 इस प्रशस्ति पर पं० सुखलाल जी संघवी का वक्तव्य भी देखिये—तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका / पृ. ४ आदि।

२७८. "आराधना" में उल्लिखित शिवार्य के गुरुओं के नाम हैं : जिननन्दी, सर्वगुप्त और मित्रनन्दी, जिनके सम्बन्ध में देखिये मेरा लेख 'शिवभूति और शिवार्य।' लेखक।

२. यद्यपि उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था, किन्तु वे विहार कर कुसुमपुर (उत्तर में पाटलीपुत्र) पहुँचे।

३. कुसुमपुर में उन्होंने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य रचा।

४. यह भाष्य उन्होंने जिस ग्रन्थ पर रचा, वह उन्होंने उससे पूर्व दुःखार्त और दुरागम से लोगों की मति भ्रान्त हुई देखकर गुरुक्रमागत अर्हद्वचन को अच्छी तरह सोच-समझ कर संगृहीत किया था।

ये वक्तव्य तब तक पूर्णतः समझ में नहीं आते, जब तक कि उस समय में उपस्थित हुई संघ की समस्त परिस्थिति पर विचार न किया जाय। शिवार्य के उत्तराधिकारी हुए भद्रबाहु-द्वितीय और उनके पश्चात् हुए कुन्दकुन्दाचार्य। शिवार्य के द्वितीय शिष्य घोषनंदि के शिष्य थे उमास्वाति, जो स्पष्टतः कुन्दकुन्द के समसामयिक प्रतियोगी थे। कुन्दकुन्द ने संघ के शासन में तथा मुनियों के आचार में कुछ गम्भीर परिवर्तन उपस्थित किये, जब कि शिवार्य ने समस्त अर्जिकाओं और विशेष परिस्थिति में कुछ मुनियों को भी वस्त्र धारण करने की अनुमति दी थी।^{२७९} तब कुन्दकुन्द ने उस व्यवस्था को अनियमित समझा और समस्त मुनियों को बिना किसी अपवाद के नाग्न्य आवश्यक ठहराया।^{२८०} स्त्रियों के लिये तो स्पष्टतः यह नियम लगाया नहीं जा सकता था, अतः वे मुक्ति के अयोग्य ठहराई गईं और उनकी संघ में स्थिति केवल उम्मीदवारों के रूप में रखी गई।^{२८१} अपने गुरु आप्तमीमांसा के कर्ता के एक गूढार्थ कथन, जिसके अनुसार आप्त को दोष और आवरण से मुक्त होना चाहिये^{२८२} का विस्तार करके

२७९. "देखिये, भगवती आराधना, गाथा ७९-८३, व मेरा लेख 'शिवभूति और शिवार्य' फुटनोट २२८।" लेखक।

२८०. वालगकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।

भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णणं इक्कटाणम्मि ॥ १७ ॥

जस्स परिगहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।

सो गरिहउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥ १९ ॥

णवि सिञ्जइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥ सुत्तपाहुड।

२८१. जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।

घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ २५ ॥ सुत्तपाहुड।

२८२. दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥ आप्तमीमांसा।

कुन्दकुन्द ने यह उपदेश दिया कि केवलज्ञानी समस्त सुख और दुख की वेदना के परे होता है,^{२८३} ऐसा समझना चाहिये। वे केवल इन विचारों को प्रगट करने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुए। जान पड़ता है उन्होंने यह प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया कि संघ का प्रत्येक सदस्य उनकी मान्यताओं के अनुसार विश्वास व आचरण करे। जो वैसा नहीं कर सके या करना नहीं चाहते थे, वे संघ से बहिष्कारयोग्य ठहराये गये। इससे संघ में बड़ी उग्र परिस्थिति निर्माण हुई प्रतीत होती है, विशेषतः संघ के उन सदस्यों में जो शिवार्य के अपवादमार्ग में आते थे और प्राचीन आगम को भूलना और छोड़ना नहीं चाहते थे। संभवतः उमास्वाति ने इस संघभाग का नायकत्व ग्रहण किया। इसी तीव्र परिस्थिति में, जब कि उभय पक्ष में विचारधारा तेजी से चल रही थी, उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की, जिसमें उन्होंने केवली में भूख और प्यास की वेदना को सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादित किया^{२८४} किन्तु मुनियों के वस्त्र धारण का या स्त्रियों की मुक्ति का कोई विषय व्यक्त रूप से उपस्थित नहीं किया, यद्यपि इसके लिये निर्ग्रन्थों के भेदों में^{२८५} तथा मुक्तात्माओं के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से चिंतन में^{२८६} गुंजाइश रक्खी। इस ग्रन्थ को उमास्वाति ने सम्भवतः समझौते के लिये प्रस्तुत किया। किन्तु कुन्दकुन्द और उनके सहयोगियों ने संभवतः उसी प्रयोजन से एक संघ की बैठक करके उसे अस्वीकार कर दिया।^{२८७} इसका परिणाम यह हुआ कि उन परिवर्तनों के विरोधियों को संघ छोड़ना पड़ा, या यों कहिये, वे संघ से निकाल दिये गये, जिससे उन्होंने अपना पृथक् संघ स्थापित किया, जो यापनीयसंघ^{२८८} के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२८३. सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।

जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ १/२० ॥ प्रवचनसार।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणहारवज्जियं विमलं।

सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥ ३७ ॥ बोधपाहुड।

२८४. देखिए, तत्त्वार्थसूत्र / १ / ८-१०।

२८५. देखिए, वही / १ / ४६-४७।

२८६. देखिए, वही / १० / ९।

२८७. "ऐसा जान पड़ता है कि कुन्दकुन्द ने उक्त विषय संघ की सम्मति के लिये जिस प्रकार उपस्थित किया, वह प्रवचनसार की गाथा १/६२ में सुरक्षित है—

णो सहहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।

सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ १/६२ ॥" लेखक

२८८. "यापनीयसंघ की जानकारी के लिये देखिये डॉ० उपाध्ये का लेख—'Yapaniya Sangha, a Jaina Sect' (Bombay University Journal, May 1933) और पं० नाथूराम प्रेमी का 'यापनीय साहित्य की खोज' (जैन साहित्य और इतिहास)। यापनीय संघ का किस प्रकार मूलसंघ में अन्तर्भाव कर लिया गया और उसका साहित्य मूलसंघ में किस प्रकार स्वीकार्य ठहराया गया, इस विषय पर मैं एक अलग लेख लिख रहा हूँ।" लेखक।

इन्हीं कटु अनुभवों की स्मृति लेकर उमास्वाति संभवतः दीर्घयात्रा करने योग्य अपने युवावयस्क साथियों को लेकर उत्तर को चले गये, ताकि वे वहाँ के संघ से सम्पर्क स्थापित कर सकें। इस प्रकार उमास्वाति कुसुमपुर पहुँचे और वहाँ ही उन्होंने वे सब बातें स्पष्ट कर दीं, जिन्हें सूत्रों में पूर्वोक्त अनिवार्य संकट को टालने की दृष्टि से अस्पष्ट रखा था।

इस प्रकार अपने समस्त प्रतिपक्षियों को दूर कर देने के पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपूर्व परिपूर्णता के साथ अपने संघ का पुनर्निर्माण प्रारम्भ कर दिया। अपनी मान्यताओं के जरा भी विरुद्ध जानेवाली व पुरानी व्यवस्था का कुछ भी स्मरण करानेवाली समस्त बातों को उन्होंने कठोरता के साथ दबा दिया। उन्होंने स्वयं अपना पूर्व नाम पद्मनन्दी^{२८९} बदल दिया। क्योंकि स्वयं वह नाम नन्दिसंघ का स्मरण कराता था। सम्भवतः उन्होंने समस्त पूर्व आगमों के अध्ययन का भी निषेध कर दिया और सच्चे आगम के सर्वथा लोप हो जाने की मान्यता को जन्म दिया और बहुत से पाहुड स्वयं लिख-लिखकर उस कमी को पूरा किया।^{२९०} तब से उनके लिखे हुए ये पाहुड ही समस्त धार्मिक एवं दार्शनिक बातों पर अद्वितीय प्रमाण ठहराये गये। उन्होंने अपने संघ का नाम मूलसंघ रखा, क्योंकि उनका यह मत था कि जिस सिद्धान्त व आचार का उन्होंने विधान किया है, वही ठीक अन्तिम तीर्थङ्कर की व्यवस्थानुसार मौलिक सिद्ध होता है।^{२९१} यह भी संभव है कि यह नाम उन्हें इस कारण और भी सूझ पड़ा, क्योंकि वह उन वाचकाचार्य का भी नाम या उपनाम था, जिन्होंने उमास्वाति को पढ़ाया था, और संभवतः स्वयं उन्हें भी पढ़ाया होगा। अत एव अप्रत्यक्षरूप से वे उसकी स्मृति भी स्थिर करना चाहते होंगे।

समन्तभद्र को कुन्दकुन्दाचार्य का गुरु मानने में एक कठिनाई अब भी शेष रह जाती है और वह यह है कि शिलालेखों और पट्टावलियों में बराबर समन्तभद्र का नाम कुन्दकुन्द के पश्चात् उल्लिखित किया जाता है, पूर्व नहीं। पीछे के लेखकों की इस प्रवृत्ति का कारण घेरी सपझ में यह आता है कि उनका कुन्दकुन्द को इस युग के समस्त आचार्यों में प्रथम और प्रधान बतलाने में स्वार्थ था, अतएव

२८९. तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।

श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुदतचारणार्द्धिः ॥ ६ ॥ श्रवणबेल्गोला-शिलालेख क्र. ४० (६४)/जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.१।

२९०. "परम्परानुसार कुन्दकुन्द ने चौरासी पाहुड लिखे। इनमें से कोई बारह अभी उपलब्ध हैं। देखिये डॉ० उपाध्ये-कृत प्रवचनसार की भूमिका/पृष्ठ २४ आदि।" लेखक।

२९१. हिंसारहिये धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे।

णिंगंथे पव्वयणे सहहणं होइ सम्मतं ॥ ९० ॥ मोक्खपाहुड।

पूर्व के समस्त इतिहास को अंधेरे में डालने का खास तौर से प्रयत्न किया गया। दूसरी एक बात यह भी है कि कुन्दकुन्दाचार्य से पश्चात् भी एक नहीं, अनेक समन्तभद्र हुए हैं।^{२९२} रत्नकरण्ड श्रावकाचार को उक्त समन्तभद्र-प्रथम की ही रचना सिद्ध करने के लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं,^{२९३} उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि यह उन्हीं ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने 'आप्तमीमांसा' लिखी थी, क्योंकि उसमें दोष का^{२९४} जो स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।^{२९५} मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का कर्ता उस 'रत्नमाला' के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है, जो 'आराधना' के कर्ता शिवभूति या शिवार्य की रचना कदापि नहीं हो सकती।^{२९६} इन पीछे के समन्तभद्र के साथ जो स्वामिपद भी जोड़ दिया गया है और पूर्ववर्ती समन्तभद्र के सम्बन्ध की अन्य घटनाओं का सम्पर्क भी बतलाया गया है, वह या तो भ्रान्ति के कारण हो सकता है या जानबूझ कर किया गया हो, तो भी आश्चर्य नहीं।

इस लेख में खोजपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. आवश्यकमूलभाष्य के अनुसार जिन शिवभूति ने बौद्धिकसंघ की स्थापना की थी, वे स्थविरावली में उल्लिखित आर्य शिवभूति, तथा भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य एवं उमास्वाति के गुरु शिवश्री से अभिन्न हैं।

२. स्थविरावली में आर्य शिवभूति के जो भद्र नामक शिष्य और उत्तराधिकारी का उल्लेख है, वे निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु, द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी के कर्ता व दक्षिणापथ को विहार करनेवाले भद्रबाहु तथा कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु भद्रबाहु

२९२. पं. जुगलकिशोर मुख्तार जी ने कोई छह समन्तभद्र नाम के आचार्यों का परिचय कराया है, जिसके लिये देखिये 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की भूमिका / पृ.५-९।

२९३. देखिये, उपर्युक्त ग्रन्थ।

२९४. क्षुत्पिपासा-जरातङ्क-जन्मान्तक-भयस्मयाः।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार / १।

२९५. देखिये, आप्तमीमांसा श्लोक ४ और ६ पर विद्यानन्द की अष्टसहस्री टीका। आप्तमीमांसा का श्लोक ९३ भी देखिये, जहाँ वीतराग मुनि में सुख-दुख की वेदना स्वीकार की गई है और उसी बात पर वहाँ की युक्ति निर्भर की गई है—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुखात्पापं च सुखतो यदि।

वीतरागो मुनिर्विद्वान्स्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥

२९६. रत्नमाला / सिद्धांतसारदि-संग्रह में संगृहीत (मा. दि.जैन ग्रन्थ २१, भूमिका)।

एवं वनवासीसंघ के प्रस्थापक सामन्तभद्र तथा आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र से अभिन्न हैं।

३. कुन्दकुन्दाचार्य ने संघ में कुछ विप्लवकारी सुधार उपस्थित किये, जो एक दलविशेष को ग्राह्य नहीं थे। उनके नायक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना समझौते के लिये की, किन्तु समझौता हो नहीं सका। अत एव उमास्वाति कुसुमपुर के संघ में जा मिले और वहाँ उन्होंने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य रचा।

४. कुन्दकुन्दाचार्य के नियमों के कारण जिन्हें संघ छोड़ना पड़ा, या जो संघ से निकाले गये, उन्हीं ने अपना एक पृथक् संघ बनाया जो यापनीयसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

५. कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मतों के विरोध में जानेवाली समस्त प्राचीन मान्यताओं को तथा तत्सम्बन्धी साहित्य को भी सर्वथा दबा देने का प्रयत्न किया और अपने संघ को मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध किया।

६. शिलालेखों व पट्टावलियों में कुन्दकुन्द के पश्चात् जिन समन्तभद्र का उल्लेख पाया जाता है, वे आप्तमीमांसा के कर्ता व शिवार्य के प्रसिद्ध शिष्य से पृथक् हैं। वे रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के कर्ता तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि के गुरु हो सकते हैं।

७. शिवार्य ने अपने संघ की रचना वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् की थी। उसके पश्चात् अनुमानतः २० वर्ष उनके, और २० वर्ष उनके उत्तराधिकारी समन्तभद्र या भद्रबाहु-द्वितीय के और जोड़ देने से कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वाति का समय वीरनिर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है।" (लेख समाप्त)।

२

निरसन

इन दोनों लेखों में कल्पित किये गये मतों की कपोलकल्पितता का उद्घाटन पं० परमानन्द जी शास्त्री और डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने अपने लेखों में किया है। उन्हें उद्धृत करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कपोलकल्पितता पर मैं भी कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

२.१. कल्पसूत्र के शिवभूति और बोटिक शिवभूति में एकत्व असंभव

प्रो० हीरालाल जी जैन ने कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट आर्य शिवभूति, बोटिकमत के प्रवर्तक शिवभूति, भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य तथा कुन्दकुन्द

द्वारा उल्लिखित बीजबुद्धि शिवभूति को एक ही व्यक्ति मान लिया है। किन्तु यह मान्यता, प्रचुर विरोधों से भरी हुई है। ये चारों एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि इनके सम्प्रदाय, मान्यताएँ, स्थितिकाल और चरित्र अलग-अलग हैं।

कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति श्वेताम्बर-परम्परा के हैं। पाँचवीं शती ई० में जब देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण कल्पसूत्र को पुस्तकारूढ़ कर रहे थे, तब भी उन्होंने उक्त शिवभूति को श्वेताम्बर-स्थविरावली में स्थान दिया है। इससे सिद्ध है कि वे पाँचवीं शताब्दी ई० तक श्वेताम्बराचार्य ही माने जाते थे और श्वेताम्बरों के लिए पूज्य थे। जब कि बोटिक-सम्प्रदाय-प्रवर्तक शिवभूति श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार प्रथम शताब्दी ई० में ही श्वेताम्बरसंघ छोड़कर बोटिक (दिगम्बर) मत का प्रवर्तक बन गया था। तथा इसके चरित्र का जो चित्रण श्वेताम्बर-साहित्य में किया गया है, वह अत्यन्त हीन है। वह राजा का प्रियपात्र बन जाने से उद्धत-आचरण करने लगा था। देर रात तक स्वच्छन्द घूमता रहता था और आधी रात को लौटकर घर का दरवाजा खुलवाता था, जिससे उसकी पत्नी सो नहीं पाती थी, वह उससे परेशान थी। एक बार उसकी माँ ने दरवाजा नहीं खोला, तो गुस्से में आकर श्वेताम्बर साधुओं के उपाश्रय में चला गया और श्वेताम्बर साधु बन गया। लेकिन लोभी होने से उसने राजा के द्वारा प्रदत्त रत्नकम्बल अपने गुरु को बतलाये बिना छिपाकर रख लिया। जब गुरु ने उसे देखा, तो उसे फाड़कर पादप्रौञ्चन बना दिये। इससे क्रुद्ध होकर उसने श्वेताम्बर साधु का वेश त्याग दिया और नग्न होकर दिगम्बरमत चला दिया। विशेषावश्यकभाष्य आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में उसे घोर मिथ्यादृष्टि, प्रभूततर-विसंवादी और परलिंगी कहा गया है। क्या इस शिवभूति का कल्पसूत्र की स्थविरावली में मान्य श्वेताम्बराचार्य के रूप में उल्लेख हो सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट आर्य शिवभूति, बोटिक शिवभूति से सर्वथा भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त विशेषावश्यकभाष्य में बोटिक शिवभूति के गुरु का नाम आर्यकृष्ण^{२९७} बतलाया गया है, किन्तु कल्पसूत्र की स्थविरावली में शिवभूति को पहले नमस्कार किया गया है और कृष्ण (कण्ह) को शिवभूति, कोसिय तथा दुज्जत्त के बाद।^{२९८} इससे सिद्ध है कि स्थविरावली के शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण नहीं हैं, अतः दोनों शिवभूति भिन्न-भिन्न हैं। भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य ने भी अपने तीन गुरुओं के नाम का उल्लेख किया है : जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी और मित्रनन्दी (गाथा 'अज्जजिण' २१५९)। इनमें भी आर्यकृष्ण का नाम नहीं है। अतः शिवार्य भी

२९७. उवहिविभागं सोडं सिवभूर्इ अज्जकण्हगुरुमूले ॥ २५५३ ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

२९८. वंदामि फग्गुमित्तं च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।

कुच्छं सिवभूर्इ पि य कोसिय दुज्जत्त कण्हे य ॥ कल्पसूत्र-स्थविरावली / १।

उक्त दोनों शिवभूतियों से भिन्न सिद्ध होते हैं। फिर शिवार्य ने अपने को 'पाणितलभोजी' कहा है, यह भी इस बात का सबूत है कि शिवार्य कल्पसूत्र-स्थविरावली के शिवभूति से भिन्न हैं।

२.२. शिवार्य आपवादिक सवस्त्रलिंग के विरोधी

भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य के विषय में प्रो० हीरालाल जी ने जो यह कहा है कि उन्होंने विशेष परिस्थिति में कुछ मुनियों को भी वस्त्रधारण करने की अनुमति दी थी, वह सर्वथा असत्य है। उन्होंने भगवती-आराधना की जिन गाथाओं को मुनि के लिए अपवादरूप से वस्त्रधारण की अनुमति देनेवाला माना है, वे वस्तुतः श्रावक से सम्बन्धित हैं। इसका युक्ति-प्रमाण-पूर्वक स्पष्टीकरण 'भगवती-आराधना' नामक त्रयोदश अध्याय में द्रष्टव्य है। शिवार्य और भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलिभुक्ति की मान्यताओं के नितान्त विरोधी कट्टर दिगम्बर थे, यह त्रयोदश और चतुर्दश अध्यायों में भगवती-आराधना और उसकी विजयोदया टीका से अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया जायेगा। अतः भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य को कल्पसूत्र की स्थविरावली के आर्य शिवभूति से अभिन्न मानना दिन को रात मानने के समान है।

२.३. दिगम्बर-परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से पाँच हजार वर्ष प्राचीन

'जैनेतरसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा' तथा 'पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण' नामक पूर्वाध्यायों में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैन-परम्परा पाँच हजार वर्ष पुरानी है, यद्यपि जिनागम के अनुसार वह अनादि-निधन है। बोटिक शिवभूति ने भी दिगम्बरमत का प्रचलन नहीं किया था, अपितु पूर्वप्रचलित दिगम्बरमत को अंगीकार किया था, यह अपने गुरु के साथ हुए उसके विवाद से स्पष्ट है। भगवती-आराधना में भी शुद्ध दिगम्बर-सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन है। इससे सिद्ध है कि प्रोफेसर सा० ने जो कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक बतलाया है, वह भी सफेद झूठ है।

२.४. भद्रबाहु-द्वितीय शिवभूति के शिष्य नहीं

प्रो० हीरालाल जी ने कहा है कि शिवभूति के उत्तराधिकारी भद्रबाहु-द्वितीय हुए, किन्तु विशेषावश्यकभाष्य में बतलाया गया है कि शिवभूति की गुरुशिष्य-परम्परा कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक शिष्यों से चली।^{२९९} यहाँ भद्रबाहु के नाम का एक

२९९. बोडियसिवभूर्इओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती।

कोडिन्नकोट्टवीरा

परंपराफासमुप्पन्ना ॥ २५५२ ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

अक्षर भी नहीं है। यह साहित्यिक प्रमाण साक्षी है कि प्रोफेसर सा० का यह कथन भी कपोलकल्पित है।

२.५. कुन्दकुन्द भी भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य नहीं

और जब यह असत्य सिद्ध हो जाता है कि भद्रबाहु-द्वितीय शिवभूति के शिष्य थे, तब प्रो० हीरालाल जी की बतलाई हुई सारी गुरु-शिष्य-परम्परा बनावटी साबित हो जाती है। अतः यह उद्घावना भी मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य थे। कुन्दकुन्द ने अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गुरु कहा है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ईसापूर्व चौथी शती में हुए थे और कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शती में। दोनों के अस्तित्वकाल में तीन सौ वर्ष का अन्तर है। अतः श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु नहीं हो सकते, जिसका तात्पर्य यह है कि कुन्दकुन्द ने उन्हें परम्परया अपना गुरु कहा है। उनके अतिरिक्त अन्य किसी भद्रबाहु का उन्होंने नाम नहीं लिया। अतः भद्रबाहु-द्वितीय को, जो श्रुतकेवली नहीं थे, कुन्दकुन्द का गुरु घोषित करना मनमानी चेष्टा है। अपनी मनमानी चेष्टा को युक्तियुक्त दर्शाने के लिए प्रोफेसर सा० ने द्वितीय भद्रबाहु को भी शिलालेखों में 'श्रुतकेवली' नाम से प्रसिद्ध बतलाने का छल किया है। उन्होंने कहा है कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख क्र.४० (६४) एवं १०८ (२५८) में भद्रबाहु-द्वितीय को 'श्रुतकेवली' शब्द से अभिहित किया गया है। किन्तु उक्त लेखों में तो चन्द्रगुप्त के गुरु और पाँच श्रुतकेवलियों में जो चरम थे, उन्हीं भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा गया है। देखिए—

(श्री) भद्रस्सर्व्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।

श्रुतकेवलिनान्तेषु चरमः परमो मुनिः ॥ ४ ॥

चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।

यस्य प्रभावाद्गनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥ ५ ॥

(जै. शि. सं. / मा. च. / भा. १ / ले. क्र. ४० (६४) / ११६३ ई.)।

यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।

अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता सर्व्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥ ८ ॥

तदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।

विवेश यत्तीव्रतपः-प्रभाव प्रभूत कीर्त्तिर्भुवनान्तराणि ॥ ९ ॥

(जै. शि. सं. / मा. च. / भा. १ / ले. क्र. १०८ (२५८) / १४३३ ई.)।

भद्रबाहु-द्वितीय न तो चन्द्रगुप्त के गुरु थे, न ही पाँच श्रुतकेवलियों में चरम थे। अतः उपर्युक्त शिलालेखों में भद्रबाहु-द्वितीय का उल्लेख बतलाना जिज्ञासुओं की आँखों में धूल झोंकना है।

इसी प्रकार निर्युक्तियों के कर्ता श्वेताम्बर-परम्परा के भद्रबाहु-द्वितीय ही थे, किन्तु दसवीं शती ई० के बाद के शीलांकाचार्य आदि श्वेताम्बरमुनियों ने अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम) का नाम निर्युक्तिकार के रूप में प्रचलित कर दिया। प्रो० हीरालाल जी ने जो श्लोक और गाथा-वचन द्वितीय भद्रबाहु के श्रुतकेवली कहे जाने के प्रमाणरूप में उद्धृत किये हैं। (देखिए, पा. टि. २७३) वे इन्हीं प्रथम भद्रबाहु से सम्बन्धित हैं, द्वितीय भद्रबाहु से नहीं। इस तथ्य की पुष्टि श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी के निम्नलिखित वचनों से होती है—

“निर्युक्तियों के लेखक कौन हैं और उनका रचनाकाल क्या है, ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ ही विचार करेंगे।

“परम्परागत-रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु-प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुतकेवली भद्रबाहु को नियुक्तियों के कर्ता के रूप में स्वीकार करनेवाले निम्न साक्ष्यों को संकलित करके प्रस्तुत किया है, जिन्हें हम अविकलरूप से दे रहे हैं—

१. “अनुयोगदायिनः—सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति।” (शीलाङ्काचार्यकृतटीका / आचारांगसूत्र / पत्र ४)।

२. “साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि। उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिः।” (मलयगिरिकृतटीका / बृहत्कल्पपीठिका / पत्र ४)

(यहाँ विस्तारभय से चार उद्धरण मैंने छोड़ दिये हैं।—प्रस्तुतग्रन्थलेखक।)

“इन समस्त सन्दर्भों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु-प्रथम को निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में मान्य करनेवाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्य शीलांक का है। आर्य शीलांक का समय विक्रमसंवत् की ९वीं-१०वीं सदी माना जाता है। जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु-प्रथम को माना है, उनमें आर्यद्रोण, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्ति सूरि तथा क्षेमकीर्ति सूरि के नाम प्रमुख हैं, किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं। अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है। दुर्भाग्य से ८-९वीं सदी के पश्चात्

चतुर्दशपूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु और वराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक नामसाम्य के कारण एक-दूसरे से घुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनाएँ भी प्रथम के नाम चढ़ा दी गईं। यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुतकेवली चतुर्दश-पूर्वधर भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गईं। इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्ता के रूप में चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी।" (डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्रन्थ / पृ. ४९)।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की दसवीं शताब्दी के बाद के श्वेताम्बरचार्यों ने नामसाम्य के कारण निर्युक्तियों का कर्तृत्व अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया। अतः श्वेताम्बरसाहित्य में जहाँ-जहाँ निर्युक्तिकार भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा गया है, वहाँ-वहाँ भद्रबाहु-प्रथम से ही अभिप्राय है। इस प्रकार श्वेताम्बरसाहित्य में भी 'श्रुतकेवली' शब्द का प्रयोग भद्रबाहु-प्रथम के साथ ही हुआ है, द्वितीय के साथ नहीं। फलस्वरूप श्रुतकेवली न होने के कारण द्वितीय-भद्रबाहु को कुन्दकुन्द का गुरु नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त प्रो० हीरालाल जी ने निर्युक्तिकार भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्व-काल, उन्हें आर्यवज्र का समकालीन मानते हुए, ईसा की प्रथम शताब्दी माना है, वह भी अप्रामाणिक है। श्वेताम्बरसाहित्य में वे प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर माने गये हैं, जो विक्रम सं० ५६२ में विद्यमान थे। अतः उनका समय भी लगभग यही है। (जै. आ. सा. म. मी. / पृ. ४३८)। इस कारण ईसा की छठी शती में हुए भद्रबाहु-द्वितीय का प्रोफेसर सा० द्वारा ईसा की द्वितीय शताब्दी में उत्पन्न माने गये कुन्दकुन्द का गुरु होना असंभव है।

तथा प्रोफेसर सा० ने निर्युक्तिकार भद्रबाहु-द्वितीय और स्वामी समन्तभद्र को एक ही व्यक्ति मानते हुए उन्हें कुन्दकुन्द का गुरु बतलाया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा के सभी शिलालेखों में समन्तभद्र का नाम न केवल कुन्दकुन्द के बाद, अपितु उनसे भी परवर्ती उमास्वाति के बाद आया है। (देखिए, श्रवणबेलगोल-शिलालेख क्र. ४० (६४) एवं १०८ (२५८)। इससे प्रोफेसर सा० को यह सिद्ध करना पुनः कठिन हो गया कि भद्रबाहु-द्वितीय या समन्तभद्र कुन्दकुन्द के गुरु थे। इसलिए उन्होंने इस तथ्य को यह कहकर झुठलाने का प्रयास किया है कि उत्तरवर्ती लेखकों ने स्वार्थवश समन्तभद्र का नाम कुन्दकुन्द के बाद रख दिया है। किन्तु वह स्वार्थ क्या था तथा उस स्वार्थ के ही कारण ऐसा किया गया है, इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण प्रोफेसर सा० ने प्रस्तुत नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि यह उनकी अपनी कपोलकल्पना है। कपोलकल्पनाओं से इतिहास नहीं बदला जा सकता। अतः शिलालेखों में समन्तभद्र

के नाम का कुन्दकुन्द के पश्चात् उल्लिखित होना भी इस बात का प्रमाण है कि कुन्दकुन्द समन्तभद्र या भद्रबाहु-द्वितीय (दिगम्बर या श्वेताम्बर) के शिष्य नहीं थे, अपितु समन्तभद्र ही कुन्दकुन्द के परम्परा-शिष्य थे।

२.६. शिवार्य कुन्दकुन्द से परवर्ती

भगवती-आराधना के अध्याय में सोदाहरण दर्शाया गया है कि शिवार्य ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की हैं, तथा उनकी शैली का भी अनुकरण किया है, इससे सिद्ध है कि शिवार्य कुन्दकुन्द के बाद हुए हैं। इस कारण भी कुन्दकुन्द को शिवार्य (शिवभूति) के शिष्य (भद्रबाहु-द्वितीय) का शिष्य कहना असंगत है।

२.७. अनहोनी को होनी बनाने का अद्भुत कौशल

एक व्यक्ति एक ही समय में श्वेताम्बर (अचेलमुक्ति का निषेधक), बोटिक (प्रो० हीरालाल जी की मान्यतानुसार अपवादरूप से सचेलमुक्ति का समर्थक) तथा दिगम्बर (सचेलमुक्ति का निषेधक) तीनों नहीं हो सकता। एक व्यक्ति एक ही समय में छद्मस्थ और केवलज्ञानी दोनों नहीं हो सकता। और एक व्यक्ति ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी ई० तक जीवित नहीं रह सकता। किन्तु प्रो० हीरालाल जी ने इन अनहोनियों को होनी बनाने का अद्भुत कौशल दिखलाया है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित जिन शिवभूति को उन्होंने प्रथम शती ई० से पाँचवीं शती ई० तक श्वेताम्बर माना है, उन्हीं को प्रथम शती ई० में बोटिक भी मान लिया है, और उन्हीं को उसी शती में दिगम्बर भी स्वीकार कर लिया है, क्योंकि दिगम्बर कुन्दकुन्द ने उनकी प्रशंसा की है। और आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शिवभूति को केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला बतलाया है (भा.पा./गा.५३), किन्तु स्थविरावली-निर्दिष्ट शिवभूति तथा भगवती-आराधना के कर्ता शिवभूति केवलज्ञानी नहीं थे। फिर भी प्रोफेसर सा० ने इन सबको एक ही व्यक्ति मान लिया है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति को एक ही समय में छद्मस्थ और केवली दोनों बना दिया है। तथा दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली के अनुसार दिगम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय ई० पू० ५३ में आचार्यपद पर आसीन हुए थे, जबकि श्वेताम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्वकाल पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० है। इनको भी एक ही व्यक्ति मानकर एक मनुष्य को पंचमकाल में पाँच सौ वर्षों तक जीवित रहनेवाला सिद्ध कर दिया है। ऐसी घोर विसंगतियों से परिपूर्ण कपोलकल्पनाओं के द्वारा प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक और द्वितीय शताब्दी ई० का सिद्ध करने की चेष्टा की है। अतः उनका मत सर्वथा अप्रामाणिक एवं अग्राह्य है।

२. ८. जैन इतिहास का मनगढ़न्त अध्याय

मान्य प्रो० हीरालाल जी ने जैन इतिहास के जिस विलुप्त-अध्याय का पुनरनुसन्धान किया है, वह वास्तव में विलुप्त नहीं था। वस्तुतः वह जैन इतिहास है ही नहीं, अपितु एक मनगढ़न्त इतिहास को विलुप्त कहकर जैन इतिहास का अध्याय बतलाने की कोशिश की गई है।

यहाँ प्रश्न है कि उस इतिहास का आधार क्या है? किन साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से प्रोफेसर सा० ने ये विलुप्त तथ्य प्राप्त किये हैं? उन्होंने पूर्वोद्धृत 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक अपने लेख के "ये वक्तव्य तब तक पूर्णतः समझ में नहीं आते ---" इस अनुच्छेद में दी गयी यह जानकारी कहाँ से प्राप्त की, कि "कुन्दकुन्द आपवादिक सवस्त्र-मुनिलिंग एवं स्त्रीमुक्ति के समर्थक शिवार्य के प्रशिष्य और इसी मान्यतावाले भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य थे तथा कुन्दकुन्द भी आरम्भ में आपवादिक सवस्त्रमुनिलिंग से मुक्ति मानते थे, किन्तु आगे चलकर उन्होंने इसे अमान्य कर दिया?" उसी अनुच्छेद में व्यक्त यह जानकारी भी उन्हें कहाँ से मिली कि "उमास्वाति कुन्दकुन्द के समकालीन प्रतियोगी थे और वे कुन्दकुन्द के निरपवाद अचेलमार्ग से असहमत थे, फिर भी उन्होंने समझौते के लिए केवलिभुक्ति के प्रतिपादक, किन्तु सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति के विषय में मौन रहनेवाले तत्त्वार्थ-सूत्र की रचना की, इसके बावजूद भी समझौता न हो सका, तब कुन्दकुन्द के विरोधियों को उमास्वाति के नेतृत्व में संघ छोड़ना पड़ा और उन्होंने यापनीयसंघ की स्थापना की?"

ये सारी जानकारियाँ प्रो० हीरालाल जी जैन को किस ऐतिहासिक सामग्री से प्राप्त हुईं, इसका कोई उल्लेख उन्होंने अपने लेख में नहीं किया। वे कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख में इन बातों का संकेत नहीं मिलता। इससे सिद्ध है कि यह इतिहास का विलुप्त अध्याय नहीं, अपितु प्रोफेसर सा० के द्वारा अपने मन से गढ़ी हुई कहानी है। इसकी पुष्टि उनके "इस ग्रन्थ को उमास्वाति ने सम्भवतः समझौते के लिए प्रस्तुत किया, किन्तु कुन्दकुन्द और उनके सहयोगियों ने सम्भवतः उसी प्रयोजन से एक संघ की बैठक करके उसे अस्वीकार कर दिया," इस प्रकार की अनिश्चय-द्योतक भाषा के प्रयोग से होती है।

प्रश्न उठता है कि मुनि कल्याणविजय जी ने अपने ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर' में एवं प्रो० हीरालाल जी ने उपर्युक्त लेखों में यह झूठा इतिहास क्यों गढ़ा? मुनि कल्याणविजय जी के विषय में तो निःसंकोच उत्तर दिया जा सकता है कि वे श्वेताम्बर थे, इसलिए साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर उन्होंने ऐसा किया। किन्तु प्रो० हीरालाल

जी तो दिगम्बर थे, उनके बारे में निःसंकोच उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर लगता है कि उन्होंने अज्ञात कारणों से अपने श्वेताम्बर मित्रों को तुष्ट करने के लिए ऐसा किया है। यदि यह माना जाय कि दोनों सम्प्रदायों में एकत्व स्थापित करने के लिए ऐसा किया होगा, तो यह अत्यन्त भोलापन होगा, क्योंकि किसी सम्प्रदाय को अपने सिद्धान्तों की बलि देकर दूसरे के साथ समझौते के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता और उसका नतीजा भी प्रोफेसर सा० को दिगम्बर विद्वानों के घोर विरोध के रूप में तुरन्त दृष्टिगोचर हो गया।

अब प्रो० हीरालाल जी के पूर्वोक्त दो लेखों में व्यक्त मान्यताओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन करनेवाले तत्कालीन मूर्धन्य दिगम्बर विद्वानों के दो लेख यथावत् उद्धृत किये जा रहे हैं।

२.९. प्रथम लेख

शिवभूति शिवार्य और शिवकुमार ३००

लेखक : पं० परमानंद जी जैन शास्त्री, सरसावा

प्रो० हीरालाल जी जैन, एम० ए० (अमरावती) ने हाल में 'शिवभूति और शिवार्य' नाम का एक लेख प्रकाशित किया है और उससे यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि आवश्यक-मूलभाष्य और श्वे० स्थविरावली में बोटिकसंघ (दिगम्बर जैन सम्प्रदाय) के संस्थापक जिन 'शिवभूति' का उल्लेख है, वे कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत भावपाहुड की ५३वीं गाथा में उल्लिखित 'शिवभूति', भगवती-आराधना के कर्ता 'शिवार्य' और उक्त भावपाहुड की ५१ वीं गाथा में वर्णित 'शिवकुमार' से भिन्न नहीं हैं, चारों एक ही व्यक्ति हैं अथवा होने चाहिए। और इस एकता को मानकर अथवा इसके आधार पर ही आप 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नाम का वह लेख लिखने में प्रवृत्त हुए हैं, जिसे आपने अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन के १२वें अधिवेशन में बनारस में अँग्रेजी भाषा में पढ़ा था, जो बाद को हिन्दी में अनुवादित करके प्रकाशित किया गया और जो आजकल जैन समाज में चर्चा का विषय बना हुआ है। इस विषय में प्रोफेसर साहब के दोनों लेखों के निम्न वाक्य ध्यान में रखने योग्य हैं—

"आवश्यकमूलभाष्य की बहुधा उल्लिखित की जानेवाली कुछ गाथाओं के अनुसार बोटिकसंघ की स्थापना महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष के पश्चात् रहवीरपुर में शिवभूति के नायकत्व में हुई। बोटिकों को बहुधा दिगम्बरों से अभिन्न माना जाता है, अतः

३००. 'अनेकान्त' / वर्ष ७ / किरण १-२ / अगस्त-सितम्बर, १९४४ ई. में प्रकाशित / पृ. १७-२०।
तथा 'दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण' (द्वितीय अंश) में पृ. ९५-९८ पर उद्धृत।

श्वेताम्बर-पट्टावलियों में वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।”

“श्वेताम्बरों द्वारा सुरक्षित आचार्यों की पट्टावलियों में कल्पसूत्र-स्थविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इससे हमें फगुमित्त के उत्तराधिकारी धनगिरि के पश्चात् शिवभूति का उल्लेख मिलता है। ये ही शिवभूति मूलभाष्य में उल्लिखित शिवभूति से अभिन्न प्रतीत होते हैं।”

“कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भावपाहुड की गाथा ५३ में शिवभूति का उल्लेख बड़े सम्मान से किया है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माष की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए। प्रसंग पर ध्यान देने से यहाँ ऐसे ही मुनि से तात्पर्य प्रतीत होता है, जो द्रव्यलिङ्गी न होकर केवल भावलिङ्गी मुनि थे। ये शिवभूति अन्य कोई नहीं, वे ही स्थविरावली के शिवभूति और आराधना के कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये।”

“भावपाहुड की गाथा ५१ में शिवकुमार नामक भाव-श्रमण का उल्लेख है, जो युवतिजन से वेष्टित होते हुए भी विशुद्धमति रह, संसार से पार उतर गये। इसका जब हम भगवती-आराधना की ११०८ से १११६ तक की गाथाओं से मिलान करते हैं, जहाँ स्त्रियों और भोग-विलास में रहकर भी उनके विष से बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है, तो हमें यह भी सन्देह होने लगता है कि यहाँ भी कुन्दकुन्द का अभिप्राय इन्हीं शिवार्य से हो, तो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेश का उपचार से उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।” (प्रथम लेख : प्रो. ही. ला. जै.)।

“मैंने अपने ‘शिवभूति और शिवार्य’ शीर्षक लेख में मूलभाष्य में उल्लिखित बोटिक-संघ के संस्थापक शिवभूति को एक ओर कल्पसूत्र-स्थविरावली के आर्य शिवभूति और दूसरी ओर दिगम्बर ग्रन्थ ‘आराधना’ के कर्ता शिवार्य से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिससे उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्ति से अभिप्राय पाया जाता है, जो महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् प्रसिद्धि में आये। मूलभाष्य की जिन गाथाओं पर से मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था, उनमें की एक गाथा में शिवभूति की परम्परा में ‘कोडिन्न-कुट्टवीर’ का उल्लेख आया है। अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्य के उत्तराधिकारियों की खोज करना है।” (द्वितीय लेख : प्रो. ही. ला. जै.)।

अब मैं अपने पाठकों पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० साहब ने जिन दो शिवभूतियों शिवार्य और शिवकुमार को एक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह बहुत ही सदोष तथा आपत्ति के योग्य है। ये चारों एक व्यक्ति नहीं

थे और न किसी तरह एक व्यक्ति सिद्ध ही होते हैं, जैसा कि निम्न प्रमाणों से प्रकट है—

१. भावपाहुड की ५३ वीं गाथा में जिन शिवभूति का उल्लेख है, वे केवलज्ञानी थे, जैसा कि उस गाथा के 'केवलणाणी फुडं जाओ' इन शब्दों से स्पष्ट है। स्थविरावली के शिवभूति और भगवती-आराधना के शिवार्य दोनों ही केवलज्ञानी न होकर छद्मस्थ थे, जम्बूस्वामी के बाद कोई केवलज्ञानी हुआ भी नहीं। भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य स्वयं गाथा नं० २१६७ में अपने को छद्मस्थ लिखते हैं और प्रवचन के विरुद्ध यदि कुछ निबद्ध हो गया हो, तो गीतार्थों से उसके संशोधन की प्रार्थना भी करते हैं। यथा—

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु॥ २१६७॥

अतः ये तीनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते।

२. केवलज्ञानी को सर्वज्ञ न मानकर मात्र निर्मलज्ञानी मानने से भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि भावपाहुड की उक्त गाथा ५३ में तुसमासं घोसंतो पदों के द्वारा शिवभूति को बीजबुद्धि सूचित किया है और जो बीजबुद्धि होते हैं, वे एक पद के आधार पर सकलश्रुत को विचारकर उसे ग्रहण करते हैं^{३०९} तथा मोक्ष जाते हैं। चुनांचे आचार्य वीरसेन ने अपनी धवलाटीका में, 'वेदना' अपर नाम 'कम्मपयडि-पाहुड' के चौथे 'कम्म-अनुयोगद्वार' का वर्णन करते हुए, ध्यान-विषयक जो शंका-समाधान दिया है उसमें स्पष्टरूप से शिवभूति को बीजबुद्धि, ध्यान का पात्र और मोक्षगामी सूचित किया है, जैसा कि उसके निम्न अंश से प्रकट है—

“जदि णवपयत्थविसयणाणेणव ज्झाणस्स संभवो होइ, तो चोहसदसणवपुव्वधरे मोत्तूण अण्णेसिं पि ज्झाणं किण्ण संपज्जदे? चोहस-दस-णवपुव्वेहि विणा थोवेण वि गंथेण णवपयत्थावगमोवलंभादो? ण थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगंतुं बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णेसिमुवायाभावादो। जीवाजीवपुण्णपावआसवसंवरणिज्जराबंधमोक्खेहि णवहि पयत्थेहि वदिरित्तमण्णं ण किं पि अत्थि, अणुवलंभादो। तम्हा ण थोवेण सुदेण एदे अवगंतुं सक्किज्जंते, विरोहादो। ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्तविरोहादो। थोवदव्वसुदेण अवगयासेसणवपयत्थाणं सिवभूदि-आदिबीजबुद्धीणं ज्झाणाभावेण मोक्खाभावप्पसंगादो।” (धवला/ष.ख./पु.१३ / ५, ४, २६/पृ. ६४-६५)।

३०९. देखिए, तिलोपण्णत्ती ४/९७८-८६।

जब ये शिवभूति मोक्ष गये हैं और मोक्ष बिना केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की उत्पत्ति के नहीं बनता, तब वे मात्र निर्मलज्ञानी न कहे जाकर सर्वज्ञ ही कहे जायेंगे और यही भावपाहुड की गाथा ५३ में 'केवलाणी' पद से श्री कुन्दकुन्द को विवक्षित है। इसलिये स्थविरावली के शिवभूति तथा 'आराधना' के शिवार्य के साथ इनका एक व्यक्तित्व घटित नहीं हो सकता। वे दोनों न तो बीजबुद्धि थे और न मोक्ष ही गये हैं।

३. भावपाहुड की ५१ वीं गाथा में जिन शिवकुमार का उल्लेख है, उन्हें इसी गाथा में युवतिजन से वेष्टित, विशुद्धमति और भावश्रमण लिखा है, द्रव्यश्रमण नहीं, तथा 'परीतसंसारी' हुआ बतलाया है, और यह उन शिवकुमार का प्रसिद्ध पौराणिक अथवा ऐतिहासिक उल्लेख है, जो अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के पूर्व (तीसरे) भव के विदेहक्षेत्रस्थित महापद्म चक्रवर्ती के पुत्र थे, सागरचन्द्र मुनीन्द्र से अपने पूर्वभव श्रवण कर विरक्त हो गये थे और मुनि होते-होते पत्नियों के तीव्र अनुरोधवश घर में इस आश्वासन को पाकर रहे थे कि वे घर में रहते यथेप्सितरूप से उग्रतप तथा व्रतादिक का अनुष्ठान कर सकेंगे। चुनांचे मुनिवेष को न धारण करते हुए भी वे घर में भावापेक्षा मुनि के समान रहते थे, अपनी अनेक स्त्रियों से घिरे रह कर भी कमलपत्र की तरह निर्लिप्त, निर्विकार और अकामी रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते थे, जैसा कि जम्बूस्वामीचरित्र और उत्तरपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

एवमस्तु करिष्येऽहं यथा तात! मनीषितम् ॥ १५९ ॥

कुमारस्तद्दिनान्मूनं सर्वसङ्गपराङ् मुखः।
ब्रह्मचार्यैकवस्त्रोऽपि मुनिवत्तिष्ठते गृहे ॥ १६० ॥

अकामी कामिनां मध्ये स्थितो वारिजपत्रवत् ॥ १६० ॥ जम्बू. च.।

दिव्यस्त्रीसन्निधौ स्थित्वा सदाऽविकृतचेतसा।

तृणाय मन्यमानस्तास्तपो द्वादशवत्सरान् ॥ ७६/२०७ ॥

चरन्निव निशातासिधारायां सम्प्रवर्तयन्।

सन्यस्य जीवितप्रान्ते कल्पे ब्रह्मेन्द्रनामनि ॥ ७६/२०८ ॥ उ.प.।

अतः इन शिवकुमार को 'आराधना' के कर्ता शिवार्य मान लेना भूल से खाली नहीं है। और यह कल्पना तो बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है कि शिवार्य ने चूँकि स्त्रीजनों और विषयों के विष से बच निकलने का उपदेश दिया है, इसलिये श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने उपचार से उन्हीं को युवतिजनों से वेष्टित, विशुद्धमति मान लिया होगा और शिवकुमार नाम से उल्लिखित कर दिया होगा! परन्तु गाथा में शिवकुमार को

द्रव्यरूप से श्रमण न बतला कर केवल भावरूप से श्रमण बतलाया है और आराधना के कर्ता शिवार्य द्रव्यरूप से भी श्रमण थे, साथ ही, युवतिजनों से परिवेष्टित रहने का उनके साथ कोई प्रसंग भी नहीं था। ऐसी हालत में शिवकुमार को शिवार्य नहीं ठहराया जा सकता और न उक्त दोनों शिवभूतियों के साथ उसका एक व्यक्तित्व ही स्थापित किया जा सकता है। स्थविरावली के शिवभूति की गुरुपरम्परा भी शिवार्य की गुरुपरम्परा से नहीं मिलती। शिवार्य ने 'आराधना' में अपने गुरुओं का नाम आर्य जिननन्दी, सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दी दिया है, जबकि स्थविरावली में शिवभूति को धनगिरि का शिष्य और धनगिरि को फग्गुमित्त का उत्तराधिकारी प्रकट किया है। ऐसी स्थिति में कुन्दकुन्दाचार्य को भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य से बाद का विद्वान् सिद्ध करने का यह सब प्रयत्न ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस तरह प्रो० सा० ने जिन आधारों पर, जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे सदोष जान पड़ते हैं, और इसलिये उन निष्कर्षों की बुनियाद पर जैन इतिहास के एक विलुप्त अध्याय की इमारत खड़ी करते हुए शिवार्य के उत्तराधिकारियों की जो खोज प्रस्तुत की गई है, वह कैसे निर्दोष हो सकती है? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यही कारण है कि आप की उस सदोष खोज का प्रबल विरोध हो रहा है, जिसका एक ज्वलंत उदाहरण 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' इस शीर्षक का लेख है, जिसमें आप की इस मान्यता का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया गया है कि श्वेताम्बर निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसादि के कर्ता स्वामी समन्तभद्र एक हैं। (लेख समाप्त)।

२.१०. द्वितीय लेख

क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं^{३०२}

लेखक : न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी जैन कोठिया

हाल में श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी जैन, एम० ए०, अमरावती ने 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नाम का निबन्ध लिखा है, जो गत जनवरी मास में बनारस में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन के १२ वें अधिवेशन पर अँग्रेजी में पढ़ा गया और जिसे बाद को आपने स्वयं हिन्दी में अनुवादित करके एक अलग

३०२. क—'अनेकान्त' वर्ष ६ / किरण १०-११ जून १९४४ में प्रकाशित तथा 'दिग्म्बर जैन सिद्धान्त दर्पण' (द्वितीय अंश) में पृष्ठ ६१-७२ पर उद्धृत।

ख—माननीय कोठिया जी के इस लेख में क्रमांक २.१०.१ से लेकर क्रमांक २.१०.३ तक के शीर्षकों का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने किया है।

ट्रैक्ट के रूप में प्रकाशित किया है। इस निबन्ध में खोजपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये, और जो सभी विचारणीय हैं, उनमें एक निष्कर्ष यह भी है कि श्वेताम्बर-आगमों की १० निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु-द्वितीय और आप्तमीमांसा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न-भिन्न नहीं, और यही मेरे आज के इस लेख का विचारणीय विषय है। इस निष्कर्ष का प्रधान आधार है, श्रवणबेलगोल के प्रथम शिलालेख में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करनेवाले भद्रबाहु-द्वितीय के लिये 'स्वामी' उपाधि का प्रयोग, और उधर समन्तभद्र के लिये अनेक आचार्य-वाक्यों द्वारा 'स्वामी' पदवी का रूढ़ होना। चुनांचे प्रोफेसर साहब लिखते हैं—

“दूसरा (द्वितीय-भद्रबाहु द्वारा द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी के अतिरिक्त)^{३०३} महत्त्वपूर्ण संकेत इस शिलालेख से यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि 'स्वामी' थी, जो कि साहित्य में प्रायः एकान्ततः समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े-बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द^{३०४} और वादिराज^{३०५} सूरि ने तो उनका उल्लेख, नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधि से ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे, जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि से उनके पाठक केवल समन्तभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देहरूप से सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु-द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।”

२.१०.१. 'स्वामी' उपाधि का प्रयोग पात्रकेसरी आदि के लिए भी

यह आधार-प्रमाण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समन्तभद्र के एक होने की गारंटी नहीं है। दो व्यक्ति होकर भी दोनों 'स्वामी' उपाधि से भूषित हो सकते हैं। एम० ए० उपाधिधारी अनेक हो सकते हैं। 'व्याकरणाचार्य' भी एकाधिक मिल सकते हैं। 'प्रेमी' और 'शशि' भी अनेक व्यक्तियों की उपाधि या नाम देखे जाते हैं। फिर भी इनसे अपने-अपने प्रसंग पर अमुक-अमुक का ही बोध होता है। अतः किसी प्रसंग में यदि विद्यानन्द और वादिराज ने मात्र 'स्वामी' पद का प्रयोग किया है और उससे उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं, तो इससे भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये? दूसरी बात यह है कि विद्यानन्द ने जहाँ भी 'स्वामी' पद का प्रयोग समन्तभद्र के लिये किया है, वहाँ आप्तमीमांसा (देवागम) का स्पष्ट

३०३. यह ब्रैकेट के भीतर का आशय-वाक्य लेखक का है।

३०४. 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितप्रथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।' आप्तपरीक्षा।

३०५. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्शयते ॥ पार्श्वनाथचरित।

सम्बन्ध है। आप्तपरीक्षा के स्वामिमीमांसितं तत् उल्लेख में स्पष्टतः मीमांसित शब्द का प्रयोग है, जिससे उनके विज्ञ पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते और तुरन्त जान सकते हैं कि आप्त की मीमांसा स्वामी ने—समन्तभद्र ने की है, उन्हीं का विद्यानन्द ने उल्लेख किया है। इसी तरह वादिराज सूरि के स्वामिनश्चरितं उल्लेख में भी देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते इन आगे के वाक्यों द्वारा 'देवागम' (आप्तमीमांसा) का स्पष्ट निर्देश है, अतः यहाँ भी उनके पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते, श्लोक के पूर्वार्ध में प्रयुक्त 'स्वामी' पद से फौरन देवागम के कर्ता समन्तभद्र का ज्ञान कर लेंगे।

तीसरी बात यह है कि 'साहित्य में एकान्ततः' स्वामी पद का प्रयोग समन्तभद्र के लिये ही नहीं हुआ है, विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अकलंकदेव ने पात्रकेसरी-स्वामी या सीमंधर-स्वामी के लिये भी उसका प्रयोग किया है।^{३०६} श्वेताम्बर-साहित्य में सुधर्म-गणधर के लिये स्वामी पद का बहुत कुछ प्रयोग पाया जाता है। और भी कितने ही आचार्य स्वामी पद के साथ उल्लिखित मिलते हैं। स्वयं प्रोफेसर साहब ने आवश्यकसूत्रचूर्ण और श्वेताम्बरपट्टावली में उल्लिखित 'वज्रस्वामी' नाम के एक आचार्य का उल्लेख किया है और उन्हें भी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण को विहार करनेवाला लिखा है। यदि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करके दक्षिण को विहार करने और स्वामी नामक उपाधि के कारण वज्रस्वामी भी भद्रबाहु-द्वितीय और समन्तभद्र से भिन्न व्यक्ति नहीं हैं, तो फिर इन वज्रस्वामी की तीसरी पीढ़ी में होनेवाले उन समन्तभद्र का क्या बनेगा, जिन्हें प्रो० साहब ने पट्टावली के कथन पर आपत्ति न करके वज्रस्वामी का प्रपौत्र-शिष्य स्वीकार किया है और समन्तभद्र तथा सामन्तभद्र को एक भी बतलाया है? क्या प्रपितामह (पड़बाबा) और प्रपौत्र (पड़पोता) भी एक हो सकते हैं? अथवा क्या प्रपौत्र की भविष्यवाणी पर ही प्रपितामह ने दक्षिण देश को विहार किया था? इस पर प्रोफेसर सा० ने शायद ध्यान नहीं दिया। अस्तु, यदि वज्रस्वामी भद्रबाहु-द्वितीय और समन्तभद्र से भिन्न हैं और स्वामी पद का प्रयोग पात्रकेसरी जैसे दूसरे आचार्यों के लिये भी होता रहा है, तो स्वामी उपाधि का 'एकान्ततः समन्तभद्र के लिये ही' प्रयुक्त होना अव्यभिचरित तथा अभ्रान्त नहीं कहा जा सकता और इसलिये 'स्वामी' उपाधि के आधार पर भद्रबाहु-द्वितीय और समन्तभद्र को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से सिद्धि का प्रयत्न बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है।

इसमें सन्देह नहीं कि एक नाम के अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं और अनेक नामों-वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसी बुनियाद पर समन्तभद्र के भी अनेक नाम हो सकते हैं और समन्तभद्र नाम के अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं। परन्तु, यहाँ

३०६. देखिए, सिद्धिविनिश्चय का 'हेतुलक्षणसिद्धि' नाम का छठा प्रस्ताव, लिखित प्रति, पृ. ३००।

प्रस्तुत विचार यह है कि आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र और दश निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु-द्वितीय क्या अभिन्न हैं, एक ही व्यक्ति हैं? इसका ठीक निर्णय हम जितना अधिक इन दोनों ही आचार्यों के साहित्य के आभ्यन्तर परीक्षण द्वारा कर सकते हैं, उतना दूसरे भिन्न-कालीन उल्लेख-वाक्यों, बाह्य-साधनों अथवा घटनाओं की कल्पना पर से नहीं कर सकते। इसी को न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी के शब्दों में यों कह सकते हैं कि “दूसरे समकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिक परीक्षण को अधिक महत्त्व देना सत्य के अधिक निकट पहुँचने का प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनों का उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है तथा लोग करते भी हैं।”^{१३०७}

२.१०.२ निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र में सैद्धान्तिक मतभेद

अतः इस निर्णय के लिये भद्रबाहु-द्वितीय की निर्युक्तियों और स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसादि कृतियों का अन्तःपरीक्षण होना आवश्यक है। समन्तभद्र की कृतियों में प्रोफेसर साहब रत्नकरण्डश्रावकाचार को नहीं मानते, परन्तु मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जी के पत्र के उत्तर में उन्होंने आप्तमीमांसा के साथ युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र को भी समन्तभद्र की कृतिरूप से स्वीकार कर लिया है। ऐसी हालत में समन्तभद्र के इन तीनों ग्रन्थों के साथ निर्युक्तियों^{३०८} का अन्तःपरीक्षण करके मैंने जो कुछ अनुसन्धान एवं निर्णय किया है, उसे मैं यहाँ पाठकों के सामने रखता हूँ, जिससे पाठक और मान्य प्रो० साहब इन दोनों आचार्यों का अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विभिन्न-समयवर्तित्व सहज में ही जान सकेंगे कि दोनों ही आचार्य भिन्न-भिन्न परम्पराओं में हुए हैं—

२.१०.२.१. क्रमवाद और युगपद्वाद—निर्युक्तिकार भद्रबाहु केवली भगवान् के केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् (एक साथ) सद्भाव नहीं मानते, कहते हैं कि केवली के केवलदर्शन होने पर केवलज्ञान और केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते, जैसा कि उनकी आवश्यकनिर्युक्ति की निम्न गाथा (नं० ९७९) से स्पष्ट है—

३०७. देखिए, अकलंक-ग्रन्थत्रय की प्रस्तावना / पृ. १४।

३०८. “भद्रबाहुकर्तृक दश निर्युक्तियाँ प्रसिद्ध हैं और ये श्वेताम्बर-परम्परा में प्रसिद्ध आचारंगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकसूत्र आदि आगमसूत्रों पर लिखी गई हैं। उनमें से सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति और ऋषिभाषित-निर्युक्ति अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति वीर सेवामन्दिर में नहीं हैं। बाकी ६ निर्युक्तियों का ही अन्तःपरीक्षण किया गया है।” लेखक।

नाणांमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयमि उवजुत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा^{३०९} जुगवं दो नत्थि उवओगा॥

इसमें कहा गया है कि 'सभी केवलियों के, चाहे वे तीर्थंकर केवली हों या सामान्य केवली, ज्ञान और दर्शन में से कोई एक ही उपयोग एक ही समय में होता है। दो उपयोग एक साथ नहीं होते।'

आवश्यकनिर्युक्ति की यथाप्रकरण और यथास्थान पर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है और कितनी ही उलझनों को सुलझाती है। इसमें तीन बातें प्रकाश में आती हैं—एक तो यह कि भद्रबाहु-द्वितीय केवली को ज्ञान और दर्शन उपयोग में से किसी एक में ही एक समय में उपयुक्त बतला कर क्रमपक्ष का सर्वप्रथम समर्थन एवं प्रस्थापन करते हैं। और इसलिए वे ही क्रमपक्ष के प्रस्थापक^{३१०} एवं प्रधान पुरस्कर्ता^{३११} हैं। दूसरी बात यह कि भद्रबाहु के पहिले एक ही मान्यता थी और वह प्रधानतया युगपत्-पक्ष की मान्यता थी, जो दिगम्बरपरम्परा के भूतबलि, कुन्दकुन्द आदि प्राचीन आचार्यों के वाङ्मय में और श्वेताम्बर भगवतीसूत्र (५/४) तथा तत्त्वार्थभाष्य (१/३१) में उपलब्ध है और जिसका कि उन्होंने (भद्रबाहु ने) इसी गाथा के उत्तरार्ध में 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' कहकर खंडन किया है। और तीसरी बात यह कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु के पहिले या उनके समय में केवली के उपयोगद्वय का अभेदपक्ष नहीं था। अन्यथा क्रमपक्ष के समर्थन एवं स्थापन और युगपत्-पक्ष के खण्डन के साथ ही साथ अभेदपक्ष का भी वे अवश्य खण्डन करते। अतः अभेदपक्ष उनके पीछे प्रस्थापित हुआ फलित होता है और जिसके प्रस्थापक सिद्धसेन दिवाकर हुए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि सिद्धसेन क्रमपक्ष और युगपत्पक्ष दोनों का सन्मत्तिसूत्र में जोरों से खण्डन करते हैं और अभेदवाद को प्रस्थापित करते हैं।^{३१२} हमारे इस कथन में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण की विशेषणचतीगत वे दोनों गाथाएँ^{३१३} भी सहायक

३०९. 'केवलिस्स वि' पाठान्तरम्।

३१०. "यदि प्रज्ञापनासूत्र पद ३०, सूत्र १३४ को क्रमपक्षपरक माना जाये, तो सूत्रकार क्रमपक्ष के प्रस्थापक और निर्युक्तिकार भद्रबाहु उसके सर्वप्रथम समर्थक माने जायेंगे।" लेखक।

३११. "आचार्य हरिभद्र, अभयदेव और उपाध्याय यशोविजय ने क्रमपक्ष का पुरस्कर्ता जिन-भद्रगणि-क्षमाश्रमण को बतलाया है, पर जिनभद्रगणी जब स्वयं 'अण्णे' कहकर क्रमपक्ष के मानने-वाले अपने किसी पूर्ववर्ती का उल्लेख करते हैं (देखिए, विशेषणवती, गाथा १८४), तब वे स्वयं क्रमपक्ष के पुरस्कर्ता कैसे हो सकते हैं?" लेखक।

३१२. देखिए, सन्मत्तिसूत्र २/४ से २/३१ तक।

३१३. केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ व केवली णियमा।

अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥

अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिदस्स।

जं चि य केवलणाणं तं चि य से दरिसणं विति ॥ १८५ ॥ विशेषणवती।

होती हैं, जिनमें 'केई' शब्द के द्वारा सर्वप्रथम युगपत्पक्ष का और 'अण्णे' शब्द के द्वारा पश्चात् क्रमपक्ष और अन्त में दूसरे 'अण्णे' शब्द से अभिन्नपक्ष का उल्लेख किया है, जो उपयोगवाद के विकासक्रम को ला देता है और उमास्वाति, निर्युक्तिकार भद्रबाहु तथा सिद्धसेन दिवाकर के समय का भी ठीक निर्णय करने में खास सहायता करता है।

यहाँ एक बात और खास ध्यान देने योग्य है और वह यह कि दिगम्बरपरम्परा में अकलंक के पहिले किसी दिगम्बर आचार्य ने क्रमपक्ष या अभेदपक्ष का खण्डन नहीं किया, केवल युगपत्पक्ष का ही निर्देश किया है।^{३१४} पूज्यपाद के बाद अकलंक ही एक ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इतर पक्षों—क्रमपक्ष^{३१५} और अभेदपक्ष^{३१६} का स्पष्टतया खंडन किया और युगपत्पक्ष का सयुक्तिक समर्थन किया है।^{३१७} इससे यह फलित होता है कि पूज्यपाद के बाद और अकलंक के पहले क्रमपक्ष और अभेदपक्ष पैदा हुये तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु और जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण तथा अकलंक का मध्यकाल अभेदपक्ष के स्थापन और इसके प्रतिष्ठाता (सिद्धसेन) का होना चाहिये।^{३१८} इसका स्पष्ट खुलासा इस प्रकार है—

श्वेताम्बरपरम्परा में केवली के केवलज्ञान और केवलदर्शनोपयोग के सम्बन्ध में तीन पक्ष हैं—१. क्रमपक्ष, २. युगपत्पक्ष और ३. अभेदपक्ष। कुछ आचार्य ऐसे हैं जो केवली के ज्ञान और दर्शनोपयोग को क्रमिक मानते हैं और कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों को अभिन्न (एक) मानते हैं।^{३१९} किन्तु दिगम्बरसम्प्रदाय में केवल एक ही पक्ष है और वह है यौगपद्य का।

आचार्य भूतबलि के षट्खण्डागम से लेकर अब तक के उपलब्ध समस्त दिगम्बर वाङ्मय में यौगपद्य-पक्ष ही एक स्वर से स्वीकार किया गया है,^{३२०} प्रत्युत अकलंकदेव

३१४. इस बात को श्वेताम्बर विद्वान् श्रद्धेय पण्डित सुखलाल जी भी स्वीकार करते हैं। देखिए,

'ज्ञानबिन्दु' प्रस्ता./पृ. ५५।

३१५. देखिए, अष्टशती/कारिका १०१ की वृत्ति और तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/१३/८।

३१६. देखिए, तत्त्वार्थराजवार्तिक १०/१४-१६।

३१७. देखिए, वही ६/१०/१२।

३१८. "श्रद्धेय पं० सुखलाल जी ने जो सिद्धसेन से भी पहले अभेदपक्ष की सम्भावना की है (ज्ञानबिन्दु / प्रस्ता./पृ.६०) वह विचारणीय है, क्योंकि उसमें कितनी ही आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं।" लेखक।

३१९. देखिए, फुटनोट ३१३ में उल्लिखित विशेषणवती की १८४, १८५ नम्बर की गाथाएँ।

३२०. यथा—

क— "सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी स --- सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि।" षट्खण्डागम/पु.१३/५,५,८२/पृ.३४६।

ने तो क्रमपक्ष^{३२१} और अभेदपक्ष^{३२२} का खण्डन भी किया है और युगपत्पक्ष को मान्य रखा है। इतना ही नहीं, किन्तु क्रमपक्ष माननेवालों को केवल्यवर्णवादी तक कहा है।^{३२३}

इतना प्रासङ्गिक कहने के बाद अब मैं निर्युक्तिकार भद्रबाहु की उपर्युक्त गाथा से विरोध प्रकट करनेवाले समन्तभद्र के आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्र-गत उन वाक्यों को रखता हूँ, जिनमें केवली के ज्ञान और दर्शन उपयोग के यौगपद्य का कथन किया है—

“तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।” आप्तमीमांसा/१०१।

“नाथ युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ।”

स्वयम्भूस्तोत्र/१२९।

ख— जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।

दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥ १६० ॥ नियमसार

ग— पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।

तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥ २१३५ ॥

भावे सगविसयत्थे सूरु जुगवं जहा पयासेइ।

सव्वं वि तथा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥ २१३६ ॥ भगवती-आराधना।

घ— “साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छब्दस्थेषु क्रमेण वर्तते, निरावरणेषु युगपत्।”
सर्वार्थसिद्धि / २/९।

ङ— “जानन् पश्यन् समस्तं सममनुपरतम्।” पूज्यपाद-सिद्धभक्ति / ४।

च— “आवरणात्यन्तसंक्षये केवलनि युगपत्केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं भास्करे प्रताप-
प्रकाश-साहचर्यवत्।” तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/१०/१२।

छ— दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।

जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ ४४ ॥ द्रव्यसंग्रह।

३२१. “तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्।” अष्टशती / कारिका १०१।

३२२. “तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तम्? तन्न, किं कारणं? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः। तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानम्। किंच तद्वत्प्रवृत्तेः। यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते? किंच विकल्पात्।--- इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम्।” तत्त्वार्थराजवार्तिक / ६ / १० / १४-१६।

३२३. “कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः।” वही / ६ / १३ / ८।

इन दोनों जगह स्पष्टतया कहा गया है कि “हे जिनेन्द्र! आपका ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।” “आपने समस्त चराचर जगत् को हस्तामलकवत् (हाथ में रक्खे हुए आँवले की तरह) युगपत्—(एक साथ) जाना है और यह जानना आपका सदा अर्थात् नित्य और निरन्तर है। ऐसा कोई भी समय नहीं, जब आप सब पदार्थों को युगपत् न जानते हों।”

पाठक देखेंगे कि यहाँ समन्तभद्र ने युगपत्पक्ष का जोरों से समर्थन किया है। उनके युगपत्, अखिलं च सदा और तलामलकवत् सब ही पद सार्थक और खास महत्त्व के हैं। उनका युगपत्पक्ष का समर्थन करनेवाला ‘सदा’ शब्द तो खास तौर से ध्यान देने योग्य है, जो प्रकृत विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि से और ऐतिहासिक दृष्टि से अपना खास महत्त्व रखता है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह स्पष्टतया केवली के क्रमिक ज्ञान-दर्शन का विरोध करता है और यौगपद्यवाद का प्रबल समर्थन करता है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन की क्रमिक दशा में ज्ञान के समय दर्शन और दर्शन के समय ज्ञान नहीं रहेगा। और इसलिये कोई भी ज्ञान सदाकालीन शाश्वत नहीं बन सकेगा। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी ने भी ‘ज्ञान-बिन्दु’ की प्रस्तावना (पृ० ५५) में केवल आप्तमीमांसा के उक्त उल्लेख के आधार पर समन्तभद्र को एकमात्र यौगपद्यपक्ष का समर्थक बतलाया है। इस मान्यताभेद से निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र में सहज ही पार्थक्य स्थापित हो जाता है। यदि भद्रबाहु और समन्तभद्र एक होते तो निर्युक्ति में क्रमवाद का स्थापन और युगपदवाद का खण्डन तथा आप्तमीमांसा में युगपदवाद का कथन और फलितरूपेण क्रमिकवाद का खण्डन दृष्टिगोचर न होता।

अतः स्पष्ट है कि समन्तभद्र और निर्युक्तिकार भद्रबाहु अभिन्न नहीं हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

२.१०.२.२. तीर्थकरों की सवस्त्र प्रव्रज्या और निर्वस्त्र प्रव्रज्या—निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने श्वेताम्बरीय आगमों की मान्यतानुसार चौबीसों तीर्थकरों को एक वस्त्र से प्रव्रजित होना माना है, जैसा कि उनकी निम्न गाथा से स्पष्ट है—

सव्वेऽपि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं।

न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा ॥ २२७ ॥ आव.निर्यु.।

इस गाथा में बतलाया गया है कि सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थकर एक दूष्य (एक वस्त्र) के साथ दीक्षित हुए।

यहाँ भद्रबाहु तीर्थकरों के भी एक वस्त्ररूप उपधि^{३२४} रखने का उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओं की तो बात ही क्या। पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या कहते हैं, इसे भी पाठक देखें—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन च विकृतवेषोपधिरतः॥ ११९॥ स्व.स्तो।

यहाँ कहा गया है कि “हे नमि जिन! प्राणियों की अहिंसा (उनका घात नहीं करना प्रत्युत उनकी रक्षा करना) लोकविदित परमब्रह्म है (अहिंसा सर्वोत्कृष्ट आत्मा अर्थात् परमात्मा है)। वह अहिंसा उस साधुवर्ग में कदापि नहीं बन सकती है, जहाँ अणुमात्र भी आरंभ है। इसीलिए हे परम कारुणिक! आपने उस परमब्रह्म-स्वरूप अहिंसा की सिद्धि के लिये उभय प्रकार के ग्रन्थ का (परिग्रह का) त्याग किया और विकृत वेष-अस्वाभाविक वेष (भस्माच्छदनादि रूप में) तथा उपधि (वस्त्र या आभरणादि) में आसक्त नहीं हुए।”

जहाँ भद्रबाहु निर्युक्ति में तीर्थकरों के उभय परिग्रह को छोड़ देने पर भी उनके पीछे एक वस्त्र रखने का सुस्पष्ट विधान करते हैं, वहाँ समन्तभद्र उभय परिग्रह के छोड़ देने और अणुमात्र भी आरंभ का काम न रखने की व्यवस्था करते हैं। साथ ही नग्नवेष के विरुद्ध वस्त्रादि धारण को विकृतवेष और उपधि^{३२५} का धारण बतलाकर उसका निषेध करते हैं और उनकी यह मान्यता स्वयंभूस्तोत्र के ही निम्नवाक्य से और भी स्पष्ट हो जाती है—

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधिर-हितं शान्तकरणं
यतस्ते संचष्टे स्मर-शर-विषातङ्क-विजयम्।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः॥ १२०॥ स्व.स्तो।

३२४. यहाँ आ. हरिभद्र की टीका द्रष्टव्य है—“सर्वेऽपि एकदृष्टेण एकवस्त्रेण निर्गताः जिन-वराश्चतुर्विंशतिः— किं पुनः तन्मतानुसारिणो न सोपधयः? ततश्च य उपधिरासेवितो भगवद्भिः स साक्षादेवोक्तः य पुनर्विनयेभ्यः स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः स खलु अपि शब्दात् ज्ञेय इति।” आवश्यकनिर्युक्ति / गा.२२७।

३२५. भद्रबाहु को भी ‘उपधि’ का अर्थ वस्त्र विवक्षित है। यथा—“अप्पत्तेच्चिय वासं सव्वं उवहि धुवंति जयणाए।” पिंडनिर्युक्ति / २६।

“पत्ते धोवण काले उवहिं वीसामए साहू।” पिंडनिर्युक्ति / १८।

“वाससु अधोवणे दोसा।” पिंडनिर्युक्ति / २५।

इसमें नमिजिन की स्तुति करते हुए बतलाया है कि “हे भगवन्! आपका शरीर भूषा—आभूषण, वेष (भस्माच्छादनादि लिङ्ग) और व्यवधि (वस्त्र) से रहित है और वह इस बात का सूचक है कि आपकी समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो चुकी हैं अथवा इसीलिये वह शान्ति का कर्ता है। लोग आपके इस स्वाभाविक शरीर के यथाजात नग्नरूप को देखकर न तो वासनामय रागभाव को प्राप्त होते हैं और न आपके शरीर पर आभूषणादि के अभाव को देखकर द्विष्ट, लुभित अथवा खिन्न ही होते हैं। क्योंकि द्वेष-लोभादि के कारणभूत आभरणादि हैं। अतः वे आपके इस निर्मम आडंबरादि-विहीन शरीर को देखकर आपसे ‘वीतरागमय’ शान्ति को प्राप्त करते हैं। और आप का यह वस्त्रादिहीन शरीर कठोर अस्त्र-शस्त्रों के बिना ही कामदेव पर किये गये पूर्ण विजय को और निर्दयी क्रोध के अभाव को भी भले प्रकार प्रकट करता है।”

यहाँ वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं और स्मरशरविषातङ्कविजयं ये दो पद खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं, जो बतलाते हैं कि जिनेन्द्र का वस्त्रादि से अनाच्छादित अर्थात् नग्न शरीर है और वह कामदेव पर किये गये विजय को घोषित करता है। अनग्न शरीर से कामदेव पर प्राप्त विजय प्रायः प्रकट नहीं हो सकती। वहाँ विकार (लिङ्गस्पन्दनादि) छिपा हुआ रह सकता है और विकारहेतु मिलने पर उसमें विकृति (ब्रह्मस्खलन) पैदा होने की पूरी सम्भावना है। चुनांचे भूषादिहीन जिनेन्द्र का शरीर इस बात का प्रतीक है कि वहाँ कामरूप मोह नहीं रहा, इसीलिये समन्तभद्र ने ‘ततस्त्वं निर्मोहः’ शब्दों के द्वारा जिनेन्द्र को ‘निर्मोह’ कहा है। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रों को वस्त्रादिरहित बतलाते हैं और भद्रबाहु उनके एक वस्त्र के रखने का उल्लेख करते हैं, जो श्वेताम्बरीय आचारांग आदि सूत्रों के अनुकूल है। इतना ही नहीं, पिंडनिर्युक्ति में ‘परसेय --- चीरधोवणं चव’ (गा.२३) शब्दों द्वारा वस्त्र प्रक्षालन का विधान, उसके वर्षाकाल को छोड़कर शेषकाल में धोने के दोष और ‘वासासु अधोवणे दोसा’ (पिं० नि० २५) शब्दों द्वारा अप्रक्षालन में दोष भी बतलाते हैं। क्या यह भी समन्तभद्र को विवक्षित है? यदि हाँ, तो उन्होंने जो यह प्रतिपादन किया है कि ‘जिस साधुवर्ग में अल्प भी आरम्भ होगा, वहाँ अहिंसा का कदापि पूर्ण पालन निर्वाह नहीं हो सकता, अहिंसारूप परमब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है’ (न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ), तब इसके क्या मायने हैं? क्या उनके उक्त कथन का कुछ भी महत्त्व नहीं है और उनके अणु, अपि शब्दों का प्रयोग क्या यों ही है? किन्तु ऐसा नहीं है, इस बात को उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति स्पष्ट बतलाती है। अन्यथा ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं यह न कहते। इस मान्यताभेद से भी समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हो सकते। वे वास्तव में भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और जुदी-जुदी दो परम्पराओं में हुए हैं।

२.१०.२.३. आभूषणों से जिनेन्द्रपूजा का विधान एवं निषेध—भद्रबाहु ने सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति (गा. ८४) में स्तुतिनिक्षेप के चार भेद करके आगन्तुक (ऊपर से परिचारित) आभूषणों के द्वारा जिनेन्द्र की स्तुति करने को द्रव्यस्तुति कहा है—

शुद्धिगव्खेवो चउहा आगंतुअभूषणेहिं दव्वथुई।
भावे संताण गुणाण कित्तणा जे जहिं भणिया ॥ ८४ ॥

यहाँ तीर्थकरदेव के शरीर पर आभूषणों का विधान किया है और कहा गया है कि जो आगन्तुक भूषणों से स्तुति की जाती है वह द्रव्यस्तुति है और विद्यमान कथायोग्य गुणों का कीर्तन करना भावस्तुति है। लेकिन समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्र में इससे विरुद्ध ही कहते हैं और तीर्थङ्कर के शरीर की आभूषण, वेष और उपधि-रहित-रूप से ही स्तुति करते हैं, जैसा कि पूर्वोल्लिखित वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं वाक्य से स्पष्ट है। इसी स्वयंभूस्तोत्र में एक दूसरी जगह भी तीर्थकरों की आभूषणादि-रहित-रूप से ही स्तुति की गई है और उनके रूप को भूषणादि-हीन प्रकट किया है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥ ९४ ॥

इसमें बतलाया है कि “बाह्य में आभूषणों, वेषों तथा आयुधों (अस्त्र-शस्त्रों) से रहित और आभ्यन्तर में विद्या तथा इन्द्रियनिग्रह में तत्पर आपका रूप ही आपके निर्दोषपने को जाहिर करता है। जो बाह्य में भूषणों, वेषों, और आयुधों से सहित हैं और आभ्यन्तर में ज्ञान तथा इन्द्रिय निग्रह में तत्पर नहीं हैं, वे अवश्य सदोष हैं।”

यहाँ समन्तभद्र शरीर पर के भूषणादि को स्पष्टतया दोष बतला रहे हैं और उनसे विरहित शरीर को ही ‘दोषों का विनिग्रहकर्ता’, दोष-विजयी (निर्दोष) ठहराते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन भद्रबाहु, अपनी परम्परानुसार भूषणों के द्वारा उनकी स्तुति करना बतलाते हैं और उनके शरीर पर भूषणों का सद्भाव मानते हैं। यह मतभेद भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वयंभूस्तोत्र के कर्ता स्वामी समन्तभद्र के एक व्यक्ति होने में बाधक है।

२.१०.२.४. मुनि को कम्बलदान का विधान एवं निषेध—भद्रबाहु, मुनि को ‘कंबल’-रूप उपधि का दान करने का विधान करते हैं और उससे उसी भव से मोक्ष जाने का उल्लेख करते हैं। देखिये, आवश्यकनिर्युक्ति की यह गाथा—

तिल्लं तेगिच्छसुओ कंबलगं चंदणं च वाणियओ।
दाउं अभिणिव्खंतो तेणेव भवेण अंतगओ ॥ १७४ ॥

जब कि समन्तभद्र, मुनि को उभय ग्रन्थ का त्यागी होना अनिवार्य और आवश्यक बतलाते हैं, उस के बिना 'समाधि'—आत्मध्यान नहीं बन सकता है, क्योंकि पास में कोई ग्रन्थ होगा तो उसके संरक्षणादि में चित्त लगा रहने से आत्मध्यान की ओर मनोयोग नहीं हो सकता। इसीलिये वे कहते हैं कि—

समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥ १६ ॥ स्व.स्तो.।

अर्थात् हे जिनेन्द्र! आप आत्मध्यान में लीन हैं और उस आत्मध्यान की प्राप्ति के लिये ही बाह्य और आन्तर दोनों निर्ग्रन्थता-गुणों से युक्त हुए हैं।

२.१०.२.५. केवली के द्वारा तीर्थंकर को प्रणाम का विधान एवं निषेध—
निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि केवली तीर्थंकर को प्रणाम करते हैं और तीन प्रदक्षिणा देते हैं—

केवलिणो तिउण जिणा तित्थपणामं च मग्गओ तस्स ॥ ५५९ ॥ आव.निर्यु.।

निर्युक्तिकार के सामने जब प्रश्न आया कि केवली तो कृतकृत्य हो चुके, वे क्यों तीर्थंकर को प्रणाम और प्रदक्षिणा देंगे? तो वे इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं—

तप्पुव्विया अरहया पूदुयपूता य विणयकम्मं च।

कयकिच्चो वि जह कहं कहए णमए तहा तित्थं ॥ ५६० ॥ आव.निर्यु.।

लेकिन समन्तभद्र ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं कि जो हितैषी हैं (अपना हित चाहते हैं), अभी जिनका पूरा हित सम्पन्न नहीं हुआ है और इसलिए जो अकृतकृत्य हैं, वे ही तीर्थंकर की स्तुति, वंदना, प्रणाम आदि करते हैं—

१. भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः। स्वयम्भूस्तोत्र / ६५।

२. स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः। स्वयम्भूस्तोत्र / ८५।

३. स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः। स्वयम्भूस्तोत्र / १२४।

ऐसी दशा में समन्तभद्र और भद्रबाहु दोनों एक नहीं हो सकते।

२.१०.२.६. पार्श्वनाथ पर उपसर्ग अमान्य एवं मान्य—भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति में वर्द्धमान तीर्थंकर के तपःकर्म (तपश्चर्या) को तो सोपसर्ग प्रकट करते हैं, किन्तु शेष तीर्थंकरों के, जिनमें पार्श्वनाथ भी हैं, तपःकर्म को निरुपसर्ग ही बतलाते हैं—

सव्वेसिं तवोकम्मं निरुवसग्गं तु वणिणयं जिणाणं।

नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेवव्वं ॥ २७६ ॥

श्वेताम्बर मान्यता है^{३२६} कि भगवान् महावीर कुण्डग्राम से निकलकर जब दिन अस्त होते कर्मार ग्राम पहुँचे, तो वहाँ उन पर बड़े भयानक और बीभत्स उपद्रव एवं उपसर्ग किये गये। आगमसूत्रों में^{३२७} भगवान् महावीर पर हुये इन उपसर्गों का बहुत भयानक चित्र खींचा गया है। क्या तिर्यञ्च, क्या मनुष्य और क्या देव दानव, सबने उन पर महान् उपसर्ग किये। बारह वर्ष, छह महीने और १५ दिन तक इन उपसर्गों को सहते रहे, फिर उन्हें केवलज्ञान हुआ। भगवान् महावीर के उपसर्गों का इतना बीभत्स वर्णन करते हुए भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपसर्गों का सूत्रों में या निर्युक्ति में कोई उल्लेख तक नहीं है, जब कि समन्तभद्र इससे विरुद्ध ही वर्णन करते हैं। वे स्वयंभूस्तोत्र में पार्श्वनाथ के उन भयंकर उपसर्गों का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करते हैं, जो दिगम्बरपरम्परा के साहित्य में बहुलतया उपलब्ध हैं,^{३२८} यहाँ तक कि भगवान् पार्श्वनाथ की फणाविशिष्ट प्रतिमा भी उसी का प्रतीक है, किन्तु भगवान् महावीर के स्तवन में उन उपसर्गों का, जिनका श्वेताम्बरीय आगमसूत्रों में विस्तृत वर्णन है और निर्युक्ति में जिनका सुस्पष्ट विधान एवं समर्थन भी है, कोई उल्लेख तक नहीं करते हैं। स्वयंभूस्तोत्र के उन श्लोकों को नीचे प्रकट किया जाता है, जिनमें भगवान् पार्श्वनाथ के भयानक उपसर्गों का स्पष्ट चित्रण किया गया है और इसलिए समन्तभद्र ने उनके ही तपःकर्म को सोपसर्ग बताया है, वर्द्धमान के नहीं—

तमालनीलैः सधनुस्तडिदगुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।

बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥ १३१॥

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणाम्।

जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा॥ १३२॥

स्वयोगनिस्त्रिंशतिशान्तधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।

अवापदाहन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम्॥ १३३॥

पाठक देखिये, समन्तभद्र ने भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर उनके पूर्वभव के वैरी कमठ के जीव के द्वारा किये गये उपसर्गों का कितने भयानक रूप में वर्णन किया

३२६. “तथा च कुण्डग्रामान्मुहूर्तशेषे दिवसे कर्मारग्राममाप, तत्र च भगवानित आरभ्य नानाविधा-भिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्त्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादश-वर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चकार।” आचारांग/शीलांकाचार्य-टीका/पृ.२७३।

३२७. देखिए, आचारांगसूत्र/पृ. २७३ से २८३, सूत्र ४६ से ९३ तक।

३२८. प्रसिद्ध धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य भी भगवान् पार्श्वनाथ का मंगलाभिवादन सकलोप-सर्गविजयी रूप से करते हैं—

सयलोवसग्गणिवहा संवरणेणैव जस्स फिट्ठंति।

फासस्स तस्स णमिउं फासणुयोअं परूवेमो॥ ष.खं./पु.१३/पृ.१।

है, जिनका कि भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्ति में नामोल्लेख तक नहीं किया, प्रत्युत पार्श्वनाथ के तपःकर्म (तपश्चर्या) को निरुपसर्ग ही बतलाया है। यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक होते, तो ऐसा स्पष्ट विरुद्ध कथन उनकी लेखनी से कदापि प्रसूत न होता। इन सब विरुद्ध कथनों की मौजूदगी में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं, दो व्यक्ति हैं और वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर दो विभिन्न परम्पराओं में हुए हैं।

मैं समझता हूँ कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र को पृथक्-पृथक् व्यक्ति सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त थोड़े से प्रमाण पर्याप्त हैं। जरूरत होने पर और भी प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

२.१०.३. कालभेद

समन्तभद्र और भद्रबाहु को पृथक् सिद्ध करने के बाद अब मैं इनके भिन्न समय-वर्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना चाहता हूँ।

समन्तभद्र, दिग्नाग (३४५-४२५ ई०) और पूज्यपाद (४५० ई०) के पूर्ववर्ती हैं,^{३२९} यह निर्विवाद है। बौद्धतार्किक नागार्जुन (१८१ ई०)^{३३०} के साहित्य के साथ समन्तभद्र के साहित्य का अन्तःपरीक्षण^{३३१} करने पर यह मालूम होता है कि समन्तभद्र पर नागार्जुन का ताजा प्रभाव है, इसलिए वे नागार्जुन के समकालीन या कुछ ही समय बाद के विद्वान् हैं। अतः समन्तभद्र के समय की उत्तरावधि तो दिग्नाग का समय है और पूर्वावधि नागार्जुन का समय है। अर्थात् समन्तभद्र का समय दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जैसी कि जैनसमाज की आम मान्यता है।^{३३२} और प्रोफेसर साहब भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः समन्तभद्र के समय-सम्बन्ध में इस समय और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है।

अब निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय-सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए। स्व० श्वेताम्बर मुनि विद्वान् श्री चतुरविजय जी ने 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षकवाले अपने एक महत्त्वपूर्ण एवं खोजपूर्ण लेख में^{३३३} अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है

३२९. देखिए, 'समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन?'/ 'अनेकान्त'/ वर्ष ५ / किरण १२।

३३०. देखिए, तत्त्वसंग्रह की भूमिका LXVIII, वादन्याय में २५० ई० दिया है।

३३१. अप्रकाशित 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक मेरा (प्रस्तुत लेख के लेखक का) लेख।

३३२. देखिए, 'स्वामी समन्तभद्र'।

३३३. "मूल लेख गुजराती भाषा में है और वह 'आत्मानन्द जन्म शताब्दी ग्रन्थ' में प्रकट हुआ था तथा हिन्दी-अनुवादित होकर 'अनेकान्त'/ वर्ष ३/ किरण १२ में प्रकाशित हुआ है।" लेखक।

कि "निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं। वे जाति से ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था। --- निर्युक्तियाँ आदि सर्व कृतियाँ इनके बुद्धिवैभव से उत्पन्न हुई हैं। --- वराहमिहिर का समय ईसा की छठी शताब्दी (५०५ से ५८१ ई० तक) है। इससे भद्रबाहु का समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।"

मैं पहिले यह कह आया हूँ कि भद्रबाहु ने केवली के उपयोग के क्रमवाद का प्रस्थापन किया है और युगपद्वाद का खण्डन किया है। ईसा की पाँचवीं और विक्रम की छठी शताब्दी के विद्वान् आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि (२/९) में युगपद्वाद का समर्थन मात्र किया है, पर क्रमवाद के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। यदि क्रमवाद इनके पहिले प्रचलित हो चुका होता, तो वे इसका अवश्य आलोचन करते, जैसा कि पूज्यपाद के उत्तरवर्ती अकलंकदेव ने क्रमवाद का खण्डन किया है और युगपद्वाद का ही समर्थन किया है। इससे भी मालूम होता है कि निर्युक्तिकार ईसा की पाँचवीं शताब्दी के बाद के विद्वान् हैं। उधर निर्युक्तिकार ने सिद्धसेन के अभेदवाद की कोई आलोचना नहीं की, सिर्फ युगपद्वाद का ही खण्डन किया है। इसलिए इनकी उत्तरावधि सिद्धसेन का समय है, अर्थात् सातवीं शताब्दी है। इस तरह निर्युक्तिकार का वह समय प्रसिद्ध होता है, जो श्री मुनि चतुरविजय जी ने बतलाया है। अर्थात् छठी शताब्दी इनका समय है। ऐसी हालत में निर्युक्तिकार भद्रबाहु उपर्युक्त आपत्तियों के रहते हुए दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समन्तभद्र के समकालीन कदापि नहीं हो सकते, समन्तभद्र के साथ उनके एकव्यक्तित्व की बात तो बहुत दूर की है। और इसलिए प्रोफेसर साहब ने वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष के पश्चात् निकट में ही अर्थात् दूसरी शताब्दी में निर्युक्तिकार भद्रबाहु के होने की जो कल्पना कर डाली है, वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर सा० इन सब प्रमाणों की रोशनी में इस विषय पर फिर से विचार करने की कृपा करेंगे। (कोठिया जी का लेख समाप्त)।

इस प्रकार पं० परमानन्द जी शास्त्री, पं० (डॉ०) दरबारीलाल जी कोठिया तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक द्वारा उपस्थित किये गये प्रचुर प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध हो जाता है कि प्रो० हीरालाल जी जैन ने नामसाम्य के कारण जो तुषमास-घोषक दिगम्बर शिवभूति (भावपाहुड, ५३), युवतिजनवेष्टित भावश्रमण दिगम्बर शिवकुमार (भावपाहुड, ५१) भगवती-आराधना के कर्ता दिगम्बर शिवार्य तथा कल्पसूत्र-स्थविरावली में उल्लिखित श्वेताम्बर शिवभूति, इन चार को एक ही व्यक्ति बतलाया है, वह सर्वथा कपोलकल्पित है। इसी प्रकार जो दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं समन्तभद्र तथा श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं सामन्तभद्र इन चार को भी अभिन्न व्यक्ति घोषित किया है, वह

भी निरी कपोलकल्पना है। ये सभी एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि इनके सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न हैं, इनकी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं और इनके समय भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए इन्हें एक मानकर कुन्दकुन्द की जो गुरुपरम्परा, तथा उनके द्वारा दिगम्बरमत के प्रवर्तन का जो घटना क्रम बतलाया है वह पूर्णतः मनगढ़ंत है। अतः यह तथ्य यथावत् प्रतिष्ठित रहता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा भगवान् ऋषभदेव के युग से चली आ रही है। आचार्य कुन्दकुन्द इसी दिगम्बरजैन-परम्परा के अत्यन्त यशस्वी आचार्य थे। साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से उनका समय ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक सिद्ध होता है।



नवम प्रकरण

अन्य विरुद्ध मतों का निरसन

१

ब्र० भूरावल जी का मत

आचार्य कुन्दकुन्द ने बोधपाहुड की पूर्वोद्धृत गाथाओं (६१-६२) में स्वयं को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है और उन्हें गमकगुरु सम्बोधित कर उनका जयकार किया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य मानने के पक्ष में हैं। पूज्य ब्र० भूरावल जी शास्त्री (दिगम्बर जैनाचार्य ज्ञानसागर जी) ने भी ऐसा ही माना है। इसके समर्थन में उन्होंने बोधपाहुड की पूर्वोद्धृत गाथाओं के अतिरिक्त श्रवणबेल्लोल के शिलालेख से प्रमाण उद्धृत किया है। उन्होंने लिखा है—“एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन” में लिखा हुआ है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त वीरसंवत् २९० से पहले संसार से विरक्त होकर मैसूर प्रान्त में श्रवणबेल्लोला पर जिनदीक्षा से दीक्षित हो कर स्वर्ग गये एवं स्वामी भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का गुरुशिष्य-सम्बन्ध शिलालेख नं० ४, शिलालेख नं० ६, शिलालेख नं० ७ से भी स्पष्ट है। और जब चन्द्रगुप्त के गुरु प्रथम भद्रबाहु हैं, तो वे ही श्री कुन्दकुन्द के भी गुरु होते हैं, यह बात शिलालेख नं० ५ या नं० १०८ से तो बिलकुल ही स्पष्ट हो जाती है—

तदन्वये शुद्धमतिप्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले।
अभूद्यतीन्द्रो भुवि भद्रबाहुः पयःपयोधाविव पूर्णचन्द्रः ॥ ६ ॥

भद्रबाहुसग्रिमः समग्रबुद्धिसम्पदा
शुद्धसिद्धशासनं सुशब्दबन्धसुन्दरम्।
इद्धवृत्तसिद्धिरत्र बद्धकर्मभित्तपो-
वृद्धिवर्द्धितप्रकीर्तिरुद्धे महर्द्धिकः ॥ ७ ॥

यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता सर्व्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥ ८ ॥

तदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेवबुद्धः।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभाव-प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥ ९ ॥

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्सकुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥ १० ॥

जै. शि. सं. / मा. च. / भा. १ / ले. क्र. १०८ (२५८)।

“अर्थात् श्री महावीर स्वामी की परम्परा में एक भद्रबाहु हुए, जो कि सम्पूर्ण श्रुत के पारगामी हुए। उन्हीं का शिष्य चन्द्रगुप्त हुआ और उन्हीं के प्रसिद्ध वंश यानी संघरूप खानि में से उत्पन्न हुए मुनिरूप रत्नों की निर्दोष माला थी, यानी भद्रबाहु स्वामी का जो कुछ जितना भी शुद्ध मुनियों का संघ था, स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य उन्हीं में के एक चमकीले रत्न थे। भद्रबाहु स्वामी के ही शिष्यों में से एक कुन्दकुन्द भी थे, ऐसा स्पष्ट है, क्योंकि यहाँ पर यतिरत्नमालाऽभूत् ऐसा पद है, जिसका अर्थ होता है—जो यतिरूप रत्नों की पंक्ति थी। तथा यदन्तर्मणिवत् अर्थात् ‘उसी में बहु-मूल्यमणि की तरह’ ऐसा अर्थ होता है। अतः श्री कुन्दकुन्द भी स्वामी भद्रबाहु के साक्षात् शिष्यों में से थे, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।” (‘स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म’/ पृष्ठ २०-२१)।

निरसन

डॉ० ए० एन० उपाध्ये का कथन है कि बोधपाहुड की उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना साक्षात् गुरु नहीं कहा, अपितु गमकगुरु अर्थात् परम्परागुरु कहा है। अतः उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि यदि वे उनके साक्षात् शिष्य होते, तो अंगधारियों की सूची में उनका नाम होता, किन्तु नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वे साक्षात् शिष्य नहीं थे। इसके अतिरिक्त जैनपरम्परा में ऐसी कोई किंवदन्ती या साहित्यिक उल्लेख भी नहीं है, जिससे उपर्युक्त बात की पुष्टि हो।^{३३४} ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में कुन्दकुन्द का अस्तित्व मानने में एक बाधा और है, वह यह कि उस समय प्राकृतभाषा का वह रूप (मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का द्वितीय स्तर) प्रचलित नहीं था, जिसमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थ लिखे गये हैं, अपितु जिसमें अशोक के शिलालेख टंकित हैं, वह रूप (मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का प्रथम स्तर) प्रचलित था। इन कारणों से कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य सिद्ध नहीं होते।

३३४. "But it may be asked why not take Kundakunda as the direct disciple of Bhadra-bāhu Śrutakevalin and put him in the 3rd century B.C. There are various difficulties. Kundakunada, as, in that case, we might expect, does not figure in the lists of Aṅgadhārins, the word śiṣya is not enough to lead us to that conclusion, because, as shown above, it could be used in the sense of a paramparā śiṣya, I am not aware of any piece of Jaina tradition, legendary or literary, which would give even the slightest support to put Kundakunda as the contemporary of Bhadrabāhu śrutakevalin, and the traditions, as they are available, go against this date of 3rd century B.C." (Pravacansāra, Introduction, p.16.)

तथा शिलालेख के पूर्वोद्धृत छोटे पद्य के पहले निम्नलिखित पद्य है—

तस्याभवच्चरमचिञ्जगदीश्वरस्य यो यौव्वराज्यपदसंश्रयतः प्रभूतः।

श्रीगौतमो गणपतिर्भगवान्वरिष्ठः श्रेष्ठैरनुष्ठितनुतिर्मुनिभिस्स जीयात्॥ ५॥

इस पद्य को मिलाकर पढ़ने से यह अर्थ निकलता है कि श्री गौतम गणधर के अन्वय में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त हुए। चन्द्रगुप्त के वंश में जो मुनिसमूह (यतिरत्नमाला) उत्पन्न हुआ, उसमें कुन्दकुन्द सर्वश्रेष्ठ (अन्तर्मणिवत्) थे। उसी शिलालेख के ११ वें श्लोक में कहा गया है कि कुन्दकुन्द के वंश में उमास्वाति उत्पन्न हुए—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।

सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥ ११॥

इससे स्पष्ट होता है कि शिलालेख में जिन आचार्य को, जिन आचार्य के अन्वय या वंश में उत्पन्न कहा गया है, वे उनके साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु परम्परा-शिष्य थे तथा जिनको जिनका शिष्य कहा गया है, वे उनके साक्षात् शिष्य थे। जैसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को गौतम गणधर का शिष्य नहीं कहा गया है, अपितु उनके अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है, इससे सूचित होता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु गौतम गणधर के साक्षात् शिष्य नहीं थे। यह सत्य भी है। किन्तु चन्द्रगुप्त को अन्तिम भद्रबाहु, श्रुतकेवली का शिष्य कहा गया है, इससे प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त उनके साक्षात् शिष्य थे। इसके बाद कुन्दकुन्द को न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा गया है, न चन्द्रगुप्त का, अपितु चन्द्रगुप्त के वंश में अनेक मुनिरत्नों के बीच उत्पन्न बतलाया गया है। इससे विज्ञापित होता है कि कुन्दकुन्द चन्द्रगुप्त के भी साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु उनके शिष्यों के शिष्य थे। इस प्रकार उक्त शिलालेख के शब्दों से ही प्रकट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु परम्पराशिष्य थे। यह शिलालेख शक सं. १३५५ (ई० सन् १४३३) का है। इसके लगभग ३०० वर्ष पहले (शक सं० १०८५=ई० सन् ११६३) के श्रवणबेल्गोल के शिलालेख क्र० ४० (६४) में भी ऐसा ही वर्णन है, अर्थात् अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को गौतम गणधर की सन्तति में उत्पन्न, चन्द्रगुप्त को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य तथा कुन्दकुन्द को चन्द्रगुप्त के अन्वय में उद्भूत प्ररूपित किया गया है। इस शिलालेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कुन्दकुन्द अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं थे, बल्कि परम्परा-शिष्य थे। अतः कुन्दकुन्द के अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समकालीन होने की मान्यता निरस्त हो जाती है।

२

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का मत

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने माना है कि बोधपाहुड की पूर्वोद्धृत ६१वीं गाथा में कुन्दकुन्द ने भद्रबाहु-द्वितीय का उल्लेख किया है और ६२वीं गाथा में भद्रबाहु-प्रथम (श्रुतकेवली) का तथा भद्रबाहु-द्वितीय को अपना साक्षात् गुरु बतलाया है, जबकि श्रुतकेवली भद्रबाहु को गमकगुरु अर्थात् परम्परागुरु। (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ.९३)। और उन्होंने पट्टावलियों के आधार पर भद्रबाहु का काल वीरनिर्वाण के बाद ५८९ से ६१२ वर्ष मानते हुए कुन्दकुन्द को वीरनिर्वाण के पश्चात् ६०८ से ६९२ वर्ष अर्थात् ई० सन् ८९ से १६५ के बीच स्थित माना है। (स्वामी समन्तभद्र/पृ.१८३-१८८)।

निरसन

मुख्तार जी का यह मानना उचित नहीं है कि कुन्दकुन्द ने 'बोधपाहुड' की ६१वीं गाथा में द्वितीय भद्रबाहु का और ६२ वीं गाथा में श्रुतकेवली भद्रबाहु का उल्लेख किया है। वस्तुतः दोनों गाथाओं में श्रुतकेवली भद्रबाहु का ही उल्लेख है। प्रथम गाथा में उनके साथ अपना गुरुशिष्य-सम्बन्ध बतलाया है और द्वितीय में उनके श्रुतकेवली और गमकगुरु इन दो विशेषणों का वर्णन करते हुए उनका जयकार किया है। यदि वे पहली गाथा में साक्षात् गुरु का और दूसरी में गमकगुरु का वर्णन करते तो साक्षात् गुरु का भी अलग से जयकार करते अथवा एक ही बार जयकार करना होता तो द्विवचन-क्रिया का प्रयोग करते। ऐसा संभव ही नहीं था कि वे गमकगुरु का तो जयघोष करते, किन्तु साक्षात् गुरु का न करते। यह तो साक्षात् गुरु की महान् अविनय होती। कुन्दकुन्द जैसे आचार्य ऐसी अविनय नहीं कर सकते थे। इससे स्पष्ट है कि उन दोनों गाथाओं में केवल श्रुतकेवली भद्रबाहु का ही उल्लेख है, दो भद्रबाहुओं का नहीं। अतः कुन्दकुन्द को द्वितीय भद्रबाहु का समकालीन मानना युक्तियुक्त नहीं है।

उपसंहार

इन समस्त विरुद्ध मतों का निरसन हो जाने पर पूर्वोद्धृत प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला यही मत अविरोधभाव से स्थापित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे। अर्थात् वे ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान थे।

एकादश अध्याय

एकादश अध्याय

षट्खण्डागम

प्रथम प्रकरण

यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में प्रस्तुत हेतु

ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों और ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि षट्खण्डागम दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ है। किन्तु यापनीयपक्षधर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने इसे यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके पक्ष में उन्होंने अपने ग्रन्थ जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय में निम्नलिखित हेतु प्रस्तुत किये हैं—

१. षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन का नाम दिगम्बरपट्टावलियों में नहीं मिलता। यह सूचित करता है कि धरसेन दिगम्बर-परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे। (पृ.९२)।

२. नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के नाम का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं। (पृ.९३)।

३. धरसेन ने अपने पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्यों के लिए 'जोगिपाहुड' (योनि-प्राभृत) ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में है, इसलिए सम्भावना है कि इसके उपदेशक धरसेन उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान-मातृपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे। (पृ.९३-९५)।

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक-महोदय ने जहाँ-जहाँ 'उत्तरभारत की निर्ग्रन्थ-परम्परा या संघ' अथवा 'उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ-परम्परा या संघ' शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्द से उन्हें 'दिगम्बर' अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'सचेलाचेल' अर्थ अभिप्रेत है, यह सर्वत्र स्मरणीय है। इसी परम्परा को उन्होंने श्वेताम्बर-यापनीय-मातृ-परम्परा माना है। इसका स्पष्टीकरण द्वितीय अध्याय के तृतीय और चतुर्थ प्रकरणों में किया जा चुका है।

४. धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपदेश दिया था, जिसके आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की थी। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थ परम्परा (श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा) में निर्मित हुआ था, अतः धरसेन इसी परम्परा के आचार्य सिद्ध होते हैं। (पृ.१७)।

५. षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह साम्य तभी हो सकता है, जब दोनों किसी समान पूर्वपरम्परा से सम्बद्ध हों। और वह समान पूर्वपरम्परा उत्तरभारत की सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा थी, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। (पृ. १०३-१०४)।

६. धरसेन के महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपदेश के आधार पर पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की थी। अतः धरसेन श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्य थे और पुष्पदन्त तथा भूतबलि यापनीय-परम्परा के। (पृ.१७)।

७. षट्खण्डागम की रचना से सम्बन्धित आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि वस्तुतः कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित वज्रसेन, पुसगिरि और भूतदिन्न ही हैं। अतः षट्खण्डागम की रचना श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्यों ने की है। (पृ.१५-१६)।

८. षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' (मनुष्यस्त्री) में संयत गुणस्थान बतलाये गये हैं। मणुसिणी का अर्थ केवल द्रव्यस्त्री है। उसे जो भावस्त्री का भी वाचक माना गया है, वह गलत है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति-समर्थक परम्परा का है। यापनीय भी स्त्रीमुक्ति-समर्थक थे। अतः इसके कर्ता यापनीय ही होंगे। (पृ. १०१-१०२)।

यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक की अनिश्चयात्मक मनोदशा

इन हेतुओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इनमें महान् अन्तर्विरोध है। यापनीयपक्षधर विद्वान् ने धरसेन को यापनीय-परम्परा का भी आचार्य माना है, श्वेताम्बर परम्परा का भी और उसकी पूर्ववर्ती दोनों की अविभक्त मातृपरम्परा का भी। इससे उनकी अनिश्चयात्मक मनोदशा का पता चलता है। मान्य विद्वान् ने षट्खण्डागम के उपदेश आचार्य धरसेन के सम्प्रदाय का निर्णय करने के लिए अपने ग्रन्थ **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** के नौ पृष्ठों (९०-९८) में विस्तृत ऊहापोह किया है और उसके बाद उपसंहार करते हुए लिखा है—

“इस प्रकार साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों, आधारभूत ग्रन्थ, क्षेत्र तथा काल सभी दृष्टियों से धरसेन मूलसंघीय परम्परा से सम्बद्ध न होकर श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से अथवा उनकी पूर्वज उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।” (पृ.९८)।

यह कथन मान्य विद्वान् की अनिश्चयात्मक मनोदशा का उद्घाटन करता है। अर्थात् इतना ऊहापाह करने के बाद भी वे यह निश्चित नहीं कर पाते कि धरसेन श्वेताम्बर थे या यापनीय अथवा उनके पूर्वज? उनकी मनोदशा इन तीनों के बीच दोलायमान है। धरसेन उन्हें कभी श्वेताम्बर प्रतीत होते हैं, कभी यापनीय और कभी दोनों के पूर्वज, क्योंकि तीनों के पक्ष में जो साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं, वे एक-दूसरे को बाधित करते हैं। यह अनेक कोटियों का स्पर्श करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है—“विरुद्धानेककोटिस्पर्शज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।” (न्यायदीपिका १/९)। यह संशय या अनिश्चय सूचित करता है कि मान्य विद्वान् के पास धरसेन को, न तो श्वेताम्बर सिद्ध करनेवाले प्रमाण मौजूद हैं, न यापनीय सिद्ध करनेवाले और न दोनों की मातृ-परम्परा का सिद्ध करनेवाले। धरसेन इनमें से किसी एक ही परम्परा के हो सकते हैं : श्वेताम्बरपरम्परा के, यापनीयपरम्परा के अथवा दोनों की मातृपरम्परा के। किन्तु मान्य विद्वान् उन्हें इनमें से किसी एक परम्परा का सिद्ध नहीं कर पाते। इससे स्पष्ट है कि धरसेन इन तीनों में से किसी भी परम्परा के नहीं थे। अतः यह इतिहासप्रसिद्ध तथ्य बाधित नहीं हो पाता कि वे दिगम्बर थे।

मान्य विद्वान् के ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ का ‘षट्खण्डागम’ प्रकरण इसी प्रकार के परस्परविरुद्ध निष्कर्षों से भरा पड़ा है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. दिगम्बर-नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली को वे यापनीय-नन्दिसंघ की पट्टावली मानकर कहते हैं कि उसमें धरसेन का उल्लेख होने से “यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।” (पृ.९३)। किन्तु आगे लिखते हैं कि धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा में निर्मित ‘महाकर्मप्रकृतिप्राभृत’ का अध्ययन कराया था। “अतः धरसेन उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।” (पृ.९७)। इन दोनों मतों में से कोई एक ही मत सत्य हो सकता है, किन्तु मान्य विद्वान् के पास इनमें से किसी एक को ही सत्य सिद्ध करनेवाला प्रमाण न होने से स्पष्ट है कि धरसेन न तो यापनीयसंघ से सम्बद्ध थे, न ही कपोलकल्पित उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थ संघ से। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि वे दिगम्बरपरम्परा से सम्बद्ध थे।

२. मान्य विद्वान् 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के पृष्ठ ९२ पर लिखते हैं—“यदि कुछ समय के लिए नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली को प्रमाण मान लें, तो उससे यह सिद्ध होता है कि धरसेन वीरनिर्वाण संवत् ६३३ में दिवंगत हुए। इसमें उनका आचार्यकाल १९ वर्ष माना गया है, अतः वे वीर निर्वाण संवत् ६१४ में आचार्य हुए। यदि वे अपनी आयु के ५०वें वर्ष में आचार्य हुए हों, तो यह माना जा सकता है कि लगभग उसके ३० वर्ष पूर्व वे दीक्षित हुए होंगे। अतः उनकी दीक्षा का समय वीरनिर्वाण संवत् ५८४ (ई०सन् ५७) के आस-पास हो सकता है। अतः धरसेन संघभेद की घटना के, जो वीर निर्वाण संवत् ६०९ में घटित हुई थी, पूर्व ही दीक्षित हो चुके थे। निष्कर्ष यह है कि वे संघभेद की घटना के पूर्व अविभक्त उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा के किसी गण के आचार्य रहे होंगे।”

किन्तु अगले ही पृष्ठ (९३) पर वे इसके ठीक विपरीत यह लिखते हैं—“पुनः जिस नन्दिसंघ की पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दिसंघ भी यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप (कडब) के शक संवत् ७३५, ईसवी सन् ८१३ के एक अभिलेख में श्री यापनीय-नन्दिसंघ-पुनागवृक्ष-मूलगण ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय और नन्दिसंघ की इस एकरूपता और नन्दिसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।”

यहाँ एक ही नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली के आधार पर वीरनिर्वाण संवत् ५८४ में उत्तर भारत की तथाकथित अविभक्त निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा का भी अस्तित्व बतलाया गया है और उसके विभाजन से उत्पन्न होनेवाले यापनीयसंघ का भी, क्योंकि धरसेन को दोनों से सम्बद्ध प्रतिपादित किया गया है। यह परस्परविरुद्ध है। इनमें से कोई एक ही बात सत्य हो सकती है। किन्तु दोनों में से किसी एक को सत्य सिद्ध करनेवाले प्रमाण मान्य विद्वान् के पास नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि वीर नि० सं० ५८४ में न तो उत्तरभारत के तथाकथित (सचेलाचेल) निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व था, न यापनीयसंघ का। इसलिए यह भी सिद्ध है कि धरसेन न तो तथाकथित उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ से सम्बद्ध थे, न यापनीयसंघ से। फलस्वरूप यह स्वतः सिद्ध होता है कि वे दिगम्बरसंघ से सम्बद्ध थे।

३. मान्य विद्वान् ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ९६ पर लिखा है—“सबसे महत्वपूर्ण सूचना यह है कि मथुरा के हुविष्क के वर्ष ४८ के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के धर का उल्लेख है। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है। पूरा नाम धरसेन हो। क्योंकि

कल्पसूत्र-स्थविरावली में शान्तिसेन, वज्रसेन आदि सेन-नामान्तक नाम मिलते हैं। अतः इसके धरसेन होने की सम्भावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र-स्थविरावली में एक पुसगिरि का भी उल्लेख मिलता है। हो सकता है, ये पुष्पदन्त हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र-वाचकवंश-स्थविरावली में भूतदिन का भी उल्लेख है। इनका समीकरण भूतबलि से किया जा सकता है।”

यहाँ मान्य विद्वान् ने पुष्पदन्त और भूतबलि को भी स्थविरावलियों के अनुसार ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी का मानते हुए उनके उत्तरभारतीय सचेलाचेल परम्परा से सम्बद्ध होने की संभावना व्यक्त की है, किन्तु उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १०१-१०२ पर षट्खण्डागम की विषयवस्तु (‘संजद’ पद की उपस्थिति) के आधार पर उन्हें ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी से पूर्व का स्वीकार न करते हुए यापनीयसंघ से सम्बद्ध सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन मन्तव्यों में भी परस्पर-विरोध है। दोनों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है। किन्तु मान्य विद्वान् ने उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है, जिससे स्पष्ट है उनके पास पुष्पदन्त और भूतबलि को न तो उत्तरभारत की तथाकथित (सचेलाचेल) निर्ग्रन्थ परम्परा का सिद्ध करनेवाले प्रमाण हैं, न यापनीयपरम्परा का सिद्ध करनेवाले, जिससे निश्चित होता है कि वे भी दिगम्बरपरम्परा से ही सम्बद्ध थे।

४. मान्य विद्वान् उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं—“धरसेन के सन्दर्भ में जो अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें दो का उल्लेख विद्वानों ने किया है। सर्वप्रथम आचार्य धरसेन को जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) नामक निमित्तशास्त्र के एक अपूर्व ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। इस ग्रन्थ की एक प्रति ‘भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना’ में है। पं० बेचरदास जी ने इस प्रति से जो नोट्स लिखे थे, उनके आधार पर यह ग्रन्थ पण्णसवन मुनि ने अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था। वि० सं० १५५६ में लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका में इस ग्रन्थ को वीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् धरसेन (धरसेन) द्वारा रचित माना गया है।”

मान्य विद्वान् आगे लिखते हैं—“जहाँ दिगम्बरपरम्परा में मात्र धवला में उनके इस ग्रन्थ का उल्लेख है, वहाँ श्वेताम्बरपरम्परा में छठी शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक अनेक ग्रन्थों में उनके इस ग्रन्थ के निरन्तर उल्लेख पाये जाते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि धरसेन और उनका ग्रन्थ योनिप्राभृत (जोणिपाहुड) श्वेताम्बरपरम्परा में मान्य रहा है। अतः वे उत्तरभारत की उसी निर्ग्रन्थपरम्परा से सम्बद्ध होंगे, जिसके ग्रन्थों का उत्तराधिकार श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को समानरूप से मिला है। यापनीयों

के माध्यम से ही इनका और इनके ग्रन्थ जोगिपाहुड का उल्लेख धवला में हुआ है।" (पृ.९५)।

यहाँ मान्य विद्वान् ने इस कथन का खण्डन नहीं किया है कि धरसेन ने जोगिपाहुड ग्रन्थ अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था, जिससे सिद्ध होता है कि यह तथ्य उन्हें स्वीकार्य है और इसके स्वीकार्य होने से यह भी स्वीकृत हो जाता है कि ये दोनों शिष्य अपने गुरु धरसेन के समकालीन थे अर्थात् वे यापनीयसंघ की उत्पत्ति (वीर नि० सं० ६०९) से पूर्व विद्यमान थे, अतः वे अपने गुरु के ही समान यापनीय नहीं थे। किन्तु मान्य विद्वान् उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १०४ पर लिखते हैं कि "षट्खण्डागम ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है।" ऐसा लिखकर उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है उसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि अपने गुरु धरसेन से दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए थे और उस समय यापनीय-सम्प्रदाय का उदय हो चुका था, अतः वे यापनीयपरम्परा के आचार्य थे।

इन दोनों मान्यताओं में भी अन्तर्विरोध है। इनमें से कोई एक ही सत्य हो सकती है। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि या तो अपने गुरु धरसेन के समकालीन (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के) होने से तथाकथित उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ से ही सम्बद्ध हो सकते हैं या उत्तरकालीन होने से यापनीयसंघ से। किन्तु मान्य विद्वान् ने उन्हें इनमें से किसी एक संघ से सम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि ऐसा करने के लिए उनके पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं था, अतः उक्त आचार्य न तो तथाकथित उत्तरभारतीय सचेलाचेल संघ से सम्बद्ध थे, न यापनीयसंघ से, अपितु वे शुद्ध दिगम्बर थे।

५. मान्य विद्वान् ने मथुरा के हुविष्ककालीन अभिलेख तथा कल्पसूत्र और नन्दिसूत्र की स्थविरावलियों में निर्दिष्ट धर, पुसगिरि और भूतदिन्न नामों को धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का ही परिवर्तित रूप मानकर तथा जोगिपाहुड के रचनाकाल के आधार पर इन तीनों आचार्यों का अस्तित्व वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व मानते हुए षट्खण्डागम का रचनाकाल यही स्वीकार किया है। उधर उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९५-९७ पर धवलाटीका (ष.खं./पु.१/१,१,१/पृ.६७-६८) के उल्लेखानुसार चौथी शताब्दी ई० निर्धारित किया है। तथा गुणस्थान-विकासवाद की स्वकल्पित मान्यतानुसार पाँचवी शताब्दी ई० में ले गये हैं (जै.ध.या.स./पृ. २४८-२५२)। और प्रो० एम० ए० ढाकी का यह मत भी स्वीकार कर लिया है कि षट्खण्डागम की रचना पाँचवीं-छठवीं शताब्दी ई० में हुई थी। इस प्रकार षट्खण्डागम के रचनाकाल के विषय में मान्य विद्वान् की मनोदशा महान् अन्तर्विरोधों एवं अनिश्चय से भरी हुई है।

इन मान्य किये गये विभिन्न रचनाकालों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है, किन्तु मान्य विद्वान् ने बलिष्ठ प्रमाणों के द्वारा शेष को निरस्त कर किसी एक को निश्चित नहीं किया। अतः एक-दूसरे से बाधित होकर सभी अप्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं।

६. मान्य विद्वान् ने यापनीयसंघ का उदयकाल बोटिककथा एवं दर्शनसार के अनुसार ई० सन् ८२ (वीर नि० सं० ६०९, विक्रम सं० १३९) निर्धारित किया है। दिगम्बर-नन्दिसंघ को यापनीय-नन्दिसंघ मानकर उसकी प्राकृतपट्टावली के अनुसार ई० सन् ५७ (वीर नि० सं० ५८४, देखिए ऊपर) तथा मृगेशवर्मा के हल्सी अभिलेख (क्र.९९) के आधार पर ई० सन् ४९० से कुछ पूर्व माना है। (पृ. ३५७, ३७३)। किन्तु अन्तिमरूप से कोई एक काल निर्धारित नहीं किया। इससे भी उनकी अनिश्चयात्मक मनोदशा सूचित होती है।

७. उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९० और ९२ पर मान्य विद्वान् तिलोयपण्णत्ती और हरिवंशपुराण को दिगम्बरग्रन्थ मानते हुए कहते हैं कि उनमें वर्णित आचार्यपरम्परा में धरसेन का नाम न होने से सिद्ध होता है कि वे दिगम्बर नहीं थे। किन्तु आगे वे इन्हीं ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का सिद्ध करने के लिए हेत्वाभासों की बौछार लगा देते हैं। यह भी उनकी अनिश्चयात्मक मनःस्थिति का एक प्रमाण है।

यहाँ हम देखते हैं कि यापनीय-पक्षधर ग्रन्थलेखक के मन में सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति या अनिश्चय आचार्य धरसेन के समय और सम्प्रदाय के विषय में है। अतः इन दोनों बातों का निश्चय हो जाने पर सभी प्रश्नों का समाधान हो सकता है, अर्थात् यह निर्णय हो सकता है कि मान्य ग्रन्थलेखक ने षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे वास्तविक हैं या कपोलकल्पित? यद्यपि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, तीनों आचार्य उपदेष्टा और उपदेश्य के रूप में आमने-सामने थे, अतः समकालीन थे, तथापि उपर्युक्त यापनीय-पक्षधर ग्रन्थलेखक ने उनके काल में लगभग दो-तीन सौ वर्ष का अन्तर पैदा करने की कोशिश की है, जैसा कि उनके पूर्वोद्धृत वचन से स्पष्ट है। अतः षट्खण्डागम का रचनाकाल निर्णीत हो जाने पर इस विप्रतिपत्ति का भी निवारण हो जायेगा। इसलिए सर्वप्रथम षट्खण्डागम के रचनाकाल का निर्णय किया जा रहा है।



द्वितीय प्रकरण

षट्खण्डागम का रचनाकाल : ई. पू. प्रथमशती का पूर्वार्ध

षट्खण्डागम की रचना आचार्य धरसेन से प्राप्त उपदेश के आधार पर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने की थी। धवला, जयधवला टीकाओं एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के उल्लेखों के अनुसार आचार्य धरसेन का स्थितिकाल महावीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद आता है।^१ नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उनकी स्थिति वीरनिर्वाण संवत् ६१४ से ६८३ के बीच बतलाई गई है।^२

एक जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) नाम का ग्रन्थ भी धरसेन द्वारा रचित प्राप्त होता है। इसकी एक प्रति भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट, पूना में है। “प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने इस ग्रन्थ-प्रति का वहाँ पर अवलोकन किया था और उस पर से परिचय के कुछ नोट्स गुजराती में लिये थे। दिगम्बरग्रन्थ होने के कारण उन्होंने बाद को वे नोट्स सदुपयोग के लिए सुहृद्दर पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को दिये थे।”^३ किसी आचार्य द्वारा संवत् १५५६ में लिखित बृहट्टिप्पणिका नामक ग्रन्थसूची में इसे वीरनिर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् रचित कहा गया है—“योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्”^४ किन्तु ग्रन्थ में इसके कर्ता का नाम पण्हसवण ऋषि उल्लिखित है और कहा गया है कि उन्होंने यह ग्रन्थ अपने शिष्य भूतबलि और पुष्पदन्त के लिए लिखा था।^५ पण्हसवण का अर्थ है ‘प्रज्ञाश्रमण’, यह एक ऋद्धि का नाम है। सम्भवतः धरसेनाचार्य इस ऋद्धि के धारी थे, इसलिए उन्हें ‘प्रज्ञाश्रमण’ कहा गया है।^६ षट्खण्डागम में प्रज्ञाश्रमणों को नमस्कार किया गया है—‘णमो पण्णसमणाणं।’^७ धवलाटीका में भी ‘जोणिपाहुड’ का उल्लेख किया गया है—“जोणिपाहुडे भणिद-मंततंतसत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो।”^८ “नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार धरसेन का काल वीरनिर्वाण से ६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अतः अपने पट्टकाल से १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रन्थ रचा होगा। इस समीकरण से प्राकृतपट्टावली और बृहट्टिप्पणिका के संकेत, इन

१. डॉ. हीरालाल जैन : षट्खण्डागम/पु.१/प्रस्तावना/पृ.२०।

२. वही/पृ.२५।

३. पं. जुगलकिशोर मुख्तार : सम्पादकीय/‘अनेकान्त’/१ जुलाई, १९३९/पृ.४८६।

४. वही/पृ.४८५।

५. वही/पृ.४८७।

६. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा/खण्ड २/पृ.४६।

७. षट्खण्डागम/पु.९/४,१,१८/पृ.८१।

८. षट्खण्डागम/पु. १/प्रस्तावना/पृ.२६।

दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र आधार पर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।^८ निष्कर्ष यह कि 'जोगिपाहुड' ग्रन्थ के रचनाकाल की दृष्टि से आचार्य धरसेन का स्थितिकाल वीर निर्वाण संवत् ६०० अर्थात् (६००-५२७) ७३ ई० के लगभग निश्चित होता है।

'प्रज्ञापनासूत्र' की प्रस्तावना के लेखकों, पं० दलसुखभाई मालवणिया एवं पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक ने, षट्खण्डागम का रचनाकाल वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् की द्वितीय शती के लगभग ही स्वीकार किया है, जैसा कि षट्खण्डागम पुस्तक १ की प्रस्तावना (पृ. ८) में निर्धारित किया गया है।

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य लिखते हैं—“प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीरनिर्वाण संवत् ६१४-६८३ के बीच धरसेन का समय होना चाहिए। पट्टावली में धरसेन का आचार्यकाल १९ वर्ष बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि वीरनिर्वाण संवत् ६३३ तक धरसेन जीवित रहे हैं और वीर निर्वाण संवत् ६३० या ६३१ में पुष्पदन्त और भूतबलि को श्रुत का अध्ययन कराया है।”^९ इस आधार पर धरसेन का समय ई० सन् ७३-१०६ ई० तक आता है। किन्तु 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक पूर्व अध्याय में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान थे और अनेक प्रमाणों से यह साबित होता है कि उन्होंने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ लिखा था। अतः षट्खण्डागम कुन्दकुन्द से पूर्व की अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है, यह सिद्ध होता है। चूँकि पुष्पदन्त और भूतबलि, धरसेन के समकालीन थे, अतः उनका स्थितिकाल भी लगभग यही था।^{१०} षट्खण्डागम के कुन्दकुन्द से पूर्व रचे जाने के प्रमाण आगे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

१

षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व

आचार्य इन्द्रनन्दी ने अपने 'श्रुतावतार' नामक प्रकरण में श्रुत के अवतार का इतिहास निबद्ध किया है। उसमें उन्होंने उपलब्ध षट्खण्डागम तथा कसायपाहुड नामक सिद्धान्तग्रन्थों के रचे जाने का इतिवृत्त देकर लिखा है—

९. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खण्ड २ / पृ. ४६।

१०. वही / खण्ड २ / पृ. ५२-५३, ५७।

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।

गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥

श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।

ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

अनुवाद—“इस प्रकार द्रव्य और भाव रूप से आते हुए दोनों सिद्धान्तग्रन्थों को कुण्डकुन्दपुर में श्री पद्मनन्दिमुनि ने गुरुपरम्परा से अधिगत किया और उन्होंने भी छह खण्डों में से आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक-प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा।”

विबुधश्रीधर ने भी ‘श्रुतावतार’ नामक प्रकरण में बतलाया है कि उक्त दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थों का ज्ञान सूरिपरम्परा से आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ था और उनसे पढ़कर कुन्दकीर्ति नाम के मुनि ने षट्खण्डागम पर ‘परिकर्म’ नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।^{११} यद्यपि विबुधश्रीधर ने कुन्दकुन्द को ‘परिकर्म’ ग्रन्थ का कर्ता नहीं कहा, तथापि षट्खण्डागम और कसायपाहुड का ज्ञाता बतलाया है।

इन दो ग्रन्थकर्ताओं के वचनों से ज्ञात होता है कि षट्खण्डागम और कसायपाहुड की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व हुई थी।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये (प्र.सा./प्रस्ता./पृ.१७) और पं० बालचन्द्र जी शास्त्री (षट्.परि./पृ.३३८-३४०) इन कथनों को विश्वसनीय नहीं मानते। किन्तु षट्खण्डागम (पुस्तक १) की प्रस्तावना में प्रो० हीरालाल जी जैन लिखते हैं—

“षट्खण्डागम के रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्य के सम्बन्ध से भी पड़ता है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ़ हो चुके, तब कोण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि-मुनि ने, जिन्हें सिद्धान्त का ज्ञान गुरु-परिपाटी से मिला था, उन छह खण्डों में से प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक-प्रमाण टीकाग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य का भी नाम था और श्रुतावतार में कोण्डकुन्दपुर का उल्लेख आने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि यहाँ उन्हीं से अभिप्राय है। यद्यपि प्रो० उपाध्ये कुन्दकुन्द के ऐसे किसी ग्रन्थ की रचना की बात को प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें धवला और जयधवला में इसका कोई संकेत नहीं मिला। किन्तु कुन्दकुन्द के सिद्धान्तग्रन्थों पर टीका बनाने

११. “इति सूरिपरम्परया द्विविधसिद्धान्तो ब्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खण्डानां मध्ये प्रथमत्वे खण्डानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्मनामशास्त्रं करिष्यति।” विबुधश्रीधरकृत ‘श्रुतावतार’/सिद्धान्तसारादिसंग्रह/पृष्ठ ३१८।

की बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रन्थ के उल्लेख धवला और जयधवला में अनेक जगह पाये जाते हैं। प्रो० उपाध्ये ने कुन्दकुन्द के लिए ईस्वी का प्रारंभकाल, लगभग प्रथम दो शताब्दियों के भीतर का समय, अनुमान किया है, उससे भी षट्खण्डागम की रचना का समय उपर्युक्त ठीक जँचता है।” (पृष्ठ २७)।

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी धवलाटीका से परिकर्म ग्रन्थ के अनेक अंश उद्धृत कर सिद्ध किया है कि षट्खण्डागम पर परिकर्म नामक ग्रन्थ लिखा गया था। और वह कुन्दकुन्दकृत ही था। इसकी पुष्टि के लिए वे एक प्रमाण देते हैं। वे लिखते हैं—

“वर्गणाखण्ड में स्पर्शानुयोगद्वार के सूत्र १८ की धवलाटीका में लिखा है—

“अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासंकणिज्जं, पदेसो णाम परमाणू , सो जम्हि परमाणुम्हि समवेदभावेण णत्थि सो परमाणू अपदेसओ त्ति परियम्मे वुत्तो।” (ष.ख./पु.१३/५.३,१८/पृ.१८)।

“परमाणु अप्रदेशी होता है और इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, ऐसा परिकर्म में कहा है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्रदेश का अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणु में समवेतभाव से नहीं है, वह परमाणु अप्रदेशी है, ऐसा परिकर्म में कहा है।”

“अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं” किसी गाथा के पूर्वार्द्ध का अंश प्रतीत होता है। उसका ‘णेव इंदिए गेज्झं’ पद कुन्दकुन्द के नियमसार की २६वीं गाथा में भी इसी प्रकार पाया जाता है और उस गाथा में परमाणु का ही स्वरूप बतलाया है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।

जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणीहि ॥ २६ ॥

“इस गाथा में णेव इंदिए गेज्झं पद से पहले अपदेसं पद नहीं है तथा परिकर्म के उक्त उद्धरण में अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं से पहले का कुछ गाथांश छोड़ दिया गया है। किन्तु उस छूटे हुए पद का पता अन्यत्र से चल जाता है और उस पर से यही प्रतीत होता है कि उक्त गाथा कुन्दकुन्द के ही किसी ग्रन्थ की होनी चाहिए और वह ग्रन्थ परिकर्म हो सकता है।”^{१२}

१२. “आचार्य कुन्दकुन्दकृत परिकर्म नामक ग्रन्थ”/ ‘जैनसिद्धान्त-भास्कर’/ भाग २३/ किरण २/ पृष्ठ २१।

इसका खुलासा पण्डित जी ने अपने लेख में आगे किया है। पण्डित जी का यह लेख शोधपूर्ण है और इससे इस बात की पुष्टि होती है कि परिकर्म ग्रन्थ का अस्तित्व था और उसके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द थे।

फिर भी यदि यह माना जाय कि कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ नहीं लिखा, तो भी वे निम्नलिखित कारणों से षट्खण्डागम के रचनाकाल से उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं—

१. 'नमो अरिहंतानं। नमो सवसिधानं' इस खारवेल के हाथीगुम्फाभिलेख-गत शिलालेखीय प्राकृत में निबद्ध द्विनमस्कारमंत्र के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत में—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवञ्जायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥^{१३}

इस पञ्चनमस्कार मंत्र की सर्वप्रथम रचना षट्खण्डागम में हुई है। इसके आदिकर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं,^{१४} इसका स्पष्टीकरण टीकाकार वीरसेन स्वामी ने निम्न शब्दों में किया है—

“तं च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवता-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। इदं पुण जीवट्टाणं णिबद्धमंगलं, 'एत्तो इमेसिं चोइसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-‘णमो अरिहंताणं’ इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो।” (धवला / ष. खं. / पु. १ / १, ११ / पृ. ४२)।

अनुवाद—“वह मंगल दो प्रकार का है : निबद्ध और अनिबद्ध। ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार जो स्वरचित पद्य के द्वारा देवता को नमस्कार करता है, उसे निबद्धमंगल कहते हैं। तथा जो पर-रचित पद्य के द्वारा देवतानमस्कार किया जाता है, वह अनिबद्धमंगल कहलाता है। यह जीवस्थान नाम का प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगलवाला है, क्योंकि इसके 'इमेसिं चोइसण्हं जीवसमासाणं' इस सूत्र के आदि में णमो अरिहंताणं इत्यादि देवता-नमस्कार ग्रन्थकार द्वारा निबद्ध दिखाई देता है।”

इससे स्पष्ट है कि षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड 'जीवस्थान' के प्रथमसूत्र के रूप में जो पंचणमोकार मंत्र निबद्ध है, वह षट्खण्डागम के कर्ता आचार्य पुष्पदन्त के द्वारा ही रचा गया है। वे ही इस महामंत्र के आद्यकर्ता हैं। अतः आचार्य कुन्दकुन्द

१३. षट्खण्डागम / पुस्तक १ / १, १, १ / पृष्ठ ८।

१४. षट्खण्डागम / पु. १ / सम्पादकीय / पृष्ठ ५।

ने प्रवचनसार के आदि में जो—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।

अञ्जावयवग्गाणं साहूणं चव सव्वेसिं ॥ ४ ॥

यह पंचनमस्कार निबद्ध किया है, वह षट्खण्डागम के उपर्युक्त प्रसिद्ध पंचनमस्कार मंत्र का ही अनुकरण है। उसे उन्होंने निबद्ध (स्वरचित) बनाने के लिए कुछ शाब्दिक परिवर्तन किया है, आइरियाणं के स्थान में गणहराणं तथा उवञ्जायाणं की जगह अञ्जावयवग्गाणं (अध्यापकवर्गेभ्यः) का प्रयोग किया है। यह कुन्दकुन्द के 'षट्खण्डागम' से परवर्ती होने का प्रमाण है।

२. षट्खण्डागम में गुण एवं ठाण (स्थान) शब्दों के अतिरिक्त जीवसमास शब्द का प्रयोग गुणस्थान के अर्थ में हुआ है। किन्तु जीव के एकेन्द्रियादि भेदों के लिए न तो 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग किया गया है, न 'जीवस्थान' का और न 'जीवनिकाय' का।^{१५} उक्त जीवभेदों के लिए 'जीवस्थान' (जीवद्वाराण) एवं 'जीवनिकाय' शब्दों का व्यवहार सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। यह इस बात का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है कि षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द के पूर्व हुई है। (देखिए, अध्याय १०/प्रकरण १/शीर्षक ४.३)। यतः षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व हुई है और कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुए हैं, अतः सिद्ध है कि षट्खण्डागम उनसे पहले अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध में रचा गया है।

२

विक्रम की पाँचवीं शती के मत का निरसन

डॉ० सागरमल जी ने भी अपनी दोलायमान मनःस्थिति के बीच धरसेन के अनेक काल-विकल्पों में से ई० सन् ५७ (वीर नि० सं० ५८४) भी एक विकल्प स्वीकार किया है। किन्तु, वे इस पर स्थिर नहीं रह सके और षट्खण्डागम का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी घोषित कर दिया। इसका प्रयोजन था षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरकालीन सिद्ध करना। क्योंकि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना षट्खण्डागम और कुन्दकुन्दसाहित्य

१५. टीकाकार आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड का नाम 'जीवद्वाराण' (जीवस्थान) रखा है, और वहाँ वह गुणस्थानों तथा मार्गणाओं की अपेक्षा सत्-संख्या आदि रूप से जीवतत्त्व की मीमांसा करनेवाले शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है, जीव के एकेन्द्रियादि चौदह भेदों के अर्थ में नहीं। (देखिए, अध्याय १०/प्रकरण १/पादटिप्पणी ४४)।

के आधार पर हुई है। इससे तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध होता है। डॉक्टर सा० को यह स्वीकार्य नहीं था। अतः इसे असम्भव साबित करने के लिए उन्होंने दो कपोलकल्पनाओं को जन्म दिया। वे हैं—गुणस्थानसिद्धान्त और सप्तभंगी के विकसित होने की कल्पनाएँ। डॉक्टर सा० का कथन है कि विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में रचित तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त और सप्तभंगी की चर्चा नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम का निरूपण तो गुणस्थानसिद्धान्त पर ही आधारित है। (जै. ध. या. स. / पृ. २४८ - २४९, २५२)। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थानसिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था। अतः तत्त्वार्थसूत्र षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में हुई थी, इसलिए षट्खण्डागम का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी घटित होता है। (गुण. सिद्धा.: एक विश्ले./पृ.४)।

डॉक्टर सा० के इस मत की चर्चा विस्तार से आचार्य कुन्दकुन्द का समय नामक अध्याय में की जा चुकी है और वहाँ सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि गुणस्थानसिद्धान्त और सप्तभंगीनय के विकसित होने की मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। ये दोनों सिद्धान्त भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं और गुरु-परम्परा से आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकार को प्राप्त हुए थे। अतः इन्हें तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ मानकर षट्खण्डागम तथा समयसार आदि को तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती (विक्रम की छठी शताब्दी का) सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है। तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० है, यह आचार्य कुन्दकुन्द का समय नामक अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है। और उसकी रचना षट्खण्डागम तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर हुई है, अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है।

३

षट्खण्डागम के तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन होने के प्रमाण

आचार्य कुन्दकुन्द का समय नामक दशम अध्याय^{१६} में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि वे तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती हैं तथा प्रस्तुत अध्याय के इस द्वितीय प्रकरण के शीर्षक क्र. १ के नीचे इस तथ्य के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं कि षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पहले हुई है। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है। इसकी पुष्टि अन्य अनेक प्रमाणों से भी होती है, जो इस प्रकार हैं—

१६. देखिए, अध्याय १०/ प्रकरण १/ शीर्षक ४.१, ४.२, ४.३, ४.४।

३.१. तीर्थकर-प्रकृति-बन्ध के सोलह कारण षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र में जो तीर्थकरप्रकृति के बन्ध के सोलह कारण बतलाये गये हैं, वे षट्-खण्डागम से ही गृहीत हैं, क्योंकि श्वेताम्बर-आगमग्रन्थ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग में बीस कारणों का वर्णन है। सोलह कारण किसी भी श्वेताम्बरग्रन्थ में निर्दिष्ट नहीं है, दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में ही सर्वप्रथम उनका उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र में उक्त सोलह कारण षट्खण्डागम से ही अनुकृत किये गये हैं, अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है। इन सोलह और बीस कारणों का वर्णन करनेवाले सूत्र इसी अध्याय के चतुर्थप्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखकमहोदय इस सत्य को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हुए, इसलिए इसका अपलाप करने के लिए उन्होंने कल्पना का सहारा लिया और कहा—“यह भी सम्भव है कि उमास्वाति की उच्च नागर शाखा प्रारम्भ में १६ कारण ही मानती हो।” (जै.ध.या.स./पृ.३३)। और अन्त में वे लिखते हैं—“तीर्थकरनामकर्म-बन्ध के बीस कारण हैं, यह अवधारणा आगमकाल में नहीं, निर्युक्तिकाल में स्थिर हुई है और वहीं से ज्ञाताधर्मकथा में डाली गयी है।” (जै.ध.या.स./पृ.३३२)।

किन्तु ग्रन्थलेखकमहोदय की उपर्युक्त पहली कल्पना और दूसरी स्थापना प्रमाण प्रस्तुत करने पर ही सत्य सिद्ध हो सकती थीं, जो उन्होंने प्रस्तुत नहीं किये। इससे सिद्ध है कि वे अप्रामाणिक हैं। दूसरे, यह मान भी लिया जाए कि बीस कारणोंवाली अवधारणा निर्युक्तिकाल में स्थिर हुई हो और उसी समय ज्ञाताधर्मकथा में प्रक्षिप्त हुई हो, तथापि किसी भी श्वेताम्बर-आगम में तीर्थकरप्रकृति के बन्ध के सोलह कारणों का उल्लेख नहीं है। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सोलह कारणों का आधार श्वेताम्बर आगम नहीं हैं, अपितु दिगम्बर-आगमग्रन्थ षट्खण्डागम है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों की रचना षट्खण्डागम के आधार पर हुई है। (देखिये, अगले शीर्षक)।

३.२. गुणश्रेणीनिर्जरा के दस स्थान षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र (९/४५) में गुणश्रेणिनिर्जरा के जिन दस स्थानों का निर्देश है, वे भी षट्खण्डागम से ही ग्रहण किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बरपरम्परा के किसी भी आगमग्रन्थ में इनका वर्णन नहीं है।

श्वेताम्बर-आचारांगनिर्युक्ति में गुणश्रेणिनिर्जरा-प्रतिपादक ‘सम्मत्तुप्पत्ती सावए’ इत्यादि दो गाथाएँ मिलती हैं, वे भी षट्खण्डागम से ही अपनायी गयी हैं। इसका विस्तार से प्रतिपादन दशम अध्याय के पञ्चम प्रकरण में किया गया है।

३.३. तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों की रचना का आधार षट्खण्डागम

तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्रों के बीज भी श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय में भी इनके बीज 'नन्दिसूत्र' और 'अनुयोगद्वार' में बतलाये गये हैं। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों की रचना पाँचवी शताब्दी ई० में हुई है। अतः ये सूत्र तत्त्वार्थसूत्र से ही इन ग्रन्थों में पहुँचे हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय में द्रष्टव्य है। तत्त्वार्थसूत्र प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० की रचना है और षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की। अतः स्पष्ट है कि ये सूत्र षट्खण्डागम के सूत्रों के आधार पर ही रचे गये हैं। जानकारी के लिए यहाँ इन सूत्रों के साथ षट्खण्डागम के वे सूत्र भी उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनके आधार पर इनकी रचना हुई है—

१

- तत्त्वार्थसूत्र — नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः। (१/५)।
 षट्खण्डागम — चउव्विहो पयडिणिक्खेवो— णामपयडी, टुवणपयडी, दव्वपयडी, भावपयडी चेदि। (पु.१३/५,५,४/पृ.१९८)।

२

- तत्त्वार्थसूत्र — सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च। (१/८)।
 षट्खण्डागम — संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पबहुगाणुगमो चेदि। (पु.१/१,१,७)।

३

- तत्त्वार्थसूत्र — मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। (१/१३)।
 षट्खण्डागम — सण्णा सदी मदी चिन्ता चेदि। एवमाभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स अण्णा परूवणा कदा होदि। (पु.१३/५,५,४१-४२)।

४

- तत्त्वार्थसूत्र — अवग्रहेहावायधारणाः। (१/१५)।
 षट्खण्डागम — चउव्विहं ताव ओग्गहावरणीयं ईहावरणीयं अवायावरणीयं धारणावरणीयं चेदि। (पु.१३/५,५,२३)।

५

- तत्त्वार्थसूत्र — अर्थस्य (१/१७)। व्यञ्जनस्यावग्रहः। (१/१८)।
 षट्खण्डागम — जं तं ओग्गहावरणीयं णाम कम्मं तं दुविहं अत्थोग्गहावरणीयं
 चेव वंजणोग्गहावरणीयं चेव। (पु.१३/५,५,२४)।

६

- तत्त्वार्थसूत्र — न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। (१/१९)।
 षट्खण्डागम — जं तं वंजणोग्गहावरणीयं णाम कम्मं तं चउव्विहं सोदिंदिय-
 वंजणोग्गहावरणीयं घाणिंदियवंजणोग्गहावरणीयं जिब्भंदिय-
 वंजणोग्गहावरणीयं फासिंदियवंजणोग्गहावरणीयं चेव। (पु.१३/
 ५,५,२६)।

७

- तत्त्वार्थसूत्र — तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (१/१४)।
 षट्खण्डागम — चक्खिंदियअत्थोग्गहावरणीयं सोदिंदियअत्थोग्गहावरणीयं
 घाणिंदियअत्थोग्गहावरणीयं जिब्भंदियअत्थोग्गहावरणीयं फासिं-
 दियअत्थोग्गहावरणीयं णोइंदियअत्थोग्गहावरणीयं। तं सव्वं
 अत्थोग्गहावरणीयं णाम कम्मं। (पु.१३/५,५,२८)।

८

- तत्त्वार्थसूत्र — भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् (१/२१)।
 षट्खण्डागम — जं तं भवपच्चइयं तं देवणेरइयाणं। (पु.१३/५,५,५४)।

९

- तत्त्वार्थसूत्र — सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। (१/२९)।
 षट्खण्डागम — सइं भयवं उप्यण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स
 आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभाग्ं
 तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं
 अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि
 पस्सदि विहरदि त्ति। (पु.१३/५,५,८२)।

षट्खण्डागम के इन सूत्रों का संक्षिप्तीकरण कर 'तत्त्वार्थ' के उपर्युक्त सूत्रों की रचना की गई है।

३.४. षट्खण्डागम के भावानुयोगद्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण

तत्त्वार्थसूत्र (२/१-७) में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पाँच भावों का कथन किया गया है तथा आगे क्रमशः उनके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद भी बतलाये गये हैं। श्वेताम्बर-आगमों में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय (२/१-७/पृ. २९-३३) में इनको अनुयोगद्वार के षट्भाषाधिकार-गत विस्तृत गद्यात्मक वर्णनों से समन्वित करने की चेष्टा की गयी है। किन्तु जैसा कि पूर्व में कहा गया है, 'अनुयोगद्वार' ग्रन्थ पाँचवीं शती ई० की रचना है, अतः वह उक्त सूत्रों का आधार नहीं हो सकता। षट्खण्डागम के विशेषज्ञ पं० बालचन्द्र जी शास्त्री अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ षट्खण्डागम-परिशीलन में लिखते हैं—

“षट्खण्डागम में जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में सातवाँ एक स्वतंत्र भावानुयोगद्वार है। उसमें ओघ और आदेश की अपेक्षा उन भावों (औपशमिकादि पाँच भावों) की प्ररूपणा पृथक्-पृथक् विस्तार से की गई है। ओघ से जैसे-मिथ्यादृष्टि को औदयिक, सासादनसम्यग्दृष्टि को पारिणामिक, सम्यग्मिथ्यादृष्टि को क्षायोपशमिक, असंयम को औदयिक, संयमासंयम आदि तीन को क्षायोपशमिक, चार उपशमकों को औपशमिक तथा चार क्षपकों और सयोग-अयोग केवलियों को क्षायिकभाव कहा गया है।^{१७}

“इसी प्रकार से आगे आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में भी उन भावों की प्ररूपणा की गई है।

“इस प्रकार ष० खं० के उस भावानुयोगद्वार में पृथक्-पृथक् एक-एक भाव को लेकर विशदता की दृष्टि से प्रश्नोत्तर शैली में जिन भावों की विस्तार से प्ररूपणा की गई है, वे सभी भाव संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्र के उन सूत्रों (२/१-७) में अन्तर्भूत हैं।

“इस स्थिति को देखते हुए यदि यह कहा जाय कि ष० खं० के उस भावानुयोगद्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण किया गया है, तो असंगत नहीं होगा।” (षट्. परि. / पृ. १६७-१६८)।

आदरणीय पण्डित जी का यह निष्कर्ष सर्वथा युक्तिसंगत है।

१७. षट्खण्डागम / पृ. ५ / १, ७, १-९ / पृ. १८३-२०५ (क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत 'स्वामित्व' अनुयोगद्वार भी द्रष्टव्य है, षट्खण्डागम / पृ. ७ / २, १, ३-९१ / पृ. ७-११३)।

३.५. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणस्थानों के नाम श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। समवायांग में उपलब्ध हैं, किन्तु श्वेताम्बर विद्वानों ने उन्हें प्रक्षिप्त माना है। अतः यह निर्विवाद है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणस्थानों का आगमिक आधार षट्खण्डागम ही है।

३.६. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में नयविकास

दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत, इन सात नयों का उल्लेख है। श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में प्रथमतः नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों का नामनिर्देश करके आद्य नय के दो और शब्द नय के तीन भेद बतलाये गये हैं। इसे भाष्य में स्पष्ट करते हुए 'आद्य' से नैगमनय को ग्रहण कर उसके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी इन दो भेदों का तथा 'शब्द' के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन भेदों का निर्देश किया गया है।^{१८}

किन्तु षट्खण्डागम में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों के अनुसार ही वर्णन मिलता है, शब्दनय के भेदभूत समभिरूढ और एवंभूत, इन दो नयों का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता (षट्.परि./पृ.१६६-१६७)। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में नयों का विकास हुआ है, अतः षट्खण्डागम उससे पूर्व की रचना है।

३.७. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादनशैली का विकास

षट्खण्डागम (पु.१२/४, २, ८ सूत्र २-११) में निम्नलिखित भावों को सामान्य रूप से आठों कर्मों के बन्ध का प्रत्यय बतलाया गया है : प्राणातिपात आदि पाँच पाप, रात्रिभोजन, क्रोधादि चार कषाय, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान (प्रस्थ आदि माप के उपकरण), मेय (मापे जाने योग्य गेहूँ आदि), मोष (चोरी), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग।

तत्त्वार्थसूत्र (६/१०-२७) में इन भावों को इसी रूप में बन्ध का प्रत्यय निरूपित नहीं किया गया, अपितु इनसे जो ज्ञानादि के प्रदोष, निहव, मात्सर्य, केवलिश्रुतसंघ के अवर्णवाद आदि की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न कर्मों के तीव्रस्थिति-अनुभाग पूर्वक बन्ध का प्रत्यय बतलाया गया है। इससे यह सरलतया

१८. "आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यानैगममाह। स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति। शब्दस्त्रिभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति।" तत्त्वार्थधिगमभाष्य १ / ३५।

से समझ में आ जाता है कि किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ किस कर्म के प्रमुखतया बन्ध का कारण हैं (षट्. परि./पृ.१७७)। यह विभेदीकृत एवं सरलीकृत स्पष्टीकरण प्रतिपादनशैली के विकास का सूचक है, जो तत्त्वार्थसूत्र को षट्खण्डागम से परवर्ती साबित करता है।

ये विभिन्न प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से पूर्व की रचना है। इससे यह निर्णय आसानी से हो जाता है कि यतः तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ई० का पूर्वार्ध है, अतः षट्खण्डागम की रचना उससे पूर्व हुई है। और यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुए आचार्य कुन्दकुन्द से भी पहले रचा गया है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि वह ईसापूर्व प्रथम शती की रचना है।

४

षट्खण्डागम की रचना यापनीयसंघोत्पत्ति से बहुत पहले

षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचा गया था और यापनीय संघ का इतिहास नामक सप्तम अध्याय में सिद्ध किया गया है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। इसलिए उससे लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, इन तीनों के यापनीय-आचार्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता तथा यापनीयपूर्व-उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ कपोलकल्पित है, अतः उसका आचार्य होना भी बन्ध्यापुत्र के समान असंभव है। अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि ये तीनों मूलसंघ के अर्थात् दिगम्बर-जैन-परम्परा के आचार्य थे, इसलिए इनके द्वारा उपदिष्ट और रचित षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति के विधान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसमें संयतगुणस्थान का प्रतिपादन भावमानुषी के लिए किया गया है, द्रव्यमानुषी के लिए नहीं। तथा श्वेताम्बरग्रन्थ प्रज्ञापना और दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में जो समान गाथाएँ हैं, वे इन दोनों परम्पराओं को अपने मूलस्रोत ऐकान्तिक अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ से प्राप्त हुई हैं। और छठी शती ई० में रचित श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति से साम्य रखनेवाली गाथाएँ षट्खण्डागम से ही आवश्यकनिर्युक्ति में पहुँची है, क्योंकि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचित षट्खण्डागम में छठी शताब्दी ई० में रची गयी आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं का आना असंभव है।



तृतीय प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखक ने आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को स्वकल्पित उत्तरभारतीय सचेलाचेल निग्रन्थ परम्परा या यापनीय-परम्परा का आचार्य सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कुछ तो असत्य हैं अर्थात् उनका अस्तित्व ही नहीं है। और शेष हेत्वाभास हैं अर्थात् वे भले ही हेतु जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु हेतु नहीं हैं, अहेतु हैं। यद्यपि जिसका अस्तित्व नहीं है, वह भी स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, तथापि उसकी असत्यता का त्वरित बोध कराने के लिए उसे 'असत्य' विशेषण से ही प्रस्तुत ग्रन्थ में अभिहित किया जा रहा है। उक्त हेतुओं में से कौन असत्य है और कौन हेत्वाभास है। इसका निर्णय आगे प्रस्तुत है, यापनीयपक्ष-समर्थक हेतु का निर्देश यापनीयपक्ष शीर्षक के नीचे तथा उसकी असत्यता या हेत्वाभासता का प्रकाशन दिगम्बरपक्ष शीर्षक के नीचे द्रष्टव्य है।

१

दिगम्बरपट्टावली में नाम न होना दिगम्बर न होने का हेतु नहीं

यापनीयपक्ष

यापनीय पक्षधर विद्वान् लिखते हैं—“इतना तो निश्चित है कि धरसेन मूलसंघीय दिगम्बर-परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य रहे हैं। तिलोयपण्णती, हरिवंशपुराण और अभिलेखीय पट्टावली^{१९} में धरसेन का नामोल्लेख न होना भी यह सूचित करता है कि या तो वे किसी भिन्न परम्परा के थे या फिर इनमें सूचित आचार्यों से पर्याप्त परवर्ती हैं।” (जै.ध.या.स./ पृ. ९२)।

दिगम्बरपक्ष

कुन्दकुन्द, स्वामिकुमार, समन्तभद्र, पूज्यपादस्वामी जैसे सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्यों के नाम भी तिलोयपण्णती और हरिवंशपुराण में निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा में नहीं मिलते, पर इनके दिगम्बर होने में उक्त यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक को भी सन्देह नहीं है। अतः दिगम्बर-ग्रन्थोल्लिखित पट्टावलियों में धरसेन के नाम का निर्देश न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वे दिगम्बर नहीं थे। फलस्वरूप धरसेन को दिगम्बरपरम्परा

१९. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र.१ एवं १०५।

का आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु, हेतु नहीं, हेत्वाभास है।

तथा उक्त ग्रन्थलेखक दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन के नाम का अभाव बतलाते समय यह भूल गये कि उनका नाम श्वेताम्बरीय और यापनीय-पट्टावलियों में भी नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्वयं स्वीकार किया है कि “कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें धरसेन के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती।” (जै.ध.या.स./पृ.९०)। और यापनीयसम्प्रदाय की कोई स्वतन्त्र पट्टावली उपलब्ध नहीं है। वे श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे, अतः श्वेताम्बर-स्थविरावलियों की आचार्य-परम्परा ही उनकी आचार्यपरम्परा थी। तथा इसी आचार्यपरम्परा को ग्रन्थलेखकमहोदय ने स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा बतलाया है। उसमें भी धरसेन का नाम उपलब्ध नहीं है। अतः ग्रन्थलेखक के ही तर्क के अनुसार सिद्ध होता है कि धरसेन न तो श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य थे, न उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ परम्परा के, न ही यापनीयपरम्परा के। अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से वे दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।

२

दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन का नाम उपलब्ध भी है

तथा दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली, इन्द्रनन्दिकृत ‘श्रुतावतार’, विबुधश्रीधरकृत ‘श्रुतावतार’ एवं धवलाटीका में धरसेन के नाम का उल्लेख भी है। उपर्युक्त ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी ने दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली की प्रामाणिकता में पहले सन्देह व्यक्त किया, किन्तु आगे चलकर उसमें धरसेन के नामोल्लेख को स्वीकार कर उनके वीर नि० सं० ५८४ में दीक्षित और स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य होने की संभावना व्यक्त की है। (जै.ध.या.स./पृ.९२)। तथा उसके बाद इसी पट्टावली को यापनीयसंघ की पट्टावली घोषित कर उसे धरसेन के यापनीय होनेका प्रमाण मान लिया है। उनके निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—“पुनः जिस नन्दीसंघ की पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दीसंघ भी यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप (कडब) के शक संवत् ७३५, ईस्वी सन् ८१२ के एक अभिलेख में श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुनागवृक्ष-मूलगण ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय और नन्दीसंघ की इस एकरूपता और नन्दीसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।” (जै.ध.या.स./पृ.९३)।

नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीय-पट्टावली नहीं

यापनीयपक्ष

पूर्वोद्धृत वक्तव्य में यापनीयपक्षधर विद्वान् ने कहा है कि नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं। (जै.ध.या.स./पृ.९३)।

दिगम्बरपक्ष

उपर्युक्त पट्टावली मूलसंघीय-नन्दीसंघ की अर्थात् दिगम्बरनन्दिसंघ की ही है, यापनीयनन्दिसंघ की नहीं, क्योंकि उसमें नन्दीसंघ के साथ मूलसंघ का उल्लेख है। यथा—“श्रीमूलसङ्घप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे।” (श्लोक २, The Indian Antiquary, Vol.XX, p.344)। प्रथमशुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी कहा गया है कि मूलसंघ में नन्दीसंघ उत्पन्न हुआ था—“श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घः।” (श्लोक २/ती. म.अ.प./खं.४/पृ.३९३)। यापनीय-नन्दिसंघ या यापनीय-पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ सर्वत्र ‘यापनीय’ विशेषण का प्रयोग हुआ है। यथा—

१. “श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे ---।”

जै.शि.सं./मा.च./भा.२/कडब ले.क्र.१२४।

२. “श्रीयापनीयसंघद पुन्नागवृक्षमूलगणद ---।”

जै.शि.सं./भा.ज्ञा./भा.४/हूलि ले.क्र.१३०।

यतः नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में नन्दीसंघ को मूलसंघ के ही अन्तर्गत बतलाया गया है, अतः सिद्ध है कि वह दिगम्बरसंघ की ही है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्य भी इसके गवाह हैं कि वह दिगम्बरसंघ की ही है—

१. उसमें जितने भी आचार्यों के नाम हैं, वे सब दिगम्बरपरम्परा के आचार्य हैं। उनमें से एक का भी नाम श्वेताम्बर-स्थविरावलियों या यापनीय-आचार्यों की सूची में नहीं मिलता।

२. यापनीयपक्षधर विद्वान् बोटिक शिवभूति को यापनीयसंघ का संस्थापक मानते हैं। उसके दो प्रमुख शिष्य थे : कौण्डिन्य और कोट्टवीर। इनमें से किसी का भी नाम उक्त पट्टावली में नहीं है।

३. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखक मानते हैं कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से पूर्व के अर्थात् ई० सन् ८२ से पहले के सभी आचार्य श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के आचार्य थे। उनके नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट हैं। किन्तु उनमें से एक का भी नाम नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उपलब्ध नहीं होता।

४. स्वयं यापनीय-नन्दिसंघ से सम्बद्ध पुन्नागवृक्षमूलगण के श्रीकित्याचार्य और उनके अन्वय में हुए कूविलाचार्य, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति आदि^{२०} के नाम उसमें अदृश्य हैं।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि नन्दिसंघ की पूर्वोक्त प्राकृतपट्टावली शतप्रतिशत दिगम्बरसंघ की है, यापनीयसंघ की नहीं। अतः उसमें आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नामों का उल्लेख सिद्ध करता है कि वे दिगम्बराचार्य ही थे। इस प्रकार यापनीयपक्षधर विद्वान् द्वारा आचार्य धरसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु भी असत्य है।

४

नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली सर्वथा अप्रामाणिक नहीं

यद्यपि दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में अनेक विसंगतियाँ हैं, तथापि उसमें धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नामों का निर्देश अप्रामाणिक नहीं है। क्योंकि ये तीनों आचार्य दिगम्बर ही थे, यह इस बात से सिद्ध है कि वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका में तथा इन्द्रनन्दी एवं विबुधश्रीधर ने अपने-अपने 'श्रुतावतार' नामक ग्रन्थों में उन्हें दिगम्बराचार्यों की परम्परा में ही दर्शाया है। तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों की किसी भी पट्टावली या ग्रन्थ में इनके नामों का उल्लेख नहीं है।

जिस समय धवलाटीका और इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार लिखा गया, उस समय यापनीय सम्प्रदाय अच्छी तरह फलफूल रहा था। यदि ये आचार्य उस सम्प्रदाय के होते, तो उन्हें दिगम्बराचार्य बतलाये जाने पर उनकी ओर से घोर विरोध किया जाता। किन्तु विरोध तो क्या, इन आचार्यों का नाम भी किसी यापनीयग्रन्थ या उस सम्प्रदाय के शिलालेख में उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा उपदिष्ट और रचित षट्खण्डागम ग्रन्थ में जिनसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे भी यापनीयमत

२०. "... श्रीयापनीयनन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे श्रीकित्याचार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु --- कूविलाचार्य---विजयकीर्ति---अर्ककीर्ति---।" (जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / भा.२ / कडब लेख क्र.१२४ / पृ.१३७)।

के प्रतिकूल एवं दिगम्बरमत के अनुकूल हैं। इनके उदाहरण आगे चतुर्थ प्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

इन तथ्यों से यह बात दिन के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तीनों आचार्य दिगम्बर ही थे। अतः नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में इनका उल्लेख सर्वथा प्रामाणिक है।

आश्चर्य यह है कि पूर्वोक्त ग्रन्थलेखक ने यापनीय-स्थविरावलियाँ उपलब्ध न होने तथा श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में धरसेन का नाम न होने पर भी उन्हें यापनीय मान लिया, किन्तु मात्र तिलोयपण्णत्ति आदि दो-तीन दिगम्बरग्रन्थों में नाम न होने से उन्हें दिगम्बर मानने से इनकार कर दिया, जबकि नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतार तथा धवलाटीका की आचार्यपरम्परा में उनका नाम निर्दिष्ट है। जिस दिगम्बरपरम्परा के साहित्य में धरसेन का नाम अनेकत्र उपलब्ध है, उस परम्परा का उन्हें मानने से इनकार कर देना और जिस यापनीयपरम्परा के साहित्य में उनका नाम ढूँढ़े नहीं मिलता, उस परम्परा का उन्हें सिद्ध करना, यह आकाश में कुसुम खिला देने का नैपुण्य 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के मान्य लेखक में ही दिखाई देता है। यह उनके पक्षपातपूर्ण दुहरे मानदण्ड का ज्वलन्त उदाहरण है।

५

धरसेन का एक अस्तित्वहीन संघ का आचार्य होना असंभव

यापनीयपक्ष

दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उल्लिखित धरसेन के पट्टकाल एवं जोणिपाहुड की बृहद्विष्णुणिका में निर्दिष्ट इस ग्रन्थ के रचनाकाल (वीर नि० सं० ६००) के आधार पर उक्त ग्रन्थलेखक ने माना है कि धरसेन वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व अर्थात् यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व दीक्षित हुए थे, अतः वे उस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य रहे होंगे, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्पन्न हुए थे। (जै.ध.या.स. / पृ.९२)।

दिगम्बरपक्ष

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि उत्तरभारत में तो क्या, भारत के किसी भी कोने में ऐसा कोई सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ विद्यमान नहीं था, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय संघों का उद्भव हुआ हो। जम्बूस्वामी के

निर्वाण के पूर्व तक केवल ऐकान्तिक-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ का ही अस्तित्व था। उसके बाद श्वेतपटसंघ के जन्म से दो संघ हो गये : निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) और श्वेतपटसंघ (श्वेताम्बरसंघ)। पश्चात् एक अर्धफालकसंघ का भी उदय हुआ। इनमें निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) एकान्त-अचेलमुक्तिवादी था और है तथा श्वेतपट (श्वेताम्बर) और अर्धफालक दोनों संघ सर्वथा सचेलमुक्तिवादी थे। सचेलाचेल-उभयमुक्तिवादी कोई भी श्रमणसंघ नहीं था। उसका उदय ईसा की पाँचवीं शती के आरंभ में हुआ था, जो यापनीयसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व ऐसे संघ के अस्तित्व की मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। अतः जिस तथाकथित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व ही नहीं था, धरसेन उस संघ के आचार्य कैसे हो सकते हैं? उस समय यापनीयसंघ का अस्तित्व था नहीं और श्वेताम्बरपरम्परा में धरसेन और उनके षट्खण्डागम का कोई उल्लेख नहीं है, अतः अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि धरसेन दिगम्बरसंघ के ही आचार्य थे।

इस प्रकार सिद्ध है कि आचार्य धरसेन को कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

६

जोगिपाहुड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ

यापनीयपक्ष

‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के लेखक का कथन है कि जोगिपाहुड ग्रन्थ का उल्लेख श्वेताम्बर-साहित्य में अधिक हुआ है, इससे सिद्ध होता है कि धरसेन उत्तरभारत के सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बद्ध थे। (पृष्ठ ९५)।

दिगम्बरपक्ष

यह ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदास जी ने स्वयं भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट, पूना में जाकर देखा था और उस पर से परिचय के कुछ नोट्स गुजराती में लिए थे। दिगम्बर-ग्रन्थ होने के कारण उन्होंने बाद को वे नोट्स सदुपयोग के लिए अपने मित्र पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को दे दिए थे। यह विवरण पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने ‘अनेकान्त’ पत्रिका में, १ जुलाई १९३९ के सम्पादकीय में दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि पं० बेचरदास जी ने इस ग्रन्थ का अध्ययन करके पाया था कि यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। आचार्य धरसेन के दिगम्बर होने का यह श्वेताम्बर विद्वान् द्वारा ही दिया गया प्रमाण है।

तथा धरसेन को जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बद्ध कहा गया है, उसका अस्तित्व ही नहीं था, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः धरसेन के उस अवास्तविक परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह है कि यदि उस परम्परा का अस्तित्व होता और धरसेन का उससे सम्बन्ध होता, तो षट्खण्डागम की रचना का इतिहास भी श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध होता। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि उस कपोलकल्पित परम्परा से सम्बद्ध नहीं थे।

यतः 'जोणिपाहुड' श्वेताम्बर नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है तथा धरसेन का जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बन्ध बतलाया गया है, उसका अस्तित्व ही नहीं था, अतः धरसेन को उससे सम्बन्धित सिद्ध करने के लिए उपस्थित किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

७

'पण्णसवण' उपाधि का एक अस्तित्वहीन संघ से सम्बन्ध असंभव

यापनीयपक्ष

भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना में उपलब्ध 'जोणिपाहुड' की प्रति में उसके कर्ता धरसेन को **पण्णसवण** (प्रज्ञाश्रमण) कहा गया है। यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी कहते हैं कि यह श्वेताम्बर-यापनीयों के जनक उत्तर-भारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ में प्रचलित उपाधि थी। (जै. ध. या. स. / ९५) अतः धरसेन उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य थे।

दिगम्बरपक्ष

किन्तु उक्त संघ का अस्तित्व ही नहीं था, अतः उसके साथ कथित उपाधि का सम्बन्ध असंभव है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थलेखक ने श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं के ग्रन्थों में इस उपाधि के उल्लेख का एक भी प्रमाण नहीं दिया। जो दिये हैं वे दिगम्बरपरम्परा के 'धवला' और 'तिलोयपण्णत्ती' से हैं। श्वेताम्बरग्रन्थ नन्दीसूत्र से **पसण्णमण** शब्द उदाहृत किया है, किन्तु इसका अर्थ तो **प्रसन्नमन** होता है, प्रज्ञाश्रमण नहीं। जिस गाथा में वह आया है, उस पर दृष्टिपात करें—

णाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।

अज्जं नंदिलखमणं सिरसा वंदे **पसन्नमणं** ॥ ३३ ॥ नन्दीसूत्र।

अनुवाद—“जो ज्ञान, दर्शन, तप और विनय में सदा संलग्न रहते थे, उन प्रसन्नमनवाले (रागद्वेषरहित) आर्य नन्दिल-क्षमण की मैं मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ।”

इस गाथा का हिन्दी अनुवाद करने वाले मुनि श्री पारसकुमार जी महाराज सा० ने भी ‘प्रसन्नमण’ का अर्थ प्रसन्नमनवाले (रागद्वेषरहित अन्तःकरणवाले) किया है।^{२१}

इस तरह यहाँ ‘प्रसन्नमण’ का अर्थ स्पष्टतः ‘प्रसन्नमनवाले’ है। किन्तु ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के लेखक कहते हैं कि “उसमें वर्णव्यत्यय हुआ है, मेरी दृष्टि में उसे पण्णसमण होना चाहिए।” (जै.ध.या.स./ पृ.९५)। इस तरह मान्य ग्रन्थलेखक ने अपनी दृष्टि (स्वाभीष्टमत) आरोपित कर ‘प्रसन्नमण’ को ‘पण्णसवण’ बना दिया और श्वेताम्बरसाहित्य में ‘पण्णसवण’ उपाधि के प्रयोग का उदाहरण दे दिया। उन्हें श्वेताम्बरसाहित्य में कहीं सही रूप में लिखा ‘पण्णसवण’ शब्द नहीं मिला। इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बर साहित्य में कहीं भी किसी मुनि के लिए ‘पण्णसवण’ उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस प्रकार न तो श्वेताम्बरसाहित्य में ‘पण्णसवण’ उपाधि का उल्लेख है, न ही उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व था। अतः आचार्य धरसेन को उक्त संघ से सम्बद्ध सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये दोनों हेतु असत्य हैं।

उक्त ग्रन्थलेखक द्वारा दिगम्बरग्रन्थों से दिये उदाहरणों से सिद्ध है कि ‘पण्णसवण’ (प्रज्ञाश्रमण) एक ऋद्धि का नाम है, जो दिगम्बर ऋषियों को प्राप्त होने पर वे इस उपाधि से प्रसिद्ध किये जाते थे। आचार्य धरसेन इस उपाधि से प्रसिद्ध थे, (ष.खं./पु.१/प्रस्ता./पृ.२५)। अतः सिद्ध है कि वे दिगम्बरपरम्परा से सम्बद्ध थे, अन्य किसी परम्परा से नहीं।

८

शाब्दिक उलटफेर युक्ति-प्रमाणविरुद्ध

यापनीयपक्ष

पूर्वोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक ने शाब्दिक उलटफेर कर प्रसन्नमण को पण्णसवण बनाने की कोशिश की है। इसी प्रकार का शाब्दिक उलटफेर करके कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित पुसगिरि को पुष्यदन्त और भूतदिन्न को भूतबलि बनाने का उपक्रम किया है। वे लिखते हैं—

२१. नन्दीसूत्र/पृ. २३/प्रकाशक-अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, म.प्र./
१९८४ ई.।

“मथुरा के हुविष्क वर्ष ४८ के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के धर का उल्लेख है। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है, पूरा नाम धरसेन हो। क्योंकि कल्पसूत्र-स्थविरावली में शान्तिसेन, वज्रसेन आदि सेन-नामान्तक नाम मिलते हैं। अतः इसके धरसेन होने की सम्भावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र-स्थविरावली में एक पुसगिरि का भी उल्लेख मिलता है, हो सकता है, ये पुष्पदन्त हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र-वाचकवंश-स्थविरावली में भूतदिन्न का भी उल्लेख है। इनका समीकरण भूतबलि से किया जा सकता है।” (जै.ध.या.स./पृ.९६)।

दिगम्बरपक्ष

यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है—

१. श्वेताम्बरीय स्थविरावलियों में पुसगिरि और भूतदिन्न नामों का ही उल्लेख है। पुष्पदन्त और भूतबलि नाम न तो श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में उपलब्ध हैं, न श्वेताम्बर-साहित्य में। अतः पुसगिरि को पुष्पदन्त और भूतदिन्न को भूतबलि मानने का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है।

२. श्वेताम्बरसाहित्य में पुसगिरि और भूतदिन्न के द्वारा षट्खण्डागम की रचना किये जाने का उल्लेख नहीं है। इसलिए इनका षट्खण्डागम के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध पुष्पदन्त और भूतबलि से एकीकरण करने का कोई आधार नहीं है।

३. शब्दों में इतनी अधिक भिन्नता है कि पुसगिरि से पुष्पदन्त और भूतदिन्न से भूतबलि हो जाने में वर्ण-व्यत्यय की भी कल्पना नहीं की जा सकती। और भाषाविज्ञान का ऐसा कोई नियम है नहीं, जिसके अनुसार पुसगिरि के पु को छोड़कर शेष वर्णों के स्थान में विकल्प से पुष्पदन्त आदेश तथा भूतदिन्न के दिन्न के स्थान में बलि आदेश हो जाता हो। यदि ऐसा नियम होता, तो उसके उदाहरण प्राकृतव्याकरणों में दिये जाते और वे श्वेताम्बरसाहित्य में एक ही व्यक्ति के लिए विकल्प से प्रयुक्त हुए मिलते। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त नामों को एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानने का कोई भाषावैज्ञानिक आधार भी नहीं है।

४. शब्दों के अर्थ में भी अत्यन्त भिन्नता है। ‘भूतदिन्न’ का अर्थ है ‘भूतदत्त’ अर्थात् ‘भूतों के द्वारा दिया हुआ।’ और भूतबलि का अर्थ है ‘भूतों ने जिसकी पूजा की।’ प्रथम शब्द के अर्थानुसार मनुष्य के द्वारा भूत पूजनीय है, दूसरे शब्द के अर्थानुसार भूतों के द्वारा मनुष्य पूजनीय है। इस तरह अर्थ की दृष्टि से भी जो शब्द परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, वे एक ही व्यक्ति के वाचक नहीं हो सकते।

५. दिगम्बरसाहित्य में भूतबलि और पुष्पदन्त के मौलिक नाम क्रमशः नरवाहन और सुबुद्धि बतलाये गये हैं।^{२२} कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों में इन नामों को भूतदिन्न और पुसगिरि का मौलिक नाम नहीं बतलाया गया है। इससे भी उनका एकीकरण युक्तिसंगत नहीं है।

६. नन्दीसूत्र के भूतदिन्न नागार्जुन ऋषि के शिष्य हैं,^{२३} जबकि भूतबलि धरसेनाचार्य के। इससे बिलकुल स्पष्ट है कि दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।

७. यदि पुसगिरि और भूतदिन्न षट्खण्डागम के कर्ता होते, तो षट्खण्डागम के कर्ताओं के रूप में ये ही नाम प्रसिद्ध होते, क्योंकि श्वेताम्बर स्थविरावलियों में ये ही नाम सुरक्षित हैं। और यदि श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में उनके स्थान पर पुष्पदन्त और भूतबलि नाम चल पड़े होते, तो वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में अवश्य आते। ऐसा नहीं हुआ, इससे स्पष्ट है कि पुसगिरि और भूतदिन्न का षट्खण्डागम के कर्ता पुष्पदन्त और भूतबलि से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

८. हुविष्क के शिलालेख में जो धर शब्द का उल्लेख है, वह यदि षट्खण्डागम के उपदेष्टा धरसेन का उल्लेख होता, तो श्वेताम्बरीय-स्थविरावलियों में भी धरसेन का नाम आता और श्वेताम्बरसाहित्य में उनके द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि को षट्खण्डागम की विषयवस्तु का उपदेश दिये जाने का भी उल्लेख अवश्य होता। किन्तु ऐसा नहीं है, इससे स्पष्ट है कि शिलालेख के धर को धरसेन और वह भी षट्खण्डागम का उपदेष्टा मानना सर्वथा निराधार है।

इन युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि हुविष्क के अभिलेख में उत्कीर्ण धर धरसेन नहीं हैं और श्वेताम्बर स्थविरावलियों में उल्लिखित पुसगिरि और भूतदिन्न पुष्पदन्त और भूतबलि नहीं हैं। 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने शब्दों का उलटफेर कर असत्य हेतु के द्वारा षट्खण्डागम के कर्ताओं को श्वेताम्बरीय स्थविरावलियों में उल्लिखित सिद्ध करने की चेष्टा की है, जिससे उन्हें स्वकल्पित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का आचार्य सिद्ध किया जा सके। यह उनके स्वाभीष्ट शब्दारोपणरूप छलवाद के द्वारा दिगम्बरग्रन्थों को यापनीय ग्रन्थ सिद्ध करने का ज्वलन्त उदाहरण है।

२२. "भूतबलिप्रभावाद् भूतबलिनामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति। समदन्तचतुष्टयप्रभावात् सदबुद्धिः पुष्पदन्तनामा मुनिर्भविष्यति।" (चार समान दाँतों के प्रभाव से सदबुद्धि) - विबुधश्रीधर-श्रुतावतार।

२३. जगभूयहियप्पगब्भे वन्देऽहं भूयदिन्नमायरिण्।

भवभयबुच्छेयकरे सीसे नागज्जुणरिसीर्णं ॥ ४५ ॥ नन्दीसूत्र।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उत्तराधिकारी दिगम्बर और श्वेताम्बर

यापनीयपक्ष

पूर्वोक्त ग्रन्थ के लेखक लिखते हैं “यह स्पष्ट है कि धरसेन ने षट्खण्डागम की रचना नहीं की थी, उन्होंने तो मात्र पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का अध्ययन कराया था। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत भी उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा में ही निर्मित हुआ था। --- वस्तुतः यही कर्मप्रकृतिशास्त्र आगे चलकर श्वेताम्बर-परम्परा में शिवशर्म द्वारा रचित कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों का और यापनीयपरम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम का आधार बना है। चूँकि यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही इस परम्परा के उत्तराधिकारी थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि दोनों परम्पराओं में इस कर्मप्रकृतिशास्त्र के आधार पर ग्रन्थरचनाएँ हुईं। अतः धरसेन उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।” (जै.ध.या.स./पृ.९७)।

दिगम्बरपक्ष

यह सिद्ध किया जा चुका है कि श्वेताम्बर-यापनीयों की मातृभूत उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा नाम की कोई परम्परा ही नहीं थी। वह ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के लेखक की मनःकल्पित सृष्टि है। अतः धरसेन का अविद्यमान परम्परा से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य थे।

उत्तरभारत के एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-मूल-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन होने पर केवल श्वेताम्बर शाखा उत्पन्न हुई थी, न कि श्वेताम्बर और यापनीय दो शाखाएँ। निर्ग्रन्थसंघ पूर्ववत् विद्यमान रहा, अतः श्वेताम्बरसंघ का जन्म होने पर दो संघ हो गये : निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) और श्वेताम्बरसंघ। यह विभाजन अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् वीरनिर्वाण सं० ६२ (४६५ ई० पू०) में हुआ था। यापनीयसंघ की उत्पत्ति इस संघविभाजन से लगभग ८८५ वर्ष बाद (पाँचवीं शताब्दी ई० में) श्वेताम्बरसंघ से दक्षिणभारत में हुई थी। अतः उत्तरभारतीय एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ में रचित महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अधिकारी स्वयं यह निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) एवं श्वेताम्बरसंघ थे, यापनीयसंघ नहीं।

पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य धरसेन के साक्षात् शिष्य थे, अतः समकालीन थे। इसलिए जब गुरु यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध नहीं थे, तब उनके शिष्य कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः उस समय यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। अतः

सिद्ध है कि पुष्पदन्त और भूतबलि दिगम्बर ही थे। इस प्रकार धरसेन को उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का तथा पुष्पदन्त और भूतबलि को यापनीयपरम्परा का आचार्य सिद्ध करने के लिए दर्शाया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

१०

समानगाथाएँ एकान्त-अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ की सम्पत्ति

यापनीयपक्ष

षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रज्ञापनासूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं। इस विषय में जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखक का कथन है कि प्रज्ञापना और षट्खण्डागम में विषयवस्तु और शैली का साम्य है। वह यही सूचित करता है कि दोनों के विकास का मूलस्रोत एक ही परम्परा है। (पृ.१०४)। वे इसके पूर्व लिखते हैं कि जिस प्रकार प्रज्ञापना में निर्युक्तियों की अनेक गाथाएँ हैं, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी निर्युक्तियों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, इससे ज्ञात होता है कि दोनों किसी समान परम्परा से ही विकसित हुए हैं। (पृ.१०३)। वे अंत में लिखते हैं—“यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही उत्तरभारत की निर्ग्रन्थपरम्परा के समानरूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परम्परा एक ही है तथा यही उनके आगमिक ग्रन्थों की निकटता का कारण है।” (पृ.१०४)। और इस आधार पर ग्रन्थलेखक तय करते हैं कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। (पृ.१०४)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य ग्रन्थलेखक का यह कथन सत्य है कि षट्खण्डागम तथा प्रज्ञापना दोनों ग्रन्थों के विकास का मूलस्रोत एक ही परम्परा है, इसीलिए दोनों में विषयवस्तु का साम्य है। किन्तु यह कथन सत्य नहीं है कि वह परम्परा सचेलाचेल-मुक्तिवादी थी और उस परम्परा के उत्तराधिकारी श्वेताम्बर और यापनीय थे। वह एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थपरम्परा थी और उससे निकला श्वेताम्बरसंघ ही उस परम्परा के साहित्य का दूसरा समानाधिकारी था, यापनीयसंघ नहीं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति उस परम्परा से हुई ही नहीं थी, यह पूर्व में संप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। इस कारण एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा और श्वेताम्बरसंघ के साहित्य में बहुशः साम्य उपलब्ध होता है। अतः षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र में जो विषयवस्तु की समानता है, उससे षट्खण्डागम दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है, यापनीयपरम्परा का नहीं।

यतः जिस मूलपरम्परा से षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र विकसित हुए हैं, वह सचेलाचेलमुक्तिवादी नहीं थी, अतः इन ग्रन्थों को इस परम्परा से विकसित सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

११

दिगम्बरग्रन्थों की गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों में

दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में प्रज्ञापनासूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक-भाष्य आदि श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से साम्य रखनेवाली गाथाएँ मिलती हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि वे इन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से षट्खण्डागम में ली गयी हैं। यह भ्रम उपर्युक्त ग्रन्थों के रचनाकाल की पूर्वापरता पर दृष्टि डालने से दूर हो जाता है। पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी। डॉ० सागरमल जी ने प्रज्ञापनासूत्र का रचनाकाल भी ईसापूर्व प्रथम शती बतलाया है। (जै.ध.या.सं./पृ.१०४)। अतः इन दोनों में जो समान गाथाएँ हैं, वे एक-दूसरे से गृहीत नहीं है, अपितु दोनों को अपनी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-मूल-निर्ग्रन्थपरम्परा से प्राप्त हुई हैं।

किन्तु जो समान गाथाएँ प्रज्ञापनासूत्र में नहीं हैं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और श्वेताम्बरग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि में हैं, वे निश्चित ही षट्खण्डागम से इन ग्रन्थों में पहुँची हैं, क्योंकि जहाँ षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध है, वहाँ आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल क्रमशः वि० सं० ५६२ (५०५ ई०)^{२४} तथा वि० सं० ६६० (६०३ ई०)^{२५} है। यह स्वतः सिद्ध है कि षट्खण्डागम के रचनाकाल से ५००-६०० वर्षों के बाद रचे गये ग्रन्थों की गाथाएँ षट्खण्डागम में नहीं पहुँच सकतीं।

अतः षट्खण्डागम और श्वेताम्बरग्रन्थों की अनेकगाथाओं में साम्य होने से यह सिद्ध नहीं होता कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का अथवा श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज बतलायी जानेवाली कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ है।

जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमणकृत बृहत्संग्रहणी में भी तिलोचपण्णत्ती आदि दिगम्बर-ग्रन्थों की गाथाएँ ग्रहण की गई हैं और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ आतुरप्रत्या-

२४. श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृ.४३८।

२५. वही / पृष्ठ ४६१।

ख्यान, भक्तपरिज्ञा आदि प्रकीर्णक ग्रन्थों में संगृहीत हैं।^{२६} माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री 'जैन साहित्य का इतिहास' (भाग २) में लिखते हैं—

“दिगम्बरपरम्परा में एक मूलाचार नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका उल्लेख तिलोय-पण्णत्ति में मिलता है और उससे उसमें कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं, यह पहले बतला आये हैं। मूलाचार के अन्तिम प्रकरण का नाम 'पञ्जतीसंगहणी' है। इस प्रकरण की अनेक गाथाएँ बृहत्संग्रहणी में संगृहीत हैं। कुछ गाथाएँ तो यथाक्रम पाई जाती हैं। विवरण इस प्रकार है—

“जम्बूद्वीप से लेकर क्रौंचवरद्वीप पर्यन्त सोलह द्वीपों के नाम दोनों ग्रन्थों में दो गाथाओं से बतलाये गये हैं। इन दोनों गाथाओं की क्रमसंख्या मूलाचार में ३३-३४ और संग्रहणी में ८२-८३ है। दोनों में प्रायः समानता है। उसके पश्चात् मूलाचार में यह गाथा है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थडा असंखेज्जा।

एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदहिं जाव ॥ ३५ ॥

“संग्रहणी में यही गाथा थोड़े से पाठभेद को लिए हुए इस प्रकार है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणा दुगुणा भवे असंखेज्जा।

भणिओ य तिरियलोए सयंभुरमणोदही जाव ॥ ८५ ॥

“उक्त दो गाथा और उक्त गाथा के बीच में संग्रहणी में जो ८४ नम्बर की गाथा है, वह मूलाचार में आगे दी है, उसका नम्बर ३६ है। उसके पश्चात् ३८, ३९ और ४० नम्बर की गाथाएँ संग्रहणी में ८७, ८८ और ९० नम्बर पर हैं।

“इस तरह द्वीपसमुद्रों के कथनसम्बन्धी गाथाएँ दोनों संग्रहणियों में प्रायः समान हैं।

“आगे योनियों के कथनसम्बन्धी मूलाचार गाथा ५८-५९ संग्रहणी में ३५८-३५९ नम्बर पर हैं। ६० तथा ३६० नम्बर की गाथा का अर्थ समान होते हुए भी शब्दों में थोड़ा अन्तर पाया जाता है। आगे ६१-६२ तथा ३६१-३६२ गाथाएँ प्रायः समान हैं। मूलाचारकी ६२वीं गाथा के अन्तिम चरण का पाठ है—‘सेसा सेसेसु जोणीसु’। और संग्रहणी की ३६२वीं गाथा के अन्तिम चरण में पाठ है—‘सेसाए सेसगजणो य’। गोम्पटसार जीवकाण्ड में यह गाथा संग्रहणीवाले पाठ के साथ पाई जाती है।

२६. देखिये, 'भगवती-आराधना' नामक अध्याय।

“मूलाचार में कुलों को बतलानेवाली १६६ से १६९ तक की चार गाथाएँ इसी क्रम से संग्रहणी में हैं और उनकी क्रमसंख्या ३५३-३५६ तक है। और भी कितनी ही गाथाएँ दोनों ग्रंथों में समान हैं।

“विशेषावश्यकभाष्यकार जिनभद्रगणी सातवीं शताब्दी में हुए हैं। तिलोय-पण्णत्ति की रचना उससे बहुत पहले हो चुकी थी और तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार का निर्देश है तथा उससे कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं। अतः मूलाचार ति० प० से भी प्राचीन है। अतः संग्रहणी में उक्त गाथाएँ मूलाचार के अन्त में स्थित ‘पञ्जतीसंगहणी’ से ली गई हों, यह संभव है।

“और भी कुछ गाथाएँ संग्रहणी में ऐसी हैं, जो अन्य ग्रंथों में मिलती हैं। संग्रहणी की ‘पदमक्खरं पि इक्कं’ आदि १६७वीं गाथा भगवती-आराधना की ३९वीं गाथा है और ‘सुत्तं गणहररइयं’ आदि १६८वीं गाथा भ. आराधना की ३४वीं गाथा है। अन्तर केवल इतना है कि उसमें रइयं के स्थान पर गथिदं और कहियं पाठ है। कहिदं पाठ के साथ यही गाथा मूलाचार के पञ्चाचाराधिकार (२७७) में भी पाई जाती हैं। फिर संग्रहणी में ये दोनों गाथाएँ बिना किसी प्रकरण के स्वर्गों में उपपाद के प्रकरण में संगृहीत की गई हैं। अतः निश्चय ही इन्हें अन्यत्र से लिया गया है। भगवती-आराधना तिलोयपण्णत्ति से भी प्राचीन है।

“इसी तरह ‘पुव्वस्स उ परिमाणं’ आदि ३१६वीं गाथा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि (३/३१/४२६/१६८/११) में उद्धृत है। और पूज्यपाद ५-६वीं शती के आचार्य हैं। अतः यह गाथा प्राचीन होनी चाहिये। संग्रहणी में पहली पृथिवी की स्थिति बतलाकर शेष पृथिवियों में स्थिति बतलाने के लिए एक करणसूत्र दिया है, जो इस प्रकार है—

उवरिखिइठिइविसेसो सगपयरविभाग इत्थ संगुणिओ।

उवरिमखिइठिइसहिओ इच्छियपयरम्मि उक्कोसा ॥ २३८ ॥

“संस्कृत में एक इसी प्रकार का करणसूत्र तत्त्वार्थवार्तिक (३/६) में दिया है, जो उक्त गाथा की छाया-सा जान पड़ता है—

उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्ट-संगुणितः।

उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती ॥ (पृ. १६८)

“अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक के तीसरे अध्याय में और भी इस प्रकार के प्रमाण उद्धृत किये हैं, जो प्राकृत गाथाओं की छाया-रूप जान पड़ते हैं, किन्तु उनके मूल का पता नहीं चलता। संभव है उक्त संस्कृतछाया भी उसी ग्रन्थ पर से संगृहीत की गई हो, जिस पर से अन्य प्रमाण संस्कृतछाया-रूप में संकलित किये गये हैं।

“इस तरह संग्रहणी में बहुत-सी गाथाएँ ग्रन्थान्तरों से संगृहीत की गई हैं। इसी से उसकी रचना उतनी सुसम्बद्ध और सुगठित प्रतीत नहीं होती।” (जै.सा.इ./ भा. २/पृ.६७-६९)।

१२

संयतगुणस्थान की प्राप्ति भावस्त्री को

यापनीयपक्ष

‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के यापनीयपक्षधर लेखक का कथन है—
“षट्खण्डागम के यापनीयपरम्परा से सम्बन्धित होने का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अन्यतम प्रमाण उसमें सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार का ९३ वाँ सूत्र है, जिसमें पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में संयतगुणस्थान की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है, जो प्रकारान्तर से स्त्रीमुक्ति का सूचक है।” (जै.ध.या.स./पृ.१०१)।

दिगम्बरपक्ष

हम देख चुके हैं कि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की स्थविरावलियों एवं साहित्य में, न तो षट्खण्डागम के कर्त्ताओं धरसेन, पुष्यदन्त एवं भूतबलि के नामों का उल्लेख है, न षट्खण्डागम का, न षट्खण्डागम की रचना के इतिहास का कोई विवरण है, न ही अर्धमागधी प्राकृत में षट्खण्डागम की कोई प्रति उपलब्ध है। तथा षट्खण्डागम की रचना यापनीयसम्प्रदाय के जन्म से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हो चुकी थी। ये दो बहिरंग प्रमाण इस बात के पक्के सबूत हैं कि षट्खण्डागम न तो श्वेताम्बर-परम्परा का ग्रन्थ है, न यापनीयपरम्परा का, न इन दोनों की मनःकल्पित मातृपरम्परा (उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा) का।

दूसरी ओर, उक्त आचार्यों के नाम दिगम्बर-पट्टावलियों और दिगम्बरसाहित्य में अनेकत्र उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम के कर्त्ताओं के रूप में उनका उल्लेख है और षट्खण्डागम की रचना का इतिहास दिगम्बरसाहित्य में वर्णित है। शौरसेनी प्राकृत में रचित षट्खण्डागम ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूड़विद्री के दिगम्बरमठ में उपलब्ध हुई हैं। दिगम्बराचार्य वीरसेन ने उस पर टीका लिखी है। सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवर्तिक जैसी टीकाओं में षट्खण्डागम का अनुसरण किया गया है। गोम्मटसार जैसा महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम के ही आधार पर रचा गया है। तथा षट्खण्डागम में प्रतिपादित सिद्धान्त श्वेताम्बरों और यापनीयों की मौलिक मान्यताओं के विरुद्ध हैं, जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है। ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि वह दिगम्बरमत का ही ग्रन्थ है। इसलिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अर्थ दिगम्बरसिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य

में और दिगम्बरग्रन्थों की भाषाशैली के अनुसार ही ग्रहण किया जाना चाहिए। किन्तु 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने इस दिगम्बरग्रन्थ में प्रयुक्त मणुसिणी शब्द का अर्थ इसके कर्त्ताओं के अभिप्राय के अनुसार ग्रहण न कर अपनी श्वेताम्बरीय और यापनीय-मान्यताओं के अनुसार ग्रहण किया है अर्थात् मणुसिणी शब्द पर स्वाभीष्ट अर्थ का आरोपण किया है।

दिगम्बरवाङ्मय में मणुसिणी शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान तक उसका प्रयोग द्रव्यस्त्री (शरीर से स्त्री) और भावस्त्री (शरीर से पुरुष और भाव से स्त्री) दोनों के अर्थ में किया गया है और छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक केवल भावस्त्री के अर्थ में। भावस्त्री उसे कहते हैं जो शरीर से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री होता है, अर्थात् पुरुष में स्त्रीवेदनामक नोकषाय का उदय उसकी भावस्त्री संज्ञा का कारण होता है। ऐसी मणुसिणी (भावस्त्री) को ही संयतगुणस्थान की प्राप्ति के योग्य बतलाया गया है।^{१७}

किन्तु उक्त ग्रन्थ के लेखक ने अपने मतानुसार षट्खण्डागम में प्रयुक्त मणुसिणी शब्द को केवल द्रव्यस्त्री का वाचक बतलाया है और षट्खण्डागम के रचयिताओं को अभिप्रेत भावस्त्री अर्थ को अमान्य कर दिया है। इस तरह उन्होंने 'मणुसिणी' शब्द पर स्वाभीष्ट अर्थ आरोपित कर षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक 'मणुसिणी' शब्द द्रव्यस्त्री का वाचक ही नहीं होता, इसलिए षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को तथाकथित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अथवा यापनीयपरम्परा का आचार्य एवं षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु उपस्थित किये हैं, वे या तो असत्य हैं, या हेत्वाभास हैं। अतः यह तथ्य यथावत् प्रतिष्ठित रहता है कि उक्त तीनों आचार्य मूलसंघीय-दिगम्बरजैन-परम्परा के ही आचार्य थे तथा षट्खण्डागम दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है।

२७. विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के षष्ठ प्रकरण में देखिए।



चतुर्थ प्रकरण

षट्खण्डागम के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण

यापनीयमतविरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि

न केवल पूर्वोक्त यापनीयपक्ष-समर्थक हेतुओं के अनस्तित्व से षट्खण्डागम दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध होता है, अपितु उसमें जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे भी श्वेताम्बरों और यापनीयों की मौलिक मान्यताओं के विरुद्ध हैं। उनसे यह और भी स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह दिगम्बराचार्यों की ही कृति है। वे यापनीयमतविरोधी सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१. षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार का ९३वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेधक है।

२. षट्खण्डागम में कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का प्रतिपादन गुणस्थानानुसार किया गया है। गुणस्थानानुसार बन्धमोक्षव्यवस्था यापनीय मान्यताओं के विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है : मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थकमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभक्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्री पर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री की तीर्थकरपदप्राप्ति।

३. षट्खण्डागम में तीर्थकर-प्रकृतिबन्धक सोलह कारण ही स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं। यापनीयमान्य श्वेताम्बर आगमों में बीस कारण माने गये हैं।

४. षट्खण्डागम में सचेल स्थविरकल्प की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

५. षट्खण्डागम में सोलह कल्पों (स्वर्गों) की मान्यता, यापनीयों की मात्र बारह कल्पों की मान्यता के विरुद्ध है।

६. षट्खण्डागम में अनुदिश-नामक नौ स्वर्गों को मान्य किया जाना भी यापनीयमत के विरुद्ध है। यापनीयमत में इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

७. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयमत में अमान्य हैं।

८. षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' शब्द का प्रयोग दिगम्बरमान्य-आगम के अनुसार द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय के स्त्रीनिर्वाणप्रकरण

ग्रन्थ में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल द्रव्यस्त्री-अर्थ में उपलब्ध होता है। अतः 'मणुसिणी' शब्द का भावस्त्री अर्थ यापनीयमत के विरुद्ध है। षट्खण्डागम में उपलब्ध इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन आगे किया जा रहा है।

१

सत्प्ररूपणा का ९३वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक

षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार के मनुष्यिनियों (मानुषियों) के विषय में कहे गये निम्नलिखित सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक हैं—

“मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।” (ष.ख/पु.१/१,१,१२)।

“सम्पामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।” (ष.ख/पु.१/१,१,१३)।

अनुवाद—“मनुष्यिनियाँ (मानवस्त्रियाँ) मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों होती हैं। (सूत्र ९२)। किन्तु, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।” (सूत्र ९३)।

पूर्वशरीर के नष्ट होने पर उत्तर शरीरधारण करने के लिए जीव का नवीन जन्मस्थान में गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। नवीन जन्मस्थान में शरीरादि की संरचना के लिए जो प्रक्रिया होती है, उसकी शक्ति उत्पन्न करनेवाले पुद्गलस्कन्धों की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं।^{२८} वे छह होती हैं : आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति।^{२९} इनमें से जब तक शरीरपर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब तक जीव अपर्याप्त कहलाता है और उसके

२८. आहारसरीरिदियणिस्सासुस्सासभासमणसाणं।

परिणइ-वारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ ॥ १३४ ॥

तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ती।

सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिदेहिं ॥ १३५ ॥ कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा।

२९. “--- तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहार-पर्याप्तिः। --- तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रा-दिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमनशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः

निष्पन्न हो जाने पर पर्याप्त कहलाने लगता है।^{३०} तात्पर्य यह कि विग्रहगति से लेकर शरीरपर्याप्ति के निष्पन्न होने के पूर्व तक की अवस्था अपर्याप्तक अवस्था है।^{३१}

उपर्युक्त ९२वें सूत्र में कहा गया है कि मनुष्यिनियाँ अपर्याप्तक अवस्था में भी सासादनसम्यग्दृष्टि हो सकती हैं। इससे सूचित होता है कि जीव की मनुष्यिनी संज्ञा विग्रहगति में ही मनुष्यगतिनामकर्म एवं स्त्रीवेदनोकषायकर्म के उदय से निर्धारित हो जाती है। अतः 'मनुष्यिनी' संज्ञा का आधार स्त्रीवेदनोकषायकर्म का उदय भी है और स्त्रीवेदनामकर्म का उदय भी।

तथा "अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी सासादनसम्यग्दृष्टि हो सकती है" सूत्र के इस कथन से स्पष्ट होता है कि पूर्वभव का सासादन-सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सासादन-सम्यग्दर्शन-सहित उत्तरभव धारण कर सकता है और विग्रहगति में उसके मनुष्यगतिनामकर्म तथा स्त्रीवेदनोकषायकर्म का उदय हो सकता है।^{३२} इसी कारण अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी का सासादनसम्यग्दृष्टि होना संभव है।

शरीरपर्याप्तिः। ---योग्य-देशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचया-
वाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। --- उच्छ्वासनिस्सारणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानापान-
पर्याप्तिः। --- भाषावर्गणायाः स्कान्थानुचतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्म-
पुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। --- मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरण-
शक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः।" (धवला / ष. ख. / पु. १ / १, १, ३४ / पृ. २५७ - २५८।

३०. क— पञ्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।

जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तियपुण्णगो ताव ॥ १२१ ॥ गोम्मटसार-जीवकाण्ड।

ख— "स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्।" धवला / ष. ख. / पु. १ / १, १, ९२।

३१. विग्रहगतिवाले जीव का अपर्याप्तक में ही अन्तर्भाव किया गया है, इसका स्पष्टीकरण वीरसेनस्वामी ने इस प्रकार किया है—“अथ स्याद् विग्रहगतौ कर्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तिनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि, कर्मणशरीरस्थित-प्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरिमिति स्थितम्।" धवला / षट्खण्डागम / पु. १ / १, १, ९४।

३२. उत्तरभव के प्रथमसमय (विग्रहगति) में वेदपरिवर्तन का प्रमाण षट्खण्डागम के निम्नलिखित वचनों में उपलब्ध होता है—“णवुंसयवेदा केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण एयसमओ।" ष. ख. / पु. ७ / २, २, १२०-१२१। णवुंसयवेदोदएण उवसमसेडिं चडिय ओदरिय सवेदो होदूण विदियसमए कालं करिय पुरिसवेदं गदस्स एगसमयदंसणादो।" (धवला / ष. ख. / पु. ७ / २,

किन्तु १३वें सूत्र में अपर्याप्तक मनुष्यिनी के सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि आदि होने का निषेध किया गया है। इससे ज्ञापित होता है कि जो असंयतसम्यग्दृष्टि देव, नारकी या मनुष्य (बद्धायुष्क) सम्यग्दर्शनसहित मनुष्यगति में जाता है, उसके, विग्रहगति में मनुष्यगतिनामकर्म के साथ स्त्रीवेद या नपुंसकवेद-नोकषायकर्म का उदय नहीं होता, केवल पुरुषवेदनोकषायकर्म उदय में आता है—“देव-णेरइअ मणुस्स-असंजदसम्माइट्ठिणो जदि मणुस्सेसु उप्पज्जंति तो णियमा पुरिसवेदेसु चेव उप्पज्जंति ण अण्णवेदेसु।” (धवला/ष.ख./पु.२/१,१/पृ.५१२-५१३)। अतः कोई भी असंयत-सम्यग्दृष्टि देव, नारकी या मनुष्य मनुष्यिनी नहीं बन पाता। इसलिए अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी के असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान नहीं होते।

इस प्रकार यह सूत्र सम्यग्दृष्टि जीवों के स्त्रीपर्याय में उत्पन्न होने का निषेधक है, जिसका फलितार्थ यह है कि यह मल्लितीर्थकर के स्त्री होने को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि श्वेताम्बरीय ज्ञातृधर्मकथांग के अनुसार उन्होंने उपान्त्य पूर्वभव में राजकुमार महाबल के रूप में सम्यग्दर्शनपूर्वक तीर्थकरप्रकृति का बन्ध किया था और अन्त्य पूर्वभव में जयन्तस्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न होकर उत्तरभव में सम्यग्दर्शनसहित ही मनुष्यभव प्राप्त किया था। अतः उपर्युक्त सूत्र के अनुसार उनका मनुष्यभव में स्त्री बनना नियमतः असंभव था, पुरुष होना ही अनिवार्य था। इस तरह स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणा का १३वाँ सूत्र मल्लितीर्थकर के स्त्री होने का निषेधक है। अतः इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वह द्रव्यस्त्री में संयतादि गुणस्थानों का भी निषेधक है। यह षट्खण्डागम के श्वेताम्बर या यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ होने के विरुद्ध और दिगम्बरग्रन्थ होने के पक्ष में बलिष्ठ प्रमाण है। उक्त सूत्र में संयतादि गुणस्थानों का कथन भावस्त्रियों में (ऐसे मनुष्यों में जो शरीर से तो पुरुष होते हैं, किन्तु भाव से स्त्री) किया गया है, द्रव्यस्त्रियों में नहीं, इसका स्पष्टीकरण षष्ठ प्रकरण में द्रष्टव्य है।

२

षट्खण्डागम में गुणस्थानाश्रित बन्धमोक्षव्यवस्था

षट्खण्डागम में गुणस्थान-सिद्धान्त की उपलब्धि इसके यापनीयग्रन्थ होने के विरुद्ध दूसरा बड़ा प्रमाण है। यह दिगम्बरमत में ही सुरक्षित रह पाया है। इस सिद्धान्त

२,१२१)। अनुवाद—“जीव नपुंसकवेदी कितने काल तक रहते हैं? जघन्य से एक समय तक।” “क्योंकि नपुंसकवेद के उदय के साथ उपशमश्रेणी पर चढ़कर, फिर उतरकर, सवेद (नपुंसकवेद से युक्त) होकर और द्वितीय समय में मरकर पुरुषवेद को प्राप्त हुए जीव के नपुंसकवेद का जघन्य से एक समय काल देखा जाता है।”

से क्या तात्पर्य है, यह पुनः स्मरण कर लेना आवश्यक है। आस्रव-बन्ध के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अचिरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, उनके सद्भाव और अभाव से युक्त आत्मपरिणामों का नाम गुणस्थान है। दूसरे शब्दों में, कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से प्रकट आत्मा के उत्तरोत्तर वृद्धिगत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक परिणाम गुणस्थान कहलाते हैं। ये मोक्ष के सोपान हैं। इनकी संख्या चौदह है, जिनके नाम इस प्रकार हैं : मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

इनमें उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न कर्मप्रकृतियों के उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षय, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की तथा भिन्न-भिन्न सम्यग्दर्शनों (प्रथमोपशम, क्षायोपशमिक, द्वितीयोपशम और क्षायिक), चारित्रभेदों, ध्यानभेदों एवं परीषहभेदों की उत्पत्ति की योग्यता होती है। अतः गुणस्थानों पर क्रमशः आरोहण करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इस नियम को गुणस्थानसिद्धान्त कहते हैं।

इस प्रकार दिगम्बरग्रन्थों में बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित बतलायी गयी है। गुणस्थानसिद्धान्त के ज्ञान के बिना बन्ध के हेतुभूत और मोक्ष के साधनभूत विविध परिणामों और उनके अभिव्यक्तिक्रम का बोध सम्भव नहीं है, न ही यह ज्ञान संभव है कि किस आत्मपरिणाम के साथ किन कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष का सम्बन्ध है। संसार और मोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली गुणस्थानों की कील पर घूमती है। अतः गुणस्थान-नियम का स्पष्टीकरण ही वस्तुतः बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग का स्पष्टीकरण है।

श्वेताम्बर-आम्नाय के प्राचीनसाहित्य में गुणस्थानसिद्धान्त अनुपलब्ध है। परवर्ती ग्रन्थों में उसका उल्लेख है, किन्तु श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे प्रक्षिप्त माना है। अर्थात् वह दिगम्बरग्रन्थों से ग्रहणकर समाविष्ट किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानता था। अतः यह गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयमत में भी अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में इसके उपलब्ध न होने की बात डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार की है। वे जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ में लिखते हैं—“गुणस्थान का यह सिद्धान्त समवायांग के १४ जीवसमासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी उसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है।” (पृ.२४८)।

अपनी बात को पुष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं—“जैसा कि हमने निर्देश किया है, श्वेताम्बरमान्य समवायांग में १४ जीवठाण के रूप में १४ गुणस्थानों का

निर्देश है, किन्तु अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि समवायांग में प्रथम शती से पाँचवी शती के बीच अनेक प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः वलभीवाचना के समय ही जीवसमास का यह विषय उसमें संकलित किया गया होगा। अन्य प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगमों, जैसे—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती और यहाँ तक कि प्रथम शताब्दी में रचित प्रज्ञापना और जीवाभिगम में भी गुणस्थान का अभाव है।” (जै. ध. या. स. / पृ. २५१)।

उन्होंने जीवसमास की भूमिका (पृ. IV) में लिखा है—“समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी इन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें संग्रहणीसूत्र से उद्धृत बताया है। आगमों के समान प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बरपरम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७ वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।”

माननीय डॉ० सागरमल जी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थान-सिद्धान्त की मान्यता नहीं है। जिन परवर्ती श्वेताम्बरग्रन्थों में गुणस्थानों का उल्लेख मिलता है, उनमें वह प्रक्षिप्त है अर्थात् दिग्म्बरग्रन्थों से ग्रहण किया गया है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्रज्ञापना और जीवाभिगम हैं, जिन्हें डॉक्टर सा० प्रथम शताब्दी ई० का मानते हैं। उनमें उन्होंने गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव बतलाया है। षट्खण्डागम-परिशीलन के कर्ता पं० बालचन्द्र जी शास्त्री ने भी पृ. २३५ पर लिखा है—“प्रज्ञापना में मनुष्यजीव-प्रज्ञापना के प्रसंग में मनुष्यों के सम्मूर्च्छन व गर्भोपक्रान्तिक, इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके अन्तर्गत अनेक अवान्तर जातिभेदों को तो प्रकट किया गया है, पर गुणस्थानों व उनके आश्रय से होनेवाले उनके चौदह भेदों का कोई उल्लेख नहीं है (सूत्र ९२-१३८)।” यही बात शास्त्री जी ने निम्नलिखित वक्तव्यों में कही है—

“षट्खण्डागम के रचयिताओं का प्रमुख ध्येय आत्महितैषी जीवों को आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट करके उन्हें मोक्षमार्ग में अग्रसर करना रहा है। इसीलिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आध्यात्मिक पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए उसके सोपानस्वरूप चौदह गुणस्थानों का विचार गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित रूप में किया है। यह विचार वहाँ प्रमुखता से उसके प्रथम

खण्ड जीवस्थान में सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में यथाक्रम से किया गया है। परन्तु प्रज्ञापना में आध्यात्मिक उत्कर्ष को लक्ष्य में रखकर उसका कुछ भी विचार नहीं किया गया। यहाँ तक कि उसमें गुणस्थान का कहीं नामोल्लेख भी नहीं है” (षट्.परि./पृ.२४१-२४२)।

“प्रज्ञापना के प्रारम्भ में मंगल के पश्चात् यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जिनेन्द्र ने मुमुक्षुजनों को मोक्षप्राप्ति के निमित्त प्रज्ञापना का उपदेश किया था। परन्तु वर्तमान प्रज्ञापना ग्रन्थ में उस मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य में नहीं रखा गया दिखता। कारण यह है कि मोक्षप्राप्ति के उपायभूत जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, उनका उत्कर्ष गुणस्थानक्रम के अनुसार होता है। परन्तु प्रज्ञापना में उन गुणस्थानों का कहीं कोई विचार नहीं किया गया। इतना ही नहीं, गुणस्थान का तो वहाँ नाम भी दृष्टिगोचर नहीं होता।” (षट्.परि./पृ.२५७)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी एवं पण्डित बालचन्द्र जी शास्त्री, दोनों के उपर्युक्त वक्तव्यों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है। इस सिद्धान्त के आधार पर न उनमें कर्मसिद्धान्त का विवेचन है, न ही जीवों में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के अभाव, सद्भाव, और उत्तरोत्तर उत्कर्ष का विवेचन किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय की सम्पूर्ण सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि श्वेताम्बर आगमों पर ही आश्रित थी, अतः स्पष्ट है कि उनका सैद्धान्तिक चिन्तन भी गुणस्थानसिद्धान्त का अनुगामी नहीं था। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि यह सिद्धान्त उनकी गृहस्थमुक्ति और अन्यतैर्थिकमुक्ति की मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है। इसका निरूपण आगे किया जा रहा है।

३

गुणस्थानसिद्धान्त सर्वज्ञोपदिष्ट, विकसित नहीं

प्रसंगवश यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि श्वेताम्बर-आगमों में जो गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है, उससे बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली अव्यवस्थित हो गई है। आत्मपरिणामों और कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष में किसी नियम का सद्भाव न होने से गृहस्थ-अवस्था में रहते हुए भी अर्थात् संयम के अभाव में भी मुक्ति मान ली गयी है। यहाँ तक कि परतीर्थिक के मिथ्यादर्शनदिरूप परिणामों को भी कर्मक्षय का कारण मान लिया गया है। आत्मपरिणामों और कर्मपरिणामों के बीच की इस अव्यवस्था या अनियमितता पर डॉक्टर सा० की दृष्टि गई है, जिससे उन्हें श्वेताम्बर-आगमों में प्रतिपादित मोक्षमार्ग की अयुक्तिसंगतता

और त्रुटिपूर्णता का अनुभव हुआ है। किन्तु उन्होंने इस यथार्थ को स्वीकार न कर श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानव्यवस्था के अभाव का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह मिथ्याहेतु गढ़ डाला कि गुणस्थान-नियम सर्वज्ञोपदिष्ट नहीं है, अपितु बाद के आचार्यों द्वारा विकसित किया गया है। और इस विकासवादी मनगढ़त हेतु के द्वारा उन्होंने यह भ्रम उत्पन्न करने का भी लाभ उठाया है कि जिन ग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है, वे प्राचीन हैं और जिनमें सद्भाव है, वे बहुत बाद के हैं। किन्तु डॉक्टर सा० ने गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित घोषित कर अनजाने में जैनधर्म और दर्शन की जड़ पर कुल्हाड़ी पटकने का उपक्रम किया है। उनकी परिकल्पना से सम्पूर्ण जैनदर्शन और धर्म सर्वज्ञोपदिष्ट सिद्ध न होकर छद्मस्थों द्वारा कल्पित किया गया सिद्ध होता है। क्योंकि जैनधर्म और दर्शन की आधारशिला कर्मसिद्धान्त है और कर्मसिद्धान्त की वैज्ञानिकता या युक्तिमत्ता-गुणस्थाननियम पर आश्रित है। गुणस्थानसिद्धान्त का मर्म है आत्मपरिणामों और पुद्गलकर्मों में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की स्वीकृति। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि अनादिबद्ध पुद्गलकर्मों के निमित्त से आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-रूप परिणाम होते हैं। उनसे पुद्गलकर्मों का आस्रव-बन्ध होता है तथा उनके अभाव से आत्मा के परिणाम निर्मल होते हैं, जिनसे पुद्गलकर्मों का संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है। इस प्रकार के आत्मा के परिणाम सामान्यतः चौदह प्रकार के होते हैं : मिथ्यात्वरूप, सासादनसम्यक्त्वरूप, सम्यग्मिथ्यात्वरूप, असंयतसम्यक्त्वरूप, संयमासंयमरूप, प्रमत्तसंयमरूप, अप्रमत्तसंयमरूप इत्यादि। इन आत्मपरिणामों को गुणस्थान कहते हैं। इनमें से भिन्न-भिन्न आत्म-परिणाम या गुणस्थान के द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मों का आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है।^{३३} प्रथम तीन परिणाम या गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय के अभाव के सूचक हैं तथा बाद के ग्यारह परिणाम रत्नत्रय के सद्भाव और उत्तरोत्तर उत्कर्ष के सूचक। अतः गुणस्थान-परम्परा रत्नत्रय के अभाव-सद्भाव और उत्तरोत्तर उत्कर्ष तथा पूर्णता का मानदण्ड है तथा कर्मसिद्धान्त की आधारशिला है, अतः गुणस्थाननियम के बिना कर्मसिद्धान्त का औचित्य सिद्ध नहीं होता, बन्धमोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली कारणकार्य-सम्बन्ध से रहित, स्वच्छन्द और अयुक्तिसंगत हो जाती है। कर्मसिद्धान्त और रत्नत्रय ये दो ही जैन दर्शन और धर्म की बुनियाद हैं, अतः गुणस्थाननियम को सर्वज्ञोपदिष्ट न मानकर आरातीय आचार्यों द्वारा विकसित घोषित कर देने से यह घोषित होता है कि सम्पूर्ण जैन दर्शन और धर्म परिकल्पित है, सर्वज्ञोपदिष्ट, शाश्वत और सार्वभौमिक

३३. "तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते।" तत्त्वार्थराजवार्तिक १/१/१०/
पृ. ५८८।

सत्य नहीं है। अतः मान्य विद्वान् का यह गुणस्थान-विकासवाद सर्वथा कपोलकल्पित अत एव मिथ्या है, यह दशम अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है।

वस्तुतः दिगम्बरग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त की उपलब्धि और श्वेताम्बरग्रन्थों में अनु-पलब्धि सैद्धान्तिक विकास और अविकास का प्रमाण नहीं है, अपितु परम्परागत सिद्धान्तों के परित्याग और अपरित्याग का प्रमाण है। जैसे देहसुख के लिए परम्परागत अचेतत्व का त्याग कर दिया गया, फिर सचेतत्व में अचेतत्व घटाने के लिए अचेतत्व की मौलिक परिभाषा को तिलांजलि दे दी गयी और परिग्रह की मूलपरिभाषा भी त्याग दी गयी, वैसे ही सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति तथा विशेषरूप से गृहस्थमुक्ति और अन्यतैर्थिकमुक्ति की मान्यता के विरुद्ध होने से जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त का भी परित्याग कर दिया गया। श्वेताम्बर-आगमग्रन्थों में इस सिद्धान्त की अनुपलब्धि का यही कारण है। चूँकि गुणस्थान-सिद्धान्त जिनोपदिष्ट है, अतः इसके विकास की परिकल्पना कर आचार्यरचित ग्रन्थों की पूर्वापरता का निर्णय करना औचित्यपूर्ण नहीं है। श्वेताम्बरपरम्परा का जीवसमास नामक ग्रन्थ स्वयं कहता है कि चौबीस जिन चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं—

दस चोहस य जिणवरे चोहस गुणजाणए नमंसिता।

चोहस जीवसमासे समासओऽणुवकधिसामि ॥ १ ॥^{३४}

इसका फलितार्थ यह है कि चौदह गुणस्थानों का उपदेश तीर्थकरों से ही प्राप्त हुआ था, बाद में परिकल्पित या विकसित नहीं किया गया। यद्यपि यह ग्रन्थ छठी शताब्दी ई०^{३५} का माना गया है और डॉ० सागरमल जी के कथनानुसार चौदह गुणस्थानों का उल्लेख प्रक्षेप द्वारा ही श्वेताम्बरग्रन्थों में आया है, तथापि उपर्युक्त गाथा में गुणस्थानों का उपदेश तीर्थकरों से ही प्राप्त माना गया है, विकसित नहीं।

४

गुणस्थान-सिद्धान्त यापनीय-सिद्धान्तों के विरुद्ध

यतः श्वेताम्बर-आगमों में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित नहीं है, न ही रत्नत्रय के अभाव, सद्भाव, क्रमिक उत्कर्ष और पूर्णता का निर्णय गुणस्थानसिद्धान्त के आधार पर किया गया है, अतः श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानने वाले यापनीयों के मत में भी ऐसा ही होना अनिवार्य है। अतः उनके ग्रन्थों में भी

३४. जीवसमास / अनुवादिका : साध्वी विद्युत्प्रभात्री।

३५. वही / भूमिका : डॉ. सागरमल जी / पृ. 11

गुणस्थानसिद्धान्त की उपलब्धि न होना सुनिश्चित है। इसकी पुष्टि इन तथ्यों से होती है कि यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बरों की तरह गृहस्थों और अन्यतैर्थिकों की मुक्ति मानता था और गुणस्थानसिद्धान्त इन मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है। आइये उन तथ्यों पर दृष्टि डालें।

४.१. मिथ्यादृष्टि (परलिंगी) की मुक्ति के विरुद्ध

श्वेताम्बरग्रन्थों के अनुसार मिथ्यादृष्टि भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में बोटिकों अर्थात् दिगम्बरों को मिथ्यादृष्टि कहा है।^{३६} और आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में हरिभद्रसूरि ने मिथ्यादृष्टि उसे कहा है जो जिनवचन को प्रमाण न माने।^{३७} इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्वेताम्बरों के अतिरिक्त अन्य सभी भिन्नमतावलम्बी मिथ्यादृष्टि हैं। बोटिकों को अर्थात् दिगम्बरों को तो स्पष्ट शब्दों में मिथ्यादृष्टि कहा गया है, बौद्ध भी उनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि की परिभाषा में आते हैं, क्योंकि वे इस जिनवचन को नहीं मानते कि आत्मा शाश्वत है और मुक्त होने पर नष्ट नहीं होता, अपितु लोकाग्र में जाकर स्थित हो जाता है तथा सदा स्वात्मोत्थ सुख का अनुभव करता रहता है। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि जैसे दीपक बुझने पर न पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, अपितु तेल समाप्त हो जाने के कारण उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वैसे ही निर्वाण को प्राप्त आत्मा न पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न विदिशा में, प्रत्युत क्लेशों के विनष्ट हो जाने से, उसकी सत्ता ही लुप्त हो जाती है।^{३८} इसी प्रकार वैदिक आदि अन्य मतावलम्बी भी जिनवचन को प्रमाण नहीं मानते, वे वेदादि को प्रमाण मानते हैं, अतः वे भी उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार मिथ्यादृष्टि हैं। ये सभी मिथ्यादृष्टि मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा श्वेताम्बरग्रन्थों

३६. क—“भिन्न-मय-लिंग-चरिया मिच्छद्दिट्ठि ति बोटियाऽभिमया ॥ २६२० ॥” विशेषावश्यकभाष्य।
ख—“मतं च लिङ्गं च भिक्षाग्रहणादिविषया चर्या च मतलिङ्गचर्याः, भिन्ना मतलिङ्गचर्या येषां ते तथाभूताः सन्तो बोटिका मिथ्यादृष्टयोऽभिभताः, भिन्नमतत्वादिकारणात् ते निर्युक्तिकृता मिथ्यादृष्टित्वेन निर्दिष्टा इत्यर्थः।” हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यक-भाष्य / गा.२६२०।

३७. “निह्व इति कोऽर्थः? स्वप्नपञ्चतस्तीर्थकरभाषितं निह्वतेऽर्थं पचाद्यचि ति निह्वो मिथ्यादृष्टिः।
उक्तं च—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।

मिथ्यादृष्टिः, सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥

हारिभद्रीयवृत्ति / आवश्यकनिर्युक्ति / गा.७७८।

३८. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १६ / २८ ॥

में कहा गया है। आचार्य रत्नशेखरसूरि-कृत सम्बोधसत्तरी के निम्नलिखित वचन इसमें प्रमाण हैं—

सेयंबरो वा आसांबरो य बुद्धो वा तहैव अन्नो वा।
समभाव भावियप्पा लहइ मोक्खं ण संदेहो ॥ ३९

अनुवाद—“कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर (आशाम्बर), बौद्ध हो या अन्यमतावलम्बी, समभाव धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं है।”

हरिभद्रसूरि ने भी उपदेशतरंगिणी में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥ ४०

उत्तराध्ययनसूत्र में स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तथा स्वलिंगधारी (जिनलिंगधारी), अन्यलिंगधारी (तापस, परिव्राजक आदि) एवं गृहिलिंगधारी (गृहस्थ) सभी को मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है—

इत्थी पुरिस सिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ॥ ३६/९९ ॥

सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, असितदेवल, नारायण आदि ऋषियों के द्वारा अन्य परम्परा के आचार एवं वेशभूषा का अनुसरण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करने के स्पष्ट उल्लेख हैं।^{४१} ऋषिभाषित में औपनिषदिक, बौद्ध एवं अन्य श्रमणपरम्पराओं

एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्त्वलेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १६/२९ ॥

महाकवि अश्वघोषकृत 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य।

३९. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृष्ठ ३६२ पर उद्धृत।

४०. वही / पृ. ३६२ पर उद्धृत।

४१. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्तपोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥
अभुंजिया नमि विदेही, रामपुत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥
असिते देवले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सअं ॥

सूत्रकृतांग १ / ३ / ४ / १-४ (जै.ध.या.स / पृ. ४११)।

के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है।" (जै.ध.या.स./पृ.४११)।

इस प्रकार श्वेताम्बरमत में मिथ्यादृष्टि को भी मोक्ष के योग्य माना गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र के 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस पहले ही सूत्र के विरुद्ध है तथा षट्खण्डागम की गुणस्थान-व्यवस्था के भी विपरीत है। क्योंकि षट्खण्डागम में मिथ्यादृष्टि को मोक्ष के योग्य नहीं माना गया है, अपितु जो जीव मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान छोड़कर सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान प्राप्त कर लेता है फिर क्रमशः संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानों पर आरोहण करता हुआ अयोगिकेवलीगुणस्थान में पहुँचता है, उसे ही मोक्ष के योग्य बतलाया गया है। इस चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त किये बिना कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, यह षट्खण्डागम का स्पष्ट निर्देश है। इस ग्रन्थ के निम्नलिखित सूत्रों में मोक्ष के उपर्युक्त क्रम का वर्णन किया गया है, जिनमें अयोगिकेवलिगुणस्थान के अन्त में ही सिद्ध पद की प्राप्ति बतलायी गयी है—

"ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी। सासणसम्माइट्ठी। सम्मामिच्छाइट्ठी। असंजदसम्माइट्ठी। संजदासंजदा। पमत्तसंजदा। अप्पमत्तसंजदा। अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। अणियट्ठि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था। खीणकसाय-वीयरायछदुमत्था। सजोगकेवली। अजोगकेवली। सिद्धा चेदि।" (ष.खं./पु.१/१,१,९-२३)।

षट्खण्डागम के बन्धस्वामित्वविचय नामक तृतीयखण्ड (पुस्तक ८ / सूत्र ३५-३८) में बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव बन्धयोग्य १२० कर्मप्रकृतियों में से आहारकशरीर, आहारक-शरीराङ्गोपाङ्ग तथा तीर्थंकर इन तीन को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का बन्धक होता है। उसके संवर और अविपाकनिर्जरा एक भी प्रकृति की नहीं होती।

जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में निर्दिष्ट है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर क्षीणमोहगुण-स्थान तक केवलज्ञान का अभाव रहता है। केवल सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध अवस्थाओं में ही केवलज्ञानी होते हैं। (ष.खं./पु.१/१,१,१२२)।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में संयम का अभाव भी बतलाया गया है। संयत जीव केवल प्रमत्तसंयत-गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली-गुणस्थान तक होते हैं—“संजदा पमत्तसंज-दप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।" (ष.खं./पु.१/१,१,१२४)। मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ कषायें भी प्रायः सभी की सभी उदय में रहती हैं, जिससे वीतरागभाव

एवं समभाव की उत्पत्ति असंभव है। कषायोदय का अभाव एवं पूर्ण वीतरागता का सद्भाव केवल उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में होता है। (ष.खं./पु.१/१,१/११४)। इससे यह भी संकेतित होता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ तथा क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानों में होती है, उसके पूर्व नहीं।

सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, ये नाम सूचित करते हैं कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल चार घाती कर्मों का क्षय हुआ होता है, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्मों की सत्ता रहती है। अतः जब इन गुणस्थानों में सिद्धत्व प्राप्त नहीं हो पाता, तब मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में कैसे प्राप्त हो सकता है?

सम्यक्त्वोत्पत्ति के बहिरंग कारणों पर प्रकाश डालते हुए षट्खण्डागम में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य हेतु कहा गया है—

“तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेति, केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिण-बिंबं दट्टुण।” (ष.खं./पु.६/१,९-९,३०)।

जिनबिम्बदर्शन को सम्यक्त्वोत्पत्ति का हेतु कहे जाने से स्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव में भक्ति रखनेवाले को ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है, जैनैतर देवों में भक्ति रखनेवाले को नहीं। इससे परलिंगी (परमतावलम्बी) की मुक्ति का निषेध किया गया है। जिस धर्म के श्रवण से सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है, उस धर्म का स्वरूप षट्खण्डागमकारों ने सम्यग्दृष्ट्यादि गुणस्थानों, पञ्चमहाव्रतों, रात्रिभोजनत्याग, पाँच प्रकार के चारित्र, बारह तर्पों और तीर्थकर-प्रकृति-बंधक सोलह कारण-भावनाओं के रूप में प्रतिपादित किया है। सम्यक्त्व, संयतासंयतत्व (पाँच पापों से एकदेशनिवृत्ति) प्रमत्तसंयतत्व (पाँच पापों से सर्वथा निवृत्ति), अप्रमत्तसंयतत्व आदि गुणस्थान सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। प्राणातिपात (हिंसा) आदि पापों से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध होता है, अतः उनका त्याग धर्म है, यह निम्नलिखित सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है—

“जेगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीयवेयणा पाणादिवादपच्चए। मुसावाद-पच्चए। अदत्तादाणपच्चए। मेहुणपच्चए। परिगहपच्चए। रादिभोयणपच्चए। एवं कोह-माणमाया-लोहरागदोसमोहपेम्मपच्चए। णिदाणपच्चए। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदंसण-पओअ-पच्चए। एवं सत्तणं कम्माणं।” (ष.खं./पु.१२/४,२,८,२-११)।

अनुवाद—“नैगम, व्यवहार और संग्रहनय की अपेक्षा ज्ञानावरणकर्म का बन्ध प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन प्रत्ययों से होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम-प्रत्ययों से भी होता है। निदान, अभ्याख्यान (दूसरों में अविद्यमान दोषों का कथन), कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि (क्रोधादिपरिणामों की उत्पत्ति में निमित्तभूत बाह्य पदार्थ), निकृति (धोखा देना), मान (प्रस्थ आदि माप, क्योंकि ये कूट-व्यवहार के हेतु हैं), माय (मेय = मापे जाने योग्य गेहूँ आदि पदार्थ, क्योंकि ये मापनेवाले के असत्य-व्यवहार के हेतु हैं), मोष (चोरी), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, तथा प्रयोग (योग = मनवचनकायव्यापार), इन प्रत्ययों से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। शेष सात कर्मों का भी बन्ध इन्हीं प्रत्ययों से होता है।”

संयम या चारित्ररूप धर्म के पाँच भेद षट्खण्डागम में इस प्रकार बतलाये गये हैं—सामायिकशुद्धिसंयम, छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयम, परिहारशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसाम्पराय-शुद्धिसंयम और यथाख्यातविहार-शुद्धिसंयम।^{४२}

निम्नलिखित सूत्र में बारह प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य तपों का निर्देश किया गया है—“तं सम्भन्तरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मं णाम।” (ष.खं/पु.१३/५, ४,२६)।

सामायिक के समय करणीय क्रियाओं को क्रियाकर्म कहते हैं। उनका वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—

“तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरिया-कम्मं णाम।” (ष.खं/पु.१३/५,४,२८)।

अनुवाद—“आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार वन्दना करना, तीन बार अवनति करना, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त करना, यह सब क्रियाकर्म है।”

जो धार्मिक क्रियाएँ तीर्थंकरप्रकृति के भी बन्ध में निमित्त होती हैं, उनका वर्णन निम्नलिखित सूत्रों में हैं—

“दंसणक्सिज्जदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिब्बुज्जणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तथा तवे,

४२. “संजमाणुवादेण संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा संजदासंजदा अत्थि जीवा तिसरीरा चदुसरीरा। परिहारविसुद्धिसंजदा, सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा, जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा अत्थि जीवा तिसरीरा।” षट्खण्डागम / पु. १४ / ५, ६, १५६-१५७।

साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणदाए साहूणं वेजावच्चजोगजुत्तदाए, अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणागमोदं कम्मं बंधंति।" (ष.खं. / पु.८ / ३,४१)।

अनुवाद—“दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शील-व्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षण-लवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओं की प्रासुकपरित्यागता, साधुओं की समाधिसन्धारणता, साधुओं की वैवावृत्ययोग-युक्तता, अरहंतभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावनता और अभीक्षण-अभीक्षणज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थकर-नाम-गोत्रकर्म को बाँधते हैं।”

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की दृष्टि में धर्म का यही स्वरूप है। इस जिनोपदिष्ट धर्म के श्रवण से ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। जैनतरलिंगधारियों की जिनोपदिष्ट धर्म में श्रद्धा नहीं होती, अतः उसका श्रवण न करने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, अत एव उनका मुक्त होना असम्भव है।

तथा पूर्वजन्म की वही स्मृतियाँ प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त बनती हैं, जिनसे जिनोपदिष्ट धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिन परलिंगियों को इस प्रकार का जातिस्मरण नहीं होता, वे परलिंगी ही बने रहते हैं, अत एव सम्यक्त्व के अभाव में उनके लिए मुक्ति के द्वार नहीं खुलते।

इस तरह जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन को प्रथमोपशमसम्यक्त्व का बाह्यनिमित्त प्रतिपादित करनेवाला उपर्युक्त सूत्र जैनतर-लिंगधारियों की मुक्ति का निषेधक है।

षट्खण्डागम में कहा गया है कि जीव दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा का प्रारंभ अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ, जिस काल में जिन, केवली और तीर्थकर होते हैं वहाँ, उस काल में (उनके पादमूल में) करता है।^{४३} चूँकि परलिंगधारी मनुष्य की जिन, केवली या तीर्थकर में श्रद्धा नहीं होती, अतः वह उनके पादमूल का आश्रय न लेने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, अत एव षट्खण्डागम का यह सूत्र भी परतीर्थानुगामी की मुक्ति के विरुद्ध है।

४३. “उवसामणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले? दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेतो कम्मि आढवेदि, अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देशु पण्णारसकम्मभूमिसु जम्मि जिणा, केवली, तित्थयरा तम्मि आढवेदि।” षट्खण्डागम / पु. ६ / १,९-८,१०-११।

‘बन्धस्वामित्वविचय’ के प्रकरण में बतलाया गया है कि जिन जीवों में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है, वे उसके उदय से देवों, असुरों और मनुष्यों के द्वारा अर्चनीय, पूजनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, नेता और धर्मतीर्थ के कर्ता, जिन व केवली होते हैं—

“जस्स इणं तित्थयरणामगोदकम्भस्स उदएण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा, पूजणिज्जा, वंदणिज्जा, णमंसणिज्जा, णेदारा धम्म-तित्थयरा, जिणा, केवलिणो हवन्ति।” (ष.खं./पु.८/३,४२)।

यह सूत्र इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि जिस जीव में तीर्थंकरप्रकृति का उदय होता है, वही जीव तीर्थंकर बन सकता है। उसके अतिरिक्त और कोई जीव तीर्थंकर अर्थात् धर्मतीर्थ का प्रवर्तक नहीं हो सकता, इसलिए जो परतीर्थ के अनुगामी हैं, वे अतीर्थंकरप्रणीत मार्ग (मोक्ष के अवास्तविक मार्ग) का अनुगमन करने से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध भी उसी जीव को होता है, जो जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त सोलह कारण-भावनाओं का अभ्यास करता है। अतः परतीर्थानुगामी तीर्थंकरप्रकृति का भी बन्ध करने में असमर्थ है। इस तरह षट्खण्डागम का यह सूत्र भी मिथ्यादृष्टि या परतीर्थानुगामी की मुक्ति के विरुद्ध है।

षट्खण्डागम के कर्ताओं ने ग्रन्थ के आदि में मंगल के लिए अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्चपरमेष्ठियों को ही नमस्कार किया है, किसी अन्य देव को नहीं। इसी प्रयोजन से ग्रन्थ के मध्य में भी जिनों और जिनानुयायी ऋषियों की ही वन्दना की गयी है। यथा—

“णमो जिणाणं। णमो ओहिजिणाणं। णमो परमोहिजिणाणं। णमो सव्वोहिजिणाणं। णमो अपंतोहिजिणाणं। णमो कोट्टुबुद्धीणं। णमो बीजबुद्धीणं। णमो पदाणुसारीणं। णमो संभिण्णसोदाराणं। णमो उज्जुमदीणं। णमो विउल्लमदीणं। णमो दसपुव्वियाणं। णमो चोदसपुव्वियाणं। णमो अट्टंगमहाणिमित्तकुसलाणं। णमो विउव्वणपत्ताणं। णमो विज्जाहराणं। णमो चारणाणं। णमो पण्णसमणाणं। णमो आगासगामीणं। णमो आसीविसाणं। णमो दिट्ठिविसाणं। णमो उग्गतवाणं। णमो दित्ततवाणं। णमो तत्ततवाणं। णमो महातवाणं। णमो घोरतवाणं। णमो घोरपरक्कमाणं। णमो घोरगुणाणं। णमोऽघोरगुणबंभचारीणं। णमो आमोसहिपत्ताणं। णमो खेलोसहिपत्ताणं। णमो जल्लोसहिपत्ताणं। णमो विट्ठोसहिपत्ताणं। णमो सव्वोसहिपत्ताणं। णमो मणबलीणं। णमो वच्चिबलीणं। णमो कायबलीणं। णमो खीरसवीणं। णमो सप्पिसवीणं। णमो महुसवीणं। णमो अमडसवीणं। णमो अक्खीणमहाणसाणं। णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं। णमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स।” (ष.खं./पु.९/४,१,१-४४)।

अनुवाद—“जिनों को नमस्कार करता हूँ। अवधि-जिनों (जिनों = मुनियों) को नमस्कार करता हूँ। परमावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्वावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। अनन्तावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। कोष्ठबुद्धिधारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। बीजबुद्धिधारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। पदानुसारी-ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। सम्भन्नश्रोता जिनों को नमस्कार करता हूँ। ऋजुमति-मनःपर्ययज्ञानी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विपुलमति जिनों को नमस्कार करता हूँ। दशपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ। चौदहपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अष्टाङ्ग-महानिमित्त-कुशल जिनों को नमस्कार करता हूँ। विक्रियाऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विद्याधर जिनों को नमस्कार करता हूँ। चारणऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। प्रज्ञाश्रवण (प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका) जिनों को नमस्कार करता हूँ। आकाशगामी जिनों को नमस्कार करता हूँ। आशीर्विष जिनों को नमस्कार करता हूँ। दृष्टिविष जिनों को नमस्कार करता हूँ। उग्रतप जिनों को नमस्कार करता हूँ। दीप्ततप-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। तप्ततप-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। महातपऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरतप-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरपराक्रम-ऋद्धिधारी-जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरगुण जिनों को नमस्कार करता हूँ। अघोरगुण-ब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। आमर्षौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। खेलौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। जल्लौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विष्टौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्वौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। मनोबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। वचनबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। कायबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। क्षीरस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्पिस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। मधुस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अक्षीणमहानस जिनों को नमस्कार करता हूँ। लोक के समस्त सिद्धायतनों (अकृत्रिम चैत्यालयों, तीर्थों, मन्दिरों) को नमस्कार करता हूँ। वर्धमान बुद्ध (केवलज्ञानी) ऋषि को नमस्कार करता हूँ।”

इन सूत्रों में केवल जिनों (प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियों), जिनसिद्धायतनों तथा जिनेन्द्र भगवान् महावीर को मंगलहेतु नमस्कार किया गया है, किसी अन्य सम्प्रदाय के साधुओं, या देवों को नहीं। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम के कर्त्ताओं की दृष्टि में अन्य सम्प्रदाय के साधु जिन (प्रमत्तसंयतादि-गुणस्थानवर्ती) नहीं हैं, अत एव मोक्षमार्गी एवं मंगलकारी न होने से वन्दनीय नहीं हैं। इस प्रकार ये सूत्र भी परतीर्थानुयायियों की मुक्ति के विरुद्ध हैं।

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने कहा है कि मुनिवेशधारी यदि निश्शील है, तो भी उसे मुनि मानकर जो दान देता है उसे मुनिदान का स्वर्गादिफल प्राप्त होता है। इस पर प्रश्न उठाया गया है कि यदि ऐसा है, तो जो सरजस्क (कापालिक) आदि^{४४} कुलिंगी हैं, उन्हें भी मुनि समझकर दान देनेवाले को मुनिदान का फल क्यों प्राप्त नहीं होगा? इसके समाधान में कहा गया है कि मुनिलिंग ज्ञानादि गुणों का आश्रय है, इसलिए उसे कोई शीलरहित मायाचारी भी धारण किये हो, तो भी पाषाणादि से निर्मित अरहन्त-प्रतिमा के समान वह मुनिवेश ज्ञानादिगुणों का आश्रय मानकर पूज्य है, किन्तु कुलिंग पूज्य नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानादिगुणों का कथंचित् भी आश्रय (उत्पत्ति का हेतु) नहीं है। यहाँ प्रतिप्रश्न किया गया है कि आगम में ऐसा कथन है कि केवलज्ञान तो कुलिंग में वर्तमान अन्यतीर्थिकों को भी होता है, तब वह ज्ञानादिगुणों का आश्रय मानकर पूज्य क्यों नहीं है? इसका समाधान करते हुए जिनभद्रगणी कहते हैं—“कुलिंगियों में केवलज्ञान की उत्पत्ति भावलिंग से होती है, कुलिंग से नहीं, क्योंकि कुलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है, अतः वह पूज्य नहीं है।^{४५} किन्तु मुनिलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए वह पूज्य है।”

४४. क— “सरजस्कानामस्थ्यादिपरिग्रहाद्।” आचारांग (प्रथमश्रुतस्कन्ध)/ शीलांकाचार्यवृत्ति, ५ / २ / सूत्र १५०।

ख—पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने सरजस्कों को कपाल बगैरह रखनेवाला कहा है, जैसा कि शीलांकाचार्यवृत्ति से ज्ञात होता है। (भगवान् महावीर का अचेलक धर्म/ पृष्ठ १८)।

४५. “नणु मुणिवेसच्छन्ने निस्सीले वि मुणिवुद्धिए दंतो।

पावइ मुणिदाणफलं तह किं न कुलिंगदायावि ॥ ३२९१ ॥

“ननु मुनेर्वेषो मुनिवेषस्तेन च्छन्नोऽविज्ञातो य उदायिनृपमारकादिस्तस्मिन् निःशीलेऽपि मुनिबुद्ध्या दानं ददद् दाता मुनिदानफलं स्वर्गादिकं प्राप्नोति, इत्येतद् भवतामपि तावत् सम्मतं, तथा तैनेव प्रकारेण कुत्सितलिङ्गी कुलिङ्गी सरजस्कादिस्तस्मै दाता कुलिङ्गदाता, सोऽपि किं न मुनिफलं प्राप्नोति, मुनिबुद्धेस्तस्यापि तत्र सदभावात्? इति गुरुराह—

“जं थाणं मुणिलिंगं गुणाण सुन्नं पि तेण पडिमव्व।

पुज्जं थाणमईए वि कुलिंगं सव्वहाऽजुत्तं ॥ ३२९२ ॥

“यस्माद् मुनिलिङ्गं ज्ञानादिगुणानां स्थानमाश्रयः, तेन तस्मात् कस्यापि मायाविनः सम्बन्धि तत् शून्यमपि गुणैरविज्ञातं पाषाणादिनिर्मिताहृत्प्रतिमावत् स्थानमत्यापि पूज्यम्। कुलिङ्गं सर्वथा पूजयितुं न युक्तं, ज्ञानादिगुणानां सर्वथैवानाश्रयत्वादिति। पुनरपि परः प्राह—

“नणु केवलं कुलिंगे वि होइ तं भावलिंगओ न तओ।

मुणिलिंगमंगभावं जाइ जओ तेण तं पुज्जं ॥ ३२९३ ॥

ननु केवलं केवलज्ञानं कुलिङ्गेऽपि वर्तमानानामन्यतीर्थिकानां भवतीत्यागमे श्रूयते, तत् किमिति स्थानबुद्ध्या तत् पूज्यं नेष्यते? गुरुराह—तत् केवलज्ञानं भावलिङ्गतो भवति, न पुनस्ततः कुलिङ्गात्, तस्य केवलज्ञानानङ्गत्वात्। मुनिलिङ्गं पुनर्यस्मादङ्गभावं केवलज्ञानस्य कारणतां याति, तेन तस्मात् तत् पूज्यमिति।” विशेषावश्यकभाष्य/ मूल एवं हेमचन्द्रसूरिवृत्ति/ पृ. ६२८।

जिनभद्रगणी जी का यह समाधान आगमसम्मत नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—“मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।” (१०/१) अर्थात् मोहनीय का क्षय होने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। और तत्त्वार्थसूत्र में इन कर्मों के क्षय के हेतु महाव्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप एवं ध्यान बतलाये गये हैं। (त.सू./७/१, १/२, ३, ८, ३७, ३८)। अतः इनका समूह ही वह भावलिंग है, जिससे केवलज्ञान का आविर्भाव होता है। यह भावलिंग जिनोपदेश में श्रद्धा न रखनेवाले और उपर्युक्त महाव्रतादि का आचरण न करनेवाले सरजस्क आदि कुलिंगियों में प्रकट नहीं हो सकता। अतः उनको केवलज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति मानना आगमविरुद्ध है। षट्खण्डागम में केवलज्ञान को अर्थात् सयोगकेवलि-गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए असंयत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान प्राप्त करने की शर्त शुरू में ही रख दी गयी है। और असंयतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान का अर्थ है जिनवचन में श्रद्धा, जिसका कुलिंगियों अर्थात् परतीर्थिकों में अभाव होता है। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम श्वेताम्बरों और यापनीयों को मान्य परतीर्थिकों की मुक्ति के विरुद्ध है।

४.१.१. जिनलिंग पूज्य, जिनलिंगाभास अपूज्य—तथा जिनभद्रगणी जी की मान्यता है कि जैसे पाषाणादि की प्रतिमा में ज्ञानादिगुण नहीं होते, तथापि अरहन्त का प्रतिरूप होने से पूज्य होती है, वैसे ही कोई शीलरहित मायाचारी पुरुष भी यदि मुनिलिंग धारण किये हो, तो वह मुनिलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण होने से पूज्य है। अर्थात् मुनिलिंग के सम्पर्क से शीलरहित मायाचारी भी पूज्य है। (देखिये, पा.टि.४५)।

ऐसी मान्यता यशस्तिलकचम्पू के कर्ता दिगम्बर सोमदेव सूरि की भी है। वे लिखते हैं—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः॥

यशस्तिलकचम्पू/उत्तरखण्ड/आश्वास ८/पृ. ४०५।

अनुवाद—“इस कलिकाल में चित्त चंचल हो गया है और शरीर अन्नादि का कीड़ा बन गया है। ऐसे समय में भी जिनरूपधारी पुरुष दिखायी देते हैं, यह आश्चर्य की बात है।”

“अतः जैसे जिनेन्द्रों का लेपादिनिर्मित रूप अर्थात् पाषाणादि-प्रतिमा में बनाया गया रूप पूज्य होता है, वैसे ही वर्तमान के शिथिलाचारी मुनियों में दृश्यमान मुनिरूप पूर्वकालीन शुद्धाचारी मुनियों का प्रतिरूप मानकर पूजनीय है।”

दोनों ग्रन्थकारों की ये एक जैसी मान्यताएँ आगमसम्मत नहीं हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘दंसणपाहुड’ में मुनिवेश को नहीं, मुनि वेशधारी के संयम को वन्दनीय बतलाया है और मुनिवेशधारी होते हुए भी जो असंयमी है, उसे अवन्दनीय कहा है। देखिए—

अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥
ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंयुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥ २७ ॥

अनुवाद—“असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। और जो वस्त्रविहीन होकर भी असंयमी है, वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान होते हैं। इनमें से कोई भी संयमी नहीं है।” (२६)।

“न तो देह की वन्दना की जाती है, न कुल की, न जाति की। संयमादिगुणहीन की वन्दना कैसे की जाय? वह न तो श्रमण होता है, न श्रावक।” (२७)।

इन वचनों से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द असंयमी के मुनिवेश को, नग्नदेह को वन्दनीय नहीं मानते। जहाँ उन्होंने मुनिवेश को वन्दनीय कहा है, वहाँ संयमी के ही मुनिवेश को कहा है, असंयमी के नहीं। यथा—

सहजुप्पणं रूवं ददुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सोऽसंजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥ २४ ॥

अमराण वदियाणं रूवं ददूण शीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्पत्तविवज्जिया होति ॥ २५ ॥ दं.पा.

अनुवाद—“जो पुरुष ईर्ष्याभाव के कारण सहजोत्पन्न (दिगम्बरजैन मुनि के यथाज्ञात नग्न) रूप को देखकर उसकी विनय नहीं करता, वह असंयमी पुरुष मिथ्यादृष्टि है। (२४)। शीलसहित मुनियों का वह यथाज्ञातरूप देवों के द्वारा वन्दनीय है। उसे देखकर जो गर्व करते हैं (विनयावनत नहीं होते), वे सम्यक्त्वरहित हैं।” (२५)।

इन गाथाओं में कुन्दकुन्द ने शीलसहित मुनियों के ही नग्नवेश को वन्दनीय बतलाया है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द असंयमियों के द्वारा धारण किये गये नग्नवेश को जिनलिंग नहीं, अपितु जिनलिंगाभास मानते हैं।

ज्ञातव्य—दंसणपाहुड की उपर्युक्त २४ वीं गाथा के सोऽसंजमपडिवण्णो (वह असंयम को प्राप्त अर्थात् असंयमी पुरुष) इस वाक्यांश में, दर्शाये अनुसार अवग्रहचिह्न होना चाहिए। किन्तु प्रायः सभी प्रतियों में वह अनुपलब्ध है अर्थात् सो संजमपडिवण्णो ऐसा पाठ है, जिससे 'वह संयम को प्राप्त अर्थात् संयमी पुरुष', यह अर्थ संकेतित होता है। परिणामस्वरूप गाथा से सर्वथा उलटा अर्थ निकलता है, जैसे "जो संयमी पुरुष अर्थात् दिगम्बरजैन मुनि ईर्ष्या के कारण सहजोत्पन्न नग्न रूप को अर्थात् दिगम्बर जैन मुनि को देखकर उनकी विनय नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है," यह अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि जो स्वयं दिगम्बरजैन मुनि है, वह दिगम्बरजैन मुनि के रूप से न तो ईर्ष्या कर सकता है, न उसका अनादर। अतः टीकाकार श्रुतसागरसूरि (१६वीं शती ई०) ने संयमप्रतिपन्न शब्द को उन भ्रष्ट दिगम्बरजैन मुनियों का सूचक मान लिया, जो १३वीं शताब्दी ई० में आचार्य वसन्तकीर्ति के उपदेश से आहारादि के लिए निकलते समय शरीर को चटाई, टाट आदि से ढँकने लगे थे (दंसणपाहुड/टीका/गा.२४), और शीतकाल में कम्बल ओढ़ने लगे थे। (श्रुतसागरसूरि: तत्त्वार्थवृत्ति ९/४७)। इसे श्रुतसागरसूरि ने दिगम्बरजैन मुनियों के लिए अपवादवेष ('संयमिना-मित्यपवादवेषः'-दंसणपाहुड/टीका/गा.२४) कहकर आगमानुकूल बतलाने का प्रयत्न किया है। इससे इन वस्त्रपरिग्रही भ्रष्ट मुनियों पर 'संयमप्रतिपन्न' (संयमी) विशेषण भी लागू हो जाता है और सच्चे दिगम्बर जैन मुनियों के सहजोत्पन्न नग्नरूप के प्रति उनका ईर्ष्या और अनादरभाव रखना भी उपपन्न हो जाता है। उक्त अपवादवेषधारी भ्रष्ट मुनियों को ही श्रुतसागरसूरि ने संयमप्रतिपन्न (संयमी) कहा है, यह उनके निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—“संयमप्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि—अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः।” (दंसणपाहुड/टीका/गा.२४)।

किन्तु आचार्य श्री कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और उपर्युक्त अपवादवेष के उपदेशक आचार्य वसन्तकीर्ति ईसा की १३वीं शती में। अतः कुन्दकुन्द की गाथा में संयमप्रतिपन्न शब्द उपर्युक्त अपवादवेषधारी जैनश्रमणाभासों के लिए प्रयुक्त माना ही नहीं जा सकता। और जो कुन्दकुन्द यह मानते हैं कि साधु बाल के अग्रभाग के भी बराबर परिग्रह नहीं रखता—“बालगगकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहुणं” (सुत्तापाहुड/गा.१७) तथा वह यथाजतरूपसदृश होता है, हाथ में तिल के तुष के बराबर भी परिग्रह ग्रहण नहीं करता, यदि करता है, तो निगोद में जाता है (सुत्तापाहुड/गा.१८), ऐसी मान्यतावाले कुन्दकुन्द उक्त अपवादवेषधारी श्रमणाभासों को 'संयमप्रतिपन्न' कह ही नहीं सकते। अतः सिद्ध है कि 'दंसणपाहुड' की उक्त २४ वीं गाथा में अवग्रहचिह्नसहित सोऽसंजमपडिवण्णो पाठ ही है, जिससे गाथा का अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द के अभिप्रायानुसार प्रतिपन्न होता है। वही अर्थ ऊपर उद्धृत २४ वीं गाथा

के अनुवाद में प्रस्तुत ग्रन्थलेखक ने दिया है। 'दंसणपाहुड की सभी प्रतियों में उपर्युक्त (२४ वीं) गाथा में अवग्रहचिह्न का प्रयोग कर पाठ संशोधित किया जाना चाहिए।

४.१.२. चतुर्जैनाभास-गृहीत नग्नवेश भी जिनलिंगाभास—जैनसम्प्रदाय में पाँच जैनाभास-मुनिसंघ हुए हैं : गोपुच्छक (गोपुच्छ के बालों की पिच्छी रखनेवाला काष्ठासंघ), श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय और निष्पिच्छ (पिच्छी न रखनेवाला माथुरसंघ)। इनका वर्णन इन्द्रनन्दी ने नीतिसार के निम्नलिखित श्लोक में किया है—

गोपुच्छकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।

निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १०॥

इनमें से श्वेताम्बरसंघ को छोड़कर शेष चार मुनिसंघ जिनलिंगधारी थे। चूँकि इनके आचार-विचार मूलसंघ के आचार-विचार से काफी भिन्न थे, अतः इन्हें जैनाभास कहा गया है। इसलिए इनका जिनलिंग भी जिनलिंगाभास था। श्रुतसागर सूरि ने कहा है कि ये जैनाभास आहारदान आदि के भी योग्य नहीं हैं, मोक्ष के योग्य कैसे हो सकते हैं?—“ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति, कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति?” (दंसणपाहुड / टीका / गा.११)।

इससे भी सिद्ध है कि जिनागम में सम्यक्त्व-संयम-विहीन पुरुषों का नग्नवेश जिनलिंग नहीं माना गया है, अपितु जिनलिंगाभास माना गया है। अतः वह पूज्य नहीं है।

श्रुतसागर सूरि ने तो यहाँ तक कहा है कि उपर्युक्त जैनाभासों के द्वारा जो अंचलिकारहित भी नग्नमूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है वह भी न वन्दनीय है, न पूजनीय—“या तु पञ्चजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता सा न वन्दनीया, न चार्चनीया च।” (बोधपाहुड / टीका / गा.१०)। तात्पर्य यह कि जिनलिंगाभासधारियों के द्वारा प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा भी जिनप्रतिमाभास है।

४.१.३. पाश्र्वस्थादि भ्रष्ट जैनमुनियों का नाग्न्यलिंग कुलिंग—भावपाहुड, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों में मुनिधर्मविरुद्ध विविध आचरण करनेवाले भ्रष्ट जैनमुनियों को पाश्र्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और यथाछन्द, इन पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है। (देखिये, अध्याय ८ / प्रकरण ४ / शीर्षक ३)। ये भी जैनाभास या जैनश्रमणाभास हैं, अतः इनका नाग्न्यलिंग भी जिनलिंगाभास है। पं० आशाधर जी ने अनगारधर्मागत में इनके जिनलिंगाभास को कुलिंग संज्ञा दी है और इन्हें अवन्दनीय बतलाया है। यथा—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाऽप्यसंयताः।

कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतैः॥ ८/५२॥

अनुवाद—“श्रावक को भी असंयमी माता-पिता, गुरु और राजा की तथा कुलिंगियों और कुदेवों की वन्दना नहीं करनी चाहिए। मुनियों को भी (शास्त्रोपदेशक) श्रावक की वन्दना अकरणीय है।”

यहाँ कुलिंगियों का अर्थ बतलाते हुए पं० आशाधर जी उक्त श्लोक की ज्ञानदीपिका पञ्जिका में लिखते हैं—“कुलिङ्गिनः तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च।” अर्थात् तापस आदि एवं पार्श्वस्थ (पासत्थ) आदि मुनि कुलिंगी हैं।

श्रुतसागर सूरि का कथन है—“एते पञ्चश्रमणा जिनधर्मबाह्या न वन्दनीयाः, तेषां कार्यवशात् किमपि न देयं जिनधर्मोपकारार्थम्।” (भावपाहुड / टीका / गा.१४)। अभिप्राय यह कि “ये पाँच प्रकार के श्रमण जैनधर्म से बाहर हैं, अतः वन्दनीय नहीं हैं। जैनधर्म के उपकारार्थ अर्थात् उसे अपवाद से बचाने के लिए इन्हें आहार आदि किसी भी वस्तु का दान नहीं करना चाहिए।” डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने उक्त गाथा के विशेषार्थ में लिखा है—“भ्रष्ट मुनियों को आहार आदि देने तथा उनकी भक्ति-वन्दना आदि करने से जिनधर्म का अपवाद होता है।”

इन अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि जैनशासन में सम्यक्त्व-संयमविहीन पुरुषों द्वारा धारण किये गये जैनमुनियों के नग्नवेश को जिनलिंग नहीं, अपितु जिनलिंगाभास या कुलिंग माना गया है और उसे अपूज्य बतलाया गया है। जैसे जल, दुग्ध आदि पवित्र पदार्थ से भरा कलश ही स्पर्शयोग्य होता है, किसी अपवित्र पदार्थ से भरा हुआ नहीं, वैसे ही सम्यक्त्व-संयमसम्पन्न पुरुष की ही नग्नमुद्रा पूज्य होती है, मिथ्या-दृष्टि-असंयमी पुरुष की नहीं।

४.१.४. जिनलिंगाभास केवलज्ञानसाधक नहीं—जिनभद्रगणी जी ने निश्शील, मायाचारी पुरुष द्वारा धारण किये गये मुनिलिंग को केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु कहकर उसे पूज्य बतलाया है। किन्तु उपर्युक्त प्रमाण सिद्ध करते हैं कि उसका मुनिलिंग ‘मुनिलिंग’ नहीं, अपितु मुनिलिंगाभास है। उसमें तो निश्शील और मायाचारी को शीलवान् और अमायाचारी बनाने की भी योग्यता नहीं है, केवलज्ञान प्रकट करने की योग्यता होने की तो बात ही दूर। अतः वह पूज्य नहीं है। जो मुनिलिंग सम्यक्त्व-वैराग्यरूप स्वभाव से प्रकट होता है और वीतराग-परिणामरूप भावलिंग को जन्म देता है, वही केवलज्ञान का साधक होता है, ऊपर से चिपकाया हुआ नहीं। कोई गर्दभी यदि गाय की खाल ओढ़ ले, तो उसके धनों से गाय का दूध नहीं निकल सकता, वैसे ही कोई मिथ्यादृष्टि-असंयमी मुनिलिंग ओढ़ ले, तो उसमें केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। सम्यक्त्व-वैराग्य-परिणाम से उत्पन्न नाग्न्य ही मुनिलिंग या जिनलिंग कहलाता है, इस तथ्य का निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड की निम्नलिखित

गाथा में किया है—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।

पच्छ दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए॥ ७३॥ भा.पा.।

अनुवाद—“मुनि पहले मिथ्यात्वादि दोषों का परित्याग कर भाव से नग्न होता है, पश्चात् जिनाज्ञा के अनुसार द्रव्यलिंग धारण करता है (शरीर से नग्न होता है)।”

यतः सम्यक्त्व-वैराग्य-परिणामरूप भावजिनलिंग के बिना नग्नतारूप द्रव्य जिनलिंग प्रकट नहीं होता और नग्नतारूप द्रव्यजिनलिंग के बिना प्रत्याख्यानावरणकषाय-क्षयोपशमजनित निवृत्तिपरिणामरूप भावजिनलिंग की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए उक्त गाथा के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने लिखा है—“भावलिङ्गेन द्रव्यलिङ्गं, द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यम्। एकान्तमतेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यम्।” (भावपाहुडटीका / गा.७३)।

यथाजात नग्नरूप ही जिनलिंग है, वही भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट मुनिलिंग है। यह समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर आगमों, वैदिक-बौद्ध साहित्य एवं ऋषभादि-वर्धमान पर्यन्त तीर्थकरों की प्राचीन प्रतिमाओं से प्रमाणित है। यद्यपि श्री जिनभद्रगणी ने तीर्थकरों के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को जिनलिंग धारण करने के अयोग्य बतलाया है और—

जारिसयं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।

न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखवणो वा॥^{४६}

“जैसा गुरु का लिंग होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। बुद्ध का लिंग धारण करनेवाला ही बुद्ध का शिष्य कहलायेगा, श्वेताम्बर या दिगम्बर-लिंग धारण करनेवाला नहीं,” इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि तीर्थकर प्रथम संहनन के धारक होते हैं, अतः जिनलिंग (दिगम्बरलिंग) उनके ही योग्य है। शेष पुरुष प्रथम संहनन के धारी नहीं होते, अतः वे जिनलिंग के अधिकारी नहीं हैं। (देखिए, अध्याय २ / प्रकरण ५ / शीर्षक १)।

जिनभद्रगणी जी का यह कथन आचारांगादि श्वेताम्बर-आगमों से ही अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। कर्मसिद्धान्त की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। कर्मसिद्धान्त समस्त जीवों, समस्त क्षेत्रों और समस्त कालों की अपेक्षा समान और निरपवाद है। वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। तीर्थकर भी अनादिकाल से तीर्थकर नहीं थे। वे सामान्य जीवों की तरह ही सामान्य थे। उन्होंने सर्वसाधारण के लिए उपदिष्ट

४६. विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५८५ की हेमचन्द्रसूरिकृतवृत्ति में उद्धृत।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग का अवलम्बन कर तथा सोलह कारणभावनाओं या श्वेताम्बरमान्य विंशतिस्थानकों की आराधना द्वारा तीर्थंकरपद हासिल किया था। षट्खण्डागम के अनुसार इन सोलह कारणभावनाओं की आराधना का प्रत्येक भव्यजीव अधिकारी है और उन्हीं भव्यजीवों में से कोई तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर लेता है। इसके अलावा षट्खण्डागम में वज्रवृषभनाराचसंहनन के बन्ध का अधिकारी भी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान तक के जीवों को बतलाया गया है। (पु.८/३,१७-१८)। यद्यपि पंचमकाल में कर्मभूमिजों में वज्रवृषभनाराचसंहनन का उदय नहीं होता, तथापि षट्खण्डागम में पुरुषों के लिए जिनलिंगधारण करने में कोई बाधा नहीं बतलायी गयी है। अतः उसके अनुसार एक मात्र जिनलिंग ही केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत भावलिंग की उत्पत्ति का हेतु है। इस प्रकार षट्खण्डागम में प्रतिपादित गुणस्थान-सिद्धान्त यापनीयों को मान्य मिथ्यादृष्टि (परलिंगी) की मुक्ति के विरुद्ध है।

४.२. गृहस्थमुक्ति के विरुद्ध

गुणस्थानसिद्धान्त गृहस्थमुक्ति के भी विरुद्ध है। गृहस्थावस्था मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान से लेकर संयतासंयत (पंचम) गुणस्थान तक रहती है। प्रथम तीन गुणस्थानों में तो सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का अभाव होने से मोक्ष संभव नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र न होने से मोक्ष असम्भव है। तथा पञ्चम गुणस्थान में सकलचारित्र न होने से मोक्ष के लिए अवकाश नहीं है।

चारित्र की वृद्धि गुणस्थानक्रम से होती है। क्रमशः ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में वृद्धिगत होता हुआ बारहवें गुणस्थान में वह पूर्णता को प्राप्त होता है। षट्खण्डागम में चारित्र या संयम के पाँच भेद बतलाये गये हैं : सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनमें से सामायिक और छेदोपस्थापना-चारित्र प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानों में होते हैं। परिहारविशुद्धिचारित्र प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में होता है, सूक्ष्मसाम्पराय-चारित्र, सूक्ष्मसाम्पराय-शुद्धिसंयत-गुणस्थान में और यथाख्यातचारित्र उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान तक होता है। (ष.खं./पु.१/१, १, १२३-१२८)। इनमें से प्रथम चार प्रकार के चारित्र जघन्य और उत्कृष्ट रूप होते हैं। केवल यथाख्यातचारित्र जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से रहित होता है (ष.खं./पु.७/२,११, १७४), क्योंकि, वहाँ कषाय का अभाव हो जाने से उसकी वृद्धि और हानि के कारणों का अभाव हो जाता है। (धवला/ष.खं./पु.७/२,११/१७४/पृ.५६७)। ये चारित्र चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से प्रकट होते हैं। (ष.खं./पु.७/२,१,४८-५३)।

इस प्रकार चरित्रमोहनीय के पूर्ण क्षय में समर्थ चरित्र की प्राप्ति दशमगुणस्थान में होती है तथा ज्ञानावरणादि शेष तीन घाती कर्मों के क्षय में समर्थ चरित्र बारहवें गुणस्थान में उपलब्ध होता है। और अघातिकर्मचतुष्टय के क्षय की योग्यता अयोगिकेवलि-गुणस्थान में पहुँचे हुए जीव में ही आती है। उससे नीचे के गुणस्थानों में रहने वाले जीवों में नहीं। इस प्रकार गुणस्थानसिद्धान्त के अनुसार पंचमगुणस्थानवर्ती गृहस्थ में यथाख्यातचरित्र का सद्भाव और योग का अभाव न होने से कर्मक्षय की योग्यता नहीं होती, अतः वह मुक्त नहीं हो सकता। अत एव गुणस्थानसिद्धान्त गृहस्थमुक्ति के विरुद्ध है। षट्खण्डागम में बतलाया गया है कि १. सातिशय मिथ्यादृष्टि (सम्यक्त्वोन्मुख मिथ्यादृष्टि), २. श्रावक (देशव्रती), ३. विरत (महाव्रती), ४. अनन्तानुबन्धीकषाय-विसंयोजक, ५. दर्शनमोहक्षपक, ६. चरित्रमोह-उपशमक, ७. उपशान्त-कषाय, ८. क्षपक, ९. क्षीणमोह, १०. स्वस्थानजिन, तथा ११. योगनिरोध में प्रवृत्त जिन, इनके कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।^{४७} इनमें गृहस्थ (श्रावक) का स्थान दूसरा है, अर्थात् उसके कर्मों की बहुत कम निर्जरा होती है। सम्पूर्ण निर्जरा के लिए उसे नौ सीढ़ियाँ और चढ़ना आवश्यक होता है, तब कहीं वह मोक्ष का पात्र हो सकता है। स्पष्ट है कि षट्खण्डागम के अनुसार गृहस्थमुक्ति सम्भव नहीं है।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरा (पृ.३९४) में लिखा है कि सिद्ध भगवान् सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र के चौदह गुणस्थानरूप सोपानों पर क्रमशः चढ़ते हुए सिद्ध हुए हैं। (देखिये, अध्याय १०/प्रकरण ५/शीर्षक ३.४)।

श्री हरिभद्रसूरि के इन वचनों से भी स्पष्ट है कि चूँकि गृहस्थ (श्रावक) सम्यग्दर्शनज्ञान-चरित्र के केवल दूसरे सोपान पर स्थित होता है, अतः वह मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयों को मान्य गृहस्थमुक्ति के भी विरुद्ध है।

४.३. स्त्री के तीर्थकर होने के विरुद्ध

महाबल का स्त्रीतीर्थकर 'मल्ली' के रूप में जन्म असिद्ध—यापनीयमत में श्वेताम्बर-मत की तरह स्त्रीमुक्ति भी मान्य है। श्वेताम्बर-आम्नाय मानता है कि तीर्थकर मल्लिनाथ स्त्री थे। अन्तिम भव से पूर्ववर्ती तीसरे भव में उन्होंने महाबल नामक राजकुमार (पुरुष) के रूप में जन्म लिया था। अपने छह मित्रों के साथ वे अनगर हुए और सातों मित्रों ने प्रतिज्ञा की, कि वे एक ही बराबर तप करेंगे, कोई ज्यादा कोई कम नहीं, ताकि अगले भव में सभी समान पद प्राप्त करें। किन्तु प्रतिज्ञा करके राजकुमार

४७. षट्खण्डागम/पु.१२/४,२,७/प्रथम चूलिका/गाथा ७-८ तथा सूत्र १७५-१९६। देखिये, दशम अध्याय 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय', पादटिप्पणी १६८।

महाबल में अपने मित्रों से उच्च बनने की भावना आ गई। अतः वे उनसे छिपा कर अधिक तप करने लगे। पारणे के दिन वे कह देते कि आज मेरे पैरों में दर्द है, आज मेरा सिर दुख रहा है, आज मेरे पेट में पीड़ा है, आज मुझे भूख नहीं है, इसलिए मैं पारणा नहीं करूँगा, आप लोग कर लीजिए।^{४८} इस प्रकार कपटाचरण से उन्हें पारणा करा देते और स्वयं उपवास कर लेते। इस तरह माया से विंशतिस्थानक (तीर्थकर-प्रकृतिबन्धक बीस कारणभावनाओं) की आराधना करके तीर्थकरनामकर्म बाँध लिया, किन्तु मायावश द्रव्यस्त्रीवेद (स्त्रीनामगोत्रकर्म) भी बँध गया।^{४९} तप के बल से वे 'जयन्त' नामक अनुत्तर विमान में देव हुए। वहाँ से चयकर स्त्रीपर्याय प्राप्त की और उसी पर्याय से 'मल्ली' तीर्थकर हुए।^{५०}

चूँकि यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को मानते थे, इसलिए यह कथा यापनीयपरम्परा में भी मान्य थी। किन्तु यह कथा षट्खण्डागम के गुणस्थानसिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त से सर्वथा असंगत है। उदाहरणार्थ—

१. षट्खण्डागम के अनुसार स्त्रीवेद एवं स्त्रीनामगोत्रकर्म (स्व्यंगोपांग-नामकर्म) का बन्ध मिथ्यादृष्टि एवं सासादन-सम्यग्दृष्टि को होता है और तीर्थकरप्रकृति का

४८. क— “अन्यदा च महाबलमुनिस्तेभ्यो विशिष्टतरफलेप्सया पारणकदिने पादोऽद्य मे दुष्यति, शिरोऽद्य मे दुष्यति, दुष्यत्युदरमद्य मे, नास्ति मेऽद्य क्षुदित्यादिव्यपदेशेन मायया तान् वञ्चयित्वा तपश्चक्रे। तेन च मायामिश्रेण तपसा स्त्रीवेदकर्म अर्हद्वात्सल्यादिभिः विंशतिस्थानैस्तीर्थकृत्नामकर्म च बद्ध्वा---।” प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग)/वृत्ति/ गाथा ८८९/ पृष्ठ २५६।

ख— “ततो मायागर्भं तीर्थकरत्वं बद्ध्वा---।” उदयप्रभसूरिकृत टिप्पणी/प्रवचनसारोद्धार गाथा ८८९/ पृष्ठ १८३।

४९. “सप्ताऽपि गुरुप्रसादात् एकादशाङ्गानि पेटुः। 'सर्वैः समानं तपः कार्यम्' इति प्रतिज्ञां कृत्वा, तपः कर्तुं प्रारब्धम्। महाबलस्तु आगामिभवेऽपि 'अहम् एतेभ्योऽधिकं भवामि' इति हेतोः अधिकतपः-करणाय पारणकदिने 'शिरो मे दूष्यति' इति मिषं कृत्वा मायया उपवासं कृत्वा, मायाप्रत्ययं स्त्रीगोत्रं कर्म बद्धवान्। विंशतिस्थानकसेवनेन तीर्थङ्करनामगोत्रमपि बद्धवान्।” कल्पसूत्र-कल्पलताव्याख्या / समयसुन्दरगणी / द्वितीयव्याख्यान / पृष्ठ ३४।

५०. “तए णं से महब्बले अणगारे इमेण कारणेण इत्थिणामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु -जइ णं ते महब्बलवज्जा छ अणगारा चउत्थं उवसंपज्जिता णं विहरंति, तओ से महब्बले अणगारे छट्ठं उवसंपज्जिता णं विहरइ। जइ णं ते महब्बलवज्जा अणगारा छट्ठं उवसंपज्जिता णं विहरंति, तओ से महब्बले अणगारे अट्ठमं उवसंपज्जिता णं विहरइ। एवं अट्ठमं तो दसमं, अह दसमं तो दुवालसमं। इमेहि य वीसाएहि कारणेहि आसेवियबहुलीकएहिं तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु, तं जहा ---।” ज्ञाताधर्मकथाङ्ग/अध्ययन ८/मल्ली/प्रधान सम्पादक-युवाचार्य मिश्रीमल महाराज 'मधुकर'/पृष्ठ २१७।

बन्ध सम्यग्दृष्टि को। इसलिए राजकुमार महाबल को यदि स्त्रीवेद एवं स्त्रीवेदनामकर्म का बन्ध माना जाय, तो तीर्थकरप्रकृति का बन्ध नहीं माना जा सकता और यदि तीर्थकर-प्रकृति का बन्ध माना जाय, तो स्त्रीवेद एवं स्त्रीवेदनामकर्म का बन्ध अमान्य होता है। उक्त प्रकृतियों के बन्धक एवं अबन्धक बतलाने वाले सूत्र इस प्रकार हैं—

“गिहाणिहा-पयलापयला-शीणगिद्धि-अणंताणुबंधिकोह-माण-माया-लोभ-इत्थिवेद-तिरिक्खाउ-तिरिक्खगइ-चउसंठाण-चउसंघडण-तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्वि-उज्जोव-अप्पसत्थविहायगइ-दुभग-दुस्सर-अणादेज्ज-णीचागोदाणं को बंधो को अबंधो?” (ष.ख./पु.८/३,७)।

“मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी बंधा। एदे बंधा, अवसेसा अबंधा।” (ष.खं./पु.८/३,८)।

“तित्थयरणामस्स को बंधो को अबंधो? (ष.खं./पु.८/३/३७)।

“असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अपुव्वकरणपइइउवसमा खवा बंधा ---। एदे बंधा अवसेसा अबंधा।” (ष.खं./पु.८/३, ३८)।

२. महाबल अनगार थे अर्थात् षट्खण्डागम के अनुसार प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्त-संयत गुणस्थान में स्थित थे। षट्खण्डागम के उपर्युक्त सूत्रों में प्रमत्तसंयत-गुणस्थानवर्ती को मायाचार के निमित्त से बँधनेवाले स्त्रीवेद, तिर्यचायु एवं तिर्यचगति^{५१} के बन्ध का अभाव बतलाया गया है, जिससे मायाचारनिमित्तक स्त्रीनामगोत्रकर्म के बन्ध का भी अभाव फलित होता है। स्त्रीपर्याय को श्वेताम्बरसाहित्य में अत्यन्त हेय बतलाया गया है, यथा प्रकरणरत्नाकर में कहा गया है—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला अधीइए।

इअ अइवसेस झयणा भूअवाउं अनोच्छीणं॥^{५२}

अनुवाद—“स्त्रियों को दृष्टिवादनामक बारहवाँ अंग नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि वे स्वभाव से तुच्छ होती हैं, इसलिए अभिमान बहुत करती हैं, अतिशयज्ञान पचा नहीं पाती, उनकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं और बुद्धि दुर्बल होती है।”

कल्पसूत्र की टीका में निम्नलिखित तीन गाथाएँ उद्धृत कर प्रमाणित किया गया है कि साध्वियों को समस्त साधुओं का अभिगमन, वन्दन और नमन करना चाहिए,

५१. “माया तैर्ययोनस्य।” तत्त्वार्थसूत्र/६/१६।

५२. प्रकरणरत्नाकर/चतुर्थभाग/‘जोगोवओगलेस्सा’ इत्यादि ५५ वीं गाथा की टीका में पृष्ठ ८०९ पर उद्धृत।

क्योंकि समस्त जिनों के तीर्थों में धर्म का प्रतिपादन पुरुषों के द्वारा ही किया गया है। भले ही कोई आर्यिका सौ वर्ष की दीक्षित हो और साधु आज का दीक्षित हो, तो भी सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका को आज के दीक्षित साधु की अभ्यर्थना, वन्दना, नमस्कार, विनय और पूजा करनी चाहिए। धर्म पुरुषों से उत्पन्न हुआ है, पुरुषश्रेष्ठों ने ही उसका उपदेश दिया है, इसलिए पुरुष बड़ा है। लोक में भी पुरुष ही प्रभु होता है, तब लोकोत्तम की तो बात ही क्या?—

सव्वाहिं संजईहिं किइकम्मं संजयाण कायव्वं।

पुरिसुत्तिमुत्ति धम्मो सव्वजिणाणं पि तित्थेसु॥

वरिससयदिविख्याए अज्जाए अज्जदिविखओ साहू।

अभिगमण-वंदण-नमंसणेणं विणयेण सो पुज्जो॥

धम्मो पुरिसप्पभवो पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो।

लोए वि पहू पुरिसो किं पुण लोगुत्तमे धम्मे॥^{५३}

आगे कहा गया है कि स्त्री की वन्दना करने में बहुत दोष होते हैं, क्योंकि वे तुच्छ होती हैं, इसलिए वन्दना करने से उन्हें अभिमान हो जाता है। अभिमान होने से नीच गोत्रकर्म का बन्ध होता है। लोक में भी स्त्री की वन्दना निन्द्य मानी गयी है—

“स्त्रीवन्दने च बहवो दोषाः। यतः तुच्छत्वाद् गर्वः। गर्वाच्च नीचैर्गोत्रकर्मबन्धः लोकेऽपि स्त्रीवन्दनं निन्द्यमिति।”^{५४}

ऐसी तुच्छ स्त्रीपर्याय का बन्ध अनगार-अवस्था में अर्थात् प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानों में नहीं हो सकता। षट्खंडागम के अनुसार जब स्त्रीवेद के बन्ध का विच्छेद द्वितीयगुणस्थान के अन्त में हो जाता है, तब प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानों में उसका बन्ध कैसे हो सकता है? इस तरह महाबल अनगार को स्त्रीनामगोत्रकर्म के बन्ध की श्वेताम्बरीय एवं यापनीय मान्यता षट्खण्डागम के गुणस्थानसिद्धान्त के विरुद्ध है।

३. स्त्रीनामगोत्रकर्म का बन्ध मानने पर महाबल को मिथ्यादृष्टि मानना होगा और मिथ्यादृष्टि मानने पर उन्हें प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानों (अनगार-अवस्था) को प्राप्त नहीं माना जा सकता और प्रमत्त-अप्रमत्त-संयतगुणस्थानों (भावसंयमसहित

५३. कल्पप्रदीपिकावृत्ति में उद्धृत/कल्पसूत्र/गाथा ३/पृ.२।

५४. कल्पप्रदीपिकावृत्ति/कल्पसूत्र/गाथा ३/पृ.२।

द्रव्यसंयम) के अभाव में जयन्त नामक अनुत्तरविमान में उनकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

४. मायाचार करनेवाला मायाशल्य से ग्रस्त होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र (७/१८) के 'निःशल्यो व्रती' वचन के अनुसार व्रती नहीं हो सकता अथवा मायाशल्य के कारण व्रतों का निरतिचार पालन करने में असमर्थ होने से 'शीलव्रतेष्वनतिचारः' (त.सू./६/२४) नियम के अनुसार तीर्थकरप्रकृति का बन्ध नहीं कर सकता।^{५५}

५. अपने मित्रों से अधिक तप करके उनसे उच्च बन जाने की आकांक्षा निदानशल्य का लक्षण है। यह 'दर्शनविशुद्धता' के अभाव का सूचक है, जो तीर्थकरप्रकृति के बन्ध के विरुद्ध है।

६. मल्लीकथा में महाबल को दर्शनविशुद्धता आदि बीस भावनाओं के बल से तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करके जयन्त नामक स्वर्ग में देवपर्याय की प्राप्ति बतलायी गयी है और वहाँ से च्युत होने पर स्त्रीपर्याय में सम्यग्दर्शनसहित आना बतलाया गया है। किन्तु षट्खण्डागम में कहा गया है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीपर्याय में उत्पन्न नहीं होता, स्त्रीपर्याय में उत्पन्न होने के बाद ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक १)।

षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-गत पूर्वोद्धृत ९३वें सूत्र का प्रमाण देकर धवला-टीकाकार वीरसेन स्वामी ने सिद्ध किया है कि हुण्डावसर्पिणी काल में द्रव्यस्त्रियों और भावस्त्रियों दोनों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते। देखिए—

“हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्? नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्।” (धवला/ष.खं./पु.१/१,१,९३/पृ.३३४-३३५)।

अनुवाद—“हुण्डावसर्पिणी काल में क्या सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों (द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों) में उत्पन्न नहीं होते? नहीं होते। इसका क्या प्रमाण है? यही आर्षवचन (सूत्र ९३) प्रमाण है।”

वस्तुतः यह सूत्र सभी कालों में सम्यग्दृष्टियों की स्त्रीपर्याय में उत्पत्ति का निषेधक है। किन्तु वीरसेन स्वामी ने यहाँ विशेषरूप से हुण्डावसर्पिणी काल का प्रश्न क्यों उठाया, यह ध्यान देने योग्य है। इस प्रश्न को उठाने का प्रयोजन यह दर्शाना है

५५. “सुरावाण-मांसभक्षण-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रइ-अरइ-सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेयापरिच्चागो अदिचारो, एदेसिं विणासो णिरदिचारो सपुण्णदा (सम्पूर्णता), तस्स भावो णिरदिचारदा। तीए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए तित्थयरकम्मस्स बंधो होदि।” धवला/ष.खं./पु.८/३,४१/पृ. ८२।

कि महाबल के सम्यग्दृष्टि होते हुए भी स्त्रीपर्याय में मल्ली के रूप में जन्म लेने की जो श्वेताम्बरीय मान्यता है, वह असमीचीन है। श्वेताम्बर स्वयं मानते हैं कि भव्य स्त्रियाँ ये दस पद प्राप्त नहीं कर सकतीं—१. अरहंत २. चक्रवर्ती ३. नारायण ४. बलभद्र ५. संभिन्नश्रोता ६. चारणऋद्धि ७. चतुर्दशपूर्व-धारित्व ८. गणधर ९. पुलाक और १०. आहारकऋद्धि।^{५६} इसके बावजूद उन्होंने यह मान लिया है कि मल्ली-कुमारी स्त्री होते हुए भी तीर्थकर हुई थीं। अतः इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से दस आश्चर्यजनक घटनाओं के होने की कल्पना की है, जिनमें एक स्त्री के तीर्थकर होने की कल्पना भी है।^{५७} अर्थात् वे इस नियमविरुद्ध घटना के बचाव में यह कहते हैं कि यद्यपि कर्मसिद्धान्त के अनुसार स्त्री तीर्थकर नहीं हो सकती, तथापि हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से ऐसी आश्चर्यजनक घटना हुई है। इस हुण्डावसर्पिणी काल के तर्क का अनौचित्य दर्शाने के लिए ही वीरसेन स्वामी ने उपर्युक्त प्रश्न उठाया है और ऊपर निर्दिष्ट १३वें सूत्र में आये णियमा पज्जत्तियाओ शब्दों से सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टियों के स्त्रियों में उत्पन्न न होने का नियम निरपवाद है, हुण्डावसर्पिणी काल आदि के दोष से उसका उल्लंघन नहीं हो सकता।

पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने भी इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—“हुण्डावसर्पिण्यां इत्यादि शब्द द्वारा जो शंका भाष्य में उठाई है, वह श्वेताम्बरपक्ष को लेकर उठाई गई है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से द्रव्यस्त्री को मोक्ष माना है और उनमें भी श्री मल्लिनाथ तीर्थकर को स्त्री माना है। जब सूत्र १३ में स्त्री को अपर्याप्त दशा में चतुर्थ गुणस्थान का निषेध किया गया है, तब यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि जिसके पूर्वभव में सम्यक्त्व है, वह जीव स्त्रीपर्याय में पैदा नहीं होता। और जब स्त्रीपर्याय में पैदा नहीं होता, तो उसके अपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व नहीं होता है। परन्तु श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से अछेरा (अनहोनी बात का होना) होने के कारण मल्लिनाथ तीर्थकर स्त्री हुए हैं, ऐसी दशा में यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि तीर्थकर-प्रकृतिवाले जीव के पूर्वभव का सम्यक्त्व होगा, तभी वह आगे के जन्म में पंचकल्याणवाला तीर्थकर होगा। अतः सिद्ध

५६. अरहंत चक्किकेसवबल-संभिन्ने य चारणे पुव्वा।

गणहर-पुलाय-आहारगं च न हु भवियमहिलाणं ॥ १५०६ ॥ प्रवचनसारोद्धार/ पृष्ठ ३२५।

५७. दस अच्छेरगा पण्णत्ता, तं जहा—

उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।

कण्हस्स अवरकंका उत्तरणं चंदसूराणं ॥

हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पातो य अट्टसयसिद्धा।

अस्संजतेसु पूआ दस वि अणंतेण कालेण ॥ स्थानांगसूत्र/ दशमस्थान/ सूत्र १६०।

है कि पूर्वभव के सम्यक्त्व का सहयोग उस जीव को अपर्याप्त दशा में भी है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-मान्य इसी मन्तव्य को लेकर भाष्य में हुण्डावसर्पिणी इस पंक्ति द्वारा शङ्का उठाई गयी है, उसी का समाधान भाष्य में "इति चेत्, नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्थात्" इन वाक्यों से किया है।

"शङ्का—इस आर्षसूत्र में ऐसा कौन-सा वाक्य है, जिससे कि यह समाधान हो जाता है?

"इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि आर्षसूत्र में णियमा पज्जत्तियाओ यह वाक्य पड़ा है। इससे अपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व का स्पष्ट निषेध हो जाता है।"^{५८}

परमादरणीय पण्डित वंशीधर जी व्याकरणाचार्य ने हुण्डावसर्पिणी के श्वेताम्बरीय तर्क को इस प्रकार असंगत ठहराया है—

"हुण्डावसर्पिणी-कालदोष के प्रभाव से परम्पराविरुद्ध कार्य तो हो सकते हैं, परन्तु उससे करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों का अपलाप नहीं हो सकता। कारण, सम्पूर्ण काल, सम्पूर्ण क्षेत्र, सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण अवस्थाओं को ध्यान में रखकर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों पर कालविशेष, क्षेत्रविशेष, द्रव्यविशेष और अवस्था-विशेष का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। इसलिए जब करणानुयोग का यह नियम है कि कोई प्राणी सम्यग्दर्शन की हालत में मरकर स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, तो हुण्डावसर्पिणी काल का दोष इसका अपवाद नहीं हो सकता।"^{५९}

इस प्रकार मल्लीकथा में महाबल के 'जयन्त' स्वर्ग से चयकर सम्यग्दर्शनसहित स्त्रीपर्याय में आने की जो बात कही गई है वह षट्खण्डागम के उपर्युक्त ९३वें सूत्र के विरुद्ध है।

७. महाबल द्वारा बाँधा गया स्त्रीनामगोत्रकर्म आबाधाकाल की दृष्टि से भी षट्खण्डा-गम के कर्मसिद्धान्त के प्रतिकूल है। इसका स्पष्टीकरण स्व० पं० अजितकुमार जी शास्त्री ने इस प्रकार किया है—“महाबल राजा ने साधु अवस्था में छलपूर्वक तपस्या करते हुए जो स्त्रीलिंग का बन्ध किया, वह तीर्थकरप्रकृति^{६०} के अनुसार अधिक से

५८. लेख—'श्री षट्खण्डागम के ९३वें सूत्र के संजद शब्द पर विचार'/'दिगम्बरजैन-सिद्धान्त दर्पण'/तृतीय अंश/पृष्ठ ७-८।

५९. 'पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ'/खण्ड ५ 'साहित्य और इतिहास'/पृ.२२।

६०. तीर्थकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम है तथा आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को किसी भी प्रकृति का स्थितिबन्ध अन्तः-कोड़ाकोड़ीसागर से अधिक नहीं होता। (ष.खं./पु.६/१,९-६,३३-३४)।

अधिक अन्तर्मुहूर्त-सहित ८ वर्ष कम, २ कोटि पूर्व वर्ष और २२ सागर की स्थितिवाला होगा, जो कि अपना आबाधाकाल (जो एक वर्ष भी नहीं बनता) बीत जाने पर अवश्य उदय में आना चाहिए था। दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार तथा श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रवचन-सारोद्धार, चतुर्थभाग (शतकनामा पंचम कर्मग्रन्थ) के पृष्ठ ४४६-४४७ के अनुसार एक कोटाकोटिसागर-स्थितिवाले कर्म का आबाधाकाल एक सौ वर्ष है। अर्थात् एक कोटा-कोटि-सागर-स्थितिवाला कर्म एक सौ वर्ष पीछे उदय में आता है। महाबल के जीव ने तो एक सौ सागर की स्थितिवाला भी स्त्रीलिंग नहीं बाँधा था। तदनुसार महाबल को देवपर्याय में स्त्रीलिंग के उदय से देव न होकर अच्युत स्वर्ग तक की कोई देवी होना चाहिए था, जयन्तविमान का देव कैसे हुआ? अतः महाबल के भव का बाँधा हुआ स्त्रीलिंग २२ सागर बाद मल्लिनाथ तीर्थंकर के भव में कर्मसिद्धान्तानुसार उदय में नहीं आ सकता।^{६१}

षट्खण्डागम के निम्नलिखित सूत्रों के अनुसार स्त्रीवेद का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पन्द्रह कोटाकोटि सागरोपम है तथा उत्कृष्टस्थिति का आबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष है—

“सातावेदणीय-इत्थिवेद-मणुसगदि-मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्विणामाणभुवकस्सओ द्विदिबंधो पण्णारस सागरोवमकोडाकोडीओ। पण्णारस वाससदाणि आबाधा।” (ष. खं./पु.६/१,९-६, ७-८)।

पन्द्रह कोटाकोटि-सागरोपम-स्थिति का आबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष है, अतः एक कोटाकोटिसागर का आबाधाकाल सौ वर्ष आता है।

इसी के अनुसार प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग, गाथा १२८२) की सिद्धसेनसूरि-शेखर-कृत वृत्ति में भी एक कोटाकोटि सागर का आबाधाकाल सौ वर्ष संकेतित किया गया है। यथा—

“यस्य कर्मणो यावत्थः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः प्रतिपादिता तस्य कर्मणस्तावन्मात्राणि वर्षशतानि भवत्युत्कृष्टोऽबाधाकालः, यथा मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः ततस्तस्य सप्ततिवर्षशतान्याबाधा। एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। आयुषि पुनरुत्कृष्टोऽबाधाकालो भवत्रिभागः पूर्वकोटिर्त्रिभागलक्षणः, पूर्वकोटिर्त्रिभागमध्ये बध्यमानायुर्दलिक-निषेकं न विदधातीत्यर्थः। वेद्यमानस्य ह्यायुषो द्वयोस्त्रिभागयोरतिक्रान्तयोस्तृतीये भागेऽवशिष्टे परभवायुषो बन्धः। ततः पूर्वकोटिर्त्रिभागो लभ्यते, जघन्या त्वाबाधा सर्वेषामपि कर्मणामन्तर्मुहूर्तप्रमाणेति।”

षट्खण्डागम के आबाधाकाल-सिद्धान्त के अनुसार स्त्रीनामगोत्रकर्म के लिए तीसरे भव में उदय का अवसर ही नहीं मिल सकता। महाबल ने चौरासी लाख वर्षों तक संयम का पालन किया और चौरासी लाख पूर्व का कुल आयुष्य भोगा।^{६२} इसका तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा बाँधा गया स्त्रीनामगोत्रकर्म का आबाधाकाल (लगभग एक वर्ष) उसी भव में समाप्त हो गया था और उसी भव में उदय के योग्य हो गया था। किन्तु एक भव में एक ही वेद का उदय रहता है, इस नियम के अनुसार उसका उसी भव में स्वमुख से उदय में आना संभव नहीं था, वर्तमानभव में पुरुषनामगोत्रकर्म का उदय चल रहा था, अतः एव उसका स्तिबुकसंक्रमण द्वारा पुरुषनामगोत्रकर्म के मुख से उदय में आना अनिवार्य था। इसी तरह पुरुषनामगोत्रकर्म के उदय के साथ वर्तमान भव समाप्त होने पर जब जयन्त नामक विमान में महाबल ने जन्म लिया होगा, तब देवपर्याय में स्तिबुकसंक्रमण द्वारा निर्जरा होते-होते स्त्रीनामगोत्रकर्म के द्रव्य का समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी था। सम्यग्दृष्टि देव होने के कारण महाबल के जीव को देवपर्याय में मनुष्यायु, मनुष्यगति और औदारिकशरीर-नामकर्म के साथ औदारिकशरीराङ्गोपांग-नामकर्म के अन्तर्गत पुरुषनामगोत्रकर्म के बन्ध के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था, जिसके फलस्वरूप वे जयन्तविमान से च्युत होकर भरतक्षेत्र में पुरुषशरीर से ही तीर्थकर बन सकते थे, किसी अन्य शरीर से नहीं। इस प्रकार षट्खण्डागम के गुणस्थानसिद्धान्त के अनुसार मल्लिनाथ का स्त्रीरूप में तीर्थकर होना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। अतः यह ग्रन्थ यापनीयमत के विरुद्ध है।

८. षट्खण्डागम में प्रतिपादित नियम के अनुसार अनुदिश-विमानों से लेकर सर्वार्थ-सिद्धिविमान तक के देवों में जीव सम्यक्त्व के साथ ही प्रवेश करते हैं और सम्यक्त्व के साथ ही निकलते हैं तथा कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीपर्याय में जन्म नहीं लेता। प्रमाण के लिए ये सूत्र द्रष्टव्य हैं—

“अणुद्दिस जाव सव्वद्विसिद्धिविमाणवासियदेवा सव्वे ते णियमा सम्माइड्ढि त्ति पण्णत्ता।” (ष.खं./पु.६/१,९-९,४३)।

“अणुद्दिस जाव सव्वद्विसिद्धिविमाणवासियदेवेसु सम्मत्तेण अधिगदा णियमा सम्मत्तेण चव णीत्ति।” (ष.खं./पु.६/१,९-९,७५)।

“सम्माभिच्छाइड्ढि-असंजदसम्माइड्ढि-संजदासंजद-संजदद्वाणे णियमा पज्जत्ति-याओ।” (ष.खं./पु.१/१,१,९३)।

६२. “चउरासीइं वाससयसहस्साइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता चुलसीइं पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता जयंते विमाणे देवत्ताए उववन्ना।” ज्ञाताधर्मकथांग / अध्ययन ८-मल्ली / पृष्ठ २२०।

इस नियम के अनुसार जयन्तविमान से निकला हुआ महाबल का जीव स्त्री के रूप में उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः षट्खण्डागम का यह नियम मल्लिनाथ के स्त्री होने की श्वेताम्बरीय और यापनीय मान्यता के प्रतिकूल है।

९. ज्ञातृधर्मकथाङ्ग में कहा गया है कि मल्ली-तीर्थकर को अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में प्रवेश करने के पश्चात् ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हो गयी, क्योंकि अपूर्वकरण-गुणस्थान इन दोनों का आवरण करनेवाले कर्म की रज को दूर करता है।^{६३} किन्तु षट्खण्डागम का कथन है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान के अन्त में होती है। अतः षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त इस मान्यता के भी विरुद्ध है।

तथा कोई भी जीव स्त्रीपर्याय से अरहंत पद प्राप्त नहीं कर सकता,^{६४} यह मानते हुए भी मल्ली के स्त्रीपर्याय से तीर्थकर होने की घटना को जो अछेरा कहा गया है, वह भी युक्तिसंगत नहीं है। मल्ली ने तो श्वेताम्बरीय कर्मसिद्धान्त के अनुसार ही तीर्थकरपद प्राप्त किया था। पूर्वभव में मुनि बने, मायापूर्वक तप किया और मायापूर्वक ही बीस कारण-भावनाओं की आराधना की। इसी से उन्हें स्त्रीपर्याय और तीर्थकर पद की प्राप्ति हुई थी। इस कर्मसिद्धान्त के अनुसार तो कोई भी पुरुष किसी भी काल में (वह हुण्डावसर्पिणी हो, चाहे न हो) स्त्रीत्व और तीर्थकरत्व दोनों पर्यायों को एक साथ प्राप्त कर सकता है। अतः इसे अछेरा मानना युक्तिसंगत नहीं है।

४.४. लौकिक क्रियाएँ करते हुए केवलज्ञान-प्राप्ति के विरुद्ध

श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसी कथाएँ हैं, जिनमें कहा गया है कि मरुदेवी से लेकर एक नट तक कई गृहस्थ एवं परतीर्थिक, जिनोपदेश प्राप्त किये बिना, महाव्रत धारण किये बिना, परिग्रह का त्याग किये बिना, तप और शुक्लध्यान में लीन हुए बिना, योगनिरोध किये बिना, लौकिक क्रियाएँ करते हुए केवलज्ञानी हो गये और उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

४.४.१. मरुदेवी—इसी रीति से मरुदेवी के मुक्त होने की कथा आवश्यकचूर्णी तथा कल्पसूत्र की व्याख्याओं में इस प्रकार वर्णित है—

६३ "तए णं मल्ली अरहा --- तयावरण-कम्मरय-विकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते जाव (अणुत्ते निव्वाधाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे) केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने।" ज्ञातृधर्मकथाङ्ग/ युवाचार्य मिश्रीमल महाराज 'मधुकर'/ अध्ययन ८/ पृष्ठ २७८।

६४. अरहंत-चक्कि-केसव-बल-संभिन्ने य चारणे पुव्वा।

गणहर-पुलाय-आहारगं च न हु भवियमहिलाणं॥ १५०६॥ प्रवचनसारोद्धार/पृ.३२५।

आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति होने पर भरत नरेश भगवान् ऋषभदेव के दर्शनार्थ जाने हेतु तैयार होते हैं। वे शीघ्रता से दादी माँ मरुदेवी के पास गये। विनयपूर्वक नमस्कार करके कहा—“दादी माँ! पधारिये! आप सदा उपालम्भ देती रहती थीं कि मेरे पुत्र की सुध नहीं लेते। आज पधारो, आपके पुत्र के ऐश्वर्य को दिखा लाऊँ।” ऐसा कह, दादी माँ को गजारूढ़ कर, स्वयं पीछे छत्रधारी बन वैभवसहित दर्शनार्थ चले। अविच्छिन्न प्रयाण करते हुए समवसरण की ओर चले जा रहे थे। देवदुन्दुभि आदि वाद्ययन्त्रों की ध्वनि कर्णगोचर होते ही दादी माँ ने भरत से प्रश्न किया—“वत्स! यह मधुर वाद्य-ध्वनि कहाँ हो रही है?” भरत बोले—“आपके पुत्र के सम्मुख देवदेवीगण मनोहर वाद्ययन्त्रों से युक्त नाटक कर रहे हैं।” मरुदेवी को दिखता तो था नहीं, उन्हें विश्वास नहीं हुआ। आगे बढ़ने पर देवकृत समवसरण दृष्टिगोचर हुआ, तब भरत ने कहा—“देखिये, आपके पुत्र रजत, स्वर्ण और रत्नों के वप्रयुक्त समवसरण में स्वर्णसिंहासन पर विराजमान हैं।” माता जी ने आँखें मलकर देखने का प्रयत्न किया। हर्षावेग से उनका चक्षुरोग दूर हो गया और तीर्थकर भगवान् तथा समवसरणादि की सारी शोभा देख वे चकित हो गयीं। उनके नेत्रों से हर्षाश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। चिन्तन का प्रवाह आत्माभिमुख हो गया। विचारने लगीं—“अहो! मोह-विकलता! संसार में कौन किसका है? जिस पुत्र का समाचार जानने के लिए व्याकुल रहती थी, भरत को उपालम्भ देती रहती थी, रोते-रोते नयन-ज्योति खो दी थी, वह तो सामने ही नहीं देख रहा है। इसने तो मुझे कभी स्मरण तक नहीं किया। मेरा स्नेह एकाङ्गी ही रहा। वास्तव में जीव अकेला ही जन्म लेता व शरीर त्याग देता है।” इस प्रकार एकत्वभावना करते क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो गयीं, अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। आयु पूर्ण हो जाने व साथ ही अन्य कर्मस्थिति-विपाकादि नष्ट हो जाने से उनकी पवित्र आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गयी। देवों ने मरुदेवी माँ के शरीर का बहुमान कर उसे क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया।” ६५

इसका संस्कृत मूल इस प्रकार है—“ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः एकं वाससहस्रं नित्यं व्युत्सृष्टकायः—त्यक्तदेहः सन् ये केचन उपसर्गा उत्पद्यन्ते यावत् आत्मानं भावयतः एकं वर्ष-सहस्रं व्यतीतम्। ततो हेमन्तस्य चतुर्थे मासे सप्तमे पक्षे एतावता फाल्गुनवदि एकादशीदिने पूर्वाह्नकालसमये पुरिमताल-नाम-नगरस्य बहिः शकटमुखे उद्याने वटवृक्षस्य अधः अष्टमेन भक्तेन अपानकेन उत्तराषाढनक्षत्रे चन्द्रेण सह योगं वर्तमाने ध्यानान्तरे वर्तमानस्य भगवतः केवलज्ञानमुत्पन्नम्। तेन यावत् सर्वं जानन् पश्यन् विहरति। तस्मिन्नेव दिने भरतस्य राज्ञः आयुधशालायां चक्ररत्नोत्पत्तिर्जाता। ततो भरतः केवलज्ञानोत्पत्ति-चक्रोत्पत्तिभ्यां समकालं

वर्धितः। क्षणं भरतेन मोहाद् विचारितं—‘पूर्वं चक्रपूजां करोमि किं वा तातपूजा?’ ततो मोहं परित्यज्य सम्यक् विचारितं—‘श्रीताते पूजिते सति चक्रमपि पूजितमेव। चक्रपूजा इहलौकिकी, तातपूजा तु पारलौकिकी ततोऽधिका।’ ततो भरतः पुत्रनिमित्तं दुःखं कुर्वती मरुदेवीं हस्तिस्कन्धे संस्थाप्य भगवन्तं नन्तुं चलितः। मार्गे देवदुन्दुभिं श्रुत्वा मरुदेवी प्राह—‘भरत! कस्य एतानि वादित्राणि?’ भरतेन प्रोक्तं—‘तव पुत्रस्य।’ ततः पुत्रसमृद्धिं दर्शनार्थं उत्सुकतया उन्मीलिते नेत्रे गतमन्धपटलं, दृष्टं समवसरणसाम्राज्यं देवैः कृतम्। ततः खेदं चकार—‘अहो पुत्रेण ईदृशी ऋद्धिः प्राप्ता, न कदापि मम कुशलक्षेमसमाचारो दत्तः। न कदापि पुत्रेण अहं स्मृता। अहं तु पुत्रदुःखेन अन्धा जाता। अहो मम सरागता, अहो मम पुत्रस्य नीरागता। न मे कोऽपि, नाहं कस्यापि।’ इति अनित्य-भावनया मोहकर्म क्षपयित्वा, मरुदेवी केवलज्ञानं प्राप्य सिद्धा।^{६६}

आवश्यकचूर्ण के निम्नलिखित कथन में यह बतलाया गया है कि जिस समय मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ, उसी समय उनकी आयु क्षीण हो गई और वे सिद्ध हो गईं। इसमें भगवान् ऋषभदेव का नग्न भ्रमण करना भी बतलाया गया है—

“भगवतो य माता भणति भरहस्स रज्जविभूतिं दडूणं—‘मम पुत्तो एवं चेव णग्गओ हिंडति, ताहे भरहो भगवतो विभूतिं वन्नेति। सा ण पत्तियति। ताहे गच्छंतेण भणिता—‘एहि जा ते भगवतो विभूतिं दरिसेमि, जदि एरिसिया मम सहस्सभागेण वि अत्थित्ति।’ ताहे हत्थिखंधेण णीत्ति। भगवतो य छत्तादिछत्तं पेच्छंतीए चेव केवलनाणं उत्पन्नं। तं समयं च णं आयुं खुट्टं सिद्धा। देवेहि य से पूया कता, पढमसिद्धोत्ति काऊणं खीरोदे छूढा।”^{६७}

इस कथा के अनुसार मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव से भी पहले सिद्ध हुई थीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसे गृहलिंग-सिद्धों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—‘गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभतयः।’^{६८} इस कथा में मरुदेवी को महाव्रत धारण किये बिना, तप और ध्यान किये बिना, मनवचनकाय की प्रवृत्ति का त्याग किये बिना, हाथी पर आरूढ़ अवस्था में ही मात्र एकत्वभावना भाते-भाते केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है।

४.४.२. चन्दना-मृगावती—दूसरी कथा चन्दना और मृगावती की है। इसका वर्णन हरिभद्रसूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में तथा समयसुन्दरगणी ने कल्पसूत्र

६६. कल्पसूत्र / समयसुन्दरगणि-विरचित कल्पलताव्याख्या / सप्तमव्याख्यान / पृष्ठ २०६-२०७।

६७. आवश्यकसूत्र (पूर्वभाग) / सूत्रचूर्ण-जिनदासगणि महत्तर / पृ.१८१।

६८. ललितविस्तरा / गाथा २ / पृष्ठ ३९९।

की व्याख्या में किया है। एक बार भगवान् महावीर का समवसरण कौशाम्बी नगरी में आया। उनकी वन्दना के लिए सूर्य और चन्द्रमा अपने विमान-सहित आये। उनके विमान कौशाम्बी में आ जाने पर अन्यत्र अन्धकार हो गया। चन्दना और मृगावती (राजा उदयन की माता) आदि साध्वियाँ भी दर्शन के लिये गयी थीं। चन्दना तो सन्ध्याकाल जानकर उपाश्रय में आ गयी, किन्तु मृगावती भगवान् के दर्शन से मोहित होकर बैठी रही। कुछ समय बाद चन्द्र और सूर्य भी अपने स्थानों पर चले गये। तब सर्वत्र अन्धकार फैल गया। मृगावती ने देखा कि वहाँ चन्दना नहीं थी। तब वह अपने को अकेला पाकर डरती हुई उपाश्रय में पहुँची।

चन्दना ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके बिस्तर पर लेटी हुई थी। उसके चरणों में प्रणाम कर मृगावती बोली—“मेरा अपराध क्षमा करें।” चन्दना बोली—“भद्रे! तुम देर तक बाहर क्यों रहीं? उत्तम कुल में प्रसूत स्त्रियों को अकेले देर तक बाहर नहीं रहना चाहिए।” मृगावती बोली—“मैंने पाप किया है, मेरा पाप मिथ्या हो, अब मैं ऐसा नहीं करूँगी।” ऐसा कहकर चन्दना के चरणों में गिर पड़ी। चन्दना को उस समय नींद आ गयी थी। मृगावती चन्दना के चरणों में पड़ी-पड़ी तीव्र पश्चात्ताप करती रही, मेरा पाप मिथ्या हो, ऐसी भावना भाती रही। इससे चन्दना के पैरों में पड़े-पड़े ही उसे केवलज्ञान हो गया।

उसी समय अन्धकार में एक भयंकर सर्प वहाँ आया। चन्दना का हाथ विस्तर के बाहर आ गया था। सर्प वहीं से निकल रहा था। मृगावती ने शीघ्र ही चन्दना का हाथ उठाकर बिस्तर पर रख दिया। चन्दना जाग गयी। उसने पूछा—“क्या है?” मृगावती बोली—“यह काला साँप आपके हाथ के पास से जा रहा था, आपको काट न ले, ऐसा सोचकर मैंने आपके हाथ को हटा दिया।” चन्दना ने पूछा—“कहाँ है साँप?” मृगावती बोली—“वह जा रहा है।” चन्दना ने कहा “मुझे नहीं दिख रहा है, तुम्हें दिख रहा है? क्या तुम्हें सातिशय ज्ञान हुआ है?” मृगावती बोली—“हाँ।” चन्दना ने पूछा—“क्या केवलज्ञान हुआ है?” मृगावती बोली—“हाँ।” तब चन्दना पश्चात्तापग्रस्त होकर बोली—“मैंने केवलिनी की आसातना की है।” और उसके पैरों पर गिरकर बोली—“मेरा पाप मिथ्या हो” ऐसा कहते हुए उसे भी केवलज्ञान हो गया।^{६९}

६९. क—आवश्यकनिर्युक्ति / भाग १ / हरिभद्रोदयवृत्ति / गाथा १०४८ / पृ. २३२।

ख—कल्पसूत्र / कल्पलताव्याख्या-समयसुन्दरगणि / व्याख्यान ९ / पृ. २७३।

यह दृष्टान्त भावप्रतिक्रमण (क्षमायाचना) और क्षमा का फल बतलाने के लिए दिया गया है। मृगावती ने भावप्रतिक्रमण किया था और चन्दना ने उसे क्षमा किया था। इसी के फलस्वरूप दोनों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।^{७०}

इस कथा में त्रिगुप्तिरूप शुक्लध्यान के बिना ही, मात्र प्रतिक्रमण और क्षमादानरूप शुभोपयोग के द्वारा चार घाती कर्मों का क्षय एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलायी गयी है। तथा मोहनीयकर्म के क्षय के बाद भी मृगावती में चन्दना के प्रति राग का सद्भाव दर्शाया गया है, जिसके फलस्वरूप वह साँप से रक्षा करने के लिए चन्दना का हाथ हटाती है।

४.४.३. **बुहारी लगानेवाली वृद्धा**—एक वृद्धा की कथा भी श्वेताम्बर समाज में प्रसिद्ध है। वह उपाश्रय में बुहारी लगाते हुए (एकत्वादि) भावना भाने से केवलज्ञानी हो गई और मोक्ष प्राप्त कर लिया।^{७१}

४.४.४. **गुरु को कन्धे पर बैठाकर ले जानेवाला शिष्य**—एक कथा ऐसी है कि एक नवविवाहित तदनन्तर नवदीक्षित शिष्य अपने गुरु चण्डरुद्राचार्य को कन्धे पर बिठाकर जा रहा था। ऊँची-नीची भूमि पर उसके पैर पड़ने से गुरु को हिचकोले लगते थे, जिससे क्रोध में आकर वे शिष्य को दण्ड मारते थे। शिष्य ने चलते-चलते आत्मनिन्दा की, जिससे गुरु को कन्धे पर ले जाते हुए ही उसे केवलज्ञान हो गया। (श्री चण्डरुद्राचार्य / जिनशासन की कीर्तिगाथा / कथा क्र.३)।

४.४.५. **ढंढण ऋषि**—द्वारिकानगरी में श्रीकृष्ण वासुदेव की ढंढण रानी से उत्पन्न ढंढणकुमार अतिशय रूपवान् थे। एक बार नेमिनाथ प्रभु की देशना सुनकर ढंढणकुमार को वैराग्य हो गया और गुरुजनों की आज्ञा लेकर उन्होंने चारित्र्य ग्रहण कर लिया। उन्होंने प्रभु के समक्ष प्रतिज्ञा की कि मैं जब भी भिक्षा के लिए जाऊँगा, तब जो गृहस्थ मुझे मेरे प्रभाव से भिक्षा देगा, उसी की भिक्षा ग्रहण करूँगा। यह प्रतिज्ञा करके ढंढण ऋषि भिक्षा के लिए गाँव में गये, परन्तु वहाँ उनको किसी ने थोड़ी-सी भी भिक्षा नहीं दी। लौटकर उन्होंने भगवान् से पूछा—“हे भगवन्! मुझे किस कर्म के उदय से भिक्षा प्राप्त नहीं हुई?”

प्रभु ने उत्तर दिया—“पूर्वभव में मगधदेश में धान्यपुरक गाँव में पाराशर नामक एक कुलपुत्र था। वह राजा के खेत में खेती कराता था। उसके अधिकार में पाँच

७०. “तथा च तथैव क्षमणेन केवलं प्राप्तं सर्पसमीदात् करापसारणव्यतिकरेण, प्रबोधिता प्रवर्तिन्यपि कथं सर्पोऽज्ञायीति पृच्छन्ती तस्याः केवलं ज्ञात्वा मृगावती क्षमयन्ती केवलमाससाद।” कल्पसूत्र/व्याख्यान ९/पृष्ठ १९२/‘दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण’ (द्वितीय अंश)/पृष्ठ २३३ पर उद्धृत।

७१. दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण / द्वितीय अंश / पृ.२३४ से उद्धृत।

सौ हल थे। एक बार दोपहर में हल चलानेवालों के लिए भोजन आया। हलवाहे भोजन करने के लिए हल छोड़ने की तैयारी करने लगे, परन्तु पाराशर ने पुनः सबको हल चलाने की आज्ञा दे दी। इसलिए पाँच सौ हलवाहे और एक हजार बैल उतने समय तक आहार से वंचित रहे, जिसके फलस्वरूप पाराशर को अन्तरायकर्म का बन्ध हुआ। आयुष्य पूर्ण होने पर दूसरे भव में पाराशर का जीव ढंढणकुमार हुआ, जो आप हैं। पूर्वभव में पन्द्रह सौ जीवों के आहार में अन्तराय उत्पन्न करने के कारण आपने जो अन्तरायकर्म बाँधा था, उसका फल भोगना शेष रह गया था, उसी के परिणामस्वरूप आपको भिक्षा प्राप्त नहीं हुई।

अपने पूर्वभव में बाँधे कर्मों की बात सुनकर ढंढण ऋषि उन कर्मों को नष्ट करने के लिए उग्र तप करने लगे। एक दिन वे गाँव में भिक्षा के लिए गये। उस समय श्री कृष्ण जी नेमिनाथ प्रभु की वन्दना करके अपने महल की ओर लौट रहे थे। मार्ग में उन्हें ढंढण ऋषि मिले। श्री कृष्ण जी ने हाथी से उतरकर उनको नमस्कार किया और उनके तप की प्रशंसा की। यह देख एक गृहस्थ ने ढंढण ऋषि से अपने घर भिक्षा हेतु आने का आग्रह किया। ढंढण ऋषि वहाँ गये, तो उनको भिक्षा में लड्डू दिये गये। इससे उन्हें लगा कि अब मेरा अन्तरायकर्म नष्ट हो गया है और मेरे ही प्रभाव से आज मुझे भिक्षा मिली है। वे प्रभु के पास गये और उन्हें बताया कि आज मुझे मेरे ही प्रभाव से भिक्षा प्राप्त हुई है। परन्तु प्रभु ने कहा—“ऐसा नहीं है। आपको श्रीकृष्ण के प्रभाव से भिक्षा मिली है।” तब ढंढण ऋषि ने कहा “यदि ऐसा है तो वह भिक्षा मैं नहीं खा सकता। यदि वे लड्डू मैं खाऊँगा, तो मेरे नियम का भंग होगा। ऐसा सोचकर वे प्रभु की आज्ञा से उन लड्डुओं को निर्दोष स्थान में गाड़ने के लिए चले गये। जब वे राख में गाड़ने के लिए लड्डुओं को मसल रहे थे, तब अपने कर्मों को भी मसलते हुए वे क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो गये और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवली बनकर उन्होंने वर्षों तक संयम का पालन किया और आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध पद प्राप्त किया। (मोटी साधु वन्दना/छोटालाल जी महाराज/प्रकाशक—थानकवासी जैन उपाश्रय, लिमड़ी, सौराष्ट्र/१९९१ ई०)।

४.४.६. नट इलापुत्र—श्रेष्ठिकुमार इलापुत्र को एक नटकन्या से प्रेम हो गया। कन्या के पिता ने शर्त रखी कि यदि वह उसके घर में रहकर नटविद्या सीख ले और राजा के सामने प्रदर्शन कर उससे पुरस्कार प्राप्त करके दिखाये, तो वह अपनी बेटी का विवाह उससे कर देगा। इलापुत्र ने ऐसा ही किया। नटविद्या में पारंगत हो वह एक दिन नटकन्या के साथ जाकर राजा के सामने उसका प्रदर्शन करने लगा। यद्यपि उसकी कला पुरस्कार के योग्य थी, किन्तु राजा भी उस कन्या पर मोहित हो गया। इसलिए उसके मन में विचार आया कि यह नट यदि खड़े बाँस की नोंक

के ऊपर कला दिखाते-दिखाते नीचे गिरकर मर जाय, तो नटकन्या उसकी हो जायेगी। यह सोचकर वह नट को पुरस्कार न देकर बार-बार बाँस पर चढ़कर कला दिखाने के लिए कहने लगा। नट ने भी कई बार बाँस की नोंक पर नाभि के बल लेटकर तेजी से घूमने की कला का प्रदर्शन किया। किन्तु जब वह थक गया और उसे राजा के अभिप्राय पर शंका हुई, तो उसे वैराग्य हो गया और बाँस की नोंक पर आकाश में घूमते-घूमते ही उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

कथा को हिन्दी में प्रस्तुत करनेवाले श्वेताम्बर साधु श्री मधुकर मुनि लिखते हैं—“बाँस के शिखर पर घूमते-घूमते ही इलापुत्र के भावों में समूचा पूर्व जीवन प्रतिबिम्बित हो गया। प्यार ने कितना तड़पाया, कितना दौड़ाया! एक अतृप्त, अनबुझी प्यास ने उसे आज मृत्यु के मुख पर लाकर खड़ा किया है। वाह रे, झूठे प्रेम! भोगाकुल-प्रणय से विरक्त होकर इलापुत्र आत्मा की असीम गहराई में उतर जाता है। मन संवेग की धारा में रम शान्ति, परम तृप्ति अनुभव करता है और समाधि की परम अवस्था प्राप्त होती है। पवित्र और परम उज्ज्वल भावों की श्रेणी चढ़ते-चढ़ते नट इलापुत्र भावश्रमण बन जाता है। शुद्धभावना के बल से कर्मों का क्षय करता है, चार घाती कर्म नष्ट होते हैं और परम दिव्य केवलज्ञानालोक उपलब्ध कर लेता है।--- केवली इलापुत्र वंशशिखर से नीचे उतरे। अब नटकन्या के प्रति उनके मन में कोई राग नहीं था। राजा के प्रति कोई द्वेष भी नहीं था।” (मधुकर मुनि: जैनकथा माला/भाग ४८/ 'इलापुत्र केवली')।

४.४.७. **कूर्मापुत्र**—जैनसाहित्य में विकार नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने 'कूर्मापुत्रचरित्र' का हवाला देते हुए लिखा है—“कूर्मापुत्र नामक मुनि केवलज्ञान प्राप्त होने पर विचार करते हैं कि यदि मैं चारित्र ग्रहण करूँ, तो पुत्रशोक में मेरे माता-पिता की मृत्यु हो जायेगी। --- किसी तीर्थंकर से इन्द्र ने पूछा कि ये कूर्मापुत्र केवली महाव्रती कब होंगे?” (जैनसाहित्य में विकार/पादटिप्पणी/पृ.२३)।

यह कथा श्वेताम्बरमत की इस व्यवस्था पर प्रकाश डालती है कि कोई पुरुष महाव्रत धारण किये बिना भी अर्थात् प्रमत्तसंयत गुणस्थान उपलब्ध किये बिना भी 'मुनि' कहला सकता है और उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त मोक्ष के उपर्युक्त मार्गों को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की गुणस्थान-परम्परा से कर्मों का क्रमशः क्षय करते हुए ही केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सबसे पहले उसे जिनबिम्ब-दर्शन, धर्मश्रवण, और जातिस्मरण इनमें से किसी एक के द्वारा मिथ्यात्व का विनाशकर

असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करना होगा^{७२}। तत्पश्चात् विभिन्न शुभोपयोगों के द्वारा उत्पन्न विशुद्धपरिणामों से अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का क्षयोपशम करते हुए संयतासंयत (श्रावक), संयत (मुनि), अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों पर आरोहण करना होगा। उसके बाद शुद्धोपयोग के द्वारा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो, प्रथम शुक्लध्यान के बल से मोहनीय कर्म का क्षय करना होगा। तब उसके क्षय से उत्पन्न यथाख्यातचारित्र एवं द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि शेष तीन घाती कर्मों का विनाश होगा और केवलज्ञान की उत्पत्ति होगी। तदनन्तर सयोगिकेवली गुणस्थान में रहते हुए अन्तर्मुहूर्त-मात्र आयु शेष रहने पर तृतीय शुक्लध्यान धारण करना होगा। उससे योगनिरोध द्वारा अयोगिकेवली-गुणस्थान प्राप्त होगा। उसमें चतुर्थ शुक्लध्यान करने पर सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी। ऐसा भी होता है कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव एक साथ दर्शनमोह-अनन्तानुबन्धी का उपशम तथा अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम कर सीधे देशसंयत गुणस्थान में पहुँचता है और कोई अनादिमिथ्यादृष्टि जीव एक साथ दर्शनमोह-अनन्तानुबन्धी का उपशम तथा अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम कर सीधे अप्रमत्तगुणस्थान प्राप्त करता है। तदनन्तर अप्रमत्तसंयत से प्रमत्तसंयत में और प्रमत्तसंयत से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में संख्यात हजार बार आता जाता है। अतः प्रमत्तसंयत में भी प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, तत्पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो मोक्ष प्राप्त करता है। (जी.त.प्र./गो.जी./गा.७०४/पृ.९२९-९३२)। मोक्ष के इस मार्ग का कोई विकल्प या अपवाद नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'(१/१), 'आस्त्रवनिरोधः संवरः'(१/१), 'स गुप्तिसमित्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः'(१/२), 'तपसा निर्जरा च'(१/३), 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्ययनमान्तर्मुहूर्तात्'(१/२७), 'आर्त्तौर्द्रधर्म्य-शुक्लानि'(१/२८), 'परे मोक्ष हेतू'(१/२९), इन सूत्रों में निर्दिष्ट विधियों को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है और कहा गया है कि इन उपायों को करने पर क्रमशः निर्जरा होती है, एक साथ नहीं। क्रमशः असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, इन अवस्थाओं में होती है। (त.सू./१/४५)। यतः ये अवस्थाएँ असंयतसम्यग्दृष्टि आदि ग्यारह गुणस्थानों के अन्तर्गत हैं, अतः उपर्युक्त क्रम से उक्त गुणस्थानों में आरोहण कर उत्तरोत्तर अधिक निर्जरा करते हुए ही जीव समस्त कर्मों का क्षय कर पाता है।

७२. "तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबं दट्टण।"

यह ज्ञातव्य है कि मोक्ष के लिए उपशमक-श्रेणी पर आरूढ़ होना आवश्यक नहीं है।

जैसा कि श्री हरिभद्रसूरि ने कहा है, मरुदेवी गृहिलिंग में अर्थात् श्राविका नामक पञ्चमगुणस्थान में थीं। अतः षट्खण्डागम के गुणस्थानसिद्धान्त के अनुसार वे मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय से बँधने वाली ५१ प्रकृतियों तथा आहारकशरीर, आहारकशरीरांगोपांग एवं तीर्थकर, इन तीन प्रकृतियों, सब मिलाकर ५४ प्रकृतियों को छोड़कर शेष ६६ प्रकृतियों की बन्धक थीं, क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन तथा यथासंभव नोकषायों का उदय था। (ष.खं./पु.८/३, १५-३७)। तथा छठवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जितनी गुणश्रेणीनिर्जरा होती है, उतनी गुणश्रेणिनिर्जरा भी उनमें असंभव थी। (ष.खं./पु.१२/४,२,७/प्रथम चूलिका/गाथा ७-८ पृ.७८)। अतः षट्खण्डागम के अनुसार मरुदेवी को न केवलज्ञान हो सकता है, न मोक्ष। अतः यह ग्रन्थ केवल एकत्व या अनित्य भावना की शक्ति से मरुदेवी को केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त होने की मान्यता का विरोधी है।

४.५. सयोगकेवलि-गुणस्थान में मुक्ति के विरुद्ध

इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम के अनुसार केवलज्ञान होने के बाद सयोगकेवली अवस्था में कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष रहने का नियम है।^{७३} इसके बाद आयु का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाने पर आवश्यक हुआ, तो सयोगकेवली भगवान् समुद्घात करके शेष अघाती कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर करते हैं।^{७४} तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान में स्थित होते हैं और योगनिरोध द्वारा अयोगकेवली गुणस्थान में पहुँच कर^{७५} समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान ध्याते हैं और उसके द्वारा आयुकर्मसहित शेष अघाती कर्मों की ८५ प्रकृतियों का क्षयकर सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं।

७३. 'सजोगिकेवली केवचिरं कालादो ह्येति, णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं।' ष. खं./पु.४/१,५, ३० पृ.३५६।

७४. क—“तं कथं? एक्को खीणकसाओ सजोगी होदूण अंतोमुहुत्तमच्छिदूण समुग्घादं करिय पच्छा जोगिणरोहं किच्चा अजोगी जादो।” धवला/ष.खं./पु.४/१,५,३१ पृ.३५६।

ख—“देसूणपुव्वकोडिं विहरिय सजोगिजिणो अंतोमुहुत्तावसेसे आउए दंडकवाडपदरलोगपूर-णाणि करेदि।” धवला/ष.खं./पु.१३/५,४,२६/पृ.८४।

७५. क—“तदियसुक्कज्झाणं जोगिणरोहफलं।” धवला/ष.खं./पु.१३/५,४,२६/पृ.८८।

अर्थात् योगनिरोध करना तीसरे शुक्लध्यान का फल है।

ख—“पच्छा जोगिणरोहं किच्चा अजोगी जादो।” धवला/ष.खं./पु.४/१,५,३१/पृ.३५६।

किन्तु श्वेताम्बरग्रंथों में मरुदेवी को केवलज्ञान प्राप्त होने के समय में ही आयु के क्षीण होने पर सिद्ध गति प्राप्त होना बतलाया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने सयोगकेवली अवस्था में कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित रहने का नियम पूरा नहीं किया। न ही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-ध्यान द्वारा योग निरोधकर अयोगकेवली गुणस्थान प्राप्त किया। तथा अयोगकेवली गुणस्थान में शेष ८५ प्रकृतियों के क्षय के लिए जो समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान आवश्यक होता है, वह भी नहीं किया। और उस ध्यान के बिना ही अघाती कर्मों की ८५ प्रकृतियों का क्षय हो गया। षट्खण्डागम का उपर्युक्त सिद्धान्त इस मान्यता के विरुद्ध है। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाली यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है।

४.६. शुभोपयोग के द्वारा केवलज्ञानप्राप्ति के विरुद्ध

मृगावती और चन्दना का प्रतिक्रमण तथा क्षमादान की शुभक्रियाएँ करते हुए केवलज्ञान प्राप्त करना भी षट्खण्डागम के गुणस्थानसिद्धान्त के विरुद्ध है। गुणस्थानसिद्धान्त के अनुसार जिसने त्रिगुप्तिरूप शुक्लध्यान के द्वारा मोहनीयकर्म का क्षय कर लिया है (जो क्षीणमोहगुणस्थान को प्राप्त हो गया है), उसी के शेष तीन घाती कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्रकट होता है। मृगावती और चन्दना मनवचनकाय की प्रवृत्ति का निरोध कर शुक्लध्यान में लीन नहीं हुई थीं, अतः उनके मोहनीयादि घाती कर्मों का नाश असंभव है, फलस्वरूप केवलज्ञान का प्रकट होना भी असंभव है। इसके विपरीत प्रतिक्रमण तथा एक दूसरे के पैरों पर गिरना एवं परस्पर वार्तालाप करना, यह मन-वचन-काय का व्यापार पुण्यकर्म के बन्ध का ही कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान हो जाने के बाद भी मृगावती में चन्दना को साँप से बचाने की जो इच्छा उत्पन्न हुई, वह शुभराग के अस्तित्व की सूचक है। केवलज्ञान हो जाने के बाद मोहनीय कर्म का अस्तित्व न रहने से राग का अभाव हो जाता है, यह षट्खण्डागम में बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को खीणकसाय-वीयरायछदुमत्था (ष. खं./पु. ८/३,३) कहने से स्पष्ट है। अतः यह बात भी षट्खण्डागम के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

४.७. सावद्ययोग-परिणत जीव को केवलज्ञानप्राप्ति के विरुद्ध

आगे की चार कथाओं (क्र. ४.४.३-४.४.६) के पात्रों को तो स्पष्टतः सावद्य लौकिक क्रियाओं में प्रवृत्त होते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति बतलायी गयी है। लौकिक क्रियाओं में जीवहिंसा होने से ये आरम्भ या सावद्ययोग कहलाती हैं। इन्हें करने से तो पापकर्म का आस्रव और बन्ध होता है। षट्खण्डागम (पु. १२/४,२,८,२-११) में प्राणातिपात आदि अव्रतों को आठों कर्मों के बन्ध का कारण बतलाया है। नट का

बाँस की नोंक पर घूमते रहना प्राणातिपात का कारण होने से अन्नत या सावद्ययोग है। इनके होते हुए घाती कर्मों का क्षय मानना गुणस्थानसिद्धान्त से तनिक भी मेल नहीं खाता। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, षट्खण्डागम में वर्णित गुणस्थान-सिद्धान्त के अनुसार मनवचनकाय की प्रवृत्ति को रोककर जो पृथक्त्ववितर्कवीचार-शुक्लध्यान किया जाता है, उससे मोहनीय कर्म का क्षय होता है और उससे प्रकट हुए यथाख्यातचारित्र की अवस्था में जो एकत्ववितर्कावीचार-ध्यान किया जाता है, उससे शेष घाती कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। तथा आयु के अन्त में किये योगनिरोध से जो अयोगि-केवलिगुणस्थान प्रकट होता है, उसमें सम्पादित 'व्युपरतक्रियानिवर्ति' नामक चतुर्थ शुक्लध्यान से शेष अघाती कर्मों का क्षय होकर सिद्धावस्था प्राप्त होती है। अतः षट्खण्डागम का गुणस्थान सिद्धान्त लड्डुओं को मसलते हुए हुए ढंढण ऋषि को, रस्सी पर चलते हुए नट को, उपाश्रय में बुहारी लगाती हुई वृद्धा को तथा कन्धे पर गुरु को बैठाकर यात्रा करते हुए शिष्य को केवलज्ञान की प्राप्ति माननेवाले श्वेताम्बरीय एवं यापनीय सिद्धान्त के एकदम विपरीत है। षट्खण्डागम का गुणस्थान-सिद्धान्त कूर्मापुत्र-नामक मुनि (कथा क्र.४.४.७) को चारित्रधारण (प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानों की प्राप्ति) के बिना ही केवलज्ञान प्राप्त होने की मान्यता के भी प्रतिकूल है।

इस प्रकार षट्खण्डागम में प्रतिपादित गुणस्थानसिद्धान्त मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थकमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, लौकिक क्रियाओं एवं शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों की प्राप्ति के बिना केवलज्ञान की उपलब्धि तथा स्त्री को तीर्थकरपद प्राप्त होने की मान्यताओं के विरुद्ध है। ये मान्यताएँ श्वेताम्बर तथा यापनीय सम्प्रदायों की मान्यताएँ हैं। अतः इनको अमान्य करनेवाले गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादक होने से सिद्ध है कि षट्खण्डागम यापनीय-आचार्य द्वारा रचित नहीं है। मिथ्यादृष्टि, गृहस्थ, परतीर्थक आदि की मुक्ति के विरुद्ध होने से गुणस्थान-सिद्धान्त दिगम्बरमत का सिद्धान्त है। अतः यह तथ्य अनपलाप्य है कि षट्खण्डागम दिगम्बरग्रन्थ ही है।

५

षट्खण्डागम में तीर्थकरप्रकृतिबन्ध के सोलह कारण

यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगम ज्ञातृधर्मकथाङ्ग (अध्ययन ८) में तीर्थकरप्रकृति-बन्ध के कारणों की संख्या बीस बतलायी गयी है। यथा—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-शेर-बहुस्सुए-तवस्सीसुं।

वल्लभया य तेसिं अभिक्खणाणोवओगे य॥

दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
 खणलव-तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
 अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
 एएहिं कारणेहिं तित्थरयत्तं लहइ जीवो॥

अनुवाद—“१. अरिहन्त, २. सिद्ध, ३. प्रवचन (श्रुतज्ञान), ४. गुरु (धर्मोपदेशक), ५. स्थविर (साठ वर्ष की उम्रवाले जातिस्थविर, समवायांगादि के ज्ञाता श्रुतस्थविर और बीस वर्ष की दीक्षावाले पर्यायस्थविर, ये तीन प्रकार के स्थविर साधु), ६. बहुश्रुत (दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रुत के ज्ञाता) और ७. तपस्वी, इन सातों के प्रति वात्सल्य भाव रखना अर्थात् उनका यथोचित सत्कार, सन्मान, गुणोत्कीर्तन आदि करना, ८. वारंवार ज्ञान का उपयोग करना, ९. दर्शन (सम्यक्त्व) की विशुद्धता, १०. ज्ञानादि की विनय करना, ११. छह आवश्यक करना, १२. मूलगुणों और उत्तरगुणों का निरतिचार पालन करना, १३. क्षणलव (एक लव प्रमाणकाल में भी संवेग, भावना एवं ध्यान करना), १४. तप करना, १५. त्याग करना (मुनियों को उचित दान देना), १६. वैयावृत्य करना, १७. समाधि (गुरु आदि को साता उपजाना), १८. नया-नया ज्ञान ग्रहण करना, १९. श्रुतभक्ति करना और २०. प्रवचन की प्रभावना करना, इन बीस कारणों से जीव तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।”

किन्तु षट्खण्डागम में तीर्थकरप्रकृति के बन्धहेतुओं की संख्या केवल सोलह दी गई है—

“दंसणविसुञ्जदाए, विणयसंपण्णदाए, सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए, आवासएसु अपरिहीणदाए, खणलवपडिबुञ्जणदाए, लब्धिसंवेगसंपण्णदाए, जधाथामे तथा तवे, साहूणं पासुअपरिचागदाए, साहूणं समाहिसंधारणदाए, साहूणं वेजावच्चजोगजुत्तदाए, अरहंतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए, पवयणप्यभावणदाए, अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए, इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थरणागमोदं कम्मं बंधंति।” (ष.खं./पु.८/३,४१)।

अनुवाद—“दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओं को प्रासुक-परित्यागता, साधुओं की समाधिसन्धारणता, साधुओं की वैयावृत्ययोग-युक्तता, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावना और अभीक्षण-अभीक्षणज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थकर-नामगोत्रकर्म को बाँधते हैं।

इनमें श्वेताम्बरमान्य उपर्युक्त बीस कारणों में से १. सिद्धवत्सलता, २. गुरुवत्सलता, ३. स्थविरवत्सलता और ४. तपस्विवत्सलता इन चार कारणों का अभाव है। तथा 'अपूर्वज्ञानग्रहण' (नये-नये ज्ञान का ग्रहण) के स्थान में 'लब्धिसंवेगसम्पन्नता' का कथन है। यह संख्याभिन्नता षट्खण्डागम की यापनीयसाहित्य से भिन्नता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

६

षट्खण्डागम में स्थविर (सवस्त्र) साधु अमान्य

षट्खण्डागम में तीन प्रकार के स्थविर साधुओं के प्रति वत्सलता को भी तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक हेतुओं में स्वीकार नहीं किया गया है। जिनकल्पी (अचेल) साधुओं से भिन्न स्थविरकल्पी (सचेल) साधुओं की मान्यता श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के विशिष्ट लक्षण हैं। स्थविर साधुओं का लक्षण बतलाते हुए डॉ. सागरमल जी लिखते हैं—“नवागन्तुक युवाओं और उन पार्श्वापत्य श्रमणों को, जो वस्त्रत्याग नहीं करना चाहते थे, स्थविरकल्प अर्थात् पार्श्वसंघ की व्यवस्था के अनुसार सामायिकचारित्र प्रदान किया जाता था। ये युवा हों, तो क्षुल्लक और वृद्ध हों, तो स्थविर कहलाते थे। जिनकी साधना को परख लिया जाता था और जो वस्त्रादिसम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर जिनकल्प का आचरण करते थे, उन्हें ही छेदोस्थापनीय-चारित्र प्रदान किया जाता था।” (जै. ध. या. स. / पृ. ५८)। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में तो जिनकल्प को जम्बूस्वामी के बाद से ही विच्छिन्न घोषित कर दिया गया था, अतः उसमें तो आरंभ से ही सभी साधु सवस्त्र होते हैं, किन्तु यापनीयसम्प्रदाय के साधु सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों होते थे। अतः षट्खण्डागम में स्थविरसाधुओं की अस्वीकृति सवस्त्रमुक्ति की अस्वीकृति है, जिसमें स्त्रीमुक्ति की अस्वीकृति भी गर्भित है, क्योंकि स्त्रियों के लिए वस्त्रत्याग संभव नहीं है। यह षट्खण्डागम के यापनीयग्रन्थ न होकर दिगम्बरग्रन्थ होने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

७

षट्खण्डागम में सोलह कल्प (स्वर्ग) मान्य

यापनीयमान्य श्वेताम्बरग्रन्थों में केवल बारह कल्प (स्वर्ग) माने गये हैं, जैसा कि माननीय पं० सुखलाल जी संघवी द्वारा विवेचित तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र (४/२०) से ज्ञात होता है—

“सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च।”

इनमें दिगम्बरमान्य ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार इन चार कल्पों का अभाव है, अतः कल्पों की संख्या केवल बारह है।

किन्तु षट्खण्डागम में सोलह कल्प स्वीकार किये गये हैं। उनके नाम देवगति के अन्तर की पृच्छा करनेवाले निम्नलिखित सूत्रों में द्रष्टव्य हैं—

“भवणवासिय-खाणर्वेतर-जोदिसिय-सोधम्मीसाण-कप्प-वासियदेवा देवगदिभंगो।” (ष.खं./पु.७/२,२,१४)।

अनुवाद—“भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी व सौधर्म-ईशान-कल्पवासी देवों का अन्तर देवगति के ही समान है।”

“सणक्कुमार-माहिंदाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि?” (ष.खं./पु.७/२,२,१५)।

अनुवाद—“सनत्कुमार और माहेन्द्र-कल्पवासी देवों का देवगति में अन्तर कितने काल तक होता है?”

“बम्ह-बम्हुत्तर-लांतव-काविट्ठ-कप्पवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि?” (ष.खं./पु.७/२,२,१८)।

अनुवाद—“ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर व लान्तव और कापिष्ठ-कल्पवासी देवों का देवगति में अन्तर कितने काल तक होता है?”

“सुक्क-महासुक्क-सदार-सहस्सार-कप्पवासिय-देवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि?” (ष.खं./पु.७/२,२,२१)।

अनुवाद—“शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार कल्पवासी देवों का देवगति में अन्तर कितने काल तक होता है?”

“आणद-पाणद-आरण-अच्युद-कप्पवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि?” (ष.खं./पु.७/२,२,२४)।

अनुवाद—“आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पवासी देवों का देवगति में अन्तर कितने काल तक रहता है?”

षट्खण्डागम (पुस्तक ७) के अल्पबहुत्वानुगम (महादण्डक) प्रकरण में क्रमांक १७ से लेकर २९ (पृ.५८०-५८२) तक के सूत्रों में भी सोलह कल्पों की अपेक्षा

महादण्डक का वर्णन है। षट्खण्डागम (पुस्तक ५) के अन्तरानुगम (देव-अन्तर प्ररूपण) में आये ९१वें सूत्र (पृ. ६१) में भी शतार नामक ग्यारहवें कल्प का नाम है, जिससे स्वर्गों की संख्या सोलह है, यह सूचित होता है।

यद्यपि दिगम्बरपरम्परा में इन्द्रों और उनके अधिकृत प्रदेशों की अपेक्षा बारह कल्पों की मान्यता भी इष्ट है, इसी अपेक्षा से इस परम्परा के तिलोयपण्णत्ती और वरांगचरित जैसे प्राचीन ग्रन्थों में बारह कल्पों का भी उल्लेख है,^{७६} तथापि श्वेताम्बर-परम्परा में केवल बारह कल्पों की ही मान्यता है, जिसका अनुसरण यापनीयसम्प्रदाय ने किया है। अतः षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा से भिन्न दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, इसकी पुष्टि करनेवाला यह एक अन्य प्रमाण है। दिगम्बरपरम्परा में कल्पों की संख्या १६ और १२ दोनों मान्य है, यह बात त्रिलोकसार की ४५२, ४५३ और ४५४ क्रमांकवाली तीन गाथाओं से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

षट्खण्डागम में सोलह कल्पों की स्वीकृति का इतना स्पष्ट एवं बहुशः उल्लेख होने पर भी माननीय डॉ० सागरमल जी लिखते हैं कि षट्खण्डागम में बारह स्वर्गों की ही मान्यता है, जो उसे दिगम्बरपरम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा का सिद्ध करती है।^{७७} पता नहीं डॉक्टर सा० से यह भूल कैसे हो गई! और इस भूल के आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम को छठी शती ई० में रचित श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास पर आधारित घोषित कर दिया है, क्योंकि उसमें भी बारहकल्पों की ही मान्यता है।^{७८}

८

षट्खण्डागम में नव अनुदिश मान्य

षट्खण्डागम के यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ न होने का एक प्रमाण यह है कि यापनीय-मान्य श्वेताम्बरग्रन्थों में अनुदिश नामक नौ विमान स्वीकार नहीं किये गये हैं, जब कि षट्खण्डागम में स्वीकृत हैं। उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय नामक ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि आगमग्रन्थों ने नव अनुदिशों का अस्तित्व नहीं माना है।^{७९} श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास में भी अनुदिशों का उल्लेख नहीं है।^{८०} षट्खण्डागम में नौ अनुदिश स्वर्गों का वर्णन निम्नलिखित सूत्रों में मिलता है—

७६. 'अनेकान्त' मासिक / नवम्बर-दिसम्बर १९४३ ई० / पृ. ३४२।

७७. जीवसमास / अनुवादिका-साध्वी विद्युत्प्रभाश्री / भूमिका पृ. XIII।

७८. वही, भूमिका / पृ. XI-XIII।

७९. देखिए, उक्त ग्रन्थ का पृ. ११९।

८०. देखिए, जीवसमास / गाथाएँ २०-२१ तथा भूमिका / पृ. XII।

“अणुदिसादि जाव सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवेसु असंजदसम्पादिट्ठि त्ति को भावो? ओवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो।” (ष.खं./पु.५/१,७,२८)।

अनुवाद—“अनुदिश आदि से लेकर सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त विमानवासी देवों में असंयतसम्यग्दृष्टि रूप कौन-सा भाव है? औपशमिक भी है, क्षायिक भी है और क्षायोपशमिक भी है।”

“अणुदिसादि जाव सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवेसु असंजदसम्पादिट्ठिणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? गाणाजीवं पडुच्च (णत्थि) अंतरं, णिरंतरं।” (ष.खं./पु.५/१,६,९९)।

अनुवाद—“अनुदिश आदि से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के विमानवासी देवों में असंयतसम्यग्दृष्टि देवों का अन्तर कितने काल तक होता है? नानाजीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है।”

९

षट्खण्डागम का भाववेदत्रय यापनीयों को अमान्य

षट्खण्डागम में चारित्रमोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ बतलायी गई हैं, यथा—

“जं तं चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं, कसायवेदणीयं चेव णोकसाय-वेदणीयं चेव।” (ष.खं./पु.६/१, ९-१, २२)।

“जं तं कसायवेदणीयं कम्मं तं सोलसविहं, अणंताणुबंधिकोह-माण-माया-लोहं, अपच्चक्खाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं पच्चक्खाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, कोहसंजलणं, माणसंजलणं, मायासंजलणं, लोहसंजलणं चेदि।” (ष.खं./पु.६/१, ९-१, २३)।

“जं तं णोकसायवेदणीयं कम्मं तं णवविहं, इत्थिवेदं पुरिसवेदं णवुंसयवेदं हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा चेदि।” (ष.खं./पु.६/१, ९-१, २४)।

इनमें स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन भाववेद (कषायरूपवेद) भी हैं। इन्हें भावलिङ्ग भी कहा गया है। यथा—

“के पुनस्ते वेदाः? स्त्रीत्वं पुंस्त्वं नपुंसकत्वमिति। कथं तेषां सिद्धिः? वेद्यत इति वेदः। लिङ्गमित्यर्थः। तद् द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्।” (स. सि./२/५२)।

अनुवाद—“वे तीन वेद कौन हैं? वे हैं : स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इनके लिए ‘वेद’ शब्द का प्रयोग किस आधार पर किया गया है? वेदन किये जाने के कारण इन्हें वेद कहा गया है। अर्थात् वेद लिंग का वाचक है। वह दो प्रकार का है : द्रव्यलिंग और भावलिंग। नामकर्म के उदय से निष्पन्न योनि (स्त्रीजननांग), मेहन (पुरुषजननांग) आदि द्रव्यलिंग हैं। नोकषाय के उदय से प्रकट होने वाले (कामभाव) भावलिंग हैं।”

वेदों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं—जिसके उदय से जीव स्त्रैण (स्त्री के) भावों को प्राप्त होता है, वह स्त्रीवेद कहलाता है, जिसके उदय से पुरुषत्व के भाव उत्पन्न होते हैं, उसका नाम पुरुषवेद है तथा जिसके उदय से नपुंसक की मनोवृत्ति आती है, उसे नपुंसकवेद कहते हैं—

“यदुदयात् स्त्रैणान्भावान् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। यस्योदयात् पौंसान् भावाना-
स्कन्दति स पुंवेदः। यदुदयान्नापुंसकान् भावानुपन्नजति स नपुंसकवेदः।” (स. सि. /
८/९)।

भट्ट अकलंकदेव ने कोमलता, अस्फुटता, क्लीबता, कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन और पुरुष की इच्छा आदि को स्त्रैणभाव कहा है—

“यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्व-क्लैव्य-मदनावेश-नेत्रविभ्रमा-
स्फालन-सुखपुंस्कामनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः।” (त.रा.वा./८/९/४/पृ.५७४)।

उन्होंने इन तीनों भाववेदों के लिए भावलिंग शब्द का प्रयोग करते हुए इन्हें आत्मपरिणाम कहा है और पुरुष की इच्छा (पुरुष के साथ रमण की इच्छा) को स्त्रीवेद, स्त्री की इच्छा को पुरुषवेद तथा दोनों की इच्छा (दोनों के साथ रमण की इच्छा) को नपुंसकवेद बतलाया है—“भावल्लिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुनपुंसकान्योन्या-
भिलाषलक्षणः।” (त.रा.वा./२/६/३ पृ. १०९)।

श्वेताम्बरसाहित्य में भी पच्चीस कषायों में उक्त तीनों भाववेद स्वीकार किये गये हैं। पं० सुखलाल जी संघवी द्वारा विवेचित तत्त्वार्थसूत्र का निम्नलिखित सूत्र इसका प्रमाण है—

“दर्शनचारित्रमोहनीय-कषाय-नोकषाय-वेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-षोडश-नवभेदाः
सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि कषायनोकषायानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानवरण-
सञ्ज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुन-
पुंसकवेदाः।” (त.सू./८/१०)।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ मानती हैं कि प्रत्येक जीव में पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन तीन प्रकार के भाववेदों (कामभावों) को उत्पन्न करनेवाले अलग-अलग कर्मों की सत्ता होती है। किन्तु यापनीयमत इसे स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि स्त्री में भावस्त्रीवेद को ही उत्पन्न करनेवाला कर्म होता है, पुरुष में भावपुरुष को ही उत्पन्न करनेवाला तथा नपुंसक में भावनपुंसकवेद को ही उत्पन्न करनेवाला।

यहाँ प्रश्न उठता है कि तब लोक में ऐसे पुरुष क्यों दिखाई देते हैं, जो दूसरे पुरुषों के साथ स्त्रीवत् कामव्यवहार करते हैं अथवा कोई स्त्री अन्य स्त्री के साथ पुरुषवत् कामव्यवहार करती है? इसके उत्तर में यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन कहते हैं कि “यह मनुष्य के अपने ही भाववेद का विकृत परिणाम है। जैसे कोई कामोद्दीप्त पुरुष, कामोद्दीप्त स्त्री की प्राप्ति न होने पर पशु के साथ मैथुन करता है, तो यह उसके पुरुषवेद की ही विकृत अभिव्यक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह तिर्यग्वेद के उदय से ऐसा करता है। इसी प्रकार जो पुरुष, पुरुष के साथ स्त्रीवत् व्यवहार करता है वह अपने पुरुषवेद के ही विकृत परिणाम से ऐसा करता है और जो स्त्री, स्त्री के साथ कामाचरण करती है उसके पीछे भी उसके स्त्रीवेद की ही विकृत अभिव्यक्ति कारण है।”^{८१} इस तरह शाकटायन यह नहीं मानते कि प्रत्येक मनुष्य में तीनों वेदों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों की सत्ता होती है। इस पर श्री पद्मनाभ एस० जैनी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि यह शाकटायन की व्यक्तिगत मान्यता है, क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के शास्त्रों में प्रत्येक जीव में ये तीनों भाववेद स्वीकार किये गये हैं—

“Although the yāpanīya author Śākatāyana rejects the very idea of distinguishing libido along the lines of biological gender, arguing that sex desire, like anger or pride, is the same in man, woman, or hermaphrodite, this seems to be his personal view, for the scriptures of both the Śvetāmbara and the Digambara sects accept the theory of three libidos.” (Gender & Salvation, Introduction, p.12)

यापनीयमत की यह मान्यता षट्खण्डागम की मान्यता के विरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है।

८१. या पुंसि च प्रवृत्तिः, पुंसि स्त्रीवत्, स्त्रियाः स्त्रियां च स्यात्।

सा स्वकवेदात् तिर्यग्वदलाभे मत्तकामिन्याः ॥ ४४ ॥ स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।

षट्खण्डागम में यापनीय-अमान्य वेदवैषम्य की स्वीकृति

वेदवैषम्य जैनदर्शन का विचित्र प्रतीत होनेवाला, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध विशिष्ट सिद्धान्त है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के आगमों में स्वीकृत है। पूज्यपाद स्वामी के 'के पुनस्ते वेदाः ---' इत्यादि सर्वार्थसिद्धिगत वचन पूर्व (शीर्षक ९) में उद्धृत किये गये हैं, जिनमें उन्होंने कहा है कि वेद या लिंग दो प्रकार का है : द्रव्यलिंग और भावलिंग। नामकर्म के उदय से जो योनि, मेहन (शिशु) आदि की रचना होती है, उसे द्रव्यलिंग कहते हैं और नोकषाय के उदय से उत्पन्न स्त्रैण आदि भाव भावलिंग कहलाते हैं।

तात्पर्य यह कि स्त्री शरीर के सूचक योनि-स्तन आदि चिह्न, पुरुषशरीर के सूचक शिशु-दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण और नपुंसकशरीर का सूचक योनि-शिशु आदि चिन्हों का अभाव द्रव्यलिंग नाम से जाने जाते हैं। तथा पुरुष के प्रति कामभाव, स्त्री के प्रति कामभाव और दोनों के प्रति कामभाव का नाम भाववेद या भावलिंग है।

देवों, नारकियों, भोगभूमिजों तथा कर्मभूमि के सभी सम्मूर्च्छनज संज्ञी-असंज्ञी तिर्यचों और सम्मूर्च्छनज मनुष्यों में द्रव्यवेद और भाववेद समान ही होते हैं। अर्थात् जो द्रव्य या शरीर से स्त्री, पुरुष या नपुंसक है, वह भाव से भी स्त्री, पुरुष या नपुंसक ही होता है^{८२} किन्तु कर्मभूमि के गर्भज संज्ञी-असंज्ञी तिर्यचों^{८३} और मनुष्यों में व्यवस्था कुछ भिन्न है। उनमें भी प्रायः दोनों वेद समान होते हैं, मात्र कुछ जीवों में विषम हो जाते हैं। जैसे किसी मनुष्य में स्त्रीवेद-नामक नोकषायवेदनीय कर्म के उदय से भाववेद तो स्त्री का उदित होता है, किन्तु पुरुषांगोपांगनामकर्म के उदय से उसके शरीर की रचना पुरुषाकार हो जाती है। इसके फलस्वरूप शरीर से पुरुष होते हुए भी उसकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति पुरुषसदृश न होकर स्त्रीसदृश होती है, उसमें पुरुष के ही साथ रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार किसी मनुष्य में पुंवेद नामक नोकषायवेदनीय कर्म के उदय से भाववेद तो पुरुष का ही प्रकट होता है, किन्तु स्त्री-अंगोपांगनामकर्म के उदय से उसके शरीर की आकृति स्त्रीरूप

८२. सम्मूर्च्छन जन्मवाले सभी जीव केवल नपुंसक होते हैं (त.सू./२/५, मूलाचार/गा. ११३०- 'एइंदिय-वियलिनंदिय णारय---')। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तो सम्मूर्च्छनज ही होते हैं। सम्मूर्च्छिम तिर्यच संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक भी होते हैं, किन्तु सम्मूर्च्छिम मनुष्य लब्धपर्याप्तक ही होते हैं। (धवला/ष.खं/पु.४/१,५,१८/पृ.३५०)। सभी सम्मूर्च्छिम जीवों में भाववेद और द्रव्यवेद दोनों होते हैं।

८३. षट्खण्डागम/पु.१/१,१,१०७ पृ.३४८।

हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप शरीर से स्त्री होते हुए भी उसके मनोभाव और हावभाव स्त्रीसदृश न होकर पुरुषसदृश होते हैं, वह स्त्री के ही साथ रमण करने की इच्छुक होती है। तथा कोई मनुष्य पुंवेद या स्त्रीवेद नामक नोकषाय का उदय होने पर भाव से पुरुषवेदी या स्त्रीवेदी होता है, किन्तु नपुंसकांगोपांग-नामकर्म के उदय से नपुंसकशरीरवाला हो जाता है। तब भाव से स्त्रीवेदी होने पर उसमें पुरुष के प्रति कामभाव उत्पन्न होता है और भाव-पुरुषवेदी होने पर स्त्री के प्रति। इस तरह द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री या नपुंसक, द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष या नपुंसक तथा द्रव्य से नपुंसक और भाव से स्त्री या पुरुष इस गणनानुसार वेदवैषम्य के छह भेद होते हैं।^{८४} भाववेद कषाय होते हुए भी कषाय के समान अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित नहीं होता, अपितु जन्म से लेकर मृत्यु तक स्थायी रहता है।^{८५}

वेदवैषम्य के उदाहरण हमें कभी-कभी लोकजीवन में दिखाई दे जाते हैं। कोई पुरुष हमें ऐसा मिल जाता है जिसका स्वर, जिसके हाव-भाव स्त्रियों के समान होते हैं, उसे स्त्री जैसा रहना या वेशधारण करना अच्छा लगता है, स्त्रियों के ही बीच में उठने-बैठने में उसे आनन्द आता है और पुरुषों को आकृष्ट कर उन्हें अपने साथ अप्राकृतिक कामसम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति देता है। इसे यौनमनोविज्ञान में homosexuality अर्थात् समलैंगिक मैथुन कहा गया है। ब्रिटेन, अमेरिका जैसे देशों में तो समलैंगिक विवाह भी होने लगे हैं और अब तो उन्हें कानूनी मान्यता भी मिल गयी है। अतः वेदवैषम्य एक दैहिक और मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रसिद्ध अमेरिकन मनश्चिकित्सक डॉ. राबर्ट जे. स्टॉलर एम० डी० ने उस पर 'SEX AND GENDER' नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसमें वेदवैषम्य की यथार्थता पर प्रकाश डाला है। दीपा मेहता नाम की एक फिल्मनिर्मात्री ने इसी यथार्थ को प्रकाशित करने के लिए 'फायर' (FIRE) नाम की फिल्म का भी निर्माण किया था। तत्त्वार्थसूत्र में ब्रह्मचर्यव्रत के निरतिचारपालन के लिए अनङ्गक्रीडा का निषेध किया गया है, जिसमें समलैंगिक मैथुन का भी निषेध गर्भित है।

वेदवैषम्य का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दकृत सिद्धभक्ति की निम्नलिखित गाथा में मिलता है—

पुंवेदं वेदता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते हु सिञ्जांति॥ ६॥

८४. जीवतत्त्वप्रदीपिका / गोम्मटसार-जीवकाण्ड / गा.२७१।

८५. "पर्यायत्वात् कषायवन्तान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।"
धवला/ ष.खं. / पु.१ / १, १, १०७ / पृ.३४८।

अनुवाद—“जिस प्रकार भावपुरुषवेद का उदय रहते हुए पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं, उसी प्रकार शेष वेदों (भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद) का उदय होने पर भी ध्यान में उपयुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं।”

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि के निम्नलिखित वाक्यों में वेदवैषम्य का निरूपण किया है—

“लिङ्गेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो, न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुंल्लिङ्गेनैव।” (१०/९/पृ.३७४)।

अनुवाद—“सिद्धि (मुक्ति) किस लिंग से होती है? वेद के अभाव से होती है अथवा भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों (स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद) से होती है, द्रव्यवेद की अपेक्षा तीनों वेदों से नहीं होती, केवल पुल्लिंग से होती है।”

भट्ट अकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक में वेदवैषम्य पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

“यस्योदयात् स्त्रीणान् भावान् मार्दवास्फुटत्व-क्लैव्यमदनावेश-नेत्रविभ्रमा-स्फालन-सुखपुंसकामनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। तस्योद्भूतवृत्तित्वमितरयोः पुन-पुंसकयोः सत्कर्म-द्रव्यावस्थानान्यग्भावः। ननु लोके प्रतीतं योनिपृथुस्तनादि स्त्रीवेद-लिङ्गम्। न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः। कदाचिद्या-धितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तर-विशेषात्। शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः।” (८/९/४/पृ.५७४)।

अनुवाद—“जिसके उदय से जीव में कोमलता, अस्फुटता, क्लीबता, कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन और पुरुषेच्छा आदि स्त्रीभावों की उत्पत्ति होती है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। जब स्त्रीवेद उदय में रहता है, तब पुरुषवेद और नपुंसकवेद सत्ता में रहते हैं।

प्रश्न—“स्त्रीवेद के उदय से तो योनि, पृथुस्तन आदि लोकप्रसिद्ध लिंग (स्त्रीशरीरसूचक अंगों) की उत्पत्ति होती है? उत्तर—नहीं, उसकी उत्पत्ति तो नामकर्म (स्वंगोपांगनामकर्म) के उदय से होती है। इसलिए पुरुष में भी स्त्रीवेद का उदय हो सकता है। कदाचित् आभ्यन्तर कारण की विशेषता से स्त्री में भी पुरुषवेद का आविर्भाव संभव है (क्योंकि इसका सम्बन्ध चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से है)। शरीर का आकार तो नामकर्म के उदय से निष्पन्न होता है।”

कहीं-कहीं वेदों के विषम हो जाने की वास्तविकता का उद्घाटन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार-जीवकाण्ड की अधोवर्णित गाथा में किया है—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसित्थिसंढवो भावे।

णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ २७१॥

अनुवाद—“पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नामक चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृतियों के उदय से पुरुषभाववेद, स्त्रीभाववेद और नपुंसकभाववेद का उदय होता है। तथा नामकर्म के उदय से पुरुषद्रव्यवेद, स्त्रीद्रव्यवेद और नपुंसकद्रव्यवेद की रचना होती है। ये दोनों वेद प्रायः समान होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं विषम भी हो जाते हैं।”

इस प्रकार सभी दिगम्बराचार्यों ने वेदवैषम्य की आगमोक्तता का प्रतिपादन किया है।

१०.१. पुरुषादिशरीररचना का हेतु पुरुषादि-अंगोपांग-नामकर्म

ऊपर पूज्यपाद स्वामी एवं नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के वचन उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि भाववेद की उत्पत्ति चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है और योनि-मेहनादि द्रव्यवेद की रचना का निमित्त अंगोपांग-नामकर्म का उदय है। इससे सूचित होता है कि अंगोपांगनामकर्म में पुरुषांगोपांगनामकर्म, स्त्री-अंगोपांगनामकर्म तथा नपुंसकांगोपांगनामकर्म अन्तर्भूत हैं। यद्यपि शास्त्रों में इनका उल्लेख अलग से नहीं मिलता, तथापि ‘कार्यभेदात् कारणभेदः’ और ‘जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भंते कम्माणि वि तत्तियाणि’ (लोक में जितने कर्मफल दिखाई देते हैं, उतने ही कर्म हैं—धवला/ष.खं./पु.३/१,२,८७/पृ.३३०)। इन नियमों के अनुसार उनका अस्तित्व सिद्ध होता है।

इन नियमों से वीरसेन स्वामी ने पृथिवीकायिक-नामकर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। पृथिवीकायिकजीव की परिभाषा बतलाते हुए वे (धवला/ष.खं./पु.३/१,२, ८७/पृ.३३० पर) कहते हैं—

“यहाँ पर पृथिवी है काय अर्थात् शरीर जिनके, उन्हें पृथिवीकायजीव कहते हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पृथिवीकाय का ऐसा अर्थ करने पर विग्रहगति में विद्यमान जीवों के अकायित्व का अर्थात् पृथिवीकायित्व के अभाव का प्रसंग आता है।

“शंका—तो फिर पृथिवीकायिक का अर्थ क्या करना चाहिए?

“समाधान—पृथिवीकायिकनामकर्म के उदय से युक्त जीवों को पृथिवीकायिक कहते हैं, इस प्रकार पृथिवीकायिक शब्द का अर्थ करना चाहिए।

“शंका—पृथिवीकायिकनामकर्म किसी भी सूत्र में नहीं कहा गया है?

“समाधान—पृथिवीकायिक नाम का कर्म एकेन्द्रियजाति-नामक नामकर्म में अन्तर्भूत है।

“शंका—यदि ऐसा है तो सूत्रसिद्ध कर्मों की संख्या का नियम नहीं रह सकता।

“समाधान—सूत्र में ऐसा नहीं कहा गया है कि कर्म आठ ही हैं अथवा एक सौ अड़तालीस ही हैं, क्योंकि सूत्र में आठ या एक सौ अड़तालीस संख्या के अतिरिक्त अन्य संख्या का प्रतिषेध करने वाला ‘एव’ शब्द नहीं है।

“शंका—तो फिर कर्म कितने हैं?

“समाधान—लोक में घोड़ा, हाथी, वृक (भेड़िया), भ्रमर, शलभ, मत्कुण, उद्देहिका (दीमक), गोमी और इन्द्रगोप आदि रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं, कर्म भी उतने ही होते हैं।”^{८६}

इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि शरीर के योनि-लिंगादि-विहित स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप भेद भी कर्मों के फल हैं, अतः इन परस्पर भिन्न कर्मफलों के निमित्तभूत नामकर्मों का भी परस्पर भिन्न होना आवश्यक है। योनि-लिंगादिरूप कर्मफल अंगोपांगों के भेद हैं, अतः इनके निमित्तभूत नामकर्म भी अंगोपांगनामकर्म के ही भेद हैं। यतः वे स्त्री-पुरुष-नपुंसक-शरीर के अंगोपांगों की रचना के निमित्त होते हैं, अतः वे स्वयंगोपांगनामकर्म, पुरुषांगोपांगनामकर्म एवं नपुंसकांगोपांगनामकर्म शब्दों से ही अभिधेय हैं।

श्वेताम्बर आगमों में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। उनमें स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, ये नोकषायरूप तीन भाववेद तो माने ही गये हैं, इनके अतिरिक्त स्त्री-नामगोत्रकर्म, पुरुष-नामगोत्रकर्म तथा नपुंसक-नामगोत्रकर्म भी माने गये हैं, जो अंगोपांगनामकर्म के ही भेद हैं। ज्ञातृधर्मकथाङ्ग में मल्लीकथा के प्रसंग में कहा गया है कि उनके उपांत्य पूर्वभव के जीव महाबल ने मायाचार के कारण ‘इत्थिणामगोयकम्म’ (स्त्रीनामगोत्रकर्म) का बन्ध किया था—“तए णं से महब्बले अणगारे इमेण कारणेणं इत्थिणामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु।”^{८७}

८६. “पुणो केत्तियाणि कम्माणि होति? हय-गय-विय-फुल्लंधुव-सलहमक्कुणुद्देहि-गोम्हिंद-गोवादीणि जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भंते कम्माणि वि तत्तियाणि चेव।” धवला/ष.खं/पु.३/१, २, ८७/पृ. ३३०।

८७. ज्ञाताधर्मकथांग/अध्ययन ८/मल्ली/पृ.२१७।

आवश्यकचूर्णि में भी कहा गया है कि बाहु और सुबाहु दोनों ने स्त्री-नामगोत्रकर्म निबद्ध किया था—“एवं तेण तित्थगरत्तं निबद्धं, बाहुणा वेयावच्चेण भोगा निव्वत्तिया, सुबाहुणा बाहुबलं, तेहिं दोहिवि इत्थीनामगोत्तं कम्मं निबद्धं।”^{८८}

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में तीन भाववेद और तीन द्रव्यवेद स्वीकार किये गये हैं और इनकी उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म भी अलग-अलग माने गये हैं। भाववेद की उत्पत्ति का हेतु चारित्रमोहनीय कर्म माना गया है तथा द्रव्यवेद की उत्पत्ति का निमित्त अंगोपांगनामकर्म। फलस्वरूप जिस जीव में पुरुषांगोपांगनामकर्म के उदय से द्रव्य-पुरुषवेद की उत्पत्ति और चारित्रमोहनीय (नोकषायवेदनीय) के उदय से भावस्त्रीवेद या भावनपुंसकवेद का उदय होता है, उसमें वेदवैषम्य घटित हो जाता है। इसी प्रकार अन्य विपरीत वेदों का उदय भी वेदवैषम्य का कारण है।

१०.२. श्वेताम्बरग्रन्थों में भी वेदवैषम्य मान्य

विशेषावश्यकभाष्य में श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने आठ प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया है—

१. द्रव्यपुरुष — आगमद्रव्यपुरुष, नोआगम-द्रव्यपुरुष।
२. अभिलापपुरुष — पुल्लिंगशब्द, जैसे पुरुषः, घटः, पटः आदि।
३. चिह्नपुरुष — दाढ़ी-मूँछ आदि पुरुष चिह्नों से युक्त नपुंसक मनुष्य।
४. वेदपुरुष — पुरुषवेद के उदय से युक्त स्त्री या नपुंसक।
५. धर्मपुरुष — धर्मार्जन-व्यापार में रत साधु।
६. अर्थपुरुष — अर्थार्जन-व्यापार में संलग्न पुरुष।
७. भोगपुरुष — समस्त भोगोपभोग-सुख का अनुभव करनेवाला पुरुष।
८. भावपुरुष — तीर्थंकर आदि शुद्ध जीव।^{८९}

८८. आवश्यकचूर्णि / आवश्यकसूत्र / गाथा २ / ११० / पृ. १३५।

८९. क — दव्वाऽभिलाव-चिंधे वेए धम्मत्थभोगभावे य।

भावपुरिसो उ जीवो भावे पगयं तु भावेणं ॥ २०९० ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

ख — “अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापः शब्दः, ततोऽभिलापपुरुषः पुल्लिङ्गाभिधानमात्रपुरुष इति, घटः पट इत्यादिर्वा। चिह्नपुरुषस्त्वपुरुषोऽपि पुरुषचिह्नोपलक्षितो यथा ‘नपुंसकं श्मश्रु-चिह्नम्’ इत्यादि। स्त्र्यादिरपि पुरुषवेदकर्मविपाकानुभवाद् वेदपुरुषः। धर्मार्जनव्यापाररतः साधुधर्म-पुरुषः पारमार्थिकः। अर्थार्जनपरस्त्वर्थपुरुषः। समस्तभोगोपभोगसुखभाग् भोगपुरुषः।

इन आठ प्रकार के पुरुषों में वेदपुरुष उसे कहा गया है जो द्रव्य (शरीर) से स्त्री या नपुंसक होते हुए भी भावपुरुषवेद के उदय से पुरुषत्व (स्त्री से रमण की इच्छा) का अनुभव करता है—“स्त्र्यादिरपि पुरुषवेदकर्मविपाकानुभवाद् वेदपुरुषः।”^{१०}

भाष्यकार ने भी कहा है—“वेद्यपुरिसो तिलिंगो वि पुरिसवेयाणुभूङ्कालम्मि।” (विशे.भा./गा.२०९३) अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक, ये तीन लिंगवाले मनुष्य भी जब पुरुषवेद का अनुभव करते हैं, तब वेदपुरुष कहलाते हैं।

इसकी वृत्ति में हेमचन्द्रसूरि पुनः स्पष्ट करते हैं कि स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन लिंगों में से किसी भी लिंगवाला प्राणी जिस समय तृणज्वाला के समान पुरुषवेद का वेदन करता है, उस समय पुरुष तो वेदपुरुष कहलाता ही है, स्त्री और नपुंसक भी वेद-पुरुष कहलाते हैं—“स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गत्रयवृत्तिरपि प्राणी यदा तृणज्वालोपमविपाकं पुरुषवेदमनुभवति तदा पुरुषवेदानुभावमाश्रित्य पुरुषो वेदपुरुषः स्त्र्यादिरप्युच्यते।” (हेम.वृत्ति./विशे.भा./गा.२०९३)।

इस प्रकार आवश्यकसूत्र के भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण और वृत्तिकार हेमचन्द्रसूरि दोनों ने वेदवैषम्य की सत्यता को स्वीकार किया है। अन्तर सिर्फ यह है कि ये आचार्य एक ही प्रकार के वेदवैषम्य को जन्म से मृत्यु तक स्थायी न मानकर परिवर्तनशील मानते हैं अर्थात् एक ही भव में कोई स्त्री किसी समय स्त्रीवेद का अनुभव करती है, तो किसी समय पुरुषवेद का अनुभव करने लगती है, पुनः पुरुषवेद का अनुभव समाप्त हो जाता है और स्त्रीवेद का वेदन शुरू हो जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ केवल स्त्री और नपुंसक में पुरुषवेद के अनुभव का वर्णन है, पुरुष में स्त्री या नपुंसकवेद की अथवा नपुंसक में स्त्रीवेद की अनुभूति की चर्चा नहीं है। इसकी चर्चा निशीथसूत्र की निम्न लिखित भाष्यगाथा में है—

पुरिसेसु भीरु महिलासु संकरो पमयकम्मकरणो य।

तिविहम्मि वि वेयम्मी तिगभंगो होइ णायव्वो॥ ३५७०॥

निशीथसूत्र-भाष्य।

--- भावपुरुषस्तु जीवः--- पारमार्थिकः पुरुषो द्रव्याभिलाष-पुरुषादिसर्वोपाधिरहितो निर्विशेषणः शुद्धो जीव एवोच्यते। तत्रेह प्रकृतं प्रस्तुतं भावेन भावपुरुषेण शुद्धेन जीवेन तीर्थकरेणेत्यर्थः। --- द्रव्यपुरुषस्तु द्वेषा-आगमतः, नोआगमतश्च ---।” हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/ विशेषावश्यकभाष्य/ गाथा २०९०-२०९१।

१०. देखिए, पादटिप्पणी ८९-ख।

इस गाथा में पहले पण्डक अर्थात् द्रव्यनपुंसक के लक्षण बतलाये गये हैं कि वह पुरुषों के बीच में सशक्त रहता है, किन्तु महिलाओं के बीच में निःशक्त होकर बैठता है तथा उसे प्रमदाओं के कार्य जैसे झाड़ना-पौछना, चक्की चलाना, भोजन बनाना, पानी भरना आदि अच्छे लगते हैं। इसके बाद कहा गया है कि तीनों द्रव्यवेदधारी मनुष्यों में यह नपुंसकवेद होता है।^{११} तीनों वेदों में प्रत्येक वेद के तीन भंग करना चाहिए। जैसे—

“पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं वेदयति, पुरुषो नपुंसकवेदं वेदयति। एवं स्त्री-नपुंसकयोरपि वेदत्रयोदयो मन्तव्यः।”^{१२}

अनुवाद—“पुरुष पुरुषवेद का वेदन करता है, पुरुष स्त्रीवेद का वेदन करता है और पुरुष नपुंसकवेद का वेदन करता है। इसी प्रकार स्त्री और नपुंसक में भी तीनों वेदों का उदय मानना चाहिए।”

आगे (शीर्षक १०.८) निशीथसूत्र की दो भाष्यगाथाएँ (३५०६-३५०७) उद्धृत की जायेंगी, जिनमें उन अठारह प्रकार के पुरुषों का वर्णन है, जो दीक्षा के अयोग्य होते हैं। उनमें एक पुरुषनपुंसक नाम का पुरुष है, जो शरीर से पुरुष, किन्तु भाव से नपुंसक होता है—“स्त्रीपुंसोभयाभिलाषी पुरुषाकृतिः पुरुष नपुंसकः।”^{१३}

ये श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध वेदवैषम्य के उदाहरण हैं। श्यामाचार्यकृत पणवणासुत्त में एक जगह मणुस्सी को उत्कृष्ट आयु का बन्धक कहा गया है, जो सातवें नरक के नारकियों और सर्वार्थसिद्धि के देवों की होती है।^{१४} दूसरी जगह सातवें नरक में स्त्री की उत्पत्ति का निषेध किया गया है।^{१५} इससे स्पष्ट होता है कि सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु का बन्ध करनेवाली मणुस्सी से अभिप्राय भावमानुषी से है। इस प्रकार यहाँ भी वेदवैषम्य स्वीकार किया गया है।

११. “सो पुण णपुंसवेदो तिविहे वेदे भवति।--- पुरिसो पुरिसवेदं वेदेति, पुरिसो इत्थीवेदं वेदेति, पुरिसो णवुसंगवेदं वेदेति। एवं इत्थी-णवुसंगा वि भणियव्वा।” जिनदासमहत्तरकृत चूर्णि / निशीथसूत्रभाष्य / गा.३५७०।

१२. क्षेमकीर्ति-वृत्ति / बृहत्कल्पसूत्र / Vol.V / चतुर्थ उद्देश / भाष्यगाथा ५१४७।

१३. सिद्धसेनसूरि-शेखरकृतवृत्ति / प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) / गा. ७९१।

१४. “उक्कोसकालठितीयं णं भंते! आउअं कम्मं किं णेरइयो बंधइ, जाव देवी बंधइ? गोयमा णो णेरइयो बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधति, णो तिरिक्खजोणिणी बंधति। मणुस्सो वि बंधति, मणुस्सी वि बंधति, णो देवो बंधति, णो देवी बंधइ।” पणवणासुत्त / उद्देश २० / सूत्र १७४९ / पृ. ३८४।

१५. “अधेसत्तमापुहविनेरइया णं भंते, कतोहिंतो, उववज्जंति? गोयमा! एवं चेव। नवरं इत्थीहिंतो (वि) पडिसेधो कातव्वो।” पणवणासुत्त / सूत्र ६४६ / पृ. १७४।

१०.३. श्वेताम्बरग्रन्थों में एक ही भव में उभयवेद परिवर्तन भी मान्य

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में वेदवैषम्य को लेकर कुछ भिन्नताएँ भी हैं। दिगम्बरपरम्परा मानती है कि जो द्रव्यवेद और भाववेद जन्म से प्राप्त होते हैं, वे मृत्यु तक स्थायी रहते हैं, चाहे वे सम हों या विषम। वर्तमान भव में उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। किन्तु श्वेताम्बरपरम्परा में माना गया है कि वर्तमानभव में न केवल भाववेद बार-बार बदल सकता है, अपितु द्रव्यवेद भी कई बार बदल सकता है। और द्रव्यवेद के बदलने पर भाववेद भी बदल जाता है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के स्वोपज्ञभाष्य के टीकाकार श्री सिद्धसेन गणी ने यही प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं—

“लिंग के तीन भेद हैं—स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व। वह अप्रकट रहने के कारण लिंग कहलाता है। क्योंकि पुरुषलिंग की निर्वृत्ति (संरचना) के अत्यन्त प्रकट होने पर भी कभी स्त्रीलिंग का उदय हो जाता है, किन्तु वह स्पष्ट रूप से बाहर प्रकट नहीं होता। अथवा कभी नपुंसकलिंग का उदय हो जाता है। इसी प्रकार स्त्री के स्वलिंग की निर्वृत्ति स्पष्ट होती है, तो भी कभी पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग का उदय हो जाता है। इसी तरह नपुंसक की स्वलिंगरचना के परिपूर्ण होते हुए भी कभी पुंल्लिङ्ग या स्त्रीलिंग की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु उसकी निर्वृत्ति लक्षित नहीं होती, जिस प्रकार कपिल नामक क्षुल्लक (नवदीक्षित युवा साधु) की लक्षित नहीं हुई थी। यह त्रिविध लिंग ही वेद कहलाता है। जिस कर्म के उदय से पुंस्त्व, स्त्रीत्व, और नपुंसकत्व उत्पन्न होते हैं, उसे लिंग कहते हैं।”^{९६}

श्री सिद्धसेन गणी ने कपिल नामक क्षुल्लक का दृष्टान्त देकर इस लिंगपरिवर्तन को स्पष्ट किया है। कपिल की कथा ‘निशीथसूत्र’ की चूर्णि में तथा बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य एवं वृत्ति^{९७} में दी गयी है। वह इस प्रकार है—

९६. “लिङ्गं त्रिभेदं—स्त्रीत्वादि, तच्च लीनत्वान्लिङ्गमुच्यते, यस्मात् पुरुषलिङ्गनिर्वृत्तावतिप्रकटायामपि कदाचित् स्त्रीलिङ्गमुदेति न च स्पष्टं बहिरुपलभ्यते, नपुंसकलिङ्गं वा, तथा स्त्रियाः स्वलिङ्ग-निर्वृत्तावतिस्पष्टायामेव जातुचित् पुन्रपुंसकलिङ्गोदयः, नपुंसकस्याप्येवं स्वलिङ्गनिर्वृत्तावतृत्तरकाल-भाविनी कदाचित् पुंस्त्रीलिङ्गे भवतो न च निर्वृत्तितो लक्ष्यते, कपिवलवदिति सर्वत्र योज्यम्। एतदेव त्रिविधं लिङ्गं वेद उच्यते, यस्य कर्मण उदयात् पौंसं, स्त्रैणं, नपुंसकत्वं च भवति तल्लिङ्गम्, अत्राप्यभेदेन निर्देशः पुमान्, स्त्री, नपुंसकमिति।” तत्त्वार्थाधिगमसूत्र २/६/भाग १/पृ.१४६।

९७. उवहय अवकरणमिं, सेज्जायर-भूणियानिमित्तेणं।

तो कविलगस्स वेओ, ततिओ जाओ दुरहियासो॥

बृहत्कल्पसूत्र/भाष्यगाथा ५१५४/चतुर्थ उद्देश/पृष्ठ १३७१।

एक कपिल नामक खड्डुग (क्षुल्लक = नवदीक्षित युवा साधु) किसी गृहस्थ (शय्यातर) के यहाँ ठहरा हुआ था। वह उसकी कन्या पर आसक्त हो गया। एक दिन उसने एकान्त पाकर उसके साथ बलात्कार किया। कन्या का पिता जब घर आया तो उसने यह बात पिता से कह दी। पिता अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने कुल्हाड़ी से साधु का लिंगविच्छेद कर दिया, जिससे उसके नपुंसकवेद का उदय हो गया। पश्चात् वह एक वृद्धा वेश्या के यहाँ पहुँच गया। वहाँ उसके स्त्रीवेद का उदय हो गया, जिससे उसके छिन्नलिंगप्रदेश में योनि का आकार बन गया। वेश्या ने उसे स्त्रीवेश में अपने यहाँ रख लिया और वेश्यावृत्ति कराने लगी। इस प्रकार उस कपिल क्षुल्लक के एक जन्म में तीनों वेदों का उदय हुआ।^{१८}

अर्थात् श्वेताम्बरपरम्परा यह मानती है कि भावेवद के साथ क्वचित् द्रव्यवेद का भी परिवर्तन हो सकता है। परन्तु निशीथसूत्र की 'अद्वारसपरिसेसुं' आदि भाष्यगाथा (३५०५) में, जिस पुरुषाकृति-पुरुषनपुंसक का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, वह द्रव्य से पुरुष होते हुए भी नपुंसक होता है अर्थात् उसमें वेदवैषम्य होता है।^{१९} तथा विशेषावश्यकभाष्य में एक 'वेदपुरुष' का उल्लेख किया गया है जो द्रव्य से स्त्री या नपुंसक होता है, किन्तु भाव से पुरुष।^{२०} और वेदवैषम्य के नौ भंग भी बतलाये गये हैं।^{२१} इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बर-परम्परा में भाववेद के परिवर्तन के साथ द्रव्यवेद का परिवर्तन भी माना गया है और अपरिवर्तन भी अर्थात् वेदवैषम्य भी स्वीकार किया गया है।

१०.४. दिगम्बरग्रन्थों में वेदवैषम्याश्रित भावस्त्री-द्रव्यपुरुषवाचक 'मणुसिणी' या 'मानुषी' संज्ञा

'मणुसिणी' या 'मानुषी' शब्द दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में प्रयुक्त असाधारण संज्ञा है। यह लोकप्रसिद्ध मनुष्यजातीय स्त्री (योनि-स्तन आदि अंगों से युक्त स्त्री) तथा कर्मसिद्धान्त-प्रसिद्ध स्त्री (स्त्रैण भावों से युक्त पुरुष), दोनों की वाचक है। दिगम्बरजैन-

१८. "---- से वसणं पजणणं (प्रजननं=शिशन) छिण्णं, ततो सो उन्निक्खंतो एगाए जुण्णगणियाए संगहिओ। तस्स तत्थ ततिओ णवुंसगवेओ उक्विण्णो, तओ इत्थीवेदो। तम्मि य वसणपदेसे अहोद्वो भगो जातो। तीए गणियाए इत्थीवेसेण सो टुविओ, संववहरितुमाढतो इति अस्य एकस्मिन् जन्मनि त्रयो वेदाः प्रतिपाद्यन्ते।" चूर्णि / निशीथसूत्र-भाष्य / गाथा ३५९ / पृ.१२४।

१९. "तथा स्त्रीपुंसोभयाभिलाषी पुरुषाकृतिः पुरुषनपुंसकः।"

प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) वृत्ति / गाथा ७९१ / पृष्ठ २२९।

१००. "स्त्र्यादिरपि पुरुषवेदकर्मविपाकानुभवाद् वेदपुरुषः।" हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२०९०।

१०१. क्षेमकीर्तिवृत्ति / बृहत्कल्पसूत्र-लघुभाष्य / भाष्यगाथा ५१४७।

कर्म सिद्धान्त की भाषा में प्रथम को द्रव्यस्त्री और द्वितीय को भावस्त्री संज्ञा दी गयी है।

लोक में मनुष्य के लिये स्त्रीत्व या पुरुषत्ववाचक शब्द का प्रयोग उसके लिंग (योनि या शिश्न) के आधार पर किया जाता है। जैनसिद्धान्त में लिंग दो प्रकार के माने गये हैं: भावलिंग और द्रव्यलिंग। इन्हें क्रमशः भाववेद और द्रव्यवेद भी कहते हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक के शारीरिक चिह्न द्रव्यवेद या द्रव्यलिंग कहलाते हैं तथा उनके मन में रहनेवाला पुरुषविषयक कामभाव, स्त्रीविषयक कामभाव या उभयविषयक कामभाव क्रमशः भाववेद या भावलिंग शब्द से अभिहित होता है। वेद और लिंग दोनों शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग किया गया है। ऐसा नहीं है कि मानसिक कामभाव को वेद और शारीरिक चिह्नों को लिंग कहा गया हो।^{१०२} इस प्रकार चूँकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में लिंग दो प्रकार के माने गये हैं, इसलिए दिगम्बर-जैन-कर्मसिद्धान्त में द्रव्यस्त्रीलिंग के आधार पर स्त्री के लिए लोकप्रसिद्ध **मणुसिणी** शब्द तो प्रयुक्त हुआ ही है, भावस्त्रीलिंग के आधार पर भी ऐसे पुरुष के लिए जो शरीर से तो पुरुष है, किन्तु भाव से स्त्रीलिंगी है, **मणुसिणी** शब्द का प्रयोग किया गया है।^{१०३}

इसका एकमात्र कारण है कर्मसिद्धान्त में जीवविपाकी कर्म के उदयानुसार भी जीव को **मनुष्यादि** संज्ञाओं से अभिहित किये जाने का नियम होना। जैसे विग्रहगति में मनुष्यशरीर प्राप्त न होने पर भी केवल मनुष्यगतिनामकर्म के उदय से जीव को 'मनुष्य' कहा गया है। इसी प्रकार विग्रहगति में पुरुषशरीर की रचना न होने पर भी केवल भावपुंवेद के उदय से मनुष्यगति के जीव को 'मनुष्य' (मनुष्यजातीय पुरुष) कहा गया है और स्त्रीशरीर की उत्पत्ति न होने पर भी केवल भावस्त्रीवेद के उदय से 'मानुषी' या 'मणुसिणी' संज्ञा दी गयी है। यथा—

१०२. क—“एतदेव त्रिविधं लिङ्गं वेद उच्यते, यस्य कर्मण उदयात् पौंसं, स्त्रैणं, नपुंसकत्वं च भवति तल्लिङ्गम्।” सिद्धसेनगणी : तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति २/६/पृ.१४६।

ख—“स च नपुंसकवेदस्त्रिविधेऽपि वेदे भवति ---।” बृहत्कल्पसूत्र-लघुभाष्य-क्षेमकीर्ति-वृत्ति / भाग ५ / उद्देश ४ / गाथा ५१४७ / पृ. १३६९।

ग—“लिङ्गं द्विविधं-द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। तत्र यद् द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधिकृतमात्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुनपुंसकान्योन्याभिलाष-लक्षणः। स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद् भवतीत्यौदयिकः।” तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६/३/पृ.१०९।

१०३. “स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावस्त्री भवति।” जीवतत्त्वप्रदीपिका वृत्ति / गोम्मटसार-जीवकाण्ड / गा.२७१।

“मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणी-मिच्छादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो।” (ष.खं./पु.४/१, ४, ३४)। “सव्वलोगो वा।” (ष.खं./पु.४/१, ४, ३५)।

अनुवाद—“मनुष्यगति में मिथ्यादृष्टि मनुष्यों, मनुष्यपर्याप्तों और मनुष्यनियों ने कितने क्षेत्र का स्पर्श किया है? लोक के असंख्यातवें भाग का अथवा सर्वलोक का स्पर्श किया है।”

सर्वलोक का स्पर्श किस प्रकार किया है, यह स्पष्ट करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं—

“मारणंतिय-उववादगदेहि सव्वलोगो फोसिदो, सव्वलोगे गमणागमणे विरोहा-भावादो।” (धवला/ष.खं./पु.४/१, ४, ३५ पृ/२१७)।

अनुवाद—“मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद अवस्थाओं में मिथ्यादृष्टि मनुष्यों, मनुष्यपर्याप्तों एवं मनुष्यनियों ने सर्व लोक का स्पर्श किया है, क्योंकि इन दोनों पदों की अपेक्षा सर्वलोक के भीतर जाने-आने में कोई विरोध नहीं है।

पूर्वभव को छोड़कर उत्तरभव के प्रथम समय अर्थात् विग्रहगति के प्रथम समय में प्रवर्तन को उपपाद कहते हैं—“परित्यक्तपूर्वभवस्य उत्तरभवप्रथमसमये प्रवर्तन-मुपपादः।” (जी.त.प्र./गो.जी./गा.५४३)।

सर्वलोक में व्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव मृत्यु होने पर उत्तरभव के प्रथमसमय में मनुष्यगति के उदय से सर्वलोक में व्याप्त रहते हुए भी ‘मनुष्य’ कहलाने लगते हैं तथा भावपुंवेद के उदय से ‘मनुष्य’ (मनुष्यजातीय पुरुष), भावनपुंसकवेद के उदय से भी ‘मनुष्य’ (मनुष्यजातीय नपुंसक) और भावस्त्रीवेद के उदय से ‘मानुषी’ या ‘मणुसिणी’ संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह उपपाद की अपेक्षा मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त (पर्याप्तनामकर्मोदययुक्त पुरुषवेदी मनुष्य) तथा मनुष्यिणी का सर्वलोक-स्पर्श घटित होता है। इससे सिद्ध है कि कर्मसिद्धान्त में मात्र मनुष्यगतिनामकर्म के उदय से विग्रहगति के प्रथम समय में ही जीव को मनुष्य संज्ञा एवं पुंवेद, स्त्रीवेद आदि के उदय से विग्रहगति में ही मनुष्य, मनुष्यिणी आदि संज्ञाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। अतः इस प्रकार की किसी भावमनुष्यिणी को यदि पुरुषांगोपांगनामकर्म के उदय से पुरुषशरीर प्राप्त हो जाता है, तब भी कर्मसिद्धान्त उसे ‘मनुष्यिणी’ या ‘भावस्त्री’ के ही नाम से अभिहित करता है। इस प्रकार दिगम्बरजैन-कर्मसाहित्य में ‘मानुषी’ या ‘मणुसिणी’ संज्ञा वेदवैषम्य पर भी आश्रित है।

भावस्त्रीवेदी-पुरुष में भावपुरुषवेदी-पुरुष की अपेक्षा द्रव्यस्त्री से समानता रखने-वाली कुछ अयोग्यताएँ भी होती हैं। उदाहरण के लिए, जैसे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर द्रव्यस्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही भावस्त्रीवेदी-पुरुषों में भी उत्पन्न नहीं होता।^{१०४} द्रव्यस्त्री में तो संयम ही संभव नहीं है, किन्तु भावस्त्रीवेदी पुरुष को संयम रहने पर भी आहारकृद्धि प्राप्त नहीं होती, जिससे उसके आहारक-काययोग और आहारकमिश्र-काययोग का अभाव होता है।^{१०५} उसे मनःपर्ययज्ञान और परिहारशुद्धि-संयम की भी प्राप्ति नहीं होती।^{१०६} अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के चतुर्थभाग में स्त्रीवेद की निवृत्ति हो जाने पर भी मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जैसे अग्निदग्ध बीज में अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से दूषित जीव में वेदोदय के नष्ट हो जाने पर भी मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।^{१०७} भावस्त्रीवेदी सम्यग्दृष्टि पुरुष को तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध तो होता है, किन्तु वह तीर्थंकरप्रकृतिसहित उपशमश्रेणी पर ही आरूढ़ हो सकता है, क्षपकश्रेणी पर नहीं। इसलिए उसका तीर्थंकर होना असंभव है।^{१०८} ये द्रव्यस्त्री के तुल्य अयोग्यताएँ भी भावस्त्री के लिए 'मणुसिणी' शब्द के प्रयोग का हेतु हैं।

इन कारणों से दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों के लिए मणुसिणी (मनुष्यिनी या मानुषी) शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यह शब्द दोनों प्रकार की स्त्रियों का वाचक है अर्थात् दोनों ही इसके मुख्यार्थ हैं, क्योंकि दोनों अर्थों में प्रयोग का आधार स्त्रीलिंगविशेष है। अतः यह अनेकार्थक शब्द है। इसलिए

१०४. षट्खण्डागम / पुस्तक १ / १, १, ९२-९३।

१०५. "मणुसिणीणं--एत्थ आहार-आहारमिस्सकाययोगा णत्थि। किं कारणं? जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो, ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा पुण संजमं ण पडिवज्जंति, सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धी समुप्पज्जदि, दव्वभावेहि पुरिसवेदाणं चेव समुप्पज्जदि, तेणित्थिवेदे णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि, तेण एगारह जोगा भणिदा।" धवला / ष. खं. / पु. २ / १, १ / पृ. ५१५।

१०६. "इत्थि-णवुंसगवेदाणमुदए आहारदुगं मणपज्जवणाणं परिहारसुद्धिसंजमो य णत्थि।" धवला / ष. खं. / पु. २ / १, १ / पृ. ५२४।

१०७. "अगिग्दद्धबीए अंकुरो व्व इत्थिणवुंसयवेदोदयदूसियजीवे वेदोदए फिट्ठे वि ण मणपज्जवणा-णमुप्पज्जदि।" धवला / ष. खं. / पु. २ / १, १ / पृ. ५२८।

१०८. क- "तित्थयरबंधस्स मणुसा चेव सामी, अण्णत्थित्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्स बंधाभावादो। अपुव्वकरणउवसाणसु तित्थयरस्स बंधो, ण कखवएसू। इत्थिवेदोदएण तित्थयरकम्मं बंधमाणं खवगसेडिसमारोहणाभावादो।" धवला / ष. खं. / पु. ८ / ३, १७७ / पृ. २६१।

ख- "खवगसेडीए तित्थयरस्स णत्थि बंधो, इत्थिवेदेण सह खवगसेडिसमारोहणे संभवाभावादो।" धवला / ष. खं. / पु. ८ / ३, ७५ / पृ. १३४।

जैसे अनेकार्थक 'सैन्धव' शब्द घोड़ा और नमक दोनों का वाचक होने से प्रकरण के अनुसार घोड़ा या नमक अर्थ को मुख्यार्थरूप से संकेतित करता है, वैसे ही 'मणुसिणी' शब्द प्रकरण या सामर्थ्य के बल से^{१०९} द्रव्यस्त्री या भावस्त्री अर्थ को वाच्यार्थरूप से अभिहित करता है। पंचम गुणस्थान तक के प्रकरण में अपनी सामर्थ्य (पंचम गुणस्थान तक पहुँचने की योग्यता) के अनुसार उससे द्रव्यस्त्री अर्थ का बोध होता है तथा चौदह गुणस्थानों के प्रकरण में सामर्थ्यानुसार भावस्त्री अर्थ का।

पाल्यकीर्ति शाकटायन ने भी 'स्त्री' या 'मानुषी' शब्द के मुख्यार्थ (द्रव्यस्त्री) और गौणार्थ (भावस्त्री) दो अर्थ स्वीकार किये हैं। किन्तु लक्षणा के द्वारा गौणार्थ को लक्षित करने के लिए किसी प्रयोजन की आवश्यकता होती है, जैसे 'गौर्वाहीकः' (हलवाहा बैल है) प्रयोग में 'गो' शब्द से वाहीकगत जाड्यमान्द्य आदि धर्मों को लक्षित करने का प्रयोजन वाहीक में उनका अतिरेक दिखलाना होता है। किन्तु 'मानुषी' शब्द से भावस्त्री अर्थ लक्षित करने का कोई प्रयोजन नहीं होता। अतः मानुषी शब्द से भावस्त्री अर्थ गौणार्थरूप से लक्षित नहीं किया जा सकता, अपितु अनेकार्थ होने से 'सैन्धव,' 'कनक', 'लिंग', 'मधु' आदि अनेकार्थक शब्दों की तरह प्रकरण, सामर्थ्य आदि के बल से मुख्यार्थरूप से ही संकेतित किया जा सकता है।^{११०} दिगम्बराचार्यों ने 'मानुषी' शब्द से प्रकरणानुसार दोनों अर्थ मुख्यार्थरूप से ही प्रतिपादित किये हैं। यथा सर्वार्थ-सिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

“मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। औप-शमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम्। मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।” (स.सि./१/७/२६/पृ.१७)।

१०९. क— अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।

संयोगाद्यैरवाच्यर्थ—धीकृद्ब्यापृतिरञ्जनम् ॥ २/१९ ॥ काव्यप्रकाश।

ख—संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

भर्तृहरि-वाक्यपदीय (काव्यप्रकाश) २/१९।

इन पद्यों में उन उपायों का वर्णन किया गया है, जिनसे अनेकार्थक शब्द को किसी एक मुख्यार्थ में नियंत्रित किया जाता है।

११०. उदाहरण के लिए देखिए, मम्मटकृत काव्यप्रकाश २/१९।

अनुवाद—“मनुष्यगति में पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यों (पुरुषों) को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन केवल पर्याप्त मनुष्यों को होता है, अपर्याप्तकों को नहीं। मानुषियों को तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु पर्याप्तकों को ही, अपर्याप्तकों को नहीं। क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद से ही होता है, (द्रव्यवेद से नहीं)।”

यहाँ पूज्यपाद स्वामी ने मानुषियों को तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों का होना बतलाया है और स्पष्ट किया है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद से ही होता है, द्रव्यवेद से नहीं। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने ‘मानुषी’ शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री (भावस्त्रीवेद के उदय से युक्त पुरुष) दोनों अर्थों में वाच्यार्थरूप से प्रयुक्त किया है। चूँकि द्रव्यस्त्रियों को क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिए क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के प्रकरण में ‘मानुषी’ शब्द द्रव्यस्त्री का वाचक है और तीनों सम्यग्दर्शनों के सन्दर्भ में भावस्त्री का।

पूज्यपाद स्वामी के अन्य व्याख्यानों में भी ‘स्त्री’ शब्द का प्रयोग इन दोनों अर्थों में मिलता है। उन्होंने सर्वार्थसिद्धि में भावस्त्रीवेद एवं भावनपुंसकवेद से मुक्ति का प्रतिपादन किया है, किन्तु द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसकवेद से मुक्ति का निषेध किया है। यथा—

१. “वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति। अपगत-वेदेषु अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि।” (स.सि./१/८/३५/पृ.२२-२३)।

२. “वेदानुवादेन स्त्रीवेदाः --- सामान्योक्तसंख्याः।” (स.सि./१/८/५०/पृ.२६)।

३. “विपरीतमिथ्यादर्शनम् --- सग्रन्थो निर्ग्रन्थः केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।” (स.सि./८/१/७३१/पृ.२९१-२९२)।

४. “लिङ्गेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुंल्लिङ्गेनैव।” (स.सि./१०/९/९३७/पृ.३७४)।

उपर्युक्त प्रथम दो वक्तव्यों में पूज्यपाद स्वामी ने स्त्रीवेदी को मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादर-पर्यन्त गुणस्थानों का स्वामी बतलाया है, किन्तु अन्तिम दो वक्तव्यों में स्त्रीमुक्ति मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहा है तथा द्रव्य की अपेक्षा पुंल्लिंग से ही मोक्ष होना बतलाया है। इससे सिद्ध है कि प्रथम दो वक्तव्यों में जिन स्त्रीवेदियों को अनिवृत्तिबादर-गुणस्थान तक का स्वामी बतलाया है, वे भावस्त्रीवेदी हैं, द्रव्यस्त्रीवेदी नहीं।

तत्त्वार्थराजवार्तिककार भट्ट अकलंकदेव का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

“मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति। अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्याख्यानि। मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति, भावलिङ्गापेक्षया, न द्रव्यलिङ्गापेक्षया। द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजनना-भावात्।” (त.रा.वा./ १/७/११/पृ.६०५)।

अनुवाद—“मनुष्यगति में पर्याप्तक मनुष्यों में चौदहों गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्तकों में तीन गुणस्थान होते हैं : मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि। पर्याप्तक मानुषियों में चौदहों गुणस्थान होते हैं, किन्तु भावलिंग की अपेक्षा, न कि द्रव्यलिंग की अपेक्षा। द्रव्यलिंग की अपेक्षा तो आदि के पाँच ही होते हैं। अपर्याप्तक मानुषियों में शुरू के दो ही गुणस्थान संभव हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के साथ जीव का स्त्रीरूप में जन्म नहीं हो सकता।”

इस निरूपण में अकलंकदेव ने मानुषियों के दो भेद किये हैं : भावलिंगी और द्रव्यलिंगी। और इस भेद के आधार पर ही भावस्त्रीलिंगी मानुषियों में चौदह गुणस्थानों की संभावना बतलायी है। आगे तो ऐसा भेद किये बिना ही ‘अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये’ कहकर अपर्याप्तक मानुषियों में तीसरे गुणस्थान से लेकर शेष गुणस्थानों का अभाव बतलाया है, किन्तु यहाँ भी ‘मानुषी’ शब्द में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री के भेद गर्भित हैं, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में इन दोनों में ही आदि के दो छोड़कर शेष गुणस्थान नहीं होते। इस तरह भट्ट अकलंकदेव भी ‘मानुषी’ शब्द को द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक मानते हैं।

आधुनिक विद्वानों ने भी ‘मनुसिणी’ या ‘मानुषी’ शब्द को दोनों प्रकार की स्त्रियों का वाचक माना है। न्यायसिद्धान्तशास्त्री स्व० पं० पन्नालाल जी सोनी, जो ‘षट्खण्डागम भावप्रधान-निरूपणशैली का ग्रन्थ है’, इस मान्यता के सुदृढ़ समर्थक थे, लिखते हैं—

“मनुसिणी दो तरह की होती है : द्रव्यमनुसिणी और भावमनुसिणी। इसी तरह स्त्रीवेद भी दो तरह का होता है : द्रव्यस्त्रीवेद और भावस्त्रीवेद। (षट्खण्डागम के) सूत्रों में सामान्यतः ‘मनुसिणी’ और ‘स्त्रीवेद’ पद प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों पर से सन्देह हो जाता है कि यहाँ पर द्रव्यमनुसिणी ही ली गई है या भावमनुसिणी? इसी तरह द्रव्यस्त्रीवेद लिया गया है या भावस्त्रीवेद? वेदों में तो सर्वत्र भाववेद की अपेक्षा से कथन किया गया है, परन्तु मनुसिणी में कहीं द्रव्य की अपेक्षा और कहीं भाववेद की अपेक्षा कथन है। ऐसे अवसर पर सन्देह हो जाता है। इस सन्देह को दूर करने के लिए ‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्’ इस परिभाषा का अनुसरण किया जाता है। इसका आशय है ‘व्याख्यान से, विवरण से, टीका से, विशेष प्रतिपत्ति

(निर्णय) होती है। सन्देह हो जाने से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता।' तदनुसार टीकाग्रन्थों से और अन्य ग्रन्थों से उक्त सन्देह दूर कर लिया जाता है। मूलग्रन्थ के भी आगे-पीछे के प्रकरणों पर से सन्देह दूर कर लिया जाता है। ग्रन्थान्तरों में और टीकाग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि मनुषिणी के भावलिंग की अपेक्षा चौदह गुणस्थान होते हैं और द्रव्यलिंग की अपेक्षा से आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं।^{१११}

आदरणीय पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य ने इस विषय में अपना मत निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—“मनुष्यणी शब्द का अर्थ पर्याप्तनामकर्म और स्त्रीवेद-नोकषाय के उदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्म के उदयवाला जीव ही आगमग्रन्थों में लिया गया है और वह द्रव्य से स्त्री की तरह द्रव्य से पुरुष भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यणी' शब्द का अर्थ स्त्रीवेद-नोकषाय के उदयसहित द्रव्यस्त्री की तरह स्त्रीवेद-नोकषाय के उदयसहित द्रव्यपुरुष भी हो सकता है और यही अर्थ समानरूप से सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओं में 'मनुष्यणी' शब्द का है, ऐसा समझना चाहिए।^{११२}

यहाँ पण्डित जी ने 'मनुष्यणी' शब्द का एक अर्थ स्त्रीवेदनोकषाय के उदय से युक्त द्रव्यपुरुष बतलाकर स्पष्ट किया है कि यह शब्द भावस्त्री का भी वाचक है।

इन आर्ष प्रमाणों और विद्वानों के वक्तव्यों को देखते हुए माननीय पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य का यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता कि “आगम में 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेद के उदयवाले मनुष्यगति के जीव के लिए ही आता है। जो लोक में नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत होता है, आगम के अनुसार मनुष्यिनी शब्द का अर्थ उससे भिन्न है। --- आगम में 'मनुष्यिनी' शब्द भाववेद की मुख्यता से ही प्रयुक्त हुआ है, अत एव वह केवल अपने ही अर्थ में चरितार्थ है।^{११३} उपर्युक्त आर्षप्रमाणों और विद्वद्बचनों से सिद्ध है कि आगम में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग महिला (द्रव्यस्त्री) के लिए भी किया गया है और उस पुरुष के लिए भी, जो स्त्रीवेदनोकषाय के उदय से युक्त है।

१११.क— दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण / द्वितीय अंश / पृ.१५०-१५१।

ख—“व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।” पातंजल महाभाष्य / प्रत्या. / सूत्र ६।

११२. पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ / खं. ५ / पृ. २४।

११३. सर्वार्थसिद्धि / दो शब्द / पृ. १०।

१०.५. षट्खण्डागम में मणुसिणी को तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कथन

षट्खण्डागम के 'बन्धस्वामित्वविचय' नामक तृतीय खण्ड के निम्नलिखित सूत्र में मनुष्यिणी को तीर्थंकरप्रकृति का बन्धक बतलाया गया है—

“मणुस्सगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु ओघं णेयव्वं जाव तित्थ-
बरेत्ति।” (ष.खं./पु.८/३,७५)।

अनुवाद—“मनुष्यगति में मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त एवं मनुष्यिनियों में (खण्ड ३ के सूत्र क्रमांक ५ में वर्णित) ज्ञानावरणादि प्रकृतियों से लेकर (खण्ड ३ के ३८वें सूत्र में वर्णित) तीर्थंकरप्रकृति तक के बन्ध का कथन ओघ के समान जानना चाहिए।”

धवलाकार ने स्त्रीवेदियों को क्षपकश्रेणी में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का अभाव बतलाया है, क्योंकि तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध करनेवाला स्त्रीवेद के उदय के साथ श्रपकश्रेणी पर चढ़ने में समर्थ नहीं होता।^{११४} वह उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हो सकता है।^{११४}

१०.६. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री के तीर्थंकर होने का निषेध

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि दिगम्बर-आम्नाय में द्रव्यस्त्री को मुक्ति का अधिकारी नहीं माना गया है, अतः उसको तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होना भी मान्य नहीं है। धवलाकार वीरसेन स्वामी ने कहा है—

“तित्थयरबंधस्स मणुसा चेव सामी, अण्णत्थित्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्स
बंधाभावादो। अपुव्वकरणउवसामएसु तित्थयरस्स बंधो, ण खववएसु, इत्थिवे-
दोदयेण तित्थयरकम्मं बंधमाणाणं खवगसेडिसमारोहणाभावादो।” (धवला/ष.खं/
पु.८/३,१७७/पृ.२६१)।

अनुवाद—“तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का स्वामी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्य गतियों के स्त्रीवेदोदययुक्त जीवों में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का अभाव है। अपूर्वकरण-उपशमकों में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है, क्षपकों में नहीं, क्योंकि स्त्रीवेद के उदय के साथ तीर्थंकरकर्म को बाँधनेवाले जीवों में क्षपकश्रेणी-आरोहण का अभाव है।” (अनुवादक : पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री)।

११४.क— “खवगसेडीए तित्थयरस्स णत्थि बंधो, इत्थिवेदेण सह खवगसेडिसमारोहणे संभवा-
भावादो।” धवला / ष.खं./पु.८/ ३,७५ / पृ.१३४।

ख— “अपुव्वकरणउवसामएसु तित्थयरस्स बंधो, ण खववएसु, इत्थिवेदोदयेण तित्थयरकम्मं
बंधमाणाणं खवगसेडिसमारोहणाभावादो।” धवला / ष.खं./पु. ८ / ३, १७७ / पृ.२६१।

यहाँ 'मणुसा' (मनुष्याः) शब्द मनुष्यगति के द्रव्यपुरुष का वाचक है, क्योंकि षट्खण्डागम और धवला में मनुष्यगति की द्रव्यस्त्री और भावस्त्री के लिए 'मणुसिणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। तथा "अन्य गतियों के स्त्रीवेदोदयवाले जीवों में तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का अभाव है" यह देवगति की अपेक्षा कहा गया है, क्योंकि देवगति में कल्पवासी देवों (मनुष्यगति में तीर्थकरप्रकृति का बन्ध आरंभकर देवरूप में उत्पन्न होनेवाले जीवों) को तो तीर्थकरप्रकृति का बन्ध होता है, किन्तु कल्पवासी देवियों को नहीं होता, जो द्रव्य और भाव दोनों स्त्रीवेदों से युक्त होती हैं। कहा भी गया है—“कप्पित्थीसु ण तित्थं” (गो.क./गा.११२)। इस प्रमाण से मनुष्यजातीय द्रव्यस्त्रियों में तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का अभाव सिद्ध किया गया है। भवनत्रिक-देव-देवियों और तिर्यचों में किसी को भी तीर्थकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता—“भवणतिये णत्थित्थयरं।” (गो.क./गा.१११)। नरकगति में स्त्रीवेद और पुरुषवेद होते नहीं हैं। और सम्यग्दृष्टि भावमनुष्यिनी (स्त्रीवेदोदययुक्त द्रव्यपुरुष) को उपशमश्रेणी के अपूर्वकरण-गुणस्थान तक तीर्थकरप्रकृति का बन्ध होता है, किन्तु इस श्रेणी के जीवों को केवलज्ञान संभव न होने से उनके द्वारा बाँधी गयी तीर्थकरप्रकृति के उदय का अवसर नहीं आता। इससे सिद्ध है कि “तित्थयरबंधस्स मणुसा चेव सामी” (धवला/ष.खं./पु.८/३,१७७/पृ.२६१) इस आर्ष-वाक्य में मनुष्यगति के तीनों भाव-वेदों के उदय से युक्त द्रव्यपुरुषों को ही तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का स्वामी बतलाया गया है और वाक्य में प्रयुक्त अवधारणार्थक 'एव' शब्द से द्रव्यस्त्रियों में तीर्थकर-प्रकृति के बन्ध का निषेध किया गया है। “अण्णत्थित्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्स बंधाभावादो” (धवला/ष.खं./पु.८/३,१७७/पृ.२६१) इस वाक्य से अन्य गतियों की द्रव्यस्त्रियों में भी तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का अभाव प्रदर्शित किया गया है।

षट्खण्डागम-विशेषज्ञ स्व० पं० पन्नालाल जी सोनी ने भी धवला के उक्त वाक्य का अनुवाद करते हुए लिखा है—“तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का स्वामी द्रव्यपुरुष ही है।” (दिगम्बर-जैन-सिद्धान्त-दर्पण/द्वितीय अंश/पृ.१७९)।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा में मनुष्यगति के द्रव्यपुरुष को ही तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का स्वामी बतलाया है—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥ ९३ ॥

यहाँ पुंल्लिङ्गीय नराः शब्द का प्रयोग कर एक ओर मनुष्यगति की द्रव्यस्त्री को तीर्थकरप्रकृतिबन्ध का निषेध किया गया है, दूसरी ओर यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्यगति को छोड़कर शेष गतियों के जीव तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का प्रारंभ नहीं करते।

श्वेताम्बर तथा यापनीय आम्नायों में भी स्त्री को तीर्थकरपद प्राप्त करने योग्य नहीं माना गया है, जैसा कि प्रवचनसारोद्धार की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

अरहंत-चक्कि-केसव-बलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा।

गणहर-पुलाय-आहारगं च न हु भवियमहिलाणं ॥ १५०६ ॥

अनुवाद—“भव्य स्त्रियाँ तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्न (श्रोता), चारणब्रह्मि, चौदहपूर्वित्व, गणधर, पुलाक तथा आहारक, ये दस अवस्थाएँ प्राप्त नहीं कर सकती।”

श्वेताम्बरपरम्परा में जो मल्लिनाथ भगवान् के स्त्री होते हुए भी तीर्थकर होने की मान्यता है, वह कर्मसिद्धान्त पर आश्रित नहीं है, अपितु उसे एक अछेरा अर्थात् नियमविरुद्ध आश्चर्यजनक घटना माना गया है। यापनीय भी श्वेताम्बर-आगमों को मानते थे, अतः वे भी उपर्युक्त सिद्धान्त का अनुसरण करते थे।

इस प्रकार चूँकि दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय, तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री के तीर्थकर होने का निषेध है, अतः स्पष्ट है कि षट्खण्डागम के उपर्युक्त तीर्थकरप्रकृति-बन्ध-प्रतिपादक सूत्र में मणुसिणी शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री के अर्थ में न होकर भावस्त्री के अर्थ में हुआ है, अर्थात् ऐसे पुरुष के अर्थ में हुआ है, जो केवल शरीर से पुरुष है, भाव से पुरुष नहीं है, अपितु भाव से स्त्री है। तात्पर्य यह कि षट्खण्डागम के अनुसार भावस्त्री को ही तीर्थकरप्रकृति का बन्ध हो सकता है, द्रव्यस्त्री को नहीं, वह भी उपशमकश्रेणी में ही, क्षपकश्रेणी में नहीं। यह षट्खण्डागम में वेदवैषम्य की स्वीकृति तथा तदाश्रित भावस्त्री-द्रव्यपुरुष-वाचक 'मणुसिणी' शब्द के प्रयोग का उदाहरण है।

१०.७. ष. खं. में नपुंसकवेदी मनुष्य को तीर्थकरप्रकृति के बन्ध का कथन

षट्खण्डागम के उपर्युक्त सूत्र (पु.८/३,७५) में ही 'मणुस' शब्द 'भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद के उदय से युक्त 'मनुष्य' अर्थ का वाचक है। जयधवला में भी 'मणुस' शब्द का यह अर्थ स्पष्ट किया गया है।^{११५} अतः उक्त सूत्र में नपुंसकवेदी मनुष्य को भी तीर्थकरप्रकृति का बन्ध बतलाया गया है। तथा षट्खण्डागम-बन्धस्वामित्वविचय (पुस्तक ८) के सूत्र १६९, १७० तथा १७७ में भी नपुंसकवेदी

११५. “मणुस्सो त्ति वुत्ते पुरिस-णवुंसयवेदोदइल्लाणं गहणं। मणुस्सिणी त्ति वुत्ते इत्थिवेदोदय-जीवाणं गहणं।” जयधवला / कसायपाहुड / पु.३/३,२२/४२६/२४१/१२ / (जै. सि. कोश ३/५८६)।

को तीर्थकरप्रकृति के बन्ध की बात कही गई है।^{११६} इसी प्रकार षट्खण्डागम-सत्प्ररूपणा के "णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति" (पु.१/१,१,१०३) सूत्र में नपुंसकवेदियों का अस्तित्व एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण (नवम) गुणस्थान तक प्ररूपित किया गया है, जो उनके मुक्तियोग्य होने का सूचक है।

१०.८. तीनों परम्पराओं में द्रव्यनपुंसक की मुक्ति का निषेध

किन्तु दिगम्बर, श्वेताम्बर और श्वेताम्बर-आगमानुयायी यापनीय, तीनों परम्पराओं में द्रव्यनपुंसक की भी मुक्ति का निषेध किया गया है। श्वेताम्बरीय ग्रन्थ निशीथसूत्र की भाष्य-गाथा का कथन है कि अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के अयोग्य हैं—

अट्टारसपुरिसेसुं वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणा अणरिहा इति अणला इत्तिया भणिया ॥ ३५०५ ॥

निशीथसूत्र-भाष्य में दीक्षा के अयोग्य अठारह प्रकार के पुरुषों का वर्णन निम्न गाथाओं में किया गया है—

बाले वुड्ढे णपुंसे य जड्ढे कीवे व वाहिए।
तेणे रायावकारी य उम्मत्ते य अदंसणे ॥ ३५०६ ॥
दासे दुट्ढे य मूढे य अणत्ते जुंगिए इ य।
उबद्धए य भयए सेहणिप्फेडियाइ य ॥ ३५०७ ॥

अनुवाद—“बाल (आठ वर्ष से कम आयु का पुरुष), वृद्ध (सत्तर वर्ष से अधिक आयुवाला) नपुंसक (पुरुषनपुंसक=पुरुष होकर भी जो नपुंसक होता है), जड्ढु (शरीर-जड्ढु=शरीर से अशक्त, करणजड्ढु=समिति-गुप्ति इत्यादि क्रियाओं के पालन में असमर्थ, भाषाजड्ढु=भाषा समझने में असमर्थ), क्लीब (स्त्रियों के असंवृत अंगोपांगों को देखकर उत्पन्न हुए कामाभिलाष को सहने में जो असमर्थ होता है), व्याधित (रोगग्रस्त), स्तेन (चोर), राजापकारी (राजद्रोही), उन्मत्त (यक्षादि अथवा प्रबलमोहोदय के वशीभूत), अदर्शन (दृष्टिरहित=अन्धा, स्त्यानगृद्धि आदि दोषों से ग्रस्त), दास (धनक्रीत

११६. “तित्थयरबंधस्स मणुसा चेव सामी, अण्णत्थित्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्स बंधाभावादो। अपव्वकरणउवसामएसु तित्थयरस्स बंधो, ण खवएसू, इत्थिवेदोदएण तित्थयरकम्मं बंधमाणणं खवगसेडिसमारोहणाभावादो। जहा इत्थिवेदोदइल्लाणं सव्वसुत्ताणि परूविदाणि तहा णवुंसयवेदोदइल्लाणं पि वत्तव्वं। णवरि सव्वत्थ इत्थिवेदम्मि भणिदपच्चएसु इत्थिवे-दमवणिय णवुंसयवेदो पक्खिविदव्वो।” धवला / ष. खं / पु. ८ / ३, १७७ / पृ. २६१।

अथवा ऋणादि के कारण बँधुआ बनाया गया), दुष्ट (कषायदुष्ट, विषयदुष्ट = परिस्त्रियों में गृह्य), मूढ (वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ), ऋणार्त्त (ऋणग्रस्त), जुद्धित (दूषित=अस्पृश्य जाति से दूषित, हीनकर्म से दूषित शरीर से दूषित = कर चरण, कर्ण आदि से रहित, पंगु कुब्ज, वामन, काणक आदि), अवबद्ध (धन-ग्रहण करने के कारण अथवा विद्यादिग्रहण करने के निमित्त से जो कुछ समय के लिए दूसरे के अधीन है), भृतक (भृत्य=किसी के यहाँ नौकरी करनेवाला), और शैक्षनिष्फेदिक (जो मातापिता के द्वारा अपहरण करके दीक्षा के लिये लाया गया हो), ये अठारह पुरुष दीक्षा के योग्य नहीं होते।" ('प्रवचनसारोद्धार'-उत्तरभाग की ७९०-७९१वीं गाथाओं की श्री सिद्धसेनसूरि-शेखरकृत संस्कृतवृत्ति के आधार पर अनुवादित)।

इन अठारह प्रकार के पुरुषों में एक नपुंसकपुरुष भी है, जिसे पुरुषनपुंसक कहा गया है। वह स्त्री और पुरुष दोनों का अभिलाषी होता है अर्थात् उसमें (श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार) स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों का उदय होता है। उसे दीक्षा देने में बहुत हानियाँ हैं, अतः वह दीक्षा का पात्र नहीं है—

“तथा स्त्रीपुंसोभयाभिलाषी पुरुषाकृतिः पुरुषनपुंसकः। सोऽपि बहुदोषकारित्वा-
दीक्षितुमनुचितः।”^{११७}

वह पुरुषनपुंसक दूसरे का प्रतिसेवन करता है और अपना प्रतिसेवन कराता है—“जो पुरिसनपुंसगो सो पडिसेवति पडिसेवावेति।”^{११८}

निशीथसूत्र की चूर्णि में स्त्रीनपुंसक का भी कथन है। श्वेताम्बरमतानुसार वह भाव-स्त्रीवेद और भावनपुंसक वेद दोनों का वेदन करती है। द्रव्य (शरीर) से वह स्त्री होती है।^{११९}

१०.९. श्वेताम्बर-साहित्य में दशविध जन्मजात, षड्विध कृत्रिम नपुंसक

ऊपर जिस नपुंसक का वर्णन किया गया है वह पुरुषाकृति-नपुंसक है। वह दीक्षा के अयोग्य अठारह प्रकार के पुरुषों के अन्तर्गत है। जो दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के अयोग्य बतलाये गये हैं, वे नपुंसकाकृति नपुंसक हैं अर्थात् वे द्रव्य से भी नपुंसक होते हैं।^{१२०} ये दस प्रकार के नपुंसक अधोवर्णित सोलह नपुंसकों में परिगणित हैं—

११७. सिद्धसेनसूरिशेखरकृतवृत्ति / प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) गाथा ७९१।

११८. निशीथचूर्णि-जिनदासमहत्तर / भाष्यगाथा ३५०६-३५०७।

११९. निशीथचूर्णि-जिनदासमहत्तर / भाष्यगाथा ३५०८।

१२०. “ननु पुरुषमध्येऽपि नपुंसका उक्ता, इहापि चेति तत्क एतेषां परस्परं प्रति विशेषः? सत्यं, किन्तु तत्र पुरुषाकृतीनां ग्रहणं, इह तु नपुंसकाकृतीनामिति, उक्तं च निशीथचूर्णी --- तर्हि

पंडए वातिए कीवे, कुंभी इस्सालुए ति य।
 सउणी तवकम्मसेवी य पक्खियापक्खिते ति य॥ ३५६१॥
 सोगंधिए य आसिते वद्धिए चिप्पिते ति य।
 मंतोसही-उवहते इसिसत्ते देवसत्ते य॥ ३५६२॥

निशीथसूत्र-भाष्य।

अनुवाद—“पण्डक, वातिक, क्लीब, कुम्भी, ईर्ष्यालु, शकुनि, तत्कर्मसेवी, पाक्षिका-पाक्षिक, सौगन्धिक, आसक्त, वर्द्धितक, चिप्पित, मन्त्रोपहत, औषधोपहत, ऋषिशप्त और देवशप्त।”^{१२१}

इनमें प्रथम दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के अयोग्य हैं, क्योंकि ये नपुंसकाकृति-नपुंसक अर्थात् द्रव्यनपुंसक या जन्मजात नपुंसक हैं। अन्तिम छह द्रव्यनपुंसक नहीं हैं, अपितु वे द्रव्यपुरुष या द्रव्यस्त्री होते हैं, जो प्रयोजनवश बलपूर्वक नपुंसक बनाये जाते हैं। अतः वे कृत्रिम नपुंसक हैं। उन्हें दीक्षा दी जा सकती है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

वर्द्धितक—राजाओं के अन्तःपुर में महल्लक पद प्राप्त कराने के लिए बाल्यावस्था में ही जिस बालक के अण्डकोशों को काटकर अलग कर दिया जाता था, उसे वर्द्धितक (बधिया) कहा जाता था।^{१२२}

चिप्पित—जन्म लेते ही जिस बालक के अण्डकोश अँगूठे और अँगुलियों से मसलकर नष्ट कर दिये जाते हैं, उसे चिप्पित कहते हैं।^{१२३}

मन्त्रोपहत—जिस पुरुष का पुरुषवेद अथवा स्त्री का स्त्रीवेद किसी मन्त्र की सामर्थ्य से निष्क्रिय कर दिया जाता है, उसे मन्त्रोपहत नपुंसक कहा जाता है।^{१२४}

पुरिसाकिई, इह गहणा सेसयाणं भवे ति, एवं स्त्रीस्वपि वाच्यम्।” प्रवचनसारोद्धार / उत्तरभाग / सिद्धसेनसूरि- शेखरवृत्ति / गा. ७९४ / पृ. २३१ तथा निशीथसूत्र / भाष्यगाथा ३५६१-६२।

१२१. सिद्धसेनसूरि-शेखरवृत्ति / प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) / गाथा ७९४ / पृ. २३१-२३२।

१२२. “आयत्यां राजान्तःपुर-महल्लकपदप्राप्त्यादिनिमित्तं यस्य बालत्वेऽपि छेदं दत्त्वा वृषणौ गालितौ भवतः स वर्द्धितकः।” प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) / सिद्धसेनसूरिशेखरकृत वृत्ति / गाथा ७९४ / पृ. २३१।

१२३. “यस्य तु जातमात्रस्याङ्गुष्ठाङ्गुलीभिर्मर्दयित्वा वृषणौ द्राव्येते स चिप्पितः।” वही / पृ. २३१।

१२४. “तथा कस्यचिन्मन्त्रसामर्थ्यादन्यस्य तु तथाविधौषधीप्रभावात् पुरुषवेदे स्त्रीवेदे वा समुपहते सति नपुंसकवेदेः समुदेति तथा कस्यचिन्मदीयतपः प्रभावान्नपुंसको भवत्वयमिति ऋषिशपात्

औषधोपहत—कोई औषधि देकर जिन स्त्री-पुरुषों का स्त्रीत्व और पुरुषत्व नष्ट कर दिया जाता है, वे औषधोपहत नपुंसक कहलाते हैं।^{१२५}

ऋषिशप्त—ऋषिशप्त नपुंसक उन्हें कहा जाता है, जो किसी ऋषि के शाप से नपुंसक बना दिये जाते हैं।^{१२५}

देवशप्त—किसी देवता के शाप से नपुंसक बनाये गये स्त्री-पुरुष की देवशप्त संज्ञा है।^{१२५}

ये छह कृत्रिम नपुंसक जो वास्तव में जन्म से द्रव्य-पुरुष या द्रव्य-स्त्री ही होते हैं, दीक्षा के योग्य माने गये हैं। पूर्वोक्त दस प्रकार के नपुंसक वास्तविक नपुंसक अर्थात् जन्मजात द्रव्यनपुंसक हैं, उन्हें दीक्षा के अयोग्य बतलाया गया है। यथा—

“एते च षण्डकादयो दशापि प्रव्राजयितुमयोग्याः। --- एते वर्द्धितादयः षडपि यद्यप्रतिसेवकास्तदा प्रव्राजयितव्याः।”^{१२६}

इस तरह श्वेताम्बरों तथा श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानने वाले यापनीयों के मत में भी द्रव्यनपुंसक दीक्षा के योग्य नहीं माने गये हैं। सदा दीक्षा के अयोग्य होने से सिद्ध है कि ये मुक्ति के अयोग्य हैं।

ऐसा होने पर भी षट्खण्डागम में नपुंसकवेदी को तीर्थकरप्रकृति का बन्धक एवं अनिवृत्तिकरणगुणस्थान के योग्य बतलाया गया है। अतः अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से सिद्ध है कि वह भावनपुंसक की अपेक्षा कथन है, अर्थात् उस मनुष्य को तीर्थकरप्रकृति का बन्धक बतलाया गया है, जो द्रव्यवेद की अपेक्षा पुरुष है, किन्तु भाववेद की अपेक्षा नपुंसक। यह भी षट्खण्डागम में वेदवैषम्य की स्वीकृति एवं तदाश्रित भावस्त्री-द्रव्यपुरुष-वाचक ‘मणुसिणी’ शब्द के प्रयोग का प्रमाण है।

१०.१०. ष. खं. में स्त्रीवेदी मनुष्य को उत्कृष्ट देव-नारकायु के बन्ध का कथन

षट्खण्डागम के वेदन-महाधिकारवर्ती वेदनकालविधान में स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी या नपुंसकवेदी मनुष्य को देवों और नारकियों की उत्कृष्ट आयु का बन्धक प्ररूपित किया गया है। यथा—

तथा कस्यचिद्देवशापात्तदुदयो जायते, इत्येतान् षट्नपुंसकान् निशीथोक्तविशेषलक्षणसम्भवे सति प्रव्राजयेदिति।” वही / पृ. २३१-२३२।

१२५. प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) / सिद्धसेनसूरि-शेखरकृत वृत्ति / गा. ७९४ / पृ. २३१-२३२।

१२६. क्षेमकीर्तिवृत्ति / बृहत्कल्पसूत्र / Vol.V, उद्देश्य ४ / भाष्यगाथा ५१६७ / पृ. १३७४-७५।

“अण्णदरस्स मणुस्सस्स वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स वा सण्णिस्स सम्माइ-
द्विस्स वा (मिच्छाइद्विस्स वा) सव्वाहि पज्जतीहि पज्जत्तयदस्स कम्मभूमियस्स वा कम्म-
भूमिपडिभागस्स वा संखेज्जवासाउअस्स इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णउंसय-
वेदस्स वा जलचरस्स वा थलचरस्स वा सागार-जागार-तप्पाओग्गसंकिलिद्वस्स वा
(तप्पाओगविसुद्धस्स वा) उक्कस्सियाए आबाधाए जस्स तं देवणिरयाउअं पढमसमए
बन्धंतस्स आउअवेयणा कालदो उक्कस्सा।” (ष.खं/पु.११/४,२,६,१२/पृ.११३)।

अनुवाद—“जो मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यच संज्ञी है, सम्यग्दृष्टि (अथवा मिथ्यादृष्टि) है, सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, कर्मभूमि या कर्मभूमिप्रतिभाग में उत्पन्न हुआ है, संख्यातवर्ष की आयुवाला है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपुंसकवेद से संयुक्त है, जलचर अथवा थलचर है, साकार उपयोग से सहित है, जागरूक है, तत्प्रायोग्य संक्लेश (अथवा विशुद्धि) से संयुक्त है, तथा जो उत्कृष्ट आबाधा के साथ देव व नारकियों की उत्कृष्ट आयु को बाँधनेवाला है, उसके बाँधने के प्रथम समय में आयुकर्म की वेदना, काल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है।”

१०.११. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री को उत्कृष्ट नारकायु के बन्ध का निषेध

किन्तु दिगम्बर, श्वेताम्बर और श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाले यापनीय, इन तीनों सम्प्रदायों में द्रव्यस्त्री को उत्कृष्ट नारकायु के बन्ध का निषेध है, क्योंकि उत्कृष्ट नारकायु सातवें नरक में होती है और सातवें नरक में जाने योग्य क्रूरपरिणाम स्त्री के नहीं होते, अतएव स्त्री की गति केवल छठवें नरक तक बतलाई गयी है। दिगम्बरपरम्परा के प्राचीन ग्रन्थ मूलाचार का कथन है—

आ पंचमिन्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवित्ति।

गच्छंति माधवीन्ति य मच्छा मणुया य ये पावा॥ ११५६॥

अनुवाद—“सिंह पाँचवी पृथ्वी तक जाता है, स्त्रियाँ छठी पृथिवी तक जाती हैं और जो पापी मत्स्य और मनुष्य होते हैं, वे सातवीं पृथिवी पर्यन्त जाते हैं।”

श्वेताम्बरपरम्परा में पण्णवणासुत्त बहुत पुराना ग्रन्थ माना जाता है, उसके प्रथम भाग (सूत्र ६४७ / पृ.१७४) में भी यही बात कही गयी है—

छट्ठि च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं।

एसो परमुववाओ बोधव्वो नरयपुढवीणं॥ १८४॥

अतः जब तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री के सातवें नरक की आयु बाँधने का निषेध है, तब सिद्ध हो जाता है कि षट्खण्डागम के उपर्युक्त सूत्र में उत्कृष्ट नारकायु

बाँधने का कथन भावस्त्री (शरीर से पुरुष और भाव से स्त्री) के ही विषय में किया गया है। यह षट्खण्डागम में वेदवैषम्य का एक अन्य उदाहरण है।

धवलाटीका में आचार्य वीरसेन ने भी यह बात स्पष्ट की है। वे कहते हैं—

“एत्थ भाववेदस्स गहणमण्णहा दव्वित्थिवेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बंधप्पसंगादो। ण च तेण सह तस्स बंधो, ‘आ पंचमी त्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति’ एदेण सुत्तेण सह विरोहादो।” (ष.खं/पु.११/४,२,६,१२/पृ.११४)।

अनुवाद—“यहाँ (उपर्युक्त ‘अण्णदरस्स’ इत्यादि १२ वें सूत्र में) भाववेद का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यवेद का ग्रहण करने पर द्रव्यस्त्रीवेद के साथ भी नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध का प्रसंग आता है। परन्तु उसके साथ नारकियों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध होता नहीं है। क्योंकि ‘पाँचवीं पृथ्वी तक सिंह और छठी पृथ्वी तक स्त्रियाँ जाती हैं’ इस सूत्र के साथ विरोध आता है।”

१०.१२. तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री को उत्कृष्ट देवायु के बन्ध का निषेध

द्रव्यस्त्री उत्कृष्ट देवायु का भी बन्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसके पास न तो वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है, न ही वह निर्ग्रन्थलिंग धारण कर सकती है। दिगम्बरसिद्धान्त के अनुसार वज्रवृषभनाराच-संहननवाला (गो.क./गा.२९-३०) तथा निर्ग्रन्थलिंगधारी पुरुष ही पाँच अनुत्तर विमानों के देवों की उत्कृष्ट आयु बाँध सकता है।^{१२७} श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से भी यही सिद्ध होता है। श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रकरणरत्नाकर में कहा गया है—

दो पढमपुढविगमणं छेवट्टे कीलियाइ संघयणे।
इक्कक्कपुढवि बुट्ठी आइतिलेस्साउ नरएसुं॥^{१२८}

अनुवाद—“छठे (असंप्राप्तासृपाटिका) संहननवाला जीव पहले-दूसरे नरक तक जा सकता है। दूसरे संहननवाला तीसरे नरक तक, तीसरे संहननवाला चौथे नरक तक, चौथे संहननवाला पाँचवें नरक तक, पाँचवें संहननवाला छठे नरक तक और वज्रवृषभनाराच-संहननवाला सातवें नरक तक जा सकता है।”

और स्त्री सातवें नरक में जाती नहीं है, छठे नरक तक ही जाती है। यह भी प्रकरणरत्नाकर का कथन है—

१२७. ततो परं तु णियमा तवदंसणणाणचरणजुत्ताणं।

णिग्गंथाणुववादो जाव दु सव्वट्टिसिद्धित्ति॥ ११७८॥ मूलाचार।

१२८. प्रकरणरत्नाकार/भाग ४/संग्रहणीसूत्र/गाथा २३६।

असिनि सरिसिव पक्खी ससीह उरगिंछि जंति जा छट्ठि।
कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणुय मच्छा ॥^{१२९}

अनुवाद—“असैनी जीव पहले नरक तक, पेट के सहारे रेंगनेवाले गोह, नेवला आदि दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह आदि पशु चौथे नरक तक, उरग पाँचवें नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और मनुष्य तथा मत्स्य सातवें नरक तक जा सकते हैं।”

चूँकि वज्रवृषभनाराच-संहननधारी ही सातवें नरक तक जा सकता है और स्त्री सातवें नरक में जाती नहीं है, इससे सिद्ध है कि उसके वज्रवृषभनाराच-संहनन नहीं होता। तथा प्रकरणरत्नाकर का कथन है कि प्रथम संहननवाले जीव में ही अच्युत स्वर्ग से ऊपर जाने की क्षमता है—

छेवट्टेण उ गम्मइ चउरो जा कप्पकीलियाइंसु।
चउसु दु दु कप्प वुट्ठी पढमेणं जाव सिद्धी वी ॥^{१३०}

अनुवाद—“छठे संहननवाला चौथे स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है, पाँचवें संहननवाला पाँचवें-छठे स्वर्ग तक, चौथे संहननवाला सातवें-आठवें स्वर्ग तक, तीसरे संहननवाला नौवें-दसवें स्वर्ग तक और दूसरे संहननवाला ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकता है। जो प्रथम संहननवाला है वह उससे ऊपर अहमिन्द्रों में उत्पन्न हो सकता है और मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।”

इस प्रकार श्वेताम्बरों और श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाले यापनीयों की मान्यता के अनुसार भी द्रव्यस्त्री प्रथम-संहननधारी न होने से अच्युत स्वर्ग से ऊपर जन्म नहीं ले सकती। इससे सिद्ध है कि जब वह प्रैवेयकदेवों की आयु का भी बन्ध नहीं कर सकती, तब अनुत्तर विमानों के देवों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध तो हरगिज नहीं कर सकती। फिर भी षट्खण्डागम के पूर्वोद्धृत सूत्र (पु.११/४,२,६,१२/पृ.११३) में स्त्रीवेदवाले मनुष्यों के उत्कृष्ट देवायु के बन्ध का विधान किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वहाँ भावस्त्रीवेदवाले मनुष्य से तात्पर्य है, द्रव्यस्त्रीवेदवाले से नहीं। अर्थात् उक्त सूत्र में उस मनुष्य को उत्कृष्ट देवायु का बन्धक कहा गया है, जो द्रव्य से तो पुरुषवेदी (पुरुषशरीरवाला) है, किन्तु भाव से स्त्रीवेदी। इससे भी षट्खण्डागम में वेदवैषम्य की स्वीकृति एवं तदाश्रित भावस्त्री-द्रव्यपुरुष-वाचक 'मणुसिणी' शब्द का प्रयोग होना प्रमाणित होता है।

१२९. प्रकरणरत्नाकार / भाग ४ / संग्रहणीसूत्र / गाथा २३४ / पृ.१३५।

१३०. प्रकरणरत्नाकार / भाग ४ / संग्रहणीसूत्र / गाथा १६० / पृ.१००।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धवला टीका में स्पष्ट किया है कि उक्त 'अण्णादरस्स' इत्यादि सूत्र में स्त्रीवेदी से भावस्त्री अर्थ ही ग्राह्य है—

“ण च देवाणं उक्कस्साउअं दव्विथ्थिवेदेण सह बन्धइ, णियमा णिगंगथलिंगेणे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्विथ्थीणं णिगंगथत्तमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिगंगथत्ताभावादो। ण च दव्विथ्थि-णवुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो।” (धवला / ष.खं / पु.११ / ४, २, ६, १२ / पृ.११४-११५)।

अनुवाद—“देवों की भी उत्कृष्ट आयु द्रव्यस्त्रीवेद के साथ नहीं बँधती, क्योंकि “अच्युत कल्प से ऊपर नियमतः निर्ग्रन्थलिंग से ही उत्पन्न होते हैं” (मूलाचार/गा.११७७-११७८), इस सूत्र के साथ विरोध आता है। और द्रव्यस्त्रियों के निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि-परित्याग के बिना उनके भावनिर्ग्रन्थता का अभाव है। द्रव्यस्त्रीवेदी व द्रव्यनपुंसकवेदी वस्त्रादि का त्याग करके निर्ग्रन्थलिंग धारण कर सकते हैं, ऐसी संभावना करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर छेदसूत्र के साथ विरोध होता है।”

प्राचीन श्वेताम्बरीय ग्रन्थ पण्णवणासुत्त में भी मणुस्सी को उत्कृष्ट आयु का बन्धक बतलाया गया है, यथा—

“उक्कोसकालठितीयं णं भंते! आउअं कम्मं किं णेरइयो बंधइ, जाव देवी बंधइ? गोयमा! णो णेरइयो बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधति, णो तिरिक्खजोणिणी बंधति। मणुस्सो वि बंधति, मणुस्सी वि बंधति, णो देवो बंधति, णो देवी बंधइ।” (भाग १ / सूत्र १७४९ / पृ.३८४)।

इस विवरण में मणुस्सी (मानुषी) को उत्कृष्ट आयु का बन्धक बतलाया गया है। उत्कृष्ट आयु सातवें नरक के नारकियों और सर्वार्थसिद्धि के देवों की होती है। किन्तु इसी प्रज्ञापनासूत्र में द्रव्यमानुषियों की सातवें नरक में उत्पत्ति का निषेध किया गया है। यथा—

“अधेसत्तमापुढवि-नेरइया णं भंते! कतोहितो उक्कवज्जंति? गोयमा! एवं चेव। नवरं इत्थीहितो (वि) पडिसेधो कातव्वो।” (सूत्र ६४६ / पृ.१७४)। अतः स्पष्ट है कि 'पण्णवणासुत्त' के उपर्युक्त उद्धरण में 'मणुस्सी' शब्द भावमानुषी के अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि उसको उत्कृष्ट देवों और नारकियों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध संभव है।

सर्वार्थसिद्धि की भी उत्कृष्ट आयु का बन्ध द्रव्यमानुषी नहीं कर सकती, यह भी दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय, तीनों परम्पराओं को मान्य है। इसका भी सप्रमाण विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार षट्खण्डागम में भावस्त्रीवेदी पुरुष को तीर्थंकरप्रकृति, उत्कृष्ट देवायु एवं उत्कृष्ट नारकायु के बन्ध का प्रतिपादन किये जाने से सिद्ध है कि उसमें वेदवैषम्य स्वीकार किया गया है और उसके आधार पर ऐसे पुरुष को मणुसिणी शब्द से अभिहित किया गया है, जो द्रव्य (शरीर) से तो पुरुष है, किन्तु भाव से स्त्री। और ऐसी ही मणुसिणी को षट्खण्डागम में 'संजद' (संयत) गुणस्थान की प्राप्ति, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, तथा नारकायु एवं देवायु की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध बतलाया गया है। यापनीयमत में यह वेदवैषम्य मान्य नहीं है। इससे भी सिद्ध है कि षट्खण्डागम यापनीयमत का ग्रन्थ नहीं है, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। यह षट्खण्डागम के यापनीयग्रन्थ न होने का नौवाँ प्रमाण है। अगले प्रकरण में यापनीयों की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियों का निरूपण और निरसन किया जा रहा है।



पंचम प्रकरण

यापनीयों की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियों का निरसन

१

यापनीय-आचार्य शाकटायन की वेदवैषम्यविरोधी युक्तियाँ

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य तथा षट्खण्डागम में प्रतिपादित वेदवैषम्य यापनीयों को अमान्य है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन (नौवीं शताब्दी ई०) ने वेदवैषम्य को अप्रामाणिक घोषित किया है। उन्होंने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में एक लघुकाय ग्रन्थ स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण लिखा है। उसमें स्त्रीमुक्ति की पुष्टि के लिए अनेक तर्क दिये हैं और दिगम्बरग्रन्थों में जिन तर्कों से स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है, उन तर्कों का अपने मतानुसार खण्डन किया है। शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में आगमप्रमाण देते हुए कहा है कि मथुरागम (मथुरावाचना में संकलित श्वेताम्बर-आगम उत्तराध्ययनसूत्र) के कथनानुसार एक समय में ८०० पुरुष, २० स्त्रियाँ और १० नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।^{१३१} इस तरह स्त्रीमुक्ति आगम से समर्थित है।

इस पर दिगम्बराचार्य कहते हैं कि यह ठीक है कि मथुरागम में इस प्रकार का कथन है, पर हमारा मानना है कि वहाँ 'स्त्री' शब्द का आशय स्तन, गर्भाशय आदि अंगों से युक्त द्रव्यस्त्री नहीं है, अपितु भावस्त्रीवेद के उदय से युक्त द्रव्यपुरुष है, जिसे आगम में भावस्त्री कहा गया है। इस तरह आगम में जो यह कथन है कि एक समय में २० स्त्रियाँ सिद्ध हो सकती हैं, उसका अर्थ यह है कि एक समय में २० भावस्त्रियाँ अर्थात् भावस्त्रीवेद के उदय से युक्त २० पुरुष सिद्ध हो सकते हैं।^{१३२} दिगम्बराचार्यों का कथन है कि षट्खण्डागम आदि दिगम्बरग्रंथों में 'मणुसिणी'

१३१. क— अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरागमः (माहुरागमे) सिद्धिः (सिद्धम्)।

स्त्रीणां न मनुष्ययोगे गौणार्थो मुख्यहानिर्वा ॥ ३४ ॥ स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।

ख— "This is the principal scripture regarding Siddhahood, which says that in any moment eight hundred men attain mokṣa and (twenty) women."
(Translation of the above कारिका by Padmanabh S. Jaini, Gender And Salvation, p.76).

ग— "---इस गाथा का अर्थ यह है कि एक समय में आठ सौ पुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं---।" प्रो. उदयचन्द्र जैन : न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन / पृ. ४५१।

घ— दस चैव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य।

पुरिसेसु य अट्टसयं समण्णेगेण सिज्झइ ॥ ३६ / ५१ ॥ उत्तराध्ययन सूत्र।

१३२. (The opponent) might say : True, there does indeed exist (such a scripture)

शब्द का प्रयोग भावस्त्री के अर्थ में भी किया गया है। कर्म-सिद्धान्तीय भाषा में भावस्त्री उस मनुष्य को कहा गया है, जो भाव से स्त्री है, किन्तु द्रव्य से पुरुष। मनुष्य को द्रव्यपुरुष बनाने वाला कारण है पुरुषांगोपांग नामक नामकर्म का उदय और द्रव्यपुरुष को भाव से स्त्री बनानेवाला कारण है स्त्रीवेद नामक नोकषाय-कर्म का उदय, जो द्रव्यपुरुष में स्त्री जैसा स्वभाव या प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर देता है और जिसके कारण उसमें द्रव्यस्त्री जैसी कुछ अयोग्यताएँ आ जाती हैं। (देखिये, पीछे प्र. ४/शीर्षक १०.४), इस भावस्त्रीत्ववाले द्रव्यपुरुष के लिए षट्खण्डागम आदि दिगम्बरजैनग्रन्थों में 'मनुष्यिनी' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा द्रव्यस्त्री के लिए भी यह शब्द यथाप्रसंग प्रयुक्त हुआ है।

पाल्यकीर्ति शाकटायन 'स्त्री' या 'मनुष्यिनी' शब्द से सर्वत्र लोकप्रसिद्ध द्रव्यस्त्री अर्थ न लेने पर आपत्ति उठाते हैं। चूँकि दिगम्बरजैनग्रन्थों में वेदवैषम्य के आधार पर मनुष्यिनी शब्द का प्रयोग भावस्त्रीवेद के उदय से युक्त द्रव्यपुरुष के लिए भी किया गया है, अतः शाकटायन वेदवैषम्य के सिद्धान्त को ही अनुचित ठहराते हैं। वेदवैषम्य को अस्वीकार करते हुए वे स्त्रीनिर्वाणप्रकरण में कहते हैं कि पुरुषशरीर में स्त्रीवेद का उदय होता है, इसका कोई प्रमाण नहीं है—न च पुन्देहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गं च ॥ ३८ ॥

वे उक्त ग्रन्थ में आगे कहते हैं कि "यदि पुरुष में स्त्रीवेद का उदय हो और स्त्री में पुरुषवेद का, तो पुरुष का पत्नीरूप में और स्त्री का पतिरूप में परस्पर विवाह होने में कोई बाधा नहीं होगी तथा इससे एक बड़ी समस्या यह खड़ी होगी कि स्त्रीवेदी-पुरुषमुनि और पुरुषवेदी-पुरुषमुनि के साथ-साथ एक संघ में रहने पर ब्रह्मचर्यभंग की घटनाएँ घटेंगी। इसलिए वेदवैषम्य अप्रामाणिक है"—

पुंसि स्त्रियां स्त्रियां पुंसि अतश्च तथा भवेद् विवाहादिः।

यतिषु न संवासादिः स्यादगतौ निष्प्रमाणेष्टिः ॥ ४१ ॥^{१३३}

that mentions the nirvāṇa of women, we do not reject this. We submit, however, that the word "Woman" here refers not to a woman physically endowed with breasts and the birth canal, but instead to a particular type of male who (temporarily) possesses a woman's sexual desire (for a man). Moreover, the word "Woman" is used conventionally by people for a man who has the nature of a woman. For example, seeing a eunuch who is devoid of manliness, people say that he is a woman, not a man". (Gender And Salvation, by Padmanabh S. Jaini, Page76, Para 96).

१३३. "If a "Woman" were to exist in a male body and a "man" in a female body, then it would be possible to have marriage between people of the same sex. Furthermore, monks would not be able to live together." (Gender And Salvation, by Padmanabh S. Jaini, page 87).

वे पुनः कहते हैं—“हम लोक में देखते हैं कि कभी बैल गाय पर आरूढ़ हो जाता है और कभी गाय बैल पर। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि गाय में पुरुषवेद का उदय है और बैल में स्त्रीवेद का, क्योंकि यह प्रवृत्ति नियमित नहीं, अपितु अनियमित होती है।”—

अनुडुह्याऽनड्वाहीं दृष्टाऽनड्वाहमनुडुहाऽऽरूढम्।

स्त्रीपुंसेतरवेदो वेद्यो नाऽनियमतो वृत्तेः ॥ ४२ ॥^{१३४}

स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण।

फिर वे कहते हैं—“जैसे मुनि में मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रियरूप लब्धि प्रकट होती है और इसके प्रकट होने पर नामकर्म के उदय से भावेन्द्रियों के अनुसार द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है, वैसे ही मोहनीयकर्म-जनित स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपुंसकवेद का उदय होने पर अंगोपांगनामकर्म के द्वारा उन भाववेदों के अनुरूप ही द्रव्यस्त्रीवेद, द्रव्यपुरुषवेद या द्रव्यनपुंसकवेद की रचना होती है। इस प्रकार जीवों में द्रव्यवेद और भाववेद समान होते हैं। अतः यह कथन गलत है कि स्त्री में पुरुषवेद का उदय हो सकता है और पुरुष में स्त्रीवेद का”—

नाम तदिन्द्रियलब्धेरिन्द्रियनिर्वृत्तिमिव प्रमाद्यङ्गम्।

वेदोदयाद् विरचयेद् इत्यतदङ्गेन तद्वेदः ॥ ४३ ॥

स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि पुरुषशरीर में पुरुषवेद की ही उत्पत्ति होती है और स्त्री शरीर में स्त्रीवेद की ही, तो लोक में ऐसे पुरुष क्यों दिखाई देते हैं, जो दूसरे पुरुषों के साथ स्त्रीवत् व्यवहार करते हैं अथवा कोई स्त्री अन्य स्त्री के साथ पुरुषवत् आचरण करती है? इसके उत्तर में शाकटायन कहते हैं कि यह मनुष्य के अपने ही भाववेद का विकृत परिणाम है। जैसे कोई कामोदीप्त पुरुष, कामातुर स्त्री की प्राप्ति न होने पर पशु के साथ मैथुन करता है, तो यह उसके पुरुषवेद की ही विकृत अभिव्यक्ति है। यह नहीं माना जा सकता कि वह तिर्यग्वेद के उदय से ऐसा करता है। इसी प्रकार जो पुरुष, पुरुष के साथ स्त्रीवत् काम व्यवहार करता है, वह अपने पुरुषवेद के ही विकृत परिणाम से ऐसा करता है। और जो स्त्री,

१३४. "Having seen a cow mounted by a bull or a cow mounting a bull, this does not allow us to determine the sexual feeling (veda) of those animals as either male, female, or hermaphrodite. This is because such behaviour is not fixed (i.e., it is transient)." (Gender And Salvation, by Padmanabh S. Jaini, page 86).

स्त्री के साथ कामाचरण करती है, उसके पीछे भी उसके स्त्रीवेद की ही विकृत अभिव्यक्ति कारण है। इस तरह शाकटायन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुरुषों के स्त्रैणव्यवहार में तथा स्त्री के पुरुषवत् व्यवहार में वेदवैषम्य कारण नहीं है, अपितु पुरुष और स्त्री के अपने-अपने वेद का विकृत परिणामन कारण है। शाकटायन ने अपना यह मन्तव्य निम्नलिखित श्लोक में प्रकट किया है—

या पुंसि च प्रवृत्तिः, पुंसि स्त्रीवत्, स्त्रियाः स्त्रियां च स्यात्।
सा स्वकवेदात् तिर्यग्बदलाभे मत्तकामिन्याः ॥ ४४ ॥

स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण।

इस श्लोक का स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तररूप में श्री पद्मनाभ एस. जैनी ने इस प्रकार किया है—

(opponent :) If, as you maintain, male sexuality arises only in a male body and so forth, and not otherwise, then how is it that we observe that men behave like women toward other men?

(Yāpaniya :) To this claim we answer : If there would be a man who behaves like a woman toward another man, or a woman (who behaves like a man) toward another woman, (in both cases, such sexual behavior) is the result of one's own sexuality. This is just as, in the absence of a lusty female, a human being might approach an animal.

This male sexual behaviour would be the result of the arising of their own male sexuality, and not because of the arising of female sexuality. In the absence of a sexually aroused woman, cowherds and other human beings might engage in sexual activities with animals out of lust, that perverted behaviour, however, can not be said to be due to the presence of bestial sexuality (tiryak-bhāva), but is instead a (perverted expression) of their human sexuality. The same thing would apply here also (in the case of a man behaving like a woman toward another man), for the arousal of sexual feelings can take various forms. Therefore, based solely on your presumption concerning the manifestation of a different type of sexuality in a man whose behaviour is of that type, it is not proper to assert that the scriptural passage relating to the nirvāna of women should be so construed as to say that the word "women" there refers not to women but to men who experience female sexuality." (Gender And Salvation, pp. 89-90).

इस तरह यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन षट्खण्डागम में प्रतिपादित वेदवैषम्य के सिद्धान्त को अप्रामाणिक मानते हैं। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम

यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है। यदि होता, तो एक यापनीय-आचार्य अपने ही सम्प्रदाय के ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त को अप्रामाणिक कैसे सिद्ध करता ?

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में श्वेताम्बर-आगम उत्तराध्ययनसूत्र (मथुरागम) से ही प्रमाण दिया है, षट्खण्डागम से नहीं। उन्होंने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में न तो षट्खण्डागम-सत्प्ररूपणा के सूत्र क्रमांक ९३ में आये 'संजद' शब्द की चर्चा की है, न 'मणुसिणी' शब्द का उससे सम्बन्ध जोड़ा है। यद्यपि यह कहा है कि आगम में मनुष्यों और मानुषियों के चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं, तथापि आगम से उनका अभिप्राय षट्खण्डागम से है, ऐसा स्पष्ट नहीं किया। षट्खण्डागम के अतिरिक्त अन्य दिगम्बरग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि में गुणस्थानों की चर्चा है और श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास, में है, जो कि छठी शताब्दी ई० का है। संभव है इनमें से किसी ग्रन्थ के आधार पर शाकटायन ने मानुषी में चौदह गुणस्थानों के अस्तित्व का प्रमाण दिया हो। इससे भी स्पष्ट है कि शाकटायन षट्खण्डागम को अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं मानते थे, मथुरागम आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को ही अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ स्वीकार करते थे।

पुरुष के लिए प्रयुक्त 'स्त्री' शब्द मुख्य शब्द नहीं, गौण या उपचरित—
यापनीयाचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन का कथन है—

स्तनजघनादिव्यङ्ग्ये 'स्त्री' शब्दोऽर्थे न तं विहायैषः।

दृष्टः क्वचिदन्यत्र त्वग्निर्माणवकवद् गौणः॥ ३६॥

स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण।

अन्वय—'स्त्री' शब्दः स्तनजघनादिव्यङ्ग्ये अर्थे (प्रसिद्धः)। एषः (शब्दः) तं (अर्थ) विहाय क्वचित् न दृष्टः। अन्यत्र तु अग्निर्माणवकवद् गौणः।

अनुवाद—'स्त्री' शब्द स्तन-जघन आदि शरीरावयवों से युक्त जीव के अर्थ में प्रसिद्ध है। इस अर्थ को छोड़कर वह अन्य किसी अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है। अन्य (स्त्रैणभावों से युक्त पुरुष) अर्थ में प्रयुक्त 'स्त्री' शब्द गौण (उपचरित) शब्द होता है, मुख्य शब्द नहीं।

अभिप्राय यह कि जैसे अग्निर्माणवकः (यह बालक तो आग है) इस वाक्य में बालक के लिए अग्नि शब्द का प्रयोग अग्निरूप मुख्य अर्थ में नहीं, अपितु अग्नि के समान अत्यन्त उग्र अर्थात् अत्यन्त क्रोधी-स्वभाव-वाला इस गौण अर्थ में किया गया है, वैसे ही स्त्री-जैसी प्रवृत्तियोंवाले किसी पुरुष को जब स्त्री कहा जाता है,

तब 'स्त्री' शब्द का प्रयोग स्तन-जघन आदि अवयवों वाली महिला इस मुख्य अर्थ में नहीं किया जाता, बल्कि स्त्रीसदृश प्रवृत्तियों वाला पुरुष इस गौण या उपचरित अर्थ में किया जाता है। अतः उक्त पुरुष के लिए प्रयुक्त 'स्त्री' शब्द गौण या उपचरित होता है, मुख्य नहीं।

पाल्यकीर्ति शाकटायन कहते हैं—

अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरागमः (माहुरागमे) सिद्धिः।

स्त्रीणां न मनुष्ययोगे गौणार्थो मुख्यहानिर्वा ॥ ३४ ॥^{१३५}

शब्दनिवेशनमर्थः प्रत्यासत्त्या क्वचित् कयाचिदतः।

तदयोगे योगे सति शब्दस्याऽन्यः कथं कल्प्यः ॥ ३५ ॥

स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण।

अनुवाद—“सिद्धि (मोक्ष) के विषय में आदि (प्रधान) आगम (जिनोपदेश) यह है कि एक समय में आठ सौ पुरुषों की सिद्धि होती है और (बीस) स्त्रियों की। (यहाँ 'स्त्री' शब्द से भावस्त्रीरूप अर्थात् स्त्रैणभावयुक्त-पुरुषरूप गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि) शब्द का गौण अर्थ वहीं लिया जाता है, जहाँ मुख्य अर्थ उपपन्न न हो। (यहाँ 'स्त्री' शब्द का 'स्तन-जघनादियुक्त शरीरधारी' यह मुख्यार्थ उपपन्न है, क्योंकि उसे मोक्ष प्राप्त होता है। अतः आगम में द्रव्यस्त्रियों की ही मुक्ति का कथन है)।” (३४)।

“अर्थ शब्द में अन्तर्निहित होता है, तथापि जब किसी शब्दविशेष या अर्थविशेष के सान्निध्य से मुख्यार्थ अनुपपन्न होता है, तब कहीं शब्द में स्वभावतः न रहनेवाला अर्थ उससे लक्षित होता है। किन्तु यदि शब्द का मुख्यार्थ उपपन्न है, तो उससे गौणार्थ कैसे ग्रहण किया जा सकता है?” (३५)।

इन श्लोकों में भी शाकटायन ने 'स्त्री' शब्द से 'द्रव्यस्त्री' अर्थ ही ग्रहण करने को युक्तिसंगत ठहराया है।

१३५. "A secondary meaning is not to be applied where the primary meaning is appropriate. 'Male' is a secondary meaning of the word 'Woman', 'female' is its only primary meaning. And given this primary meaning, the impossibility of nirvāṇa is not proved for women who are endowed with breasts and birth canals. In this context, the following rule is applicable : "Where both the primary and secondary meanings are possible, the primary meaning should be accepted". Therefore it is inappropriate to construe "woman" in its secondary meaning. (Even if the secondary meaning were to be applicable, it would still not be proper) to abandon the primary meaning". (Gender And Salvation, by Padmanabh S. Jaini, pp. 76-77, para 97).

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि शाकटायन ने स्त्रीसदृशस्वभाववाले पुरुष के लिए प्रयुक्त 'स्त्री' शब्द को गौण या उपचरित शब्द माना है। इस उपचरित शब्द के प्रयोग का प्रयोजन पुरुष के स्त्रीसदृशस्वभाव को द्योतित कर हास-परिहास, कटाक्ष आदि करना होता है। अतः इस प्रयोजन के होने पर ही स्त्रैण पुरुष के लिए 'स्त्री' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, सामान्य व्यवहार में नहीं। इसका कारण यह है कि ऐसा प्रयोग अस्वाभाविक या असत्य होता है, इसलिए उससे युक्तिसंगत व्यवहार की सिद्धि नहीं होती। शाकटायन की उक्त मान्यता से यह तर्क फलित होता है कि आगम में हास-परिहास, कटाक्ष (व्यंग्य) आदि करने का प्रयोजन नहीं होता, अतः उसमें 'स्त्री' शब्द का प्रयोग भावस्त्रीवेदयुक्त-पुरुष के अर्थ में नहीं, अपितु द्रव्यस्त्री के ही अर्थ में हुआ है। इसलिए द्रव्यस्त्री का मोक्ष होना आगमसम्मत है।

यद्यपि आगम में पुद्गलसंयुक्त मनुष्यादि जीवपर्यायों को उपचार से जीव कहा गया है, पुद्गलकर्मों की उत्पत्ति के निमित्तभूत जीव को उपचार से उनका कर्ता बतलाया गया है तथा शुद्धोपयोग का साधक होने की अपेक्षा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को उपचार से 'मोक्षमार्ग' संज्ञा दी गयी है, किन्तु इसका प्रयोजन स्थूल से सूक्ष्म या दृश्य से अदृश्य-उपदेशपद्धति के द्वारा आत्मादि पदार्थों के स्वरूप को बोधगम्य बनाकर शिष्यों को ज्ञानी बनाना है (स.सा./गा.८, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका ६), परिहासादि करना नहीं। किन्तु किसी पुरुष को स्त्री कहकर उसके स्त्रैणभावों की जो व्यंजना की जाती है, उससे श्रोताओं को किसी अज्ञात तथ्य का ज्ञान नहीं होता, श्रोता भी उसके स्त्रैणभावों का अनुभव करते हैं, अतः उसका एकमात्र प्रयोजन उपचारकथनपद्धति (लक्षणा-व्यंजना-शक्ति) के प्रभाव से हास-परिहास, कटाक्ष आदि करना ही होता है। ऐसे उपचार या उपचरित शब्द का प्रयोग आगम में नहीं होता।

२

शाकटायन की वेदवैषम्य-विरोधी युक्तियों का निरसन

१. शाकटायन ने कहा है कि पुरुष में स्त्रीवेद के तथा स्त्री में पुरुषवेद के उदय का कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु पूर्व में दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों से इसके अनेक प्रमाण दिये जा चुके हैं। षट्खण्डागम में जिस मणुसिणी को तीर्थंकरप्रकृति, उत्कृष्ट देवायु और उत्कृष्ट नारकायु का बन्ध बतलाया गया है, वह भावमानुषी ही है और वह भावमानुषीत्व वेदवैषम्य (द्रव्यपुरुष में भावस्त्रीवेद के उदय) पर ही आश्रित है। इससे पाल्यकीर्ति शाकटायन की यह मान्यता भी निरस्त हो जाती है, कि आगम में 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल 'द्रव्यस्त्री' के अर्थ में किया गया है।

२. शाकटायन वेदवैषम्य नहीं मानते, किन्तु यह स्वीकार करते हैं कि कोई पुरुष किसी अन्य पुरुष के साथ स्त्रीवत् व्यवहार करते हुए देखा जाता है और कोई स्त्री किसी अन्य स्त्री के साथ पुरुषवत् व्यवहार करते हुए। यह वेदवैषम्य की ही स्वीकृति है। इसे शाकटायन ने पुरुषवेद की स्त्रीवेद के रूप में और स्त्रीवेद की पुरुषवेद के रूप में विकृत अभिव्यक्ति मानी है। इस विकृति की उत्पत्ति ही वेद के विषम हो जाने का लक्षण है। शाकटायन के अनुसार भले ही यह अस्थायी हो, पर है सत्य।

३. पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्वीकार किया है कि लोक में स्त्रैणभावों से युक्त पुरुष के लिए गौणरूप से (उपचारतः) स्त्री शब्द का प्रयोग होता है। इससे सिद्ध है कि किसी पुरुष में भावस्त्रीत्व की सत्ता होना एक तथ्य है, जिसे षट्खण्डागम, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि दिगम्बरग्रन्थों में प्ररूपित किया गया है।

४. लोक में केवल स्तन-योनि आदि अवयवों से युक्त मानवशरीरधारी को ही स्त्री कहा जाता है, इसलिए किसी स्त्रैणभावयुक्त पुरुष को स्त्री कहना 'स्त्री' शब्द का गौणरूप या उपचाररूप से प्रयोग माना जाता है। किन्तु षट्खण्डागम आदि दिगम्बरजैन-ग्रन्थों में विग्रहगतिवाले शरीररहित जीव के लिए केवल मनुष्यगतिनामकर्म एवं स्त्रीवेदनोकषायकर्म के उदय से मनुष्यिनी शब्द का उसी प्रकार मुख्यरूप से प्रयोग किया गया है, जिस प्रकार स्तनयोनि आदि अंगोपांगों से युक्त मनुष्यजातीय जीव के लिए किया गया है। (देखिये, पूर्वशीर्षक १०.१ एवं १०.४)। अतः उक्त ग्रन्थों में स्त्रैणभावों से युक्त पुरुष के लिए किया गया 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग गौण या उपचरित नहीं है।

दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय आगमों के अनुसार मनुष्य की स्त्रैणभावयुक्त पुरुष-पर्याय कोई काल्पनिक पर्याय नहीं है, अपितु भावस्त्रीवेद और द्रव्यपुरुषवेद के उदय से उत्पन्न वास्तविक अवस्था है। और आगम में उक्त प्रकार के मनुष्य को मुख्यवृत्त्या मणुसिणी या मानुषी कहा गया है, अतः इस नाम को गौणार्थरूप से या लाक्षणिकरूप से प्रयुक्त मानने की आवश्यकता नहीं है। षट्खण्डागम, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि दिगम्बरजैनशास्त्र कोई उपन्यास, कथाग्रन्थ या नाट्यग्रन्थ नहीं हैं, जिनमें हास-परिहास, कटाक्ष आदि करने के लिए किसी स्त्रैणभावयुक्त पुरुषपात्र को उपचार से स्त्री, मनुष्यिनी अथवा मानुषी शब्द से अभिहित किया जाय। वे सिद्धान्तग्रन्थ हैं। उनका प्रयोजन कर्मसिद्धान्त के अनुसार निर्धारित किये गये मनुष्य, मनुष्यिनी आदि नामवाले जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण करना है। यह जीवों को गौण, उपचरित या लाक्षणिक शब्द अर्थात् परशब्द से अभिहित किये जाने पर संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर अन्य के विषय में किया गया निरूपण किसी अन्य के विषय में

किया गया मान लिया जायेगा, जिससे सम्पूर्ण निरूपण मिथ्या हो जायेगा। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में भावस्त्रीवेदयुक्त पुरुष को मुख्यवृत्त्या ही 'मणुसिणी' या 'मानुषी' शब्द से अभिहित किया गया है।

लोकभाषा और आगमभाषा में सर्वत्र समानता नहीं होती। 'मणुसिणी' शब्द लोकभाषा में भले ही केवल द्रव्यस्त्री का वाचक हो, किन्तु आगमभाषा में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री (भावस्त्री-वेद के उदय से युक्त पुरुष) दोनों का वाचक है। जिनागम में वह दो प्रकार की स्त्रियों का वाचक होने से अनेकार्थक शब्द है। अतः दोनों अर्थों में वह मुख्यार्थरूप से ही प्रयुक्त हुआ है और प्रकरण आदि के द्वारा यह निश्चित होता है कि वह वहाँ द्रव्यस्त्री का वाचक है या भावस्त्री का। अतः आगम में जहाँ मानुषी या स्त्री के सिद्ध होने का कथन है, वहाँ भावस्त्री से ही अभिप्राय है, द्रव्यस्त्री से नहीं।

५. शाकटायन मानते हैं कि स्त्रीवेद का उदय होने पर नामकर्म स्त्रीशरीर का निर्माण करता है, पुरुषवेद का उदय होने पर पुरुषशरीर का और नपुंसकवेद के उदय में नपुंसक शरीर का। इस तरह प्रत्येक जीव के द्रव्यवेद और भाववेद में सदा साम्य रहता है। किन्तु ज्ञातृधर्मकथाङ्ग में मल्लीकथा के प्रकरण में ऐसा नहीं बतलाया गया है। उसमें तो यह बतलाया गया है कि महाबल ने स्त्रीनामगोत्रकर्म अर्जित किया था, उसी के कारण तीसरे भव में स्त्रीशरीर प्राप्त हुआ था। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रीनामगोत्रकर्म में ही स्त्रीशरीर के निर्माण की योग्यता है, उसके लिए भावस्त्रीवेद के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। उदयागत भाववेद के निमित्त से द्रव्यवेद का उदय या रचना होती है, यह मत आगम और युक्ति के विरुद्ध है, इसका युक्तिप्रमाणपूर्वक प्रतिपादन आगे अष्टम प्रकरण में द्रष्टव्य है।

६. पाल्यकीर्ति शाकटायन ने वेदवैषम्य की मान्यता को अनुचित ठहराने के लिए एक कारण यह बतलाया है कि उससे मुनिसंघ में साथ रहनेवाले पुरुषवेदी और स्त्रीवेदी मुनियों के बीच ब्रह्मचर्यभंग होने की स्थिति आ सकती है। किन्तु वेदवैषम्य को न मानते हुए भी पाल्यकीर्ति ने यह स्वीकार किया है कि भाववेदसामान्य के विकृत परिणामन से एक पुरुष में दूसरे पुरुष के साथ पुरुषवत् या स्त्रीवत् रमण करने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है। अतः इस मानवस्वभाव के कारण भी संघ के मुनियों में उक्त स्थिति का आना संभव है। यदि इस मानवस्वभाव के कारण उक्त स्थिति नहीं आ सकती, तो वेदवैषम्यजनित स्वभाव के कारण भी नहीं आ सकती। और वेदवैषम्य के कारण शाकटायन ने जो समलैंगिक विवाह की संभावना प्रकट की है, वह तो समलैंगिक सम्बन्ध के रूप में अनादिकाल से प्रचलित है तथा पाश्चात्य देशों

में तो अब समलैंगिक विवाह को कानूनी मान्यता भी मिल गयी है। (देखिए, पूर्वशीर्षक १०)। इन तथ्यों से वेदवैषम्य की सत्यता सिद्ध होती है।

इस तरह पाल्यकीर्ति शाकटायन ने वेदवैषम्य को अप्रामाणिक सिद्ध करने की जो चेष्टा की है, वह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मान्य आगमों के विरुद्ध है तथा लोक में दृश्यमान प्रत्यक्ष प्रमाणों के भी प्रतिकूल है।



षष्ठ प्रकरण

‘मणुसिणी’ शब्द केवल द्रव्यस्त्रीवाचक : इस मत का निरसन

षट्खण्डागम, सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक के पूर्वोक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-कर्मसाहित्य में मनुषी या मणुसिणी (मनुष्यिनी) शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अतः षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में जहाँ ‘मनुषी’ या ‘मणुसिणी’ में संयतगुणस्थान बतलाये गये हैं, वहाँ द्रव्यस्त्री से तात्पर्य न होकर भावस्त्री (भाव से स्त्री, किन्तु द्रव्य से पुरुष) से तात्पर्य है। किन्तु दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त की भाषा से अनभिज्ञ विचारक अथवा अभिज्ञ होते हुए भी उसकी उपेक्षा करनेवाले अध्येता ‘मणुसिणी’ शब्द से लोकप्रसिद्ध ‘स्तन-योनि आदि अंगों से युक्त स्त्री’ अर्थ ही लेते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इसी लोकानुगामिनी दृष्टि से काम लेकर प्रसिद्ध दिगम्बरविद्वान् प्रो० डॉ० हीरालाल जी जैन ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय में भी स्त्रीमुक्ति मान्य थी।^{१३६} और इसी लोकानुसारिणी चक्षु से अवलोकन कर श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने षट्खण्डागम को दिगम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ न मानकर यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ माना है। वे लिखते हैं—

“षट्खण्डागम के यापनीयपरम्परा से सम्बन्धित होने का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अन्यतम प्रमाण उसमें सत्पररूपणा नामक अनुयोगद्वार का ९३वाँ सूत्र है, जिसमें पर्याप्त मनुष्यिनी (स्त्री) में संयतगुणस्थान की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है, जो प्रकारान्तर से स्त्रीमुक्ति का सूचक है। यद्यपि दिगम्बरपरम्परा में इस सूत्र के संजद पद को लेकर काफी ऊहापोह हुआ है और मूलग्रन्थ से प्रतिलिपि करते समय कागज और ताम्रपत्र पर की गई प्रतिलिपियों में इसे छोड़ दिया गया। यद्यपि अन्त में सम्पादकों के आग्रह को मानकर मुद्रित प्रति में संजद पद रखा गया और यह संजद पद भावस्त्री के सम्बन्ध में है, ऐसा मानकर सन्तोष किया गया। प्रस्तुत प्रसंग में मैं उन सभी चर्चाओं को उठाना नहीं चाहता, केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि षट्खण्डागम के सूत्र ८९ से लेकर ९३ तक में केवल पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्यिनी की चर्चा है, द्रव्य और भाव मनुष्य या मनुष्यिनी की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। अतः इस प्रसंग में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है। धवलाकार स्वयं भी इस स्थान पर शंकित था, क्योंकि इससे स्त्रीमुक्ति का समर्थन होता है। अतः उसने अपनी टीका में यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्यिनी

१३६. देखिए, ‘दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण’/ भाग १,२,३।

के सन्दर्भ में सप्तम^{१३७} गुणस्थान मानने पर उसमें १४ गुणस्थान भी मानने होंगे और फिर स्त्रीमुक्ति भी माननी होगी। किन्तु जब देव, मनुष्य, तिर्यच आदि किसी के भी सम्बन्ध में मूल ग्रन्थ में द्रव्य और भाव की चर्चा का प्रसंग नहीं उठाया गया, तो टीका में मनुष्यनी के सम्बन्ध में यह प्रसंग उठाना केवल साम्प्रदायिक आग्रह का ही सूचक है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ यापनीयसम्प्रदाय का रहा है। चूँकि उक्त सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति को स्वीकारता था, अतः उसे यह सूत्र रखने में कोई आपत्ति हो नहीं सकती थी। समस्या तो उन टीकाकार आचार्यों के सामने आई जो, स्त्रीमुक्ति का निषेध करने-वाली दिगम्बरपरम्परा की मान्यता के आधार पर इसका अर्थ करना चाहते थे। अतः मूल ग्रन्थ में संजद पद की उपस्थिति से षट्खण्डागम मूलतः यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, इसमें किंचित् भी संशय का स्थान नहीं रह जाता है।” (जै.ध.या.स./पृ.१०१-१०२)।

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि डॉ० सागरमल जी ने षट्खण्डागम के शब्दप्रयोग की असाधारणता पर ध्यान दिये बिना ‘मनुष्यनी’ शब्द का लोकप्रसिद्ध अर्थ लेकर ही स्तन-योनिवाली द्रव्यस्त्री में ‘संजद’ (संयत) गुणस्थान का कथन मान लिया है। अपनी इस भ्रान्त अवधारणा के आधार पर ही उन्होंने यह घोषित कर दिया है कि “मूलग्रन्थ में ‘संजद’ पद की उपस्थिति से षट्खण्डागम मूलतः यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, इसमें किंचित् भी संशय का स्थान नहीं रह जाता है।”

यतः डॉक्टर सा० का यह निर्णय भ्रान्त अवधारणा पर आधारित है, इसलिए इसमें संशय ही संशय के लिए स्थान है। पूर्व में षट्खण्डागम के वे सूत्र उद्धृत किये गये हैं, जिनमें ‘मणुसिणी’ को तीर्थंकरप्रकृति, उत्कृष्ट देवायु और उत्कृष्ट नारकायु का बन्ध करनेवाला बतलाया गया है। किन्तु दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय, तीनों परम्पराओं में द्रव्यस्त्री को इन प्रकृतियों का बन्धक स्वीकार नहीं किया गया है। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम में उपर्युक्त सन्दर्भ में ‘मणुसिणी’ शब्द का प्रयोग भावस्त्री (भाव से स्त्री, किन्तु द्रव्य से पुरुष) के ही अर्थ में किया गया है। अतः डॉक्टर सा० की यह अवधारणा मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि षट्खण्डागम में भावस्त्री की कोई चर्चा नहीं है, अत एव वह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त हम इन तथ्यों का भी उद्धाटन कर चुके हैं कि—

१. षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में हुई थी, उस समय यापनीय-सम्प्रदाय का उदय ही नहीं हुआ था।

१३७. ‘संयत’ होना चाहिए।

२. षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार का ९३वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक है, जब कि यापनीयमत स्त्रीमुक्ति-समर्थक था।

३. षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयसिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय मान्यताओं का निषेध होता है : मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थिक मुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभक्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्रीपर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री की तीर्थकरपदप्राप्ति।

४. षट्खण्डागम में तीर्थकर-प्रकृतिबन्धक सोलह कारणों की स्वीकृति यापनीय-मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत में बीस कारण मान्य हैं।

५. षट्खण्डागम में स्थविरकल्प (आपवादिक सवस्त्र मोक्षमार्ग) की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

६. षट्खण्डागम में सोलह कल्पों (स्वर्गों) की मान्यता यापनीय-मान्यता के विपरीत है। यापनीयसम्प्रदाय में केवल बारह कल्प मान्य हैं।

७. षट्खण्डागम में नव अनुदिशों का उल्लेख भी यापनीयमत के विरुद्ध है। उसमें नौ अनुदिश नामक स्वर्ग नहीं माने गये हैं।

८. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय स्वीकार किया गया है। वह यापनीयों को अस्वी-कार्य है।

९. षट्खण्डागम में वेदवैषम्य मान्य है, जिसका यापनीयमत में निषेध किया गया है।

इन प्रमाणों को देखकर क्या कोई कह सकता है कि जिस ग्रन्थ में इतने यापनीय-मत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो, वह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है?

जब ये प्रमाण हाथ उठा-उठा कर घोषित कर रहे हैं कि षट्खण्डागम यापनीय-परम्परा से भिन्न परम्परा का ग्रन्थ है, तब 'मणुसिणी' शब्द का अर्थ यापनीय-मान्यता के अनुरूप करना षट्खण्डागम के साथ न्याय नहीं है।

१

धवलाकार द्वारा 'मणुसिणी' शब्द का स्पष्टीकरण

पूज्यपाद स्वामी और भट्ट अकलंकदेव के पूर्वोद्धृत वचनों से स्पष्ट है कि दिगम्बर-जैन-ग्रन्थों में 'मणुसिणी' शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री के अर्थ में आचार्यपरम्परा से प्रयुक्त होता चला आ रहा है। (देखिए, शीर्षक १०.४)। वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम

के जीवस्थान-सत्प्ररूपणा के ९२-९३वें सूत्रों की व्याख्या में उन्हीं आचार्यों का अनुसरण किया है, अपनी तरफ से कोई नई कल्पना नहीं की है। “सम्मामिच्छाइद्धि-असंज-दसम्माइद्धि-संजदासंजद-संजद-द्वाणे णियमा पज्जत्तियाओ” (ष.ख./पु.१/१,१,९३) इस ९३वें सूत्र में पूर्ववर्ती ९२ वें सूत्र से अध्याहत मणुसिणीसु शब्द को वीरसेन स्वामी ने द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक माना है। यह उनके निम्नलिखित विश्लेषणों से ज्ञात हो जाता है।

“हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्? नोत्पद्यन्ते। कुतोऽव-सीयते? अस्मादेवार्थात्।” (धवला/ष.खं./पु.१/१,१,९३/पृ.३३४)।

अनुवाद—“क्या हुण्डावसर्पिणी काल में स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते? नहीं होते। यह किस प्रमाण से ज्ञात होता है? इसी आर्ष प्रमाण से (इसी ९३वें सूत्र से)।”

यहाँ वीरसेन स्वामी ने ‘मणुसिणी’ शब्द से द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थ ग्रहण किये हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव दोनों प्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होते। यदि यह माना जाय कि यहाँ केवल द्रव्यस्त्री अर्थ विवक्षित है, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को भावस्त्रियों के रूप में सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति मान्य है। और यदि केवल भावस्त्री अर्थ विवक्षित मानें, तो यह अभिप्राय होगा कि वे द्रव्यस्त्रियों के रूप में सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति मानते हैं, जब कि ये दोनों बातें सत्य नहीं हैं। अतः इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि षट्खण्डागमकारों ने उपर्युक्त प्रसंग में ‘मणुसिणी’ शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में किया है। श्री वीरसेन स्वामी आगे कहते हैं—

“अस्मादेवार्थात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभावि-वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।” कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।” (धवला/ष.खं./पु.१/१,१,९३/पृ.३३५)।

अनुवाद

प्रश्न—“(यदि इस सूत्र में अध्याहत ‘मणुसिणी’ शब्द द्रव्यस्त्री का भी वाचक है) तब इसी सूत्र से यह भी सिद्ध होगा कि द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति होती है। (क्योंकि सूत्रगत ‘संजद’ शब्द के द्वारा उनमें चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं)।

उत्तर—“यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्त्रियों के लिए वस्त्रत्याग सम्भव नहीं है। वस्त्रसहित होने के कारण उनमें (अधिक से अधिक) संयतासंयत गुणस्थान होता है, संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (जो कि मुक्ति के लिए आवश्यक है)।

प्रश्न—“सवस्त्र होते हुए भी उनमें भावसंयम हो सकता है?”

उत्तर—“भावसंयम भी संभव नहीं है, क्योंकि वस्त्रधारण करना भाव-असंयम का लक्षण है। उसके रहते हुए भावसंयम कैसे हो सकता है?”

प्रश्न—“फिर ‘उनमें चौदह गुणस्थान होते हैं’ यह कथन कैसे संगत होगा?”

उत्तर—“यह कथन भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगति की अपेक्षा संगत है (अर्थात् जो मनुष्य भाव से स्त्री तथा द्रव्य से पुरुष है, उसमें चौदह गुणस्थान हो सकते हैं)।

द्रष्टव्य है कि यहाँ वीरसेन स्वामी ने ‘मणुसिणी’ शब्द के द्रव्यस्त्रीवाचक भी होने तथा सूत्र में ‘संजद’ पद के उपस्थित होने के आधार पर ही यह शंका उठाई है कि इस सूत्र से द्रव्यस्त्री की मुक्ति भी सिद्ध होती है। और इसके समाधान में यह कहा है कि द्रव्यस्त्री को अधिक से अधिक संयतासंयत गुणस्थान प्राप्त हो सकता है, संयत गुणस्थान नहीं, इसलिए वह मुक्त नहीं हो सकती। तथा उक्त ‘मणुसिणी’ शब्द के भावस्त्रीवाचक भी होने के कारण ही कहा है कि इस सूत्र में ‘संजद’ पद के द्वारा ‘मणुसिणी’ में जो चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं, वे भावस्त्री की अपेक्षा बतलाये गये हैं, द्रव्यस्त्री की अपेक्षा नहीं। उन्होंने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है कि द्रव्यस्त्रियाँ सचेल होने के कारण संयम को प्राप्त नहीं होतीं।^{१३८}

इस स्पष्टीकरण से एकदम साफ हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के अनुसार भी प्रस्तुत सूत्र में ‘मणुसिणी’ शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक है। और किन गुणस्थानों के सन्दर्भ में द्रव्यस्त्री का वाचक है और किन गुणस्थानों के सन्दर्भ में भावस्त्री का, इसका समाधान वीरसेन स्वामी ने दिगम्बरपरम्परा के आधार पर यह किया है कि ‘मणुसिणी’ शब्द प्रथम पाँच गुणस्थानों की अपेक्षा द्रव्यस्त्री या द्रव्यमानुषी का वाचक है और चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा भावस्त्री या भावमानुषी का। दिगम्बरपरम्परा के आधार पर यह निर्णय इसलिए किया गया है कि ग्रन्थ में प्रतिपादित अन्य सिद्धान्तों की संगति दिगम्बरपरम्परा के ही साथ है, श्वेताम्बर या यापनीय परम्पराओं के साथ नहीं, उनके साथ तो विरोध है। इसके अतिरिक्त पूर्वाचार्यों ने भी इस सूत्र की ऐसी ही व्याख्या की है। यथा—

१३८. “द्विविधवेदा पुण संजमं ण पडिवज्जंति, सचेलत्तादो।” धवला/ष.खं/पु.२/१,१/पृ.५१५।

“मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, न द्रव्यलिङ्गापेक्षया। द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि।” (तत्त्वार्थराजवार्तिक/९/७/११/पृ.६०५)।

यदि वीरसेन स्वामी यहाँ ‘मणुसिणी’ शब्द से केवल भावस्त्री अर्थ ग्राह्य समझते, तो पहले तो वे उक्त सूत्र के आधार पर यह प्रश्न ही न उठाते कि क्या हुण्डावसर्पिणी काल में स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते? क्योंकि यह प्रश्न उन्होंने श्वेताम्बरों की इस मान्यता को असत्य ठहराने के लिए उठाया है कि तीर्थंकर मल्लिनाथ ने सम्यग्दृष्टि होते हुए भी द्रव्यस्त्री की पर्याय में जन्म लिया था। दूसरे यदि उठाते भी, तो इसके समाधान में वे यह कहते कि यहाँ ‘मणुसिणी’ शब्द केवल भावस्त्रीवाचक है, अतः ‘संजद’ गुणस्थान का कथन भावस्त्री के ही विषय में होने से द्रव्यस्त्री की मुक्ति का प्रसंग नहीं आता। किन्तु उन्होंने ऐसा समाधान न कर यह कहा है कि “द्रव्यस्त्रियाँ पाँचवें गुणस्थान तक ही पहुँच सकती हैं। इसलिए उनमें संयत गुणस्थान का कथन उपपन्न नहीं होता। चौदह गुणस्थान भावस्त्रियों की अपेक्षा कहे गये हैं।” इससे स्पष्ट होता है कि वीरसेन स्वामी १३वें सूत्र में उल्लिखित ‘मणुसिणी’ शब्द को प्रथम पाँच गुणस्थानों की अपेक्षा द्रव्यस्त्रीवाचक मानते हैं और चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा भावस्त्रीवाचक।

२

न्यायसिद्धान्तशास्त्री पं० पन्नालाल जी सोनी का मत

षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन के कर्ता स्व० पं० पन्नालाल जी सोनी ने भी ऐसा ही माना है। वे लिखते हैं—

“इसमें (सूत्र १३ की टीका में) आये हुए ‘स्त्रीषु’ पद का अर्थ द्रव्यस्त्री किया जाता है, जो ठीक नहीं है। ठीक तब हो सकता है, यदि भावस्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता हो। परन्तु सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियों में भी उत्पन्न नहीं होता। अकलंकदेव पर्याप्त-भावमानुषियों के चौदह गुणस्थानों का और पर्याप्त-द्रव्यमानुषियों के आदि के पाँच गुणस्थानों का होना बताते हैं। इन दोनों तरह की मानुषियों के लिए लिखते हैं कि “अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्।” (तत्त्वार्थराजवार्तिक/९/७/११/पृ.६०५)। भावलिंगनी और द्रव्यलिंगनी अपर्याप्तिक मानुषियों में आदि के दो ही गुणस्थान होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के साथ जीव, स्त्रियों में नही जन्मता है। निश्चित है कि उभय प्रकार की स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है। भगवत्पूज्यपाद कहते हैं मानुषियों में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, पर्याप्तिक मानुषियों में होते हैं, अपर्याप्तिक

मानुषियों में नहीं होते। इस कथन से इतना निश्चित होता है कि अपर्याप्त मानुषियों के तीनों सम्यक्त्वों में से कोई-सा एक भी सम्यक्त्व नहीं होता है। परन्तु आगे और कहते हैं कि क्षायिकसम्यक्त्व भाववेद से ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि पहले वाक्य का सम्बन्ध द्रव्यमानुषियों और भावमानुषियों दोनों के लिए है। परन्तु उससे द्रव्यमानुषियों के भी क्षायिकसम्यक्त्व पाया जाना सिद्ध होता है, अतः आगे के वाक्य द्वारा भावमानुषियों के ही वह क्षायिकसम्यक्त्व होता है, ऐसा कहकर द्रव्यमानुषियों के क्षायिकसम्यक्त्व के होने का निषेध कर देते हैं। अतः निश्चित यह होता है कि पर्याप्त भावमानुषियों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं, अपर्याप्तकों के कोई सा भी सम्यक्त्व नहीं होता है। द्रव्यमानुषियों के दो ही सम्यक्त्व होते हैं, परन्तु अपर्याप्तकों के न होकर पर्याप्तकों के ही होते हैं। जब दोनों ही अपर्याप्त मानुषियों में तीनों में से कोई-सा एक भी सम्यक्त्व नहीं होता है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि भावमानुषियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है और केवल द्रव्यमानुषियों में ही उत्पन्न नहीं होता है। अतः 'स्त्रीषु' पद का अर्थ केवल द्रव्यस्त्रियाँ नहीं है, किन्तु स्त्रीवेदोदययुक्त स्त्री सामान्य है, जिसमें दोनों प्रकार की स्त्रियाँ अन्तर्भूत हैं।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्द्विरद्वितां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ १/३५ ॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार।

हेट्टिम-छप्पुठवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीणं।

पुण्णिणदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥ १२८ ॥

गोम्मटसार / जीवकाण्ड।

“इत्यादि प्रवचनों में आये हुए स्त्रीपदों का अर्थ भी दोनों प्रकार की स्त्रियाँ हैं, न कि केवल द्रव्यस्त्रियाँ।

“धक्लाकार भगवद्वीरसेन स्वामी ने इस 'स्त्रीषु' पद के साथ 'द्रव्य' पद नहीं जोड़ा है। 'द्रव्य' पद का प्रयोग किये बिना भी यहाँ पर 'स्त्रीषु' पद का वाच्यार्थ द्रव्यस्त्रीषु हो जाता है, तो 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्' इस वाक्य में स्त्रीणां पद के साथ द्रव्य पद क्यों जोड़ा? इससे मालूम पड़ता है 'स्त्रीषु' पद का अर्थ केवल द्रव्यस्त्रियाँ नहीं है, इसीलिए सूरेश्वर ने आगे के वाक्य में 'द्रव्य' पद लगाया है।" (षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन / पृ. २०९-२११)।

इस तरह माननीय पं० पन्नालाल जी सोनी ने भी ९३ वें सूत्र में आये मणुसिणी शब्द को द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक माना है।

पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य का मत

आदरणीय पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य के निम्नलिखित वचनों से भी उपर्युक्त मत का समर्थन होता है—

“सत्प्ररूपणा के ९३वें सूत्र में मनुष्यणी शब्द से यदि सिर्फ द्रव्यस्त्री को ही ग्रहण किया जाता है, तो जो जीव दिगम्बरमान्यता के अनुसार द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री है उसका ग्रहण उक्त सूत्र में पठित मनुष्यणी शब्द से न हो सकने के कारण उसकी निर्वृत्यपर्याप्तक हालत में चतुर्थ गुणस्थान के प्रसंग को टालने के लिए आगम का कौन-सा आधार होगा? कारण कि दिगम्बरमान्यता के अनुसार कर्मसिद्धान्त के आधार पर स्त्रीवेदोदयविशिष्ट पुरुष के भी निर्वृत्यपर्याप्तक हालत में चतुर्थ गुणस्थान नहीं स्वीकार किया जाता है। इसलिए आगम-ग्रन्थों में जहाँ भी मनुष्यणी शब्द का उल्लेख पाया जाता है, वहाँ पर उसका अर्थ “पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगति नामकर्म के उदयवाला जीव ही करना चाहिए।”^{१३९}

इस वक्तव्य द्वारा माननीय व्याकरणाचार्य जी ने भी ९३वें सूत्र में ‘मणुसिणी’ शब्द को द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में प्रयुक्त बतलाया है।

इस तरह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में मानुषी शब्द का द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में प्रयोग तथा द्रव्यमानुषी में आदि के पाँच गुणस्थानों का तथा भावमानुषी में चौदह गुणस्थानों का कथन, षट्खण्डागम में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध तथा देव-नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध के प्रसंग में मणुसिणी शब्द का भावस्त्री-अर्थ में प्रयोग और षट्खण्डागम का मन्थन करनेवाले मूर्धन्य विद्वानों के ये मत, इस बात के प्रमाण हैं कि दिगम्बरजैन-सिद्धान्त में मणुसिणी या मानुषी शब्द का प्रयोग सभी आचार्यों द्वारा द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में किया गया है। और द्रव्यस्त्री-रूप पर्याप्त मनुष्यिणी में आदि के पाँच गुणस्थानों की तथा क्षायिकसम्यक्त्व को छोड़कर शेष दो सम्यग्दर्शनों की योग्यता बतलायी गयी है तथा भावस्त्री-रूप पर्याप्त मनुष्यिणी में चौदह गुणस्थानों एवं तीनों सम्यग्दर्शनों की पात्रता का प्ररूपण किया गया है। अतः दिगम्बरजैन-सिद्धान्त में ‘मणुसिणी’ शब्द की इस विशिष्ट प्रयोगपरम्परा से सिद्ध होता है कि सत्प्ररूपणा के सूत्र ९२ और ९३ में उक्त शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में हुआ है। तथा ‘मणुसिणी’ में आदि के पाँच गुणस्थान द्रव्यमणुसिणी की अपेक्षा कथित हैं और चौदह गुणस्थान भावमणुसिणी की अपेक्षा। इसी का खुलासा

१३९. पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ / खण्ड ५ / पृ. २३।

धवलाटीका में आचार्य वीरसेन ने परम्परा का अनुसरण करते हुए युक्तिपूर्वक किया है।

दिगम्बरजैन-सिद्धान्त में 'मणुसिणी' शब्द की इस विशिष्ट प्रयोगपरम्परा पर दृष्टिपात किये बिना ही माननीय डॉ० सागरमल जी ने यह घोषणा कर दी कि "षट्खण्डागम के सूत्र ८९ से लेकर ९३ तक में केवल पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्यनी की चर्चा है, द्रव्य और भाव मनुष्य या मनुष्यनी की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। अतः इस प्रसंग में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है।" (जै. ध. या. स. / पृ. १०१-१०२)।

मैं डॉक्टर सा० से विनयपूर्वक पूछना चाहूँगा कि षट्खण्डागम के जिन सूत्रों में मणुसिणी में तीर्थकरप्रकृति एवं उत्कृष्ट देवायु और नारकायु का बन्ध प्रतिपादित किया गया है, उनमें भी द्रव्य और भाव मनुष्यनी की कोई चर्चा नहीं है, तब क्या वहाँ भी द्रव्यस्त्री और भावस्त्री की चर्चा उठाना निरर्थक है? क्या वहाँ द्रव्यस्त्री को तीर्थकरप्रकृति और उत्कृष्ट देवायु एवं उत्कृष्ट नारकायु का बन्ध मान लेना चाहिए? क्या यह दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय, तीनों परम्पराओं में मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होगा? अवश्य होगा, अतः वहाँ मनुष्यनी शब्द से भावस्त्री अर्थ लिये जाने की चर्चा सार्थक है। उन सूत्रों में द्रव्यस्त्री की चर्चा नहीं है, भावस्त्री की चर्चा है, इस सत्य के दर्शन कर्मसिद्धान्त को दृष्टि में रखकर देखनेवाले को हुए बिना नहीं रह सकते।

तथा सत्प्ररूपणा के ९२ वें और ९३ वें सूत्रों में जो 'मणुसिणी' शब्द है, उसके द्रव्यस्त्रीरूप और भावस्त्रीरूप दोनों अर्थों के दर्शन इस तथ्य पर ध्यान देने से हो जाते हैं कि उन सूत्रों में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त से श्री मल्लितीर्थकर का स्त्री होना असिद्ध हो जाता है, अतः षट्खण्डागम स्त्रीमुक्ति की मान्यता को अमान्य करनेवाला दिगम्बरग्रन्थ है। फलस्वरूप ९३ वें सूत्र में जो मनुष्यनियों में संयतगुणस्थान का प्रतिपादन किया गया है, वह द्रव्यमनुष्यनियों में उपपन्न नहीं होता। अतः उक्त प्रसंग में 'मणुसिणी' शब्द से भावमनुष्यनी अर्थ ही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम में जो यापनीयमत-विरोधी अन्य अनेक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, जिनका वर्णन चतुर्थ प्रकरण में किया गया है, उनसे इस तथ्य की दृढ़तया पुष्टि होती है कि षट्खण्डागम शतप्रतिशत दिगम्बर-ग्रन्थ है। तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि अन्य दिगम्बरग्रन्थों में भी मानुषी के द्रव्यमानुषी और भावमानुषी, ये दो भेद माने गये हैं, ये प्रमाण भी इस सत्य को पुष्ट करते हैं कि ९३ वें सूत्र में प्रयुक्त 'मणुसिणी' शब्द द्रव्यमनुष्यनी और भावमनुष्यनी, दोनों अर्थों का प्रतिपादन करता है। यदि डॉक्टर सा० इन तथ्यों पर ध्यान देते, तो उन्हें भी वहाँ इन दोनों अर्थों की चर्चा अवश्य सुनायी देती।

डॉक्टर सा० लिखते हैं—“धवलाकार स्वयं भी इस स्थान पर शंकित था, क्योंकि इससे स्त्रीमुक्ति का समर्थन होता है। अतः उसने अपनी टीका में यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्यनी के सन्दर्भ में सप्तम^{१०} गुणस्थान मानने पर उसमें १४ गुणस्थान भी मानने होंगे और फिर स्त्रीमुक्ति भी माननी होगी। किन्तु जब देव, मनष्य, तिर्यच आदि किसी के भी सम्बन्ध में मूल ग्रन्थ में द्रव्य और भाव की चर्चा का प्रसंग नहीं उठाया गया, तो टीका में मनुष्यनी के सम्बन्ध में यह प्रसंग उठाना केवल साम्प्रदायिक आग्रह का ही सूचक है।” (जै.ध.या.स./पृ.१०२)।

इस विषय में मेरा नम्र निवेदन है कि धवलाकार रज्ज्वमात्र भी शंकित नहीं थे। उनके सामने तो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक के स्पष्ट प्रमाण थे, जिनमें ‘मानुषी’ शब्द का प्रयोग गुणस्थानों के प्रसंग में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में किया गया है और द्रव्यमानुषी में आदि के पाँच गुणस्थान तथा भावमानुषी में चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं। अतः वीरसेन स्वामी स्वयं तो इस विषय में बिलकुल निःशंक थे, हाँ, उन्होंने टीका में जो शंकाएँ उठायी हैं, वे उन लोगों की दृष्टि से उठायी हैं, जो दिगम्बरपरम्परा में ‘मणुसिणी’ शब्द के विशिष्ट प्रयोग से अपरिचित हैं, क्योंकि ऐसे लोग यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि यहाँ ‘मणुसिणी’ शब्द का प्रयोग भावस्त्री के अर्थ में भी हो सकता है। अतः वे उसे मात्र लोकप्रसिद्ध द्रव्यस्त्री-अर्थ का वाचक मानकर इस भ्रान्ति से ग्रस्त हो सकते हैं कि षट्खण्डागम में द्रव्यस्त्री की मुक्ति का प्रतिपादन है। इसीलिए वीरसेन स्वामी ने विभिन्न प्रश्नोत्तरों के द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी है कि चर्चित सूत्र में जो मणुसिणी में चौदह गुणस्थानों का कथन किया गया है, वह भावस्त्री की अपेक्षा किया गया है, द्रव्यस्त्री की अपेक्षा केवल आदि के पाँच गुणस्थान बतलाये गये हैं। निम्नलिखित उद्धरण में भी उन्होंने यह बात स्पष्ट की है—

“मणुसिणीणां भण्णमाणे अत्थि चोद्दस गुणट्ठाणाणि, दो जीवसमासा, छ पज्जतीओ, छ अपज्जतीओ, दसपाण-सत्तपाणा, चत्तारि सण्णाओ खीणसण्णा वि अत्थि, मणुसगदी, पंचिंदियजादी, तसकाओ, एगारह जोगा अजोगो वि अत्थि, एत्थ आहार-आहारमिस्सकायजोगा णत्थि। किं कारणं? जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो, ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा पुण संजमं ण पडिवज्जंति, सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धी समुप्पज्जदि दव्व-भावेहि पुरिसवेदाणं चेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदे णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि। तेण एगारह जोगा भणिदा। इत्थिवेदो अवगदवेदो वि अत्थि, एत्थ भाववेदेण पयदं ण दव्ववेदेण। किं कारणं? ‘अवगदवेदो वि अत्थि’ त्ति वयणादो।” (धवला / पु.२/१,१/पृ.५१५)।

१४०. यहाँ ‘सप्तम’ के स्थान में ‘संयत’ होना चाहिए।

देवों, नारकियों और भोगभूमि के मनुष्यों एवं तिर्यचों में वेदवैषम्य नहीं होता, इसलिए उनमें द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का भेद नहीं है। कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यचों में वेदवैषम्य होता है, किन्तु उनमें तिर्यच और तिर्यचनी, दोनों में आदि के पाँच ही गुणस्थान होते हैं, अतः मोक्ष का प्रसंग न होने से द्रव्यस्त्री और भावस्त्री के भेद की चर्चा नहीं की गयी है। यद्यपि बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचयोनि की द्रव्यस्त्रियों और भावस्त्रियों में भी उत्पन्न नहीं होते,^{१४१} किन्तु टीका में इसकी चर्चा करने का कोई प्रसंग नहीं था। मणुसिणी के प्रसंग में तो तीर्थंकर मल्लिनाथ-सम्बन्धी एवं स्त्रीमुक्ति-सम्बन्धी श्वेताम्बर-मान्यताओं को अप्रामाणिक सिद्ध करने की आवश्यकता थी, इसलिए सूत्र ९३ की टीका में द्रव्यस्त्री और भावस्त्री की चर्चा उठायी गयी है। मूल में यह चर्चा नहीं है, इससे क्या फर्क पड़ता है? मूल के आधार पर विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हुए जिज्ञासु को संशय-विपर्यय एवं अनध्यवसायरहित ज्ञान कथना टीकाकार का कर्तव्य है।

४

भावनपुंसकत्व की स्वीकृति से भावस्त्रीत्व की पुष्टि

षट्खण्डागम में भावस्त्रीत्व की मान्यता को पुष्ट करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है भावनपुंसकत्व की स्वीकृति। भावनपुंसक उस मनुष्य को कहा गया है, जो द्रव्य से पुरुष होते हुए भी भावनपुंसकवेद के उदय से युक्त है। इसका अन्तर्भाव मनुष्य शब्द में ही किया गया है, जैसा कि वीरसेन स्वामी ने जयधवलाटीका में स्पष्ट किया है—

“मणुस्सो त्ति वुत्ते पुरिस-णवुंसय-वेदोदइल्लाणं गहणं। मणुस्सिणी त्ति वुत्ते इत्थिवेदोदयजीवाणं गहणं।” (ज.ध./क.पा./भा.३/३, २२/४२६/पृ.२४१)।

अनुवाद—“मनुष्य शब्द से पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से युक्त मनुष्यों का ग्रहण होता है और मनुष्यिणी शब्द से स्त्रीवेद के उदयवाले मनुष्यों का।”

अन्यत्र भी उन्होंने ऐसा ही प्ररूपित किया है। कसायपाहुड के एक चूर्णिसूत्र में यतिवृषभाचार्य ने कहा है—

“बावीसाए विहत्तीओ को होदि? मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा मिच्छत्ते सम्मा-मिच्छत्ते च खविदे समत्ते सेसे।” (चूर्णिसूत्र/क.पा./भा.२/गा.२२/पृ.२१३)।

अनुवाद—“बाईस-प्रकृतिक स्थान का स्वामी कौन होता है? जिस मनुष्य या मनुष्यिनी के मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय होकर सम्यक्त्व शेष रहता है, वह बाईस-प्रकृतिक स्थान का स्वामी होता है।”

इस पर टीका करते हुए श्री वीरसेन स्वामी लिखते हैं—

“एत्थ वि ‘मणुस्सो’ त्ति वुत्ते पुरिस-णवुंसयवेदजीवाणं गहणं। अण्णहा णवुंसयवेदेसु दंसणमोहक्खवणाभावप्पसंगादो।” (ज.ध./क.पा/भा.२/गा.२२/पृ.२१३-२१४)।

अनुवाद—“यहाँ पर भी मणुस्सो ऐसा कहने से पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी मनुष्यों का ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नपुंसकवेदी मनुष्यों के दर्शनमोहनीय के क्षय के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा।”

धवलाटीका में भी वीरसेन स्वामी ने कहा है—

“मणुस-पज्जत्ताणं पि भण्णमाणे मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ताव मणुसोघभंगो। अथवा इत्थिवेदेण विणा दो वेदा वत्तव्वा। एत्तियमेत्तो चेव विसेसो।” (धवला/ष.खं./पु.२/१,१/पृ.५१४)।

अनुवाद—“मनुष्य-पर्याप्तकों के भी आलाप कहने पर मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली-गुणस्थान तक मनुष्य-सामान्य के आलापों के समान आलाप जानना चाहिए। अथवा वेद-आलाप कहते समय स्त्रीवेद के बिना दो वेद ही कहना चाहिए, क्योंकि सामान्य मनुष्यों से मनुष्य-पर्याप्तकों में इतनी ही विशेषता है।”

इसके हिन्दी-विशेषार्थ में कहा गया है—“जब मनुष्यों के अवान्तर भेदों की विवक्षा न करके पर्याप्त शब्द के द्वारा सामान्य से सभी पर्याप्त मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है, तब पर्याप्त मनुष्यों में तीनों वेदवालों का ग्रहण हो जाता है, अतः इस अपेक्षा से पर्याप्त मनुष्यों के आलाप सामान्य-मनुष्यों के समान बतलाये गये हैं। परन्तु जब मनुष्यों के अवान्तरभेदों में से मनुष्य-पर्याप्तकों का ग्रहण किया जाता है, तब मनुष्य-पर्याप्तक पद से पुरुष और नपुंसकवेदी मनुष्यों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि स्त्रीवेदी मनुष्यों की आगम में ‘मनुष्यिनी’ संज्ञा निर्दिष्ट की गई है। मनुष्य के अवान्तर भेदों में ‘मनुष्यपर्याप्त’ शब्द पुरुष और नपुंसकवेदी मनुष्यों में ही रूढ़ है, इसलिए इस अपेक्षा से मनुष्य-पर्याप्तकों के आलाप कहते समय स्त्रीवेद को छोड़कर आलाप कहे हैं।” (धवला/ष.खं./पु.२/१,१/पृ.५१४-५१५)।

इस प्रकार मनुष्य-पर्याप्त शब्द भावपुरुषवेदी एवं भावनपुंसकवेदी मनुष्यजातीय द्रव्यपुरुषों का वाचक है। इसलिए षट्खण्डागम के निम्नलिखित सूत्रों में मनुष्य शब्द

१. भावपुरुषवेदी पुरुष, २. भावनपुंसकवेदी पुरुष तथा ३. द्रव्यनपुंसक मनुष्य, इन तीनों अर्थों को सूचित करता है—

“मणुस्सा मिच्छाइड्ढि-सासणसम्माइड्ढि-असंजदसम्माइड्ढि-ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।” (ष.खं./पु.१,१,८९)। “सम्माभिच्छाइड्ढि-संजदासंजद-संजदद्वाणे णियमा पज्जत्ता।” (ष.खं./पु.१/१,१,९०)।

अनुवाद—“मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयतगुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होते हैं।”

चूँकि इन सूत्रों में मनुष्य शब्द उपर्युक्त तीनों अर्थों का वाचक है, इसलिए इन सूत्रों से यह अर्थ अभिव्यक्त होता है—

१. भावपुरुषवेदी-पुरुष मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में तो पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी, किन्तु शेष गुणस्थानों में नियम से पर्याप्त होते हैं।

२. भावनपुंसकवेदी-पुरुष मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी, किन्तु शेष गुणस्थानों में नियम से पर्याप्त ही होते हैं, ठीक भावस्त्रीवेदी पुरुष की तरह।

३. द्रव्यनपुंसक मनुष्य द्रव्यस्त्रियों के समान प्रथम दो गुणस्थानों में तो पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी, परन्तु तृतीय, चतुर्थ और पंचम गुणस्थानों में नियम से पर्याप्त होते हैं। जैसे द्रव्यस्त्रियों में शेष गुणस्थान नहीं होते, वैसे ही इनमें भी शेष गुणस्थान नहीं होते।

५

द्रव्यनपुंसक की मुक्ति तीनों परम्पराओं में अमान्य

इस तरह उपर्युक्त सूत्रों में भावनपुंसक में चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन किया गया है। तथा वेदमार्गणा में भी नौवें गुणस्थान तक नपुंसकवेदियों का अस्तित्व बतलाया गया है,^{१४२} जिसका तात्पर्य यह है कि षट्खण्डागम में नपुंसकवेदियों की मुक्ति का विधान है। यहाँ विचारणीय है कि नपुंसकवेदी मनुष्यों से तात्पर्य द्रव्यनपुंसक मनुष्यों से है या भावनपुंसक मनुष्यों से?

१४२. “णवुसंयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्ठि ति।” ष.खं./पु.१/१,१,१०३।

दिगम्बरपरम्परा में तो द्रव्यस्त्रीमुक्ति और द्रव्यनपुंसकमुक्ति दोनों मान्य नहीं हैं। श्वेताम्बरपरम्परा में भी जन्मजात द्रव्यनपुंसक मनुष्यों की मुक्ति अमान्य की गई है, क्योंकि उन्हें सदा दीक्षा के अयोग्य माना गया है। दीक्षा की अयोग्यता ही उनकी मुक्ति की अयोग्यता है। श्वेताम्बर-परम्परा में केवल छह प्रकार के कृत्रिम नपुंसकों को, जो जन्म से पुरुष या स्त्री होते हैं, मुक्ति के योग्य माना गया है। अतः यह वस्तुतः पुरुष और स्त्री को ही मुक्ति के योग्य माना जाना है, द्रव्यनपुंसकों को नहीं। इसका विस्तार से सप्रमाण निरूपण इसी अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में किया जा चुका है। यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को ही प्रमाण मानता था, इसलिए उसमें भी द्रव्यनपुंसकों की मुक्ति का अमान्य होना सुनिश्चित है। इसका अन्य प्रमाण यह भी है कि यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में तो ग्रन्थ लिखा है, लेकिन द्रव्यनपुंसक की मुक्ति का कहीं नाम भी नहीं लिया।

अतः यह मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है कि षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थान भावनपुंसक मनुष्यों (अर्थात् भावनपुंसकवेद के उदय से युक्त द्रव्यपुरुषों) में ही बतलाये गये हैं। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम में भावनपुंसकमनुष्य की स्वीकृति है। इससे इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि षट्खण्डागम में भावस्त्री की भी स्वीकृति है। इसलिए जैसे षट्खण्डागम में भावनपुंसक में ही चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन सिद्ध होता है, वैसे ही भावस्त्री में ही चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन सिद्ध होता है। अतः षट्खण्डागम में भावस्त्री की ही मुक्ति का विधान है, द्रव्यस्त्री की मुक्ति का नहीं। निष्कर्ष यह कि ९३वें सूत्र में संजद शब्द भावस्त्री के ही सन्दर्भ में उक्त है, द्रव्यस्त्री के सन्दर्भ में नहीं।

संजद शब्द-विषयक चर्चा का उपसंहार करते हुए डॉ० सागरमल जी लिखते हैं कि “मूलग्रन्थ में ‘संजद’ पद की उपस्थिति से षट्खण्डागम मूलतः यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, इसमें किञ्चित् भी संशय का स्थान नहीं रह जाता है।” (जै.ध.या.स/पृ.१०२)।

किन्तु पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि सत्प्ररूपणा का ९३वाँ सूत्र श्री मल्लि-तीर्थकर के स्त्री होने का तथा स्त्रीवेदनामकर्म के साथ तीर्थकरप्रकृति के बन्ध होने का निषेधक है, अतः मूलग्रन्थ में ‘संजद’ पद भावमानुषी के विषय में ही प्रयुक्त है, यह निर्विवाद है। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम में गुणस्थान आदि ऐसे अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं। इसलिए षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का है, इसमें संशय के लिए किञ्चित् भी स्थान नहीं रह जाता।



सप्तम प्रकरण

'संजद' पद छोड़ा नहीं, जोड़ा गया है

माननीय डॉ० सागरमल जी ने लिखा है—“यद्यपि दिगम्बरपरम्परा में इस (९३ वें) सूत्र के संजद पद को लेकर काफी ऊहापोह हुआ और मूलग्रन्थ से प्रतिलिपि करते समय कागज और ताम्रपत्र पर की गई प्रतिलिपियों में इसे छोड़ दिया गया। यद्यपि अन्त में सम्पादकों के आग्रह को मानकर मुद्रित प्रति में संजद पद रखा गया और यह संजद पद भावस्त्री के सम्बन्ध में है, ऐसा मानकर सन्तोष किया गया।” (जै.ध.या.स/पृ.१०१)।

डॉक्टर सा० के इस वक्तव्य से ऐसा लगता है कि उन्हें यह भ्रम है कि मूलग्रन्थ से प्रतिलिपि करते समय लिपिकारों ने 'संजद' शब्द को इसलिए जानबूझकर छोड़ दिया कि उससे स्त्रीमुक्ति का समर्थन होता था, जो दिगम्बरमान्यता के विरुद्ध है। वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता यह है कि मूडबिद्री में कन्नड़ लिपि में षट्खण्डागम की जो तीन प्रतियाँ हैं, उनमें से जिस प्रति का नागरी-रूपान्तरण षट्खण्डागम के सम्पादकों को प्राप्त हुआ था, उसमें ९३वें सूत्र में 'संजद' पद नहीं था। अतः नागरी-रूपान्तरण में भी 'संजद' पद नहीं आया। किन्तु सूत्र की धवलाटीका में जो विवेचन किया गया है, उससे सम्पादकों को प्रतीत हुआ कि वहाँ 'संजद' पद होना चाहिए। अतः उन्होंने सूत्र में 'संजद' पद रखने का निर्णय किया। किन्तु, कुछ विद्वानों को जब इसका पता चला, तो उन्होंने सूत्र में 'संजद' पद रखे जाने का विरोध किया, क्योंकि उनका मानना था कि मूलप्रति में 'संजद' पद न होना दिगम्बर जैन मान्यता के अनुरूप है। यदि उसमें 'संजद' पद जोड़ा गया, तो यह प्राचीन दिगम्बरग्रन्थ स्त्रीमुक्ति का समर्थन करनेवाला सिद्ध होगा। उन्हें सूत्र में 'संजद' पद का आरोपण मूलग्रन्थ में परिवर्तन करने की कुचेष्टा प्रतीत हुई। अतः उन्होंने इसका घोर विरोध किया। विरोध के फलस्वरूप विद्वानों के दो वर्ग बन गये, एक सूत्र में 'संजद' पद रखे जाने का विरोधी, दूसरा समर्थक। उनमें इस विषय को लेकर काफी शास्त्रार्थ हुआ, जिसका विवरण दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण नाम से तीन भागों में प्रकाशित किया गया। यह घटना ई० सन् १९३९ से १९४४ के बीच की है।

उस समय दिगम्बरजैन-परम्परा के एकमात्र सर्वमान्य मुनि आचार्य श्री शान्ति-सागर जी महाराज विद्यमान थे। वे इस प्राचीन धरोहर को सुरक्षित रखने के लिए इसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराना चाहते थे। 'संजद'-पद विरोधी विद्वानों ने उन्हें अपने मत से प्रभावित कर ताम्रपत्र में 'संजद' पद को उत्कीर्ण नहीं होने दिया। यह 'संजद'

पद को हटाने की चेष्टा नहीं थी, अपितु नागरी-प्रति में सूत्र जिसरूप में आया था, उसी रूप में रखने का प्रयत्न था। इसी कारण षट्खण्डागम के प्रथम संस्करण में यह पद सूत्र में नहीं आ पाया, यद्यपि जैसा माननीय पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य ने स्वीकार किया है, उन्होंने सूत्र के हिन्दी अनुवाद में 'संयत' पद रख दिया।^{१४३}

बाद में सम्पादकों ने मूडबिंद्री की अन्य दो प्रतियों से मिलान कराया, तब उनमें 'संजद' पद उपलब्ध हुआ। इससे सूत्र में 'संजद' पद होने की उनकी धारणा सही निकली। तब 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्' ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास कर सूत्र में 'संजद' पद होने का समर्थन किया, फलस्वरूप षट्खण्डागम के दूसरे संस्करण में तदनुसार संशोधन कर दिया गया। पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी ने भी सूत्र में 'संजद' पद का होना आवश्यक बतलाया था^{१४४} और अन्त में पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने भी अपने पूर्वमत में संशोधन कर ताग्रपत्र में 'संजद' पद के समावेश का आदेश दिया था।^{१४५} यह सारा विवरण षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक के द्वितीय संस्करण तथा षट्खण्डागम के सम्पादक माननीय पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य के आलेखों में दिया गया है।^{१४६}

इस प्रकार षट्खण्डागम के सम्पादकों ने, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने, पूज्य वर्णी जी ने तथा परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी ने १३ वें सूत्र में 'संजद' पद रखे जाने का समर्थन श्वेताम्बरों या यापनीयों के दबाव में आकर नहीं किया। यदि इसके रखने से स्त्रीमुक्ति का समर्थन होता, तो दिगम्बर विद्वानों में परस्परविरोधी दो वर्ग न बनते, सबके सब इसे न रखने के लिए एकमत हो जाते और सूत्र जिस (संजदपदविहीन) रूप में लिप्यन्तर होकर आया था, उसी रूप में रहने देना उनके लिए बड़ा आसान होता। संजद-पद की आवश्यकता बतलानेवाले वीरसेन स्वामी के वचनों की भी वे अन्यथा व्याख्या कर सकते थे, उनके वचनों में परिवर्तन कर सकते थे। इसकी किसी को कानों-कान खबर भी न हो पाती। अथवा इतने कालान्तर की प्रतीक्षा भी न करनी पड़ती, वीरसेन स्वामी स्वयं आज से लगभग १२०० वर्ष पहले ही सूत्र में से संजद पद हटा देते।

१४३. 'सत्प्ररूपणा धवला के १३ वें सूत्र में संजद पद' / सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ / खण्ड ४ / पृष्ठ ४८३-४८६।

१४४. वही / खण्ड ४ / पृ. ४८५।

१४५. वही / खण्ड ४ / पृ. ४८५-४८६।

१४६. वही / खण्ड ४ / पृ. ४८३-४८६ तथा 'वात्सल्य रत्नाकर' / द्वितीय खण्ड / पृ. २४८-२४९।

पर, ऐसा किसी भी दिगम्बर आचार्य या विद्वान् ने नहीं किया। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धिटीका में षट्खण्डागम का प्रचुर अनुसरण किया। 'मणुसिणी' शब्द का अनुकरण कर भावमानुषी में क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन किया। अकलंकदेव ने सूत्र ९२-९३ का ज्यों का त्यों संस्कृतरूपान्तरण कर द्रव्यमानुषियों और भावमानुषियों में यथायोग्य गुणस्थान निरूपित किये। नेमिचन्द्राचार्य ने तो षट्खण्डागम के आधार पर ही गोम्मटसार नामक महान् ग्रन्थ की रचना की और वीरसेन स्वामी ने उस पर बृहद् धवलाटीका का प्रणयन किया, पर किसी को भी 'संजद' शब्द दिगम्बर-सिद्धान्त-विरोधी प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए किसी ने भी उसमें हाथ लगाने की चेष्टा नहीं की। सबने उन सूत्रों को दिगम्बरमतानुरूप ही पाया और तदनुरूप ही व्याख्या की।

षट्खण्डागम के सम्पादक विद्वानों ने भी ९३वें सूत्र और उसकी धवलाटीका पर गहन-विचार-विमर्श किया, मूडबिद्री की अन्य प्रतियों से मिलान किया, 'संजद'-पद-समर्थक विद्वानों ने 'संजद'-पद-विरोधी विद्वानों के साथ लम्बा शास्त्रार्थ किया। इस प्रकार सब तरह से ठोक-बजाकर सूत्र में 'संजद' पद का औचित्य सिद्ध किया। यदि 'संजद'-पद दिगम्बरत्व-विरोधी होता, तो क्या ये विद्वान् उसे सूत्र में रखने के लिए इतनी उठापटक, इतना अनुसन्धान, इतना विचार-विमर्श करते? वस्तुतः सूत्र में 'संजद'-पद का होना दिगम्बर मान्यताओं की संगति के लिए आवश्यक था, इसीलिए विद्वानों ने उसे सूत्र में जोड़ने का आग्रह किया और जोड़ दिया।

इस तरह दिगम्बरजैन विद्वानों ने सूत्र में 'संजद'-पद किसी मजबूरी के कारण नहीं जोड़ा, जिससे यह कहा जाय कि उसे जोड़ने के बाद उन्होंने यह मानकर सन्तोष कर लिया कि उसका प्रयोग भावस्त्री के अर्थ में किया गया है। भावस्त्री के अर्थ में तो वह है ही। इसीलिए संजद-पद-समर्थक विद्वद्वर्ग उसे सूत्र में रखे जाने का आग्रह कर रहा था। इसके लिए उनके पास सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, गोम्मटसार, धवल टीका आदि ग्रन्थों के प्रमाण भी थे। हाँ, सन्तोष इस बात का अवश्य हुआ होगा कि उन्होंने एक सही काम किया। सूत्र में 'संजद' पद रखना सिद्धान्त की दृष्टि से कितना आवश्यक था, इस बात का पता विद्वानों के निम्नलिखित वक्तव्यों से चलता है—

१

'संजद' पद होने के पक्ष में व्याकरणाचार्य जी का तर्क

पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य ९३वें सूत्र में 'संजद' पद की अनिवार्य आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

“पं० रामप्रसाद जी शास्त्री का ख्याल है कि क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि की मनुष्यप्ररूपणाओं में केवल मनुष्यणी शब्द पाया जाता है, इसलिये उन सूत्रों में इसका अर्थ भावस्त्री करना चाहिये और सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्रमें मनुष्यणी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री करना चाहिए, परन्तु उनका यह ख्याल गलत है, क्योंकि सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि सभी प्ररूपणाओं में ‘मनुष्यणी’ शब्दका अर्थ ‘समानरूप से पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्म के उदयवाला जीव’ ही मुक्ति-पात्र तथा आगमसम्मत है और मनुष्यणी संज्ञावाले इस जीव के ही ९२वें और ९३वें सूत्रों द्वारा यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालत में है, तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थानों की और यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालत को पारकर गया हो, तो उसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ आदि सभी गुणस्थानों की संभावना बतलाई गई है। सत्प्ररूपणा के ९३वें सूत्र में ‘मनुष्यणी’ शब्द से यदि सिर्फ द्रव्यस्त्री को ही ग्रहण किया जाता है, तो जो जीव दिगम्बरमान्यता के अनुसार द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री है, उसका ग्रहण उक्त सूत्र में पठित मनुष्यणी शब्द से न हो सकने के कारण उसकी निर्वृत्यपर्याप्तक हालत में चतुर्थ गुणस्थान के प्रसंग को टालने के लिये आगम का कौन-सा आधार होगा, कारण कि दिगम्बर-मान्यता के अनुसार कर्मसिद्धान्त के आधार पर स्त्रीवेदोदयविशिष्ट पुरुष के भी निर्वृत्यपर्याप्तक हालत में चतुर्थ गुणस्थान नहीं स्वीकार किया जाता है। इसलिये आगमग्रन्थों में जहाँ भी मनुष्यणी शब्द का उल्लेख पाया जाता है, वहाँ पर उसका अर्थ ‘पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्म के उदयवाला जीव’, ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने में सिर्फ एक यह शंका अवश्य उत्पन्न होती है कि स्त्रीवेदोदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्म के उदयवाले जीव के अधिक-से-अधिक नौ (९) गुणस्थान तक हो सकते हैं। इसलिये इस जीव के १४ गुणस्थानों का कथन करना असंगत और आगमविरुद्ध है। लेकिन इसका समाधान उक्त ९३वें सूत्र की ध्वलाटीका में कर दिया गया है कि यहाँ पर मनुष्यगतिनामकर्म का उदय प्रधान है और स्त्रीवेदनोकषायका उदय इसका विशेषण है। इसलिये विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी विशेष्य का सद्भाव बना रहने के कारण ही मनुष्यणी के १४ गुणस्थानों की सम्भावना बतलायी गयी है।

“इस प्रकार जब उक्त ९३वें सूत्र में ‘मनुष्यणी’ शब्द से स्त्रीवेदोदयविशिष्ट द्रव्यपुरुष का ग्रहण भी अभीष्ट है तो क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओं के अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणावाले सूत्रों के साथ सामञ्जस्य बिठलाने के लिये इस सूत्र में भी संयतपद का सद्भाव अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है और तब पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने उक्त ९३वें सूत्र में संयतपद का अभाव सिद्ध करने के लिये जिन दलीलों का उपयोग किया है, वे सब निःसार हो जाती हैं।

“---- बहुत विचार करने के बाद हमने श्री पं० रामप्रसाद जी शास्त्री के उनके अपने लेख में गलत और कष्टसाध्य प्रयत्न करने का एक ही निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि वे इस बात से बहुत ही भयभीत हो गये हैं कि यदि सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्र में ‘संयत’ पद का समावेश हो गया, तो दिगम्बरसम्प्रदाय की नींव ही चौपट हो जायेगी। परन्तु उन्हें विश्वास होना चाहिये कि ९३ वें सूत्र में संयतपद का समावेश हो जाने पर भी न केवल स्त्रीमुक्ति-निषेधविषयक दिगम्बरमान्यता को आँच आने की सम्भावना नहीं है, अपितु षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्रकरणगत सूत्रों में परस्पर सामञ्जस्य भी हो जाता है।”

“हमारे इस कथन का मतलब यह है कि मूडबिंदी की प्राचीनतम प्रति में भी संयत पद मौजूद हो, या न हो, परन्तु सत्प्ररूपणा के ९३वें सूत्र में उसकी (संयतपद की) अनिवार्य आवश्यकता है, हर हालत में वह अभीष्ट है।”^{११४७}

२

‘संजद’ पद होने के पक्ष में कोठिया जी का तर्क

अब न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया के निम्नलिखित लेख पर दृष्टि डालें—

संजद पद के सम्बन्ध में अकलङ्कदेव का महत्त्वपूर्ण अभिमत

“षट्खण्डागम के ९३वें सूत्र में ‘संजद’ पद होना चाहिये या नहीं, इस विषय में काफी समय से चर्चा चल रही है। कुछ विद्वानों का मत है कि “यहाँ द्रव्यस्त्री का प्रकरण है और ग्रन्थ के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर बराबर विचार किया जाता है, तो उसकी (‘संजद’ पद की) यहाँ स्थिति नहीं ठहरती।” अतः षट्खण्डागम के ९३वें सूत्र में ‘संजद’ पद नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत, दूसरे कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ (सूत्र में) सामान्यस्त्री का ग्रहण है और ग्रन्थ के पूर्वापर सन्दर्भ तथा वीरसेन स्वामी की टीका का सूक्ष्म समीक्षण किया जाता है, तो उक्त सूत्र में ‘संजद’ पद की स्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। अतः यहाँ भाववेद की अपेक्षा से ‘संजद’ पद का ग्रहण समझना चाहिये। प्रथम पक्ष के समर्थक पं० मन्मथलाल जी मोरेना, पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई, श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंह जी, और पं० सुखलाल जी काला आदि विद्वान् हैं। दूसरे पक्ष के समर्थक पं० वंशीधर जी इन्दौर, पं० खूबचन्द्र जी शास्त्री बम्बई, पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री बनारस, पं० फूलचन्द्र जी

१४७. पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ / खं.५/पृ.२३-२४।

शास्त्री बनारस और पं० पन्नालाल जी सोनी ब्यावर आदि विद्वान् हैं। ये सभी विद्वान् जैनसमाज के प्रतिनिधि विद्वान् हैं। अत एव उक्त पद के निर्णयार्थ अभी हाल में बम्बई-पंचायत की ओर से इन विद्वानों को निर्मंत्रित किया गया था। परन्तु अभी तक कोई एक निर्णयात्मक नतीजा सामने नहीं आया। दोनों ही पक्षों के विद्वान् युक्तिबल, ग्रन्थसन्दर्भ और वीरसेन स्वामी की टीका को ही अपने-अपने पक्ष के समर्थनार्थ प्रस्तुत करते हैं। पर जहाँ तक मुझे मालूम है षट्खण्डागम के इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रों के भाव को बतलानेवाला वीरसेन स्वामी से पूर्ववर्ती कोई शास्त्रीय-प्रमाणोल्लेख किसी की ओर से भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। यदि वीरसेन स्वामी से पहले षट्खण्डागम के इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रों का स्पष्ट अर्थ बतलानेवाला कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख मिल जाता है तो उक्त सूत्र में 'संजद' पद की स्थिति या अस्थिति का पता चल जावेगा और फिर विद्वानों के सामने एक निर्णय आ जायगा।

“अकलङ्कदेव का तत्त्वार्थराजवार्तिक वस्तुतः एक महान् सद्रत्नाकर है। जैनदर्शन और जैनागम विषय का बहुविध और प्रामाणिक अभ्यास करने के लिये केवल उसी का अध्ययन पर्याप्त है। अभी मैं एक विशेष प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिये उसे देख रहा था। देखते हुए मुझे वहाँ 'संजद' पद के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण खुलासा मिला है। अकलङ्कदेव ने षट्खण्डागम के इस प्रकरण-सम्बन्धी समग्र सूत्रों का वहाँ प्रायः अविक्ल अनुवाद ही दिया है। इसे देख लेने पर किसी भी पाठक को षट्खण्डागम के इस प्रकरण के सूत्रों के अर्थ में जरा भी सन्देह नहीं रह सकता। यह सर्वविदित है कि अकलङ्कदेव वीरसेन स्वामी से पूर्ववर्ती हैं और उन्होंने (वीरसेन स्वामी ने) अपनी धवला तथा जयधवला दोनों टीकाओं में अकलङ्कदेव के राजवार्तिक के प्रमाणोल्लेखों से अपने वर्णित विषयों को कई जगह प्रमाणित किया है। अतः राजवार्तिक में षट्खण्डागम के इस प्रकरण-संबन्धी सूत्रों का जो खुलासा किया गया है, वह सर्व के द्वारा मान्य होगा ही। वह खुलासा निम्न प्रकार है—

“मनुष्यगती मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति। अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्याख्यानि। मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, न द्रव्यलिङ्गापेक्षया। द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजनना-भावात्।” (तत्त्वार्थराजवार्तिक / ९ / ७ / ११ पृ. ६०५)।

“पाठकगण इसे षट्खण्डागम के निम्न सूत्रों के साथ पढ़ें—

“मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

“सम्मामिच्छाङ्घ्रि-संजदासंजद-संजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९० ॥

“एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥” ९१ ॥

“मणुसिणीसु मिच्छाङ्घ्रि-सासणसम्मामिच्छाङ्घ्रि-ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

“सम्मामिच्छाङ्घ्रि-असंजदसम्मामिच्छाङ्घ्रि-संजदासंजद-संजदट्टाणे णियमा पज्जत्ति-याओ ॥ ९३ ॥”^{११४८}

“षट्खण्डागम और राजवार्तिक के इन दोनों उद्धरणों पर से पाठक यह सहज में समझ जावेंगे कि राजवार्तिक में षट्खण्डागम का ही भावानुवाद दिया हुआ है और सूत्रों में जहाँ कुछ भ्रान्ति हो सकती थी, उसे दूर करते हुए सूत्रों के हार्द का सुस्पष्ट शब्दों द्वारा खुलासा कर दिया गया है। राजवार्तिक के उपर्युक्त उल्लेख में यह स्पष्टतया बतला दिया गया है कि पर्याप्त मनुष्यणियों के १४ गुणस्थान होते हैं, किन्तु वे भावलिंग की अपेक्षा से हैं, द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से तो उनके आदि के पाँच ही गुणस्थान होते हैं। इससे प्रकट है कि वीरसेन स्वामी ने जो भावस्त्री की अपेक्षा १४ गुणस्थान और द्रव्यस्त्री की अपेक्षा ५ गुणस्थान षट्खण्डागम के ९३वें सूत्र की टीका में व्याख्यात किये हैं, और जिन्हें ऊपर अकलंकदेव ने भी बतलाया है, वह बहुत प्राचीन मान्यता है और वह सूत्रकार के लिये भी इष्ट है। अत एव सूत्र ९२ वें में उन्होंने अपर्याप्त स्त्रियों में सिर्फ दो ही गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है और जिसका उपपादन ‘अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजनना-भावात्’ कहकर अकलङ्कदेव ने किया है। अकलङ्कदेव के इस स्फुट प्रकाश में सूत्र ८९ और ९२ से महत्वपूर्ण तीन निष्कर्ष और निकलते हुए हम देखते हैं। एक तो यह कि सम्यग्दृष्टि स्त्रियों में पैदा नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियों के प्रथम के दो ही गुणस्थान कहे गये हैं, जब कि पुरुषों में इन दो गुणस्थानों के अलावा चौथा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी बतलाया गया है और इस तरह उनके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान कहे गये हैं। इसी प्राचीन मान्यता का अनुसरण और समर्थन स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक ३५) में किया है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि यह मान्यता कुन्दकुन्द या स्वामी समन्तभद्र आदि द्वारा पीछे से नहीं गढ़ी गई है, अपितु उक्त सूत्रकाल के पूर्व से ही चली आ रही है।

“दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियों के आदि के दो गुणस्थान और पुरुषों के पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान ही संभव

होते हैं और इसलिये इन गुणस्थानों को छोड़कर अपर्याप्त अवस्था में भाववेद या भावलिङ्ग नहीं होता, जिससे पर्याप्त मनुष्यणियों की तरह अपर्याप्त मनुष्यणियों के १४ भी गुणस्थान कहे जाते और इसलिये वहाँ भाववेद या भावलिङ्ग की विवक्षा-अविवक्षा का प्रश्न नहीं उठता। हाँ, पर्याप्त अवस्था में भाववेद होता है, इसलिये उसकी विवक्षा-अविवक्षा का प्रश्न जरूर उठेगा, अतः वहाँ भावलिङ्ग की विवक्षासे १४ और द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से प्रथम के पाँच ही गुणस्थान बतलाये गये हैं। इन दो निष्कर्षों पर से स्त्रीमुक्ति-निषेध की मान्यता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है और यह मालूम हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति-निषेध की मान्यता कुन्दकुन्द की अपनी चीज नहीं है, किन्तु वह भगवान् महावीर की ही परम्परा की चीज है और जो उन्हें उक्त सूत्रों-भूतबलि और पुष्पदन्त के प्रवचनों के पूर्वसे चली आती हुई प्राप्त हुई है।

“तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि यहाँ सामान्य मनुष्यणी का ग्रहण है, द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीका नहीं, क्योंकि अकलङ्कदेव भी पर्याप्त मनुष्यणियों के १४ गुणस्थानों का उपपादन भावलिङ्ग की अपेक्षा से करते हैं, और द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से पाँच ही गुणस्थान बतलाते हैं। यदि सूत्र में द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीमात्र का ग्रहण होता, तो वे सिर्फ पाँच ही गुणस्थानों का उपपादन करते, भावलिङ्गकी अपेक्षा से १४ का नहीं। इसलिये जिन विद्वानों का यह कहना है कि “सूत्र में पर्याप्त शब्द पड़ा है, वह अच्छी तरह सिद्ध करता है कि द्रव्यस्त्री का ही यहाँ ग्रहण है, क्योंकि पर्याप्तियाँ सब पुद्गलद्रव्य ही हैं --- पर्याप्त स्त्री का ही द्रव्यस्त्री अर्थ है,”^{१४९} वह संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अकलंकदेव के विवेचन से प्रकट है कि यहाँ ‘पर्याप्तस्त्री’ का अर्थ द्रव्यस्त्री नहीं है और न द्रव्यस्त्री का प्रकरण है। किन्तु सामान्यस्त्री उसका अर्थ है और उसी का प्रकरण है और भावलिङ्ग की अपेक्षा उनके १४ गुणस्थान हैं। दूसरे यद्यपि पर्याप्तियाँ पुद्गल हैं, लेकिन पर्याप्तकर्म तो जीवविपाकी है, जिसके उदय होने पर ही ‘पर्याप्तक’ कहा जाता है। अतः ‘पर्याप्त’ शब्द का अर्थ केवल द्रव्य नहीं है, भाव भी है।

“अतः राजवार्तिक के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि षट्खंडागम के ९३वें सूत्र में ‘संजद’ पद की स्थिति आवश्यक एवं अनिवार्य है। यदि ‘संजद’ पद सूत्र में न हो, तो पर्याप्त मनुष्यणियों में १४ गुणस्थानों का अकलंकदेव का उक्त प्रतिपादन सर्वथा असंगत ठहरेगा और जो उन्होंने भावलिङ्ग की अपेक्षा उसकी उपपत्ति बैठाई है तथा द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा ५ गुणस्थान ही वर्णित किये हैं, वह सब अनावश्यक

१४९. देखिए, पं. रामप्रसाद जी शास्त्री के विभिन्न लेख और ‘दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण’/द्वितीय अंश/पृ.८ और पृ.४५।

और अयुक्त ठहरेगा। अत एव अकलङ्कदेव उक्त सूत्र में 'संजद' पदका होना मानते हैं और उसका सयुक्तिक समर्थन करते हैं। वीरसेन स्वामी भी अकलंकदेव के द्वारा प्रदर्शित इसी मार्ग पर चले हैं। अतः यह निर्विवाद है कि उक्त सूत्र में 'संजद' पद है। और इसलिये ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण सूत्रों में भी इस पद को रखना चाहिये, तथा भ्रान्तिनिवारण एवं स्पष्टीकरण के लिये उक्त सूत्र ९३ के फुटनोट में तत्त्वार्थराजवार्तिक का उपर्युक्त उद्धरण दे देना चाहिये।

“हमारा उन विद्वानों से, जो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं, नम्र अनुरोध है कि राजवार्तिक के इस दिनकर-प्रकाश की तरह स्फुट प्रमाणोल्लेख के प्रकाश में उस पद को देखें। यदि उन्होंने ऐसा किया, तो मुझे आशा है कि वे भावलङ्ग की अपेक्षा उक्त सूत्र में 'संजद' पद का होना मान लेंगे। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज से भी प्रार्थना है कि वे ताम्रपत्र में उक्त सूत्र में 'संजद' पद अवश्य रखें, उसे हटाये नहीं।”^{१५०}

मान्य कोठिया जी के मत में किञ्चित् संशोधन आवश्यक

माननीय कोठिया जी ने तत्त्वार्थराजवार्तिक से भट्ट अकलंकदेव के वचन उद्धृत कर भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणागत ९३वें सूत्र में 'संजद' पद का होना अनिवार्य है तथा उसमें प्रयुक्त 'मणुसिणी' शब्द भावमनुष्यिणी और द्रव्यमनुष्यिणी दोनों का वाचक है। प्रसंगवश यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। कोठिया जी का यह मत आगम के अनुकूल नहीं है कि “अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियों के आदि के दो गुणस्थान और पुरुषों के पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान ही संभव हैं और इसलिए इन गुणस्थानों को छोड़कर अपर्याप्त अवस्था में भाववेद या भावलिंग नहीं होता, जिससे पर्याप्त मनुष्यिनियों की तरह अपर्याप्त मनुष्यिनियों के १४ भी गुणस्थान कहे जाते।”

वस्तुतः प्रत्येक जीव में भाववेद (वेदनोकषाय) का उदय उत्तरभव के प्रथम समय (विग्रहगति) में ही हो जाता है, जिससे विग्रहगति में ही जीव की मनुष्य, मनुष्यिणी आदि संज्ञाएँ निर्धारित हो जाती हैं। (देखिए, प्रकरण ४/ शीर्षक १ तथा १०.४ एवं पा.टि. ३२)। बात सिर्फ यह है कि कोई भी जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तथा संयतासंयत से लेकर आगे के शेष गुणस्थानों के साथ पूर्वभव से उत्तरभव में नहीं जाता। इसलिए किसी भी जीव की अपर्याप्त अवस्था में ये गुणस्थान नहीं होते। तथा अपर्याप्त अवस्था में किसी भी मिथ्यादृष्टि जीव को उपशम-सम्यग्दर्शन नहीं

१५०. 'अनेकान्त' (मासिक) / वर्ष ८ / किरण २ / फरवरी १९४६ / पृ. ८३-८५।

होता और अपर्याप्तक स्त्रीवेदी को औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक तीनों सम्यग्दर्शन नहीं होते। (स.सि./१/७/२६/पृ.१७, गो.जी./गा.१२८)। इसके अतिरिक्त जो असंयत-सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनसहित उत्तरभव में जाता है, उसके उत्तरभव के प्रथम समय (विग्रहगति) में भावस्त्रीवेद का उदय नहीं होता, अपितु भावपुरुषवेद का उदय होता है, केवल मिथ्यादर्शन एवं सासादनसम्यग्दर्शन के साथ उत्तरभव में जानेवाले जीव में उत्तरभव के प्रथम समय में भावस्त्रीवेद का उदय संभव है। इस कारण भावमनुष्यिनी की अपर्याप्त अवस्था में आदि के दो गुणस्थानों को छोड़कर शेष गुणस्थान नहीं होते। इसीलिए षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणागत ९२वें सूत्र में अपर्याप्त मनुष्यिनी में मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो को छोड़कर शेष बारह गुणस्थानों का कथन नहीं किया गया है। इस प्रकार अपर्याप्त मनुष्यिनी में शेष बारह गुणस्थानों का कथन न किये जाने का कारण यह नहीं है कि अपर्याप्त अवस्था में भाववेद या भावलिंग का उदय नहीं होता, अपितु ऊपर बतलाया हुआ कारण है।

३

‘संजद’ पद होने के पक्ष में सोनी जी का तर्क

षट्खण्डागम के अन्तस्तल में पहुँचे हुए पुराने विद्वान् पं० पन्नालाल जी सोनी ने ९३वें सूत्र में ‘संजद’ पद होने के समर्थन में एक २२४ पृष्ठों का षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने युक्तिप्रमाणपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि ९३वें सूत्र में ‘संजद’ पद रखा जाना क्यों आवश्यक है? पण्डित जी के मन्तव्य को समझने के लिये इस ग्रन्थ के ‘नम्र निवेदन’ से उनके कुछ वचनांश उद्धृत कर रहा हूँ। वे इस प्रकार हैं—

“किसी भी विषय को जानने के लिये उस ग्रन्थ की कथनशैली, विषयविभाग आदि के जानने की भी पूर्ण आवश्यकता है। इन बातों को देखते हुए नं० ९३ वें में संजद-शब्द का होना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। षट्खण्डागम के आद्य मुद्रित सात खंडों में भावमार्गणाओं का कथन है, अतः उन भावमार्गणाओं का अस्तित्व, उनमें द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श आदि आठ अनुयोगद्वारा कहे गये हैं। उत्पत्ति इन मार्गणाओं की कैसे होती है, उनमें कौन-कौन से और कितने-कितने गुणस्थान हैं, इन सबको देखते हुए मैं इस आशय पर पहुँचा हूँ कि यह सब कथन भावों से सम्बन्ध रखता है, द्रव्यवेदों का अस्तित्व, उत्पत्तिकारण, उनमें संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, गुणस्थान आदि नहीं कहे गये हैं। बिना कहे ही ये सब द्रव्यवेद में कहे गये हैं, ऐसी धारणा बना लेना विपरीत विषयका प्रतिपादन है।

“जीवद्वाराण द्रव्यवेदों का न प्रतिपादन करता है और न ही कौन द्रव्यवेद में कितने-कितने गुणस्थान हैं, किन-किन के कौन-कौन सा द्रव्यवेद है, इन बातों का वर्णन करता है। बिना इसके प्रत्येक मार्गणा और उसके भेदों के साथ द्रव्यवेद का सम्बन्ध जोड़ लेना ठीक नहीं है। शरीर जीवों के होते हैं, द्रव्यवेद होते हैं, इस कल्पना पर से मनुषिणी के द्रव्यवेद की कल्पना की जा रही है। वह भी द्रव्यस्त्रीवेद की ही, तो जिन मनुषिणियों के चौदह गुणस्थानों में संख्या, क्षेत्र आदि आठ अनुयोग कहे गये हैं, उनके दूसरे लोग द्रव्यस्त्रीवेद की कल्पना करते हैं। जैसी तेरानवेवें सूत्र में द्रव्यवेद की कल्पना द्रव्यपक्षी कर रहे हैं, वैसी ही स्त्रीमुक्ति के चाहनेवाले मनुषिणी-सम्बन्धी अन्य सूत्रों में भी द्रव्यस्त्रीवेद की कल्पना करते हैं। संजद-शब्द के इस ताम्रप्रति में से निकाल देने पर भी नं० ९३वें का सूत्र द्रव्यस्त्री का प्रतिपादक तो होगा नहीं, जब कि वह अन्य ऐसी ही प्रतियों में तदवस्थ है। अतः बेहतर है कि हमारी गलती पर से प्रतिपक्षी लाभ न उठा सकें। यदि कैसे भी दुराग्रहवश संजद-शब्द को निकलवाकर द्रव्यस्त्री की घोषणा की जायगी, तो भी नं० ९३ वें सूत्रान्तर्गत मनुषिणी द्रव्यस्त्री सिद्ध नहीं होगी, प्रत्युत प्रतिपक्षियों को पूरा बल मिल जायगा। अतः बेहतर है कि संजद-शब्द के निकलवाने के दुराग्रह को त्यागकर मातृप्रतियों में जैसा पाठ है, वैसा ही भावस्त्रियों की अपेक्षा स्वीकार कर लिया जाय।” (षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन/नम्रनिवेदन/पृ.२-४)।

विद्वानों के इन उद्गारों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागम की प्रकाशित प्रति में संजद पद किसी मजबूरी से नहीं रखा गया है, अपितु इसलिये रखा गया है कि ताड़पत्रीय मूलप्रति में वह विद्यमान है और उसके होने पर ही षट्खण्डागम में प्रतिपादित सिद्धान्तों की दिगम्बरजैनमत से संगति बैठती है, न होने पर सारा प्रतिपादन विसंगतियों से आक्रान्त हो जाता है।



अष्टम प्रकरण

कर्मसिद्धान्त-व्यवस्था से वेदवैषम्य की सिद्धि

१

प्रो० हीरालाल जी का वेदवैषम्य-विरोधी मत

षट्खण्डागम में भावस्त्रीवेद के उदय से युक्त पुरुषशरीरधारी मनुष्य को भी मनुष्यिनी शब्द से अभिहित किया गया है और उसे चौदह गुणस्थानों की प्राप्ति संभव बतलायी गयी है। इसलिए षट्खण्डागम में मनुष्यिनी के लिए संयतगुणस्थान के विधान से यह सिद्ध नहीं होता कि उसमें द्रव्यस्त्री की मुक्ति मानी गयी है।

किन्तु प्रो० हीरालाल जी जैन को भी यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन के समान वेदवैषम्य स्वीकार नहीं है, इसलिए उन्होंने षट्खण्डागम में जिस मनुष्यिनी को संयतगुणस्थान की प्राप्ति बतलायी गयी है, उसे भावमनुष्यिनी न मानकर द्रव्यमनुष्यिनी माना है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दिगम्बरजैन-परम्परा में भी द्रव्यस्त्रीमुक्ति मानी गयी है। (सिद्धान्तसमीक्षा / भाग ३ / पृ.१९१)।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड की २७१ वीं गाथा की टीका में श्री केशव वर्णो ने लिखा है कि पुंवेदादि-नोकषायरूप वेदकर्म, निर्माणनामकर्म तथा अंगोपांगनामकर्म, इन तीन के उदय से पुरुषादि के शरीर की रचना होती है। इस अभिप्राय को व्यक्त करनेवाली उनकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक कर्णाटवृत्ति का श्री नेमिचन्द्र (१६वीं शताब्दी ई०) द्वारा किया गया जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृतरूपान्तर^{१५१} नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

“पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्ना-दिलिङ्गाङ्कितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन निर्लोममुखस्तनयोन्त्यादि-लिङ्गलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति। नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्त-

१५१.क— गोम्मटसार / जीवकाण्ड / भाग १ मंगलगाथा १ / उत्थानिका : संस्कृत-जीवतत्त्व-प्रदीपिका / पृ. ९।

ख—गो.सा./ जी.का./ भा.१/ प्रस्ता./ पृ.३६।

ग—गो.सा./ क.का./ भा.२/ गा. १७२/ संस्कृतटीकार-प्रशस्ति/ या.टि. १/ पृ. १३८९-१३९३।

घ— तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा/ खण्ड २/ पृ. ४४०।

देहाङ्कितो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति। एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमि-सर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयाङ्किता भवन्ति। क्वचित् कर्मभूमिमनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमाः विसदृशा अपि भवन्ति। तद्यथा—द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकम्। द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकम्। द्रव्यनपुंसके भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकमिति विषमत्वं द्रव्यभावयोरनियमः कथितः। कुतः? द्रव्यपुरुषस्यक्षपकश्रेण्यारूढानिवृत्ति-करणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे 'सेसोदयेण वि तथा झाणुवजुत्ता य ते दु सिञ्चन्ति' (कुन्दकुन्द-सिद्धभक्ति ६) इति प्रतिपादितत्वेन सम्भवात्।" (जी. त. प्र. / गो. जी. / गा. २७१)।

प्रो० हीरालाल जी इसका सन्दर्भ देते हुए लिखते हैं—“(उक्तटीका में) विधिवत् यह बतलाया गया है कि जब पुंवेद के उदय के साथ निर्माण और अगोपांगनामकर्म का उदय होता है, तभी शिशनादि-लिंगांकित पुरुषशरीर उत्पन्न होता है। जब स्त्रीवेद के उदय के साथ उन्हीं नामकर्मों का उदय होता है, तब योनि आदि लिंगसहित स्त्रीशरीर उत्पन्न होता है और जब नपुंसकवेदोदय के साथ उन्हीं कर्मों का उदय होता है, तब उभयलिंग-व्यतिरिक्त नपुंसकशरीर उत्पन्न होता है। यही कर्म-सिद्धान्त की नियतव्यवस्था बतलाकर टीकाकार ने क्वचित् विषमत्व की बात यह कहकर समझायी है कि चूँकि परमागम में तीनों वेदों से क्षपकश्रेणी का विधान किया गया है, इसलिए यह भी संभव मान लेना चाहिए कि कर्मभूमि के जीवों में भाव और द्रव्य वेदों में वैषम्य भी होता है। किन्तु टीकाकार ने वेदसाम्य को जैसी व्यवस्था से समझाकर बतलाया है, वैसी वे यहाँ नहीं बता सके कि कर्मोदय की कौनसी व्यवस्था से यह वेदवैषम्य फलित होता है। वेदवैषम्य इस कारण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि किसी भी द्रव्यशरीर के साथ कोई भी भाववेद उदय में आ सकता, तो जीवन में कषायों के समान वेदपरिवर्तन भी माना गया होता। --- आगम में वेदपरिवर्तन नहीं मानने का कारण यही है कि स्त्रीवेद स्त्रीशरीर में ही उदय में आ सकता है और चूँकि शरीररचना जीवन भर बदलती नहीं है, इसीलिए भाववेद भी एक पर्याय में कभी बदल नहीं सकता। यही बात पुरुष व नपुंसक-वेदोदय की है। (सिद्धान्तसमीक्षा / भाग ३ / पृ. १८८-१८९)।

प्रोफेसर सा० आगे लिखते हैं—“शरीर की स्त्री-पुरुषरूप रचना के लिए क्रमशः स्त्री व पुरुषवेद-विशिष्ट जीव निमित्तरूप से कारणीभूत होता ही है। अत एव कोई भी द्रव्यवेद अपने भाववेद के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता एवं भव के प्रथम समय से जीव के जो भाववेद होगा, वह अपने ही अनुरूप द्रव्यवेद की रचना करके व्यक्तरूप से उदय में आवेगा।” (सिद्धान्त-समीक्षा / भाग ३ / पृ. १९०-१९१)।

इसके बाद प्रोफेसर सा० ने लिखा है—“वेदरूप भाव के अनुसार ही पुरुष-स्त्रीरूप जातियाँ उत्पन्न होती हैं और उनकी जो द्रव्यरचना प्रतिनियत है, वही उनके उत्पन्न होती है। अत एव वेदवैषम्य कर्म-सिद्धान्त-व्यवस्था से सिद्ध नहीं होता, चाहे उसके उल्लेख दिगम्बर-ग्रन्थों में हों और चाहे श्वेताम्बरग्रन्थों में। फलतः यदि तीनों भाववेदों से क्षपकश्रेणी चढ़ना इष्ट है, तो तीनों द्रव्यवेदों से मुक्ति के प्रसंग से बचा नहीं जा सकता।” (सिद्धान्तसमीक्षा / भाग ३/पृ.१९१)।

‘सर्वार्थसिद्धि’ और ‘धवला’ में कहा गया है कि भावेन्द्रिय के निमित्त से द्रव्येन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसका उदाहरण देते हुए प्रोफेसर सा० लिखते हैं कि इसी प्रकार भाववेद अपने समान द्रव्यवेद की रचना करता है, (सिद्धान्तसमीक्षा / भाग ३/ पृ. २९८-२९९)।

२

प्रोफेसर सा० के वेदवैषम्य-विरोधी मत का निरसन

१. प्रोफेसर सा० ने यह स्वीकार किया है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन शास्त्रों में वेदवैषम्य के उल्लेख हैं, फिर भी वे उसे सत्य नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार वह कर्म-सिद्धान्त-व्यवस्था से सिद्ध नहीं होता। आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि, आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद स्वामी, भट्ट अकलंकदेव, वीरसेन स्वामी और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि दिगम्बराचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, सर्वज्ञ के उपदेश के आधार पर किया है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित वेदवैषम्य भी सर्वज्ञोपदिष्ट ही है। यदि हम छद्मस्थों की तर्कबुद्धि में वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, तो यह सिद्ध नहीं होता कि वह असत्य है। यदि हमारी छद्मस्थबुद्धि ही प्रमाण हो, तो, आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, कर्मसिद्धान्त आदि अनेक तत्त्व अप्रामाणिक सिद्ध होंगे, क्योंकि इनकी सत्यता भी हमारी तर्कबुद्धि से सिद्ध नहीं होती। अतः यदि वेदवैषम्य सर्वज्ञोपदिष्ट है, तो उसका कर्मसिद्धान्त-व्यवस्था से भी सिद्ध होना अनिवार्य है। उसकी सिद्धि आगे द्रष्टव्य है।

२. गोम्मटसार-जीवकाण्ड की २७१ वीं गाथा की श्रीकेशववर्णिकृत टीका ग्रन्थकार के आशय के अनुरूप नहीं है। गाथा में यह कहीं नहीं कहा गया है कि भाववेद, निर्माणनामकर्म और अंगोपांगनामकर्म, इन तीन के द्वारा द्रव्यवेद की रचना होती है। उसमें तो यह कहा गया है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मप्रकृतियों के उदय से भावपुरुषवेद, भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद रूप परिणाम की उत्पत्ति होती है तथा अंगोपांगनामकर्म के उदय से द्रव्यवेद की रचना होती है। भाववेद और

द्रव्यवेद प्रायः समान होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं विषम भी होते हैं। प्रमाण के लिए वह गाथा यहाँ उद्धृत की जा रही है—

पुरुसिच्छिसंभवेदोदण पुरिसिस्थिसंभवो भावे।
गामोदण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ २७१॥

इस प्रकार टीकाकार का प्रतिपादन गाथाकार के आशय के सर्वथा विपरीत है। अतः वह मान्य नहीं हो सकता।

पूज्यपाद स्वामी ने भी “द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादिनामकर्मोदय-निर्वर्तितम्। नोकषा-योदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्” (स.सि/२/५२/३६३/पृ.१४७) इन वाक्यों में यही बात कही है। उन्होंने द्रव्यवेद की उत्पत्ति केवल नामकर्म के उदय से बतलायी है, भाववेद और नामकर्म दोनों के उदय से नहीं। और भट्ट अकलंकदेव ने तो स्पष्ट शब्दों में भावस्त्रीवेद के उदय से योनि-स्तन आदिरूप द्रव्यस्त्रीवेद की उत्पत्ति का निषेध किया है। यथा—“ननु लोके प्रतीतं योनि-पृथुस्तनादि स्त्रीवेदलिङ्गम्। न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्।” (त.रा.वा.८/९/४/पृ.५७४)।

अनुवाद—“(यहाँ प्रश्न किया गया है कि) स्त्रीवेद के उदय से तो योनि, पृथुस्तन आदि लोकप्रसिद्ध लिंग (स्त्रीशरीरसूचक अंगों) की उत्पत्ति होती है? (इसके उत्तर में अकलंकदेव कहते हैं) नहीं, उसकी उत्पत्ति तो नामकर्म (स्वयंगोपांगनामकर्म) के उदय से होती है।”

अकलंकदेव ने केवल कोमलता, लज्जालुता, नेत्रविभ्रम, पुरुष के साथ रमणेच्छा आदि स्त्रैणभावों के उदय को स्त्रीवेद नामक नोकषायकर्म का कार्य बतलाया है, योनि, स्तन आदि स्त्रीशरीर के लोकप्रसिद्ध चिह्नों की उत्पत्ति को नहीं। यथा—

“यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्व-क्लैब्य-मदनावेश-नेत्रविभ्रमास्फालनसुख-पुंस्कामनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः।” (त.रा.वा.८/९/४/पृ.५७४)।

इन वचनों से सिद्ध है कि भाववेद, द्रव्यवेद के उदय या रचना का हेतु नहीं है।

३. पूज्यपाद स्वामी ने भावेन्द्रियों को द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति का हेतु कहा है,^{१५२} किन्तु भाववेद को द्रव्यवेद की उत्पत्ति का हेतु नहीं कहा। भट्ट अकलंकदेव ने तो,

१५२. “लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्” (त.सू.२/१८)। लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृतिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः। (स.सि/२/१८/२९६/पृ.१२७)।

भाववेद के द्वारा द्रव्यवेद की उत्पत्ति मानने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। इसके प्रमाण पूर्व में प्रस्तुत किये जा चुके हैं। अतः भावेन्द्रियों और द्रव्येन्द्रियों के दृष्टान्त द्वारा भाववेद को द्रव्यवेद की उत्पत्ति का हेतु मानना आगमसम्मत नहीं है। और भावेन्द्रियों को द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति का हेतु भी उपचार से कहा गया है। वस्तुतः भावेन्द्रियों और द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति की व्यवस्था जातिनामकर्म के अधीन है। जीव के द्वारा बाँधा गया जो जातिकर्म उदय में आता है, उसी के अनुसार स्पर्शनादि-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम होता है तथा एकेन्द्रियादिरूप अंगोपांगनामकर्म का उदय होता है, जिससे द्रव्येन्द्रिय की रचना होती है। ध्वलाकार ने जातिनामकर्म की वशवर्तिता (अधीनता) में ही विभिन्न कर्मों के क्षयोपशम और उदय से द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति बतलायी है—

“वीर्यान्तराय-स्पर्शनरसनेन्द्रियावरण-क्षयोपशमे सति शेषेन्द्रिय-सर्वघातिस्पर्ध-कोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रिय-जातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः।” (ष.खं./पु.१/१,१,३३/पृ.२४४)।

अनुवाद—“वीर्यान्तराय और स्पर्शन-रसनेन्द्रियावरण कर्मों का क्षयोपशम होने पर, शेष-इन्द्रियावरणकर्मों के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने पर तथा अंगोपांगनामकर्म के उदय का आलम्बन होने पर द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के उदय की वशवर्तिता में स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

यतः भावेन्द्रियों का उदय विग्रहगति में हो जाता है और द्रव्येन्द्रियनिष्पादक अंगोपांगनामकर्म का उदय तदनन्तर मिश्रशरीरकाल में होता है, इस पूर्वापरता के ही कारण भावेन्द्रियों को कारण और द्रव्येन्द्रियों को कार्य उपचार से कहा गया है। पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने भी लिखा है—

“वास्तव में द्रव्येन्द्रिय का नियमन भावेन्द्रिय नहीं करती, किन्तु जातिनामकर्म करता है। जातिनामकर्म ही तत्तत् इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम में भी कारण है और वही अपने योग्य द्रव्येन्द्रियों को प्राप्त करता है। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि भावेन्द्रियों से द्रव्येन्द्रियों की रचना नहीं होती।” (सिद्धान्तसमीक्षा/भाग ३/पृ.२६४)।

इस प्रकार भावेन्द्रियों से द्रव्येन्द्रियों की रचना के दृष्टान्त द्वारा भाववेद को द्रव्यवेद की रचना का हेतु मानना युक्तिसंगत एवं आगमसम्मत नहीं है।

४. वीरसेन स्वामी ने जयध्वला में कहा है—“इत्थिपुरिसवेदाणं संखेज्जभागवड्ढि-कालो जहण्णुक्कस्सेण एगसमओ। वे समया ण लब्भंति। कुदो? बेइंदियाणं तीइंदिएसु, तेइंदियाणं चउरिदिएसु उप्पज्जमाणामप्पणो आउअचरिमसमए णवुंसयवेदं मोत्तूण अण्ण-

वेदाणं बंधाभावादो। कुदो, जम्मि जादीए उप्पज्जदि तज्जादिपडिबद्धवेदस्सेव भुंजभाणाउ-
अस्स चरिमअंतोमुहुत्तम्मि णिरंतरबंधसंभवादो। तेण इत्थिपुरिसवेदाणं सगसगट्टिदिसंत-
कम्मादो संखेज्जभागब्बहियं कसायट्टिदिं बंधाविय बंधावलियादिककंतं बज्जमाणित्थि-
पुरिसवेदेसु संकामिदेसु संखेज्ज-भागवड्डीए एगसमओ चेव लब्बदि।” (ज.ध./क.पा./
भा.४ / ट्टिदिविहत्ती ३ / गा.२२ / अनुच्छेद २८९, पृ. १७०)।

अनुवाद—“स्त्रीवेद और पुरुषवेद की संख्यातभागवृद्धि का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है। दो समय काल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रियों में और त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, उनके अपनी आयु के अन्तिम समय में नपुंसकवेद को छोड़कर अन्य वेद का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जो जीव जिस जाति में उत्पन्न होता है, उसके उस जाति से सम्बन्ध रखनेवाले वेद का ही भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में निरन्तर बन्ध सम्भव है। इसलिए स्त्रीवेद और पुरुषवेद की अपने-अपने स्थितिस्त्वकर्म से संख्यातवें भाग अधिक कषाय की स्थिति का बन्ध कराके बन्धावलि के बाद बँधनेवाले स्त्रीवेद और पुरुषवेद में उसके संक्रान्त होने पर संख्यातभागवृद्धि का एक समय ही प्राप्त होता है।”

इसका विशेषार्थ बतलाते हुए पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य लिखते हैं—“--- जो द्वीन्द्रिय से तेइन्द्रिय में और तेइन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में उत्पन्न होते हैं, उनके अपनी आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में नपुंसकवेद के अतिरिक्त अन्य वेद का बन्ध नहीं होता, क्योंकि तेइन्द्रिय या चतुरिन्द्रिय जीव, जिनमें वे उत्पन्न होंगे, नियम से नपुंसकवेदी होते हैं और सामान्य नियम यह है कि जो जीव जिस जाति में उत्पन्न होता है, उसके उस जाति से सम्बन्ध रखनेवाले वेद का ही भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में निरन्तर बन्ध सम्भव है।” (पृ.१७१)।

इसी प्रकार ट्टिदिविहत्ती की २२वीं गाथा की जयधवला टीका के ५४वें अनुच्छेद का विशेषार्थ प्रकाशित करते हुए उक्त विद्वानों ने लिखा है—“किन्तु तिर्यच पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के स्त्रीवेद की और योनिमती तिर्यच के पुरुषवेद और नपुंसकवेद की भुजगारस्थिति के सत्रह समय ही प्राप्त होते हैं, जिसका उल्लेख मूल में किया ही है। बात यह है कि जो जिस वेद के साथ उत्पन्न होता है, उसके पूर्वपर्याय के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में वह वेद ही बँधता है, अतः योनिमती तिर्यच में उत्पन्न होनेवाले जीव के पूर्वपर्याय के अन्त में पुरुष व नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होने से सोलह कषायों का उक्त वेदों में संक्रमण भी नहीं होता, अतः उक्त वेदों के भुजगार के अठारह समय घटित नहीं होते। इसी प्रकार पर्याप्त तिर्यच के स्त्रीवेद के भुजगार का काल अठारह समय न कहकर सत्रह समय कहा है। सो यह सत्रह समय स्वस्थान की अपेक्षा जानना चाहिए।” (ज.ध./क.पा./भा.४/ट्टिदिविहत्ति ३/गा.२२/अनुच्छेद ५४/पृ.३०)।

इन कथनों से यह सामान्य नियम प्रकट होता है कि पूर्व भव की आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जिस नोकषायरूप भाववेद तथा नामकर्मरूप द्रव्यवेद का बन्ध होता है, उन्हीं का उदय उत्तरभव में होता है।^{१५३} ऊपर कहा गया है कि “योनिमती तिर्यच में उत्पन्न होनेवाले जीव के, पूर्वपर्याय के अन्त में पुरुष व नपुंसक वेद का बन्ध नहीं होता।” यहाँ योनिमती शब्द से स्पष्ट है कि द्रव्यवेद-नामकर्म का बन्ध भी पूर्वपर्याय के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है। तथा नोकषायरूप भावपुरुषादिवेद एवं नामकर्मरूप द्रव्यपुरुषादिवेद का बन्ध समान परिणाम से होता है, क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उदयाभाव में जैसे नोकषायरूप स्त्री-नपुंसक-वेद का बन्ध नहीं होता, वैसे ही नामकर्मरूप स्त्री-नपुंसकवेद का भी बन्ध नहीं होता।^{१५४} इसलिए जब नोकषायरूप पुरुषादिभाववेद के बन्धयोग्य परिणाम होता है, तब उसके साथ नामकर्मरूप पुरुषादिद्रव्यवेद भी बँधता है। पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में भी ऐसा ही होता है। अतः उत्तरभव में जिस भाववेद और द्रव्यवेद का उदय होना है, वह सामान्यतः पूर्वभव में ही निर्धारित हो जाता है। इसलिए उत्तरभव में नोकषायरूप भाववेद के अनुसार द्रव्यवेद की रचना होती है, यह मान्यता आगमविरुद्ध है।

किन्तु उत्तरभव में उदय में आनेवाले भाववेद और द्रव्यवेद का पूर्वभव में निर्धारित होना एक सामान्य नियम है। इसका अपवाद भी है, क्योंकि भट्ट अकलंकदेव ने कहा है—“अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः। कदाचिद्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्।” (त.रा.वा.८/९/४/पृ.५७४)। अर्थात् आभ्यन्तर विशेषता के कारण कभी पुरुष में भी स्त्रीवेद का उदय हो जाता है और कभी स्त्री में भी पुरुषवेद उदय में आ जाता है।

उपर्युक्त सामान्य नियम का यह अपवाद सर्वज्ञोपदिष्ट ही है। तथा “पुरुष में भी स्त्रीवेद का उदय और स्त्री में भी पुरुषवेद का उदय” इस शब्दावली से द्योतित होता है कि जीव, द्रव्य से पुरुष या स्त्री तो पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में बाँधे गये पुरुषवेद-नामकर्म या स्त्रीवेद-नामकर्म के उदय से ही होता है, किन्तु उसमें भावस्त्रीवेद या भावपुरुषवेद का उदय अन्तिम अन्तर्मुहूर्त से पहले कभी बाँधे गये नोकषायरूप

१५३. “कपट, धोखे आदि के परिणामों से स्त्रीवेद का तीव्र अनुभाग लिए बन्ध होता है। जिस मनुष्य के मरते समय कपट-आदि रूप परिणाम होते हैं, वे मरकर मनुष्यनी व देवी होते हैं।” पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व/भाग १/पृ. ४३४।

१५४. सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्गनपुंसकस्त्रीत्वानि।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च ब्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ १/३५ ॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार।

स्त्रीवेद या पुरुषवेद के उदय से होता है। और उसका उदय जीव के किसी आभ्यन्तर परिणामविशेष के निमित्त से होता है। तात्पर्य यह कि कर्मोदय के निमित्तभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव^{१५५} इन पाँच प्रत्ययों में से भाव के निमित्त से उक्त नोकषायरूप भावस्त्रीवेद या भावपुरुषवेद का उदय होता है। वह भाव क्या है? यह प्रश्न उत्पन्न होने पर इसका समाधान सरलतया उपलब्ध हो जाता है। समाधान यह है कि जिस भाव या परिणाम से पुरुषवेद, स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का बन्ध होता है, वही परिणाम यदि उत्तरभव के प्रथमसमय में जीव में उत्पन्न होता है, तो उससे सत्ता में स्थित नोकषायरूप भावपुरुषवेद, भावस्त्रीवेद या भावनपुंसकवेद का उदय हो जाता है, क्योंकि इन वेदों का उदय कराने में उसी जाति के परिणाम निमित्त हो सकते हैं, जिस जाति के परिणामों से उनका बन्ध होता है, अन्य कोई परिणाम निमित्त नहीं हो सकते। शास्त्रों में ऐसा कथन भी है। उदाहरणार्थ, मिथ्यात्वपरिणाम-विशेष से नपुंसकवेद का और अनन्तानुबन्धीकषाय-परिणामविशेष से स्त्रीवेद का बन्ध बतलाया गया है और सम्यग्दृष्टि जीव में स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय का निषेध किया गया है,^{१५६} इससे सिद्ध है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीजनित परिणामों से ही नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का उदय होता है। ऐसे परिणाम विग्रहगति में संभव हैं, क्योंकि उसमें औदारिक अंगोपांगनामकर्म का बन्ध होता है। अंगोपांगनामकर्म में स्त्री, पुरुष और नपुंसक शरीर के अंगोपांग शामिल हैं।^{१५७} इनका बन्ध उन्हीं परिणामों से होता है, जिनसे नोकषायरूप स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद का। अतः क्वचित् अपवादस्वरूप जो जीव उत्तरभव में द्रव्यपुरुष होनेवाला है, उसमें उत्तरभव की विग्रहगति में नोकषायरूप स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का उदय हो जाता है। इसी प्रकार जो जीव उत्तरभव में द्रव्यस्त्री होनेवाला है, उसमें उत्तरभव की विग्रहगति में नोकषायात्मक पुरुषवेद या नपुंसकवेद उदय में आ जाता है। इस तरह वेदवैषम्य घटित होने की यह कर्म-सिद्धान्त-व्यवस्था उपर्युक्त आगमवचनों से सिद्ध होती है।

१५५. “कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाक-विचयः।” सर्वार्थसिद्धि ९/३६/८९०/ पृ.३५४-३५५।

१५६. “निर्वृत्यपर्याप्तासंयते स्त्रीवेदोदयो न हि, असंयतस्य स्त्रीत्वेनानुत्पत्तेः। षण्ढवेदोदयोऽपि च न हि, षण्ढत्वेनापि तस्यानुत्पत्तेः।” जीवतत्त्वप्रदीपिका/ गोम्पटसार-कर्मकाण्ड/ गा.२८७।

१५७. “ओरालियसरीर-हुंडसंठाण-ओरालियसरीरअंगोवंग-असंपत्तसेवट्टसंघडण-उवघात्-पत्तेयसरीराणं पि सोदय-परोदओ, विग्गहगदीए उदयाभावे वि बंधुवलंभादो।” धवला/ष.खं./ पु.८/ ३,१०२/ पृ.१६४।

उपसंहार

षट्खण्डागम के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण सूत्र रूप में

अन्त में उन प्रमाणों का सूत्ररूप में संकलन कर रहा हूँ, जिनसे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है, उसकी रचना दिगम्बराचार्यों ने ही की है। वे इस प्रकार हैं—

१. श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की स्थविरावलियों और साहित्य में न तो षट्खण्डागम के कर्ता (धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि) के नामों का उल्लेख है, न षट्खण्डागम का, न षट्खण्डागम की रचना के इतिहास का कोई विवरण है, न ही अर्धमागधी प्राकृत में षट्खण्डागम की कोई प्रति उपलब्ध है।

२. उक्त आचार्यों के नाम दिगम्बरपट्टावली और दिगम्बरसाहित्य में अनेकत्र उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम के कर्ताओं के रूप में उनका उल्लेख है और षट्खण्डागम की रचना का इतिहास दिगम्बरसाहित्य में वर्णित है। शौरसेनी प्राकृत में रचित षट्खण्डागम ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूडविद्री के दिगम्बरमठ में उपलब्ध हुई हैं। दिगम्बराचार्यों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में उसका अनुसरण किया गया है। गोम्मटसार जैसा महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम के ही आधार पर रचा गया है।

३. षट्खण्डागम की रचना यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

४. षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार का ९३ वाँ सूत्र स्त्रीमुक्तिनिषेधक है, जब कि यापनीयमत स्त्रीमुक्तिसमर्थक था।

५. षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयसिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है : मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थिक-मुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभक्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्रीपर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री की तीर्थकरपदप्राप्ति।

६. षट्खण्डागम में तीर्थकरप्रकृति-बन्धक सोलहकारणों की स्वीकृति यापनीय-मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत में बीस कारण मान्य हैं।

७. षट्खण्डागम में सवस्त्र स्थविरकल्प की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

८. षट्खण्डागम में सोलहकल्पों ('कल्प' नामक स्वर्गों) की मान्यता यापनीय-मान्यता के विपरीत है। यापनीयमत में बारह कल्प माने गये हैं।

९. षट्खण्डागम में नौ अनुदिश नामक स्वर्गों का उल्लेख भी यापनीयमत के विरुद्ध है। यापनीय मत में इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

१०. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय, और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, यापनीयमत में इनका निषेध है।

११. षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में किया गया है। तदनुसार आदि के पाँच गुणस्थानों के प्रसंग में वह द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक है, किन्तु शेष गुणस्थानों के प्रसंग में केवल भावस्त्री का। यापनीयसम्प्रदाय के 'स्त्रीनिर्वाणप्रकरण' में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल द्रव्यस्त्री के अर्थ में किया गया है।

ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि षट्खण्डागम न तो कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ है, न सचेलाचेलमिश्रमार्गी यापनीयसम्प्रदाय का, न एकान्त-सचेलमार्गी श्वेताम्बरसम्प्रदाय का, अपितु एकान्त-अचेलमार्गी दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।



नवम प्रकरण

डॉ० सागरमल जी के मत में परिवर्तन

षट्खण्डागम दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ

डॉ० सागरमल जी ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ ई० सन् १९९६ में लिखा था। इसके नौ वर्ष बाद उनके निर्देशन में आदरणीया श्वेताम्बर साध्वी दर्शन-कलाश्री जी ने 'प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा' विषय पर शोधप्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें ई० सन् २००५ में पी०-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। यह शोधप्रबन्ध ई० सन् २००७ में प्रकाशित हुआ। जब मेरा प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा जा चुका था और उसका अन्तिम लिपिसंशोधन चल रहा था, तब डॉक्टर सा० की कृपा से मुझे उक्त शोधग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई। मैंने उसका अवलोकन किया और पाया कि डॉक्टर सा० ने उसके प्राक्कथन में षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ न कहकर दिगम्बरग्रन्थ कहा है, और एक बार नहीं, अपितु जितनी बार षट्खण्डागम का उल्लेख किया है, उतनी बार उसके साथ 'दिगम्बरग्रन्थ' या 'दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ' विशेषण लगाया है। यथा—

१. "दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त-सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख षट्खण्डागम और पूज्यपाद देवनन्दी की तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में मिलता है।" (वही / प्रस्ता. / पृ.२)।

२. "दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में भी इन १४ अवस्थाओं को पहले 'जीवसमास' के नाम से उल्लेखित किया गया है, बाद में उन्हें 'गुणस्थान' नाम दिया गया है।" (वही / प्रस्ता. / पृ.३)।

३. "गुणस्थानों का जीवस्थानों, मार्गणास्थानों तथा आठ कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के उदय, उदीरण, सत्ता, बन्ध और निर्जरा से क्या सहसम्बन्ध है, इसका उल्लेख जहाँ श्वेताम्बरपरम्परा में कर्मग्रन्थों और पंचसंग्रह में उपलब्ध होता है, वहीं दिगम्बरपरम्परा में यह विवेचन मुख्यतः षट्खण्डागम, गोम्मटसार (१०वीं शती) और दिगम्बर प्राकृत एवं संस्कृत पंचसंग्रहों में उपलब्ध है।" (वही / प्रस्ता. / पृ.३)।

४. "श्वेताम्बरपरम्परा में जीवसमास और दिगम्बरपरम्परा में षट्खण्डागम गुणस्थानसिद्धान्त के प्रथम आधारभूत ग्रन्थ हैं।" (वही / पृ.४)।

५. “---दिगम्बरपरम्परा में षट्खण्डागमकार ने एवं आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकारों ने इसकी (गुणस्थानों की) अपेक्षाकृत विस्तृत चर्चा की है।” (वही/पृ.४)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब डॉक्टर सा० ने नौ वर्ष पूर्व लिखे गये अपने ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ नामक ग्रन्थ में षट्खण्डागम को अपनी दृष्टि से यापनीयग्रन्थ सिद्ध किया था और उसके दिगम्बरग्रन्थ होने की मान्यता को जोर-शोर से खण्डन किया था, तब नौ वर्ष बाद साध्वी दर्शनकलाश्री जी के उपर्युक्त शोधग्रन्थ के प्राक्कथन में उसे हर बार दिगम्बरग्रन्थ नाम से सम्बोधित क्यों किया? यदि वह उनकी दृष्टि से वास्तव में यापनीयग्रन्थ है, दिगम्बरग्रन्थ नहीं है, तो यहाँ उसे यापनीय-ग्रन्थ न कहकर दिगम्बरग्रन्थ कहने का मिथ्यावचनाचार क्यों किया? किसी भी दृष्टि से इस मिथ्यावचना-चार का औचित्य सिद्ध नहीं होता। इससे सिद्ध है कि डॉक्टर सा० ने मिथ्याकथन न कर सत्यकथन किया है। नौ वर्ष के लम्बे अन्तराल में बहुशः चिन्तन-मनन से उन्हें इस सत्य की प्रतीति हुई कि षट्खण्डागम यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है। इसलिए उन्होंने यहाँ अपनी भूल सुधार ली और इसे दिगम्बरग्रन्थ ही घोषित कर दिया।

डॉक्टर सागरमल जी ने अपने जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा नामक ग्रन्थ में भी अपने कुछ पूर्वमतों में आमूलचूल परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने यह मान लिया कि १. तीर्थंकर महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेल था, २. अचेल निर्ग्रन्थसंघ से सचेल श्वेताम्बरसंघ का उद्भव हुआ था और ३. श्वेताम्बरसंघ से यापनीय-संघ की उत्पत्ति हुई थी। (देखिये, अध्याय २/प्र. ३/शी. ५)। उपर्युक्त मतपरिवर्तन भी इसी मतपरिवर्तन-शृंखला की एक कड़ी है।

साध्वी दर्शनकलाश्री जी के मतानुसार षट्खण्डागम दिगम्बरग्रन्थ

डॉ० सागरमल जी के निर्देशन में पूर्वोक्त शोधग्रन्थ लिखनेवाली श्वेताम्बरसाध्वी दर्शनकलाश्री जी ने दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त रहते हुए भी षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार को दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध किया है। उनके निम्नलिखित वक्तव्यों से यह निर्णय होता है—

“दिगम्बरपरम्परा के आगमतुल्य ग्रन्थों में षट्खण्डागम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि दिगम्बरपरम्परा आगमसाहित्य का विच्छेद मानती है, किन्तु उसके अनुसार कसायपाहुड, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थ आगम-साहित्य के

आधार पर ही निर्मित हुए हैं।” (प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा / अध्याय ३ / पृ.८४)।

“जहाँ तक षट्खण्डागम की परम्पराओं का प्रश्न है, सामान्यतया षट्खण्डागम को दिगम्बरपरम्परा में आगमतुल्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत प्राप्त है। यद्यपि डॉ० सागरमल जी जैन ने ‘जैनधर्म का यापनीसम्प्रदाय’ नामक ग्रन्थ में इसे यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ माना है और इसके लिए अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं, फिर भी यापनीयसम्प्रदाय कुछ मतभेदों के साथ मूलतः तो अचेलपरम्परा का ही पक्षधर रहा है, इसमें कहीं कोई विवाद भी नहीं है। डॉ० सागरमल जी ने भी यापनीय-सम्प्रदाय को अचेलपरम्परा से ही सम्बन्धित माना है। अतः इस विवाद का कोई अर्थ नहीं रह जाता है कि यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है या यापनीयपरम्परा का, क्योंकि यापनीयपरम्परा भी मूलतः दिगम्बरपरम्परा का ही अंग है, उसका ही एक उपसम्प्रदाय है। यह बात अलग है कि यापनीय-सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि कुछ बातों में श्वेताम्बरपरम्परा से सहमति रखता है, किन्तु इस आधार पर उसे श्वेताम्बर तो नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी अचेलता का इतना ही सम्पोषक है, जितनी दिगम्बरपरम्परा।” (वही / अध्याय ३ / पृ. ८४-८५)।

“दिगम्बरपरम्परा में भगवती-आराधना को आगमतुल्य एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि डॉ० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ में इसको यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है। यापनीयपरम्परा आगमों और स्त्रीमुक्ति की सम्पोषक होते हुए भी मुनि की अचेलता की ही पक्षधर रही है, इस दृष्टि से वह दिगम्बरपरम्परा का ही रूप मानी जाती है।” (वही / अध्याय ३ / पृ. १७३)।

“मूलाचार दिगम्बरपरम्परा में मुनि-आचार से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवती-आराधना के समान ही, इस ग्रन्थ की मूलपरम्परा दिगम्बर या यापनीय है, इसे लेकर विद्वानों में मतभेद है। पण्डित नाथूराम जी प्रेमी, डॉ० सागरमल जैन आदि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह ग्रन्थ यापनीयपरम्परा का है। किन्तु यदि हम समन्वय की दृष्टि से कहना चाहें, तो इतना निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ मुख्यतः अचेलपरम्परा का सम्पोषक है तथा यापनीय और दिगम्बर दोनों की परम्पराएँ अचेलता की सम्पोषक रही हैं।” (वही / अध्याय ३ / पृ. १७८)।

“तृतीय अध्याय में दिगम्बरपरम्परा तथा यापनीयपरम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों यथा-कसायपाहुड, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती-आराधना एवं आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उपलब्ध गुणस्थान-सम्बन्धी विवरण को सहयोजित किया गया है।” (वही / स्वकथ्यम् / पृ.४)।

इन वक्तव्यों में साध्वी जी ने दिगम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं को अचेल माना है और षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि को अचेलपरम्परा से सम्बद्ध मानकर दिगम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं का ग्रन्थ बतलाया है। किन्तु उन्होंने यापनीयपरम्परा को दिगम्बरपरम्परा का अंग, दिगम्बरपरम्परा का एक उपसम्प्रदाय और दिगम्बरपरम्परा का रूप मानकर यह मान्यता प्रकट की है कि 'दिगम्बरपरम्परा मूल एवं पूर्ववर्ती है तथा यापनीयपरम्परा उससे उद्भूत अत एव उत्तरवर्ती है। अतः षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती-आराधना एवं मूलाचार मूलतः दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं, यापनीयपरम्परा को वे दिगम्बरपरम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए थे।'

तथापि साध्वी जी ने दिगम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं को अचेलता का सम्पोषक मानकर उनमें जो एकत्व (अभेद) दर्शाने का प्रयास किया है, वह प्रमाणविरुद्ध है। दोनों परम्पराओं में एकत्व होना तो दूर की बात, ये एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध हैं। यथा—

१. दिगम्बर और यापनीय दोनों परम्पराएँ अचेलता की सम्पोषक नहीं हैं, केवल दिगम्बरपरम्परा अचेलता की सम्पोषक है। यापनीयपरम्परा अचेलता और सचेलता दोनों की सम्पोषक थी, क्योंकि वह केवल अचेललिंगधारी (जिनकल्पी) मुनि को ही मोक्ष का पात्र नहीं मानती थी, अपितु सचेललिंगधारी (स्थविरकल्पी) मुनि को भी मोक्ष का अधिकारी मानती थी। इसका प्ररूपण यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्त्रीनिर्वाणप्रकरण नामक लघुग्रन्थ की १० वीं कारिका से लेकर २१ वीं कारिका तक किया है। (देखिये, 'मूलाचार' नामक पञ्चदश अध्याय/प्रकरण १/शीर्षक २)।

२. सवस्त्रमुक्ति की निषेधक होने से दिगम्बरपरम्परा स्त्रियों, गृहस्थों और अन्य-लिंगी साधुओं को मुक्ति का अधिकारी नहीं मानती, किन्तु यापनीयपरम्परा मानती थी। इससे भी सिद्ध है कि यापनीयसम्प्रदाय अचेलत्व और सचेलत्व दोनों का समर्थक था।

इन दो प्रमाणों से निर्णीत होता है कि दिगम्बरपरम्परा अचेलत्व की निरपवादरूप से सम्पोषक है, किन्तु यापनीयपरम्परा निरपवादरूप से सम्पोषक नहीं थी। उसने अचेलत्व को वैकल्पिकरूप में स्वीकार किया था। अतः दोनों में एकत्व मानकर यापनीयपरम्परा को दिगम्बरपरम्परा का ही अंग, दिगम्बरपरम्परा का एक उपसम्प्रदाय या दिगम्बरपरम्परा का रूप मानना एक अत्यन्त मिथ्या आकलन है। वह न तो दिगम्बरपरम्परा का अंग थी, न उसका एक उपसम्प्रदाय, न उसका रूप। उसका उद्भव श्वेताम्बरपरम्परा से हुआ था, यह डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है तथा यह मुख्यतः इस

तथ्य से सिद्ध होता है कि उसकी शतप्रतिशत मान्यताएँ, जैसे सचेलमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिभुक्ति, भगवान् महावीर के गर्भपरिवर्तन इत्यादि की मान्यताएँ वे ही थीं, जो श्वेताम्बरपरम्परा की हैं। उसने केवल अचेललिंग से मुक्ति की मान्यता दिगम्बरपरम्परा से ग्रहण की थी, किन्तु अचेललिंग को सचेललिंग के विकल्प रूप में स्वीकार कर उसे दिगम्बरमान्यता नहीं रहने दिया। इस तरह श्वेताम्बरपरम्परा की शतप्रतिशत मान्यताओं और आगमों को स्वीकार करने से सिद्ध है कि यापनीयपरम्परा श्वेताम्बरपरम्परा का ही अंग या उपसम्प्रदाय थी। इसलिए कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ जैसे सचेल श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थ नहीं हैं, वैसे ही सचेलालचेल यापनीयपरम्परा के भी नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त कषायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना और मूलाचार में दिगम्बरमत के अनुकूल एवं यापनीयमत के प्रतिकूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। (देखिये, प्रस्तुतग्रन्थ के अध्याय ११, १२, १३, १४ एवं १५)। इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि ये दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं, यापनीयपरम्परा के नहीं। अतः साध्वी दर्शनकलाश्री जी का इन्हें दिगम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं का ग्रन्थ मानना प्रमाणविरुद्ध है।

द्वादश अध्याय

द्वादश अध्याय

कसायपाहुड

प्रथम प्रकरण

यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में प्रस्तुत हेतु

डॉ० सागरमल जी ने कसायपाहुड के सम्प्रदाय के विषय में परस्पर-विरोधी दो मत प्रतिपादित किये हैं और उनके पक्ष में जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित हेतु प्रस्तुत किये हैं—

१

पहला मत और उसके पोषक हेतु

१. कसायपाहुड श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-मातृपरम्परा का ग्रन्थ है। यह श्वेताम्बरों और यापनीयों को इस परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। (जै.ध.या.स./पृ.८९)।

२. दिगम्बरपट्टावलियों में कसायपाहुड के कर्ता गुणधर और आचार्यपरम्परा से उसका ज्ञान प्राप्त करनेवाले तथा यतिवृषभ को उसकी शिक्षा देनेवाले आर्य मंक्षु और नागहस्ती के नाम नहीं मिलते। अतः ये दिगम्बरपरम्परा के आचार्य नहीं थे। (जै.ध.या.स./पृ.८२, ८३, ८६)।

३. आर्यमंक्षु (आर्यमंगु) और नागहस्ती के नाम श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में मिलते हैं। अतः वे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-मातृपरम्परा के आचार्य थे। (जै.ध.या.स./पृ.८३, ८५, ८७)। यतिवृषभ ने उनसे अर्धमागधी में रचित कसायपाहुड का अध्ययन कर उसे शौरसेनी में रूपान्तरित किया और उस पर चूर्णिसूत्र रचे। (जै.ध.या.स./पृ.८५, ८७)।

४. उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में रचित होने से यह ग्रन्थ उत्तराधिकार में श्वेताम्बरों और यापनीयों को ही प्राप्त हो सकता था, दक्षिणभारत में उत्पन्न हुई एकान्त-अचेलमार्गी दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों को नहीं।

(जै.ध.या.स./पृ.८५)। चूँकि यह यतिवृषभ को प्राप्त हुआ था, इसलिए वे यापनीय-आचार्य थे।

५. यतिवृषभ के नाम के आदि में यति शब्द जुड़ा हुआ है। इसका प्रयोग यापनीय आचार्य अपने नाम के साथ करते थे। अतः यतिवृषभ यापनीय थे। (जै.ध.या.स./पृ.८७)।

६. कसायपाहुड में स्त्री, पुरुष और नपुंसकों के अपगतवेदी होकर चतुर्दशगुणस्थान तक पहुँचने की बात कही गई है, जिससे उसमें स्त्रीमुक्ति का समर्थन है। (जै.ध.या.स./पृ.८७,८८) यह उसके श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ होने का प्रमाण है।

७. कसायपाहुड और श्वेताम्बर-आगम समवायांग में क्रोध, मान, माया और लोभ के समान पर्यायवाचियों का वर्णन है। इससे कसायपाहुड श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है। (जै.ध.या.स./पृ.८९)।

८. ग्रन्थकार, चूर्णिसूत्रकार तथा जयधवला-टीकाकार के मतों में कहीं-कहीं भेद है, जिससे सिद्ध होता है कि कसायपाहुड के कर्ता श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्य थे, चूर्णिकार यापनीयपरम्परा के और जयधवलाकार दिगम्बरपरम्परा के। (जै.ध.या.स./पृ.८८)।

९. श्वेताम्बरपरम्परा का अर्धमागधी-कसायपाहुड उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है वह शौरसेनी में होने से श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं है। (जै.ध.या.स./पृ.८६)। वह श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ है, जिसका यतिवृषभ ने शौरसेनीकरण किया है।

२

दूसरा मत और उसके पोषक हेतु

१. कसायपाहुड में गुणस्थानसिद्धान्त पूर्णविकसित रूप में उपलब्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि उसकी रचना तब हुई थी, जब गुणस्थानसिद्धान्त ने धीरे-धीरे विकसित होते हुए अपना अन्तिम स्वरूप ग्रहण कर लिया था, अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में। (जै.ध.या.स./पृ.११२)।^१

१. डॉ० सागरमल जी ने तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ (पृ.११२) में ईसा की दूसरी-तीसरी शती माना है, जबकि उन्होंने ही साध्वी विद्युत्प्रभाश्री द्वारा अनुवादित 'जीवसमास' की भूमिका (पृ.ii) में ईसा की तीसरी-चौथी शती बतलाया है। उनके इस द्वितीय मत के अनुसार गुणस्थानसिद्धान्त ने अपना अन्तिम स्वरूप ईसा की पाँचवीं-छठी शती में ग्रहण किया था। अतः वे कसायपाहुड का रचनाकाल ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी भी मानते हैं।

२. आर्यमंक्षु और नागहस्ती का समय ई० सन् की द्वितीय शताब्दी है, इसलिए वे कसायपाहुड के रचयिता नहीं हो सकते। मात्र यही माना जा सकता है कि उसकी रचना का आधार उनकी कर्मसम्बन्धी अवधारणाएँ हैं। (जै.ध.या.स/पृ.११२)।

३. चूँकि गुणधर आर्यमंक्षु और नागहस्ती के गुरु थे, इसलिए इनसे भी पूर्ववर्ती होने के कारण गुणधर को भी तीसरी-चौथी शती ई० में रचित कसायपाहुड का कर्ता नहीं माना जा सकता।

४. यतिवृषभ ने कसायपाहुड पर केवल चूर्णिसूत्र लिखे थे और वे छठी-सातवीं शताब्दी ई० में हुए थे, अतः उन्हें भी कसायपाहुड का रचयिता मानना संभव नहीं।

इन चार आचार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी का नाम कसायपाहुड के साथ जुड़ा नहीं है, अतः अन्य किसी को उसका कर्ता मानने का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार इस दूसरे मत में यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी कसायपाहुड के कर्ता का ही निर्णय नहीं कर पाते, अतः उसके सम्प्रदाय के निर्णय का प्रश्न ही निरस्त हो जाता है।

३

दूसरे मत से पहले मत का निरसन

यापनीयपक्षी मान्य विद्वान् का दूसरा मत पहले मत को मिथ्या सिद्ध कर देता है जिससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उसकी पुष्टि के लिए उन्होंने जितने भी हेतु उपस्थित किये थे, वे सब मिथ्या थे, मनगढ़ंत थे। पहले मत के मिथ्या सिद्ध हो जाने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. कसायपाहुड की रचना श्वेताम्बरों और यापनीयों की तथाकथित उत्तरभारतीय सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-मातृपरम्परा में नहीं हुई थी। अतः वह उस परम्परा का ग्रन्थ नहीं है।

२. इसलिए न तो वह श्वेताम्बरों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, न यापनीयों को।

३. वर्तमान कसायपाहुड शौरसेनी प्राकृत में है, इसलिए वह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है। यह उक्त मान्य विद्वान् का ही मत है।

४. कसायपाहुड के कर्ता के रूप में गुणधर के अतिरिक्त अन्य कोई भी आचार्य प्रसिद्ध नहीं हैं और वे यापनीय थे नहीं, इसलिए वह यापनीय-आचार्य द्वारा भी रचित नहीं है। उक्त मान्य विद्वान् ने भी स्वीकार किया है कि वह यापनीय-परम्परा में निर्मित नहीं हुआ था। (जै.ध.या.स/पृ.८७)।

यह तो यापनीयपक्षधर मान्य विद्वान् के पूर्वमत का उनके ही उत्तरमत से मिथ्या सिद्ध होने का प्रमाण है। निम्नलिखित प्रमाणों से भी वह मिथ्या सिद्ध होता है—

१. यापनीयपक्षधर मान्य विद्वान् ने जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में कसायपाहुड की रचना मानी थी, उसका अस्तित्व ही नहीं था। वह उन्हीं के द्वारा कल्पित है। यह द्वितीय अध्याय के तृतीय प्रकरण में दर्शाया जा चुका है।

२. जिस परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, उसमें कसायपाहुड के रचे जाने तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों को उत्तराधिकार में प्राप्त होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः उक्त परम्परा से श्वेताम्बरों और यापनीयों को कसायपाहुड उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, यह मत भी मिथ्या है।

४

दूसरा मत कसायपाहुड के सम्प्रदाय का अनिर्णायक

दूसरे मत में तो यापनीयपक्षधर विद्वान् ने गुणधर, आर्यमंथु, नागहस्ती और यतिवृषभ, इनमें से किसी को भी कसायपाहुड का कर्ता स्वीकार नहीं किया है और किसी पाँचवे को उसका कर्ता बतला नहीं सके। इससे भी सिद्ध है कि वह न यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, न श्वेताम्बरपरम्परा का, न श्वेताम्बर-यापनीयों की मातृपरम्परा का।

५

निरन्तर बदलते हुए पूर्वापरविरोधी मत

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ का कसायपाहुड-प्रकरण निरन्तर बदलते हुए पूर्वापरविरोधी मतों से भरा पड़ा है। यह इस बात का सबूत है कि ग्रन्थलेखक के पास कसायपाहुड को यापनीयपरम्परा या उसकी मनःकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं था। लेखक ने कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा उसे हठात् उक्त परम्पराओं का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए पसीना बहाया है। इसी के फलस्वरूप पूर्वापरविरोधों की उत्पत्ति हुई है। उपर्युक्त ग्रन्थ में लेखक के पूर्वापरविरोधी मतों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. शुरू में वे कहते हैं—“षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती-आराधना, मूलाचार जैसे महत्त्वपूर्ण शौरसेनी आगमिक ग्रन्थ यापनीय-आचार्यों की ही कृतियाँ हैं।” (पृ.८२)। इसी बात को वे इन शब्दों में दुहराते हैं—“यही बोटिकपरम्परा आगे चलकर यापनीय कहलायी। कसायपाहुड इसी बोटिक या यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।” (पृ.८४)।

आगे चलकर उक्त ग्रन्थलेखक इसके यापनीयग्रन्थ होने का निषेध कर देते हैं—“यह ग्रन्थ यापनीय-परम्परा में निर्मित न होकर भी यापनीयों को उत्तराधिकार में मिला है।” (पृ.८७)।

२. फिर वे इसके श्वेताम्बरग्रन्थ होने का भी खण्डन करते हैं—“श्वेताम्बर-परम्परा में कोई भी शौरसेनी प्राकृत की रचना उपलब्ध नहीं है। अतः कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप को श्वेताम्बर-परम्परा की रचना तो नहीं कहा जा सकता, जैसा कि कल्याणविजय जी ने माना है।” (पृ.८५)।

इसके बाद वे इसे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-मातृपरम्परा का ग्रन्थ बतलाते हैं। कसायपाहुड और समवायांगसूत्र में क्रोधादि भावों के जो समान पर्यायवाची उपलब्ध हैं, उनके उदाहरण देकर वे लिखते हैं—

“इससे यही सिद्ध होता है कि कसायपाहुड उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा का ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों को समानरूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।” (पृ.८९)।

इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराधिकार में प्राप्त यह ग्रन्थ जैसे यापनीयों के पास शौरसेनी भाषा में उपलब्ध है, वैसे ही श्वेताम्बरों के पास अर्धमागधी में उपलब्ध होगा। पर यापनीयपक्षी विद्वान् ने, न तो अर्धमागधी में उपलब्ध किसी प्रति का उल्लेख किया है, न ही किसी श्वेताम्बरग्रन्थ या पट्टावली में यह उल्लेख मिलता है कि कसाय-पाहुड श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है अथवा उसके रचयिता गुणधर या आर्यमंशु एवं नागहस्ती हैं।

३. एक तरफ मान्य विद्वान् लिखते हैं कि “सामान्यतया इस (कसायपाहुड के प्रतिपाद्य विषय की) चर्चा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके आधार पर ग्रन्थ के सम्प्रदाय-विशेष का निश्चय हो सके।” (पृ.८७)। दूसरी तरफ वे ऐसा ‘कुछ’ ढूँढ़ भी लेते हैं और उसकी स्वच्छन्द व्याख्या कर कसायपाहुड को अपनी मनःकल्पित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ घोषित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, कसायपाहुड में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तीनों के साथ नौवें गुणस्थान तक पहुँचने की बात कही गई है। इससे मान्य विद्वान् कसायपाहुड में स्त्रीमुक्ति का समर्थन मान लेते हैं और उसे श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ घोषित कर देते हैं। वे लिखते हैं—“यदि कसायपाहुड के कर्ता यह स्वीकार करते हैं कि स्त्रीवेद की उपस्थिति में दसवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास संभव है, तो वे स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं कर सकते।” (पृ.८८)।

४. एक ओर उक्त विद्वान् कहते हैं—“(कसायपाहुड के कर्ता) आचार्य गुणधर कौन थे और किस परम्परा के थे, इसकी सूचना हमें न तो प्राचीन श्वेताम्बर आगमिक स्थविरावलियों से और न ही दिगम्बर-पट्टावलियों से प्राप्त होती है।” (पृ.८२)। दूसरी ओर वे लिखते हैं कि श्वेताम्बर-पट्टावलियों में गुणधर का उल्लेख है। देखिए उनके शब्द—“प्राचीन दिगम्बर-पट्टावलियों में गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती का, जो कि इसके (कसायपाहुड के) कर्ता या प्रणेता माने गये हैं, उल्लेख नहीं होने से और श्वेताम्बर-पट्टावलियों में इनका उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि यह मूलतः दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है।” (पृ.८६-८७)।

५. एक तरफ वे आर्यमंक्षु और नागहस्ती को यापनीयसंघ की उत्पत्ति के पूर्व का मानते हैं, दूसरी तरफ उनके साक्षात् शिष्य यतिवृषभ को यापनीय मानते हैं। यह परस्परविरोध डॉक्टर सा० के निम्नलिखित कथनों से स्पष्ट होता है—

“वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ आर्यमंक्षु और नागहस्ती की उस अविभक्त परम्परा में निर्मित हुआ है, जिसका उत्तराधिकार समानरूप से यापनीयों को भी प्राप्त हुआ था। संभावना यही है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से अध्ययन करके यतिवृषभ ने ही इसे शौरसेनी प्राकृत का वर्तमानस्वरूप प्रदान कर चूर्णिसूत्र की रचना की हो।” (पृ.८५)।

“इतना निश्चित है कि आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ती न तो दिगम्बर-आचार्य हैं, और न यापनीय ही। यद्यपि इतना भी निश्चित है कि वे श्वेताम्बरों के समान यापनीयों के भी पूर्वज हैं।” (पृ.८७)।

“हो सकता है कि इस पर चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ यापनीय हों, क्योंकि यापनीयों में अपने नाम के आगे ‘यति’ शब्द लगाने की प्रवृत्ति रही है, जैसे—यतिग्रामाग्रणी भदन्त शाकटायन।” (पृ.८७)।

६. एक जगह पर पूर्वोक्त विद्वान् जयधवलाकार के इस कथन को माने लेते हैं कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से कसायपाहुड का अध्ययन कर यतिवृषभाचार्य ने चूर्णिसूत्रों की रचना की थी और वे स्वयं सिद्ध करते हैं कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती का स्थितिकाल ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी था, जिसका तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार यतिवृषभ भी प्रथम-द्वितीय शताब्दी में हुए थे, किन्तु दूसरी जगह पर वे लिखते हैं कि जयधवलाकार का यह कथन विश्वसनीय नहीं है। उनके प्रथम कथन पर दृष्टिपात कीजिए—

“अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इतना निश्चित है कि ये सभी ईस्वी सन् की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी में हुए हैं। --- सम्भावना यही है

कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से अध्ययन करके यतिवृषभ ने ही इसे (कसायपाहुड को) शौरसेनी प्राकृत का वर्तमान स्वरूप प्रदानकर चूर्णिसूत्र की रचना की हो।” (पृ.८५)।

अब ठीक इसके विपरीत दूसरे कथन पर दृष्टि डालें—“जहाँ तक यतिवृषभ और उनके कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रों के रचनाकाल का प्रश्न है, जयधवला के अनुसार यतिवृषभ आर्यमंक्षु के शिष्य और आर्य नागहस्ती के अन्तेवासी थे और उन्होंने उन्हीं से कसायपाहुड का अध्ययन कर चूर्णिसूत्रों की रचना की थी, किन्तु इस कथन की विश्वसनीयता सन्देहास्पद है।” (पृ.१११)। “श्वेताम्बरपरम्परा की कम्मपयडीचूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरीचूर्ण से शैलीगत निकटता भी यही सूचित करती है कि कसायपाहुडचूर्ण का रचनाकाल भी लगभग छठी-सातवीं शती होगा और इसी आधार पर यतिवृषभ का काल भी यही मानना होगा।” (पृ.१११)।

७. इसी तरह पूर्व में वे निर्णय देते हैं कि कसायपाहुड आर्यमंक्षु और नागहस्ती की उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ है। (पृ.८५)। किन्तु, बाद में वे अपना निर्णय बदल देते हैं और कहते हैं—“यदि हम कसायपाहुड में प्रस्तुत गुणस्थान की अवधारणा पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि कसायपाहुड की रचना गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा के निर्धारित होने के बाद हुई है। अर्धमागधी आगमसाहित्य में, यहाँ तक की प्रज्ञापना जैसे विकसित आगम और तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान का सिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप नहीं ले पाया था, जब कि कसायपाहुड गुणस्थानसिद्धान्त के सुव्यवस्थित रूप लेने के बाद ही रचा गया है। अतः यदि तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) का रचनाकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शती है, तो उसका काल ईसा की तीसरी-चौथी शती मानना होगा।” (पृ.११२)।

८. यापनीयपक्षी विद्वान् के एक और पूर्वापरविरोधी कथन पर दृष्टिपात कीजिए। पूर्व में वे यह स्वीकार करते हैं कि कसायपाहुड की गाथाओं के कर्ता गुणधर थे और आर्यमंक्षु और नागहस्ती को वे आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुई थीं।^२ किन्तु बाद में मान्य विद्वान् के ध्यान में आया कि कसायपाहुड में गुणस्थानसिद्धान्त विद्यमान है, अतः उसे यदि आर्यमंक्षु और नागहस्ती के पूर्व निर्मित स्वीकार किया जाय, तो गुणस्थानसिद्धान्त बहुत प्राचीन सिद्ध हो जाता है। इसलिए वे अपने पूर्व बयान से हट गये और यह नया बयान जारी कर दिया—

२. “यह तो निर्विवाद है कि यह सिद्धान्तग्रन्थ आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ती को प्राप्त था। --- वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ आर्यमंक्षु और नागहस्ती की उस अविभक्त परम्परा में निर्मित हुआ है ---।” (जै.ध.या.स. / पृ.८५)

“गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से यह मानना होगा कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती कर्मप्रकृतियों के विशिष्ट ज्ञाता थे, वे कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप के प्रस्तोता नहीं थे। मात्र यही माना जा सकता है कि कसायपाहुड की रचना का आधार उनकी कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी अवधारणाएँ हैं, क्योंकि आर्यमंक्षु और नागहस्ती का काल ई० सन् की दूसरी शताब्दी है।” (पृ.११२)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि कसायपाहुड की रचना आर्यमंक्षु और नागहस्ती की कर्मसिद्धान्तीय अवधारणाओं के आधार पर हुई है, तो उसका रचयिता कौन है? कसायपाहुड का वर्तमान स्वरूप गुणधर और आचार्यपरम्परा से आर्यमंक्षु और नागहस्ती ने प्रस्तुत नहीं किया, तो किसने किया? उक्त यापनीयपक्षी विद्वान् इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ देते हैं।

किन्तु, आगे चलकर वे पुनः गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती को कसायपाहुड का कर्त्ता-प्रस्तोता मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। उपर्युक्त वक्तव्य के तुरन्त बाद वे अपना दूसरा वक्तव्य इस प्रकार देते हैं—“यदि हम प्रज्ञापना के कर्त्ता आर्यश्याम के बाद नन्दीसूत्र-स्थविरावली में उल्लिखित स्वाति को तत्त्वार्थ के कर्त्ता उमास्वाति मानें अथवा उमास्वाति का काल कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी मानें, तब ही कसायपाहुड के कर्त्ता और प्रस्तोता के रूप में गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती को स्वीकार किया जा सकता है।” (पृ.११२-११३)।

इस प्रकार यापनीयपक्षी विद्वान् के ग्रन्थ का कसायपाहुड-प्रकरण पूर्वापरविरोधी मतों से भरा पड़ा है, जो इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कसायपाहुड को यापनीयपरम्परा या उसकी मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए अन्धकार में तीर चलाने की कोशिश की है।

हम देखते हैं कि प्रमाणों के अभाव में केवल कपोलकल्पनाओं के आधार पर कसायपाहुड को यापनीयपरम्परा का अथवा श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा में मान्य विद्वान् को अपने मत में निरन्तर परिवर्तन करते रहना पड़ा है—

१. पहले उन्होंने कसायपाहुड को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ घोषित किया था।
२. फिर इससे इनकार कर दिया और उसे आर्यमंक्षु और नागहस्ती की उत्तर-भारतीय सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में निर्मित बतलाया।
३. पश्चात् इसे भी अस्वीकार कर दिया और मौन हो गये। फिर न यह बतलाया कि कसायपाहुड की रचना किस परम्परा में हुई, और न यह कि उसका कर्त्ता कौन है?

यह निरन्तर मतपरिवर्तन इस बात का प्रमाण है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक महोदय के पास कसायपाहुड को यापनीयपरम्परा, श्वेताम्बरपरम्परा या दोनों की मनःकल्पित मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। पहले वे उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का उपक्रम करते हैं, तो ग्रन्थ के कर्ता आदि (गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती) के स्थितिकाल और यापनीय-सम्प्रदाय के उत्पत्तिकाल में वैषम्य बाधक बन जाता है। फिर श्वेताम्बर-यापनीयों की मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उद्यत होते हैं, तो गुणस्थान-विकास के कल्पित मत की दीवारें ढहने लगती हैं। यदि श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की ओर झुकते हैं, तो कसायपाहुड की शौरसेनी भाषा अँगूठा दिखाने लगती है। अतः अन्त में हारकर अपनी कलम नीची कर देते हैं। यह विफलता इस बात की सूचक है कि यापनीयपक्षपोषक ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी के पास इस सत्य को झुठलाने के लिए कोई प्रमाण नहीं था कि कसायपाहुड दिगम्बराचार्य-कृत ग्रन्थ है। वे मनःकल्पित हेतुओं और छलवाद के द्वारा ऐसा करना चाहते थे, जिससे हर बार कोई न कोई यथार्थ बीच में आकर बाधक बन गया और वे अपने उद्देश्य की सिद्धि में विफल हो गये। अन्त में यही सत्य विजयी रहा कि कसायपाहुड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।



द्वितीय प्रकरण दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण

१

अन्तरंग प्रमाण

यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि

यहाँ वे अन्तरंग प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि कसायपाहुड न तो यापनीयग्रन्थ है, न श्वेताम्बरग्रन्थ, न दोनों की कपोलकल्पित मातृपरम्परा का ग्रन्थ, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। वे अन्तरंग प्रमाण हैं कसायपाहुड में यापनीय एवं श्वेताम्बर मतों के विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि।

१.१. वेदत्रय एवं वेदवैषम्य का प्रतिपादन

कसायपाहुड में भाववेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं। निम्नलिखित गाथाओं से इस बात की पुष्टि होती है—

अणमिच्छ-मिस्स-सम्मं अट्ट णवुंसित्थिवेदछक्कं च।
पुंवेदं च खवेदि दु कोहादीए च संजलणे ॥ १ ॥

क्षपणाधिकार-चूलिका/ क. पा./ भा. १६।

अनुवाद—“मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुआ जीव अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, इन सात प्रकृतियों का क्षपकश्रेणी चढ़ने से पूर्व ही क्षपण करता है। पुनः क्षपकश्रेणी चढ़ते हुए अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान में अन्तरकरण के पश्चात् ही आठ मध्यम कषायों (अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क एवं प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क) का क्षय करता है। पुनः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नोकषाय और पुरुषवेद का क्षय करता है। तदनन्तर संज्वलनक्रोध आदि चार कषायों का क्षय करता है।” (देखिये, जयधवला/अनुच्छेद ३१६/ क.पा./भाग १६/पृ.१३९-१४०)।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णवुंसयं चव।
सत्तेण णोकसाये णियमा कोहमिह संछुहदि ॥ १३८ ॥

चारित्रमोह-क्षपणाधिकार/ क.पा./ भा. १४।

अनुवाद—“(चारित्रमोह का क्षपण करनेवाला जीव) स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का नियम से पुरुषवेद में संक्रमण करता है। तथा पुरुषवेद और हास्यादि छह, इन सात नोकषायों का नियम से संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है।”

इन गाथाओं से सूचित होता है कि कसायपाहुड में कर्मभूमि के प्रत्येक मनुष्य और संज्ञी तिर्यच में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, इन तीनों वेद-नोकषायों की सत्ता स्वीकार की गई है। यह यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि वह प्रत्येक जीव में एक ही वेदसामान्य का अस्तित्व मानता है, वही स्त्री में स्त्रीवेद के रूप में, पुरुष में पुरुषवेद के रूप में तथा नपुंसक में नपुंसकवेद के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यापनीयमत में वेदकषाय एक ही प्रकार की मानी गई है। अतः उसके अनुसार कषायें पच्चीस न होकर तेईस ही हैं। इसका स्पष्टीकरण षट्खण्डागम के अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है। कसायपाहुड में इस यापनीयमतविरोधी वेदत्रय के सिद्धान्त की उपलब्धि सिद्ध करती है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं है।

वेदत्रय का अस्तित्व वेदवैषम्य की आधारशिला है। दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय शास्त्र इसके प्रमाण हैं। अतः कसायपाहुड में वेदत्रय की स्वीकृति से वेदवैषम्य भी स्वीकार किया गया है। किन्तु यापनीयमत में वेदवैषम्य के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि वहाँ प्रत्येक जीव में एक ही प्रकार के भाववेद का अस्तित्व माना गया है। इस कारण भी कसायपाहुड यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

१.२. गुणस्थान सिद्धान्त की उपलब्धि

कसायपाहुड में गुणस्थानों का भी निर्देश मिलता है। संक्रम अर्थाधिकार (क.पा./भा.८)की निम्न-लिखित गाथाओं में प्रकृतिसंक्रमस्थान के स्वामित्व का वर्णन गुणस्थानानुसार किया गया है—

सत्तरसेगवीसासु संकमो णियम पंचवीसाए।

णियमा चदुसु गदीसु य णियमा दिट्ठीगए तिविहे ॥ ३० ॥

अनुवाद—“सत्तरह और इक्कीस-प्रकृतिक दो प्रतिग्रहस्थानों में पच्चीस-प्रकृतिक स्थान का नियम से संक्रमण होता है। यह पच्चीस-प्रकृतिक संक्रमस्थान नियम से चारों ही गतियों में होता है। तथा दृष्टिगत अर्थात् 'दृष्टि' पद जिनके अन्त में है, उन मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, तीनों गुणस्थानों में वह पच्चीस-प्रकृतिक संक्रमस्थान नियम से पाया जाता है।”

चोहसग दसग सत्तग अट्टारसगे च णियम वावीसा।

णियमा मणुसगईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ३२ ॥

अनुवाद—“बाईस-प्रकृतिक स्थान का संक्रम नियम से चौदह, दस, सात और अट्टारह-प्रकृतिक चार प्रतिग्रहस्थानों में होता है। यह नियम से मनुष्यगति में ही होता है। तथा वह संयत, संयतासंयत (मिश्र) और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में होता है।”

तेरसय णवय सत्तय सत्तरस पणय एक्कवीसाए।
एगाधिगाए वीसाए संकमो छप्पि सम्पत्ते ॥ ३३ ॥

अनुवाद—“इक्कीस-प्रकृतिक स्थान का संक्रम तेरह, नौ, सात, सत्तरह, पाँच और इक्कीस-प्रकृतिक छह प्रतिग्रहस्थानों में होता है। ये छहों प्रतिग्रहस्थान सम्यक्त्व से युक्त गुणस्थानों में होते हैं।”

एत्तो अवसेसा संजमहि उवसामगे च खवगे च।
वीसा य संकमदुगे छक्के पणगे च बोद्धव्वा ॥ ३४ ॥

अनुवाद—“शेष संक्रम और प्रतिग्रहस्थान उपशमक और क्षपक संयत के ही होते हैं। बीस-प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह और पाँच-प्रकृतिक दो प्रतिग्रहस्थानों में जानना चाहिए।”

चदुर दुगं तेवीसा मिच्छत्ते मिस्सगे य सम्पत्ते।
बावीस पणय छक्कं विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ४३ ॥

अनुवाद—मिथ्यात्व गुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस और तेईस-प्रकृतिक चार संक्रमस्थान होते हैं। मिश्रगुणस्थान में पच्चीस और इक्कीस-प्रकृतिक दो संक्रमस्थान होते हैं। सम्यक्त्वयुक्त गुणस्थानों में तेईस संक्रमस्थान होते हैं। संयमयुक्त प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों में बाईस संक्रमस्थान होते हैं। मिश्र अर्थात् संयतासंयत गुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, तेईस, बाईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच संक्रमस्थान होते हैं। अविरतगुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस, बाईस और इक्कीस-प्रकृतिक छह संक्रमस्थान होते हैं।”

इसके अतिरिक्त बादरसाम्पराय (‘चरिमो बादररागो’/ गा. २०९/ क. पा. / भा. १६), सूक्ष्मसाम्पराय (‘सुहुमहि सांपराए’/ गा. २१७/ क. पा. / भा. १६), छद्मस्थवीतराग आदि गुणस्थानों से सम्बन्धित विविध निरूपण किये गये हैं। मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्तियों और विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अपगतवेदत्व गुणस्थानसिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका निरूपण ‘अवगयवेद-णवुंसय’ इत्यादि गाथा (४५/ क. पा. / भा. ८) में किया गया है।

चतुर्दशगुणस्थानों से सम्बन्धित यह सूक्ष्म एवं विस्तृत निरूपण दिगम्बरग्रन्थ का लक्षण है और श्वेताम्बर तथा यापनीय परम्पराओं के ग्रन्थों का प्रतिलक्षण, क्योंकि इससे यापनीयों और श्वेताम्बरों को मान्य गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं शुभाशुभो-पयोगप्रवृत्त-स्त्रीपुरुषों की मुक्ति के सिद्धान्तों का विरोध होता है। षट्खण्डागम के अध्याय में इस तथ्य पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। गुणस्थानसिद्धान्त श्वेताम्बर और

यापनीय परम्पराओं में मान्य नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इसका प्रतिपादक कसायपाहुड इन दोनों परम्पराओं या इनकी मातृपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है, अपितु दिगम्बर-परम्परा का ग्रन्थ है।

१.३. शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध

श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं का कोई भी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में नहीं रचा गया। श्वेताम्बरग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत है। तथा यापनीय-परम्परा का प्राकृतभाषा में निबद्ध कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उसके जो स्त्रीनिर्वाण-प्रकरण आदि तीन-चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत में हैं। कुछ विद्वानों ने शौरसेनी में रचित भगवती-आराधना और मूलाचार को, तथा 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने तिलोयपण्णत्ती आदि कुछ अन्य ग्रन्थों को भी यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है, किन्तु वे दिगम्बरग्रन्थ ही हैं, इसके प्रमाण उत्तर अध्यायों में द्रष्टव्य हैं। उक्त ग्रन्थ के लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि "श्वेताम्बर-परम्परा में कोई भी शौरसेनीप्राकृत की रचना उपलब्ध नहीं है। अतः कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप को श्वेताम्बर-परम्परा की रचना तो नहीं कहा जा सकता, जैसा कि कल्याणविजय जी ने माना है।" (जै. ध. या. स. / पृ. ८५)।

तथापि उक्त ग्रन्थ के मान्य लेखक ने यह माना है कि कसायपाहुड मूलतः अर्धमागधी में था। उसके चूर्णिसूत्रकार यापनीय यतिवृषभ ने उसे शौरसेनी में रूपान्तरित कर दिया। किन्तु उन्होंने न तो इस बात का कोई प्रमाण प्रस्तुत किया है कि आचार्य यतिवृषभ यापनीय थे, न ही इस बात का कि उन्होंने कसायपाहुड का शौरसेनी में रूपान्तरण किया था। अतः ये दोनों बातें कपोलकल्पित हैं। इन्हीं यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ की रचना की है। उसमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध किया है, जो यापनीयमत की आधारभूत मान्यताएँ हैं। इसके प्रमाण तिलोयपण्णत्ती नामक सप्तदश अध्याय में दर्शनीय हैं। अतः इस प्रमाण से आचार्य यतिवृषभ दिगम्बराचार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिए उनके द्वारा किसी श्वेताम्बरीय अर्धमागधी ग्रन्थ का शौरसेनी में रूपान्तरित किये जाने का कोई प्रयोजन ही दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे सिद्ध है कि कसायपाहुड दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है।

२

बहिरंग प्रमाण

निम्नलिखित बहिरंग प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि कसायपाहुड दिगम्बराचार्य द्वारा ही रचित है, अन्य किसी भी परम्परा के आचार्य द्वारा नहीं।

२.१. कसायपाहुड ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में रचित

यापनीयपक्षी उक्त ग्रन्थलेखक ने स्वकल्पित गुणस्थान-विकासवाद के आधार पर कसायपाहुड का रचनाकाल तीसरी-चौथी शती ई० परिकल्पित किया है। किन्तु पूर्व में गुणस्थानविकासवाद की कपोलकल्पितता सप्रमाण सिद्ध की जा चुकी है, अतः उसके आधार पर किया गया उक्त निर्णय भी मिथ्या है। डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने दिगम्बरजैन-साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर आचार्य गुणधर का काल विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी अर्थात् ईसापूर्व द्वितीय शती का उत्तरार्ध निर्धारित किया है, जो सब दृष्टियों से समीचीन प्रतीत होता है। वे लिखते हैं—

“आचार्य गुणधर के समय के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि इनका समय धरसेन के पूर्व है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में लोहार्य तक की गुरुपरम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त इन चार आचार्यों का उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वों के एकदेशज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्वलि का नाम आया है। अर्हद्वलि बड़े भारी संघनायक थे। इन्हें पूर्वदेश के पुण्ड्रवर्धनपुर का निवासी कहा गया है। इन्होंने पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय बड़ा भारी एक यति-सम्मेलन किया, जिसमें सौ योजन तक के यति सम्मिलित हुए। इन यतियों की भावनाओं से अर्हद्वलि ने ज्ञात किया कि अब पक्षपात का समय आ गया है। अत एव इन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पञ्चस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये, जिससे परस्पर में धर्मवात्सल्यभाव वृद्धिगत हो सके।

“संघ के उक्त नामों से यह स्पष्ट होता है कि गुणधरसंघ आचार्य गुणधर के नाम पर ही था। अतः गुणधर का समय अर्हद्वलि के समकालीन या उनसे भी पूर्व होना चाहिए। इन्द्रनन्दि को गुणधर और धरसेन का पूर्व या उत्तरवर्तित्व ज्ञात नहीं है। अत एव उन्होंने स्वयं अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए श्रुतावतार में लिखा है—

गुणधरधरसेनान्धयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्॥ १५१॥

“अर्थात् गुणधर और धरसेन की पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि इसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगम में मिला और न किसी मुनि ने ही बतलाया।

“स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दि के समय तक आचार्य गुणधर और धरसेन का पूर्वापरवर्तित्व स्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था। पर इतना स्पष्ट है कि अर्हद्वलि द्वारा स्थापित संघों में गुणधरसंघ का नाम आया है। नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में अर्हद्वलि का

समय वीर निर्वाण सं० ५६५ अथवा वि० सं० ९५ है। यह स्पष्ट है कि गुणधर अर्हद्वलि के पूर्ववर्ती हैं, पर कितने पूर्ववर्ती हैं, यह निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि गुणधर की परम्परा को ख्याति प्राप्त करने में सौ वर्ष का समय मान लिया जाय, तो 'छक्खंडागम'-प्रवचनकर्ता धरसेनाचार्य से 'कसायपाहुड' के प्रणेता गुणधराचार्य का समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधर का समय वि० पू० प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

“हमारा यह अनुमान केवल कल्पना पर आधृत नहीं है। अर्हद्वलि के समय तक गुणधर के इतने अनुयायी यति हो चुके थे कि उनके नाम पर उन्हें संघ की स्थापना करनी पड़ी। अत एव अर्हद्वलि को अन्य संघों के समान गुणधरसंघ को भी मान्यता देनी पड़ी। प्रसिद्धि प्राप्त करने और अनुयायी बनाने में कम से कम सौ वर्ष का समय तो लग ही सकता है। अतः गुणधर का समय धरसेन से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिये।

“इनके गुरु आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। गुणधर ने इस ग्रन्थ की रचना कर आचार्य नागहस्ति और आर्यमंक्षु को इसका व्याख्यान किया था। अत एव इनका समय उक्त आचार्यों से पूर्व है। छक्खंडागम के सूत्रों के अध्ययन से भी यह अवगत होता है कि 'पेज्जदोसपाहुड' का प्रभाव इसके सूत्रों पर है। भाषा की दृष्टि से छक्खंडागम की भाषा कसायपाहुड की भाषा की अपेक्षा अर्वाचीन है। अतः गुणधर का समय वि० पू० प्रथम शताब्दी मानना सर्वथा उचित है। जयधवलाकार ने लिखा है—

“पुणो ताओ चव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखुणाग-हत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुह-कमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिणसुत्तं कयं।” (ज.ध./क.पा./भा.१/गा.१/अनु.६८/पृ.७९-८०)।

“अर्थात् गुणधराचार्य के द्वारा १८० गाथाओं में कसायपाहुड का उपसंहार कर दिये जाने पर वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परा से आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं। पश्चात् उन दोनों ही आचार्यों के पादमूल में बैठकर गुणधराचार्य के मुखकमल से निकली हुई उन १८० गाथाओं के अर्थ को भले प्रकार से श्रवण करके प्रवचनवात्सल्य से प्रेरित हो यतिवृषभ भट्टारक ने उन पर चूर्णिसूत्रों की रचना की। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर ने महान् विषय को संक्षेप में प्रस्तुत कर सूत्रप्रणाली का प्रवर्तन किया। गुणधर दिग्म्बरपरम्परा के सबसे पहले सूत्रकार हैं।” (ती.म.आ.प./खं.२/पृ.२९-३१)।

इससे सिद्ध है कि कसायपाहुड की रचना श्वेताम्बर स्थविरावलियों में उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ती से भी पूर्व हुई थी। और यापनीयसम्प्रदाय का जन्म तो उसके लगभग ५५० वर्ष बाद हुआ था। अतः उत्पत्तिकाल की पूर्वापरता से भी सिद्ध होता है कि कसायपाहुड की रचना न यापनीयपरम्परा में हुई है, न श्वेताम्बरपरम्परा में, न इन दोनों की मनःकल्पित मातृपरम्परा में। उसकी रचना दिगम्बराचार्य गुणधर ने की है।

२.२. अन्य बहिरंग तथ्य

नीचे उल्लिखित तथ्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कसायपाहुड दिगम्बर-ग्रन्थ है—

१. कसायपाहुड के कर्ता गुणधर और चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ के नाम श्वेताम्बर-यापनीय-स्थविरावलियों में नहीं मिलते।

२. श्वेताम्बर-यापनीय-साहित्य में भी गुणधर तथा उनके द्वारा कसायपाहुड की रचना, आर्यमंक्षु और नागहस्ती द्वारा आचार्यपरम्परा से उसके ज्ञान की प्राप्ति, तथा इन दोनों के चरणकमलों में बैठकर यतिवृषभ द्वारा कसायपाहुड के अर्थश्रवण एवं चूर्णिसूत्र लिखे जाने का कोई विवरण नहीं है, जबकि दिगम्बरसाहित्य में है।

३. दिगम्बरसाहित्य में अर्हद्वलि द्वारा गुणधर के नाम से एक गुणधरसंघ बनाये जाने का भी उल्लेख है।

४. जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ती को आचार्यपरम्परा से कसायपाहुड की गाथाएँ प्राप्त होने का कथन जयधवलाकार ने किया है, वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में निर्दिष्ट आर्यमंक्षु और नागहस्ती से भिन्न थे।

५. यह ग्रन्थ, परम्परा से दिगम्बरजैन आम्नाय में ही प्राचीन दिगम्बर-आगम के रूप में मान्य और प्रचलित है, श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में नहीं।

६. दिगम्बर शास्त्रभण्डारों में ही यह आज तक सुरक्षित चला आ रहा है, श्वेताम्बर और यापनीय भंडारों में इसका कभी अस्तित्व नहीं रहा।

७. दिगम्बराचार्यों ने ही इस पर चूर्णिसूत्र और टीकाएँ लिखी हैं, श्वेताम्बर और यापनीय आचार्यों ने नहीं। श्वेताम्बरसाहित्य में आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि आदि के समान कसायपाहुडचूर्णि उपलब्ध नहीं है। यदि यह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ होता, तो इस पर किसी श्वेताम्बराचार्य द्वारा चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य या वृत्ति अवश्य लिखी जाती।

उपर्युक्त अन्तरंग एवं बहिरंग प्रमाणों से सिद्ध है कि कसायपाहुड न श्वेताम्बर-परम्परा का ग्रन्थ है, न यापनीयपरम्परा का, न इन दोनों की काल्पनिक मातृपरम्परा का। यह तो सवस्त्रमुक्तिविरोधी एवं स्त्रीमुक्तिविरोधी दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। इसके रचयिता गुणधर दिगम्बराचार्य थे और चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ भी दिगम्बराचार्य थे।



तृतीय प्रकरण

प्रतिपक्षी हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

यद्यपि पूर्वोक्त अन्तरंग एवं बहिरंग प्रमाणों से कसायपाहुड के दिगम्बरग्रन्थ होने में कोई सन्देह नहीं रहता, फिर भी उसके यापनीयग्रन्थ होने का सन्देह उत्पन्न करनेवाले जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी असत्यता एवं हेत्वाभासता का उद्घाटन आवश्यक है, जिससे उसके दिगम्बरग्रन्थ होने में सन्देह के लिए रंचमात्र भी स्थान न रहे। अतः प्रस्तुत प्रकरण में यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता का प्रकाशन किया जा रहा है।

१

श्वेताम्बर-यापनीय स्थविरावलियों में गुणधर का नाम नहीं

यापनीयपक्ष

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जी इस ग्रन्थ में लिखते हैं—“कसायपाहुड के कर्त्ता के रूप में गुणधर का और चूर्णिकार के रूप में यतिवृषभ का उल्लेख सर्वप्रथम जयधवलाकार ने किया है। आचार्य गुणधर कौन थे और किस परम्परा के थे, इसकी सूचना हमें न प्राचीन श्वेताम्बर आगमिक स्थविरावलियों से और न ही दिगम्बर-पट्टावलियों से प्राप्त होती है। जयधवला में भी मात्र यही कहा गया है कि आचार्यपरम्परा से आती हुई सूत्रगाथाएँ आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं, पुनः उन दोनों के पादमूल में बैठकर गुणधर आचार्य के मुखकमल से निकली हुईं उन १८० गाथाओं के अर्थ को सम्यक् प्रकार से श्रवण कर यतिवृषभ भट्टारक ने प्रवचनवात्सल्य के लिए चूर्णिसूत्रों की रचना की।” (जै.ध.या.स./पृ.८२-८३)। वे आगे कहते हैं—

क—“प्राचीन दिगम्बर-पट्टावलियों में गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती का, जो कि इसके कर्त्ता या प्रणेता माने जाते हैं, उल्लेख नहीं होने से और श्वेताम्बर-पट्टावलियों में इनका उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि यह मूलतः दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है।” (जै.ध.या.स./पृ.८६-८७)।

ख—“कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में तथा मथुरा के शिलालेखों में आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ती का उल्लेख होने से एवं आर्य नागहस्ती को कर्मशास्त्र का ज्ञाता कहे जाने से यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ उस परम्परा में निर्मित हुआ है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज थी।” (जै.ध.या.स./पृ.८७)।

ग—“इतना निश्चित है कि आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ती न तो दिगम्बर आचार्य हैं और न यापनीय ही। यद्यपि इतना भी निश्चित है कि वे श्वेताम्बरों के समान यापनीयों के भी पूर्वज हैं।” (जै.ध.या.स./पृ.८७)।

दिगम्बरपक्ष

कसायपाहुड के कर्त्ता आचार्य गुणधर हैं, आर्यमंक्षु और नागहस्ती नहीं। इन्होंने तो कसायपाहुड का ज्ञान आचार्यपरम्परा से प्राप्त किया था। कसायपाहुड के कर्त्ता गुणधर का नाम श्वेताम्बरों और यापनीयों की स्थविरावलियों में नहीं मिलता। ऊपर उद्धृत वचनों में मान्य लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि “आचार्य गुणधर कौन थे और किस परम्परा के थे, इसकी सूचना हमें न प्राचीन आगमिक श्वेताम्बर स्थविरावलियों से मिलती है और न दिगम्बर-पट्टावलियों से।” आगे जो उन्होंने आर्यमंक्षु और नागहस्ती के साथ गुणधर के नाम का भी उल्लेख श्वेताम्बर-पट्टावलियों में बतला दिया है, वह उनके उक्त वचनों से असत्य सिद्ध हो जाता है। अतः गुणधर को दिगम्बरेतर परम्परा का सिद्ध करने के लिए बतलाया गया यह हेतु कि उनका श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में नाम है, असत्य है। इस प्रकार असत्य हेतु का प्रयोग कर कसायपाहुड को दिगम्बरेतर परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। श्वेताम्बर और यापनीय-स्थविरावलियों में गुणधर का नाम उपलब्ध न होने से सिद्ध है कि उनका सम्बन्ध न तो श्वेताम्बरपरम्परा से था, न यापनीयपरम्परा से, न इन दोनों की मनःकल्पित मातृपरम्परा से।

२

श्वेताम्बर-यापनीय साहित्य में गुणधर का नाम अनुपलब्ध

श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं के किसी भी ग्रन्थ में आचार्य गुणधर का नाम नहीं आया है, न ही इस बात की चर्चा है कि गुणधर कसायपाहुड के कर्त्ता हैं। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी लिखा है—“श्वेताम्बरपरम्परा में न तो गुणधराचार्य का नामोनिशां मिलता है और न यतिवृषभ का।” (जै.सा.इ./भा.१/पृ.१७)।

इसके विपरीत दिगम्बरपरम्परा में जयधवलाटीका तथा इन्द्रनन्दी एवं विबुध-श्रीधर के श्रुतावतारों में स्पष्ट कहा गया है कि आचार्य गुणधर ने कसायपाहुड के गाथासूत्रों की रचना की थी। जयधवलाकार श्री वीरसेन स्वामी ग्रन्थ (ज.ध./क.पा./भा.१) के आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहते हैं—

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जजलं अणंतत्थं।

गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ ६ ॥

अनुवाद—“जिन्होंने इस आर्यावर्त में अनेक नवों से उज्ज्वल और अनन्तपदार्थों से व्यास कसायपाहुड का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया, उन गुणधर-भट्टारक को मैं (आचार्य वीरसेन) नमस्कार करता हूँ।”

आचार्य इन्द्रनन्दी (१०वीं शती ई०) भी श्रुतावतार में लिखते हैं—

अथ गुणधरमुनिनाथः सकषायप्राभृतान्वयं तत्प्रायो-
दोषप्राभृतकापरसंज्ञां साम्प्रतिकशक्तिमपेक्ष्य ॥ १५२ ॥

अधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्।
विवरणगाथानां च अधिकं पञ्चाशत्कमकार्षीत् ॥ १५३ ॥

अनुवाद—“तदनन्तर गुणधर मुनिनाथ ने अपनी वर्तमान शक्ति को देखकर कषायप्राभृत अपरनाम प्रायोदोषप्राभृत (पेज्जदोसपाहुड) की रचना की, जिसमें १८३ गाथासूत्र और ५३ विवरण गाथाएँ हैं।”

विबुधश्रीधर ने भी ‘श्रुतावतार’ में लिखा है—“ज्ञानप्रवादपूर्वस्य नाम त्रयोदशमो वस्तुकस्तदीयतृतीयप्राभृतवेत्ता गुणधरनामगणी मुनिर्भविष्यति। सोऽपि नागहस्तमुनेः पुरतस्तेषां सूत्राणामर्थान् प्रतिपादयिष्यति। तयोर्गुणधरनागहस्तिनामभट्टारकयोरुपकण्ठे पठित्वा तानि सूत्राणि यतिनायकाभिधो मुनिस्तेषां गाथासूत्राणां वृत्तिरूपेण षट्सहस्रप्रमाणं चूर्णिनामशास्त्रं करिष्यति।” (सिद्धान्तसारादिसंग्रह / पृ.३१७)।

अनुवाद—“ज्ञानप्रवादपूर्व की तेरहवीं वस्तु के तृतीयप्राभृत के वेत्ता गुणधर नाम के गणी मुनि होंगे। वे भी नागहस्तिमुनि के समक्ष उन सूत्रों के अर्थ का प्रतिपादन करेंगे। उन गुणधर और नागहस्ती भट्टारकों के समीप उक्त सूत्रों का पठन कर यतिनायक (यतिवृषभ) नाम के मुनि उन गाथासूत्रों की वृत्ति के रूप में छह हजार सूत्रोंवाले चूर्णि नामक शास्त्र की रचना करेंगे।”

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि आचार्य अर्हद्वलि ने अनेक संघों की स्थापना की थी, उनमें एक गुणधरसंघ भी था, जिसका नाम संभवतः उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर की स्मृति में रखा था—

ये शाल्मली-महाद्रुम-मूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेषु।
कांश्चिद् गुणधरसंज्ञकान्कांश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्वेताम्बरसाहित्य में कसायपाहुड के कर्ता के रूप में आचार्य गुणधर का कोई उल्लेख न होना और दिगम्बरसाहित्य में उल्लेख मिलना, इस बात का प्रमाण है कि उनका सम्बन्ध न तो श्वेताम्बर-परम्परा से था, न यापनीय-परम्परा से और न इन दोनों की मनःकल्पित मातृपरम्परा से, अपितु दिगम्बर-परम्परा से था।

‘गुणधर’ के स्थान में ‘गणधर’ की कल्पना अप्रामाणिक

यापनीयपक्ष

किन्तु उक्त यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक ने दिगम्बरपरम्परा में गुणधर के अस्तित्व को झुठलाने के लिए गुणधर नाम को विवादास्पद बनाने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं—“यद्यपि यह माना जाता है कि आचार्य गुणधर आर्यमंक्षु के पूर्व हुए थे, किन्तु दिगम्बरपरम्परा में गुणधर-नामक किसी आचार्य का अस्तित्व ही विवादास्पद है। क्योंकि उनके सम्बन्ध में दसवीं शती के जयधवला के इस उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। वैसे जयधवला में जो यह कहा गया है कि गुणधर के मुखकमल से निकली ये गाथाएँ आर्यमंक्षु और नागहस्ती के द्वारा अवधारण की गईं, इससे फलित होता है कि वस्तुतः मूल में गणधर (गणहर) ही होगा और आगे चलकर भ्रान्तिवश उसे गुणधर मान लिया गया होगा।” (जै.ध.या.स./पृ.८४-८५)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य ग्रन्थलेखक के कथन का अभिप्राय यह है कि वीरसेन स्वामी ने जयधवला में कसायपाहुड की गाथाओं को गणधर के ही मुख से निर्गत बतलाया होगा, किन्तु आगे चलकर किसी ने गणधर के स्थान में गुणधर कर दिया होगा। किन्तु इसके समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। उन्होंने जयधवला की एक भी ऐसी प्रति नहीं बतलायी, जिसमें ‘गुणधर’ के स्थान में ‘गणधर’ का उल्लेख हो। इससे सिद्ध है कि यह उनके अपने मन की कल्पना है, प्रमाणसिद्ध सैथ्य नहीं।

इसके अतिरिक्त मान्य ग्रन्थलेखक ने मुखकमल से निकली इन शब्दों के प्रयोग के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकाला है कि मूल में गणधर शब्द रहा होगा। उनकी इस सूझ से मैं चकित हूँ। आज तक ऐसा कोई शास्त्र मेरे देखने में नहीं आया, जिसमें यह नियम निर्धारित किया गया हो कि ‘मुखकमल से निकली हुई’ इस शब्दावली का प्रयोग केवल गणधर के साथ ही किया जा सकता है, अन्य व्यक्ति के साथ नहीं। यह तो किसी भी आदरणीय व्यक्ति के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त की जानेवाली लोकप्रसिद्ध रूपकालंकारमय शब्दावली है। इससे यह सिद्ध कैसे हो सकता है कि यहाँ मूलतः ‘गणधर’ शब्द रहा होगा? मान्य ग्रन्थलेखक का यह कथन अपढ़ व्यक्ति के भी गले नहीं उतर सकता।

अपने टीकाग्रन्थ के आरंभ में वीरसेन स्वामी ने क्रमशः चन्द्रप्रभ जिनदेव, चौबीस तीर्थंकर, वीरभगवान्, श्रुतदेवी, गणधरदेव और गुणधर आचार्य की स्तुति की है। गणधरदेव

को श्रुतज्ञान का सागर और गुणधर को कसायप्राभृत का गाथाओं द्वारा व्याख्यान करनेवाला कहा है। इससे स्पष्ट है कि आगे जयधवला (क.पा./भा.१) की ७वीं मंगलगाथा में जो यह कहा गया है कि गुणधर के मुख से निकली हुई गाथाओं के अर्थ का अवधारण आर्यमंक्षु और नागहस्ती ने किया, वह गुणधर से ही सम्बन्धित है। यहाँ गणधर और गुणधर के ज्ञान में महान् अन्तर बतलाया गया है। गणधर को श्रुतज्ञान का सागर बतलाया गया है और गुणधर को केवल कषायप्राभृत का ज्ञाता। तथा गणधर को पहले नमस्कार किया गया है, गुणधर को बाद में। यदि गुणधर के स्थान में भी गणधर शब्द ही माना जाय तो गणधर को नमस्कार की पुनरावृत्ति का प्रसंग आयेगा, जबकि उसके पूर्व किसी को भी नमस्कार की पुनरावृत्ति नहीं की गई है। इससे सिद्ध है कि मान्य ग्रन्थलेखक ने जो गुणधर के स्थान में 'गणधर' होने की कल्पना की है, वह निराधार है। आचार्य वीरसेन ने वहाँ कसायपाहुड के कर्ता गुणधर को ही प्रणाम किया है। ऐसे प्रयोग उन्होंने और भी कई जगह किये हैं। यथा—

“तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चैव आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो। पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवादपंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुड-महण्णवपारएण गंधवोच्छेदभएण पवयणवच्छल-परवसीकयहियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलस-पद-सहस्स-पमाणं होंतं असीदि-सदमेत्त-गाहाहि उवसंधारिदं। पुणो ताओ चैव सुत्तगाहाओ आइरिय-परंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमुंखणागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसद-गाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।” (ज.ध./क.पा./भा.१/गा.१/अनु.६८/पृ.७९-८०)।

अनुवाद—उसके पश्चात् अंगों और पूर्वों का एकदेश ही आचार्यपरम्परा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु-सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृतरूपी महासमुद्र के पार को प्राप्त श्री गुणधर भट्टारक ने, जिनका हृदय प्रवचन के वात्सल्य से भरा हुआ था, सोलह हजार पदप्रमाण इस पेज्जदोसपाहुड का, ग्रन्थ-विच्छेद के भय से, केवल एक सौ अस्सी गाथाओं के द्वारा उपसंहार किया। पुनः वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परा से आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं। पुनः उन दोनों आचार्यों के पादमूल में बैठकर गुणधर आचार्य के मुखकमल से निकली हुई उन एक सौ अस्सी गाथाओं के अर्थ को भली प्रकार श्रवण करके प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारक ने उन पर चूर्णिसूत्रों की रचना की।”

यहाँ पुनः 'गुणधर आचार्य के मुखकमल से निकली हुई' यह प्रयोग किया गया है। अब यदि यहाँ गुणधर के स्थान में गणधर माना जाय, तो प्रारंभिक वाक्य में जो यह कहा गया है कि “उसके पश्चात् अंगों और पूर्वों का एकदेश ही आचार्यपरम्परा

से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ” यहाँ भी गुणधर के स्थान में गणधर मानना होगा, तब सम्पूर्ण कथन असंगत हो जायेगा, क्योंकि अंगों और पूर्वों का एकदेश आचार्यपरम्परा से गणधर को प्राप्त नहीं हुआ था, अपितु गणधर से आचार्यपरम्परा को प्राप्त हुआ था। गणधर को तो साक्षात् भगवान् महावीर से प्राप्त हुआ था और अंगों और पूर्वों का एकदेश नहीं, अपितु वे समग्रतः प्राप्त हुए थे। निम्नलिखित वाक्यों में भी वीरसेन स्वामी ने गुणधर के मुखकमल से निकली हुई कहा है—

क—“गुणहराडरियमुहकमलविणिग्गयसव्वगाहाणं समासो तेत्तीसाहियविसदमेत्तो होदि २३३।” (ज.ध./क.पा./भा.१/गा.११-१२/अनु.१४६/पृ.१६६)।

ख—“गुणहरमुहविणिग्गयत्तादो।” (ज.ध./क.पा./भा.१/गा.१५/अनु.३३२/पृ.३३१)।

न केवल गुणधर के अपितु ‘आर्यमंशु और नागहस्ती के मुखकमल से निकले हुए’ ऐसा प्रयोग भी वीरसेन स्वामी ने किया है। यथा—

ग—“अज्जमंखु-णागहत्थि-महावाचय-मुहकमल-विणिग्गएण सम्पत्तस्स---।” (ज.ध./क.पा./भाग १३/गा.११४/अनु.७४/पृ.५४)।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि उक्त यापनीयपक्षी विद्वान् का यह कथन कि गणधर के स्थान में भूल से गुणधर मान लिया गया है, स्वयं उनकी ही भूल है। यदि वे जयधवल्ला के केवल प्रथमभाग का ही ध्यान से अवलोकन करते, तो उनसे उनके अभिप्राय और प्रयत्न की गंभीरता को सन्देहास्पद बनानेवाली ऐसी खेदजनक भूल न हुई होती। सार यह कि दिगम्बर-परम्परा में आचार्य गुणधर के अस्तित्व को असत्य सिद्ध करने के लिए बतलाया गया उपर्युक्त हेतु स्वयं असत्य है। असत्य हेतु गुणधर के अस्तित्व को असत्य सिद्ध नहीं कर सकता।

तत्पश्चात् वे यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक श्वेताम्बरपरम्परा से किसी गुणधर को ढूँढ़ कर ले आते हैं और उनके कसायपाहुडकर्त्ता होने की संभावना पर विचार करने लगते हैं। (जै.ध.या.स./पृ.८५)। किन्तु कालसंगति न बैठने के कारण उन्हें कसायपाहुडका कर्त्ता घोषित करने का विचार त्याग देते हैं। और अन्त में यह नहीं बतला पाते कि उनके अनुसार कसायपाहुड का कर्त्ता कौन है?

४

श्वेताम्बर आर्यमंगु-नागहस्ती का कसायपाहुड से सम्बन्ध असंभव

यापनीयपक्ष

यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक ने उपर्युक्त असत्य हेतु के द्वारा गुणधर के अस्तित्व को झुठलाकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कसायपाहुड का सम्बन्ध केवल

आर्यमंगु और नागहस्ती से है। अर्थात् प्रकारान्तर से उन्हें ही उसका कर्ता सिद्ध करना चाहा है। और चूँकि उन दोनों के नाम श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में उपलब्ध हैं और उपलब्ध कसायपाहुड अर्धमागधी प्राकृत में नहीं है, इसलिए मान्य ग्रन्थलेखक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये दोनों आचार्य न श्वेताम्बर थे, न यापनीय, अपितु दोनों ही उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-मातृपरम्परा से सम्बद्ध थे। कसायपाहुड इसी परम्परा में रचा गया था। और इस परम्परा के विभाजित होने पर उत्तराधिकार में श्वेताम्बर और यापनीय दोनों सम्प्रदायों को प्राप्त हुआ था। उस समय वह अर्धमागधी में था, किन्तु यापनीय परम्परा में वह यतिवृषभ के द्वारा शौरसेनी में रूपान्तरित कर लिया गया। वर्तमान में उपलब्ध कसायपाहुड वही है। मान्य ग्रन्थलेखक अपने इन विचारों को प्रकट करते हुए लिखते हैं—

“वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ आर्यमंक्षु और नागहस्ती की उस अविभक्त परम्परा में निर्मित हुआ है, जिसका उत्तराधिकार समानरूप से यापनीयों को भी प्राप्त हुआ था। सम्भावना यही है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से अध्ययन करके यतिवृषभ ने ही इसे शौरसेनी प्राकृत का वर्तमानस्वरूप प्रदान कर चूर्णिसूत्र की रचना की हो।” (जै.ध.या.स./पृ.८५)।

“इससे यही सिद्ध होता है कि कसायपाहुड उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा (सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा) का ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों को समानरूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।” (जै.ध.या.स./पृ.८९)।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि डॉ० सागरमल जी ने आर्यमंगु को आर्यमंक्षु शब्द से भी अभिहित किया है। वे लिखते हैं—“ज्ञातव्य है कि नन्दीसूत्र एवं माथुरीवाचना की स्थविरावली में आर्य मंक्षु (मंगु) आर्य नन्दिल और आर्य नागहस्ती (नागहत्थी) के उल्लेख हैं—।” (जै.ध.या.स./पृ.८३)।

दिगम्बरपक्ष

यह उक्त ग्रन्थलेखक के अपने मन की कल्पना है। यदि उपलब्ध कसायपाहुड अर्धमागधी में होता, तो वे इसे बड़ी सरलता से श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ घोषित कर देते। तब उन्हें न तो श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ती, न आर्यमंक्षु और नागहस्ती को उस परम्परा से सम्बद्ध मानने की, न उस परम्परा में कसायपाहुड के रचे जाने की, न ही यतिवृषभ को यापनीय मानकर उनके द्वारा कसायपाहुड का शौरसेनीकरण किये जाने की। यह सारा प्रपञ्च उन्हें इसलिए रचना पड़ा कि कसायपाहुड शौरसेनी में है, अर्धमागधी में नहीं।

किन्तु श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध प्रमाणों से आर्यमंक्षु और नागहस्ती का कसायपाहुड के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। क्योंकि भले ही श्वेताम्बर-परम्परा में आर्यमंगु और नागहस्ती के नाम उपलब्ध हैं, तथापि न तो वे परस्पर समकालीन सिद्ध होते हैं, न यतिवृषभ के साथ उनकी कालसंगति बैठती है, जिन्हें उन दोनों का साक्षात् शिष्य माना गया है, न श्वेताम्बरसाहित्य में इस बात का उल्लेख है कि आचार्य-परम्परा से उन्होंने कसायपाहुड का अर्थग्रहण किया था, न उस आचार्यपरम्परा का कोई पदचिह्न प्राप्त होता है, न उसमें यह संकेत है कि उन्होंने यतिवृषभ को उन गाथाओं की शिक्षा दी थी और न ही उनकी कर्मसिद्धान्त-विषयक किसी विचारधारा का श्वेताम्बर साहित्य में कहीं उल्लेख मिलता है। (पं.कै.च.शास्त्री : जै.सा.इ.भा.१/पृ.१७)।

जयध्वलाकार का कथन है कि यतिवृषभ ने आर्यमंक्षु और नागहस्ती दोनों के पादमूल में बैठकर गुणधरकथित गाथाओं के अर्थ का श्रवण किया था। इस कथन से इन तीनों आचार्यों की समकालीनता सिद्ध होती है। किन्तु श्वेताम्बर-स्थविरावलियों के अनुसार आर्यमंगु और नागहस्ती के बीच लगभग १५० वर्ष का अन्तर है। आर्य मंगु वी० नि० सं० ४५१ से ४७० तक अर्थात् ई० पू० ७६ से ई० पू० ५७ तक आचार्यपद पर आसीन रहे तथा आर्य नागहस्ती ने ईसोत्तर ९३ के आसपास आचार्यपद ग्रहण किया, जब कि दिग्म्बरसाहित्य में उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार यतिवृषभ का समय १७६ ई० के लगभग है। (देखिये, अध्याय १०/प्रकरण १-तिलोयपण्णत्ती का रचनाकाल)। अतः आर्यमंक्षु और यतिवृषभ के बीच २३३ वर्ष का तथा नागहस्ती और यतिवृषभ के मध्य लगभग ८३ वर्ष का अंतराल फलित होता है। इससे यह बात युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती, दोनों के पादमूल में बैठकर यतिवृषभ ने कसायपाहुड की गाथाओं का श्रवण किया था।

तथा आचार्य गुणधर ई० पू० द्वितीय शती के उत्तरार्ध में हुए थे (देखिये, प्रकरण २/शीर्षक २.१) और श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में आर्यमंगु का आचार्यकाल ई० पू० ७६ से ई० पू० ५७ तक बतलाया गया है। इस प्रकार वे आचार्य गुणधर से लगभग एक शताब्दी बाद हुए थे। तथा श्वेताम्बर-स्थविरावलियों के अनुसार आर्य नागहस्ती का समय ईसोत्तर ९३ के आसपास है। इस तरह आर्य नागहस्ती आचार्य गुणधर से लगभग दो शताब्दियों के बाद उत्पन्न हुए थे। इस महान् कालवैषम्य के कारण इन दोनों का आचार्य गुणधर से कसायपाहुड की गाथाओं का श्रवण उपपन्न नहीं होता।

यदि थोड़ी देर के लिए गुणधर, आर्यमंक्षु, नागहस्ती और यतिवृषभ की कालसंगति भी मान ली जाय, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि श्वेताम्बरपरम्परा के आर्यमंगु और

नागहस्ती को गुणधर या अन्य किसी आचार्य से कसायपाहुड की गाथाएँ प्राप्त हुई थीं अथवा उन्होंने स्वयं रचीं थीं, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वे गाथाएँ आचार्यपरम्परा से श्वेताम्बरसम्प्रदाय में धरोहर के रूप में अवश्य सुरक्षित रहतीं, जैसे दिगम्बरपरम्परा में सुरक्षित हैं, और श्वेताम्बरसाहित्य में भी यह उल्लेख किया गया होता कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती को कसायपाहुड की गाथाएँ गुणधर या किसी अन्य आचार्य से साक्षात् या आचार्यपरम्परा द्वारा प्राप्त हुई थीं अथवा उन्होंने स्वयं उनकी रचना की थी। इतना ही नहीं आर्यमंक्षु और नागहस्ती के किसी मत या किसी अन्य कृति का भी उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में नहीं मिलता। इस तथ्य का उद्धाटन करते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री जयधवलासहित-कसायपाहुड की प्रस्तावना में लिखते हैं—

“इन दोनों आचार्यों का नाम नन्दिसूत्र की पट्टावली में अवश्य आता है और उसमें नागहस्ती को वाचकवंश का प्रस्थापक और कर्मप्रकृति का प्रधान विद्वान् भी कहा है। किन्तु इन दोनों आचार्यों के मन्तव्य का एक भी उल्लेख श्वेताम्बरपरम्परा के आगमिक या कर्मविषयक साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, जबकि धवला और जयधवला में उनके मतों का उल्लेख बहुतायत से पाया जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः जयधवलाकार के सन्मुख इन दोनों आचार्यों की कोई कृति रही हो।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ. ६५)।

“इन दोनों आचार्यों के मतों का उल्लेख जयधवला में अनेक जगह आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जयधवलाकार के सामने इन दोनों आचार्यों की कोई कृति मौजूद थी या उन्हें गुरुपरम्परा से इन दोनों आचार्यों के मत प्राप्त हुए थे, क्योंकि ऐसा हुए बिना निश्चित रीति से अमुक-अमुक विषयों पर दोनों के जुदे-जुदे मतों का इस प्रकार उल्लेख करना संभव प्रतीत नहीं होता। इन दोनों में आर्यमंक्षु जेठे मालूम होते हैं, क्योंकि सब जगह उन्हीं का पहले उल्लेख किया गया है। किन्तु जेठे होने पर भी आर्यमंक्षु के उपदेश को अपवाइज्जमाण^३ और नागहस्ती के उपदेश को पवाइज्जमाण कहा है। जो उपदेश सर्वाचार्यसम्मत होता है और चिरकाल से अविच्छिन्न सम्प्रदाय के क्रम से चला आता हुआ शिष्यपरम्परा के द्वारा लाया जाता है, वह पवाइज्जमाण कहा जाता है। अर्थात् आर्यमंक्षु का उपदेश सर्वाचार्यसम्मत और अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रम से आया हुआ नहीं था, किन्तु नागहस्ती आचार्य का उपदेश सर्वाचार्यसम्मत और अविच्छिन्न सम्प्रदाय के क्रम से चला आया हुआ था। पश्चिमस्कन्ध में एक जगह

३. “सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवा-इज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतओ ति घेतव्वो।” जयधवला/ क. पा./ भा. १२/ अनु. १५३/ पृ. ७१-७२।

इसी प्रकार दोनों आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने लिखा है—

“एत्थ दुवे उवएसा अत्थि त्ति, के वि भणंति। तं कथं? महावाचयाणमज्जमं-
खुखवणाणमुवदेसेण लोगे पूरिदे आउगसमं णामागोदवेदणीयाणं द्विदिसंतकम्मं ठवेदि।
महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामागोदवेदणीयाणं द्विदिसंत-
कम्मंतोमुहुत्तपमाणं होदि। होंतं पि आउगादो संखेज्जगुणमेत्तं ठवेदि त्ति। णवरि एसो
वक्खाणसंपदाओ चुण्णिणसुत्तविरुद्धो। चुण्णिणसुत्ते मुत्तकंठमेव संखेज्जगुणमाउआदो त्ति
णिद्धिट्ठितादो। तदो पवाइज्जंतोवएसो एसो चेव पहाणभावेणावलंबेयव्वो।” (प्रे.का./
पृ.७५८१)।

“अर्थात् इस विषय में दो उपदेश पाये जाते हैं। वे उपदेश इस प्रकार हैं: महावाचक आर्यमंक्षु क्षपण के उपदेश से लोकपूरण करने पर नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति को आयु के समान करता है। और महावाचक नागहस्ती क्षपण के उपदेश से लोकपूरण करने पर नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण करता है। अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण करने पर भी आयु से संख्यातगुणीमात्र करता है। इन दोनों उपदेशों में से पहला उपदेश चूर्णिसूत्र के विरुद्ध है, क्योंकि चूर्णिसूत्र में स्पष्ट ही संखेज्जगुणमाउआदो ऐसा कहा है। अतः दूसरा जो पवाइज्जंत उपदेश है, उसी का मुख्यता से अवलम्बन करना चाहिये। (क.पा./भाग १६/अनु.३४४/पृ.१५८)।

“यद्यपि सम्यक्त्व-अनुयोगद्वार में दोनों के ही उपदेशों को पवाइज्जंत कहा है। यथा—“पवाइज्जंदेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमंखुणागहत्थिमहावाचय-
मुहकमलविणिग्गयेण सम्मत्तस्स अट्ठवस्साणि।” (प्रे.पृ.६२६१)।

“किन्तु इसका कारण यह मालूम होता है कि यहाँ दोनों आचार्यों में मतभेद नहीं है। अर्थात् आर्यमंक्षु का भी वही मत है जो नागहस्ती का है। यदि आर्यमंक्षु का मत नागहस्ती के प्रतिकूल होता, तो यहाँ भी उसे अपवाइज्जंत ही कहा जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि जेठे होने पर भी आर्यमंक्षु की अपेक्षा प्रायः नागहस्ती का मत सर्वाचार्यसम्मत माना जाता था, कम से कम जयधवलाकार को तो यही इष्ट था। इन दोनों आचार्यों को भी जयधवलाकार ने महावाचक लिखा है और इन दोनों आचार्यों का भी उल्लेख धवला, जयधवला और श्रुतावतार के सिवाय उपलब्ध दिगम्बरसाहित्य में अन्यत्र नहीं पाया जाता है।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.४१)।^४

४. जयधवलासहित कसायपाहुड, भाग १ के ‘सम्पादकीय वक्तव्य’ में पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्त-शास्त्री ने पृष्ठ (१४ ब) पर (जयधवलासहित कसायपाहुड) के ‘कार्यविभाग की स्थूल

पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने 'जैन साहित्य का इतिहास' (भाग १/पृ:१७-१८) में भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने लिखा है—

“श्वेताम्बरपरम्परा में आर्यमंगु और नागहस्ती का विवरण एक-एक गाथा के द्वारा केवल नन्दिसूत्र की स्थविरावली में ही पाया जाता है। इनके किसी मत का या किसी कृति का कोई उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में नहीं मिलता, जब कि जयध्वला के देखने से यह प्रकट होता है कि टीकाकार वीरसेन स्वामी के सामने कोई ऐसी रचना अवश्य थी, जिसमें इन दोनों आचार्यों के मतों का स्पष्ट निर्देश था, क्योंकि यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों में पवाइज्जमाण उपदेश का निर्देश अवश्य किया है, किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है, यह निर्देश नहीं किया। इसका स्पष्ट विवेचन किया है टीकाकार ने, अतः उनके सामने कोई उक्त प्रकार की रचना अवश्य होनी चाहिए।”

इस तरह श्वेताम्बरसाहित्य में आर्यमंक्षु और नागहस्ती की न तो किसी कृति का उल्लेख है, न किसी मत का, जब कि दिगम्बरसाहित्य में है। यह तथ्य इस बात का सबूत है कि श्वेताम्बर-स्थविरावली में उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ती कसायपाहुड की गाथाओं से परिचित नहीं थे, कसायपाहुड से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं था।

अतः अन्यथानुपपत्ति से यही सिद्ध होता है कि जयध्वलाकार ने जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ती का उल्लेख किया है और यह कहा है कि उनके पादमूल में बैठकर यतिवृषभ ने गुणधरकथित गाथाओं के अर्थ का श्रवण किया था, वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ती से सर्वथा भिन्न थे। वे दिगम्बर-परम्परा में उत्पन्न हुए थे। अतः उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के आर्यमंक्षु और नागहस्ती से यतिवृषभ ने गुणधरकथित गाथाओं का अर्थ श्रवण किया था, यह मान्यता, जो कसायपाहुड को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में प्रस्तुत की गयी है, असत्य है।

रूपरेखा' शीर्षक के नीचे लिखा है—“भूमिका के मुख्य तीन भाग हैं : ग्रन्थ, ग्रन्थकार और विषयपरिचय। इनमें से आदि के दो स्तम्भ पं. कैलाशचन्द्र जी ने लिखे हैं और अन्तिम स्तम्भ पं. महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है।” यहाँ भूमिका से तात्पर्य 'प्रस्तावना' से है, क्योंकि 'प्रस्तावना' शीर्षक के अन्तर्गत ही, १. ग्रन्थपरिचय (पृष्ठ ५-३५), २. ग्रन्थकारपरिचय (पृ. ३६-७३) तथा ३. विषयपरिचय (पृष्ठ ७३-१०६) निबद्ध हैं। प्रस्तुत उद्धरण पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना-भाग (पृष्ठ ६५ एवं ४१) से गृहीत हैं।

यतिवृषभ का नाम यापनीय-आचार्यों की नामावली में नहीं

यापनीयपक्ष

कसायपाहुड शौरसेनी प्राकृत में है, अर्धमागधी में नहीं। यदि अर्धमागधी में होता, तो उक्त यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक उसे आसानी से श्वेताम्बरग्रन्थ घोषित कर देते। किन्तु शौरसेनी में होने से उसे यापनीयपरम्परा या उसकी कपोलकल्पित मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उन्हें बहुत बड़ा प्रपञ्च रचना पड़ा। उसके निम्नलिखित अंग है—

१. 'गुणधर' शब्द को गलत बतलाकर 'गणधर' को सही कहना।

२. उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के अस्तित्व की कल्पना करना।

३. आर्यमंक्षु और नामहस्ती को श्वेताम्बरपरम्परा से सम्बद्ध न बतलाकर उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से सम्बद्ध बतलाना और यह घोषित करना कि कसायपाहुड उनके द्वारा रचा गया है।

४. इस कपोलकल्पना को जन्म देना कि उक्त परम्परा से श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को अर्धमागधी में रचित कसायपाहुड उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।

५. यह कल्पना करना कि यतिवृषभ द्वारा उसका शौरसेनीकरण किया गया।

६. यतिवृषभ को यापनीय घोषित करना।

७. यतिवृषभ के नाम के साथ जुड़े 'यति' शब्द को यापनीयों की उपाधि मानकर उन्हें यापनीय सिद्ध करना।

यदि यतिवृषभ को यापनीय सिद्ध न किया जाता, तो कसायपाहुड के यापनीयों द्वारा शौरसेनीकरण का मिथ्यावाद युक्तिसंगत प्रतीत न होता। और तब उसके मूलतः अर्धमागधी में रचे जाने का मिथ्यावाद उपपन्न न होता। ऐसा होने पर उसके श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ होने और उससे श्वेताम्बरों और यापनीयों को उत्तराधिकार में प्राप्त होने के मिथ्यावाद की संगति न बैठती। इसलिए उक्त ग्रन्थ के लेखक के लिए अपना प्रयोजन सिद्ध करने हेतु यतिवृषभ को यापनीय सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक था। इसलिए उन्होंने यतिवृषभ को यापनीय घोषित कर दिया और उसके समर्थन में यह हेतु प्रस्तुत किया कि उनके नाम के साथ 'यति' शब्द जुड़ा हुआ है, जो यापनीय आचार्यों की उपाधि थी। देखिए उक्त ग्रन्थलेखक के निम्नलिखित शब्द—

“सम्भावना यही है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से अध्ययन करके यतिवृषभ ने ही इसे शौरसेनी प्राकृत का वर्तमान स्वरूप प्रदान कर चूर्णिसूत्र की रचना की हो।” (जै. ध. या. स./पृ.८५)।

“हमने आगमों की चर्चा के प्रसंग में देखा था कि आगमों का शौरसेनीकरण यापनीयपरम्परा का वैशिष्ट्य रहा है। इसी प्रकार कसायपाहुड का शौरसेनीकरण भी यापनीयपरम्परा की ही देन है।” (जै. ध. या. स./पृ.८६)।

“हो सकता है इस (कसायपाहुड) पर चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ यापनीय हों, क्योंकि यापनीयों में अपने नाम के आगे ‘यति’ शब्द लगाने की प्रवृत्ति रही है, जैसे—यतिग्रामाग्रणी भदन्त शाकटायन।” (जै. ध. या. स./पृ.८७)।

दिगम्बरपक्ष

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने यापनीयसंघ के विषय में विस्तृत अनुसन्धान किया है। इस संघ के आचार्यों की कोई पट्टावली या गुर्वावली नहीं है। उनकी विशेष जानकारी दक्षिणभारत में विभिन्न राजाओं के द्वारा संघ को दिये गये दान का वर्णन करनेवाले शिलालेखों से ही मिलती है। ये शिलालेख ५वीं शती ई० से १४वीं शती ई० तक के हैं। इनमें विभिन्न गणों के अनेक यापनीय-आचार्यों के नामों का उल्लेख है, जैसे दामकीर्ति, जयकीर्ति, बन्धुसेन, कुमारदत्त, अर्हणन्दी, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव आदि।^१ किन्तु किसी भी अभिलेख में यतिवृषभ जैसे प्रसिद्ध आचार्य का नाम नहीं है। कसायपाहुड जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर जिसने चूर्णिसूत्र लिखे तथा तिलोयपण्णत्ती जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की, उस आचार्य के नाम का यापनीय-आचार्यों और साधुओं का उल्लेख करनेवाले लेखों में उपलब्ध न होना यही सिद्ध करता है कि यतिवृषभ यापनीयसंघ के आचार्य नहीं थे, अपितु दिगम्बराचार्य थे।

६

यतिवृषभ यापनीयमत-विरोधी ‘तिलोयपण्णत्ती’ के कर्ता

कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखनेवाले यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ के भी कर्ता हैं। इसमें उन्होंने सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलभुक्ति आदि यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बरपरम्परा के आचार्य थे, यापनीय-परम्परा के नहीं। तिलोयपण्णत्ती के यापनीयमतविरोधी सिद्धान्तों का सोदाहरण निरूपण तिलोयपण्णत्ती नामक सप्तदश अध्याय में द्रष्टव्य है।

५. ‘जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश’/ ‘अनेकान्त’/ महावीरनिर्वाण विशेषांक/
सन् १९७५ ई०।

दिगम्बरमुनियों के भी नाम में 'यति' शब्द

तथा यापनीयपक्षधर पूर्वोक्त ग्रन्थलेखक का यह कथन समीचीन नहीं है कि यापनीय-मुनियों में अपने नाम के साथ 'यति' शब्द लगाने की प्रवृत्ति रही है, क्योंकि सर्वप्रथम तो यतिग्रामाग्रणी भदन्त शाकटायन इस उदाहरण में 'यति' शब्द नाम के साथ नहीं, अपितु उपाधि के साथ जुड़ा है, अतः यह नाम के साथ 'यति' शब्द जुड़े होने का उदाहरण नहीं है। दूसरे, सभी यापनीय मुनियों या आचार्यों के साथ 'यति' उपाधि नहीं मिलती, जैसे ऊपर उद्धृत किये गये शिलालेखीय नामों के साथ। तीसरे, दिगम्बरमुनियों के साथ भी 'यति' उपाधि का प्रयोग मिलता है, जैसे न्यायदीपिका के कर्ता अभिनव-धर्मभूषणयति के साथ। इस प्रकार सभी यापनीय मुनियों के नाम के साथ 'यति' शब्द उपलब्ध न होने तथा दिगम्बरमुनियों के भी नाम के साथ इसका प्रयोग होने से यह यापनीय मुनियों का असाधारणधर्म या लक्षण नहीं है। अतः नाम के साथ 'यति' शब्द का प्रयोग मुनियों के यापनीय होने का हेतु नहीं है, अपितु अहेतु या हेत्वाभास है। इसलिए आचार्य यतिवृषभ के नाम में 'यति' शब्द होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वे यापनीय थे।

अर्धमागधी प्रति के अभाव में शौरसेनीकरण असंभव

यापनीयपक्ष

यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक का कथन है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में रचित अर्धमागधी-कसायपाहुड उत्तराधिकार में श्वेताम्बरों और यापनीयों दोनों को प्राप्त हुआ था। वह यापनीयपरम्परा में यतिवृषभ के द्वारा शौरसेनी में रूपान्तरित किया गया। यही वर्तमान में उपलब्ध है। (जै.ध.या.स./पृ.८५, ८६, ८९)।

दिगम्बरपक्ष

यदि वह ग्रन्थ दोनों परम्पराओं को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ होता, तो जैसे यतिवृषभ को शौरसेनीकरण तथा चूर्णिसूत्र लिखने के लिए उपलब्ध था, वैसे ही श्वेताम्बरपरम्परा में भी वह अर्धमागधी में उपलब्ध होना चाहिए था। किन्तु वह श्वेताम्बर-परम्परा में उपलब्ध नहीं है, न ही उसके उपलब्ध होने का कोई इतिहास श्वेताम्बरसाहित्य में विद्यमान है, इससे सिद्ध है कि उत्तराधिकार में प्राप्त होने की बात मनगढ़ंत है।

इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि जिस श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से उत्तराधिकार में कसायपाहुड की प्राप्ति बतलायी गयी है, उसका अस्तित्व ही नहीं था। अतः उससे किसी वस्तु का उत्तराधिकार में प्राप्त होना असंभव था। इसलिए जब अर्धमागधी कसायपाहुड के उत्तराधिकार में प्राप्त होने की बात ही कपोलकल्पित है, तब उसके शौरसेनीकरण की बात का कपोलकल्पित होना स्वतः सिद्ध है। इस तरह यतिवृषभ को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु भी असत्य है। यतिवृषभ यापनीय नहीं दिगम्बर थे। उन्हें अपने दिगम्बर गुरुओं, आर्यमंक्षु और नागहस्ती से शौरसेनी में ही कसायपाहुड की गाथाएँ प्राप्त हुई थीं, अतः उनके शौरसेनीकरण की आवश्यकता ही नहीं थी।

९

श्वेताम्बरपरम्परा में अर्धमागधी-कसायपाहुड का अभाव

श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है कि कसायपाहुड नाम का कोई श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है और उसके रचयिता गुणधर, गुणन्धर, आर्यमंक्षु या नागहस्ती हैं अथवा आर्यमंक्षु और नागहस्ती को आचार्यपरम्परा से उसका ज्ञान प्राप्त हुआ था और उनके पादमूल में बैठकर यतिवृषभ ने उसका अर्थश्रवण किया था।

कसायपाहुड की अर्धमागधी में कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, न श्वेताम्बरशास्त्र-भण्डारों में, न अन्यत्र। न ही श्वेताम्बरसाहित्य की सूचियों में या किसी श्वेताम्बरग्रन्थ में अर्धमागधी कसायपाहुड के अस्तित्व का उल्लेख है। यह भी नहीं माना जा सकता कि भारतवर्ष के सभी श्वेताम्बर शास्त्रभण्डारों और भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना जैसे पुराने ग्रन्थालयों से केवल अर्धमागधी-कसायपाहुड की प्रतियाँ एकसाथ लुप्त हो गयीं, बाकी सब ग्रन्थ सुरक्षित रहे। ऐसा तो कोई शत्रु भी योजनाबद्ध तरीके से करना चाहे, तो नहीं कर सकता, तब स्वयं श्वेताम्बरों के द्वारा ऐसा कैसे हो सकता था?

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' के लेखक ने स्वयं अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि आचार्य यतिवृषभ का स्थितिकाल ईसा की छठी-सातवीं शती है। (पृ.१११)। उनकी मान्यता के अनुसार यदि यतिवृषभ ने कसायपाहुड का शौरसेनीकरण किया हो, तो इसी समय किया होगा। इसके पूर्व पाँचवीं शती ई० में वलभी में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा सभी श्वेताम्बरग्रन्थ पुस्तकारूढ़ किये जा चुके थे। इससे स्पष्ट है कि यतिवृषभ को कसायपाहुड की अर्धमागधी प्रति उपलब्ध रही होगी, जिसके आधार पर उन्होंने उसका शौरसेनीकरण किया होगा। अतः जब ईसा की छठी-सातवीं शती

में कसायपाहुड की दोनों प्राकृतों में निबद्ध प्रतियाँ उपलब्ध थीं, तब यह कैसे सम्भव है कि शौरसेनी प्रतियाँ दिगम्बरभण्डारों में सुरक्षित रही आर्यों और अर्धमागधी प्रतियाँ श्वेताम्बरभण्डारों से लुप्त हो गयीं? यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसलिए श्वेताम्बर-परम्परा में अर्धमागधी कसायपाहुड का उपलब्ध न होना यही सिद्ध करता है कि न तो इस परम्परा में उसकी रचना हुई थी, न ही उसका कपोलकल्पित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त होना संभव था।

मुनि कल्याणविजय जी ने कसायपाहुड के श्वेताम्बरग्रन्थ होने का मत प्रकट किया है। किन्तु उन्होंने यह कल्पना नहीं की, कि वह अर्धमागधी में भी था और उसका शौरसेनीकरण यतिवृषभ ने किया था। उन्होंने कसायपाहुड को शौरसेनी में ही मूलतः निबद्ध माना है। अतः उपर्युक्त ग्रन्थ के लेखक ने मुनि जी के मत से असहमति प्रकट की है। वे लिखते हैं—“श्वेताम्बरपरम्परा में कोई भी शौरसेनी प्राकृत की रचना उपलब्ध नहीं है। अतः कसायपाहुड के वर्तमानस्वरूप को श्वेताम्बरपरम्परा की रचना तो नहीं कहा जा सकता, जैसा कि कल्याण-विजय जी ने माना है।” (जै. ध. या. स/पृ. ८५)। इससे यह संभावना निरस्त हो जाती है कि वर्तमान शौरसेनी-कसायपाहुड ही श्वेताम्बरसम्प्रदाय को अपनी श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से प्राप्त हुआ था।

मुनि कल्याणविजय जी ने नन्दिसूत्र की स्थविरावली में आर्यमंक्षु और नागहस्ती के नाम उपलब्ध होने से कसायपाहुड को श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ माना है। इसका खंडन करते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने कहा है कि यदि ऐसा होता, तो श्वेताम्बर-परम्परा में कसायपाहुड अनुपलब्ध न होता और दिगम्बरपरम्परा में उसके दर्शन न होते। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती से दिगम्बरों को ही कसायपाहुड उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। वे लिखते हैं—

“इन दोनों आचार्यों का नाम नन्दिसूत्र की पट्टावली में अवश्य आता है और उसमें नागहस्ती को वाचकवंश का प्रस्थापक और कर्मप्रकृति का प्रधान विद्वान् भी कहा गया है। किन्तु इन दोनों आचार्यों के मन्तव्य का एक भी उल्लेख श्वेताम्बर-परम्परा के आगमिक या कर्मविषयक साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, जब कि धवला और जयधवला में उनके मतों का उल्लेख बहुतायत से पाया जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः जयधवलाकार के सन्मुख इन दोनों आचार्यों की कोई कृति रही हो। इन्हीं दोनों आचार्यों के पास कसायपाहुड का अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों की रचना की थी, और बाद को उन्हीं के आधार पर अनेक आचार्यों ने कसायपाहुड-वृत्तियाँ आदि लिखी थीं। सारांश यह है कि दिगम्बरपरम्परा को कसायपाहुड और उसका ज्ञान आर्यमंक्षु और नागहस्ती से ही प्राप्त हुआ था। ये

दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्परा के ही होते, तो कसायपाहुड या तो दिगम्बरपरम्परा को प्राप्त ही नहीं होता, यदि होता भी, तो श्वेताम्बरपरम्परा उससे एकदम अछूती न रह जाती।

“शायद कहा जाये, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, कि कषायप्राभृत के ‘संक्रम अनुयोगद्वार’ की कुछ गाथाएँ कर्मप्रकृति में पायी जाती हैं, अतः श्वेताम्बरपरम्परा को उससे एकदम अछूता तो नहीं कहा जा सकता। इसके सम्बन्ध में हमारा मन्तव्य है कि प्रथम तो संक्रम-अनुयोगद्वार-सम्बन्धी गाथाओं के गुणधर-रचित होने में पूर्वाचार्यों में मतभेद था। कुछ आचार्यों का मत था कि उनके रचयिता आचार्य नागहस्ती थे। यद्यपि जयध्वलाकार इस मत से सहमत नहीं हैं, फिर भी मात्र उतनी गाथाओं के कर्मप्रकृति में पाये जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्य गुणधर का वारसा दिगम्बरपरम्परा की तरह श्वेताम्बरपरम्परा को भी प्राप्त था। दूसरे, हम यह पहले बतला आये हैं कि कषायप्राभृत की संक्रमप्रवृत्तिसम्बन्धी जो गाथाएँ कर्मप्रकृति में पायी जाती हैं, उनमें कषायप्राभृत की गाथाओं से कुछ भेद भी है और वह भेद सैद्धान्तिक मतभेद को लिये हुए है। यदि कषायप्राभृत में उपलब्ध पाठ श्वेताम्बरपरम्परा को मान्य होता, तो कर्मप्रकृति में उसे हम ज्यों का त्यों पाते, कम से कम उसमें सैद्धान्तिक मतभेद न होता।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.६५)।

निष्कर्ष यह कि श्वेताम्बरपरम्परा में अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों भाषाओं के कसायपाहुड की अनुपलब्धि सिद्ध करती है कि जिसे उक्त मान्य विद्वान् ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की मातृपरम्परा कहा है और दोनों को जिसकी विरासत का उत्तराधिकारी बतलाया है, उससे श्वेताम्बरों को कसायपाहुड उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुआ। तब एक महान् प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जिस मातृपरम्परा के श्वेताम्बर और यापनीय दोनों उत्तराधिकारी थे, उससे उत्तराधिकार में कसायपाहुड यापनीयों को तो प्राप्त हो गया, किन्तु श्वेताम्बरों को प्राप्त नहीं हुआ, इसका क्या कारण था? कारण स्पष्ट है कि ऐसी कोई परम्परा थी ही नहीं। यदि होती, तो जिस तरह यापनीयों को उससे उत्तराधिकार में कसायपाहुड की प्राप्ति मानी गयी है, उसी प्रकार श्वेताम्बरों को भी वह अवश्य ही प्राप्त हुआ होता। अपनी मातृपरम्परा की इतनी बहुमूल्य विरासत को दूसरा भाई कैसे छोड़ देता? श्वेताम्बरों के पास इतनी बहुमूल्य विरासत नहीं है, इससे यही सिद्ध होता है कि जिस मातृपरम्परा की यह विरासत मानी गई है, उसका अस्तित्व ही नहीं था। वह सर्वथा मनःकल्पित है। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि यापनीयों को भी यह विरासत प्राप्त नहीं हुई थी। क्योंकि जो परम्परा थी ही नहीं, उससे किसी को भी कोई विरासत कैसे प्राप्त हो सकती थी? अतः सिद्ध है

कि यापनीयों को अपनी श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से उत्तराधिकार में कसायपाहुड प्राप्त होने की कथा सर्वथा मनःकल्पित है।

१०

सित्तरीचूर्णि-निर्दिष्ट कसायपाहुड गुणधरकृत

यापनीयपक्ष

“श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थ सित्तरीचूर्णि में कसायपाहुड का स्पष्टरूप से निर्देश मिलता है, जैसे—

क—“तं वेयंतो बितिय किट्टीओ तइय किट्टीओ य दलियं घेतूणं सुहुमसांपराइय किट्टीओ करेइ तिसिं लक्खणं जहा कसायपाहुडे।”

ख—“एत्थ अपुव्वकरण अणियट्टि अद्धासुअणगाइ वत्तव्वगाइं जहा, कसायपाहुडे, कम्मपगडि संगहणीए व तहा वत्तव्वं।” (‘सित्तरी’ पत्र ६२/२)।

“उक्त उद्धरणों से यह तो निश्चित ही सिद्ध हो जाता है कि सित्तरीचूर्णिकार कसायपाहुड से परिचित हैं और वे उसे अपनी ही परम्परा के ग्रन्थ के रूप में उद्धृत करते हैं।” (जै. ध. या. स/पृ. ८५-८६)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य ग्रन्थलेखक का यह कथन सर्वथा सत्य है कि सित्तरीचूर्णिकार ने कसाय-पाहुड का स्पष्टरूप से निर्देश किया है, इससे सिद्ध होता है कि वे कसायपाहुड से परिचित हैं। किन्तु उन्होंने उसे अपनी ही परम्परा के ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है, यह निष्कर्ष मान्य ग्रन्थलेखक ने किस आधार पर निकाला, यह समझ में नहीं आया। यदि किसी जैन ग्रन्थ में किसी बौद्ध या वैदिक ग्रन्थ के नाम का उल्लेख किया गया हो या उससे कोई उद्धरण दिया गया हो, तो क्या वह बौद्ध या वैदिक ग्रन्थ जैनपरम्परा का ग्रन्थ मान लिया जायेगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार श्वेताम्बरग्रन्थ सित्तरीचूर्णि में दिगम्बरग्रन्थ कसायपाहुड का उल्लेख होने से वह श्वेताम्बर-परम्परा का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि श्वेताम्बरपरम्परा में किसी श्वेताम्बराचार्य द्वारा अर्धमागधी में रचित कसायपाहुड का कभी अस्तित्व ही नहीं रहा, तब सित्तरीचूर्णि में निर्दिष्ट कसायपाहुड श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ कैसे हो सकता है? स्वयं सित्तरीचूर्णिकार ने यह नहीं कहा कि वे अपनी ही परम्परा के कसायपाहुड का उल्लेख कर रहे हैं। अतः यह निष्कर्ष प्रामाणिक नहीं है।

यदि यह नियम माना जाय कि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में जिस अन्य ग्रन्थ को उद्धृत करता है, वह उसी की परम्परा का होता है, तो इस नियम से भी कसायपाहुड दिगम्बरपरम्परा का ही सिद्ध होता है, क्योंकि दिगम्बराचार्य यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्र में,^६ वीरसेन स्वामी ने जयधवला में तथा इन्द्रनन्दी और विबुधश्रीधर ने अपने श्रुतावतारों में कसायपाहुड को उद्धृत किया है।

किन्तु यह नियम उपपन्न नहीं होता, क्योंकि यहीं पर हम देखते हैं कि सित्तरीचूर्ण में उद्धृत होने से कसायपाहुड श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है और यतिवृषभ आदि द्वारा अपने-अपने ग्रन्थ में उद्धृत किये जाने से दिगम्बरपरम्परा का। यतः यह नियम उपपन्न नहीं होता, अतः सित्तरीचूर्णिकार ने कसायपाहुड का उल्लेख अपनी ही परम्परा के ग्रन्थ के रूप में किया है, यह मान्यता अप्रामाणिक है। इसलिए कसायपाहुड को श्वेताम्बर या यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु असत्य है। चूँकि श्वेताम्बर-परम्परा में कसायपाहुड का अस्तित्व ही नहीं था, अतः सिद्ध है कि सित्तरीचूर्ण में दिगम्बरपरम्परा के ही कसायपाहुड को अपने कथन की पुष्टि के लिए उद्धृत किया गया है, क्योंकि दोनों परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त के विषय में बहुत साम्य है।

एक दूसरी संभावना भी है। कर्मसाहित्य के अध्येता पण्डित हीरालाल जी शास्त्री ने कसायपाहुडचूर्णिसूत्र, कम्मपयडी तथा सतक एवं सित्तरी की चूर्णियों का सूक्ष्म अध्ययन कर उनके अत्यन्त साम्य के कारण यह पाया है कि इन सभी चूर्णियों के कर्ता आचार्य यतिवृषभ हैं।^७ अतः यतिवृषभ के द्वारा सित्तरीचूर्ण में कसायपाहुड को प्रमाणरूप में या तुलना के लिए उद्धृत किया जाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने इसका खण्डन करते हुए पं० हीरालालजी शास्त्री के निष्कर्ष को सम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम बतलाया है,^८ किन्तु शास्त्री जी ने षट्खण्डागम की प्रस्तावना में जब भ्रान्तिवश यह लिखा कि 'जीवसमास' (श्वेताम्बरग्रन्थ) षट्खण्डागम की जीवद्वान-प्ररूपणाओं का आधार रहा है,^९ तब उक्त ग्रन्थ के लेखक ने इन्हीं शास्त्री

६. "तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि।" कसायपाहुडसुत्त / पेज्जदोस-विहत्ती / सूत्र २१। (क.पा./भाग १ / गा. १३-१४ / पृ. १८१)।

७. कसायपाहुडसुत्त / प्रस्तावना / पृ.३८-५६।

८. जै.ध.या.स. / पृ.१०९-११०।

९. षट्खण्डागम/सम्पादिका : ब्र.पं. सुमतिबाई शहा / श्री श्रुतभाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, १९६५। इसकी भूमिका में शास्त्री जी ने उक्त विचार व्यक्त किया है। डॉ. सागरमल जी ने 'जीवसमास' (अनु.-साध्वी विद्युत्प्रभात्री) की भूमिका (पृ. XXXI-XII) में शास्त्री जी द्वारा लिखित सम्पूर्ण भूमिका उद्धृत की है।

जी को निष्पक्षता का प्रमाणपत्र देकर षट्खण्डागम के विशिष्ट विद्वान्, बहुश्रुतविद्वान् आदि विशेषणों के द्वारा उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।^{१०} एक ही व्यक्ति साम्प्रदायिक और निष्पक्ष, दोनों नहीं हो सकता। अतः उक्त ग्रन्थलेखक ने पं० हीरालाल जी शास्त्री को यदि जीवसमास और षट्खण्डागम के प्रकरण में निष्पक्ष माना है, तो कसायपाहुडचूर्ण, कम्मपयडिचूर्ण आदि के प्रकरण में भी निष्पक्ष मानना होगा। यद्यपि शास्त्री जी का जीवसमास और षट्खण्डागम-सम्बन्धी मत भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथमशती (पूर्वार्ध) में हुई थी, जब कि 'जीवसमास' को स्वयं डॉक्टर सागरमल जी ने छठी शती ई० में रचित बतलाया है (देखिये, अध्याय १०/प्र.५/शी.५), अतः 'जीवसमास' का षट्खण्डागम की जीवद्वान-प्ररूपणाओं का आधार होना असंभव है, तथापि शास्त्री जी का कसायपाहुडचूर्ण, कम्मपयडिचूर्ण आदि से सम्बन्धित मत प्रामाणिक है।

माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी कसायपाहुडचूर्ण और कम्मपयडिचूर्ण के अत्यन्त साम्य को दर्शाते हुए माना है कि कर्मप्रकृति के चूर्णिकार ने कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों को देखा था। उनका कसायपाहुड (भाग १) की प्रस्तावना (पृ.२२-२४) में उल्लिखित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

“कसायपाहुड के साथ जिस श्वेताम्बरीय ग्रन्थ कर्मप्रकृति की तुलना कर आये हैं, उसी कर्मप्रकृति पर एक चूर्ण भी है। किन्तु उसके रचयिता का पता नहीं लग सका है। जैसे कसायपाहुड के संक्रम-अनुयोगद्वार की कुछ गाथाएँ कर्मप्रकृति के संक्रमकरण से मिलती हुई हैं, उसी प्रकार उन्हीं गाथाओं पर की चूर्ण में भी परस्पर में समानता है। हम लिख आये हैं कि कसायपाहुड के संक्रम-अनुयोगद्वार की १३ गाथाएँ कर्मप्रकृति के संक्रमकरण में हैं। इन गाथाओं में से पहली ही गाथा पर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्र रचे हैं। कर्मप्रकृति में भी उस गाथा तथा उसके आगे की एक गाथा पर ही चूर्ण पाई जाती है, शेष ग्यारह गाथाओं पर चूर्ण ही नहीं है। उससे आगे फिर उन्हीं गाथाओं से चूर्ण प्रारम्भ होती है, जो कसायपाहुड में नहीं है। यह सादृश्य काकतालीयन्याय से अचानक ही हो गया है या इसमें भी कुछ ऐतिहासिक तथ्य है, यह अभी विचाराधीन है। अस्तु, यह समानता तो चूर्ण की रचना करने और न करने की है। दोनों चूर्णियों में कहीं-कहीं अक्षरशः समानता भी पाई जाती है। जैसे-कसायपाहुड के चारित्रमोहोप-शामना नामक अधिकार में चूर्णिसूत्रकार ने उपशामना का वर्णन इस प्रकार किया है—

१०. देखिए, 'जीवसमास' (अनु.-साध्वी विद्युत्प्रभात्री) / भूमिका / पृ. XI - XII ।

“उवसामणा दुविहा—करणोवसामणा च अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से इमे दुवे णामधेयाणि—अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा—देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि—देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु। जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि।” (क.पा./भाग १४/पृ.२-९)।

“इसकी तुलना कर्मप्रकृति के उपशामनाकरण की पहली और दूसरी गाथा की इस चूर्णि से करना चाहिये—

१. “करणोवसामणा अकरणोवसामणा दुविहा उपसामणत्थ। वित्थिया अकरणोवसामणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोवसामणा अणुदिन्नोवसामणा य।--- सा अकरणोवसामणा ताते अणुओगो वोच्छिन्नो।”

२. “सा करणोवसामणा दुविहा—सव्वकरणोपसामणा देसकरणोवसामणा च। एवकेक्का दो दो णामा। सव्वोवसामणाते गुणोवसमणा पसत्थोपसामणा य णामा। देसोपसमणादे तासिं विवरीया दो नामा अणुणोपसमणा अपसत्थोपसमणा य।”

“यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उपशामना के ये भेद और उनके नाम कर्मप्रकृति के उपशामनाकरण की पहली और दूसरी गाथा में दिये हैं, उन्हीं के आधार पर चूर्णिकार ने चूर्णि में दिये हैं। किन्तु कसायपाहुड की गाथाओं में उवसामणा कदिविधा (क.पा./भाग १३/पृ.१९१) लिखकर ही उसकी समाप्ति कर दी गई है। और चूर्णिसूत्रकार ने स्वयं ही गाथा के इस अंश का व्याख्यान करने के लिए उक्त चूर्णिसूत्र रचे हैं। दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य है कि चूर्णिसूत्रकार अकरणोपशामना का वर्णन कर्मप्रवाद नामक पूर्व में बतलाते हैं, जब कि कर्मप्रकृति की चूर्णि में लिखा है कि ‘अकरणोपशामना का अनुयोग विच्छिन्न हो गया’ और कर्मप्रकृति के रचयिता भी उससे अनभिज्ञ थे।

“कसायपाहुड के उक्त अधिकार में उपशमश्रेणि से प्रतिपात का कारण बतलाकर यह भी बतलाया है कि किस अवस्था में गिरकर जीव किस गुणस्थान में आता है। गाथा निम्नप्रकार है—

दुविहो खलु पडिवादो भवक्खयादुवसमक्खयादो दु।
सुहुमे च संपराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥ १२१ ॥

(क.पा./भा.१३)

“इस पर चूर्णिसूत्र इस प्रकार है—

“दुविहो पडिवादो—भवक्खयेण च उवसामणाक्खयेण च। भवक्खयेण पदिदस्स सव्वाणि करणाणि एगसमएण उग्घाडिदाणि। पढमसमए चैव जाणि उदीरिज्जंति कम्माणि ताणि उदयावलियं पवेसदाणि। जाणि ण उदीरिज्जंति ताणि वि ओकड्डियूण आवलियबाहिरे गोवुच्छाए सेढीए णिक्खित्ताणि। जो उवसामणाक्खयेण पडिवडदि तस्स विहासा।” (क.पा./भाग १४/पृ.४५-४७)।

“इसका मिलान कर्मप्रकृति के उपशमनाकरण की ५७वीं गाथा की इस चूर्ण से कीजिये—

“इयाणि पडिवातो सो दुविहो—भवक्खएण उवसमद्धक्खएण य। जो भवक्खएण पडिवडडि तस्स सव्वाणि करणाणि एगसमतेण उग्घाडियाणि भवंति। पढमसमते जाणि उदीरिज्जंति कम्माणि ताणि उदयावलियं पवेसयाणि। जाणि ण उदीरिज्जंति ताणि उक्कड्डिऊण उदयावलिबाहिरतो उवरि गोपुच्छागितीते सेढीते रतेति। जो उवसमद्धक्खएणं परिपडति तस्स विहासा।”

“यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रतिपात के इन भेदों की चर्चा कर्मप्रकृति की उस गाथा में तो है ही नहीं, जिसकी यह चूर्ण है, किन्तु अन्यत्र भी हमारी दृष्टि से नहीं गुजर सकी। दूसरे, तस्स विभासा करके लिखने की शैली चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ की ही है। यह हम पहले उनकी व्याख्यानशैली का परिचय कराते हुए लिख आये हैं। कर्मप्रकृति की कम से कम उपशमनाकरण की चूर्ण में तो तस्स विभासा लिख करके गाथा के व्याख्यान करने का क्रम इसके सिवाय अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो सका। कर्मप्रकृति के चूर्णिकार तो गाथा का पद देकर ही उसका व्याख्यान करते हैं। जैसे इसी गाथा के व्याख्यान में—“उवसंता य अकरण ति—उवसंतातो मोहपगडीतो करणा य ण भवंति।” उनका सर्वत्र यही क्रम है। तीसरे, एक दूसरे की रचना को देखे बिना इतना साम्य होना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मप्रकृति के चूर्णिकार ने कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों को देखा था।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता/पृ.२२-२४)।

उक्त दोनों विद्वानों के विश्लेषणों पर विचार करने से दो ही विकल्प सामने आते हैं कि या तो उपर्युक्त सभी चूर्णियों के कर्ता आचार्य यतिवृषभ हैं अथवा वे सभी कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रों के आधार पर लिखी गई हैं। इसीलिए सित्तरीचूर्ण में कसायपाहुड का उल्लेख हुआ है।

चन्द्रर्षि महत्तर (विक्रम की ९वीं-१०वीं शती) ने पञ्चसंग्रह में शतक (सतक), सप्ततिका (सत्तरी), कषायप्राभृत (कसायपाहुड), सत्कर्म और कर्मप्रकृति (कम्मपयडी)

इन पाँच ग्रन्थों का संक्षेप में संग्रह किया है।^{११} यतः श्वेताम्बरपरम्परा में अर्धमागधी या शौरसेनी प्राकृत में रचित कसायपाहुड का कभी अस्तित्व नहीं रहा, इसलिए यही सिद्ध होता है कि चन्द्रर्षि महत्तर ने साम्प्रदायिक भेदभाव न करते हुए कसायपाहुड की उत्कृष्टता और प्राचीनता को देखकर दिगम्बरग्रन्थ होते हुए भी उसकी गाथाओं का पंचसंग्रह में संग्रह किया है।

मलयगिरि (१२वीं शती ई०) ने अपनी टीका में उक्त पाँच ग्रन्थों में से कषायप्राभृत को छोड़कर शेष चार का प्रमाणरूप से उल्लेख किया है।^{१२} यह दर्शाता है कि उनके समय में साम्प्रदायिक भेदभाव तीव्र हो गया था, इसलिए उन्होंने दिगम्बरीय ग्रन्थ होने के कारण कसायपाहुड का प्रमाणरूप से उल्लेख नहीं किया, अन्यथा शौरसेनी में निबद्ध कसायपाहुड तो आज भी उपलब्ध है। डॉक्टर सागरमल जी की मान्यतानुसार शौरसेनी-कसायपाहुड अर्धमागधी-कसायपाहुड का यतिवृषभकृत रूपान्तरणमात्र है, मूलगाथाएँ तो वही थीं, अतः यदि मान्य विद्वान् के अनुसार मलयगिरि को श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त अर्धमागधी-कसायपाहुड उपलब्ध नहीं था, तो वे दिगम्बरपरम्परा की प्रति का उपयोग कर सकते थे, जैसा चन्द्रर्षि महत्तर ने किया। किन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बरपरम्परा में कसायपाहुड का अस्तित्व ही नहीं था। दिगम्बरपरम्परा में था, किन्तु साम्प्रदायिक भेदभाव के कारण उसे प्रमाणरूप से उद्धृत करने के लिए मलयगिरि तैयार नहीं हुए।

इस तरह सित्तरीचूर्णि में कसायपाहुड का उल्लेख तथा पञ्चसंग्रह में उसकी गाथाएँ संगृहीत होने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि श्वेताम्बरपरम्परा में कसायपाहुड का अस्तित्व था। उक्त ग्रंथों में दिगम्बरपरम्परा के ही कसायपाहुड का उल्लेख है तथा उसी की गाथाएँ उद्धृत हैं।

११

कसायपाहुड पर श्वेताम्बरीय टीका नहीं

कसायपाहुड पर चूर्णिसहित सभी टीकाएँ दिगम्बराचार्यों द्वारा ही लिखी गई हैं, श्वेताम्बराचार्यों ने कोई भी टीका नहीं लिखी। (देखिए, जयधवलासहित कसायपाहुड/

११. क— जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/पृ.८६ तथा कसायपाहुडसुत्त/प्रस्तावना—पं. हीरालाल जी शास्त्री/पृ.६०।

ख— चन्द्रर्षि महत्तर का समय विक्रम की ९वीं-१०वीं शताब्दी (डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास/पृ.२९१)।

१२. क— जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/पृ.८६।

ख— मलयगिरि का समय ईसवी सन् की १२वीं शती (डॉ. जगदीश चन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास/पृ. १०५)।

भाग १/ प्रस्तावना / पृ.९-१४)। यह भी कसायपाहुड के दिगम्बरग्रन्थ होने का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

इन समस्त युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है कि श्वेताम्बरपरम्परा में कसायपाहुड कभी उपलब्ध नहीं रहा। अतः यापनीयपक्षपोषक उक्त विद्वान् ने जो यह कहा है कि श्वेताम्बर-परम्परा को श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा से उत्तराधिकार में कसायपाहुड प्राप्त हुआ था, वह अप्रामाणिक है। इससे यापनीयों को भी उस परम्परा से कसायपाहुड के उत्तराधिकार में प्राप्त होने का कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यह इस बात का सबूत है कि उस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में कसायपाहुड का अस्तित्व ही नहीं था। और यह तो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि वह परम्परा ही कपोलकल्पित है। अतः जो परम्परा थी ही नहीं, उससे किसी भी वस्तु के उत्तराधिकार में प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

१२.

स्त्रीमुक्ति-समर्थन का मत असत्य

यापनीयपक्ष

यापनीयपक्ष-समर्थक उक्त विद्वान् का कथन है कि कसायपाहुड के अनुसार स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदय रहते हुए भी जीव नौवें गुणस्थान तक पहुँच सकता है और उसके बाद अपगतवेद (वेदरहित) होकर क्रमशः चौदहवाँ गुणस्थान भी प्राप्त कर सकता है। इस तरह कसायपाहुड में स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है। अतः वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है, अपितु श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का है। (जै. ध. या. स./पृ.८७-८८)।

दिगम्बरपक्ष

उन यापनीयपक्षधर विद्वान् के ही उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि अपगतवेदत्व गुणस्थानसिद्धान्त का अंग है। और यह भी उन्होंने ही स्वीकार किया है कि गुणस्थानसिद्धान्त श्वेताम्बरपरम्परा का सिद्धान्त नहीं है। यापनीय भी श्वेताम्बर-आगमों के अनुसर्ता थे तथा गुणस्थानसिद्धान्त श्वेताम्बर-मान्यताओं की तरह यापनीय-मान्यताओं का भी विरोधी है, अतः वह यापनीयमत का भी सिद्धान्त नहीं है। वह केवल दिगम्बरमत का सिद्धान्त है और उसके अनुसार भावमानुषी और भावनपुंसक मनुष्य ही नौवें गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं और उसके अवेदभाग में अपगतवेद होते हैं, द्रव्यमानुषी और द्रव्य-नपुंसकपुरुष नहीं। अतः अपगतवेदी को चौदह गुणस्थानों की प्राप्ति के उल्लेख से स्त्रीमुक्ति सिद्ध नहीं होती।

तथा यह सिद्ध हो चुका है कि श्वेताम्बरपरम्परा में अर्धमागधी में रचित कसायपाहुड का कभी भी अस्तित्व नहीं रहा और शौरसेनी में रचित कसायपाहुड श्वेताम्बरपरम्परा का हो नहीं सकता। तथा यापनीयसाहित्य और यापनीय-शिलालेखों में न तो कसायपाहुड का उल्लेख है, न उसके कर्ता आचार्य गुणधर का, न कसायपाहुड को आचार्यपरम्परा से प्राप्त करनेवाले आर्यमंक्षु और नागहस्ती का, न ही इन दोनों के पादमूल में बैठकर उसका श्रवण करनेवाले आचार्य यतिवृषभ का। अतः उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करनेवाला भी कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत उसे दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण हैं। तब उसमें स्त्रीमुक्ति के विधान की कल्पना करना श्वेताम्बर-आगमों में स्त्रीमुक्ति के निषेध की कल्पना करने के समान है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में वेदत्रय एवं वेदवैषम्य का भी प्रतिपादन है, जो यापनीय-मत-विरोधी सिद्धान्त हैं। इससे भी सिद्ध है कि वह यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है। अतः उसमें स्त्रीमुक्ति के विधान की कल्पना करना मनमानी कल्पना है। इस प्रकार कसायपाहुड में स्त्रीमुक्ति का विधान सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया अपगतवेदत्व का हेतु स्त्रीमुक्ति के विधान का साधक न होने से हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है।

उपर्युक्त यापनीयपक्षी विद्वान् का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि “निश्चय ही लिङ्ग तो द्रव्यचिह्न होता है, बन्धन और मुक्ति का मूल आधार तो भाव ही होता है और वेद (कामवासना) का सम्बन्ध भाव से है।” (जै.ध.या.स./पृ.८७)। षट्खण्डागम के अध्याय में सोदाहरण स्पष्ट किया गया है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के आगमों में लिंग और वेद पर्यायवाचियों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, यथा द्रव्यलिंग और भावलिंग, द्रव्यवेद और भाववेद।

मान्य विद्वान् ने टिप्पणी की है कि “यह कहना कितना अयुक्तिसंगत और अध्यात्मवाद के विपरीत होगा कि जीव स्त्रीलिंग (स्त्रीशरीर) से युक्त होने पर तो पाँचवे गुणस्थान से आगे आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता, किन्तु स्त्रीवेद (स्त्री सम्बन्धी कामवासना) के होते हुए वह दसवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यदि ‘कसायपाहुड’ के कर्ता यह स्वीकार करते हैं कि स्त्रीवेद की उपस्थिति में दसवें गुणस्थान तक^{१३} आध्यात्मिक विकास संभव है, तो वे स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं कर सकते।” (जै.ध.या.स./पृ.८८)।

१३. कसायपाहुड तथा अन्य दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार नौवें गुणस्थान के सवेदभाग पर्यन्त ही वेद का अस्तित्व रहता है।

मान्य विद्वान् की यह टिप्पणी समीचीन नहीं है। आध्यात्मिक विकास का साधन योग्य शरीर ही है, अयोग्य शरीर नहीं। जैसे देवशरीर, तिर्यचशरीर और नारकशरीर से आध्यात्मिक विकास की साधना संभव नहीं है, वैसे ही वज्रवृषभनाराचसंहनन-रहित, वस्त्रपरिग्रहत्याग की योग्यता से रहित एवं सम्मूर्च्छनजीवों की प्रचुर उत्पत्ति एवं मरण के स्थानभूत मानवशरीर से भी आध्यात्मिक विकास की साधना असंभव है। ऐसा शरीर मानव-स्त्री का होता है, अतः वह उच्च आध्यात्मिक विकास की साधना के योग्य नहीं है। इसलिए उसे धारण करनेवाला जीव पाँचवे गुणस्थान से ऊपर नहीं उठ सकता। किन्तु मानवपुरुषशरीर उच्चतम आध्यात्मिक विकास की साधना के योग्य होता है, अतः उसे धारण करनेवाला जीव स्त्रीवेद का उदय रहते हुए भी नौवें गुणस्थान तक पहुँच सकता है। स्त्रीवेद तो कषाय है। जैसे अन्य कषायों का उदय मानवपुरुषशरीरधारी जीव के नौवें गुणस्थान तक पहुँचने में बाधक नहीं होता, वैसे ही स्त्रीवेद का उदय भी बाधक नहीं होता। यह न तो तनिक भी अयुक्तिसंगत है, न अध्यात्मवाद के विपरीत। कसायपाहुड के कर्ता को यही स्वीकार्य है कि पुरुषशरीरधारी मनुष्य ही स्त्रीवेद के उदय में नौवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास कर सकता है, इसलिए उन्हें स्त्रीमुक्ति कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती।

उक्त विद्वद्भर का यह कथन भी तथ्य के विपरीत है कि सातवीं शती के पूर्व स्त्रीमुक्ति के विवाद का दोनों परम्पराओं में कोई संकेत नहीं है। (जै.ध.या.स./पृ.८८)। द्वितीय अध्याय में सोदाहरण स्पष्ट किया गया है कि प्रथम शती ई० के बोटिक शिवभूति ने, जो श्वेताम्बरत्व छोड़कर दिगम्बर हो गया था, सवस्त्रमुक्ति का सर्वथा विरोध किया था, जिसमें स्त्रीमुक्ति का विरोध भी गर्भित था। उसने अपने सम्प्रदाय में केवल दो पुरुषों को दीक्षित किया था, स्त्रियों में अपनी बहन उत्तरा तक को दीक्षा नहीं दी। यह बात तो पूर्व श्वेताम्बरचार्यों ने भी स्वीकार की है कि शिवभूति स्त्रीमुक्ति-विरोधी था। तथा ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने, प्रथम शती ई० के 'भगवती आराधना' और 'मूलाचार' के कर्त्ताओं ने एवं पाँचवीं शती ई० के आचार्य पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है।

इस तरह कसायपाहुड में स्त्रीमुक्ति का समर्थन नहीं है, अतः वह दिगम्बरग्रन्थ ही है, स्त्रीमुक्ति-समर्थक श्वेताम्बर, यापनीय अथवा श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है।

आचार्य-मतभेद परम्पराभेद का प्रमाण नहीं

यापनीयपक्ष

उक्त विद्वान लिखते हैं—“कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आर्यगुणन्धर, आर्यमंक्षु और आर्यनागहस्ती ने कसायपाहुड का जिस रूप में प्रतिपादन किया था, उससे अनेक स्थानों पर चूर्णिकार यतिवृषभ और जयधवला-टीकाकार मतभेद रखते थे। उदाहरणार्थ, ग्रन्थ के अर्थाधिकारों का मूलग्रन्थकार का वर्गीकरण चूर्णिसूत्र के कर्ता यतिवृषभ एवं जयधवलाकार के वर्गीकरण से भिन्न है। इससे यह फलित होता है कि मूलग्रन्थकार, चूर्णिकार और टीकाकार की परम्पराएँ एक नहीं है। जहाँ मूल ग्रन्थकार श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्वज उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थधारा के प्रतिनिधि हैं, वहाँ चूर्णिकार यापनीय और टीकाकार दिगम्बर हैं। चूर्णिकार को यापनीय मानने का कारण यह है कि यापनीय ही अविभक्त उत्तरभारतीय आगमिक साहित्य के उत्तराधिकारी रहे हैं।” (जै.ध.या.स./पृ.८८)।

दिगम्बरपक्ष

इस विषय में मैं और कुछ न कहकर उन्हीं मान्य विद्वान् के एक अन्य वक्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

“डॉ० कुसुम पटोरिया ने श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर-परम्परा की प्रचलित मान्यताओं से मतभेद रखनेवाले सभी ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। --- किन्तु मेरी दृष्टि में मात्र यही आधार उचित नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बर और अचेलक, दोनों ही परम्पराओं के अवान्तर संघों, गणों या गच्छों में भी, न केवल आचार के सामान्य प्रश्नों को लेकर, अपितु ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, कर्मसिद्धान्त और सृष्टिमीमांसा की सूक्ष्म विवेचनाओं के सम्बन्ध में अनेक अवान्तर मतभेद देखे जाते हैं। मात्र यही नहीं, एक ही ग्रन्थ में दो भिन्न-भिन्न मान्यताओं के निर्देश भी प्राप्त होते हैं। अतः मात्र इसी आधार पर कि उस ग्रन्थ की मान्यताएँ प्रचलित श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा से भिन्न हैं, उसे यापनीय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में भी अनेक अवान्तर मतभेद रहे हैं। उदाहरण के रूप में सिद्धसेन और जिनभद्र केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमभाव या यौगपद्य को लेकर मतभेद रखते हैं। षट्खण्डागम की धवलाटीका में भी दिगम्बरपरम्परा के ही अनेक अवान्तर मतभेदों की विस्तृत चर्चा है। कसायपाहुडसुत और उसकी चूर्ण में भी ऐसे मतभेद देखे जाते हैं। अतः प्रचलित मान्यताओं से मतभेदमात्र किसी ग्रन्थ के यापनीय होने का आधार नहीं है।” (जै.ध.या.स./पृ.८१)।

मान्य विद्वान् के अपने ही इस वक्तव्य से उनका प्रथम वक्तव्य खण्डित हो जाता है और सिद्ध हो जाता है कि कसायपाहुड के कर्ता और उसके चूर्णिसूत्रकार तथा जयधवलाकार के बीच विषयविशेष पर मतभेद रहते हुए भी सम्प्रदायभेद नहीं था। अतः मान्य विद्वान् ने इस मतभेद से जो यह निष्कर्ष निकाला है कि मूलग्रन्थकार उत्तरभारत की उस अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा के प्रतिनिधि हैं, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज थी, तथा चूर्णिकार यापनीय और टीकाकार दिगम्बर हैं, वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

यापनीयपक्षी मान्य विद्वान् ने अपने प्रथम वक्तव्य में आचार्य गुणधर के स्थान में अपने ही मन से आर्य गुणधर शब्द का प्रयोग कर इतिहास को प्रदूषित करने का प्रयास किया है, जबकि उन्होंने स्वयं एक श्वेताम्बरपट्टावली में किसी गुणधर नाम के आचार्य के उल्लेख की चर्चा करते हुए पट्टावली को अविश्वसनीय और पर्याप्त परवर्ती कहकर उनके कसायपाहुड के कर्ता होने की संभावना को निरस्त कर दिया था। पता नहीं मान्य विद्वान् ने यहाँ क्यों उन्हें पुनः गुणधर के स्थान में स्थापित कर दिया?

एक बात और है, धवला और जयधवला में षट्खण्डागम के उपदेश से कषायप्राभृत के उपदेश को भिन्न बतलाया गया है।^{१४} इस कारण भी यह भ्रम पैदा करने का प्रयास किया गया है कि ये दोनों भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं।

इस भ्रम के निवारणार्थ माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—“एक ही आम्नाय में होनेवाले आचार्यों में बहुधा मतभेद पाया जाता है और इस मतभेद पर से मात्र इतना ही निष्कर्ष निकाला जाता है कि उन आचार्यों की गुरुपरम्पराएँ भिन्न थीं। जिसको गुरुपरम्परा से जो उपदेश प्राप्त हुआ, उसने उसी को अपनाया। कर्मशास्त्रविषयक इन मतभेदों की चर्चा दोनों ही सम्प्रदायों में बहुतायत से पायी जाती है। अतः भिन्न उपदेश कहे जाने से भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि षट्खण्डागम से कषायप्राभृत भिन्न सम्प्रदाय का ग्रन्थ है।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.६६)

१४

‘वाचक’ पद का सम्बन्ध किसी परम्परा से नहीं

पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने एक अन्य तथ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है, वह यह कि जयधवलाकार ने आचार्य गुणधर को वाचक कहा है। और

१४. देखिए, कसायपाहुड/भा.१/प्रस्तावना/पृ.६४।

श्वेताम्बरपरम्परा में उमास्वाति वाचकवंश के बतलाये गये हैं। इस आधार पर श्वेताम्बरपक्ष की ओर से यह भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया गया कि गुणधर श्वेताम्बर थे। (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.६४-६५)।

वीरसेन स्वामी ने धवला की टीका में वाचक का अर्थ पूर्वविद् किया है।^{१५} इससे प्रतीत होता है कि गुणधर पूर्वविदों की परम्परा में से थे।^{१६} इस प्रमाण के आधार पर माननीय पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री उपर्युक्त भ्रम का निवारण करते हुए लिखते हैं—“वाचकवंश का सम्बन्ध भले ही श्वेताम्बरपरम्परा से रहा हो, किन्तु वाचकपद का सम्बन्ध किसी एक परम्परा से नहीं था। यदि ऐसा होता तो जयधवलाकार गुणधर को वाचक और अपने एक गुरु आर्यनन्दी को महावाचक पद से अलंकृत न करते। अतः मात्र वाचक कहे जाने से गुणधराचार्य को श्वेताम्बरपरम्परा का विद्वान् नहीं कहा जा सकता।” (क.पा./भा.१/प्रस्ता./पृ.६५)।

१५

मोहनीय के ५२ नाम एकान्त-अचेलमार्गी-मूलसंघ की विरासत

यापनीयपक्ष

कसायपाहुड (भाग २) के 'व्यञ्जन-अर्थाधिकार' में क्रोध, मान, माया और लोभ के ५२ पर्यायवाचियों का उल्लेख है। यथा—

कोहो य कोव रोसो य अक्खम संजलण कलह वड्डी य।
 झंझा दोस विवादो दस कोहेयट्टिया होंति ॥ ८६ ॥
 माण मद दप्प थंभो उक्कास पगास तथ समुक्कस्सो।
 अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥ ८७ ॥
 माया य सादिजोगो णियदी वि य वंचणा अणुजुगदा।
 गहणं मणुण्णमग्गण कक्क कुहक गूहणच्छण्णो ॥ ८८ ॥
 कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्ज दोसो य।
 णोहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य मिन्दी य ॥ ८९ ॥
 सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्जजिम्भा य।
 लोभस्स णामधेज्जा वीसं एगट्टिया भणिदा ॥ ९० ॥

१५. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / भा.१ / पृ.२३।

१६. वही / भा.१ / पृ.२४।

अनुवाद—“क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद, ये दस क्रोध के एकार्थक नाम हैं।” (८६)।

“मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त, ये दश नाम मान कषाय के हैं।” (८७)।

“माया, सातियोग, निकृति, वंचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञमार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न, ये ग्यारह मायाकषाय के वाचक हैं।” (८८)।

“काम, राग, निदान, छन्द, स्वत, प्रेय, दोष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता या शास्वत, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा, ये बीस लोभ के एकार्थक नाम कहे गये हैं।” (८९-९०)।

ये ही पर्यायवाची श्वेताम्बरपरम्परा के भगवतीसूत्र के बारहवें शतक और समवायांग में भी हैं—

“मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स बावन्नं नामधेज्जा पणत्ता, तं जहा—कोहे कोवे रोसे दोसे अखमा संजलणे कलहे चंडिके भंडणे विवाए।

“माणे मदे दप्पे थंभे अत्तुक्कोसे गव्वे परपरिवाए उक्कोसे अवक्कोसे उन्नाए उन्नामे।

“माया उवही नियडी बलए गहणे णूमे कक्के कुरुए दंभे कूडे जिम्हे किब्बिसए अणायरणाया, गूहणया वंचणया पलिकुंचणया सातिजोगे।

“लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही तिण्हा भिज्जा अभिज्जा कामासा भोगासा जीवियासा मरणासा नंदी रागे॥”^{१७}

कसायपाहुड और भगवतीसूत्र-समवायांग में इन पर्यायवाची नामों का साम्य बतलाकर उक्त यापनीयपक्षधर विद्वान् ने यह सिद्ध करना चाहा है कि कसायपाहुड उस परम्परा का ग्रन्थ है, जिसमें समवायांग, भगवतीसूत्र आदि की रचना हुई, अर्थात् श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ है।

दिगम्बरपक्ष

जैसा कि पूर्व में सिद्ध किया गया है, श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा कपोल-कल्पित है। अतः कसायपाहुड को कपोलकल्पित परम्परा का ग्रन्थ कहना दुहरी कपोलकल्पना है।

वस्तुतः मोहनीय के बावन पर्यायनाम एकान्त अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ की विरासत हैं, जिसके उत्तराधिकारी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय हैं। वहीं से वे दिगम्बर-ग्रन्थ कसायपाहुड और श्वेताम्बरग्रन्थ समवायांग एवं भगवतीसूत्र में आये हैं।

१६

अपना पूर्वमत स्वयं के द्वारा ही मिथ्या घोषित

यापनीयपक्षपोषक उक्त विद्वान् ने आगे चलकर स्वयं अपना यह विचार बदल दिया है कि कसायपाहुड उत्तरभारतीय श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ है। वे लिखते हैं—

“गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से यह मानना होगा कि आर्यमंक्षु और नागहस्ती कर्मप्रकृतियों के विशिष्ट ज्ञाता थे, वे कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप के प्रस्तोता नहीं थे। मात्र यही माना जा सकता है कि कसायपाहुड की रचना का आधार उनकी कर्मासिद्धान्त-सम्बन्धी अवधारणाएँ हैं, क्योंकि आर्यमंक्षु और नागहस्ती का काल ई० सन् की दूसरी शताब्दी है। यदि हम कसायपाहुड में प्रस्तुत गुणस्थान की अवधारणा पर विचार करें, तो ऐसा लगता है कि कसायपाहुड की रचना गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा के निर्धारित होने के बाद हुई है। अर्धमागधी आगमसाहित्य में, यहाँ तक कि प्रज्ञापना जैसे विकसित आगम और तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान का सिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप नहीं ले पाया था, जब कि कसायपाहुड गुणस्थानसिद्धान्त के सुव्यवस्थित रूप लेने के बाद ही रचा गया है। अतः यदि तत्त्वार्थ का रचनाकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शती है तो उसका काल ईसा की तीसरी-चौथी शती मानना होगा।” (जै. ध. या. स. / पृ. ११२)।

इस प्रकार यापनीयपक्षी विद्वान् ने अपने इस दूसरे मत से पहले मत को कि कसायपाहुड उत्तरभारत की अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा (श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा) का ग्रन्थ है, स्वयं ही मिथ्या सिद्ध कर दिया है। और यह वे पहले ही घोषित कर चुके थे कि वह यापनीयपरम्परा में निर्मित नहीं हुआ है^{१८} तथा उपलब्ध कसायपाहुड शौरसेनी प्राकृत में है, इसलिए उसका श्वेताम्बरग्रन्थ होना भी वे अस्वीकार कर चुके हैं।^{१९} इसके अतिरिक्त अर्धमागधी में रचित कसायपाहुड के किसी काल में विद्यमान होने का कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के यापनीयपक्षधर लेखक ही उसे दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध कर देते हैं।

१८. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. ८७।

१९. वही / पृ. ८५।



चतुर्थ प्रकरण

कसायपाहुड श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं

श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरीय ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसका सप्रमाण खण्डन सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने एक लेख में किया है, जो भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा (उ.प्र.) द्वारा प्रकाशित (जयधवलासहित) 'कसायपाहुड' (द्वितीय संस्करण) के १२वें भाग में पृष्ठ २७ से ४३ तक 'विषयपरिचय' शीर्षक के अन्तर्गत निबद्ध है। उसे मैं शीर्षकसहित ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहा हूँ—

कषायप्राभृत दिगम्बर आचार्यों की ही कृति है

लेखक : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री

श्वेताम्बर-मुनि श्री गुणरत्नविजय जी ने कर्मसाहित्य तथा अन्य कतिपय विषयों के अनेक ग्रंथों की रचना की है। उनमें से एक खवगसेढी ग्रन्थ है। इसकी रचना में अन्य ग्रंथों के समान कषायप्राभृत और उसकी चूर्ण का भरपूर उपयोग हुआ है। वस्तुतः श्वेताम्बरपरम्परा में ऐसा कोई एक अन्य ग्रन्थ नहीं है, जिसमें क्षपकश्रेणी का सांपोपांग विवेचन उपलब्ध होता हो। श्री मुनि गुणरत्नविजय जी ने अपने सम्पादकीय में इस तथ्य को स्वयं इन शब्दों में स्वीकार किया है—

“समाप्त थयावाद क्षपकश्रेणी ने विषय संस्कृतमा गद्यरूपे लखवो शरूकर्यो। ४थी ५ हजार श्लोक प्रमाण लखाण थयावाद मने विचार आव्यो के जुदा ग्रंथोंमां छूटी छपाई वर्णवायेली क्षपकश्रेणी व्यवस्थित कोई एक ग्रंथमां जोवामा आवती नथी। जैनशासनमां महत्त्वनी गणती 'क्षपकश्रेणी' ना जुदा ग्रन्थोंमां संगृहीत विषयनो प्राकृतभाषामां स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार थाय, तो ते मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओं ने घणो लाभदायी बने।”

उनके इस वक्तव्य से स्पष्ट ज्ञान होता है कि इस ग्रंथ के प्रणयन में जहाँ उन्हें कषायप्राभृत और उसकी चूर्ण का भरपूर सहारा लेना पड़ा, वहाँ उनके सहयोगी तथा प्रस्तावना-लेखक श्वे० मुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी कषायप्राभृत और उसकी चूर्ण को अपने मनगढ़न्त तर्कों द्वारा श्वेताम्बर-परम्परा का सिद्ध करने का लोभ संवरण न कर सके। आगे हम उनके उन कल्पित तर्कों पर संक्षेप में क्रम से विचार करेंगे, जिनके आधार से उन्होंने इन दोनों को श्वेताम्बरपरम्परा का सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है।

उनमें भी सर्वप्रथम हम मूल कषायप्राभृत के ग्रंथ-परिमाण पर विचार करेंगे, क्योंकि श्वेताम्बर मुनि हेमचन्द्रविजय जी ने अपनी प्रस्तावना ८ पृष्ठ २९ में कषायप्राभृत के पन्द्रह अधिकारों में विभक्त १८० गाथाओं के अतिरिक्त शेष ५३ गाथाओं के प्रक्षिप्त होने की सम्भावना व्यक्त की है। किन्तु उसके चूर्णिसूत्रों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि आचार्य श्री यतिवृषभ के समक्ष पन्द्रह अर्थाधिकारों में विभक्त १८० सूत्रगाथाओं के समान कषायप्राभृत के अंगरूप से उक्त ५३ सूत्र गाथायें भी रही हैं। इन पर कहीं उन्होंने चूर्णिसूत्रों की रचना की है और कहीं उन्हें प्रकरण के अनुसार सूत्ररूप में स्वीकार किया है।

जिनके विषय में श्वेताम्बर मुनि हेमचन्द्र जी ने प्रक्षिप्त होने की सम्भावना व्यक्त की है, उनमें से 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' (क.पा./भाग १/गा.१/पृ.९) यह प्रथम सूत्र गाथा है, जो ग्रन्थ के नामनिर्देश के साथ उसकी प्रामाणिकता को सूचित करती है। इस पर चूर्णिसूत्र है—

“गाणप्यवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स” इत्यादि। (क.पा./भाग १/पृ.११)।

अब यदि इसे कषायप्राभृत की मूलगाथा नहीं स्वीकार किया जाता है तो—

१. एक तो ग्रंथ का नामनिर्देश आदि किये बिना ग्रन्थ के १५ अर्थाधिकारों से कुछ का निर्देश करनेवाली नं. १३ की 'पेज्ज-दोसविहत्ती' इत्यादि सूत्रगाथा (क.पा./भाग १/पृ.१६३) से हमें ग्रन्थ का प्रारंभ मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो संगत प्रतीत नहीं होता।

२. दूसरे उक्त प्रथम गाथा के अभाव में नं. १३ की उक्त सूत्रगाथा के पूर्व चूर्णिसूत्रों द्वारा पाँच प्रकार के उपक्रम के साथ 'अत्थाहियारो पण्णारसविहो' (क.पा./भाग १/पृ.१३६) इस प्रकार का निर्देश भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त प्रकार से चूर्णिसूत्रों की रचना तभी संगत प्रतीत होती है, जब उनके रचे जानेवाले ग्रन्थ का मूल या चूर्ण में नामोल्लेख किया गया हो।

इस प्रकार सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' इत्यादि गाथा प्रक्षिप्त न होकर १८० गाथाओं के समान ग्रन्थ की मूल गाथा ही है।

दूसरी सूत्रगाथा है 'गाहासदे असीदे' इत्यादि। (क.पा./भा.१/गा.२/पृ.१३९)। इसके पूर्व पाँच प्रकार के उपक्रम के भेदों का निर्देश करते हुए अन्तिम चूर्णिसूत्र है—

“अत्थाहियारो पण्णारसविहो” (क.पा./भा.१/पृ.१६९)।

यह वही गाथा है जिसके आधार से यह कहा जाता है कि कषायप्राभृत की कुल १८० सूत्रगाथाएँ हैं। अब यदि इसे प्रक्षिप्त माना जाता है, तो ऐसे कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका सम्यक् समाधान इसे मूल गाथा मानने पर ही होता है। यथा—

१. प्रथम तो गुणधर आचार्य को कषायप्राभृत के १५ ही अर्थाधिकार इष्ट रहे हैं, इसे जानने का एक मात्र उक्त सूत्रगाथा ही साधन है, अन्य नहीं। क्रमांक १३ और १४ सूत्रगाथाएँ मात्र अर्थाधिकारों का नामनिर्देश करती हैं। वे १५ ही हैं, इसका ज्ञान मात्र इसी सूत्रगाथा से होता है और तभी क्रमांक १३ और १४ सूत्रगाथाओं के बाद “अत्थाहियारो पण्णारसविहो अण्णेण पयारेण बुच्चदि” (क.पा./भाग १/पृ.१६९) इस प्रकार चूर्णिसूत्र की रचना उचित प्रतीत होती है।

२. दूसरे उक्त गाथा से ही हम यह जान पाते हैं कि कषायप्राभृत की सब गाथाएँ उसके १५ अर्थाधिकारों के विवेचन में विभक्त नहीं है। किन्तु उनमें से कुल १८० गाथाएँ ही ऐसी हैं, जो उनके विवेचन में विभक्त हैं। उक्त गाथा प्रकृत का विधान तो करती है, अन्य का निषेध नहीं करती। यहाँ प्रकृत १५ अर्थाधिकार हैं। उनमें १८० सूत्रगाथाएँ विभक्त हैं। इतना मात्र निर्देश करने के लिए आचार्य गुणधर ने इस सूत्रगाथा की रचना की है, १५ अर्थाधिकारों से सम्बद्ध गाथाओं का निषेध करने के लिए नहीं।

इस प्रकार इस दूसरी सूत्रगाथा के भी ग्रन्थ का मूल अंग सिद्ध हो जाने पर इससे आगे की क्रमांक ३ से लेकर १२ तक की १० सूत्रगाथाएँ भी कषायप्राभृत का मूल अंग सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि उनमें १५ अर्थाधिकारों-सम्बन्धी १८० गाथाओं में से किस अर्थाधिकार में कितनी सूत्रगाथाएँ आई हैं, एक मात्र इसी का विवेचन किया गया है, जो उक्त दूसरी सूत्रगाथा के उत्तरार्ध के अनुसार ही है। उसमें उन्हें सूत्रगाथा कहा भी गया है। यथा—

“बोच्छामि सुत्तगाहा जइ गाहा जम्मि अत्थम्मि।”

(क.पा./भाग २/गा.२)।

इसी प्रकार संक्रम-अर्थाधिकार (क.पा./भाग ८) में जो ‘अट्ठावीस’ इत्यादि ३५ सूत्रगाथाएँ आई हैं, वे भी मूल कषायप्राभृत ही हैं और इसीलिए आचार्य यतिवृषभ ने उनके प्रारंभ में—

“एत्तो पयडिड्ढाणसंकमो तत्थ पुव्वं गमणिज्जा सुत्तसमुक्कित्तणा।” (क.पा./भाग ८/पृ. ८१)।

इस चूर्णिसूत्र की रचनाकर और उनके अन्त में 'सुत्तसमुक्कित्तणाए समत्ताए--' (क.पा./भाग ८/पृ.८८) इस चूर्णिसूत्र की रचना कर उन्हें सूत्ररूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार सब मिलाकर उक्त ४७ सूत्रगाथाओं के मूल कषायप्राभृत सिद्ध हो जाने पर क्रमांक १० से लेकर 'आवलिय अणायारे' (क.पा./भाग १/पृ. ३०१) इत्यादि ६ सूत्र गाथाएँ भी मूल कषायप्राभृत ही सिद्ध होती हैं, क्योंकि यद्यपि आचार्य यतिवृषभ ने इनके प्रारम्भ में या अन्त में इनकी स्वीकृति-सूचक किसी चूर्णिसूत्र की रचना नहीं की है, फिर भी कषायप्राभृत पर दृष्टि डालने से और खासकर उपशमना-क्षपणा प्रकरण पर दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता कि समग्रभाव से अल्पबहुत्व की सूचक इन सूत्रगाथाओं की रचना स्वयं गुणधर आचार्य ने ही की है। इसके लिए प्रथमोपशम-सम्यक्त्व-अर्थाधिकार की क्रमांक ९८ गाथा पर दृष्टिपात कीजिये।

इतने विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ को ये मूल कषायप्राभृत-रूप से ही इष्ट रही हैं। अतः सूत्रगाथाओं के संख्याविषयक उत्तरकालीन मतभेदों को प्रामाणिक मानना और इस विषय पर टीका-टिप्पणी करना उचित प्रतीत नहीं होता। आचार्य वीरसेन ने गाथाओं के संख्याविषयक मतभेद को दूर करने के लिए जो उत्तर दिया है, उसे इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

इस प्रकार श्वे० मुनि हेमचन्द्रविजय जी ने कषायप्राभृत का परिमाण कितना है, इस पर खवगसेडि ग्रन्थ की अपनी प्रस्तावना में जो आशंका व्यक्त की है, उसका निरसन कर अब आगे हम उनके उन कल्पित तर्कों पर सांगोपांग विचार करेंगे, जिसके आधार से उन्होंने कषायप्राभृत को श्वेताम्बर-आम्नाय का सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है।

१. इस विषय में उनका प्रथम तर्क है कि दिगम्बर ज्ञानभण्डार मूडबिद्री में कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णि उपलब्ध हुई है, इसलिए वह दिगम्बर-आचार्य की कृति है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। (प्र.पृ. ३०)।

किन्तु कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णि, ये दोनों मूडबिद्री से दिगम्बर-ज्ञानभण्डार में उपलब्ध हुए हैं, मात्र इसीलिए तो किसी ने उन दोनों को दिगम्बर आचार्यों की कृति हैं, ऐसा नहीं कहा है। किन्तु उक्त दोनों के दिगम्बर-आचार्यों द्वारा प्रणीत होने के अनेक कारण हैं। उनमें से एक कारण एतद्विषयक ग्रन्थों में श्वेताम्बर-आचार्यों की शब्दयोजना-परिपाटी से भिन्न उसमें निबद्ध शब्दयोजना-परिपाटी है। यथा—

अ-श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गए सप्ततिकाचूर्णि, कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह आदि में सर्वत्र जिस अर्थ में दलिय शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ में दिगम्बर

आचार्यों द्वारा लिखे गये कषायप्राभृत आदि में पदेसग्ग शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—

“तं वेयंतो वितियकिट्टीओ ततियकिट्टीओ य दलियं घेत्तूणं सुहुमसांपराइय-
किट्टीओ करेइ।” सप्ततिकाचूर्णि/पृ. ६६ अ. (देखो उक्त प्रस्तावना/पृ. ३२)।

इच्छियठित्ठाणाओ आवलियं लंघऊण तहलियं।
सव्वेसु वि निक्खवइ ठित्ठाणेषु उवरिमेसु ॥ २ ॥
पंचसंग्रह / उद्धर्तनापवर्तनाकरण।

उवसंतद्धा अंते विहिणा ओकड्डियस्स दलियस्स।
अञ्जवसाणणुरूवस्सुदओ तिसु एक्कयरयस्स ॥ २२ ॥
कर्मप्रकृति / उपशमनाकरण / पत्र १७।

अब दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों पर दृष्टि डालिए—

विदियादो पुण पढमा संखेज्जगुणा भवे पदेसग्गे।
विदियादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसहिया ॥ १७० ॥
क.प्रा.मूल (क.पा. / भाग १५ / पृ. ७३)।

“ताधे चेव लोभस्स विदियकिट्टीदो च तदियकिट्टीदो च पदेसग्गमोक्कड्डियूण
सुहुमसांपराइयकिट्टीओ णाम करेदि।” कषायप्राभृतचूर्णि / मूल / पृ. ८६२। (क.पा. / भाग १५ /
गा. २०६ / चूर्णिसूत्र / पृ. २९५)।

“लोभस्स जहणियाए किट्टीए पदेसग्गं बहुअं दिज्जदि।” (धवला / ष.ख. /
पु. ६ / पृ. ३७८-३७९)।

आ—श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गये कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह में अविरत
के लिए अजय या अजत शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु दिगम्बर आचार्यों द्वारा
लिखे गये कषायप्राभृत और षट्खण्डागम में यह शब्द इस अर्थ में दृष्टिगोचर नहीं
होता। इनके लिए कर्मप्रकृति (श्वे०) पर दृष्टिपात कीजिए—

वेयगसम्महिट्टी चरित्तमोहुवसमाइ चिट्ठंतो।
अजउ देशजई वा विरतो व विसोहिअद्धाए ॥ २७ ॥

उपश.करण।

इसी प्रकार पञ्चसंग्रह में भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त वरिसवर, उव्वलण आदि शब्द हैं, जो श्वेताम्बरपरम्परा के कार्मिक
ग्रन्थों में ही दृष्टिगोचर होते हैं, दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में नहीं। ये कतिपय उदाहरण

हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि, ये दोनों श्वेताम्बर आचार्यों की कृति न होकर दिगम्बर आचार्यों की ही अमर कृति हैं।

२. कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि को श्वेताम्बर आचार्यों की कृति सिद्ध करने के लिए उनका दूसरा तर्क है कि दिगम्बर-आचार्यकृत ग्रन्थों पर श्वेताम्बर आचार्यों की टीकाएँ और श्वेताम्बर-आचार्यकृत ग्रन्थों पर दिगम्बर आचार्यों की टीकायें हैं आदि। उसी प्रकार कषायप्राभृत मूल तथा उसकी चूर्णि पर दिगम्बर-आचार्यों की टीका होने मात्र से उन्हें दिगम्बर आचार्यों की कृतिरूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। (प्रस्तावना/ पृ. ३०)।

यह उनका तर्क है। किन्तु श्वेताम्बर-आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थों से कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि में वर्णित पदार्थभेद को स्पष्ट रूप से जानते हुए भी वे ऐसा असत् विधान कैसे करते हैं, इसका किसी को भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा।

“मुद्रित कषायप्राभृत चूर्णिनी प्रस्तावनामां रज्जु थयेली मान्यतानी समीक्षा” इस उपशीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने पदार्थभेद के कतिपय उदाहरण स्वयं उपस्थित किये हैं। इन उदाहरणों को उपस्थित करते हुए उन्होंने कषायप्राभृत के साथ कषायप्राभृतचूर्णि, कर्मप्रकृतिचूर्णि, इन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। किन्तु श्वेताम्बर-पंचसंग्रह को दृष्टिपथ में लेने पर विदित होता है कि उक्त ग्रन्थ भी कषायप्राभृतचूर्णि का अनुसरण न कर कर्मप्रकृतिचूर्णि का ही अनुसरण करता है। यथा—

१. मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्व प्रकृति भजनीय है, इस मत का प्रतिपादन करनेवाली पञ्चसंग्रह के सत्कर्मस्वामित्व की गाथा इस प्रकार है—“सासद्यणंमि नियमा सम्मं भज्जं दससु संतं” ॥ १३५ ॥

कर्मप्रकृतिचूर्णि से भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। (चूर्णिसत्ताधिकार/प.३५) [प्रदेशसंक्रम/ प.९४]।

२. संज्वलन क्रोधादिका जघन्य प्रदेशसंक्रम अन्तिम समयप्रबद्ध का अन्यत्र संक्रम करते हुए क्षपकके अन्तिम समय में सर्वसंक्रम से होता है। यह कर्मप्रकृति-चूर्णिकार का मत है और यही मत श्वेताम्बर-पंचसंग्रह का भी है। यथा—

पुंसंजलणतिगाणं जहण्णजोगिस्स खवगसेढीए।

सगचरिमसमयबद्धं जं छुभइ सगंतिमे समए॥ ११९॥

३. प्रथमोपशम-सम्यग्दृष्टि के, सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के तीन पुंज होने पर एक आवलिकाल तक सम्यग्मिथ्यात्व का सम्यक्त्व में संक्रम नहीं होता,

यह कर्मप्रकृति-चूर्णिकार का मत है। पञ्चसंग्रह-प्रकृतिसंक्रम गाथा ११ की मलयगिरि-टीका से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यथा—

“तस्यैव चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणः आवलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे न संक्रामति।” (प्रकृति सं./पत्र १०)।

४. पुरुषवेद की पतद्ग्रहता कब नष्ट हो जाती है, इस विषय में कर्मप्रकृति-चूर्णिकार का जो मत है, उसी मत का निर्देश पंचसंग्रह की मलयगिरि-टीका में दृष्टिगोचर होता है। यथा—

“पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ द्वावालिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूपं आगालो व्यवच्छिद्यते, उदीरणा तु भवति, तस्मादेव समयदाारभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं पुरुषवेदे न संक्रमयति।” (पंच.चा.मो.ड./पत्र १९१)।

श्वे० पंचसंग्रह के ये उद्धरण हैं जो मात्र कर्मप्रकृतिचूर्णिकार का पूरी तरह अनुसरण करते हैं, किन्तु कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिकार का अनुसरण नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिकार को श्वेताम्बर-आचार्यों ने कभी भी अपनी परम्परा की रचना-रूप में स्वीकार नहीं किया।

यहाँ हमारे इस बात के निर्देश करने का एक खास कारण यह भी है कि मलयगिरि के मतानुसार जिन पाँच ग्रन्थों का पंचसंग्रह में समावेश किया गया है, उनमें एक कषायप्राभृत भी है। यदि चन्द्रर्षिमहत्तर को पंचसंग्रह^{२०} श्वेताम्बर-आचार्यों की कृतिरूप में स्वीकार होता, तो उन्होंने जैसे कर्मप्रकृति और चूर्णिकार को अपनी रचना में प्रमाणरूप से स्वीकार किया है, वैसे ही वे कषायप्राभृत और चूर्णिकार को भी प्रमाणरूप में स्वीकार करते। और ऐसी अवस्था में जिन-जिन स्थलों पर उन्हें कषायप्राभृत और कर्मप्रकृति में पदार्थभेद दृष्टिगोचर होता, उसका उल्लेख वे अवश्य करते। किन्तु उन्होंने ऐसा न कर मात्र कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिकार का अनुसरण किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि चन्द्रर्षिमहत्तर कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिकार को श्वेताम्बर-परम्परा का नहीं स्वीकार करते रहे।

यहाँ हमने मात्र उन्हीं पाठों को ध्यान में रखकर चर्चा की है, जिनका निर्देश उक्त प्रस्तावनाकार ने किया है। इनके सिवाय और भी ऐसे पाठ हैं, जो कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह में एक ही प्रकार की प्ररूपणा करते हैं। परन्तु कषायप्राभृत-चूर्णिकार में उनसे भिन्न प्रकार की प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है। उसके लिए हम एक उदाहरण

२०. 'पंचसंग्रह' के स्थान में 'कषायप्राभृत' होना चाहिए। लेखक ने असावधानी-वश 'पंचसंग्रह' लिख दिया है।

उद्वेलना-प्रकृतियों का देना इष्ट मानेंगे। यथा—

कषायप्राभृतचूर्णि में मोहनीय की मात्र दो प्रकृतियाँ उद्वेलना-प्रकृतियाँ स्वीकार की गई हैं : सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति। किन्तु पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति में मोहनीय की उद्वेलना-प्रकृतियों की संख्या २७ है, यथा-दर्शनमोहनीय की ३, लोभसंज्वलन को छोड़कर १५ कषाय और ९ नोकषाय। कषायप्राभृतचूर्णि का पाठ—

“५८. सम्मामिच्छत्तस्य जहण्णट्टिदिविहत्ती कस्स? चरिमसमयउव्वेल्लमाणस्स।”
(कसायपाहुडसुत्त/ पृ.१०१) “३६. एवं चैव सम्मत्तस्स वि।” (वही / पृ. १९०)।

पंचसंग्रह-प्रदेशसंक्रम का पाठ—

एवं उव्वलणासंकमेण नासेइ अविरओहारं।
सम्मोऽणमिच्छमीसे सच्छत्तीसऽनियट्टि जा माया ॥ ७४ ॥

इसके सिवाय पञ्चसंग्रह के प्रदेशसंक्रमप्रकरण में एक यह गाथा भी आई है, जिससे भी उक्त विषय की पुष्टि होती है—

सम्म-मीसइं मिच्छो सुरदुगवेउव्विच्छक्कमेगिंदी।
सुहुमतसुच्चमणुदुगं अंतमुहुत्तेण अणियट्टी ॥ ७५ ॥

इसमें बतलाया है कि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की मिथ्यादृष्टि जीव उद्वेलना करता है, पंचानवे प्रकृतियों की सत्तावाला एकेन्द्रिय जीव देवद्विक की उद्वेलना करता है, उसके बाद वही जीव वैक्रियषट्क की उद्वेलना करता है, सूक्ष्म त्रस अग्निकायिक और वायुकायिक जीव क्रम से उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक की उद्वेलना करता है तथा अनिवृत्तिबादर जीव एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्वोक्त ३६ प्रकृतियों की उद्वेलना करता है।

यहाँ पंचसंग्रह में निरूपित पाठ का उल्लेख किया है, कर्मप्रकृति की प्ररूपणा इससे भिन्न नहीं है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार पञ्चसंग्रह में अनन्तानुबन्धीचतुष्क की परिगणना उद्वेलना-प्रकृतियों में की गई है, उसी प्रकार कर्मप्रकृति में भी उन्हें उद्वेलना-प्रकृतियाँ स्वीकार किया है। कर्मप्रकृतिचूर्णि में प्रदेशसत्कर्म की सादि-अनादि प्ररूपणा करते हुए लिखा है—

“अणंताणुबंधीणं खवियकम्मंसिगस्स उव्वलंतस्स एगठित्तिसेसजहन्नगं पदेससंतं एगसमयं होति।”

यह एक उदाहरण है। अन्य प्रकृतियों के विषय में मूल और चूर्णि का आशय इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। किन्तु जैसा कि पूर्व में निर्देश कर आये हैं, कषायप्राभृत

और उसकी चूर्णि में सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन दो प्रकृतियों को छोड़कर मोहनीय की अन्य किसी प्रकृति की उद्वेलना-प्रकृतिरूप से परिगणना नहीं की गई है।

मतभेदसम्बन्धी दूसरा उदाहरण मिथ्यात्व के तीन भाग कौन जीव करता है, इससे सम्बन्ध रखता है। श्वेताम्बर-आचार्यों द्वारा लिखे गये कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि दर्शनमोह की उपशमना करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय में मिथ्यात्वकर्म को तीन भागों में विभक्त करता है। पंचसंग्रह-उपशमना-प्रकरण में कहा भी है—

उवरिमठिइअणुभागं तं च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए।

देसघाईणं सम्मं यरेणं मिच्छमीसाइं ॥ २३ ॥

कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि में लिखा है—

तं कालं बीयठिइं तिहाणुभागेण देसघाइ त्थ।

सम्मत्तं सम्मिस्सं मिच्छत्तं सव्वघाईओ ॥ १९ ॥

चूर्णि—“चरिमसमयमिच्छाद्दिट्ठिसे काले उवसम्मदिट्ठि होहि त्ति ताहे बितीय-
द्वितीते तिहा अणुभागं करेति।”

अब इन दोनों के प्रकाश में कषायप्राभृतचूर्णि पर दृष्टिपात कीजिए। इसमें प्रथम समयवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व को तीन भागों में विभाजित करनेवाला कहा गया है। यथा—

“१०२. चरिमसमयमिच्छाद्दिट्ठि से काले उवसंतदंसणमोहणीओ। १०३. ताधे चेव तिणिण कम्मसा उप्पादिदा। १०४. पढमसमयउवसंतदंसणमोहणीओ मिच्छत्तादो सम्मा-
मिच्छत्ते बहुगं पदेसगं देदि।” (कसायपाहुडसुत्त/पृ. ६२८)।

यहाँ कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि के विषय में संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि गाथा में जो तं कालं बीयठिइं पाठ है, उसका चूर्णिकार ने जो अनुवाद किया है, वह मूलानुगामी नहीं है। मालूम पड़ता है चूर्णि का अनुकरणमात्र है। इतना अवश्य है कि कषायप्राभृतचूर्णि की वाक्यरचना पीछे के विषयविवेचन के अनुसन्धानपूर्वक की गई है और कर्मप्रकृतिचूर्णि की उक्त वाक्यरचना, इससे पूर्व की गाथा और उसकी चूर्णि के विषय विवेचन को ध्यान में रखकर की गई है। जहाँ तक कर्मप्रकृति की उक्त मूल गाथाओं पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि उन दोनों गाथाओं द्वारा दिगम्बर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मत का ही अनुसरण किया गया है, किन्तु उक्त चूर्णि और उसकी टीका मूल का अनुसरण न करती हुई श्वेताम्बर-

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मत का ही अनुसरण करती हैं। फिर भी यहाँ विसंगति की सूचक उल्लेखनीय बात इतनी है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने उक्त टीकाओं में व अन्यत्र मिथ्यात्व के तीन हिस्से मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्तिम समय में स्वीकार करके भी उनमें मिथ्यात्व के द्रव्य का विभाग उसी समय न बतलाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में स्वीकार किया है। यहाँ विसंगति यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय में तो तीन भाग होने की व्यवस्था स्वीकार की गई है और उन तीनों भागों में कर्मपुंज का बँटवारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से स्वीकार किया गया।

इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं के प्रमाणों से स्पष्ट है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि पर दिगम्बर आचार्यों ने टीका लिखी, केवल इसलिए हम उन्हें दिगम्बर-आचार्यों की कृति नहीं कहते, किन्तु उनकी शब्दयोजना, रचनाशैली और विषयविवेचन दिगम्बरपरम्परा के अन्य कार्मिक साहित्य के अनुरूप है, श्वेताम्बरपरम्परा के कार्मिक साहित्य के अनुरूप नहीं, इसलिए उन्हें हम दिगम्बर-आचार्यों की अमर कृति स्वीकार करते हैं।

अब आगे जिन चार उपशीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि को श्वेताम्बर-आचार्यों की कृति सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है, उन पर क्रम से विचार करते हैं—

१

उन्होंने सर्वप्रथम "दिगम्बरपरम्पराने अमान्य तेवा कषायप्राभृतचूर्णि अन्तर्गत पदार्थी" इस उपशीर्षक के अन्तर्गत क० प्रा० चूर्णि के ऐसे दो उल्लेख उपस्थित किये हैं, जिन्हें वे स्वमति से दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध समझते हैं।

प्रथम उल्लेख है—"सव्वलिंगेसु भज्जाणि।"^{२१} इस सूत्र का अर्थ है कि अतीत में सर्वलिंगों में बैधा हुआ कर्म क्षपक के सत्ता में विकल्प से होता है। इस पर

२१. (१३९) लेस्सा साद असादे च अभज्जा कम्म-सिप्प-लिंगे च।

खेत्तम्हि च भज्जाणि दु समाविभागे अभज्जाणि॥ १९२॥

चूर्णिसूत्र—"सव्वलिंगेसु च भज्जाणि।"

अनुवाद—"सब लिंगों में पूर्वबद्ध कर्म इस क्षपक के भजनीय हैं।"

जयधवला—"णिगंथलिंगवदिरित्तसेसाणं सलिंगगहणेसु वट्टमाणेण पुव्वबद्धाणि कम्पाणि एदस्स खवगस्स भयणिज्जाणि ति वुत्तं होइ। किं कारणं? तावसादि-वेसगहणाणं सव्वजीवेसु संभवणियमाणुवलंभादो। तदो सिद्धमेदेसिं भयणिज्जतं।" अनुच्छेद ३८६।

उक्त प्रस्तावना-लेखक का कहना है कि “क्षपक चारित्रवेषमां होय, पण खरो अने न पण होय, चारित्रना वेष वगर अर्थात् अन्य तापसादिना वेशमां रहेल जीव पण क्षपक थईं शके छे, एटले प्रस्तुत सूत्र दिगम्बरमान्यता थी विरुद्ध छे।” आदि।

अब सवाल यह है कि उक्त प्रस्तावना-लेखक ने उक्त सूत्र पर से यह निष्कर्ष कैसे फलित कर लिया कि ‘क्षपक चारित्रवेषमां होय पण खरो अने न पण होय, चारित्रना वेष वगर अर्थात् अन्य तापसादिना वेशमां रहेल जीव पण क्षपक थईं शके छे।’ कारण कि वर्तमान में जो क्षपक है, उसके अतीत काल में कर्मबन्ध के समय कौन-सा लिंग था, उस लिंग में बाँधा गया कर्म क्षपक के वर्तमान में सत्ता में नियम से होता है या विकल्प से होता है? इसी अन्तर्गत शंका को ध्यान में रखकर यह समाधान किया गया है कि ‘विकल्प से होता है।’ इस पर से यह कहाँ फलित होता है कि वर्तमान में वह क्षपक किसी भी वेश में हो सकता है? मालूम पड़ता है कि अपने सम्प्रदाय के व्यामोह और अपने कल्पित वेश, के कारण ही उन्होंने उक्त सूत्र पर से ऐसा गलत अभिप्राय फलित करने की चेष्टा की है।

थोड़ी देर के लिये उक्त (श्वेताम्बर) मुनि जी ने जो अभिप्राय फलित किया है, यदि उसी को विचार के लिए ठीक मान लिया जाता है, तो जिस गति आदि में पूर्व में जिन भावों के द्वारा बाँधे गये कर्म वर्तमान में क्षपक के विकल्प से बतलाये हैं, वे भाव भी वर्तमान में क्षपक के विकल्प से मानने पड़ेंगे। उदाहरणार्थ, पहले सम्यग्मिथ्यात्व में बाँधे गये कर्म वर्तमान में जिस क्षपक के विकल्प से बतलाये हैं, तो क्या उस क्षपक के वर्तमान में विकल्प से सम्यग्मिथ्यात्व भी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि नहीं, तो सम्यग्मिथ्यात्व में बाँधे हुये, जो कर्म सत्तारूप से वर्तमान में क्षपक के विकल्प से होते हुए भी अतीतकाल में उन कर्मों के बन्ध के समय सम्यग्मिथ्यात्व भाव था; इतना ही आशय जैसे सम्यग्मिथ्यात्व-भावके विषय में लिया जाता है, उसी प्रकार सर्वलिंगों के विषय में भी यही आशय यहाँ लेना चाहिए।

हम यह स्वीकार करते हैं कि जैसे अतीत काल में अन्य लिंगों में बाँधे गये कर्म वर्तमान में क्षपक के विकल्प से बन जाते हैं, वैसे ही अतीत काल में जिनलिंग

अनुवाद—“निर्ग्रन्थलिंग के अतिरिक्त शेष सब लिंगों में रहनेवाले जीव के द्वारा पूर्व में बाँधे गये कर्मों की सत्ता इस क्षपक में भजनीय है (विकल्प से होती है), यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि तापस आदि वेशों का ग्रहण सब जीवों में संभव हो, ऐसा नियम नहीं है। इसलिए इन लिंगों में पूर्वबद्ध कर्मों की भजनीयता सिद्ध हो जाती है।” कसायपाहुड / भाग १५ / चारित्रमोहक्षपणानुयोगद्वार / अनुच्छेद ३८६ / पृ.१४१।”

में बाँधे गये कर्मों के वर्तमान में क्षपक के विकल्प से स्वीकार करने में कोई प्रत्यवाय नहीं दिखाई देता। कारण कि संयमभाव का उत्कृष्ट अन्तरकाल कुछ कम अर्धपुद्गल-परिवर्तन प्रमाण और जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण बतलाया है। यथा—

“संजमाणुवादेण संजद-सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसंजद-परिहारसुद्धिसंजद-संजदा-संज-दाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥ १०८ ॥ जहणेण अंतोमुहुत्तं ॥ १०९ ॥ उक्कस्सेण अद्धपोगलपरियट्ठं देसूणं” ॥ ११० ॥ (ष.खं./पु.७/पृ.२२१-२२२)।

यहाँ जयधवलाटीकाकार ने उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए णिगंग्थ लिंगवदिरित्तसेसाणं^{२१} यह लिखकर ‘सर्वलिंग’ पद से निर्ग्रन्थलिंग के अतिरिक्त जो शेष सविकार सर्वलिंगों का ग्रहण किया है, वह उन्होंने क्षपकश्रेणि पर आरोहण करनेवाला जीव अन्यलिंगवाला न होकर वर्तमान में निर्ग्रन्थ ही होता है और इस अपेक्षा से उसके निर्ग्रन्थ अवस्था में बाँधे गये कर्म भजनीय न होकर नियम से पाये जाते हैं, यह दिखलाने के लिए ही किया है, क्योंकि जो जीव अन्तरंग में निर्ग्रन्थ होता है, वह बाह्य में नियम से निर्ग्रन्थ होता है। किन्तु इन दोनों के परस्पर अविनाभाव को न स्वीकार कर जो श्वेताम्बर-सम्प्रदायवाले इच्छानुसार वस्त्र-पात्रादि-सहित अन्य वेश में रहते हुए भी वर्तमान में क्षपकश्रेणि आदि पर आरोहण करना या रत्नत्रयस्वरूप मुनिलिंग की प्राप्ति मानते हैं, उनके उस मत का निषेध करने के लिए जयधवलाटीकाकार ने णिगंग्थलिंगवदिरित्तसेसाणं पद की योजना की है। विचार कर देखा जाय, तो उनके इस निर्देश में किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता की गन्ध न होकर वस्तुस्वरूप का उद्घाटन मात्र है, क्योंकि भीतर से जीवन में निर्ग्रन्थ वही हो सकता है, जो वस्त्र-पात्रादि का बुद्धिपूर्वक त्यागकर बाह्य में जिनमुद्रा को पहले ही धारण कर लेता है। कोई बुद्धिपूर्वक वस्त्र-पात्र आदि को स्वीकार करे, उन्हें रखे, उनकी सम्हाल भी करे, फिर भी स्वयं को वस्त्र-पात्र आदि सर्व परिग्रह का त्यागी बतलावे, इसे मात्र जीवन की विडम्बना करनेवाला ही कहना चाहिए। अतः वर्तमान में जिसने वस्त्र-पात्रादि सर्व परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थलिंग स्वीकार किया है, वही क्षपक हो सकता है और ऐसे क्षपक के निर्ग्रन्थलिंग ग्रहण करने के समय से लेकर बाँधे गये कर्म सत्ता में अवश्य पाये जाते हैं, यह दिखलाने के लिये ही श्री जयधवलाटीकाकार ने अपनी टीका में सर्वलिंग पद का अर्थ निर्ग्रन्थलिंग-व्यतिरिक्त अन्य सब लिंग किया है जो ‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः’ इस नीतिवचन का अनुसरण करनेवाला होने से उपयुक्त ही है।

दूसरा उल्लेख है—२४. “णोगम-संगह-ववहारा सव्वे इच्छंति।” २५. “उजुसुदो द्ढवणवज्जे।” (क.प्रा.चूर्णि/पृ.१७)। [देखें, क.पा./भाग १/पृ.२५२]। इसका व्याख्यान करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थक

नय हैं और ऋजुसूत्र आदि चार पर्यायार्थिक नय हैं। इस विषय में दिगम्बरपरम्परा में कहीं किसी प्रकार मतभेद दिखलाई नहीं देता। कषायप्राभृतचूर्णिकार भी अपने चूर्णिसूत्रों में सर्वत्र ऋजुसूत्रनय का पर्यायार्थिकनय में ही समावेश करते हैं। फिर भी उक्त (श्वे०) मुनि जी ने अपनी प्रस्तावना में यह उल्लेख किस आधार से किया है कि 'कषायप्राभृतचूर्णिकार ऋजुसूत्रनय को द्रव्यार्थिकनय स्वीकार करते हैं', यह समझ से बाहर है। उक्त कथन की पुष्टि करनेवाला उनका वह वचन इस प्रकार है—“अहीं कषायप्राभृत-चूर्णिकार ऋजुसूत्रनयनो द्रव्यार्थिकनयमां समावेश करवा द्वारा श्वेताम्बराचार्योनी सैद्धान्तिक परम्पराने अनुसरे छे कारणके श्वेताम्बरों में सैद्धान्तिक परम्परा ऋजुसूत्रनयनो द्रव्यार्थिकनयमां समावेश करे छे।”

कषायप्राभृत चूर्णिसूत्रों में ऐसे चार स्थल हैं, जहाँ निक्षेपों में नययोजना की गई है। प्रथम पेज्ज निक्षेप के भेदों की नययोजना करनेवाला स्थल। यथा—

२४. “णोगम-संगहववहारा सव्वे इच्छंति।” २५. “उजुसुदो ठवणवज्जे।”
२६. “सहणयस्स णामं भावो च।” पृ.१७। (देखें, क.पा./भाग १/पृ.२३५-२४०)।

दूसरा दोस पद का निक्षेप कर उन सब में नययोजना करनेवाला स्थल। यथा—

३२. “णोगम-संगह ववहारा सव्वे णिक्खेवे इच्छंति।” ३३. “उजुसुदो ठुवणवज्जे।”
३४. “सहणयस्स णामं भावो च।” पृ.१७। (देखें, क.पा./भाग १/पृ.२५२-२५३)।

तीसरा संकम पद का निक्षेप कर उन सब में नययोजना करनेवाला स्थल। यथा—

५. “णोगमो सव्वे संकमे इच्छइ।” ६. “संग्रह-ववहारा कालसंकममवणोति।”
७. “उजुसुदो एदं च ठवणं च अवणेइ।” ८. “सहस्स णामं भावो च।” पृ.२५१।
(देखें, क.पा./भाग ८/पृ.८-१०)।

चौथा द्वाण पदका निक्षेप कर उन सबमें नययोजना करनेवाला स्थल। यथा—

१०. “णोगमो सव्वाणि द्वाणाणि इच्छइ।” ११. “संग्रह-ववहारा पलिवीचिट्ठाणं उच्चट्ठाणं च अवणोति।” १२. “उजुसुदो एदाणि च ठवणं च अद्धद्वाणं च अवणेइ।”
१३. “सहणयो णामद्वाणं संजमट्ठाणं खेत्तट्ठाणं भावट्ठाणं च इच्छदि।” पृ. ६०७-६०८ (देखें, क.पा./भाग १२/पृ.१७५-१७६)।

ये चार स्थल हैं, जिनमें कौन निक्षेप किस नय का विषय है, यह स्पष्ट किया गया है। स्थापनानिक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है, इसे इन सब स्थलों में स्वीकार

किया गया है। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृत-चूर्णिकार ने द्रव्यार्थिक-नयरूप से ऋजुसूत्रनय को नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि सादृश्य-सामान्य की विवक्षा में ही किसी अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना की जा सकती है और सादृश्य-सामान्य द्रव्यार्थिकनय का विषय है, जिसे पर्यायार्थिकनय का भेद ऋजुसूत्रनय नहीं स्वीकार करता। अतः यह स्पष्ट है कि कषायप्राभृत-चूर्णिकार ने ऋजुसूत्रनय को पर्यायार्थिकनयरूप से ही स्वीकार किया है, द्रव्यार्थिकनयरूप से नहीं। फिर नहीं मालूम उक्त प्रस्तावना में किस आधार से यह विधान करने का साहस किया है कि "कषायप्राभृतचूर्णिकार ऋजुसूत्रनय को द्रव्यार्थिकनय में समावेश करने के लिए श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हैं?"

शायद उन्होंने अर्थनय को द्रव्यार्थिकनय समझकर यह विधान किया है। किन्तु यदि यही बात है तो हमें लिखना पड़ता है कि या तो यह उनकी नयविषयक अनभिज्ञता का परिणाम है या फिर इसे सम्प्रदायका व्यामोह कहना होगा। कारण कि जब कि आगम में द्रव्यार्थिकनय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों भेद अर्थनयस्वरूप ही स्वीकार किये गये हैं और पर्यायार्थिकनय के दो भेद करके उनमें से ऋजुसूत्रनय को अर्थनयस्वरूप स्वीकार किया गया है, ऐसी अवस्था में बिना आधार के उसे द्रव्यार्थिकनय स्वरूप बतलाना और अपने इस अभिप्राय से कषायप्राभृतचूर्णिकार को जोड़ना इसे सम्प्रदायका व्यामोह नहीं कहा जायगा तो और क्या कहा जायगा?

यों तो सातों ही नयों का विषय अर्थ-वस्तु है। फिर भी उनमें से नैगमादि तीन नय पर्याय को गौण कर सामान्य की मुख्यता से वस्तु का बोध कराते हैं, इसलिए वे द्रव्यार्थिकरूप से अर्थनय कहे गये हैं। ऋजुसूत्रनय सामान्य को गौणकर वर्तमान पर्याय की मुख्यता से वस्तु का बोध कराता है, इसलिए वह पर्यायार्थिकरूप से अर्थनय कहा गया है। और शब्दादि तीन नय यद्यपि सामान्य को गौणकर वर्तमान पर्याय की मुख्यता से ही वस्तु का बोध कराते हैं, फिर भी ऋजुसूत्र से इन शब्दादि तीन नयों में इतना अन्तर है कि ऋजुसूत्रनय अर्थप्रधाननय है और शब्दादि तीन नय शब्दप्रधान नय हैं। इसलिए नैगमादि सातों नय अर्थनय और शब्दनय, इन दो भेदों में विभक्त होकर अर्थनय के चार और शब्दनय के तीन भेद हो जाते हैं। यहाँ अर्थनय के चार भेदों में ऋजुसूत्रनय सम्मिलित है, मात्र इसीलिए वह द्रव्यार्थिकनय नहीं हो जायगा। रहेगा वह पर्यायार्थिक ही। षट्खण्डागम और कषायप्राभृतचूर्णिसूत्र प्रभृति जितना भी दिगम्बर आचार्यों द्वारा लिखा गया साहित्य है, वह सब एक स्वर से एकमात्र इसी अभिप्राय की पुष्टि करता है। मालूम पड़ता है कि उक्त प्रस्तावना लेखक ने दिगम्बर-साहित्य का और स्वयं कषायप्राभृतचूर्णिसूत्र का सम्यक् प्रकार से परिशीलन किये बिना ही यह अनर्गल विधान किया है। यहाँ प्रसंग से हम यह सूचित कर देना चाहते

हैं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के काल में ही वस्त्र-पात्रधारी श्वेताम्बरमत की स्थापना की नींव पड़ गई थी। यह इसी से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-परम्परा जिनलिंगधारी भद्रबाहु को श्रुतकेवली स्वीकार करके भी उनके प्रति अनास्था दिखलाती है और उन्हें गौण कर अपनी परम्परा को स्थूलभद्र आदि से स्वीकार करती है।

२

प्रस्तावना-लेखक ने 'श्वेताम्बराचार्योंना ग्रन्थोंमां कषायप्राभृतना आधार साक्षी तथा अतिदेशो' इस दूसरे उपशीर्षक के अन्तर्गत श्वेताम्बर-कार्मिक-साहित्य में जहाँ-जहाँ कषायप्राभृत के उल्लेखपूर्वक कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि को विषय की पुष्टि के रूप से निर्दिष्ट किया गया है या विषय के स्पष्टीकरण के लिए उनको साधार उपस्थित किया गया है, उनका संकलन किया है।

१. उनमें से प्रथम उल्लेख पंचसंग्रह (श्वे.) का है। इसकी दूसरी गाथा में शतक आदि पाँच ग्रन्थों को संक्षिप्त कर इस पंचसंग्रह ग्रन्थ की रचना की गई है, अथवा पाँच द्वारों के आश्रय से इस पंचसंग्रह ग्रन्थ की रचना की गई है, यह बतलाया गया है। किन्तु स्वयं चन्द्रर्षि महत्तर ने उक्त ग्रन्थ की तीसरी गाथा में वे पाँच द्वार कौन से हैं, इनका जिस प्रकार नामोल्लेख कर दिया है, उस प्रकार गाथारूप या वृत्तिरूप अपनी किसी भी रचना में एक शतक ग्रन्थ के नामोल्लेख को छोड़कर अन्य जिन चार ग्रन्थों के आधार से इस पंचसंग्रह ग्रन्थ की रचना की गई है, उनका नामोल्लेख नहीं किया है। अत एव एक शतक के सिवाय अन्य जिन चार ग्रन्थों का अपने पंचसंग्रह ग्रन्थ में उन्होंने संक्षेपीकरण किया है, वे चार ग्रन्थ कौन से हैं, इसका तो उनकी उक्त दोनों रचनाओं से पता चलता नहीं। हाँ उक्त ग्रन्थ की 'नमिऊण जिणं वीरं' इस मंगल गाथा की टीका में मलयगिरि ने अवश्य ही उन पाँच ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। स्वयं चन्द्रर्षि महत्तर अपनी रचना में पाँच द्वारों का नामोल्लेख तो करते हैं, परन्तु उन ग्रन्थों का नामोल्लेख नहीं करते, इसमें क्या रहस्य है, यह अवश्य ही विचारणीय है। बहुत सम्भव तो यही दिखलाई देता है कि श्वेताम्बरपरम्परा में क्षपणा आदि विधि का आनुपूर्वी से सविस्तर कथन उपलब्ध न होने के कारण उन्होंने कषायप्राभृत (कषायप्राभृत में उसकी चूर्णि भी परिगणित है) का सहारा तो अवश्य लिया होगा, परन्तु यतः कषायप्राभृत श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है, अतः पञ्चसंग्रह में किन पाँच ग्रन्थों का संग्रह है, इसका पूरा स्पष्टीकरण करना उन्होंने उचित नहीं समझा होगा।

२. दूसरा उल्लेख शतकचूर्णि के टिप्पण का है। यह टिप्पण अभी तक मुद्रित नहीं हुए हैं। प्रस्तावना-लेखक ने अवश्य ही यह संकेत किया है कि उक्त टिप्पण

में किस कषाय में कितनी कृष्टियाँ होती हैं इस विषय की प्ररूपणा करनेवाली कषायप्राभृत की १६३ क्रमांक गाथा उद्धृत पाई जाती है। सो इससे यही तो समझा जा सकता है कि श्वेताम्बरपरम्परा में क्षपणाविधि की सांगोपांग प्ररूपणा न होने से शतकचूर्णि के कर्त्ता ने किस कषाय की कितनी कृष्टियाँ होती हैं, इस विषय का विशेष विवेचन प्रायः कषायप्राभृत के आधार से किया है। यह समझकर ही उक्त टिप्पणकार ने प्रमाण-स्वरूप उक्त गाथा उद्धृत की होगी।

३. तीसरा उल्लेख सप्ततिकाचूर्णि का है। इसमें सूक्ष्मसाम्पराय-सम्बन्धी कृष्टियों की रचना का निर्देशकर उनके लक्षण को कषायप्राभृत के अनुसार जानने की सूचना सप्ततिकाचूर्णिकार ने इसीलिए की जान पड़ती है कि श्वेताम्बरपरम्परा में इस प्रकार का सांगोपांग विवेचन नहीं पाया जाता। सप्ततिकाचूर्णि का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

“तं वेयंतो बितियकिट्टीओ तइयकिट्टीओ य दलियं घेतूणं सुहुमसांपराइय-किट्टीओ करेइ। तेसिं लवखणं जहा कसायपाहुडे।”

४. चौथा उल्लेख भी सप्ततिकाचूर्णि का है। इसमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में जो अनेक वक्तव्य हैं उन्हें कषायप्राभृत और कर्मप्रकृतिसंग्रहणी के अनुसार जानने की सूचना की गई है। सप्ततिकाचूर्णि का वह उल्लेख इस प्रकार है—

“एत्थ अपुव्वकरण-अणियट्टिअद्धासु अणेगाइ वत्तव्वगाइं जहा कसायपाहुडे कम्मपगडिसंगहणीए वा तह वत्तव्वं।”

सो इस विषय में इतना ही कहना है कि कर्मप्रकृतिसंग्रहणी स्वयं एक संग्रह-रचना है। अतः उसमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालों में होनेवाले कार्य-विशेषों का जो भी निर्देश उपलब्ध होता है, वह सब अन्य ग्रन्थ के आधार से ही लिया गया होना चाहिए। इस विषय में जहाँ तक हम समझ सके हैं, कषायप्राभृतचूर्णि और कर्मप्रकृतिचूर्णि की तुलना करने पर ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्मप्रकृति-चूर्णिकार के समक्ष कषायप्राभृतचूर्णि अवश्य रही है। यथा—

१०२. “चरिमसमयमिच्छाइट्ठी से काले उवसंतदंसणमोहणीओ।” १०३. “ताधे चेव तिपिण कम्मंसा उप्पादिदा।” कषायप्राभृतचूर्णि।

अब इसके प्रकाश में कर्मप्रकृति-उपशमनाकरण गाथा १९ की चूर्णि पर दृष्टिपात कीजिए—

“चरिमसमयमिच्छाइट्ठी से काले उवसमसम्महिदिठ होहि त्ति ताहे बितीय-दिठतीते तिइअणुभागं करेति।”

यहाँ कर्मप्रकृति-चूर्णिकार ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्तिम समय में मिथ्यात्व के द्रव्य के तीन भाग हो जाते हैं, इस मत की पुष्टि करने के लिए उक्त वाक्यरचना के मध्य में होहित्ति इतना पाठ अधिक जोड़ दिया है। बाकी की पूरी वाक्यरचना कषायप्राभृतचूर्ण से ली गई है, यह कर्मप्रकृति की १८ और १९ वीं गाथाओं तथा उनकी चूर्णियों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है।

यह एक उदाहरण है। पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि का उपशमना-प्रकरण तथा क्षपणाविधि कषायप्राभृतचूर्ण के आधार से लिपिबद्ध करते हुए भी कषायप्राभृतचूर्ण से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार मतभेद के स्थलों को यथावत् कायम रखा गया है। आवश्यकता होने पर हम इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालेंगे।

५. पाँचवाँ उल्लेख भी सप्ततिकाचूर्णि का है। इसमें मोहनीय के चार के बन्धक के एक का उदय होता है, इस मत को सप्ततिकाचूर्णिकार ने स्वीकार कर उसकी पुष्टि कषायप्राभृत आदि से की है। तथा साथ ही दूसरे मत का भी उल्लेख कर दिया है। सो उक्त चूर्णिकार के उक्त कथन से इतना ही ज्ञात होता है कि उनके समक्ष कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि थी।

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के पाँच उल्लेख हैं, जिनमें कषायप्राभृत के आधार से उसके नामोल्लेखपूर्वक प्रकृत विषय की पुष्टि तो की गई है, परन्तु इन उल्लेखों पर से एक मात्र यही प्रमाणित होता है कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय में दर्शन-चरित्रमोहनीय की उपशमना-क्षपणाविधि की प्ररूपणा करनेवाला सर्वांग साहित्य लिपिबद्ध न होने से इसकी पूर्ति दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि से की गई है। परन्तु ऐसा करते हुए भी उक्त शास्त्रकारों ने उन दोनों को श्वेताम्बर-परम्परा का स्वीकार करने का साहस भूलकर नहीं किया है। यह तो केवल उक्त प्रस्तावना-लेखक श्वे० मुनि हेमचन्द्रविजय जी का ही साहस है, जो बिना प्रमाण के ऐसा विधान करने के लिए उद्यत हुए हैं। वस्तुतः देखा जाय तो एक तो कुछ अपवादों को छोड़कर कर्मसिद्धान्त की प्ररूपणा दोनों सम्प्रदायों में लगभग एक-सी पाई जाती है, दूसरे जिन विषयों की पुष्टि में श्वेताम्बर आचार्यों ने कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि का प्रमाणरूप में उल्लेख किया है, उन विषयों का सांगोपांग विवेचन श्वेताम्बर-परम्परा में उपलब्ध न होने से ही उन आचार्यों को ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा है, इसलिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने साहित्य में कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि का प्रकृत विषयों की पुष्टि में उल्लेख किया, मात्र इसलिए उन्हें श्वेताम्बर आचार्यों की कृति घोषित करना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

आगे खवगसेदि की प्रस्तावना में कषायप्राभृत मूल तथा चूर्णिनी रचनानो काल उपशीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तावनालेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे क्यों ठीक नहीं हैं, इसकी यहाँ मीमांसा की जाती है—

१. जिस प्रकार जयधवला के प्रारम्भ में दिगम्बर-परम्परा के मान्य आचार्य वीरसेन ने तथा श्रुतावतार में इन्द्रनन्दि ने कषायप्राभृत के कर्तारूप में आचार्य गुणधर का और चूर्णिसूत्रों के कर्तारूप में आचार्य यतिवृषभ का स्मरण किया है, इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में किसी भी पट्टावली या कार्मिक या इतर साहित्य में इन आचार्यों का किसी भी रूप में नामोल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः इस विषय में उक्त प्रस्तावनालेखक का यह लिखना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि “पट्टावली में पाटपरम्परा में आनेवाले प्रधानपुरुषों के नामों का उल्लेख होता है” आदि। क्योंकि पट्टावली में पाटपरम्परा के प्रधान पुरुषों के रूप में यदि उनका नाम नहीं भी आया था, तो भी यदि वे श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य होते, तो अवश्य ही किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं, उनके नामों का उल्लेख अवश्य ही पाया जाता। श्वेताम्बरपरम्परा में इनके नामों का उल्लेख न पाया जाना ही यह सिद्ध करता है कि इन्हें श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य मानना युक्तियुक्त नहीं है।

२. एक बात यह भी कही गई है कि जयधवला में एक स्थल पर गुणधर का वाचकरूप से उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, इसलिए वे वाचकवंश के सिद्ध होने से श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य होने चाहिये, सो इसका समाधान यह है कि यह कोई ऐसा तर्क नहीं है कि जिससे उन्हें श्वेताम्बरपरम्परा का स्वीकार करना आवश्यक समझा जाय। वाचक शब्द का अर्थ वाचना देनेवाला होता है, जो श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति के पहले से ही श्रमणपरम्परा में प्राचीनकाल से रूढ़ चला आ रहा है। अतः जयधवला में गुणधर को यदि वाचक कहा भी गया है, तो इससे भी उन्हें श्वेताम्बर-परम्परा का आचार्य मानना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

३. यह ठीक है कि श्वेताम्बरपरम्परा में नन्दिसूत्र की पट्टावली में तथा अन्यत्र आर्यमंक्षु और नागहस्ति का नामोल्लेख पाया जाता है और जयधवला के प्रथम मंगलाचरण में चूर्णिसूत्रों के कर्ता आचार्य यतिवृषभ को आर्यमंक्षु का शिष्य और नागहस्ति का अन्तेवासी कहा गया है, परन्तु मात्र यह कारण भी आचार्य यतिवृषभ को श्वेताम्बर-परम्परा का मानने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा उक्त दोनों आचार्यों को अपनी परम्परा का स्वीकार करती है, उसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा ने भी उन्हें अपनी परम्परा का स्वीकार किया है, जैसा कि जयधवला आदि के उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है।

एक बात और है, वह यह कि नन्दिसूत्र की पट्टावली विश्वसनीय भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसमें जिस रूप में आर्यमंक्षु और नागहस्ति का उल्लेख पाया जाता है, उसके अनुसार वे दोनों एककालीन नहीं सिद्ध होते। श्री मुनि जिनविजय जी का तो यहाँ तक कहना है कि यह पट्टावली अधूरी है, क्योंकि इस पट्टावली में आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती के मध्य केवल आर्यनन्दिल को स्वीकार किया गया है, किन्तु आर्य मंक्षु और आर्यनन्दिल के मध्य पट्टधर चार आचार्य और हो गये हैं, जिनका उल्लेख इस पट्टावली में छूटा हुआ है। (वी.नि.स.और जैन का.ग./ पृ.१२४)।

दूसरे, नन्दीसूत्र की पट्टावली में अलग से ऐसा कोई उल्लेख भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे आर्यमंक्षु को स्वतन्त्ररूप से कर्मशास्त्र का ज्ञाता स्वीकार किया जाय। उसमें आर्य नागहस्ति को अवश्य ही कर्मप्रकृति में प्रधान स्वीकार किया गया है। इससे इस बात का सहज ही पता लगता है कि जिसने नन्दीसूत्र की पट्टावली का संकलन किया है, उसे इस बात का पता नहीं था कि गुणधर आचार्य द्वारा रची गई गाथाएँ साक्षात् या आचार्यपरम्परा से आर्यमंक्षु को प्राप्त हुई थीं, जब कि दिगम्बर-परम्परा में यह प्रसिद्धि आनुपूर्वी से चली आ रही है। यही बात आर्य नागहस्ति के विषय में भी समझनी चाहिए, क्योंकि उस (नन्दीसूत्र-पट्टावली) में आर्य नागहस्ती को कर्मप्रकृति में प्रधान स्वीकार करके भी, इन्हें न तो कषायप्राभृत का ज्ञाता स्वीकार किया गया है और न ही उन्हें गुणधर आचार्य द्वारा रची गई गाथाएँ आचार्य-परम्परा से या साक्षात् प्राप्त हुईं, यह भी स्वीकार किया गया है। यह एक ऐसा तर्क है, जो प्रत्येक विचारक को यह मानने के लिये बाध्य करता है कि कषायप्राभृत श्वेताम्बर-आचार्यों की कृति न होकर दिगम्बर-आचार्यों की ही रचना है।

तीसरे दिगम्बर-परम्परा में कषायप्राभृत और चूर्णि का जो प्रारम्भकाल से पठन-पाठन होता आ रहा है, इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन्द्रनन्दी ने अपने द्वारा रचित श्रुतावतार में आचार्य यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों के अतिरिक्त दूसरी ऐसी कई पद्धति-पंजिकाओं का उल्लेख किया है, जो कषायप्राभृत पर रची गई थीं (क.पा./ भाग १/प्रस्तावना/ पृ.९ तथा १४ से)। स्वयं वीरसेन ने अपनी जयधवला टीका में ऐसी कई उच्चारणाओं, स्वालिखित उच्चारणा और वप्पदेवलिखित उच्चारणा का उल्लेख किया है, जो जयधवला टीका के पूर्व रची गई थीं। बहुत संभव है कि इनमें इन्द्रनन्दी द्वारा उल्लिखित पद्धति-पंजिकाएँ भी सम्मिलित हों। (जयधवला/क.पा./ भा.१/प्रस्ता./ पृ.९ से १४)।

उक्त तथ्यों के सिवाय प्रकृत में यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों में प्रवाह्यमान और अप्रवाह्यमान इन दो प्रकार के उपदेशों का उल्लेख

पद-पद पर किया है तथा इन दोनों प्रकार के उपदेशों में से किसका उपदेश प्रवाह्यमान है और किसका उपदेश अप्रवाह्यमान है, इस विषय का स्पष्ट निर्देश स्वयं जयधवलाकार ने अपनी टीका में किया है (देखो, प्रस्तुत भाग १२/पृ. १८, २३-६६, ७१, ११६ और १४५)। सो इससे भी इस बात का पता लगता है कि कर्मविषयक किस विषय में इन दोनों (आर्यमंक्षु और नागहस्ति) का क्या अभिप्राय था और उनमें से कौन उपदेश प्रवाह्यमान अर्थात् आचार्यपरम्परा से आया हुआ था और कौन उपदेश अप्रवाह्यमान अर्थात् आचार्यपरम्परा से प्राप्त नहीं था, इसकी पूरी जानकारी जयधवला-टीकाकार को निःसंशयरूप से थी।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कषायप्राभृत और उसके चूर्णिसूत्रों के रचनाकाल में तथा जयधवला टीका के रचनाकाल में शताब्दियों का अन्तर रहते हुए भी जयधवला के टीकाकार ने उक्त जानकारी कहाँ से प्राप्त की होगी? समाधान यह है कि यह तो जयधवला टीका के अवलोकन से ही ज्ञात होता है कि उसकी रचना केवल कषाय-प्राभृत और उसके चूर्णिसूत्रों के आधार पर ही न होकर उसकी रचना के समय इन दोनों रचनाओं से सम्बन्ध रखनेवाला बहुत-सा उच्चारणा वृत्ति आदि रूप साहित्य जयधवलाकार के सामने रहा है। और इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उच्चारणा वृत्ति आदि नाम से अभिहित किये गये उक्त साहित्य से वे इस बात का निर्णय करते होंगे कि इनमें से कौन उपदेश अप्रवाह्यमान होकर आर्यमंक्षु द्वारा प्रतिपादित है, कौन उपदेश प्रवाह्यमान होकर आर्य नागहस्ति या दोनों द्वारा प्रतिपादित है और कौन उपदेश ऐसा है जिसके विषय में उक्त प्रकार से निर्णय करना सम्भव न होने से केवल चूर्णिसूत्रों के आधार से प्रवाह्यमान और अप्रवाह्यमान रूप से उनका उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत (१२वें) भाग में पद-पद पर इस विषय के ऐसे अनेक उल्लेख आये हैं, जिनसे प्रत्येक पाठक को उक्त कथन की पूरी जानकारी मिल जाती है। यथा—

१. आर्यमंक्षु का उपदेश अप्रवाह्यमान है और नागहस्ति का उपदेश प्रवाह्यमान है। यथा—

“अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखव-
णाणमुवएसो पवाइज्जंतओ त्ति घेत्तव्वो।” (पृ. ७२)

यहाँ उपयोग अर्थाधिकार की ४थी गाथा के व्याख्यान का प्रसंग है। उसमें कषाय और अनुभाग की चर्चा के प्रसंग से आचार्य यतिवृषभ ने उक्त दोनों आचार्यों के दो उपदेशों का उल्लेख किया है। उनमें से कषाय और अनुभाग एक हैं यह बतलानेवाले भगवान् आर्यमंक्षु के उपदेश को जयधवला के टीकाकार ने अप्रवाह्यमान कहा है और

कषाय और अनुभाग में भेद बतलानेवाले नागहस्ति श्रवण के उपदेश को प्रवाह्यमान बतलाया है। (पृ. ६६ और ७१-७२)।

२. उक्त दोनों आचार्यों का उपदेश प्रवाह्यमान होने का प्रतिपादक वचन—“तेसिं चैव भयवंताणमज्जमंखु-णागहत्थिणं पवाइज्जंतेणुवएसेण---।” (पृ. २३)।

यहाँ क्रोधादि चारों कषायों के काल के अल्पबहुत्व को गतिमार्गणा और चौदह जीवसमासों में बतलाने के प्रसंग से उक्त वचन आया है। सो यहां चूर्णिसूत्रकार ने गतिमार्गणा और चौदह जीवसमासों में मात्र प्रवाह्यमान उपदेश का निर्देश किया है, अप्रवाह्यमान उपदेश का नहीं। जयधवलाकार ने भी चूर्णिसूत्रों का अनुसरण कर दोनों स्थानों में मात्र प्रवाह्यमान उपदेश का खुलासा करते हुए “तेसिं चैव उवदेसेण चोइस-जीवसमासेहिं दंडगो भणिहिदि।” (पृ.२३) इस चूर्णिसूत्र के व्याख्यान के प्रसंग से उसमें आये हुए तेसिं चैव इस पद का व्याख्यान करते हुए उक्त पद से उक्त दोनों भगवन्तों का ग्रहण किया है।

३. इस प्रकार उक्त दो प्रकार के उल्लेख तो ऐसे हैं, जिनसे हमें उनमें से कौन उपदेश प्रवाह्यमान है और कौन उपदेश अप्रवाह्यमान है, इस बात का पता लगाने के साथ जयधवलाटीका से उनके उपदेष्टा आचार्यों का भी पता लग जाता है। किन्तु चूर्णिसूत्रों में प्रवाह्यमान और अप्रवाह्यमान के भेदरूप कुछ ऐसे भी उपदेश संकलित हैं, जिनके विषय में जयधवलाकार को विशेष जानकारी नहीं थी। अतः जयधवलाकार ने इनका स्पष्टीकरण तो किया है, परन्तु आचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक उनका निर्देश नहीं किया। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस विषय में जयधवलाकार के समक्ष उपस्थित साहित्य में उक्त प्रकार का विशेष निर्देश नहीं होगा, अतः उन्होंने दोनों उपदेशों का स्पष्टीकरण मात्र करना उचित समझा। जयधवला के आगे दिये जानेवाले इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है—

“जो एसो अणंतरपरूविदो उवएसो सो पवाइज्जदे ... । अपवाइज्जंतेण पुण उवदेसेण केरिसी पयदपरूवणा होदि त्ति एवं विहासंकाए णिण्णयकरण-ट्ठमुत्तर-सुत्तमोइण्णं।” (पृ. ११६)।

इस उल्लेख में दो प्रकार के उपदेशों का निर्देश होते हुए भी चूर्णिकार की दृष्टि में उनके प्रवक्त्तरूप में कौन प्रमुख आचार्य विवक्षित थे, इसकी आनुपूर्वी से लिखित या मौखिक रूप में सम्यक् अनुश्रुति प्राप्त न होने के कारण जयधवलाकार ने मात्र उनकी व्याख्या कर दी है।

यह है जयधवला की व्याख्यानशैली। इसके टीकाकार को जिस विषय का किसी न किसी रूप में आधार मिलता गया, उसकी वे उसके साथ व्याख्या करते हैं और

जिस विषय का आनुपूर्वी से किसी प्रकार का आधार उपलब्ध नहीं हुआ, उसकी वे अनुश्रुति के अनुसार ही व्याख्या करते हैं। टीका में वे प्रामाणिकता को बराबर बनाये रखते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस उपदेश को उन्होंने आर्यमंशु का बतलाया है, वह भी साधार ही बतलाया है और जिसे उन्होंने नागहस्ति का बतलाया है वह भी साधार ही बतलाया है। अतः इससे सिद्ध है कि दिगम्बरपरम्परा में इन दोनों आचार्यों के उपदेशों की आनुपूर्वी पठन-पाठन तथा टीका-टिप्पणी आदि रूप से यथावत् कायम रही। किन्तु श्वेताम्बरपरम्परा में ऐसा कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उस परम्परा में जितना भी कार्मिक-साहित्य उपलब्ध है, उसमें कहीं भी अन्य गर्ग प्रभृति आचार्यों के मत-मतान्तरों की तरह इन आचार्यों का नामोल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। उक्त प्रस्तावना-लेखक को चाहिए कि वे इस विषय में एक नन्दीसूत्र-पट्टावली को निर्णायक न मानें। किन्तु अपने कार्मिक-साहित्य पर भी दृष्टिपात करें। यदि वे तुलनात्मक दृष्टि से दोनों परम्पराओं के कार्मिक साहित्य पर सम्यक् रूप से दृष्टिपात करेंगे, तो उन्हें न केवल वास्तविकता का पता लग जायगा, किन्तु वे नन्दीसूत्र की पट्टावली में आर्यमंशु और नागहस्ति का उल्लेख होने मात्र से उसके आधार पर कषायप्राभृत और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरमत का होने का आग्रह करना भी छोड़ देंगे। (उस परम्परा में एतद्विषयक अन्य उल्लेख नन्दीसूत्र-पट्टावली का अनुसरण करते हैं, अतः उन पर विचार नहीं किया)।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हो जाने पर कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि दिगम्बर आचार्यों की अमर कृतियाँ हैं, चूर्णिसूत्रों के रचनाकाल का कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता। फिर भी इस विषय को जयधवला (क.पा.) प्रथम भाग में कालगणना के प्रसंग से अत्यन्त स्पष्टरूप में स्वीकार कर लिया गया है कि वर्तमान त्रिलोक-प्रज्ञप्ति को आचार्य यतिवृषभ की कृति स्वीकार करने पर चूर्णिसूत्रों की रचना की यह कालगणना की जा रही है। प्रस्तावना (पृ.४३) के शब्द हैं—

“हमने कुछ पूर्व जो यतिवृषभ का समय बतलाया है, वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति और चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ को एक मानकर उनकी त्रिलोकप्रज्ञप्ति के आधार पर लिखा है।”

अब यदि वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्ति संग्रहग्रन्थ होने से या अन्य किसी कारण से उन्हीं आचार्य यतिवृषभ की कृति सिद्ध नहीं होती है, जिनकी रचना कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र हैं, तो इसमें दिगम्बरपरम्परा को या जयधवला के प्रस्तावना-लेखकों को कोई आपत्ति भी नहीं दिखलाई देती। यह एक स्वतन्त्र ऊहापोह का विषय है और इस विषय पर स्वतन्त्ररूप से ऊहापोह होना चाहिए। किन्तु इस आधार पर कषायप्राभृत

या उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बर-परम्परा का सिद्ध करने का अनुचित प्रयास करना शोभास्पद प्रतीत नहीं होता।

अपनी प्रस्तावना के इसी प्रकरण में उक्त प्रस्तावना-लेखक ने अपनी साम्प्रदायिक मान्यता के आग्रहवश दिगम्बरपरम्परा को एक मत बतलाकर उसकी उत्पत्ति “दिगम्बर मतोत्पत्तिनो काल वीर संवत् ६०० पछी छे।” इन शब्दों द्वारा वीर सं० ६०० के बाद बतलाई है। सो इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि उक्त प्रस्तावना-लेखक को प्रकृत विषय के इतिहास का सम्यक् अनुसन्धान करने की अपेक्षा बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थस्वरूप, प्राचीन श्रमण परम्परा, उसके प्राचीन साहित्य और इतिहास का श्वेताम्बरीकरण करने की अधिक चिन्ता दिखलाई देती है। अन्यथा वे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में कौन अर्वाचीन है और कौन प्राचीन है, इसका उल्लेख किये बिना उक्त साहित्यविषयक अन्य प्रमाणों के आधार से मात्र गुणधर और यतिवृषभ इन दोनों आचार्यों और उनकी रचनाओं के काल का ऊहापोह करते हुए अपना फलितार्थ प्रस्तुत करते।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रकृत में पहले हमने (उक्त प्रस्तावना-लेखक ने) उक्त दोनों आचार्यों को प्राचीन (वीर नि० सं० ४६७ लगभग का) सिद्ध किया है और उसके बाद दिगम्बरमत की उत्पत्ति को वीर नि० ६०० वर्ष के बाद की बतलाकर उन्हें श्वेताम्बर सिद्ध किया है। पर विचारकर देखा जाय तो किसी भी वस्तु को इस पद्धति से अपने सम्प्रदाय की सिद्ध करने का यह उचित मार्ग नहीं, क्योंकि जैसा कि हम पूर्व में बतला आये हैं, ऐसे अन्य अनेक प्रमाण हैं, जिनसे उक्त दोनों आचार्य तथा उनकी रचनाएँ काल की अपेक्षा प्राचीन होने पर भी, न तो वे आचार्य श्वेताम्बर सिद्ध होते हैं और न उनकी रचनाएँ ही श्वेताम्बर सिद्ध होती हैं।

अतः कषायप्राभृत मूल तथा चूर्णि के रचनाकाल को आधार मानकर इस प्रकरण में इनको श्वेताम्बर आचार्यों की कृति सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया गया है, वह किस प्रकार तर्क और प्रमाण हीन है, इसका सांगोपांग विचार किया।

४

आगे खवगसेद्धि की प्रस्तावना में ‘कषायप्राभृत चूर्णिनी रचनाना काल अंगे वर्तमान सम्पादकोनी मान्यता’ आदि कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तावना-लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनकी विस्तृत मीमांसा की तत्काल आवश्यकता न होने से विधिरूप से उनमें से कुछ मुद्दों पर संक्षेप में प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अंत में ये दो गाथाएँ पाई जाती हैं—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
 दद्रूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाढए वसहं ॥ ९/७६ ॥
 चुण्णिणस्सरूवत्थकरणसरूवपमाण होइ किं जं तं।
 अट्टसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥ ९/७७ ॥

इनमें से प्रथम गाथा जयधवला-सम्यक्त्व-अधिकार के मंगलाचरण के रूप में पाई जाती है। उसका पाठ इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं।
 दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं ॥

(क.पा./भाग १२/पृ.१९३)।

इसका अर्थ हे कि जिनवरवृषभ, गणधरवृषभ, गुणधरवृषभ तथा दुःसह परीषहों को जीतनेवाले और धर्मसूत्र के पाठकों में श्रेष्ठ यतिवृषभ को तुम सब प्रणाम करो।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अन्त में आई हुई इस गाथा का पाठभेद के होते हुए भी लगभग यही अर्थ है। पाठभेद लिपिकारों के प्रमाद से हुआ जान पड़ता है।

अब विचार यह करना है कि यह गाथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति से उठाकर जयधवला में निक्षिप्त की गई है या जयधवला से उठाकर त्रिलोकप्रज्ञप्ति में निक्षिप्त की गई है। सम्यक्त्व-अधिकार के प्रारम्भ में आई हुई उक्त मंगल गाथा के बाद वहाँ एक दूसरी गाथा भी पाई जाती है, जिस पर दृष्टिपात करने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त मंगलगाथा जयधवला के सम्यक्त्व-अधिकार की ही होनी चाहिए, क्योंकि इस गाथा के पूर्वार्ध द्वारा उक्त गाथा के मंगलार्थ का समर्थन कर उत्तरार्ध द्वारा विषय का निर्देश किया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

इय पणमिय जिणणाहे गणणाहे तह ये चेव मुण्णिणाहे।

सम्मत्तसुद्धिहेउं

वोच्छं

सम्मत्तमहियारं ॥ २ ॥

(क.पा./भाग १२/पृ.१९३)।

वैसे वर्तमान में त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ जिस रूप में पाया जाता है, वह संग्रहग्रन्थ न होकर एककर्तृक होगा, यह मानना बुद्धिग्राह्य नहीं प्रतीत होता और इसीलिए जयधवला की प्रस्तावना (पृ.६१, टिप्पणी) में यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया है कि “वर्तमान में त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ जिस रूप में पाया जाता है, उसी रूप में आचार्य यतिवृषभ ने उसकी रचना की थी, इस बात में हमें सन्देह है।”

फिर भी जयधवला सम्यक्त्व-अधिकार की उक्त मंगलगाथा का ‘चुण्णिणस्सरूव’ इत्यादि गाथा के साथ त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अन्त में पाया जाना इस तथ्य को अवश्य

ही सूचित करता है कि इस ग्रन्थ के साथ आचार्य यतिवृषभ का किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य ही होना चाहिए। बहुत सम्भव है धवला में जिस त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ का उल्लेख पाया जाता है, उसकी रचना स्वयं यतिवृषभ आचार्य ने की हो और उसको मिलाकर वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ का संग्रह किया गया हो। अन्यथा उक्त मंगलगाथा को वहाँ लाकर रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उक्त गाथा के साथ वहाँ जो 'चुण्णिस्सरूव' इत्यादि गाथा पाई जाती है, उसमें आये हुए चुण्णिस्स पद से भी इस तथ्य को समर्थन होता है।

आचार्य वीरसेन ने अपनी जयधवला टीका में और इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में इसकी चर्चा नहीं की, इसका कारण है। बात यह है कि कषयप्राभृत और उसके चूर्णिसूत्रों की टीका का नाम जयधवला है, अतः उससे सम्बन्धित तथ्यों का ही खुलासा किया गया है। यही स्थिति श्रुतावतार में इन्द्रनन्दी की भी रही है। अतः इन दोनों आचार्यों ने यदि अपनी-अपनी रचनाओं में आचार्य यतिवृषभ की रचनारूप से त्रिलोक-प्रज्ञप्ति ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया, तो इससे उक्त तथ्य को फलित करने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती।

२. इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में आचार्य गुणधर और आचार्य धरसेन को लक्ष्यकर लिखा है—

गुणधरधसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

गुणधर और धरसेन के अन्वयस्वरूप गुरुओं के पूर्वापर क्रम को हम नहीं जानते, क्योंकि उनके अन्वय अर्थात् गुरुजनों का कथन करनेवाले आगम (लिखित) और मुनिजनों का अभाव है।

आचार्य वीरसेन ने भी श्रीधवला में धरसेन आचार्य का और श्रीजयधवला में गुणधर आचार्य का बहुमान के साथ उल्लेख किया है। किन्तु उन्होंने उनकी गणना पट्टधर आचार्यों में न होने से उनके गुरुओं का उल्लेख नहीं किया है। यह सम्भव है कि इसी कारण से इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में उक्त वचन लिखा है।

किन्तु इन दोनों स्थलों को छोड़कर अन्यत्र इन दोनों आचार्यों का तथा पुष्यदन्त और भूतबलि आचार्य का नामोल्लेख न मिलने का कारण यह है कि एक तो दिगम्बर-परम्परा में इस तरह के इतिहास के संकलित करने की पद्धति प्रायः इन आचार्यों के बहुत काल बाद प्रारम्भ हुई। कारण वनवासी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होने के कारण वे सब प्रकार की लौकिक प्रवृत्तियों से मुक्त होकर अपना शेष जीवन स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन में ही व्यतीत करते रहते थे। कदाचित् ग्रन्थादि के निर्माण का विकल्प होने

पर उनकी रचना करते भी थे, तो उसमें नामादि के ख्यापन की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव ही रहता था। यही कारण है कि पूर्व आचार्यों की सभी कृतियाँ प्रायः प्रशस्तियों से रहित पाई जाती हैं। एक तो इस कारण से उक्त आचार्यों के नामों का उल्लेख अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होता है।

दूसरे, ये कर्मसिद्धान्त जैसे सूक्ष्म और गहन दुरूह अर्थवाले विषय का प्रतिपादन करनेवाले पौर्व ग्रन्थ हैं। इनका अवधारण करना मन्दबुद्धिजनों को सुगम न होने से अन्य साहित्य के समान इनका सर्वसुलभ प्रचार कभी भी नहीं रहा। गृहस्थों की बात तो छोड़िये, मुनिजनों में भी ऐसे मेधावी विरले ही मुनि होते आये, जो इनका सम्यक् प्रकार से अवधारण करने में समर्थ होते रहे। इसलिए भी इनके रचयिता आचार्यों का नामोल्लेख अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होता है। यह तो गनीमत है कि दिगम्बरपरम्परा में इनका इतना इतिहास मिलता भी है। श्वेताम्बरपरम्परा तो आचार्य गुणधर और यतिवृषभ के नाम भी नहीं जानती। इतना ही क्यों, उस परम्परा में कर्मप्रकृतिचूर्णि, सप्ततिका, शतक तथा उनकी चूर्णि आदि कतिपय जो भी कर्मविषयक मौलिक साहित्य उपलब्ध होता है, उसका तो इतना भी इतिहास नहीं मिलता। प्रामाणिक ऐतिहासिक दृष्टि से, कल्पित अनेक उल्लेख न मिलने की अपेक्षा प्रामाणिक एक-दो उल्लेखों का मिलना उससे कहीं अधिक हितावह है।

३. श्रीजयधवला में आचार्य गुणधर के, पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता होने पर भी, उन्हें वाचक कहने में विसंवाद की कोई बात नहीं है। नन्दिसूत्रपट्टावली में आर्य नागहस्ति को पूर्वधर न लिखकर मात्र विवक्षित पूर्व के एकदेशरूप कर्मप्रकृति में प्रधान कहा गया है। फिर भी उसमें उनके यशःशील वाचकवंश की अभिवृद्धि की कामना की गई है।

उपसंहार

कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि ये दोनों दिगम्बर आचार्यों की अमर कृतियाँ हैं, इस विषय में पूर्व में हम सप्रमाण ऊहापोहपूर्वक संक्षेप में जो कुछ भी लिख आये हैं, उन सबका यह उपसंहार है—

१. कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि के रचनाकाल से लेकर उनकी महती टीका जयधवला के रचनाकाल तक और उसके बाद भी दिगम्बरपरम्परा में उक्त ग्रन्थ-रत्नों का बराबर पठन-पाठन होता आ रहा है। यह इसी से स्पष्ट है कि उन पर दिगम्बर आचार्यों द्वारा अनेक उच्चारणाएँ और पद्धति प्रभृति टीकाएँ लिखी गई हैं।

तथा उन्हीं के आधार से सबके अन्त में जयधवला टीका भी लिखी गई है तथा वर्तमान समय में उनका हिन्दी में रूपान्तर भी हो रहा है।

२. जयधवला में उल्लिखित अंग-पूर्वधारियों की परम्परा से ज्ञात होता है कि दिगम्बरपरम्परा में तीर्थंकर भगवान् महावीर से लेकर जो परम्परा पाई जाती है, उसी परम्परा में किसी समय ये आचार्य हुए हैं। अपने श्रुतावतार में इन्द्रनन्दी ने भी इसे स्वीकार किया है।

३. इन ग्रन्थरत्नों की भाषा, रचनाशैली और शब्दविन्यास आदि का क्रम दिगम्बर-परम्परा के एतद्विषयक अन्य साहित्य के ही अनुरूप है, श्वेताम्बर-परम्परा के साहित्य के अनुरूप नहीं।

४. दि० आचार्यों की मालिका में गुणधर और यतिवृषभ दो आचार्य भी हुए हैं। तथा उन्होंने कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि की रचना की थी, आनुपूर्वी से इसकी अनुश्रुति दिगम्बर-परम्परा में रही आई, श्वेताम्बर-परम्परा इस विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ रही। यह निष्कारण नहीं होना चाहिए। स्पष्ट है, श्वेताम्बर-परम्परा ने इन दोनों अनुपम कृतियों को श्वेताम्बर-परम्परा के रूप में कभी भी मान्यता नहीं दी।

५. शतक और सप्ततिका आदि में २-४ उल्लेखों द्वारा जो कषायप्राभृत का नामनिर्देश पाया जाता है, वह केवल विषय की पुष्टि के प्रयोजन से ही पाया जाता है। उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

स्पष्ट है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि दिगम्बर आचार्यों की अमर रचनाएँ हैं। (लेख समाप्त)

इस प्रकार माननीय पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य ने इस लेख में सप्रमाण सिद्ध किया है कि कसायपाहुड दिगम्बराचार्य की ही कृति है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उसे श्वेताम्बरपरम्परा, यापनीयपरम्परा या श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये हेतु असत्य या हेत्वाभास हैं।

शब्दविशेष-सूची

द्वितीयखण्डान्तर्गत अष्टम अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय तक आये विशिष्ट शब्दों (व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों, लेखों, अभिलेखों, कथाओं, सम्प्रदायों, गणगच्छों इत्यादि के वाचक तथा पारिभाषिक शब्दों) की सूची नीचे दी जा रही है। इसमें पादटिप्पणीगत शब्द भी समाविष्ट हैं। दो पृष्ठांकों के बीच में प्रयुक्त योजक-चिह्न (—) बीच के पृष्ठों का सूचक है।

अ	अजिनोक्त-सवस्त्र-साधुलिङ्गी भट्टारक ५४- ११०
अकर्मक (कर्मरहित) ३६३	अज्ञातपूर्वधर आचार्य (श्वे. जीवसमास के कर्ता) ४३४
अकलङ्कग्रन्थत्रय ५२४	अद्वासमय (काल) ३६४
अकलङ्कदेव (भट्ट) ३४, ४४, १८८, ५२६, ६८९-६९३	अद्वैतवाद ३३३
अकालवर्ष पृथ्वीवल्लभ राजा (कृष्ण तृतीय) २८४, २८५, २८६	अद्वैतानन्द ३३४
अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ का मंत्री २८३	अध्यात्मवाद (निश्चयप्रधान) ३३४
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् ६८६	अनगारधर्मावृत्त (पं० आशाधर) ६०१ — भव्यकुमुदचन्द्रिकाटीका ७९ — ज्ञानदीपिका पंजिका ६०२
अंगुत्तरनिकायपालि १०७, ११५ १४०, ३१०, ३१२, ३२०-३२२, ३२४, ३२५, ३३०	अनन्तवियोजक ३७१, ३७२, ३७७, ३८२
अंगों और पूर्वों का एकदेश २४०, ७३४	अनन्तवियोजक असंयतसम्यग्दृष्टि ३७८
अङ्गोपाङ्गनामकर्म (पुरुषाङ्गोपाङ्ग, स्त्र्यङ्गोपाङ्ग, नपुंसकाङ्गोपाङ्ग) ६३५, ६३६	अनादिमिथ्यादृष्टि को सीधे अप्रमत्त गुणस्थान की प्राप्ति ३८१
अचेलपरम्परा : ७०८	अनिश्चयवाद (संजय बेलट्टपुत्र का मत) ४४३
अजय, अजत (अविरत—श्वे.) ७६७	अनुयोगद्वारसूत्र ५६०, ५५८
अजित तीर्थंकर (पुराणतिलकम् : महाकवि रत्न) १११	अनेकान्त (वस्तुधर्म) ३३९, ४५०
अजितप्रसाद जैन (सम्पादक-शोधादर्श) : १४८	अनेकान्त (मासिक पत्र) ११२, १९७, २१८, २३९, २६३, ५१७, ५२१, ५५०,

७९० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

- ५६८, ६२८, ६९३, ८४८, ८५५,
८७०, ८७५, ८७६, ८८१
- अन्तदीपकन्याय ४०३
- अन्तर २४, २५
- अन्यलिङ्गिमुक्ति-निषेध (देखिये, परतीर्थिक-
मुक्ति-निषेध)
- अपगतवेदी ७१४
- अपगतवेदत्व ७२४, ७५३
- अपभ्रंशप्रयोग ४८५-४८८
- अपभ्रंशीकरण २७१
- अपराजितसंघ ४१
- अपराजितसूरि (विजयोदयाटीकाकार) २७६,
२७७
- अपर्याप्तक ५८२, ५८३
- अपवाइज्जमाण (अप्रवाह्यमान) ७३८, ७४०,
७७९, ७८०, ७८१
- अपवाद (आपवादिक) लिंग—भ्रष्ट
दिगम्बरजैन मुनि का अस्थायी
सचेललिंग ६००
- अप्रशस्त उपशम ३७४-३७६
- अभिधान राजेन्द्र कोष २३४, ४२९
- अभिनवधर्मभूषण यति ७४३
- अभूतार्थनय २०७
- अभेदवाद (एकोपयोगवाद) : (देखिये,
केवलि-उपयोगद्वय)
- अमितसेन (पुन्नाटसंघाग्रणी) ३१०
- अमृतचन्द्र आचार्य १८५, १८६, १८८, १८९,
३३९, ३४७, ३५१
- अमोघवर्ष (सम्राट्) ५३
- अय्यावले ५०० (व्यापारियों का महासंघ)
९९
- अर्धफालक (साधु, संघ, सम्प्रदाय) ५६८
- अर्हत् ऋषि ५९१
- अर्हद्बलि (एकांगधारी) ३६, ४४, ३११,
७२६
- अल्तेम-अभिलेख ३५
- अवसन्न (भ्रष्ट दि० जैन मुनि) ६०१
- अव्याकृतवाद (बुद्धदर्शन) ४४४
- अविनीत (कोङ्गणिमहाधिराज) २६१, २८३,
२८४, २८६
- अशुभपरिणाम ४८०
- अशोक-स्तम्भलेख ४८५, ४८६
- अष्टशती (अकलंकदेव) ५२६, ५२७
- अष्टसहस्री (विद्यानन्द स्वामी) ५०८
- अष्टाध्यायी (पाणिनि) १८१
- आ
- आगमविच्छेद श्वेताम्बरपरम्परा में भी :
४६८
- आचारांग ५८५
— शीलाकाचार्यवृत्ति ५१३, ५३३, ५९७
- आचारांगनिर्युक्ति ४१२, ४१४, ४१५, ५३२,
५५७, ५५९
- आचार्य (तृतीय परमेष्ठी) ११९
- आचार्य (सेवक) ३१, ३२
- आचार्य-पदस्थापना-विधि १२२
- आचार्यभक्ति (कुन्दकुन्द) ४७८
- आचार्य-मतभेद ७५६-७५८
- आतुरप्रत्याख्यान (वीरभद्र) २१७, २७५,
५७५
- आत्मवाद ३३४
- आत्माद्वैत ३३३
- आत्मनिरूपण ४७२

आत्माराम (उपाध्याय, श्वे. मुनि) ३६२
 आदिपुराण ६१, १८४, १८६
 आदिसागर आचार्य, अंकलीकर ११५
 आध्यात्मिक विकासक्रम ३८५, ३८६
 आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्थाएँ ३९०
 आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द स्वामी) ५०२,
 ५२२
 आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) ५०५, ५०८,
 ५२३, ५२७
 आरतीय ४९३
 आरातीयसूरि-चूडामणि (अपराजितसूरि की
 उपाधि) ४९३
 आराधना ४९२
 आराधनाकथाकोश (नेमिदत्त) ४९८,
 ५००
 आराधनानिर्युक्ति २००
 आर्यकृष्ण (बोटिक शिवभूति के गुरु)
 ५१०
 आर्यकुल-भद्रान्वय ४१७
 आर्यनन्दिल (श्वे.) २४१
 आर्यभद्र. ४१४, ४१६
 आर्यमंक्षु-नागहस्ती (दिगम्बर) २४०, २४१,
 ७१३, ७१५, ७२०, ७३०, ७३१,
 ७३४, ७३७, ७५६
 आर्यमंगु- आर्यनागहस्ती (श्वे.) २४१, ७१३,
 ७३६, ७३७
 आर्यरक्षित (श्वे. आचार्य) २४१
 आर्य श्याम (प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता) ७२०
 आवश्यकचूर्णि ५८५, ६१४, ६१६, ६३७
 आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु-द्वितीय, श्वे.)

४१५, ४९४, ५०३, ५२५, ५२८,
 ५२९, ५३१, ५३२, ५६२, ५७५,
 ५८५, ६१६

— हरिभद्रीयवृत्ति ५८९, ६१७

आवश्यकमूलभाष्य ४९०, ४९१, ४९४,
 ५०१

आवश्यकसूत्र-चूर्णि ५०१

आशाधर (पण्डित) ४०

Aspects of Jainology

— Vol. II ३२९

— Vol. III १८६, १८७, २८६, ४५२-
 ४५६, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१,
 ४६२, ४६४-४६८, ४७२, ४७३,
 ४७७, ४७९, ४८२, ४८३

इ

इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (The Indian An-
 tiquary)

— Vol. XX (October, 1891) ६,
 ७, ९, १२, १४-३०, ४५, ४६, ४८,
 ४९, १९६, १९७, २३९, २९२, ३२५,
 ३२६

— Vol. XXI (March, 1892) १८-
 २२, २८-३०, ३२

— Vol. XIV (January, 1885)
 २६१, २९२

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली ४३

Indian Philosophy, Vol. II, (S.
 Rādhākṛishnan) : ४४६

इन्द्रनन्दी (श्रुतावतारकर्ता) १८३, १८६, १९०
 इष्टोपदेश (पूज्यपाद स्वामी) २६६, ४७१,
 ४७४

७९२ / जैनपरम्परा और चापनीयसंघ / खण्ड २

इसिभासिय (ऋषिभाषित) ५९०

ई

ईशावास्योपनिषद् ४४९

उ

उच्छेदवाद ३४२

उज्जयिनी नगरी ८

उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ (परम्परा, सम्प्रदाय) ५४३ (निर्ग्रन्थ शब्द से अभिप्राय), ५४४-५४८, ५६६, ५७९, ७१३, ७१५, ७१६, ७१९, ७२०, ७३६, ७४३, ७६०

उत्तराध्ययनसूत्र २३७, ३६४, ५८५, ५९०, ६६१

उदयचन्द्र जैन (प्रो०) ६६१

उपदेशतरङ्गिणी (हरिभद्रसूरि) ५९०

उपाध्याय (परमेष्ठी) ११९

उपाध्यायपद-दानविधि १२१

उपासकाध्ययन २८०

उमास्वाति ३७, ४४, १८६, २३९

उमास्वामी (उमाप्रभु) ७, १५, ४७

उमास्वामि-श्रावकाचार (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३७

उपपाद ६४३

उपशम (प्रशस्त, अप्रशस्त) ३७४

उपकर्षेति (उपकल्पयन्ति) ८६८, ८६९

उव्वलण (उद्वलन) ७६५

ऊ

ऊर्जयन्तगिरि (गिरिनार पर्वत) ३२, ३३

ऊर्जयन्तगिरि-विवाद ३३

ऋ

ऋग्वेद ३०२, ३०३, ३३५, ४४३

ऋद्धिधारी जिन ५९५

ऋषिभाषित (देखिये, 'इसिभासिय')

ऋषिमण्डलसूत्र ५०३

ए

एकान्त (ऐकान्तिक) अचेलमुक्तिवादी (अचेलमार्गी) निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ, दिगम्बरपरम्परा) ५६८, ५७४, ७१३

ए० चक्रवर्ती नयनार (प्रोफेसर) १९५

ए० एन० उपाध्ये (आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ०, प्रो०) २१८, ३०१, ५५२, ७४२

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ५३७

एरड्डु कट्टे वस्ति-मण्डप-स्तम्भ-अभिलेख ३५

एलवाचार्य २८८, ४५९

एलवाचार्यगुरु ४६०-४६३

एलाचार्य (कुन्दकुन्द) ३६, ४५९-४६२

ऐ

ऐहिककर्म (ज्योतिष, मन्त्रतन्त्र, वैद्यक आदि) ६०

ओ

ओसण्ण (अवसन्न = पासत्थादि पाँच भ्रष्ट मुनियों में से एक) ५८, ५९

क

कंजीपुरम् २९६

कठोपनिषत् ४४९

कड़ब (कड़प) दानपत्र (अभिलेख) ३५, ५४६, ५६५, ५६६

कण्डूर् (काण्डूर, काडूर) गण १११, ११२

कण्ह श्रमण ४९२

कत्तिले बस्ती स्तंभलेख ३९

कन्नड़लिपि ६८५

कपिल खुडुक (क्षुल्लक = नवदीक्षित युवा साधु, श्वेताम्बर) ६४०, ६४१
 कम्भ (राष्ट्रकूट नरेश) २८८
 कम्मपयडीचूर्णि (श्वे०) ७१९
 करकंडुचरिउ (कनकामर मुनि) ५००
 कर्तृत्व-अकर्तृत्व ३४८
 कर्मदहनव्रत १२५, १२६
 कर्मप्रकृति (श्वे.) ७५०, ७५१, ७६५, ७६९
 कर्मप्रकृतिचूर्णि (श्वे०) ७६६, ७६८, ७६९, ७७६
 कर्मप्रकृतिप्राभृत २४७
 कर्मबन्धप्रत्यय ५९२
 कर्मसिद्धान्त ६०६
 कल्पसूत्र ६१४
 — भाषानुवादः आर्यारिल सज्जनश्री ६१५
 — कल्पप्रदीपिकावृत्ति ६०८
 — कल्पलताव्याख्या ६०६, ६१६, ६१७
 — स्थविरावली (थेरावली) ४९१, ५१०, ५४७
 कल्याणविजय (श्वे० मुनि) ३, २४१, २९०, २९१, ३०१, ४९०, ७४५
 कल्लूरगुडु-अभिलेख ३९
 कषायप्राभृत दिगम्बराचार्यों की ही कृति है (लेख-पं० फूलचन्द्र शास्त्री) ७६१
 कसायपाहुड (कषायप्राभृत) १८१, २४१, २४२, २८९, ७१३-७२७, ७३९ (भाग १६), ७४८ (भाग १), ७५० (भाग १३), ७५२, ७५८ (भाग २), ७६१, ७६२ (भाग १), ७६३ (भाग १, भाग २, भाग ८), ७६४ (भाग १) ७६५ (भाग १५), ७७१ (भाग १५), ७८४ (भाग १२)

— चूर्णिसूत्र २४०, ७१५, ७१९, ७३४, ७३९, ७५०, (भा. १४), ७६७ (भा. १५) ७६८, ७६९, ७७०, (भा. १५) ७७२ (भा. १), ७७३ (भा. १, ८, १२), ७७६, ७७७
 — प्रस्तावना (भा. १) ५२, ३०२, ३०४, ३०५, ३०८, ७३८, ७४६, ७४९, ७५१, ७५२, ७५७, ७५८
 — सम्पादकीय वक्तव्य (भाग १/ पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) ७३९, ७४०
 कसायपाहुडसुत्त ७६९
 — प्रस्तावना (पं० हीरालाल शास्त्री) ७४८, ७५२
 कार्तिकेयानुप्रक्षा ५८१
 कालगणना (वीरनिर्वाणानुसार) ३०७, ३०८
 काललब्धि ३७९
 कालवङ्गग्राम २९१
 काव्यप्रकाश (मम्मट) ६४५
 किषु-वेक्कूर (ग्राम) २८७
 कीथ (Keith) ए. बी. ४४६
 कुण्डकुन्दपुर ३११, ५५२
 कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) ८
 कुदेव ६०१, ६०२
 कुन्दकीर्ति (परिकर्म-टीकाकार) ५५२
 कुन्दकुन्द आचार्य ३, ७, १५, ३०, ३६, ३७, ४४, ४७, ५९, ६०, १०९, १८१, १८३-१८९, १९१, १९५, १९७, २०१, ४५५-४६९, ४७९, ४७१-४७९, ४८१-४८५, ४९०, ५३७, ५३८, ५५१, ५५२-५५४ (परिकर्मटीका-कार), ५५५-५५६

७९४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

(षट्खण्डागम-रचनाकाल से उत्तर-वर्ती), ५९९, ६००
 कुन्दकुन्द का मनगढ़ंत जीवनवृत्त ३१८-३२४
 कुन्दकुन्द की गुरुपरम्परा ३११
 कुन्दकुन्दान्वय १२, १४, ३५-३९, १८८, १८९, २३९, २८३, २८४, २८५, २८८, ३०७, ४५५
 कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली ४५
 कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय ३३
 कुन्दकुन्दश्रावकाचार (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३७
 कुन्दकुन्दसन्तान ३९
 कुन्दसेठ-कुन्दलतासेठानी (आचार्य कुन्द-कुन्द के कल्पित माता-पिता) ३१८
 कुन्दकुन्द का समय २९, १९५-५४०
 कुन्दकुन्दसाहित्य ४८२
 कुप्पुटूरू-अभिलेख ३८
 कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव ४५८, ४५९
 कुमारपुर (ग्राम) २८५
 कुलिंग ६०१, ६०२
 कुलिंगी (तापसादि, पार्श्वस्थादि) ५९७, ६०१, ६०२
 कुशील (कुसील) मुनि—प्रसेनिकाकुशील, अप्रसेनिकाकुशील, निमित्तकुशील, आजीवकुशील, कक्वकुशील, प्रपातनकुशील, कौतुककुशील, भूतिकर्मकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनाकुशील ५५-५७, ६०१
 कुष्माण्डिनीदेवती ९५
 कुसुम पटोरिया (डॉ०, श्रीमती) ७५६
 कूर्चक (एक जैन सम्प्रदाय) २९१

कूर्मापुत्र ६२०, ६२४
 के० बी० पाठक (डॉ०) २९०, २९२
 के० आर० चन्द्र (डॉ०) ४८५
 केवलि-उपयोगद्वय
 — क्रमवाद, क्रमपक्ष ५२४-५२८
 — क्रमवाद-पुरस्कर्ता : श्वे. भद्रबाहु द्वितीय (आवश्यकनिर्युक्ति) ५२४, ५२५, ५२६, ५२८, ५३५
 — युगपट्टाद, यौगपद्यवाद, युगपत्पक्ष ५२४-५२८, ५३५
 — अभेदवाद, अभेदपक्ष, एकोपयोगवाद ५२४-५२७, ५३५
 केवलिनी (श्वे०) ६१७
 केशव वर्णी (गोम्मटसार की जीवतत्त्व-प्रदीपिका नामक कर्णाटवृत्ति के कर्ता) ६९६
 कैलाशचन्द्र शास्त्री (पं०) १३३, ३०४, ५५३, ७४९, ७५७
 कोन्नूर-शिलालेख ३८
 कोल्हापुर (कोल्लापुर) ८३, ९६
 कोल्हापुर-शिलालेख १०५
 कौण्डिन्य-कोट्टवीर ४९७, ५६५
 क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं? (लेख—पं० दरबारीलाल जैन कोठिया) ५२१
 क्राणूर (काणूर) गण (दिगम्बरसंघ) ३८, ३९, १११, ११२
 क्षपणा ३७३
 क्षपणासार (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) ११३
 क्षेत्रपाल-पद्मावती १२४

ख

खवगसेढी (श्वे० मुनि श्री गुणरत्नविजय)

७६१, ७६४, ७८३

खुडुक, खुडुग (क्षुल्लक = नवदीक्षित युवा

साधु—श्वे०) ६४०

ग

गजसिंह राठौड़ ३१७

गणधर ७३३

गणधर (आचार्य) ११९

गणेशप्रसाद जी वर्णी (पण्डित) ६८६

गण्डादित्य, गण्डरादित्य (राजा) ८२, ८३-

९१, ९३, १००

गमकगुरु (परम्परागुरु) १८२, ५३८, ५४०

गुण (गुणस्थान) २३६

गुणचन्द्र भटार ३७

गुणद्वारण (षट्खण्डागम) २३६

गुणधर (आचार्य) १८१, २४०, ३३२, ७१३,

७१५, ७३०, ७३१

गणधर-मुखकमल-विनिर्गत ७३४

गुणन्धर (आर्य) ७५६, ७५७

गुणभद्र (आचार्य) १८३, १८५

गुणश्रेणिनिर्जरा (असंख्येय-गुण-निर्जरा)

३७१, ३७२, ३७८

गुणश्रेणिनिर्जरा का काल ३७९

गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र ३७१, ३८३, ३८४, ३८९,

३९०-३९३

गुणश्रेणिनिर्जरास्थान ३७१, ३७२, ३८५, ४११,

६०५

गुणस्थान ३७२, ३८९, ४०३, ५९१

गुणस्थान : ज्ञानदर्शनचारित्ररूप जीवस्वभाव-

विशेष ४२९

गुणस्थान : दर्शनज्ञानचारित्ररूप परम्परा ३९०,
४१९

गुणस्थान : परमप्रासाद-शिखरारोहण-सोपान-
कल्प ४२९

गुणस्थाननाम-सदृश नाम (भगवतीसूत्र और
प्रज्ञापना में) ४३१, ४३२

गुणस्थान मोक्ष के सोपान ३९०, ४१८

गुणस्थानविकासवाद (वादी) ३७१, ३६९,
३८४, ३८५, ३८८, ३८९, ३९१,
३९२, ४११

गुणस्थानसिद्धान्त ३८१, ५८४, ५८६-५८८,
६०६, ६१४, ७१४, ७२३

गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण (डॉ०
सागरमल जैन) ३७७, ३८१, ३८५,
४१५, ५५६

गुणस्थानों के ज्ञाता तीर्थकर ४२६

गुप्तिगुप्त (नामान्तर—अर्हद्वल्लि, विशाखा-
चार्य) ७, १४, २६, २७, ४७, ३११

गुरु को कन्धे पर बैठाकर ले जानेवाला
शिष्य ६१८

गुरुपर्वक्रमवर्णनम् (गुणरत्नसूरि) ४९९

गृध्रपिच्छ (आचार्य, तत्त्वार्थसूत्रकार) ३६,
१८१, १८८

गृहस्थ (गृहलिंगी)-मुक्तिनिषेध ६०४

गृहिलिङ्ग-सिद्ध मरुदेवी-प्रभृति (श्वे०)
६१६

गोम्मटसार ९३

गोम्मटसार कर्मकाण्ड ११२, ११३, ३७७,
६५०

— जीवतत्त्वप्रदीपिका-टीका ७०३

— संस्कृतटीकाकार-प्रशस्ति (गो.का. /
भाग २) ६९६

७९६ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

- जीवकाण्ड ११३, ३९४, ५८२, ६३४, ६७७
- जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीका ३९४, ४१९, ६३३, ६४२, ६९६, ६९७
- प्रस्तावना (पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री—
जीवकाण्ड/भाग १) ६९६
- गौडपाद (शंकराचार्य के गुरु) ४७२, ४७५
- ग्रन्थपरीक्षा (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) १३७
- च**
- चन्दणन्दिभटार २८३, २८४, २८७
- चन्दना-मृगावती ६१६-६१८, ६२३
- चन्देरी (बुन्देलखण्ड) ८
- चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट्) ४४, ५३७, ५३९
- चन्द्रर्षि महत्तर (श्वे०) ७५२
- चर्चासागर (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३२, १३७
- चामुण्डराय (गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री)
९३
- चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्टिलक्षण महापुराण)
९३
- चारणार्द्धि (कुन्दकुन्द) ३५
- चारित्तपाहुड २०२, २११, २२०, २८०, ४२१
- चारित्र ६०४
- सामायिक (गुणस्थान ६, ७, ८, ९)
- छेदोपस्थापना (गुण० ६, ७, ८, ९)
- परिहारविशुद्धि (गुण० ६, ७)
- सूक्ष्मसाम्पराय (गुण० १०)
- यथाख्यात (गुण० ११, १२, १३, १४) ६०४
- चारित्रवृद्धि गुणस्थानक्रम से ६०४
- चारुकीर्ति भट्टारक ९५, ९६, १४८
- चित्तौड़ ९

- चित्रकूटपुर १८३
- चिदरवल्लि-अभिलेख ४३
- चिमनलाल पण्डित (जयपुर) २२
- चैत्यगृह-प्रतिमादि ३०४
- छ**
- छान्दोग्योपनिषद् ३३५, ४४३
- ज**
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जंबुद्वीवपण्णत्ती) १८६,
३२७, ३२८
- जम्बूस्वामी ५६७
- जम्बूस्वामिचरित्र ५२०
- जयधवलालीका ५३, २४०, २७८, २८२,
३७३, ६५१, ६८१, ६८२, ७००,
७०१, ७२७, ७३१, ७३४, ७३५,
७३८, ७७०
- जयसागर मुनि (भट्टारकपट्ट पर अभिषिक्त)
११५
- जयसेन आचार्य १८४, १८८, १९०, २९३,
२९६, २९७
- जहाछन्द (यथाछन्द = पासत्थादि पाँच भ्रष्ट
मुनियों में से एक) ५९
- जिनचन्द्र प्रथम (दि० आचार्य) ७, १४, ४७,
३११
- जिननन्द गणी (आर्य) ४९२
- जिनपालित ३११
- जिनप्रतिमाभास ६०१
- जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख (कमलकुमार जैन)
३३, ३४, ३६, ६३ ६४
- जिनलिंग ५९८
- जिनलिंगकृत पाप ६२
- जिनलिंगाभास ५९८, ६०१, ६०२

जिनसेन आचार्य (हरिवंशपुराणकार) ३१०
 जिनसेन आचार्य (आदिपुराणकार) १८३,
 १८६, २४२
 जिनसेननाम-तृण २७
 जीवनिकाय २३६, २३७
 जीवसमास (गुणस्थान) २३६
 जीवसमास (श्वे० ग्रन्थ) २१७, ३७०, ३७१,
 ४०३, ४२६, ४३१, ४३३, ४३४,
 ४३५, ४३७, ५८५, ५८८, ६२८,
 ७४८, ७४९
 जीवस्थान (चौदह जीवसमास) २३६
 जीवाभिगम ५८५
 जुगलकिशोर मुख्तार (पं०) ३५, १९५,
 २४२, २४४, २९०, २९३, २९९,
 ५४०, ५५०, ५६८
 Gender And Salvation (Padmanabh
 S. Jaini) ६३१, ६६१-६६४, ६६६
 जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
 (देवेन्द्रमुनि शास्त्री) २१६, ५१४,
 ५७५
 जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय
 (लेख—प्रो० हीरालाल जैन) ४८९,
 ४९७, ५१६, ५१७, ५२१
 जैनदर्शन (पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) ४५१
 जैनधर्म (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) १३४
 जैनधर्म का मौलिक इतिहास (आचार्य
 हस्तीमल)
 — भाग २ : ३११, ३२२
 — भाग ३ : ५, ६, ११, १२, ८२, ९६-
 ९९, १०१, ३२२
 — भाग ४ : ३१७, ३२४

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय (डॉ०
 सागरमल जैन) २१६, २३२, २७५,
 ४१७, ५४३-५४९, ५५६, ५५७,
 ५६३, ५६५, ५६७-५७१, ५७३,
 ५७४, ५७५, ५७८, ५८४, ६७२,
 ६७९, ६८०, ६८५, ७१३-७२१,
 ७३०, ७३३, ७३५, ७३६, ७४२,
 ७४३, ७४७, ७४८, ७५२-७५६, ७६०
 जैनधर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा (डॉ०
 सागरमल जैन) ७०६
 जैन निबन्ध रत्नावली (मिलापचन्द्र कटारिया)
 — भाग १ : १०१
 — भाग २ : ७२
 जैन भारती (कविवर गुणभद्र) ८०
 जैन शिलालेख संग्रह (मा.च.)
 — भाग १ : ३५-३७, ३९, ४०, ४२,
 ४४, १७८, २३९, ४९३, ४९७-
 ४९९, ५०३, ५०७, ५१२, ५१४,
 ५३७, ५३९, ५६३
 — भाग २ : ३३, ३५, ३७-३९, २८४,
 २८७, २९५, ३०६, ५६५, ५६६
 — भाग ३ : ३५-३८, ४४, १०५, १०६,
 ११२, २८४, २८८, २९१, ४६१, ४६२
 — भाग ४ (भा. ज्ञा.) : ४५९, ४६०,
 ५६५
 जैनश्रमणाभास ६००
 जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी)
 — प्रथम संस्करण ४९३
 — द्वितीय संस्करण ४०
 जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
 (प्रथम खण्ड, जुगलकिशोर मुख्तार)
 २८३, २९९, ३००, ५४०

७९८ / जैनपरम्परा और थापनीयसंघ / खण्ड २

जैन साहित्य का इतिहास (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री)

— भाग १ : ७३१, ७३७, ७५८

— भाग २ : २९६, ५७६

जैन साहित्य में विकार (पं० बेचरदास) ६२०

जैनसिद्धान्त भास्कर (मासिक पत्र) ७३, २४२ ३२७, ५५३

जैन हितैषी (मासिक पत्र) ६९, ७०, ७४, ७६-८०, ८२, १३६

जैनाचार्य-परम्परा-महिमा (रचयिता—श्रवणबेलगोल के ३१वें भट्टारक श्री चारुकीर्ति) ८२, ८३-८५, ८९-९४, ९६-९८, १११

जैनाभास (गोपुच्छक आदि पाँच) ६०१

जैनाभास (पार्श्वस्थ आदि पाँच) ५५-५९, ६०१

जैनाभास आहारदान के अयोग्य ६०२

जैनभास-प्रतिष्ठापित-जिनप्रतिमा अवन्दनीय ६०१

जैनाभास-लिंग कुलिंग ६०१, ६०२

Jainism In South India & Some Jain Epigraphs ९७

जोइंदुदेव (योगीन्दुदेव) २६२, २६८, २९३, ४७६

जोणिपाहुड (योनिप्राभृत—आचार्य धरसेन) ५४३, ५४७, ५५०, ५६८

जोहरापुरकर (विद्याधर, डॉ०, प्रो०) २२, ३३, ३४

ज्ञाता-(ज्ञातृ)-धर्मकथांग ३६४, ५५७, ५८३, ६०६, ६१३, ६१४, ६२४, ६३६

ज्ञानप्रबोध (ग्रन्थ) ३२८

ज्ञानप्रवाद (पंचम पूर्व) २४०

ज्ञानबिन्दु (उपाध्याय यशोविजय)—प्रस्तावना (पं० सुखलाल संघवी) ५२६, ५२८

ज्ञानप्रवाद—पंचमपूर्व की दसवीं वस्तुसम्बन्धी कषायप्राभृत ७३४

ज्ञानमती (आर्यिकारत्न) २२०

ज्ञानसागर (आचार्य) २९०

ट

ट्टाण (गुणस्थान) २३६

ड

डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ २७५, ४६९, ५१४, ५९०

ढ

ढंढण ऋषि ६१८

त

तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) ११२, १८८, १९१, २०८-२१४, २२९-२३८, ३५०, ३६३, ३६५, ३६९, ३७१, ३८६, ३८८, ३८९, ३९५-३९९, ४०३-४१२, ४२५, ४३०, ४४०, ४७३, ४८२, ५०६, ५५६, ५५७-५६२, ६०७, ६२१, ६२६

तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति (सिद्धसेनगणी) ३७७, ४०७, ६४०, ६४२

तत्त्वार्थराजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक) ३७१, ४३६, ५२६, ५२७, ५७७, ५८७, ६३४, ६४२, ६७६, ६७८, ६९०-६९३, ६९९, ७०२

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरसूरी) ६००

तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित—पं० सुखलाल
संघवी) १८७, २३०, २३१, २३२,
३९५, ४०४
तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय २०८, २०९,
२११, २३४, २३५, २३७, २३८,
३६१, ३६५, ५५८, ५६०, ६२८
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर-
मान्य) ३५७
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (तत्त्वार्थभाष्य) २१२,
२३८, ३४०, ३५०, ३५७, ३८६,
४०३, ५०४, ५६१
तन्त्रान्तर (मतभेद) २४७
तपागच्छपट्टावली ४९७, ४९९, ५००, ५०३
तळवननगर २८३-२८५, २८७, २८८
ताम्रपत्रोत्कीर्ण षट्खण्डागम ६९३
तित्थोगालियपयन्नु (तीर्थोद्गालिक) २०३
तिन्त्रिक (तिन्त्रिणीक) गच्छ ३८
तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) २१५,
२४०-२४२, २४४-२४९, २५३-
२५७, २५९, २६०, ३०८, ४७४,
४७६, ४८१, ५१९, ५४९, ५७५,
६२८, ७२५, ७८४
तीर्थकरनामगोत्रकर्म ५९४, ५९५, ६२५
तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा
७, ५०, १७४, १८६, २१७, २३०,
२४३, २४४, २४७, २६२, ४७४,
५५०, ५५१, ६९६, ७२७
तेरदाल नगर ९६
तेरापन्थ (दिगम्बर) १२४, १३३, १३७
तैत्तिरीय उपनिषद् ४४३
तोरणाचार्य ३७

त्रिलोकसार ६२८
त्रिवर्णाचार (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३२, १३७
त्रिषष्टिपुरुष पुराण ९३
थोण्डमंडलम् २९६
द
दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृत) २०१, २०४-
२०६, २२०, २२७, ३३८, ३६५,
५९९, ६००
— श्रुतसागरटीका ५१, ६५, ६००,
६०१
— २४ वीं गाथा में अवग्रहचिह्न
आवश्यक ६००, ६०१
दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य (पं०)
४९०, ६८९
दर्शनकलाश्री (डॉ०, श्वे० साध्वी) ४२७,
४३१, ४३५, ७०६, ७०७, ७१०
दर्शनसार (आ० देवसेन) १८४, १८६, १९०
दलसुख मालवणिया (पं०) १८७, ३२९,
३४१, ३४६-३४८, ३५१, ३५३
दलिय ७६४
दशवैकालिकसूत्र (श्वे०) ३३१, ३६३,
४८५-४८८, ५८५
दानशाला १०७
दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम (षट्खण्डागम
दिगम्बरग्रन्थ है—डॉ० सागरमल जैन
की स्वीकृति) ७०६
दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी
का संक्षिप्त इतिहास एवं कार्य-
विवरण ७५
दिगम्बरमत-विचार (शतपदी—श्वे० मुनि
महेन्द्रसूरि) ६६

दिगम्बरजैनसंघ (सम्प्रदाय, परम्परा) २९१

दिगम्बरजैन सिद्धान्त दर्पण

— द्वितीय अंश ४९०, ४९७, ५१७,

६१२, ६१८, ६४८, ६५०

— तृतीय अंश ६११, ६८५

दिग्नाग (बौद्धदार्शनिक) ५३४

दीघनिकायपाठि ४४४

दुर्विनीत (गंगवंशी राजा अविनीत का
उत्तराधिकारी, पूज्यपाद का शिष्य)

२६१

देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (श्रीविजयशिवमृगेश-
वर्मा) २९१

देवदत्ता वेश्या २७

देवदूष्य वस्त्र ९५०

देवनन्दी, पूज्यपाद स्वामी, (देखिये, 'पूज्य-
पाद')

देवरहल्लि-अभिलेख ३५

देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण ४६८, ५१०

देवसंघ २७, ३४, ४१

देवसेन (आचार्य, दर्शनसार के कर्ता) १८४,
१९०

देशिय (देशीय, देशी) गण ३५-३९

दोड्ड-कण्णालु-अभिलेख ३८

दोस (द्वेष) ७७३

द्रविळगण-नन्दिसंघ-अरुङ्गल अन्वय ३५

द्रव्यमानुषी (द्रव्यस्त्री) ६५४, ६७८, ६८०

द्रव्यलिंग (द्रव्यवेद) ६०३, ६३२

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र १९०

द्वैताद्वैत-अनेकान्त ३३८

द्वैताद्वैतवादरूप द्वैतवाद (कुन्दकुन्द) ३३३,
३३४, ३४०

ध

धनगिरि (श्वे० आचार्य) ४९१

धर (श्वे० आचार्य) ५४६, ५७१, ५७२

धरसेन (आचार्य) ३११, ३३२, ५४३-
५४६, ५४८-५५१, ५६४, ५६८

धर्मपट्ट ७०

धर्ममंगल (मराठी मासिक पत्रिका) १४७,
१४८

न

नग्न क्षपण (नग्गखवणो) ६०३

नट इलापुत्र ६१९

नन्दि आमनाय, नन्दिसंघ १३, १४, ३४-३७

नन्दिगण (मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय) ३५

नन्दिवृक्ष २७

नन्दिसंघ २७, ३४, ३६, ४१

नन्दिसंघ की गुर्वावली (प्रथम शुभचन्द्रकृत)
४९, १६८-१७४

नन्दिसंघ की पट्टावली (दि इण्डियन
ऐण्टिक्वेरी Vol. XX के अनुसार
हिन्दी में) ७, ८, ९, १०

नन्दिसंघ की पट्टावली (प्रो० हार्नले द्वारा
सम्पादित एवं दि इण्डियन
ऐण्टिक्वेरी Vol. XX में प्रकाशित,
अँगरेजी में) १४-१७, १५७-१६७

नन्दिसंघ की पट्टावली (श्रवणबेलगोल स्तम्भ
लेख) १७५-१७८

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली (दि इण्डियन
ऐण्टिक्वेरी Vol. XX में प्रकाशित,
उसका हिन्दी रूपान्तर) २५, २६,
१५२-१५६, ५४३, ५४६, ५६६, ५६७

नन्दिसंघ की विरुदावली (अज्ञातकर्तृक) ५०

नन्दिसूत्र (नन्दीसूत्र) २४१, २७५, ४३५,
५५८, ५६९, ५७०, ५७२
नन्दिसूत्र की पट्टावली (स्थविरावलि) ५४८
नन्दीवृत्ति (आ० हरिभद्र) २४१
नपुंसकवेद ६३०
नपुंसकवेदनोकषायकर्म ५८३
नपुंसकांगोपांगनामकर्म ६३५, ६३६
नपुंसक (कृत्रिम) षड्विध (वर्द्धितक,
चिप्यित, मन्त्रोपहत, औषधोपहत,
ऋषिशप्त, देवशप्त) ६५४
नरवाहन (भूतबलि) ५७२
नवग्रहविधान १२५
नाइलकुल २०३
नागार्जुन (बौद्धतार्किक) ५३४
नागार्जुन ऋषि (श्वे० भूतदिन के गुरु) ५७२
नाथूराम प्रेमी, पं० १३४, १८६, २९०, ५५०
नितूर-अभिलेख १०६
निदिगि-अभिलेख ३८
निम्बदेव (महासामन्त) ९६, १००
नियमसार २०१, २११, २१९-२२४, २२८,
२३८, २५१, २५९, २६५, २७४,
२९९, ३३९, ३५५-३५९, ३६५,
४७५, ४७७, ४७८, ५२७, ५५३
निर्ग्रन्थ (नग्न) २९१
निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ २९१
निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ, सम्प्रदाय, परम्परा
५६८
निर्युक्ति २००
निशीथचूर्णी ६५३
निशीथभाष्य (विसाहगणि-महत्तर) ६३८,
६५२-६५४

निशीथभाष्य-चूर्ण ६४०
निश्चयनय २०७, ४७०-४७२, ४७५
निह्व ४१६
नीतिसार (इन्द्रनन्दी) ५३, ६०१
नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती) ९३, १११,
११३, २४४, ६८७
नेमिचन्द्र (डॉ०, ज्योतिषाचार्य) १८-२२,
२४२
नैश्चयिक-व्यावहारिकनय (व्याख्याप्रज्ञप्ति)
३६२
नोणमंगल-ताम्रपत्रलेख २८४, २८५
न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन (प्रो० उदयचन्द्र
जैन) ६६१
न्यायदीपिका ५४५
न्यायावतारवार्तिकवृत्ति-प्रस्तावना (पं०
दलसुख मालवणिया) ३२९, ३३०,
३३४, ३४०, ३५१, ३५३, ३५५-
३५८, ३६३

प

पउमचरिय (विमलसूरि) २०३, ४६६
पंचत्थिपाहुड ४५४, ४६३
पञ्चदशी (वेदान्तग्रन्थ) ३३७
पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमण ७२६
पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि महत्तर, श्वे०) ७५१,
७६५-७६९
— मलयगिरिटीका ७६७
पञ्चस्तूपनिवास ४१, ४२
पञ्चास्तिकाय १९०, २०२, २१४, २२०,
२३०-२३२, २३६, २३७, २५९,
२६५, २७८-२८२, २९०, २९१,
२९३, ३३८, ३४१, ३४२, ३५४,

८०२ / जैनपरम्परा और थापनीयसंघ / खण्ड २

- ३५५, ३५८, ३६५, ३६६, ४४२,
४५५, ४५७, ४७७
- समयव्याख्या (आचार्य अमृतचन्द्र)
३४२
- तात्पर्यवृत्ति (आचार्य जयसेन) २९६,
२९७, ३४२, ४५८
- प्रस्तावना (अँग्रेजी—ए० चक्रवर्ती)
१९५, २९४, २९५
- पट्ट ३०
- पट्टकाल ४६
- पट्टधर ४६, ४७
- पट्टाधीश ५
- पट्टारोहणकाल ४६, ४७
- पट्टावली समुच्चय (मुनि दर्शनविजय जी)
४९३, ४९९, ५००
- पट्टावलीसारोद्धार : खण्ड २ > ५०१
- पण्डितदेव (भट्टारक-उपाधि) १०५
- पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दनग्रन्थ
६११, ६४८, ६७८, ६८९
- पण्डिताचार्य (भट्टारक-उपाधि) १०५
- पण्णवणासुत्त (देखिये, 'प्रज्ञापनासूत्र')
- पण्णसवण, पण्णसमण (प्रज्ञाश्रमण) ऋषि
५४७, ५५०, ५६९, ५७०
- पतञ्जलि महर्षि (व्याकरणमहाभाष्यकार)
४४७
- पतञ्जलि महर्षि (योगदर्शनकार) १८१
- पदेसग (प्रदेशपुञ्ज) ७६५
- पद्मनन्दी (बलात्कारगणाग्रणी भट्टारक) ३३
- पद्मनन्दी भट्टारक (पदवी) ३२
- पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) ३५, ३६, १८६,
३११, ३१२
- पद्मनन्दी (जंबुदीवपण्णत्तीकार) ३२७
- पद्मनाभ एस० जैनी ६३१
- पद्मप्रभमलधारिदेव २९९
- पद्मावतीदेवी १२४
- पन्नालाल सोनी (पं०, न्यायसिद्धान्तशास्त्री)
६४७, ६५०, ६७६, ६७७, ६९४
- परतीर्थ ५९८
- परतीर्थिक, अन्यतीर्थिक, परशासन, अन्य-
लिंगी-मुक्तिनिषेध ५८९
- परमभट्टारक ५२, ५३
- परमात्मप्रकाश ६०, २६०-२६३, २६८-
२७०, २७२, २७३, २९३, ४५७,
४७१, ४७४, ४७६, ४८१-४८४
- प्रस्तावना (डॉ० ए० एन० उपाध्ये)
२६३
- परमानन्द (पं०, शास्त्री) ४९०
- परमार्थनय २०७, ४७०
- परम्पराशिष्य १८३
- परसमय ४७७, ४७८, ४७९
- परस्परविरुद्ध धर्म ४४७
- परिकर्म (षट्खण्डागम-टीका) १९०, ३११,
४६५, ५५१-५५४
- परिहारसंयम, परिहारसंयत ९६७, ९६८
- परीतसंसारी (भावश्रमण शिवकुमार) ५२०
- पवाइज्जमाण (प्रवाह्यमान) ७३९, ७४०,
७७९, ७८०, ७८१
- पसण्णमन (प्रसन्नमन) ५६९, ५७०
- पाक्षिकसूत्र (श्वे० ग्रन्थ) ४३५
- पाणिनि १८१
- पाण्डवपुराण १७४
- पातञ्जल महाभाष्य ६४८

पातञ्जलयोगदर्शन-भाष्य (व्यास) ४४८
 पात्रकेसरी स्वामी (पात्रस्वामी) ५२३
 पारियत्त (पारियात्र देश) ३२७
 पार्श्वनाथ ५३३, ५३४
 पार्श्वनाथचरित (वादिराज सूरि) ५०२, ५२२
 पार्श्वस्थ (पासस्थ) ५५, ३०५, ६०१
 पार्श्वस्थपंचक ५५, ५६, ४६४, ६०१
 पार्श्वस्थादिधृत जिनलिंग कुलिंग ६०१
 पार्श्वार्थ्युदय (जिनसेन) १८४
 पाल्यकीर्ति शाकटायन ६३१, ६४५, ६६१,
 ६६५-६७०, ६८४, ७०९
 पिण्डनिर्युक्ति ५२९, ५३०
 — मलयगिरिवृत्ति ५०३
 पी० बी० देसाई, डॉ० ९७, ९८
 पीटर्सन (Peterson), प्रो० १८, १९, २०,
 ३२, १९६
 Peterson's Fourth Report on San-
 skrit Manuscripts. १९६
 पुरातन-जैनवाक्य-सूची २१८, २४२
 पुरुषनामगोत्रकर्म ६१३
 पुरुषांगोपांगनामकर्म ६३५, ६३६
 पुरुषवेद ६२९, ६३०
 पुरुषवेद (पुंवेद)-नोकषायकर्म ५८३
 पुष्पदन्त (षट्खण्डागमकार) १८१, १८२,
 ३११, ३३२, ५४४, ५४५, ५४७,
 ५४८, ५५१, ५७०, ५७१
 पुसगिरि ५४७, ५४८, ५७०, ५७१
 पुस्तकगच्छ ३५-३८
 पूज्यपाद (देवनन्दी) ४४, १८१, १८८, १९१,
 २६१, २६३, ४७१ ४७४, ५२६, ६८७
 पृथिवीकायिक नामकर्म ६३५

पेज्ज ७७३
 पेज्जदोसपाहुड २४०, ७२७, ७३४
 प्रकरणरत्नाकर (श्वे० ग्रन्थ) ६०७, ६५७,
 ६५८
 प्रकीर्णक साहित्य (ग्रन्थ—श्वे०) ५७६,
 ५८५
 प्रज्ञापनासूत्र, पणवणासुत्त, पन्नवणासुत्त
 (श्वे० ग्रन्थ) ३६१, ५२५, ५६२,
 ५७५, ५८५, ५८६, ६३९, ६५६,
 ६५९
 — प्रस्तावना ३६०
 प्रतिष्ठापाठ (महिपाल पण्डित-रचित)
 ३१७, ३२२-३२६
 प्रवचनसार ५९, १८४, १८९, २०२-२०४,
 २१४, २२०, २२१, २२६, २३०,
 २४८-२५०, २५४-२५९, २६४,
 २७०, २७६, २७७, २८०-२८२,
 २८९, २९३, २९४, ३०५, ३४५,
 ३५३-३५८, ४५५, ४७७, ४७८,
 ५०६, ५५५
 — तात्पर्यवृत्ति (आचार्य जयसेन) ७१,
 १८९, १९०, २९७, २९८
 — प्रस्तावना (अँगरेजी—डॉ० ए० एन०
 उपाध्ये) १७४, ३०१, ४५६, ४८५,
 ५०७, ५३८, ५५२
 प्रवचनसारोद्धार (श्वे० ग्रन्थ) ६०६, ६१०,
 ६१४, ६५१
 — वृत्ति (सिद्धसेन सूरि शेखर) ६१२,
 ६३९, ६४१, ६५३-६५५
 प्रवर्तक ११९, २१८
 प्रशस्त उपशम ३७४

८०४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की
अवधारणा (श्वे० साध्वी दर्शन-
कलाश्री) ४२७, ४३५, ७०६-७०८
प्राकृतलक्षण (वैयाकरण चण्डकृत) २६२
पुण्ड्रवर्धनपुर ७२६

फ

फल्गुमित्र, फगुमित्त (श्वेताम्बराचार्य) ४९१
FIRE (दीपा मैहता द्वारा निर्मित फिल्म)
६३३

फीरोजशाह (बादशाह) ६९
फूलचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य (पं०) ३३,
३६, २४२, ६४८, ६८६, ७००, ७६१

ब

बदणेगुप्ते (ग्राम) २८३, २८४, २८५, २८८
बनारसीदास (पं०, कवि) १३३
बलगारगण (बलात्कारगण) ३३
बलाकपिच्छ ४४, १९७
बलात्कारगण १२, १३, १४, ३३, ३६
बहिरात्मादि भेद ४८३
बाणभट्ट ५२
बादरायण व्यास ४४६, ४५०
बारस-अणुवेक्खा २०१, २०२, २०८, २१८,
२१९, २२२, २६४, २७७, २७८,
४२१

बालचन्द्र (पं०, शास्त्री) २०८, ५५२
बीजबुद्धि (तुषमाषघोषक शिवभूति) ५१९,
५२०

बुन्देलखण्ड १३६
बुहारी लगानेवाली वृद्धा ६१८
बूढी चँदैरी (गुना, म.प्र.) अभिलेख ३६
बृहट्टिप्पणिका (ग्रन्थसूची) ५५०

बृहत्कल्प-पीठिका-मलयगिरिवृत्ति ५१३
बृहत्कल्पसूत्र
— लघुभाष्य (संघदासगणी) ६४०
— लघुभाष्य-क्षेमकीर्तिवृत्ति ६३९, ६५५
बृहत्संग्रहणी (जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण)
५७५, ५७६, ५७७

बृहदारण्यकोपनिषद् ३३५
— शांकरभाष्य ३३५
बृहद्द्रव्यसंग्रह-ब्रह्मदेववृत्ति ५२९
बेचरदास (पं०) ५५०, ५६८
बेड़िया (गुजरात) अतिशय क्षेत्र ११५
बोटिक, बोडिय (संघ, सम्प्रदाय) ३३०,
३३१, ४९०

बोटिकनिहव ४१६
बोधपाहुड (बोधप्राभृत) २२०, ३०४, ३०५,
५०२, ५०६, ५३८, ५४०
बौद्धमत ३४२, ३४३, ३४४

ब्रह्मदेवसूरि ६०
ब्रह्मवाद ३३४
ब्रह्मसूत्र (बादरायण व्यास) ४४६
— शांकर भाष्य ३३६, ३३७, ४४७

ब्रह्माद्वैत ३३३, ३३४

भ

भक्तपरिज्ञा (भक्तपरिण्णा) २०३, २१७, २७५,
५७६

भगवती-आराधना (जैन सं० सं० सं०
सोलापुर) ५५, १९१, १९७-२०७,
२०९-२११, २१४, २७४, ४८०,
४९२-४९६, ५१९, ५२७, ५७७

— विजयोदयाटीका (अपराजितसूरि)
५६-५९, २७५-२७७, ४९३

भगवती सूत्र (देखिये, 'व्याख्याप्रज्ञाप्ति')

भगवतीसूत्र : एक परिशीलन (देवेन्द्र मुनि शास्त्री) ४४४, ५८५

भगवान् महावीर का अचेलकधर्म (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) ५९७

भट्ट प्रभाकर २९३

भट्ट, भटार, भट्टार, भट्टारक, (पूज्यता, विद्वत्ता एवं सम्मान-सूचक उपाधि) ५२-५४, ३०६

भट्टारक (अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिङ्गी धर्म-गुरु, सम्प्रदाय, परम्परा) ३९-४३, ५४, ५५, ६०, ६३, ६४, ६५

— उपाधियाँ : स्वामी, जगद्गुरु, कर्म-योगी, पण्डिताचार्य, धर्मगुरु, राजगुरु, स्वस्ति ६२, ६३, ७०, ७२, ७६, १०१, १०४, १०६, १०७

भट्टारकचर्चा (पुस्तक) ७६, ८०, १४७

भट्टारकपदस्थापनाविधि ११५, ११६, १२०

भट्टारकप्रथा ४५, ४६

भट्टारकशीपांसा (पं० दीपचन्द्र वर्मा) ७६

भट्टारकशासन १३६

भट्टारकपरम्परा (आ० हस्तीमल-कल्पित) ४-१२, ४५, ४६, ५०, १०२-१०४, १०७-१०९

भट्टारकसम्प्रदाय (ग्रन्थ—प्रो० जोहरापुरकर) ११, ३३, ३९, ४८, ४९, ५०, ७२, १०१, १८५

भट्टारकोत्पत्तिकथा ८२

भट्टिलपुर १९

भद्लपुर १४, १७, १९, १५७

भद्लपुरी १९

भद्लपुर ७, १९

भद्रबाहु द्वितीय (दिगम्बर) २६-२९, ४७, ३११, ४८९, ५११, ५४०

भद्रबाहु द्वितीय (श्वे०, निर्युक्तिकार) ४१४, ४१५, ४८९, ५२८, ५३५

भद्रबाहु श्रुतकेवली ४२, ४४, १८२, १८७, १९१, ४३७, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०

भद्रबाहुसंहिता (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३७

भद्रसंघ ४२

भव्य-अभव्य (वस्तुधर्म) ३४१, ३४२

भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना ५५०, ५६८

भारती (सरस्वती) ३३

भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ-परिचय मध्यप्रदेश : १३ वीं शती तक (डॉ० कस्तुरचन्द्र 'सुमन') ६३, ६४

भावनपुंसक ६५५, ६८१

भावनपुंसकत्व ६८१

भावनक्षेप ३३४

भावनिग्रन्थ ९७

भावनैग्रन्थ्य (भावनिग्रन्थधर्म) ८८, ८९, ९७, १०१

भावपरिग्रह ८३०

भावपाहुड (भावप्राभृत) ५५, ५९, २१९, २२२, २३५-२३७, २६६, २८२, ३०१, ३०४, ३४५, ३५६, ४२१, ४७४, ४९४, ४९५, ६०३

— श्रुतसागरटीका ६०३

भावमानुषी (भावस्त्री) ५७९, ६६८, ६७८

भावलिङ्ग (श्वे०) ५९७

८०६ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

भावलिंग (दिगम्बर) ६०३, ६२९, ६३२
 भाववेद ६२९
 भावसंग्रह (वामदेव) ९६९
 भावस्त्रीवेद ६६८
 भावेन्द्रिय-द्रव्येन्द्रिय ६९९, ७००
 भूतदिग्ग ५४७, ५४८, ५७०, ५७१
 भूतबलि १८१, १८२, ५४३, ५४४, ५४७,
 ५४८, ५५१, ५७०, ५७१
 भूतार्थनय २०७, ४७०
 भूरामल ब्रह्मचारी (आचार्य ज्ञानसागर जी)
 ५३७
 भेलसा (भूपाल=भोपाल) ८
 म
 एम० ए० ढाकी (प्रोफेसर) १८६, १८७,
 २८६, ४५२-४६४, ४६७, ४७२,
 ४७७, ४७९, ४८२
 मज्झिमनिकायपाठि ४४४, ४५१
 मणुसिणी (देखिये 'मनुष्यिनी')
 मण्णे अभिलेख (क्र. १२२) ३७, २८७, २९५
 — (क्र. १२३) ३७
 मथुरागम ६६१, ६६५
 मथुरा-शिलालेख ३०८, ५४८, ५५०
 मदने-अभिलेख १०७
 मध्यदीपक न्याय ४०४
 मनुष्य (१. भावपुरुषवेदी द्रव्यपुरुष, २.
 भावनपुंसकवेदी द्रव्यपुरुष, ३.
 द्रव्यनपुंसक मनुष्य) ६५१, ६८०,
 ६८१, ६८२
 मनुष्य पर्याप्त (भावपुरुषवेदी एवं भाव-
 नपुंसकवेदी द्रव्यपुरुष) ६८१

मनुष्यिनी, मणुसिणी, मानुषी (मनुष्यजातीय
 द्रव्यस्त्री) ५७९, ६४१, ६४२, ६४४-
 ६४७, ६६८, ६६९, ६७२-६७७,
 ६८७, ६८८, ७०५
 मनुष्यिनी, मणुसिणी, मणुस्सी, मानुषी
 (मनुष्यजातीय भावस्त्री अर्थात् शरीर
 से पुरुष किन्तु भाव से स्त्री) ५४४,
 ५७९, ५८०, ५८२ (मनुष्यिनीसंज्ञा
 विग्रहगति में), ६४१, ६४२, ६४४-
 ६४८, ६५०, ६५१, ६५८, ६५९,
 ६६७, ६६८, ६७१, ६७२-६७७,
 ६८१, ६८४, ६८८, ६९६, ७०५
 मन्त्रतन्त्रशक्ति ५५०
 मन्दिरमठवासी मुनिपरम्परा १०१
 मयीडवोलु-दानपत्र २९६
 मरुदेवी ६१४, ६१५, ६१६, ६२२
 मर्कराताम्रपत्रलेख ३७, २८३, २८५-२८७,
 २८९, ३०६, ३०७, ४५५
 मलयगिरि (श्वे. मुनि) ७५२
 मल्लवादी (सन्मतितर्क के टीकाकार, श्वे०)
 ४६८, ४६९, ४७२
 मल्लितीर्थकर ५८३
 महाकर्मप्रकृतिप्राभृत २४७, ५४४, ५४५, ५७३
 महाप्रत्याख्यान २१७, ४६६
 महाबल (राजकुमार) ५८३, ६०५, ६०६
 महाभारत ३०४
 महावाचक ७५८
 महावीरभट्टारक ५३
 महिपाल पण्डित ३१६
 महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज' डॉ० > ११५
 माइल्ल धवल १९०

माउयाणुयोग (मातृकानुयोग) २३४
 मांसाशन (आपवादिक—श्वे०) ३३०, ४६५
 माघनन्दी (आचार्य, एकांगधारी) २७, ३११
 माघनन्दी प्रथम (इण्डि. ऐपिट. पट्टावली)
 ७, १४, ४६, ४७, ४८
 माघनन्दी (कोल्हापुर के महाराजा गण्डादित्य
 के गुरु) ८२-८४, ८७-९०, ९६,
 ९९, १००
 माध्यमिककारिका (नागार्जुन) ३५८
 मान्यनगर-अर्हदायतन २८६, २८७
 मारसिंह द्वितीय (गंगवशी राजा) २८६
 मालियक्के (एक भट्टारक की गृहस्थशिष्या)
 १०६
 मित्रनन्दिगणी ४९२
 मिलापचन्द्र कटारिया (पं०) ७२
 मीडिएवल जैनिज्म (सालेतोरे) २८८
 मीमांसाश्लोकवार्तिक (कुमारिल भट्ट) ४४८,
 ४४९
 मुकुटसप्तमीव्रत (भट्टारकप्रचलित) १२५,
 १३२
 मुण्डकोपनिषत् ३३५
 मुनिचक्रवर्ती १०९
 मुनिलिंगाभास ६०२
 मूडबिद्री ६८६, ६८७, ६८९, ७६४
 मूर्च्छा, राग, इच्छा, ममत्व—एकार्थक ७५८,
 ७५९
 मूलसंघ १३, १४, ३३, ३५, ३६, ३८, ३९,
 २८५
 मूलसंघीय-नन्दिसंघ ५६५
 मूलाचार ५५, ११९, २०७-२२९, २३७,
 २७४, २८९, ४२३, ४६६, ४७३,
 ४८१, ५७६, ६५६, ६५७

— आचारवृत्ति (आ० वसुनन्दी) २२३,
 ४७०
 मृगचरित्र (यथाछन्द=भ्रष्ट दि० जैन मुनि)
 ५९
 मेषपाषाणगच्छ (कुन्दकुन्दान्वय) ३९
 मैक्समूलर ४४६
 मोख्रपाहुड २०६, २२२, २६६, २६७, २७१,
 ३५५, ५०७
 — श्रुतसागरटीका ६२, ४६०
 मोटी साधु वन्दना : (श्वे० ग्रन्थ) ६१९
 मोनियर मोनियर विलिअम्स संस्कृत-इंग्लिश
 डिक्शनरी १२०
 मोहनीय के ५२ नाम ७५८, ७५९

य

यति ७१४, ७१८, ७४५
 यतिग्रामाग्रणी (भदन्त शाकटायन) ७१८,
 ७४२, ७४३
 यतिवृषभ (आचार्य) २१५, २४०, २४३,
 २४७, ७१३, ७१४, ७१५, ७१८,
 ७१९, ७२५, ७३०, ७३४, ७४१,
 ७४२, ७४८
 यतिसम्मेलन ७२६
 यथाछन्द (जहाछंद = भ्रष्ट दि० जैन मुनि)
 ६०१
 यशस्तिलकचम्पू (सोमदेवसूरि) ५९८
 — श्रुतसागरटीका ५०
 यापनीय (मत, मुनि, आचार्य, संघ, सम्प्रदाय,
 परम्परा) १११, ११३, २९१
 यापनीयग्रन्थ ५४३
 यापनीय-नन्दिसंघ ३५, ५६५
 यापनीय-नन्दिसंघ-पुनागवृक्षमूलगण ५४६,
 ५६४, ५६५

'Yāpanīya Saṅgha, a Jain Sect'

(Bombay University Journal,

May 1933)—Dr. A.N.

Upādhye ५०६

यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण ५६५

युगपद्वाद, यौगपद्यवाद, युगपत्यक्ष (देखिये,
केवलि-उपयोगद्वय)

युक्तिप्रबोध (श्वे० आ० मेघविजय जी)

१३३

युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) ३४०

योगदर्शन (पतञ्जलि) १८१

योगसार (जोइन्दुदेव) २६१, २६८, २७१,

२७२, ४८३

योनिमती ७०१

र

रणावलोक कम्भराज (राष्ट्रकूट शासक)

४५८

रतनचन्द्र जैन मुख्तार (पण्डित) : व्यक्तित्व

एवं कृतित्व, भाग १ : ३७४, ३७५,

७०२

रत्नकरण्डश्रावकाचार ५०८, ६७७, ६९१,

७०२

— भूमिका (पं० जुगलकिशोर मुख्तार)

५०८

रथवीरपुर (रहवीरपुर) ४९६

रन्न (महाकवि) १११

रयणसार ३०४, ३०५

राचमल्ल, राजमल्ल (गंगवंशी नरेश, इनके

महामंत्री चामुण्डराय थे) ९२

राजवार्तिक भाष्य (तत्त्वार्थराजवार्तिक) १८६

राजाराम जैन (प्रो०, डॉ०) ४८५, ४८६

रामप्रसाद शास्त्री (पं०) ६१०, ६८८

रामायण (वाल्मीकि) १८१

रिचार्ड पिशल (डॉ०) ४८७

रूपनारायण वसदि (कोल्हापुर) ९६

ल

लब्धिसार (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) ११३,

२४४, ३७५, ३७६, ३८२

ललितविस्तरा (हरिभद्रसूरि) ३९०, ४१९,

६०५, ६१६

लिंगपाहुड (कुन्दकुन्द) ६०, २२०, २२७,

३०४, ३०५, ४६४

लिङ्गप्राभृतोक्त शिथिलाचार ४६४ .

लीलावती जैन, सौ० (सम्पा.—धर्ममंगल)

१४७

लोकविनिश्चय (ग्रन्थ) २४२, २४३

लोकविभाग २४२, २४३, २९९, ३००

लोकसेन (आचार्य) १८३

लोकानुगामिनी दृष्टि ६७१

लोकानुयोग-विषयक-प्रकरणसमूह २९९

लोकानुसारिणी चक्षु ६७१

लोयपाहुड २९९

लोहाचार्य द्वितीय ७, १५, ४७

लोहार्य (लोहाचार्य) ३१०, ३११, ३३२

लौकिक मुनि ५९, १८२

लौकिक व्रत (भट्टारकसम्प्रदाय-प्रवर्तित)—

रविव्रत, रोहिणीव्रत, मुकुटसप्तमीव्रत,

आकाशपंचमीव्रत, सुगन्धदशमीव्रत,

कोकिलापंचमीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत,

नवग्रहविधान आदि १२५

व

वक्रगच्छ (कुन्दकुन्दान्वय) ३९

वक्रग्रीव (कुन्दकुन्द) ३६

- वज्रनन्दी (पूज्यपाद का शिष्य, द्राविड़संघ-
संस्थापक) १९६, २६१
- वट्टकेर (आचार्य) २१५, ४७५
- वदनोगुप्ते-ताम्रपट्ट-दानपत्र ४५९, ४६०
- वरांगचरित (जटासिंहनन्दी) २७३-२७५,
४७१, ६२८
- वराहमिहिर (ज्योतिर्विद) ४१४, ५३५
- वरिसवर (श्वेताम्बर-कर्मग्रन्थों का विशिष्ट
शब्द) ७६५
- वर्धमानगुरु २८८, ४५९, ४६३
- वल्लाल (महाराज) ९५
- वंशीधर व्याकरणाचार्य, पं० ६४८, ६७८,
६८७
- वसन्तकीर्ति, दि० जैनाचार्य (आगमविरुद्ध
अपवादवेष-प्रवर्तक) २०, ४८,
६००
- वसुनन्दी आचार्य (सैद्धान्तिक) १९६
- वसुनन्दी-श्रावकाचार ३९
- वाक्पदीय (भर्तृहरि) ६४५
- वागेश्वरी (सरस्वती) ३३
- वाचक (पद) ७५७, ७५८ (पूर्वविद्),
७७८ (वाचना देनेवाला)
- वाटग्राम १८३
- वाणारसीमत १३३
- वात्सल्यरत्नाकर (द्वि.खं.) ६८६
- वारानगर, वारा, वारां ९, १६०, ३१८, ३२७
- वाल्मीकि (रामायणकार) १८१
- विक्रमादित्य राजा (ईसापूर्व ५७) २७
- विक्रमोर्वशीयम् (नाटक—कालिदास) ४८७
- विक्रान्तकौरवीय नाटक ४९८
- विग्रहगति ५८१, ५८२
- विजयनगर-दीपस्तम्भलेख ३६, ४६१
- विजहना २०१
- विज्ञान-अविज्ञान (वस्तुधर्म) ३४१, ३४२
- विज्ञानाद्वैत ३३३, ३३४
- विद्याधर जोहरापुरकर (देखिये 'जोहरापुर-
कर')
- विनयन्धर ३१०, ३११
- विबुधश्रीधर (श्रुतावतार के कर्ता) ५५२,
५६६, ५६७, ५७२
- विरहदिन २४, २५
- विविधदीक्षा-संस्कारविधि (भट्टारक-सम्प्र-
दाय द्वारा रचित) ११५, १२२
- विशेषणवती (जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण)
५२५, ५२६
- विशेषावश्यकभाष्य २४४, ५१०, ५११, ५७५,
५८९, ५९७, ६३७
— हेमचन्द्रवृत्ति ५८९, ५९७, ६०३, ६३८,
६४१
- विष्णु (वैदिक देवता) ३०२, ३०३
- विष्णुकर्तृत्ववाद ३०१, ३०२
- विसंयोजना ३७३, ३७४, ३७७, ३७८
- विसंयोजना और अप्रशस्त उपशम में कथं-
चित् साम्य (संक्रमण की अपेक्षा)
३७६
- विसंयोजना और उपशम में भेद ३७४
- विसंयोजना और क्षपणा में भेद ३७३
- विसंयोजना द्वितीयोपशम एवं क्षायिक
सम्यग्दर्शनों में ३७६, ३७७
- वीरनिर्वाण संवत् ४१६
- वीरवर्धमानचरित (भट्टारक सकलकीर्ति)
७३, १८५

वीरसङ्घ ४१

वीरसेन स्वामी (धवलाकार) १८२-१८८,
२४०, ४७५, ६८६, ६९०

वृषभसंघ २७

वेद (लिङ्ग) ६२९, ६३०

वेदत्रय ६२९, ७२२

वेदपुरुष (वेदवैषम्ययुक्त पुरुष) ६३७

वेदवैषम्य (श्वेताम्बरग्रंथों में) ६३७-६४१,
७२२

वेदवैषम्य ६३२-६५०, ६६०, ६६१, ६६७,
३६९, ६९६, ६९८, ६९९, ७०२

वेदान्त ४७३

वेदान्तसार (सदानन्द) ३३५

वेदान्तिक दृष्टि ४७३, ४७५

वैशेषिकसूत्र ४४८

वैशेषिकसूत्रोपस्कार (शंकरमिश्र) ४४८

व्यवहारनय २०७, ४७०, ४७१, ४७५

व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) ४४७

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) २०८, २१०,
२३७, ३६२, ३९९, ४४२, ७५९

श

शङ्कराचार्य ४७२

शतपदी (कर्त्ता—श्वे. मुनि श्री महेन्द्र सूरि)
६५, ६८, ६९

शब्दावतार (पूज्यपाद स्वामी) २६१

शाकटायन (पाल्यकीर्ति) (देखिये, 'पाल्य-
कीर्ति')

शाक्ति (शाक्तिकुमार, वाराणगर का राजा) ३२७

शान्तिसागर जी (आचार्य) ६८६

शारदा (सरस्वती) ३३

शाश्वत-उच्छेद (वस्तुधर्म) ३४१, ३४२

शाश्वतवाद ३४२

शिथिलाचार ३०४, ३०५

शिवकुमार (भावश्रमण) ४९५, ५२०

शिवकुमारमहाराज (मुनि) १८९, २९१-
२९३, २९६-२९८, ४५६

शिवगुप्तगणी ४९२

शिवभूति (बोटिक) ४८९, ५१०

शिवभूति (श्वे० कल्पसूत्र-स्थविरावली)
४८९, ४९१, ५१०

शिवभूति (तुषमाष-घोषक दिगम्बर मुनि)
४८९, ४९३

शिवभूति और शिवार्य (लेख—प्रो० हीरालाल
जैन) ४९०

शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार (लेख—
पं० परमानन्द जैन शास्त्री) ५१७

शिवमृगेश वर्मा (कदम्बवंशीय राजा) २९१

शिवस्कन्द वर्मा (पल्लवराज) २९४, २९६

शिवार्य (भगवती-आराधनाकार) १८७,
४८९, ५११

शीतलमति आर्यिका ११५, ११६

शुद्धनय २०७, ४६९

शुद्धोपयोग ४७९, ४८०

शुद्धोपयोग के नामान्तर ४८० (शुद्धमनोयोग,
मनोगप्ति, विशुद्धात्मा, भावशुद्धि),
४८१ (शुद्धभाव, पारमार्थिक विशुद्धि,
आत्मविशुद्धि), ४८२ (शुद्धपरिणाम,
परमसमाधि, शुद्धप्रयोग)

शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग ३४८, ४८०

शुभचन्द्र (प्रथम) कृत गुर्वावली ३३, ४२,
२३९, ३२६

शून्य-अशून्य (वस्तुधर्म) ३४१, ३४२

शून्यवाद ३४२
 शून्याद्वैत ३३४
 शोधादर्श (पत्रिका)—(अंक ३४, मार्च १९९८) १४८, १४९
 शौरसेनी प्राकृत ७२५
 शौरसेनीकरण ७१४, ७४३
 श्यामाचार्य (पण्णवणासुत = प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता) ६३९
 श्रमण (मासिक पत्र) ४८५
 श्रमण भगवान् महावीर (मुनि कल्याण-विजय) ३, २९०, २९१, २९९, ३०४, ३०६, ३०८, ४९०
 श्रवणबेलगोल ९३
 श्रवणबेलगोल-सिद्धरबस्ती-स्तम्भलेख (क्र. १०५/२५४) ३६
 श्रवणबेलगोल-सिद्धरबस्ती-स्तम्भ-लेख (क्र. १०८/२५८) ३५, ३७
 श्रीकित्याचार्य (यापनीय) ५६६
 श्रीविजयजिनालय २८३-२९०
 श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा (कदम्बवंश) २९१-२९३
 श्रीविजय (सेनापति) २८६
 श्रुतकेवली ४७३
 श्रुतसागर सूरि (भट्टारक, १५वीं शती ई०) ५०, १९१, ६०१
 श्रुतावतार (इन्द्रनन्दी) ४१, १८३, १८६, १९०, ५५१, ७३२, ७७९, ७८५
 श्रुतावतार (विबुधश्रीधर) ५५२, ७३२
 शृंगारशतक (भर्तृहरि) २७५
 श्लोकवार्तिक (आ० विद्यानन्द) १८६

श्वेतपट (सेयवडो) ६०३
 श्वेतपटमहाश्रमणसंघ २९१
 श्वेतपटसंघ (सर्वथा सचेतमुक्तिवादी) ५६८
 श्वेताम्बर आगम साहित्य ४६९
 श्वेताम्बरमत में दीक्षा के अयोग्य पुरुषों, स्त्रियों, नपुंसकों की संख्या एवं प्रकार ६५२-६५५
 श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा (उत्तर-भारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा) ५४३, ७१४, ७२०
 श्वेताश्वतरोपनिषद् ४४९

ष

षट्खण्डागम (छक्खंडागम) १८१, १८३, २३६, २८९, ५४३, ५४४, ५४८-५६२, ६६१, ६६२, ६६४, ६६५, ६८५ (तीन कन्नड़ प्रतियाँ), ६८६, ६९३ (ताम्रपत्रोत्कीर्ण), ७०६, ७२७
 — पुस्तक १ : ३६५, ३७७, ३९३, ४१३, ५५४, ५८१, ५९१, ५९२, ६०४, ६१३, ६३२, ६४४, ६५२, ६७४, ६८१, ६८३, ६९१, ७००
 — पुस्तक ४ : ६२२, ६४३
 — पुस्तक ५ : ३७४, ५६०, ६२८
 — पुस्तक ६ : ५९२, ५९४, ६११, ६१२, ६१३, ६२१, ६२९
 — पुस्तक ७ : ४१३, ५६०, ५८२, ६०४, ६२७, ७७२
 — पुस्तक ८ : ५९४, ५९५, ६२२, ६२५, ६४९, ६५०
 — पुस्तक ९ : ५५०, ५९५
 — पुस्तक ११ : ६५६, ६५७

८१२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

- पुस्तक १२ : ४१३, ५९२, ६०५, ६२२, ६२३
- पुस्तक १३ : ५२६, ५५३, ५९३, ६२२
- पुस्तक १४ : ५९३
- धवलाटीका (आचार्य वीरसेन)
- पुस्तक १ : १८२, २७९, २८०, ३३२, ३७४, ३७६, ३९०, ४०३, ४१८, ४१९, ४४९, ५५०, ५८२, ६३३, ६७४
- पुस्तक २ : ५८३, ६४४, ६७५, ६८०, ६८२
- पुस्तक ३ : २४०, २८१, ४७५, ६३५, ६३६
- पुस्तक ४ : १८८, २७९, ६३२
- पुस्तक ५ : ३७४, ३८१
- पुस्तक ६ : २८२, ७६५
- पुस्तक ७ : ५८२, ६०४
- पुस्तक ८ : २८१, ६४६, ६४९, ६५०, ६५२, ७०३
- पुस्तक ९ : १८८, २८०, ३४१
- पुस्तक ११ : २७९, ६५९
- पुस्तक १२ : ३७१, ३७८, ३८०
- पुस्तक १३ : २८०, २८१, ५१९
- पुस्तक १५ : ३७४
- पुस्तक १६ : २७८
- षट्खण्डागम-परिशीलन (पं० बालचन्द्र शास्त्री) : २०८, २१०, २७९-२८२, ५६०, ५८५
- षट्खण्डागम-प्रस्तावना, (प्रो०, डॉ० हीरालाल जैन) ५५० (पु.१)
- षट्खण्डागम-प्रस्तावना (पं० हीरालाल शास्त्री) ४३७
- षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन (पं० पन्नालाल सोनी) ६७६, ६७७, ६९४, ६९५
- षट्खण्डागम-सम्पादकीय (प्रो० डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये) ५५४ (पु.१)
- षट्प्राभृत ३०४, ४८७
- षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि) ३४४
- स
- संयत (पद) ६८५
- संशय ५४५
- संसक्त (संसत्त=भ्रष्ट दि० जैन मुनियों का एक भेद) ५८, ६०१
- संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (सर एम० मोनियर विलिअम्स) १२०
- संहिताशास्त्र (भट्टारकीय ग्रन्थ) १३२
- सकर्मक (कर्मबद्ध) ३६३
- सकलकीर्ति (भट्टारक) ७२, १८५
- संकम ७७३
- संगाइणी २४२, २४३
- संग्रहणीसूत्र ५८५
- संठाणपाहुड २९९
- सच्चक (देखिये 'निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक')
- संजद (पद) ६७१, ६७२, ६८४-६९५
- सज्जय बेलट्टपुत्त (अनिश्चयवादी) ४४३, ४४४
- सतकचूर्णि ७१९, ७७५
- सतीशचन्द्र (डॉ०) १९६
- सन्मतिसागर आचार्य (आ० आदिसागर अंकलीकर के शिष्य) ११५

सन्मतिसूत्र, सन्मतितर्क, सन्मति ५२५
 सप्ततिकाचूर्णि ७६५, ७७६, ७७७
 सप्तभंगी-विकासवाद ३६९, ४४२
 सप्तविध जिज्ञासाएँ ४४५, ४४६
 समन्तभद्र स्वामी ४४, १८१, ४८९, ५२८,
 ५२९
 समन्तभद्रस्वामी-कथा ४९८, ६९१
 समय (छह अर्थ) ४७७
 समयसार २०७, २२०-२२६, २३०, २३१,
 २३५, २३६, २५१-२५५, २५७,
 २५९, २६८-२७०, २७२-२७५,
 २७७, २८१, २८२, ३०१, ३४६,
 ३४८, ३५१, ४२१, ४७०, ४७४,
 ४७५, ४७८
 — आत्मख्यातिटीका (आ० अमृतचन्द्र)
 ३३८, ३३९, ३४७, ३५२, ३७२,
 ३९३, ४७७
 — तात्पर्यवृत्ति (आ० जयसेन) ६०
 समयसुन्दर गणी ४९२
 समलैंगिक विवाह ६३३
 समवायांगसूत्र ३६९, ३९४, ५८४, ७१४,
 ७५९
 समाधितन्त्र (समाधिशतक) २६२, २६३,
 २६६, २६७, ४७१
 सम्बोधसत्तरी (रत्नशेखर सूरि, श्वे०) ५९०
 सम्मेदशिखर १२८, १२९, १३०
 सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य हेतु ५९२
 सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण १३०, १३१
 सरजस्क (कापालिक) ५९७
 सरस्वती (सारस्वत) गच्छ १२, १४, २३,
 २६, २७, ३२ (सरस्वतीगच्छ नाम

का प्रचलन), ३३ (पाषाणघटिता
 सरस्वती), ३६
 सर्वथा सचेलमुक्तिवादी (श्वेताम्बर और
 अर्धफालक) ५६८
 सर्वनन्दी आचार्य २४२, २९९, ३००
 सर्वार्थसिद्धि टीका २०९, २२९, २३७, २४४,
 २६१, २६३-२६६, ३७१, ३७७,
 ३८०, ३९२, ३९५, ३९६, ४०४,
 ४७३, ४८१, ४९३, ५२७, ५३५,
 ५७७, ६२९, ६३४, ६४५, ६७८,
 ६८७, ६९९, ७०३
 — दो शब्द (सिद्धा० पं० फूलचन्द्र
 शास्त्री) ६४८
 — प्रस्तावना (सिद्धा० पं० फूलचन्द्र
 शास्त्री) १८९
 सागरमल (डॉ०) ५४३, ५४४, ६७१, ६७२,
 ७०६
 — अभिनन्दन ग्रन्थ (देखिये, डॉ०....)
 सागारधर्मामृत ७१
 साङ्ख्यकारिका ३४८
 साङ्ख्यमत ३४३, ४७२
 सान्निपातिकभाव (मिश्रभाव) ४३६
 सामन्तभद्र (श्वेताम्बर) ४८९
 सिंहनन्दी मुनि (भट्टारकपरम्परा के प्रथम
 आचार्य) ९१, ९२
 सिंहवर्मा (काँची का राजा) २४२
 सिंहसंघ २७, ३४
 सित्तरीचूर्णि ७१९, ७४७
 सिद्धभक्ति (पूज्यपाद) ५२७, ६३३
 सिद्धसेन-द्वितीय (सन्मतिसूत्रकार, दिगम्बर)
 ४६८, ४६९, ५२५

८१४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

सिद्धहेमशब्दानुशासन २३८
 सिद्धान्तसमीक्षा भाग ३ : ६९६-६९७, ७००
 सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन
 ग्रन्थ ६८६
 सिद्धिविनिश्चय (अकलंकदेव) ५२३
 सिन्धुघाटीय (सिन्धु) सभ्यता ३६८
 सुखलाल संघवी (पं०) १८६
 सुत्तपाहुड २२१, २९०, ५०५, ६००
 सुबुद्धि (पुष्पदन्त, षट्खण्डागमकार) ५७२
 सुभद्र आचार्य (दशांगधारी) २७
 सूत्रकृतांग (सूत्र) निर्युक्ति ५३१, ५८५
 सूत्रकृतांगसूत्र ५९०
 सूरिमन्त्र ३१, ३२
 सूर्यप्रकाश (पं० नेमिचन्द्रकृत भट्टारकीय
 ग्रन्थ) १२५, १३७, १४५, १४७
 सूर्यप्रकाशपरीक्षा (पं० जुगलकिशोर मुख्तार)
 १२५, १२७, १३२, १३७
 सेक्स एण्ड जेण्डर (डॉ० राबर्ट जे० स्टॉलर,
 एम० डी०) ६३३
 सेनसंघ (सेनगण) ३४, ४२, १८३-१८५
 सेसिल बेण्डल (Mr. Cecil Bendall, a
 scholar from England) १२
 सोमदेव सूरि (यशस्तिलकचम्पूकार) ५९८
 सोमवार-अभिलेख ३५
 सोलहकल्प ६२६
 सौन्दरनन्द (अश्वघोष) ५९०
 स्त्रीतीर्थकर ६०५
 स्त्रीनामगोत्रकर्म, स्त्रीगोत्रकर्म, स्त्रीवेदनाम-
 कर्म, स्त्र्यंगोपांगनामकर्म, स्त्रीशरीरां-
 गोपांगनामकर्म ५८२, ६०६, ६३५,
 ६३६, ६६९

स्त्रीनिर्वाणप्रकरण (पाल्यकीर्ति शाकटायन)
 ६३१, ६६१-६६६, ७०९, ७२५
 स्त्रीमुक्तिनिषेध ५८१, ७५३-७५५
 स्त्रीवेद ६२९, ६३०
 स्त्रीवेदनोकषायकर्म ५८२, ५८३
 स्त्रीवेदी मनुष्य ६५५
 स्त्रैणभाव ६६७, ६६८
 स्थविर (संघव्यवस्थापक दिगम्बर साधु)
 ११९, ६२५, ६२६
 स्थविरकल्पिक (कल्पी) साधु (श्वे०)
 ६२५, ६२६
 स्थानांगसूत्र २३५, २७९, ६१०
 स्यात् (निपात) ४५१
 स्याद्वाद ४४४
 स्याद्वाद-सप्तभंगी ४८२
 स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्र) ३४०, ५२८, ५२९,
 ५३१-५३३
 स्वसमय ४७७, ४७८, ४७९
 स्वस्ति (भट्टारकोपाधि) १०६
 स्वाति : (श्वे० आचार्य) ७२०
 स्वामी (समन्तभद्र की उपाधि) ५२२,
 ५२३
 स्वामी समन्तभद्र (ले०—जुगलकिशोर
 मुख्तार) ३५, १९६, १९७, २६१,
 २९५, ४५७, ५४०
 ह
 हट्टण-अभिलेख ३८
 हरिदास शास्त्री, जयपुर २८
 हरिवंशपुराण १८६, ३१३, ३१५, ३३२,
 ५४९
 हर्षचरित (बाणभट्ट) ५२

हलेबीड-अभिलेख १०६
हल्सी-ताम्रपत्रलेख (मृगेशवर्मा) २९१
हस्तीमल (श्वे० आचार्य) ४, ५, १८३,
१८५, २९०, ३१०, ३१४, ३१६
हार्नले, ए० एफ० रूडाल्फ, प्रो० डॉ०
(अँगरेज विद्वान्) १२, १४, १८,
२२, २४, २८, ३०, ३१, १९५
हिन्दतत्त्वज्ञान नो इतिहास (गुजराती ग्रन्थ)
३०३
हिन्दी का उद्विकास और भोजपुर की
साहित्यिक प्रगति (लेख—प्रो०, डॉ०
राजाराम जैन) ४८५
History of The Mediaval School of
Indian Logic १९६
हीरालाल जैन, पं० सिद्धान्तशास्त्री (सादूमल)
७२, ४३६, ७४८

हीरालाल जैन, प्रो०, डॉ० ४८९, ४९०,
४९७, ५१४-५१८, ५३५, ५५२,
६७०, ६७१, ६९६-६९७
हुण्डावसर्पिणीकाल ६०९-६११, ६१४
हुण्डावसर्पिणीकाल की दस आश्चर्यजनक
घटनाएँ (श्वे०) ६१०
हूमड़ इतिहास (भाग २) ७६
हूलि-अभिलेख ५६५
हेत्वाभास, हेत्वाभासता ५६३, ७३०
हेमचन्द्र, कलिकालसर्वज्ञ, आचार्य (वैया-
करण) २३८
हेमचन्द्र विजय (श्वे० मुनि) ७६१, ७६२
हेरेकेरी-अभिलेख (क्र० ४८९) १०६
हैम प्राकृत-शब्दानुशासन (कलिकालसर्वज्ञ,
आ० हेमचन्द्र) ४८७
Homosexuality (समलैंगिक मैथुन) ६३३

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची

१. अंगुत्तरनिकायपालि (भाग ३,४) : विहार राजकीय पालि-प्रकाशन मण्डल।
ई० सन् १९६०।
 - भाग ३ > निपात ६, ७, ८।
 - भाग ४ > निपात ९, १०, ११।
२. अनगारधर्मासूत्र : पं० आशाधर जी। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९७७।
 - ज्ञानदीपिका संस्कृतपञ्जिका (स्वोपज्ञ)।
 - सम्पादन-अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
३. अनुयोगद्वारसूत्र : श्री आर्यरक्षित स्थविर। श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)।
 - अनुवादक-विवेचक : उपाध्याय श्री केवलमुनि जी।
४. अभिधानचिन्तामणि-नाममाला : आचार्य हेमचन्द्र। प्रकाशक : श्री रांदेररोड जैनसंघ, अडाजण पाटीया, रादेररोड, सूरत। ई० सन् २००३।
५. अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७), द्वितीय संस्करण। श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद। ई० सन् १९८६।
६. अविमारक (नाटक) : महाकवि भास। 'भासनाटकचक्र' चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
७. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द। शान्तिवीरनगर, श्री महावीर जी (राजस्थान)। ई० सन् १९६८।
 - दंसणपाहुड।
 - चारित्तपाहुड।
 - सुत्तपाहुड।
 - बोधपाहुड।
 - भावपाहुड।
 - मोक्खपाहुड।
 - लिंगपाहुड।
 - सीलपाहुड।

- श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीका।
 — पं० पन्नालाल साहित्याचार्यकृत हिन्दी अनुवाद।
८. अष्टसहस्री (भाग १, २, ३) : आचार्य विद्यानन्द। दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०। ई० सन् १९९०।
९. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—मुनि श्री नगराज जी डी० लिट्०। प्रथम खण्ड के प्रकाशक : कान्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली। ई० सन् १९८७। द्वितीय खण्ड के प्रकाशक : अर्हत् प्रकाशन, कलकत्ता। ई० सन् १९८२।
१०. आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) : मुम्बापुरीय श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति मुंबई। मुद्रण स्थान—सूरत। ई० सन् १९३५।
 — भद्रबाहुकृत निर्युक्ति।
 — शीलांकाचार्यकृत वृत्ति।
११. आचारांगसूत्र—प्रथम श्रुतस्कन्ध : अनुवादक—मुनिश्री सौभाग्यमल जी। प्रकाशक—जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन। वि० सं० २००७। द्वितीय श्रुतस्कन्ध : अनुवादक—पं० वसन्तीलाल नलवाया। प्रकाशक—धर्मदास जैन मित्रमण्डल, रतलाम, म० प्र०। ई० सन् १९८२।
१२. आचारांगचूर्णि : श्री जिनदास गणी। श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९४१।
१३. आतुरप्रत्याख्यान : वीरभद्र। प्रकाशक—बालाभाई ककलभाई अहमदाबाद। वि० सं० १९६२।
१४. आदिपुराण (भाग १, २) : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८८।
 — अनुवाद : पं० (डॉ०) पन्नालाल साहित्याचार्य।
१५. आप्तपरीक्षा : विद्यानन्द स्वामी। भारतवर्षीय अनेकान्त परिषद्, लोहारिया (राज०)। ई० सन् १९९२।
१६. आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र। वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन वाराणसी—५। ई० सन् १९८९।
 — अनुवाद : पं० जुगलकिशोर मुख्तार।
१७. आराधना कथा कोश : ब्रह्मचारी नेमिदत्त। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९३।
१८. आलापपद्धति : आचार्य देवसेन। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया (राज०)। ई० सन् १९९०।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८१९

१९. आवश्यकनिर्युक्ति (भाग १) : भद्रबाहुस्वामी। भेरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई। वि० सं० २०३८।
— हारिभद्रीय वृत्ति : हरिभद्रसूरि।
२०. आवश्यक - मूलभाष्य (आवश्यकसूत्र - मूलभाष्य) : कर्त्ता का नाम अज्ञात है। आवश्यकनिर्युक्ति की हारिभद्रीयवृत्ति में उद्धृत तथा जिन-भद्रगणी के विशेषावश्यकभाष्य में अन्तर्भूत।
२१. आवश्यकसूत्र (पूर्वभाग एवं उत्तरभाग) : गणधर गौतमस्वामी। श्री ऋषभदेव केशरी-मल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९२८ एवं १९२९।
२२. इष्टोपदेश : पूज्यपाद स्वामी। परमश्रुत प्रभावक मण्डल, चौकसी चैम्बर, खारा कुआ, जवेरी बाजार, बम्बई-२। ई० सन् १९५४।
२३. ईशादिदशोपनिषद् (शांकरभाष्यसहित) : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९७८।
२४. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् : चैखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९९५।
— परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्।
— बृहदारण्यकोपनिषद्।
— जाबालोपनिषद्।
— नारदपरिव्राजकोपनिषद्।
— तुरीयातीतोपनिषद्।
— संन्यासोपनिषद्।
— भिक्षुकोपनिषद्।
— छान्दोग्योपनिषद्।
— मुण्डकोपनिषद्।
— कठोपनिषद्।
— ईशावास्योपनिषद्।
— श्वेताश्वतरोपनिषद्।
— याज्ञवल्क्योपनिषद्।
२५. उत्तराध्ययनसूत्र : वीरायतन प्रकाशन, आगरा-२।
— सम्पादन : साध्वी चन्दना दर्शनाचार्य।
२६. उत्तरभारत में जैनधर्म : चिमनलाल जैचन्द्र शाह। प्रकाशक : सेवामन्दिर रावटी, जोधपुर। ई० सन् १९९०।
— अँगरेजी से हिन्दी अनुवाद : कस्तूरमल बाँठिया।
२७. उदानपालि (सुत्तपिटक, खुद्दक निकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी (नासिक)। ई० सन् १९९५।

२८. उपदेशमाला (उवएसमाला) : श्री धर्मदास गणी। प्रकाशक : धनजी भाई देवचन्द्र जौहरी, मुम्बई।
— विशेषवृत्ति (दोघट्टी टीका) : रत्नप्रभसूरि।
२९. ओघनिर्युक्ति : भद्रबाहु स्वामी। आगमोदय समिति मेहसाना। ई० सन् १९१९।
— वृत्तिकार : द्रोणाचार्य।
३०. कठोपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०२४।
— शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।
३१. कल्पकौमुदीवृत्ति : श्री शान्तिसागरकृत कल्पसूत्रव्याख्या। श्री ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९३६।
३२. कल्पनिर्युक्ति (कल्पसूत्रनिर्युक्ति) : श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय। मुनि कल्याण विजय जी - कृत 'श्रमण भगवान् महावीर' (पृ. ३३६) में तथा श्री ताटक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर (राज०) द्वारा प्रकाशित 'कल्पसूत्र' की श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री-लिखित प्रस्तावना (पृ. १६) एवं परिशिष्ट १ की टिप्पणी क्र. ३ में उल्लेख है।
३३. कल्पप्रदीपिकावृत्ति : श्री संघविजयगणिकृत कल्पसूत्रवृत्ति। प्रकाशन : सेठ वांडीलाल चकुभाई देवीशाह पाटक। वि० सं० १९९१।
३४. कल्पलता व्याख्या : समयसुन्दरगणिकृत कल्पसूत्रव्याख्या। निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय, मुम्बई। ई० सन् १९३९।
३५. कल्पसमर्थन : (कल्पसूत्रान्तर्गत अधिकार-बोधक)। ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। वि० सं० १९९४।
३६. कल्पसूत्र : प्राकृत भारती, जयपुर।
३७. कल्पसूत्र : भाषानुवाद : आर्यारत्न सज्जनश्री। वि० सं० २०३८।
३८. कसायाहुड (भाग १, ८, १२, १३, १४, १५, १६) : आचार्य गुणधर। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा। ई० सन् १९७४---। द्वितीय संस्करण।
— चूर्णिसूत्र : यतिवृषभाचार्य।
— जयधवला टीका : आचार्य वीरसेन।
— प्रस्तावना : १. ग्रन्थपरिचय एवं २. ग्रन्थकारपरिचय : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश-चन्द्र शास्त्री, (पृ. ३-७३) ३. विषयपरिचय : पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। (पृ. ७३-१०६) ("भूमिका के मुख्य तीन भाग हैं : ग्रन्थ, ग्रन्थकार और विषय-परिचय। इनमें से आदि के दो स्तम्भ पं० कैलाशचन्द्र जी ने लिखे हैं और अन्तिम स्तम्भ पं० महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है।" सम्पादकीय वक्तव्य/ पृ. १४ ब)।

३९. कसायपाहुडसुत्त : आचार्य गुणधर। श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता। ई० सन् १९५५।
— चूर्णिसूत्र : आचार्य यतिवृषभ।
— सम्पादन-अनुवाद-प्रस्तावना : पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री।
४०. कादम्बरी (पूर्वभाग) : बाणभट्ट। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
— संस्कृतटीका : श्वेताम्बराचार्य श्री भानुचन्द्र गणी।
४१. कादम्बरी : बाणभट्ट। सम्पादक : आचार्य रामनाथ शर्मा 'सुमन' एवं राजेन्द्रकुमार शास्त्री। प्रकाशक : साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ (उ०प्र०) / अष्टम संस्करण, ई० सन् १९९०।
४२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामिकुमार। परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। ई० सन् १९७८।
— अँगरेजी प्रस्तावना : प्रो० ए० एन० उपाध्ये।
— हिन्दी-अनुवाद : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
४३. कालिदास की तिथिसंशुद्धि : डॉ० रामचन्द्र तिवारी। ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली। ई० सन् १९८९।
४४. काव्यानुशासन (स्वोपज्ञवृत्ति-सहित) : वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री, 'कलिकालसर्वज्ञ,' आचार्य हेमचन्द्र। प्रवचन प्रकाशन, पूना। वि० सं० २०५८।
— संस्कृत व्याख्या : पण्डित शिवदत्त एवं काशीनाथ।
४५. काव्यप्रकाश : मम्मटाचार्य। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी। ई० सन् १९६०।
— हिन्दी व्याख्या : विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि।
४६. कूर्मपुराण : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। ई० सन् १९९३।
४७. क्या दिगम्बर प्राचीन हैं? लेखक : शिशु आचार्य नरेन्द्रसागर सूरि। शेट श्री अभेचंद गुलाबचंद झवेरी परिवार, मुम्बई के सौजन्य से प्रकाशित।
प्राप्तिस्थान—१. जम्बूद्वीप पेढी पालीताणा, २. ज्ञानशाला गिरिराज सोसायटी पालीताणा। ई० सन् १९९५।
४८. खरा सो मेरा : डॉ० सुदीप जैन। कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन) नई दिल्ली। ई० सन् १९९९।
४९. खारवेल प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन-चन्द्रकान्तबाली शास्त्री। प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। ई० सन् १९८८।
५०. गुणस्थान-सिद्धान्त : एक विश्लेषण—डॉ० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी। ई० सन् १९९६।
५१. गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम : एक इतिहास—डॉ० एम० डी० वसन्तराज। श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी-५। ई० सन् २००१।

५२. गोम्मतसार-कर्मकाण्ड (भाग १,२) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९६।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका-कर्णाटवृत्ति : केशववर्णी।
— कर्णाटवृत्ति का 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नाम से ही संस्कृतरूपान्तर : श्री नेमिचन्द्र।
५३. गोम्मतसार-जीवकाण्ड (भाग १, २) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९७।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका-कर्णाटवृत्ति : केशव वर्णी।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका-संस्कृतरूपान्तर : श्री नेमिचन्द्र।
५४. चाणक्यशतक : आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य।
५५. छेदपिण्ड : आचार्य इन्द्र (इन्द्रनन्दी)। 'प्रायश्चित्तसंग्रह'—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला (वि० सं० १९७८) में संगृहीत।
५६. छेदशास्त्र : (कर्ता अज्ञात-पु.जै.वा.सू. / प्रस्ता. / पृ.१०९) 'प्रायश्चित्तसंग्रह'—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला (वि० सं० १९७८) में संगृहीत।
५७. जातक (तृतीय खण्ड)—अनुवादक : भदन्त आनन्द कौसल्यायन। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। ई० सन् १९९०।
५८. जातक-अट्टकथा (सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय)—तृतीयभाग। विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी। ई० सन् १९९८।
५९. जातकपालि (सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय)—द्वितीयभाग। विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी। ई० सन् १९९८।
६०. जातकमाला : आर्यशूर। सम्पादक-अनुवादक : सूर्यनारायण चौधरी। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् २००१।
६१. जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख : कमलकुमार जैन। श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर (म.प्र.)। ई० सन् १९८२।
६२. जिनशासन की कीर्तिगाथा : डॉ० कुमारपाल देसाई। श्री अनिलभाई गाँधी (ट्रस्टी)। १०८ जैनतीर्थदर्शनभवन ट्रस्ट, श्री समवसरण महामन्दिर, पालिताणा-३६४२७०।
६३. जिनसहस्रनामटीका : श्रुतसागरसूरि।
६४. जिनागमों की मूलभाषा : डॉ० नथमल टाँटिया। प्राकृत टेस्ट सोसायटी, अहमदाबाद।
६५. जीवसमास : अज्ञात पूर्वधर आचार्य (जिनका नाम ज्ञात नहीं है)। अनुवादिका : साध्वी विद्युत्प्रभाश्री। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
— भूमिका : डॉ० सागरमल जैन।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८२३

६६. जैन आगम साहित्य : मनन और भीमांसा—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री। प्रकाशक—
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)। ई० सन् १९७७।
६७. जैन कथामाला (भाग ४८) (आधारग्रन्थ : १. उपदेशमाला २. आख्यानक मणिकोश)
: मधुकर मुनि। मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
ब्यावर (राज०)।
६८. जैन तत्त्वविद्या : मुनि श्री प्रमाणसागर जी। भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली। ई०
सन् २०००।
६९. जैनधर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा
(उ.प्र.)। ई० सन् १९७५।
७०. जैनधर्म और दर्शन : मुनि श्री प्रमाणसागर जी। शिक्षा भारती, कश्मीरी गेट,
दिल्ली-६। ई० सन् १९९६।
७१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथमभाग) : आचार्य हस्तीमल जी।
७२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग/द्वितीय संस्करण) : आचार्य हस्तीमल
जी। जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान) ई० सन् १९८७।
७३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (तृतीय भाग/प्रथम संस्करण) : आचार्य हस्तीमल
जी। जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान)। ई०
सन् १९८३।
७४. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (चतुर्थ भाग) : आचार्य हस्तीमल जी। जैन इतिहास
समिति, जयपुर (राजस्थान)। ई० सन् १९८७।
७५. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय : डॉ० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
ई० सन् १९९६।
७६. जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा : डॉ० सागरमल जैन। प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
(म.प्र.)। ई० सन् २००४।
७७. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य : साध्वी संघमित्रा। जैन विश्वभारती, लाड़नू (राज०)।
ई० सन् २००१।
७८. जैनधर्म के सम्प्रदाय : डॉ० सुरेश सिसोदिया। आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत
संस्थान, उदयपुर (राजस्थान)। ई० सन् १९९४।
७९. जैन निबन्धरत्नावली (प्रथम भाग) : पं० मिलापचन्द्र कटारिया एवं श्री रतनलाल
कटारिया। प्रकाशक : श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता। ई०
सन् १९६६।
८०. जैन निबन्धरत्नावली (द्वितीय भाग) : पं० मिलापचन्द्र कटारिया। भारतवर्षीय दि०
जैन संघ, चौरासी, मथुरा। ई० सन् १९९०।

८१. जैन भारती : (दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल भीण्डर (मेवाड़) के मन्त्री द्वारा लिखित 'भट्टारक चर्चा' नामक पुस्तिका (ई० सन् १९४१) में उद्धृत)
८२. जैन विद्या के आयाम—ग्रन्थाङ्क २ (Aspects of Jainology, Vol. II)। पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ। प्रकाशक : पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी, ई० सन् १९८७।
८३. जैन शिलालेख संग्रह (भाग १) : संग्रहकर्ता—डॉ० हीरालाल जैन। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति। वि० सं० १९८४ (ई० सन् १९२७)।
८४. जैन शिलालेख संग्रह (भाग २) : संग्रहकर्ता—पं० विजयमूर्ति। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति मुम्बई। ई० सन् १९५२।
८५. जैन शिलालेख संग्रह (भाग ३) : संग्रहकर्ता—पं० विजयमूर्ति। प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुम्बई। ई० सन् १९५७।
- प्रस्तावना : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी।
८६. जैन शिलालेख संग्रह (भाग ४) : संग्रहकर्ता—सम्पादक : डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। वीर नि० सं० २४९१।
८७. जैन साहित्य और इतिहास (प्रथम संस्करण) : पं० नाथूराम प्रेमी। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई। ई० सन् १९४२।
द्वितीय संस्करण : प्रकाशक—संशोधित साहित्य-माला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२। ई० सन् १९५६।
८८. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (प्रथम खण्ड) : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। वीरशासन संघ कलकत्ता। ई० सन् १९५६।
८९. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका) : पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी। वीर नि० सं० २४८९।
९०. जैन साहित्य का इतिहास (भाग १, २) : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी। वीर निर्वाण सं० २५०२।
९१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ३) : डॉ० मोहनलाल मेहता। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९६७।
९२. जैन साहित्य में विकार : पं० बेचरदास जैन। अनुवादक : तिलकविजय जी।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८२५

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन युवकसंघ, ललितपुर। वीर नि०
सं० २४५८।

९३. जैनाचार्य परम्परा महिमा (३४९ श्लोकात्मक ग्रन्थ, अप्रकाशित) : रचयिता-श्रवण बेलगोल के ३१वें भट्टारक श्री चारुकीर्ति। इस ग्रन्थ के नाम एवं संस्कृत पद्यों का उल्लेख श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपने ग्रन्थ 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास', भाग ३ में पृष्ठ १५२ से १७७ तक किया है और लिखा है कि यह अप्रकाशित ग्रन्थ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार शोध प्रतिष्ठान, लालभवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३ में उपलब्ध है।
९४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १-४) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८५, १९८६, १९८७, १९८८।
९५. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र : (ज्ञातधर्मकथाङ्ग)। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर। ई० सन् १९८१।
— प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर'।
— अनुवादक - विवेचक - सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल।
९६. ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र। श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास। ई० सन् १९७५।
९७. डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ । पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
९८. तत्त्वनिर्णयप्रासाद : श्वेताम्बराचार्य मुनि श्री विजयानन्द सूरेश्वर 'आत्माराम'। प्रसिद्धकर्ता : अमरचंद पी० (पद्मा जी) परमार, मुम्बई।
९९. तत्त्वार्थकर्तृ-तन्मतनिर्णय : सागरानन्दसूरेश्वर जी महाराज (श्वेताम्बर)। प्रकाशक : श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम। वि० सं० १९९३।
१००. तत्त्वार्थराजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक, भाग १, २) : भट्ट अकलंक देव। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९३।
— सम्पादक : प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य।
१०१. तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागर सूरि। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। ई० सन् १९४९।
— प्रस्तावना : प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य।
१०२. तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्रसूरि। सम्पादक : पं० पन्नालाल साहित्याचार्य। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी,। ई० सन् १९७०।

१०३. तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि) : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९५।

१०४. तत्त्वार्थसूत्र : श्री उमास्वाति वाचक। ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था,
रतलाम। ई० सन् १९९६।

— हरिभद्रीय वृत्ति : श्री हरिभद्रसूरि।

१०५. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित) : पं० सुखलाल संघवी। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान,
वाराणसी-५। ई० सन् १९९३।

१०६. तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) : बृहत्प्रभाचन्द्र। प्रकाशक : समीचीनधर्म-प्रबोध-संरक्षण-
संस्थान कोटा (राज०)।

१०७. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय : उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज (पंजाबी)।
प्रकाशक : लाला शादीराम गोकुलचंद जौहरी, चाँदनी चौक,
देहली। ई० सन् १९३४।

१०८. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र) : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास।
ई० सन् १९९२।

— तत्त्वार्थाधिगमभाष्य : उपर्युक्त पर आचार्य उमास्वाति द्वारा रचित भाष्य।

१०९. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्ययुक्त) : श्री उमास्वाति-वाचक। प्रकाशक : जीवनचन्द्र
साकरचन्द्र जवेरी, मुंबई एवं सूरत (गुजरात)। प्रथम भाग—
ई० सन् १९२६, मुंबई। द्वितीयभाग—ई० सन् १९३० सूरत।

— तत्त्वार्थाधिगमवृत्ति : श्री सिद्धासेन गणी।

११०. तर्कभाषा : केशवमिश्र। चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९७७।

— हिन्दी व्याख्या : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि।

१११. तित्थगोलियपयन्नु (अथवा तित्थगोलियपयन्नु = तीर्थोद्गार)।

११२. तिलोयपण्णत्ती (भाग १, २, ३) : आचार्य यतिवृषभ। प्रकाशक : श्री १००८
चन्द्रप्रभ दि० जैन अतिशयक्षेत्र, देहरा-तिजारा (अलवर,
राजस्थान)। ई० सन् १९९७।

— अनुवाद : आर्यिका विशुद्धमति जी।

११३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (खण्ड १, २, ३, ४) : डॉ० नेमिचन्द्र
शास्त्री, ज्योतिषाचार्य। द्वितीय संस्करण—आचार्य शान्तिसागर
छाणी ग्रन्थमाला, बुढ़ाना (मुजफ्फरनगर) उ० प्र०। ई०
सन् १९९२।

११४. तैत्तिरीय आरण्यक।

११५. त्रिलोकसार : आचार्य नेमिचन्द्र।

११६. थैरीगाथा—अट्टकथा (सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास,
इगतपुरी।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८२७

११७. दक्षिण भारत में जैनधर्म : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् २००१।

११८. दर्शनसार : आचार्य देवसेन। अनुवाद एवं विवेचना : पं० नाथूराम जी प्रेमी। जैन ग्रन्थ कार्यालय, हीराबाग, बम्बई। वि० सं० १९७४।

११९. दशवैकालिकसूत्र : आचार्य शय्यंभव। भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति पिंडवाड़ा (राजस्थान)। वि० सं० २०३७।

— हारिभद्रीयवृत्ति : हरिभद्रसूरि।

१२०. दाठावंस (बौद्धग्रन्थ)।

१२१. दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. गोपीचन्द्र वर्मा बाँसवाड़ा। रामा प्रकाशन २६२६, रास्ता खजानेवाला, जयपुर।

१२२. दिगम्बरत्व और दिगम्बरमुनि : कामता प्रसाद जैन। दि० जैन युवा समिति, १५ भगवान् महावीर मार्ग, बड़ौत, उ० प्र०। ई० सन् १९९२।

१२३. दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण (प्रो. हीरालाल जी के आक्षेपों का निराकरण): आद्य अंश-लेखक : मन्खनलाल शास्त्री, मुरैना। प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन समाज बम्बई। वीर नि० सं० २४७१। द्वितीय एवं तृतीय अंश—सम्पादक : पं० रामप्रसाद शास्त्री बम्बई। प्रकाशक : दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई। ई० सन् १९४४ एवं १९४६।

१२४. दिव्यावादान (रोमन लिपि में)—The Divyāvadān, by E.B. Cowell and R.A. Neil, Indological Book House, Delhi 1987 A.D.

१२५. दिव्यावदान (नागरी लिपि में)—सम्पादक : डॉ० पी० एल० वैद्य। प्रकाशक—मिथिला विद्यापीठ दरभंगा। ई० सन् १९९९।

१२६. दीघनिकायपालि : सम्पादन—अनुवाद : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री। बौद्धभारती वाराणसी। ई० सन् १९९६।

— भाग १. सीलक्खन्धवग्ग।

— भाग २. महावग्ग।

— भाग ३. पाथिकवग्ग।

१२७. द्रव्यस्वाभाव-प्रकाशक-नयचक्र : श्री माइल्ल धवल। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी। ई० सन् १९७१।

१२८. धम्मपद : व्याख्याकार—कन्हेदीलाल गुप्त और सत्कारि शर्मा वङ्गीय। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९६८।

१२९. धम्मपद-अट्टकथा, भाग १,२ (सुत्तपिटक—खुद्दक निकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास इगतपुरी। ई० सन् १९९८।

१३०. धम्मपद-अट्टकथा, भाग २ (सुत्तपिटक—खुद्दक निकाय) : नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा। ई० सन् १९७६।
१३१. नन्दीसूत्र : विवेचक—स्व. श्री केवलमुनि जी के शिष्य श्री लालमुनि जी के परिवार के सन्त मुनि श्री पारसकुमार जी (धर्मदास सम्प्रदाय)। प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ, सैलाना (म.प्र.)। ई० सन् १९८४।
१३२. नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द। ('कुन्दकुन्द भारती' में संगृहीत)।
१३३. निशीथसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य सहित) : श्री विसाहगणी महत्तर। (प्रथम विभाग-पीठिका) सम्पादक : उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि तथा मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'। भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली। ई० सन् १९८२।
- विशेषचूर्णि : श्री जिनदास महत्तर।
- निशीथ : एक अध्ययन—पं० दलसुख मालवणिया।
१३४. नीतिसार (नीतिसार-समुच्चय) : इन्द्रनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९०।
१३५. न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन : प्रो० उदयचन्द्र जैन। प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.। ई० सन् २००१।
१३६. न्यायकुसुमाञ्जलि : उदयनाचार्य।
१३७. न्यायदीपिका : अभिनव धर्मभूषण यति। प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९०।
१३८. न्यायमञ्जरी : जयन्त भट्ट।
१३९. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति : श्री शान्तिसूरि। सम्पादक : पण्डित दलसुख मालवणिया। प्रकाशक : सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद। ई० सन् २००२।
- प्रस्तावना : पं० दलसुख मालवणिया।
१४०. पउमचरिउ (भाग १,२,३,४,५) : महाकवि स्वयम्भू। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८९, १९७७, १९८९, २०००, २००१।
१४१. पउमचरिय : विमलसूरि।
१४२. पञ्चतन्त्र-अपरीक्षितकारक : विष्णु शर्मा। रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद-२। ई० सन् १९७५।
१४३. पंचमहागुरुभक्ति : आचार्य कुन्दकुन्द। ('कुन्दकुन्द भारती' में संगृहीत)।
१४४. पंचाशक (पंचाशक-प्रकरण) : आचार्य हरिभद्रसूरि। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी।

१४५. पंचास्तिकाय : आचार्य कुन्दकुन्द। श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्री मद्राजचन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। ई० सन् १९६९।
 — समयव्याख्या (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) : आचार्य अमृतचन्द्र।
 — तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।
 — बालावबोधभाषाटीका : पाण्डे हेमराज।
१४६. पट्टावलीपराग : पं० श्री कल्याणविजय गणी। प्रकाशक : कल्याणविजय शास्त्रसंग्रह समिति, जालौर (राजस्थान)। ई० सन् १९५६।
१४७. पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व। आचार्य श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीर जी (राजस्थान)। ई० सन् १९८९।
१४८. पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ। सरस्वती-वरदपुत्र पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी। ई० सन् १९८९।
१४९. पणवणासुत्त (भाग १,२) : श्री श्यामार्य वाचक। श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई २६। ई० सन् १९६९ एवं १९७१।
 — सम्पादन एवं अँगरेजी प्रस्तावना : मुनि पुण्यविजय जी, पं० दलसुख मालवणिया एवं पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक।
१५०. पद्मपुराण (पद्यचरित—भाग १,२,३) : आचार्य रविषेण। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् २००१, २००२, २००३।
 — सम्पादन-अनुवाद : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।
१५१. पद्ममहापुराण (वैदिक = हिन्दू)—द्वितीय भाग (भूमि, स्वर्ग, ब्रह्म एवं पातालखण्ड) भूमिका : प्रो० डॉ० चारुदेवशास्त्री। प्रकाशक : नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर, दिल्ली-७। ई० सन् १९८४।
१५२. परमात्मप्रकाश एवं योगसार : जोइंदुदेव। परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास। ई० सन् १९७३।
 — संस्कृतटीका : ब्रह्मदेव।
 — भाषा टीका : पं० दौलतराम जी।
 — प्रस्तावना (Introduction) : ए० एन० उपाध्ये।
१५३. परिशिष्टपर्व : कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र। प्रकाशक : एशियाटिक सोसाइटी, ५७ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता। ई० सन् १८९१।
 — सम्पादक : हर्मन जैकोबी।
१५४. पाइअ-सद्-महणवो : (प्राकृत-हिन्दी-शब्दकोश) : पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९८६।

८३० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

१५५. पातञ्जलयोगदर्शन : महर्षि पतञ्जलि। कृष्णदास अकादमी, वाराणसी। ई० सन् १९९९।

— व्यासभाष्य : श्री व्यास।

१५६. पात्रकेसरी-स्तोत्र (जिनेन्द्रगुणसंस्तुति) : पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)।

१५७. पालि-हिन्दी कोश : भदन्त आनन्द कौसल्यायन। राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-पटना। ई० सन् १९९९।

१५८. पुरातन-जैनवाक्य-सूची : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, जिला-सहारनपुर (उ० प्र०)। ई० सन् १९५०।

१५९. पिण्डनिर्युक्ति : भद्रबाहुस्वामी। शाह नगीनभाई घेलाभाई जह्वेरी, मुंबई। ई० सन् १९१८।

— मलयगिरीया वृत्ति : आचार्य मलयगिरि।

१६०. प्रकरणरत्नाकर (चतुर्थभाग) : प्रकाशक—शा० भीमसिंह माणकनी वती, 'शा० भाणजी माया, मुंबई। ई० सन् १९१२। निर्णयसागर प्रेस मुम्बई।

१६१. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी : श्री गौतमस्वामी - विरचित। प्रकाशक : आचार्य शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था। वीर संवत् २४७३।

— संस्कृतटीका : प्रभाचन्द्र।

— सम्पादक : पं० मोतीचन्द्र गौतमचन्द्र कोठारी, एम० ए०।

१६२. प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्ण मिश्र यति। चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी। ई० सन् १९७७।

१६३. प्रमेयकमलमार्तण्ड (द्वितीयभाग) : आचार्य प्रभाचन्द्र। मुद्रक : पाँचूलाल जैन, कमल प्रिंटर्स मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)। वीर नि० सं० २५०७।

— अनुवाद : आर्यिका जिनमती जी।

१६४. प्रवचनपरीक्षा-पूर्वभाग (स्वोपज्ञवृत्ति-सहित) : उपाध्याय धर्मसागर। ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (म.प्र.)।

१६५. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द। परमश्रुत प्रभावक श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)। ई० सन् १९६४।

— तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति : आचार्य अमृतचन्द्र सूरि।

— तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।

— बालावबोध भाषाटीका : पाण्डे हेमराज।

— अँगरेजी-प्रस्तावना (Introduction): प्रो० ए० एन० उपाध्ये।

१६६. प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) : श्री नेमिचन्द्र सूरि। प्रकाशक : सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई। ई० सन् १९२२। निर्णयसागर प्रेस मुम्बई।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८३१

- संस्कृतवृत्ति : श्री सिद्धसेनसूरि शेखर
१६७. प्रवचनसारोद्धार : श्री नेमिचन्द्रसूरि। प्रकाशक : श्री जैन श्वे. मू. तपागच्छ गोपीपुरा संघ, सूरत। ई० सन् १९८८।
- टिप्पणीकार : श्री उदयप्रभ सूरि।
१६८. प्रशमरतिप्रकरण : श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति। परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राज-चन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। वि० सं० २०४४।
- हारिभद्रीय टीका : श्री हरिभद्र सूरि।
१६९. प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा : साध्वी डॉ० दर्शनकलाश्री। श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, जयंतसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा (राजगढ़) धार, म० प्र०। ई० सन् २००७।
१७०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : डॉ० रिचार्ड पिशल। विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३। ई० सन् १९५८।
- जर्मनभाषा से हिन्दी-अनुवाद : डॉ० हेमचन्द्र जोशी।
१७१. प्राकृत साहित्य का इतिहास : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन। द्वितीय संस्करण। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी। ई० सन् १९८५।
१७२. प्राचीन भारतीय संस्कृति : बी० एन० लूनिया। लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक-प्रकाशक, आगरा-३। ई० सन् १९७०।
१७३. ब्यारस अणुवेक्खा : आचार्य कुन्दकुन्द।
१७४. बृहत्कथाकोश : आचार्य हरिषेण। सिंघी जैन ग्रन्थमाला। ई० सन् १९४३।
अँगरेजी प्रस्तावना : डॉ० ए० एन० उपाध्ये।
१७५. बृहत्कल्पसूत्र (मूलनिर्युक्तिसहित) : स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी।
— Vol. V (चतुर्थ एवं पंचम उद्देश)। ई० सन् १९३८।
— Vol. VI (षष्ठ उद्देश)। ई० सन् १९४२। प्रकाशक श्री आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर।
- भाष्य : श्री संघदासगणी क्षमाश्रमण।
— वृत्ति : आचार्य श्री मलयगिरि, जिसे आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने पूर्ण किया।
१७६. बृहत्संहिता : वराहमिहिर।
१७७. बृहदारण्यकोपनिषद् : ईशादिदशोपनिषद्। मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली। ई० सन् १९७८।
- शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।
१७८. बृहद्ब्रह्मसंग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव। परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास (गुजरात)। वि० सं० २०२२।

८३२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

— संस्कृतटीका : ब्रह्मदेव।

१७९. ब्रह्मसूत्र : बादरायण व्यास। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९९८।

— शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।

१८०. ब्रह्माण्डपुराण (खण्ड १,२) : प्रकाशक—डॉ० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली (३० प्र०) ई० सन् १९८८।

१८१. भक्तपरिज्ञा : वीरभद्र। बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद। वि० सं० १९६२।

१८२. भगवती-आराधना (भाग १) : शिवार्य। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर। ई० सन् १९७८।

१८३. भगवती आराधना : शिवार्य। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर। ई० सन् २००६।

— विजयोदयाटीका : अपराजित सूरि।

— प्रस्तावना एवं अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।

१८४. भगवती-आराधना : शिवार्य। प्रकाशक : विशम्बरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, देहली।

१८५. भगवती-आराधना : शिवार्य। प्रकाशक : हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण। ई० सन् १९९०।

— विजयोदयाटीका : अपराजित सूरि।

— अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।

१८६. भगवतीसूत्र : एक परिशीलन- आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि। प्रकाशक—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)। वि० सं० २०४९।

१८७. भगवद्गीता : शांकरभाष्य।

१८८. भगवान् महावीर का अचेलकधर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा। वि० सं० २००१।

१८९. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध : कामता प्रसाद जैन। वीर नि० सं० २४५३।

१९०. भट्टारक चर्चा : लेखक एवं प्रकाशक—मन्त्री, दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर (मेवाड़)। ई० सन् १९४१। (लेखक—मन्त्री महोदय ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया।)

१९१. भट्टारकमीमांसा : पं० दीपचन्द्र वर्णी नरसिंहपुर-निवासी। प्रकाशक : वीर कालूराम राजेन्द्रकुमार परवार, रतलाम। वीरजयन्ती २४५४, सन् १९२७। तृतीय संस्करण के प्रकाशक : स्व० श्री मोहनलाल जी जैन, श्रीमती क्रान्तिबाई जैन, बाहुबली कॉलोनी सागर (म० प्र०)। ई० सन् २००३।

१९२. भट्टारकसम्प्रदाय : प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर। ई० सन् १९५८।

१९३. भद्रबाहुचरित : रत्ननन्दी (रत्नकीर्ति)। जैन भारती भवन, बनारस। ई० सन् १९११।
१९४. भद्रबाहुचरित्र : महाकवि रङ्गधू। सम्पादक : डॉ० राजाराम जैन, दिगम्बर जैन युवकसंघ आरा (बिहार), ई० सन् १९९२।
१९५. भागवतपुराण (श्रीमद्भागवत महापुराण) : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०५७।
१९६. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन। भारतीय ज्ञानपीठ। सन् १९९९।
१९७. भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ परिचय मध्यप्रदेश : १३वीं शती तक : डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'। श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली। ई० सन् २००१।
१९८. भारतीय पुरालेखों का अध्ययन : डॉ० शिवरूप सहाय। मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी। ई० सन् १९९९।
१९९. भारतीय संस्कृति का विकास : वैदिकधारा : डॉ० मंगलदेव शास्त्री। समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ बनारस। १९५६ ई०।
२००. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ० हरिलाल जैन। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल। ई० सन् १९७५।
२०१. भावना-द्वात्रिंशतिका : आचार्य अमितगति। ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पृ० ४७५। सम्पादक — डॉ० ए० एन० उपाध्याय एवं पं० फूलचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
२०२. भावसंग्रह (प्राकृत) : देवसेनाचार्य।
२०३. भावसंग्रह : वामदेव। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया (राजस्थान)।
२०४. मञ्जिमनिकाय (सुत्तपिटक) : सम्पादक : भिक्षु जगदीश कश्यप। बिहार राजकीय पालि-प्रकाशन मण्डल। ई० सन् १९५८।
- १. मूल पण्णासक।
- २. मञ्जिम पण्णासक।
२०५. मञ्जिमनिकायपालि (सुत्तपिटक) : सम्पादक-अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री। बौद्ध भारती, वाराणसी।
- १. मूल पण्णासक। ई० सन् १९९८।
- २. मञ्जिम पण्णासक। ई० सन् १९९९।
- ३. उपरि पण्णासक। ई० सन् २०००।
२०६. मत्स्यपुराण (पूर्वभाग, उत्तरभाग) : हिन्दी साहित्य सम्मलेन प्रयाग। ई० सन् १९८८-८९।
२०७. महापुराण : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। ई० सन् १९५१।

२०८. महाभारत (आदिपर्व/अध्याय १-७) : श्री वेदव्यास। गीता प्रेस गोरखपुर (उ०प्र०)।
नवम्बर १९५५ ई०।
२०९. महाभारत (शान्तिपर्व) प्रकाशक : वसन्त श्रीपाद सातवलेकर। स्वाध्याय मण्डल,
किल्ला-पारडी (बलसाड़) गुजरात। ई० सन् १९८०।
२१०. महावग्गपालि (विनयपिटक) : सम्पादक-अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री।
बौद्ध भारती, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
२११. मानतुङ्गाचार्य और उनके स्तोत्र : प्रो० मधुसूदन ढाकी और डॉ० जितेन्द्र शाह।
२१२. मानवभोज्यमीमांसा : मुनि कल्याणविजय जी गणी। श्री कल्याणविजय-शास्त्रसंग्रह-
समिति, जालोर (राज०)। ई० सन् १९६१।
२१३. मीमांसाश्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट।
२१४. मुद्राराक्षस (नाटक) : विशाखदत्त। ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
२१५. मूलाचार (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध) : आचार्य वट्टकेर। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
ई० सन् १९९२, १९९६।
- आचारवृत्ति : आचार्य वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती।
- हिन्दी-टीकानुवाद : आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी।
- प्रधान सम्पादकीय : ज्योति प्रसाद जैन।
२१६. मूलचार : आचार्य वट्टकेर। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९६।
- सम्पादकीय : डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी और डॉ० श्रीमती मुन्नी जैन।
२१७. मूलाराधना (भगवती-आराधना) : शिवार्य। स्वामी देवेन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थ-
माला शोलापुर। ई० सन् १९३५।
- मूलाराधनादर्पण (संस्कृतटीका) : पं० आशाधर जी।
- हिन्दी-अर्थकर्ता : पं० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्री फडकुले।
२१८. मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र, जिनकल्पिसूत्र) : आचार्य प्रभाचन्द्र। समीचीन धर्मप्रबोध
संरक्षण संस्थान, कोटा (राजस्थान)।
२१९. मोटी साधु-वन्दना (गुजराती) : छोटालाल जी महाराज। थानकवासी जैन उपाश्रय,
लिमड़ी (सौराष्ट्र) ई० सन् १९९१।
२२०. मोहेन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण : आचार्य विद्यानन्द जी। कुन्दकुन्द
भारती, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८८।
२२१. यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि। प्रकाशक : तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
पूर्वखण्ड (द्वितीय संस्करण)। ई० सन् १९१६। उत्तरखण्ड
(प्रथम संस्करण)। ई० सन् १९०३।
- संस्कृतव्याख्या : श्रुतसागरसूरि।

२२२. यापनीय और उनका साहित्य : श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया। वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन। ई० सन् १९८८।
२२३. रत्नकरण्डश्रावकाचार : स्वामी समन्तभद्र। श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर म० प्र०। ई० सन् १९९२।
- पद्यानुवाद : आचार्य श्री विद्यासागर जी
- हिन्दी अनुवाद : डॉ० (पं०) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।
२२४. रत्नमाला : शिवकोटि। 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में संगृहीत।
२२५. लब्धिसार (लब्धिसार-क्षपणासार) : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। आचार्य श्री शिव-सागर ग्रन्थमाला, शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी। वीर नि० सं० २५०९।
- सम्पादक : ब्र० पं० रतनचन्द्र मुख्तार सहारनपुर, उ० प्र०।
२२६. ललितविस्तरा : आचार्य श्री हरिभद्रसूरि।
- पञ्जिका टीका : श्री मुनिचन्द्र सूरीश्वर जी
- हिन्दी-विवेचना : पंन्यासप्रवर श्री भानुविजय जी गणिवर।
- भूमिकालेखक : श्री सम्पूर्णानन्द जी, राज्यपाल, राजस्थान।
- परिचयलेखक : प्रो० डॉ० पी० एल० वैद्य, वाडिया कालेज, पूना।
२२७. लाटीसंहिता : पं० राजमल्ल। श्रावकाचारसंग्रह (भाग ३)। सम्पादक : पं० हीरालाल जैन शास्त्री। जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर। ई० सन् २००३।
२२८. लिङ्गपुराण : संस्कर्ता : आचार्य जगदीश शास्त्री। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९८०।
२२९. लिंगाग्राभृत (लिंगापाहुड) : आचार्य कुन्दकुन्द।
२३०. वरांगचरित : जटासिंहनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्पिद्। ई० सन् १९९६।
२३१. वात्सल्यरत्नाकर (आचार्य श्री विमलसागर अभिनन्दन ग्रन्थ)—द्वितीय खण्ड। प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, श्री दि० जैन बीसपंथी कोठी, मधुवन (शिखर जी)। ई० सन् १९९३।
२३२. वायुपुराण : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (इलाहाबाद)। ई० सन् १९८७।
२३३. विद्वज्जनबोधक : पं० पन्नालाल जी संघी
२३४. विधि-मार्ग-प्रपा : खरतरागच्छालंकार श्री जिनप्रभसूरि। श्री महावीर स्वामी जैन देरासर ट्रस्ट, ८ विजय वल्लभ चौक, पायुधनी, मुंबई-४००००३। ई० सन् २००५।
- अनुवाद : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)।

२३५. विविधदीक्षा-संस्कारविधि : आर्यिका शीतलमती जी। सम्पादिका- ब्र० मैनाबाई जैन, संघसंचालिका। आशीषप्रदाता-सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य सन्मतिसागर जी। मुद्रक-शिवशक्ति प्रिण्टर्स, ९, नेहरू बाजार, होटल तारावाली गली, उदयपुर (राज०)।

— प्रकथन : डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'। ५८४ म. गाँ. मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर- ४५२ ००१ (म० प्र०)। ई० सन् २००२।

२३६. विशेषावश्यकभाष्य (भाग २) : जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण। दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ६८ गुलालवाड़ी, मुंबई ४०० ००४। वि० सं० २०३९।

— मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति

२३७. विष्णुपुराण : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०५८।

२३८. वीरवर्धमानचरित : श्री सकलकीर्ति। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९७४।

— सम्पादन-अनुवाद : पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री।

२३९. वेदान्तसार : परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द योगीन्द्र। पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद। ई० सन् १९६८।

— तत्त्वपारिजात हिन्दीटीका : सन्तनारायण श्रीवास्तव्य।

२४०. वैदिक माइथॉलॉजी : ए० ए० मैकडॉनल (A.A. Macdonell)। हिन्दी अनुवादक : रामकुमार राय। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी। ई० सन् १९८४।

२४१. वैदिक साहित्य और संस्कृति : आचार्य बलदेव उपाध्याय। शारदा संस्थान, वाराणसी-५। ई० सन् १९९८।

२४२. वैराग्यशतक (भर्तृहरिशतक) : मनोज पब्लिकेशन्स, दिल्ली। ई० सन् २००२।

२४३. वैशेषिकसूत्रोपस्कार (वैशेषिकसूत्र-व्याख्या) : आचार्य शंकर मिश्र। चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

२४४. व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) : महर्षि पतञ्जलि। चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

२४५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवतीसूत्र/तृतीयखण्ड/शतक ११-१९) : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)।

— अनुवादक-विवेचक-सम्पादक : श्री अमर मुनि जी एवं श्रीचन्द सुराणा 'सरस'।

२४६. शिवमहापुराण - प्रस्तावना : अवधविहारीलाल अवस्थी। गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८३७

२४७. श्रमण भगवान् महावीर : पं० (मुनि) कल्याणविजय जी गणी। प्रकाशक : श्री क० वि० शास्त्र-संग्रह समिति, जालोर। वि० सं० १९९८, ई० सन् १९४१।
२४८. श्रुतावतार : विबुधश्रीधर। 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में संगृहीत।
२४९. श्रुतावतार : आचार्य इन्द्रनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, सोनागिर (दतिया) म० प्र०। ई० सन् १९९०।
२५०. श्वेताम्बरमत-सामीक्षा : पं० अजितकुमार शास्त्री। प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन युवक संघ।
२५१. षट्खण्डागम—सम्पादिका : ब्र० पं० सुमतिबाई शहा। श्री श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण। ई० सन् १९६५।
२५२. षट्खण्डागम (द्वितीय संस्करण)—सम्पादिका : ब्र० पं० सुमतिबाई शहा। आ० शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)। ई० सन् २००५।
२५३. षट्खण्डागम (पुस्तक १-१६) : पुष्पदन्त एवं भूतबलि। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर। पुस्तक १, २—ई० सन् १९९२, पु० ३—ई० सन् १९९३, पु० ४—ई० १९९६, पु० ५—ई० १९८६, पु० ६—ई० १९९३, पु० ७—ई० १९८६, पु० ८—ई० १९८७, पु० ९—ई० १९९०, पु० १०, ११—ई० १९९२, पु० १२, १३—ई० १९९३, पु० १४—ई० १९९४, पु० १५, १६—ई० १९९५।
- धवलाटीका : आचार्य वीरसेन।
- सम्पादकीय (पुस्तक १) : डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये।
- प्रस्तावना (पुस्तक १) : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री।
२५४. षट्खण्डागम-परिशीलन : पं० बालचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८७।
२५५. षट्पाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द। प्रकाशिका : शान्ति देवी बड़जात्या, गौहाटी। ई० सन् १९८९।
२५६. षड्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। ई० सन् १९८९।
- तर्करहस्यदीपिका टीका : गुणरत्नसूरि।
- प्रस्तावना : पं० दलसुख मालवणिया।
२५७. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास : डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी। ई० सन् २००१।

२५८. संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय। शारदा मंदिर वाराणसी।
ई० सन् १९६५।

२५९. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आष्टे। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
ई० सन् १९६९।

२६०. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर। लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद-१। ई० सन् १९९७।

२६१. समन्तभद्र ग्रन्थावली : स्वामी समन्तभद्र। वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन वाराणसी।
ई० सन् १९८९।

१. आप्तमीमांसा (देवागम)

— अकलंकदेवकृत आप्तमीमांसाभाष्य।

— आचार्य वसुनन्दीकृत देवागमवृत्ति।

— पं० जुगलकिशोर मुख्तारकृत हिन्दीव्याख्या।

२. युक्त्यनुशासन।

३. स्वयम्भूस्तोत्र।

४. जिनशतक।

५. रत्नकरण्डक।

— अनुवादक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार

२६२. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द। अहिंसा मंदिर प्रकाशन, १ दरियागंज, दिल्ली ७।

— आत्मख्याति व्याख्या : आचार्य अमृतचन्द्र सूरि।

— तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।

— हिन्दीटीका : पं० जयचन्द्र।

२६३. समावायांगसूत्र—प्रकाशक : सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद। ई० १९३८।

२६४. समाधितन्त्र : देवनन्दी, अपरनाम—पूज्यपादस्वामी। श्री वीरसेवा मंदिर, सरसावा
(सहारनपुर)। ई० सन् १९३९।

२६५. सम्मइसुत्त (सन्मत्तिसूत्र, सन्मत्तितर्क) : आचार्य सिद्धसेन। ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन
समिति, नीमच (म० प्र०) ई० सन् १९७८।

— सम्पादक : देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच।

२६६. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र-वृत्ति) : पूज्यपाद स्वामी। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
नयी दिल्ली। ई० सन् १९९५।

— सम्पादन-अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री।

२६७. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद स्वामी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९५।

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८३९

२६८. सागारधर्माभूत : पं० आशाधर जी। प्रकाशक : मूलचन्द्र किशनदास कापड़िया, सूरत। ई० सन् १९४०।
— हिन्दी-टीकाकार : पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री।
२६९. सिद्धहेमशब्दानुशासन (अष्टम अध्याय : प्राकृतव्याकरण) : 'कलिकालसर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र।
२७०. सिद्धान्तसमीक्षा (भाग ३)—प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। ई० सन् १९४५।
२७१. सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ।
२७२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ—प्रकाशक : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी। ई० सन् १९८५।
२७३. सूत्रकृतांगसूत्र : (पंचम गणधर सुधर्मस्वामी-प्रणीत द्वितीय अंग)—प्रथम एवं द्वितीय भाग। प्रधान सम्पादक : श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर'। श्री आगमप्रकाशन समिति ब्यावर (राजस्थान)।
२७४. सूर्यप्रकाश-परीक्षा : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। प्रकाशक : जौहरीमल जैन सराफ, दरिवाँकला, देहली। ई० सन् १९३४।
२७५. सौन्दरनन्द (महाकाव्य) : अश्वघोष। प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।
२७६. स्त्रीनिर्वाण प्रकरण : ('शाकटायन व्याकरण' के साथ संलग्न। भारतीय ज्ञानपीठ। ई० सन् १९७१) : यापनीय-यतिग्रामाग्रणि-भदन्त-शाकटायनाचार्य, मूलनाम पाल्यकीर्ति (देखिए, पं० नाथूराम प्रेमी : 'शाकटायन और उनका शब्दानुशासन'/'जैन सिद्धान्त भास्कर' भाग ९/किरण १/जून १९४२)।
२७७. स्थानांगसूत्र (पंचम गणधर सुधर्म स्वामी-प्रणीत तृतीय अंग) : आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज०)।
— अनुवादक-विवेचक : पं० हीरालाल शास्त्री।
२७८. स्वामी समन्तभद्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, पो०—गिरगाँव, बम्बई। ई० सन् १९२५।
२७९. हरिवंशपुराण : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली। ई० सन् १९९८।
— सम्पादन-अनुवाद-प्रस्तावना : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।
२८०. हर्षचरित : बाणभट्ट। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९९८।

— 'सङ्केत' संस्कृत व्याख्या : श्री शंकर कवि।

२८१. हूमड़ जैनसमाज का सांस्कृतिक इतिहास (भाग २)—सम्पादिका : श्रीमती कौशल्या पंतग्या। प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय हूमड़ जैन इतिहास शोधसमिति, १, सुदर्शन सोसायटी, नारायणपुरा, अहमदाबाद।

English Books

1. Aspects of Jainology (Vol.III) : P.V. Research Institute, Varanasi.
—The Date of Kundakundācārya : M.A. Dhaky.
2. Gender And Salvation : Padmanabh S. Jaini , Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1992 A.D.
3. Harappa And Jainism : T.N. Ramchandran, Published by Kundakunda Bharti Prakashan, New Delhi, 1987 A.D.
—Introduction : Dr. Jyotindra Jain.
4. History of Jaina Monachism (From Inscriptions And Literature) : By Shantaram Balchandra Deo. Deccan College Post-graduate And Research Institute, Poona 1956 A.D.
5. Indian Philosophy (Vol. II) : S. Rādhākṛishṇan. Delhi Oxford Univesity Press.
6. Pañchāstikāyasāra : Āchārya Kundakunda, Bhārtiya Jnānpīth Publication, 1975 A.D.
—English Commentary & Introduction : Prof. A. Chakravartī Nayanār.
7. Sanskrit–English Dictionary : M. Monier Williams, Motilal Banarsidas, Delhi, 1999 A.D.
8. The Hāthīgumphā Inscription of Khāravēla And the Bhabru Edict of Aśoka : By Shashikant. D.K. Printworld (P) Ltd., New Delhi—110015. 1971 A.D.

शोध-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त (मासिक)—सम्पादक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, समन्तभद्राश्रम, करौलबाग, दिल्ली।

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
१	३	माघ	२४५६	१९८६	१९२९
१	४	फाल्गुन	"	"	"
१	५	चैत्र	"	१९८६	१९२९
१	६-७	वैशाख-ज्येष्ठ	"	१९८७	१९३०
१	८-९-१०	आषाढ-श्रावण-भाद्रपद	"	"	"
१	११-१२	आश्विन-कार्तिक	"	"	"

अनेकान्त (मासिक) के निम्नलिखित अंकों का सम्पादन-स्थान : वीरसेवा मंदिर, समन्तभद्राश्रम, सरसावा (जिला-सहारनपुर) उ० प्र०।

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
२	३	पौष, जनवरी	२४६५	१९९५	१९३८
२	५	फाल्गुन, मार्च	"	"	१९३८
२	६	चैत्र, अप्रैल	"	१९९६	१९३९
२	९	आषाढ, जुलाई	"	"	१९३९
२	१०	प्रथम श्रावण, अगस्त	"	"	१९३९
४	१	फरवरी	—	१९९८	१९४१
५	१०-११	कार्तिक-मार्गशीर्ष, नवम्बर-दिसम्बर	२४६९	१९९९	१९४२
५	१२	पौष, जनवरी	"	"	१९४३
६	१०-११	मई-जून	"	२००१	१९४४
६	१२	श्रावण शुक्ल, जुलाई	२४७०	२००१	१९४४
७	१-२	भाद्र०-आश्विन, अगस्त-सितम्बर	"	"	१९४४
७	३-४	कार्तिक-मार्गशीर्ष अक्टूबर-नवम्बर	२४७१	२००१	१९४४

८४२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड २

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
७	५-६	पौष-माघ			
		दिसम्बर-जनवरी	"	"	१९४४-४५
७	७-८	फाल्गुन-चैत्र, फर०-मार्च	२००१-२	"	१९४५
८	२	फरवरी			१९४६
८	३	—	—	—	—
८	४-५	—	—	—	—
८	१०-११	मार्च-अप्रैल	२४७३	२००४	१९४७
८	१२	आश्विन, अक्टूबर	२४७३	"	१९४७

(वर्ष ८ के मास-सम्बन्धी अनियमित उल्लेख के कारण का निर्देश इसी अंक (अक्टूबर १९४७) के आवरण पृष्ठ २ पर किया गया है।)

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
९	१	—	—	—	—
१४	६	माघ, जनवरी	२४८३	२०१३	१९५७
२८	१	महावीर निर्वाण विशेषांक	२५०१	२०३२	१९७५
४६	२	अप्रैल-जून	२५१८	२०५०	१९९३

२. जिनभाषित (मासिक) भई २००३—सम्पादक : प्रो० रतनचन्द्र जैन, भोपाल, म०प्र०।
प्रकाशक—सर्वोदय जैन विद्यापीठ, १/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा (उ०प्र०)।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर (भास्कर) मासिक

भाग	किरण	मास	ई० सन्
९	१	जून	१९४२
१०	२	जुलाई	१९४३
११	१	जून	१९४४
१३	२	—	—
२३	२	—	—

४. जैनहितैषी (मासिक)—सम्पादक और प्रकाशक : श्री नाथूराम प्रेमी।

भाग	किरण	मास	वीर नि० सं०	ई० सन्
६	७-८	वैशाख-ज्येष्ठ	२४३७	१९१०
७	९	आषाढ़	२४३७	१९१०

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ८४३

भाग	किरण	मास	वीर नि० सं०	ई० सन्
७	१०-११	श्रावण-भाद्र	२४३७	१९१०
८	२	मार्गशीर्ष	२४३८	१९११
११	१०-११	श्रावण-भाद्र	२४४१	१९१४

५. धर्ममंगल (मासिक), १६ मई १९१७—सम्पादिका : प्रा० सौ० लीलावती जैन।
४/५, भीकमचंद जैननगर, जलगाँव (महाराष्ट्र)।

६. प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च १९१६—सम्पादक : डॉ० सुदीप जैन।
(प्राकृत भवन), १८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली—
११००६७।

७. शोध (साहित्य-संस्कृति-गवेषणा-प्रधान पत्रिका), अंक ५/१९८७-८८ ई०—सम्पादक
: डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी एवं डॉ० राजाराम जैन। नागरी प्रचारिणी
सभा आरा (भोजपुर, बिहार)। अंक १२-१३ (संयुक्तांक)/ई० सन्
१९९९-२०००, २०००-२००१। सम्पादक : प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन।

८. शोधादर्श—४८, नवम्बर २००२ ई०—प्रधान सम्पादक : श्री अजितप्रसाद जैन।
सहसम्पादक : श्री रमाकान्त जैन। प्रकाशक : तीर्थकर महावीर स्मृति
केन्द्र समिति, ३० प्र०, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ २२६ ००४।

९. श्रमण (त्रैमासिक शोध पत्रिका—सम्पादक : प्रो० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी)।

- १. अक्टूबर-दिसम्बर १९९७ ई०।
- २. जुलाई-दिसम्बर २००५ ई०।
- ३. अप्रैल-जून २००६ ई०।

English Journals

1. Bombay University Journal, May 1933. (Yāpanīya Saṅgh, A Jaina Sect : Dr. A.N. Upadhye)
2. The Indian Antiquary : A Journal of Oriental Research in Archaeology, History, Literature, Languages, Philosophy, Religion, Folklore etc.
 - 1. Vol. XIV, January 1885.
 - 2. Vol. XX, October 1891.
 - 3. Vol. XXI, March 1892.



प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

जन्म २ जुलाई १९३५ को, मध्यप्रदेश के लुहारी (सागर) नामक ग्राम में। पिता—स्व० पं० बालचन्द्र जी जैन एवं माता—स्व० श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही। पश्चात् श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर (म० प्र०) में संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अँगरेजी तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन।

अनन्तर स्वाध्याय के द्वारा मैट्रिक से लेकर एम० ए० (संस्कृत) तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण। प्रावीण्यसूची में बी० ए० में दसवाँ स्थान और एम० ए० में प्रथम। 'जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहारनय' विषय पर पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त।

शा० टी० आर० एस० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रीवा (म० प्र०), शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भोपाल एवं बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म० प्र०) में स्नातकोत्तर कक्षाओं तक संस्कृत विषय का एवं भाषाविज्ञान की एम० फिल० कक्षा में शैलीविज्ञान का अध्यापन तथा पी-एच० डी० उपाधि के लिए शोधार्थियों का मार्गदर्शन।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के आदेश से उनके द्वारा संस्थापित प्रतिभामण्डल की ब्रह्मचारिणी बहनों को दो चातुर्मासों (सन् २००२ एवं २००३) में संस्कृत एवं सर्वार्थसिद्धिटीका का अध्यापन। आचार्यश्री की ही प्रेरणा से 'जैनपरम्परा और यापनीयसंघ' ग्रन्थ का लेखन। उनके ही आशीर्वाद से सन् २००१ से अद्यावधि 'जिनभाषित' मासिक पत्रिका का सम्पादन।

प्रकाशित ग्रन्थ : १. जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन, २. जैनपरम्परा और यापनीयसंघ (तीन खण्डों में)।

सम्प्रति भोपाल (म० प्र०) में निवास करते हुए 'जिनभाषित' के सम्पादन एवं श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर शाहपुरा, भोपाल में श्रावक-श्राविकाओं को धर्मग्रन्थों के अध्यापन में संलग्न।

